

सटीकः

रसरत्नसमुच्चयः ।

[प्राचीनरसग्रन्थः] ।

अहमति श्रीमद्वाग्भटाचार्यविरचितः ।

प्रण्डित-श्रीमदाशुबोधविद्याभूषणेन

तथा

प्रण्डित-श्रीमन्नित्यबोधविद्यारत्नेन च

विरचितया

रसरत्नसमुच्चयबोधिन्याख्यया टीकया

समलङ्कितः प्रकाशितश्च ।

प्रथम संस्करणम् ।

कलिकातामहानगर्यां

वाचस्पत्ययन्ये

संस्कृतम्

१९२७

इति रत्नं संस्कृतम् ।

इति रत्नं संस्कृतम् ।

प्रकाशक—{ पण्डित-श्रीमदाशुबोध-विद्याभूषण
तथा
पण्डित-श्रीमन्नित्यबोध-विद्यारत्न ।

प्राप्तिस्थान—{ २ न०, रमानाथ मजुमदार द्वीट, आम्हाष्ट-
द्वीट—पोष्ट-अफिस । कलिकाता ।

प्रिण्टर—वि, वि, मुखर्जी ।

२ न०, रमानाथ मजुमदार द्वीट, कलिकाता ।

सूचीपत्रम् ।

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|--------------------------------------|---------------|
| प्रथमोऽध्यायः । | |
| सङ्कलाचरणम् | ... |
| यन्यकर्तृणां नामानि यन्यस्याभिधेयञ्च | २ |
| दिनान्यवर्णनम् | ... |
| रसोत्कर्षवर्णनम् | ... |
| रसस्य जीवन्मुक्ति कारणता | ... |
| रसोत्पत्तिवर्णनम् | ... |
| रसस्य पञ्चविधत्वकथनम् | ... |
| रसादीनां लक्षणानि | ... |
| ” निरुक्तिः | ... |
| रससंस्कारकारणम् | ... |
| रसस्य स्थानान्तरगतिवर्णनम् | ... |
| दिङ्मुक्तोत्पत्तिः | ... |

द्वितीयोऽध्यायः ।

| | |
|------------------------------------|-----|
| महाराजाः | ... |
| गन्ताभयोः स्वरूपम् | ... |
| अभक्षगुणाः | ... |
| अभक्षभेदाः | ... |
| पिनाकादीनां लक्षणानि | ... |
| श्रेतादिवर्णस्याभक्ष्य क्रियाविषयः | ... |
| प्रशस्ताभक्ष्यम् | ... |
| यासांशोभ्याभक्ष्यम् | ... |
| निषिद्ध-सपन्दाभक्ष्यगुणदोषौ | ... |
| अशुद्धाभक्ष्य दोषः | ... |
| अशुद्धाभक्ष्यमारणम् | ... |
| धान्याभक्ष्यम् | ... |
| धान्याभक्ष्यमारणम् | ... |
| अभक्षमारणम् | ... |
| मत्तान्तरम् | ... |
| सत्त्वपातनम् | ... |
| प्रकारान्तरम् | ... |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|---|---------------|
| किंज्ञात सत्त्वग्रहणम् | ... |
| सत्त्वशोधनम् | ... |
| सत्त्वानां मृदूकारणम् | ... |
| अभक्षमारणम् | ... |
| मारणे प्रकारान्तरम् | ... |
| सत्त्वस्य शोधनमारणम् | ... |
| अभक्षद्रावणानुल्लेखे कारणम् | ... |
| अभक्षप्रयोगः | ... |
| वैक्रान्तः | ... |
| वैक्रान्तस्वरूपम् | ... |
| वैक्रान्तस्य वर्णभेदाः | ... |
| ” गुणाः | ... |
| वैक्रान्तोत्पत्तिः | ... |
| वैक्रान्तस्य अवस्थितिस्थानं निरुक्तिश्च | ... |
| मत्तान्तरे वर्णभेदकथनम् | ... |
| वर्णभेदेन कार्यभेदकथनम् | ... |
| आहरणविधिः | ... |
| गुणान्तरम् | ... |
| शोधनम् | ... |
| मत्तान्तरे शोधनमारणम् | ... |
| मत्तान्तरम् | ... |
| सत्त्वपातनम् | ... |
| मत्तान्तरम् | ... |
| सत्त्ववैक्रान्तस्य प्रयोगविधिगुणाश्च | ... |
| प्रयोगान्तरम् | ... |
| माक्षिकम् | ... |
| माक्षिकोत्पत्तिस्थाननिर्देशः | ... |
| माक्षिकस्य गुणाः | ... |
| माक्षिकस्य विविधं परिचयश्च | ... |
| गुणान्तरम् | ... |
| शोधनानि | ... |
| मारणम् | ... |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । | विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|-----------------------------------|---------------|---------------------------|---------------|
| मतान्तरम् | ... ४६ | गुणा | ... ५५ |
| सत्त्वपातनम् | ... ५५ | शोधनम् | ... ५५ |
| साधकस्य शोधकावास | ... ५५ | मतान्तरम् | ... ५५ |
| प्रकारान्तरेण सत्त्वपातनम् | ... ४७ | तुल्यस्वर्परमारणम् | ... ५५ |
| विशुद्धसात्त्विकसत्त्वस्य लक्षणम् | ५५ | सत्त्वपातनम् | ... ५५ |
| सात्त्विकसत्त्वस्य प्रयोगावर्णः | ... ५५ | मतान्तरम् | ... ५६ |
| सात्त्विकसत्त्वदायकम् | ... ४८ | " | ... ५५ |
| विमलः | ... ५५ | प्रयोगविधिः | ... ५५ |
| विमलभेदा | ... ५५ | भानुकितात्कीकप्रयोगविधिः | ... ५५ |
| विमलस्य लक्षण गुणाश्च | ... ५५ | प्रयोगान्तरम् | ... ५७ |
| त्रिविधस्य तस्य क्रियाद्वयम् | ... ५५ | चपलः | ... ५५ |
| विमलशोधनम् | ... ५५ | चपलस्य भेदादिकथनं निहातम् | ५५ |
| विमलमारणम् | ... ४८ | गुणा | ... ५५ |
| सत्त्वपातनम् | ... ५५ | वर्णोक्तातभेदेन गुणभेद | ... ५८ |
| मतान्तरम् | ... ५५ | चपलस्य भेदादिकथनम् | ... ५५ |
| प्रयोगावर्णः | ... ५५ | शोधनम् | ... ५५ |
| शिलाजतु | ... ५० | सत्त्वपातनम् | ... ५५ |
| शिलाजतुना भेदः | ... ५० | रसकः | ... ५६ |
| " सत्त्वपातनम् | ... ५५ | रसकस्य भेदादिकथने | ... ५५ |
| त्रिविधस्य तस्य गुणा | ... ५१ | तथो. प्रयोगावपय. गुणाश्च | ... ५५ |
| विशुद्धशिलाजतुलक्षणम् | ... ५५ | शोधनम् | ... ५५ |
| गुणाः | ... ५५ | मतान्तरम् | ... ५५ |
| शोधनम् | ... ५२ | " | ... ६० |
| मतान्तरम् | ... ५५ | रसकस्य तासादिरक्षणविधिः | ... ५५ |
| " | ... ५५ | सत्त्वसङ्कट. | ... ५५ |
| मारणम् | ... ५५ | मतान्तरम् | ... ६१ |
| प्रयोगावर्णः | ... ५५ | " | ... ५५ |
| सत्त्वपातनम् | ... ५३ | " | ... ५५ |
| अर्पणशिलाजतुना लक्षणविकल्पः | ५५ | सत्त्वमारणम् | ... ६३ |
| तस्य शोधनम् | ... ५५ | प्रयोगविधिः | ... ५५ |
| सस्यः | ... ५४ | | |
| सस्यकोत्पत्तिः | ... ५५ | | |
| प्रशस्तस्य कल्पवर्णम् | ... ५५ | | |
| सस्यकस्योत्पत्त्यर्थकथनम् | ... ५५ | | |

| विषयोः | पृष्ठाङ्काः । |
|--------------------------|---------------|
| तृतीयोऽध्यायः । | |
| उपरमाः साधारणरसाश्च | ६३ |
| उपरसाना नामानि | ६४ |
| गन्धकः | ६५ |
| गन्धकौत्सः | ६६ |
| गन्धकस्य भेदनिर्देशः | ६७ |
| मतान्तरम् | ६८ |
| गुणाः | ६९ |
| बन्धिवसाख्यगन्धकौत्सः | ७० |
| शोधनम् | ७१ |
| मतान्तरद्वयम् | ७२ |
| मतान्तरम् | ७३ |
| प्रयोगविधिः | ७४ |
| गन्धकतेलविधिः | ७५ |
| प्रयोगविधिः | ७६ |
| अन्धविषप्रयोगविधिः | ७७ |
| गन्धकसेवने अर्थः | ७८ |
| कृत्स्नगन्धकप्रयोगविधिः | ७९ |
| प्रलेपयोगः | ८० |
| लेपयोगान्तरम् | ८१ |
| गन्धकतेलान्तरम् | ८२ |
| शुद्धगन्धकगुणाः | ८३ |
| गैरिकम् | ८४ |
| गैरिकस्य भेदः | ८५ |
| द्विविधश्लेष्माः लक्षणम् | ८६ |
| ,, ,, गुणाः | ८७ |
| शोधनम् | ८८ |
| गैरिकस्य सत्त्वपतकथनम् | ८९ |
| ,, सत्त्वपतकां मतान्तरम् | ९० |
| कासीसम् | ९१ |
| कासीसस्य भेदः | ९२ |
| बालका-कासीसगुणाः | ९३ |
| पुष्प-कासीसगुणाः | ९४ |
| शोधनम् | ९५ |

| विषयोः | पृष्ठाङ्काः । |
|------------------------------|---------------|
| सत्त्वपातनविधिः | ९६ |
| शोधनान्तरम् | ९७ |
| प्रयोगविधिः | ९८ |
| तुवरौ | ९९ |
| तुवर्याः परिचयः | १०० |
| ,, भेदकथनम् | १०१ |
| फट्क्याः गुणलक्षणम् | १०२ |
| फुल्लिकायाः ,, | १०३ |
| द्विविधस्य तस्य सामान्यगुणाः | १०४ |
| शोधनम् | १०५ |
| सत्त्वपातनम् | १०६ |
| मतान्तरम् | १०७ |
| तालकः | १०८ |
| तालकस्य भेदनिर्देशः | १०९ |
| पक्षतालकलक्षणम् | ११० |
| पिण्डतालकलक्षणम् | १११ |
| गुणाः | ११२ |
| शोधनम् | ११३ |
| अशुद्धस्य दोषनिर्देशः | ११४ |
| मतान्तरे शोधनम् | ११५ |
| ,, शोधनं मारणञ्च | ११६ |
| सत्त्वपातनम् | ११७ |
| मतान्तरम् | ११८ |
| ,, | ११९ |
| ,, | १२० |
| मनःशिला | १२१ |
| मनःशिलाया भेदाः | १२२ |
| द्विविधानां लक्षणानि | १२३ |
| गुणाः | १२४ |
| अशुद्ध शुद्धशिलयोर्दोषगुणौ | १२५ |
| शोधनम् | १२६ |
| प्रकाशान्तरशोधनम् | १२७ |
| सत्त्वपातनम् | १२८ |
| मतान्तरम् | १२९ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|--|---------------|
| अञ्जनानि | ... ८१ |
| अञ्जनानां भेदान्देशः | ... ११ |
| सौवीराञ्जनगुणाः | ... ११ |
| रसाञ्जनगुणाः | ... ८२ |
| स्रोतोऽञ्जनगुणाः | ... |
| पुष्पाञ्जनगुणाः | ... ११ |
| नीलाञ्जनगुणाः | ... ११ |
| शोधनम् | ... ११ |
| सत्त्वगुणम् | ... ११ |
| स्रोतोऽञ्जनलक्षणम् | ... ८३ |
| अञ्जनेन रसवन्धनीपायः | ... ११ |
| रसाञ्जनस्य अवशेषशोधनम् | ... ११ |
| स्रोतोऽञ्जनात् सत्त्वगुणम् | ... ११ |
| कङ्कष्ठम् | ... ११ |
| कङ्कष्ठस्थोत्पत्तिस्थानं भेदश्च | ... ११ |
| कङ्कष्ठस्य लक्षणम् | ... ८४ |
| कङ्कष्ठस्थोत्पत्तौ मतान्तरद्वयं लक्षणञ्च | ११ |
| नालिकाकङ्कष्ठस्य प्रयोगविधयः रेणुका- | |
| कङ्कष्ठस्य अप्रशस्तता च | ... ११ |
| गुणाः | ... ११ |
| रसोपरसानां सामान्यतः शोधनं | |
| सत्त्वपातनञ्च | ... ८५ |
| कङ्कष्ठशोधनम् | ... ११ |
| कङ्कष्ठस्य सत्त्वपतायाः लक्षणम् | ११ |
| अस्य विरेचनाद्यप्रयोगे मावादिनिर्देशः | ११ |
| ११, अविधिप्रयोगे टीक्ष्णः | ... ८६ |
| विषनाशार्थं कङ्कष्ठप्रयोगविधिः | ११ |
| साधारणरसाः | ... ११ |
| साधारणरसानां नामानि | ... ११ |
| कम्पिजः | ... ८७ |
| कम्पिजस्य स्वरूपलक्षणमुत्पत्तिस्थानञ्च | ११ |
| गुणाः | ... ११ |
| गौरीपाषाणः | ... ८८ |
| गौरीपाषाणस्य पर्यायो भेदश्च | ११ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|--------------------------------------|---------------|
| शोधनम् | ... ८८ |
| सत्त्वगुणम् | ... ११ |
| गुणाः | ... ११ |
| नवसम्भारः | ... ११ |
| नवसम्भारस्योत्पत्तिः पर्यायश्च | ... ११ |
| उत्पत्तौ मतान्तरम् | ... ८९ |
| गुणाः | ... ११ |
| वराटिका | ... ११ |
| वराटिकालक्षणम् | ... ११ |
| उत्तमादिभेदेन तस्याः दैविध्यनिर्देशः | ११ |
| गुणाः | ... ९० |
| वराटस्य लक्षणगुणौ | ... ११ |
| शोधनम् | ... ११ |
| अग्निजारः | ... ११ |
| अग्निजारस्य स्वरूपलक्षणम् | ... ११ |
| गुणाः | ... ९१ |
| स्वभावतः शङ्खत्वनिर्देशः | ... ११ |
| गिरिसिन्दूरम् | ... ११ |
| गिरिसिन्दूरस्य स्वरूपलक्षणम् | ११ |
| गुणाः | ... ११ |
| हिङ्गुलः | ... ११ |
| हिङ्गुलस्य दैविध्यम् | ... ११ |
| शुकतुण्डाख्यस्य परिचयः | ... ९२ |
| हंसपाकस्य लक्षणम् | ... ११ |
| गुणाः | ... ११ |
| हिङ्गुलाकटमृतस्य गुणः | ... ११ |
| शोधनम् | ... ११ |
| शोधनविशेषेण गुणविशेषः | ... ९३ |
| हिङ्गुलात् सत्त्वकर्षणाविधिः | ... ११ |
| मृदारशुङ्गकम् | ... ११ |
| मृदारशुङ्गस्य परिचयः | ... ११ |
| गुणाः | ... ९४ |
| साधारणरसानां सामान्यशोधनम् | ११ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|---|---------------|
| सत्त्वानां सामान्यशोधनम् ... | ८४ |
| — | |
| चतुर्थोऽध्यायः । | |
| रत्नानि ... | ८५ |
| मणयः ... | " |
| मणीनां सामान्यकायम् ... | " |
| " नामान ... | " |
| श्रेष्ठमणीनां " ... | ८६ |
| दुष्टनवगृहाणां प्रसादकरदानि ... | " |
| अन्यविधानि दुष्टनवगृहाणां प्रसादक- रदानि ... | " |
| रत्नधारणस्य सिद्धिप्रदत्वोक्तिः ... | " |
| साणिक्यम् ... | ८७ |
| द्विविधसाणिक्यनिर्देशः ... | " |
| प्रशस्तपद्मरागसाणिक्यलक्षणम् ... | " |
| प्रशस्तनीलरागसाणिक्यलक्षणम् ... | " |
| निकटसाणिक्यलक्षणम् ... | " |
| मौक्तिक्यगुणाः ... | ८८ |
| मौक्तिकम् ... | " |
| प्रशस्तमौक्तिकलक्षणम् ... | " |
| मौक्तिकगुणाः ... | " |
| निकटमौक्तिकलक्षणम् ... | ८९ |
| मौक्तिकस्य गुणान्तरम् ... | " |
| प्रबालम् ... | " |
| प्रशस्तप्रबाललक्षणम् ... | " |
| निकटप्रबाललक्षणम् ... | " |
| प्रबालगुणाः ... | १०० |
| तार्क्ष्यम् ... | " |
| प्रशस्ततार्क्ष्यलक्षणम् ... | " |
| अप्रशस्ततार्क्ष्यलक्षणम् ... | " |
| तार्क्ष्यगुणाः ... | " |
| पुष्परागः ... | १०१ |
| प्रशस्तपुष्परागलक्षणम् ... | " |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|--|---------------|
| अप्रशस्तपुष्परागलक्षणम् ... | १०१ |
| पुष्परागगुणाः ... | " |
| वज्रम् ... | " |
| वज्राणां त्रैविध्यनिर्देशः ... | " |
| पुं वज्रलक्षणम् ... | १०२ |
| स्त्रीवज्र-नपुंसकवज्रलक्षणे ... | " |
| तेषां जातिभेदेनाधिकारि- भेदनिर्देशः ... | १०३ |
| " वर्णभेदेनाधिकारिभेदनिर्देशः ... | " |
| वज्रगुणाः ... | " |
| सर्वरत्नानां साधारणदोषनिर्देशः ... | १०४ |
| वज्रशोधनम् ... | " |
| वज्रसारणम् ... | " |
| सारणान्तरम् ... | १०५ |
| मतालरम् ... | " |
| " ... | १०६ |
| " ... | " |
| " ... | " |
| प्रयोगविशेषिण गुणविशेषकथनम् ... | " |
| प्रयोगान्तरम् ... | १०७ |
| नीलम् ... | " |
| नीलस्य त्रैविध्यकथनम् ... | " |
| नीलद्वयस्य सामान्यलक्षणम् ... | " |
| प्रशस्तशक्रनीललक्षणम् ... | १०८ |
| जलनीलस्य विशेषलक्षणम् ... | " |
| गुणाः ... | " |
| गोमेदः ... | १०९ |
| गोमेदस्य निरुक्तिः ... | " |
| प्रशस्तगोमेदलक्षणम् ... | " |
| अप्रशस्तगोमेदलक्षणम् ... | " |
| गुणाः ... | " |
| वैदूर्यम् ... | ११० |
| शुभवैदूर्यलक्षणम् ... | " |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः । |
|--------------------------------------|---------------|
| अष्टमवेदव्युत्पत्त्यर्थम् | ... ११० |
| गुणाः | ... " |
| नवरत्नानां शोधनम् | ... " |
| रत्नानां मारणम् | ... १११ |
| " टावणम् | ... " |
| मुक्ताद्रावणे विशेषक्रमः | ... ११२ |
| वज्रद्रावणे " | ... ११३ |
| वैकान्द्रावणे " | ... " |
| मत्तान्तरम् | ... " |
| | ... " |
| सर्वरत्नानां सामान्यद्रावणम् | ... ११४ |
| राजावर्तः | ... " |
| सप्तममध्यमराजावर्तलक्षणम् | ... " |
| गुणाः | ... " |
| राजावर्तान्युपरत्नानां सामान्यशोधनम् | ... " |
| राजावर्तशोधनम् | ... " |
| राजावर्तमारणम् | ... ११५ |
| सत्त्वपातनम् | ... " |
| द्वितीया दौर्घकालरक्षणोपायः | ... " |
| रत्नधारणगुणाः | ... ११६ |
| गौरिकम् | ... " |
| गौरिकस्य शोधनं सत्त्वपातनञ्च | ... " |

पञ्चमोऽध्यायः ।

| | |
|---------------------------------|---------|
| लोहानि | ... ११७ |
| लोहानां जातिनिर्दिष्टम् | ... " |
| स्वर्णम् | ... ११८ |
| स्वर्णस्य पञ्चविधत्वनिर्देशः | ... " |
| स्वर्णरौप्ययोः सामान्यगुणाः | ... ११९ |
| प्राकृतस्वर्णव्युत्पत्तिः | ... " |
| सङ्कलितस्वर्णव्युत्पत्तिः | ... " |
| वज्रिजस्वर्णव्युत्पत्तिः | ... १२० |
| प्राकृतादिजस्वर्णाणां लक्षणगुणौ | ... " |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः । |
|------------------------------------|---------------|
| खनिजस्वर्णव्युत्पत्तिलक्षणगुणाः | १२० |
| रमेन्द्रवज्रजस्वर्णव्युत्पत्तिगुणौ | ... |
| गुणाः | ... १२१ |
| अशोधितामारितस्वर्णस्य दीपाः | ... |
| सुवर्णस्य सु-वर्णसम्पादनम् | ... " |
| लोहमारकद्रव्येषु उत्तमादिनिर्देशः | ... |
| स्वर्णमारणम् | ... १२२ |
| मत्तान्तरम् | ... " |
| " | ... " |
| स्वर्णद्रावणम् | ... " |
| द्रावणान्तरम् | ... १२३ |
| मारितस्वर्णस्य प्रयोगविधिः | ... " |
| अमारितस्य स्वर्णस्य दीपाः | ... " |
| रजतम् | ... १२४ |
| रौप्यस्य द्वेविध्यनिर्देशः | ... " |
| सङ्कलितरौप्यव्युत्पत्तिगुणश्च | ... " |
| खनिजरौप्यव्युत्पत्तिगुणश्च | ... " |
| कृतिमरौप्यव्युत्पत्तिगुणश्च | ... " |
| उत्तमरौप्यलक्षणम् | ... " |
| अपक्रष्टरौप्यलक्षणम् | ... १२५ |
| रौप्यगुणाः | ... " |
| गुणान्तरम् | ... " |
| स्वर्णादिशोधनम् | ... " |
| अशोधितामारितरौप्यस्य दीपाः | ... |
| रौप्यस्य विशेषशोधनम् | ... १२६ |
| मत्तान्तरम् | ... " |
| रौप्यमारणम् | ... " |
| मत्तान्तरम् | ... १२७ |
| रौप्यस्य निकलभक्षीकरणम् | ... " |
| निकलभक्षीकरणे मत्तान्तरम् | ... " |
| स्वर्णरौप्ययोर्द्रावणम् | ... " |
| रौप्यप्रयोगः | ... १२८ |
| ताम्रम् | ... " |
| ताम्रस्य द्वेविध्यनिर्देशः | ... " |
| संस्कृतावस्य लक्षणम् | ... " |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|--|---------------|
| नेपालतासलक्षणम् | ... १२८ |
| रसकर्मणि तासलक्षणम् | ... १२९ |
| तासस्य गुणाः | ... ” |
| अशोधितामारितासस्य दोषाः | ... ” |
| तासशोधनम् | ... ” |
| मतान्तरम् | ... १३० |
| ” | ... ” |
| ” | ... ” |
| ताससारणम् | ... ” |
| रसरत्नाकरोक्तासतीकरणम् | ... ” |
| सारणान्तरम् | ... १३१ |
| सीमनाद्योक्तासप्रयोगः | ... ” |
| अन्यान्तरोक्तासप्रयोगः | ... १३२ |
| अथः | ... ” |
| अयोभेदाः | ... ” |
| मुण्डलौहस्य त्रैविध्यम् | ... १३३ |
| मृदुमुण्डलक्षणम् | ... ” |
| कुण्ठमुण्डलक्षणम् | ... ” |
| कडारैमुण्डलक्षणम् | ... ” |
| मुख्यगुणाः | ... ” |
| अष्टलौहस्य दोषाः | ... ” |
| तीक्ष्णलौहस्य षड्विधत्वम् | ... १३४ |
| खरतीक्ष्णलक्षणम् | ... ” |
| सपथ्यायपागरलक्षणम् | ... ” |
| सारतीक्ष्णलक्षणम् | ... ” |
| ह्रस्वात्तीक्ष्णलक्षणम् | ... १३५ |
| त्रागिरतीक्ष्णलक्षणम् | ... ” |
| काललौहाख्यतीक्ष्णलक्षणम् | ... ” |
| खरतीक्ष्णगुणाः | ... ” |
| सारतीक्ष्णादीनां पञ्चानां गुणाः | १३६ |
| काललौहस्य पञ्चविधत्वम् | ... ” |
| पञ्चविधस्य कालस्य भेदान्तरनिर्देशः | ... ” |
| वर्णभेदेन कालस्य कार्यभेदान्तरनिर्देशः | ... ” |
| स्वामकादीनामधनमध्यमत्वादिनिर्देशः | १३७ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|---|---------------|
| स्वामक काललक्षणम् | ... १३७ |
| चतुर्वर्ण-कर्मक-कालहयलक्षणम् | ... |
| द्रावक काललक्षणम् | ... १३९ |
| रोमकाल-काललक्षणम् | ... ” |
| एकादिमुखभेदेन कालव्याधन- मध्यमत्वादिनिर्देशः | ... ” |
| स्वामकादीनां कार्यनिर्देशः | ... १३८ |
| रसकर्मणि कालस्य विशेषोपयोगिता | ... ” |
| कालस्य यास्यवर्ज्यत्वनिर्देशः | ... ” |
| काललौहलक्षणम् | ... ” |
| काललौहगुणाः | ... ” |
| लौहस्य शोधनमारणयोरावश्यकता | १३९ |
| मारणाय लौहस्य परिमाणनिर्देशः | ... |
| लौहमारणे मन्त्रम् | ... ” |
| लौहव्याधामुत्तरोत्तरगुणाधिक्यम् | १४० |
| सर्वलौहानां सामान्यशोधनम् | ... ” |
| लौहानां गिरिजदोषशोधनम् | ... ” |
| मतान्तरम् | ... १४१ |
| ” | ... ” |
| मतान्तरे शोधनं मारणञ्च | ... ” |
| ” मारणम् | ... १४२ |
| तीक्ष्णलौहस्य | ... ” |
| काललौहस्य रससिन्धुत्वगुणाः | ... ” |
| सर्वलौहानां मारणे मतान्तरम् | १४३ |
| तीक्ष्णलौहस्य विशेषमारणम् | ... ” |
| मतान्तरम् | ... १४४ |
| मतान्तरे सर्वलौहानां मारणम् | ... |
| मतान्तरम् | ... १४५ |
| ” | ... ” |
| ” | ... ” |
| तीक्ष्णलौहद्रावणम् | ... ” |
| मतान्तरे द्रावणम् | ... १४६ |
| लौहप्रयोगः | ... ” |
| काललौहस्य रामराजोष्णीकशोधनम् | ... |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|--|---------------|
| सर्वविधलोहानां रामराजीप्रोक्त- | |
| मारणम् ... | १४७ |
| लोहानां रामराजीप्रोक्तगुणाः ... | १४८ |
| उत्तमकालन्तरीहस्य लक्षणम् ... | १४९ |
| कालन्तरीहस्य विशेषमारणम् ... | " |
| अष्टलोहानां द्रावणम् ... | " |
| मतान्तरम् ... | " |
| मण्डूरः ... | " |
| मण्डूरशोधनम् ... | " |
| मतान्तरम् ... | १५० |
| लोहमण्डूरयोः तुल्यगुणत्वनिर्देशः ... | " |
| मण्डूरस्य लोहानास उत्तरोत्तर- | |
| गुणाधिक्यम् ... | " |
| अण्डुलोहस्य गन्धान्तरोक्तदोषाः ... | १५१ |
| अण्डुलोहस्य गन्धान्तरोक्तगुणाः ... | " |
| वङ्गम् ... | " |
| वङ्गस्य द्वैविध्यनिर्देशः ... | " |
| स्वरक्तवङ्गस्य लक्षणम् ... | " |
| मिश्रकवङ्गस्य ... | " |
| वङ्गगुणाः ... | १५२ |
| स्वरक्तवङ्गशोधनम् ... | " |
| मिश्रकवङ्गशोधनम् ... | " |
| नागवङ्गकांस्यतामाणां सामान्यशोधनम् ... | " |
| वङ्गमारणम् ... | १५३ |
| मारणे मतान्तरम् ... | " |
| मतान्तरम् ... | " |
| " ... | " |
| वङ्गप्रथोमः ... | १५४ |
| सौसकम् ... | १५५ |
| शुद्धाशुद्धसौसकलक्षणम् ... | " |
| सौसकगुणाः ... | " |
| सौसकशोधनम् ... | " |
| सौसकमारणम् ... | १५६ |
| मतान्तरम् ... | " |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|--------------------------------------|---------------|
| सौसकस्य निरुत्यभस्योत्करणम् ... | १५७ |
| निरुत्यभस्योत्करणे मतान्तरम् ... | " |
| सौसकप्रयोगः ... | " |
| पित्तलम् ... | १५८ |
| पित्तलस्य द्वैविध्यनिर्देशः ... | " |
| रौतिकाश्लेषणम् ... | " |
| काकतुण्डौल्लक्षणम् ... | " |
| रौतिकाया गुणाः ... | १५९ |
| काकतुण्डा ... | " |
| शुभरौतिकालक्षणम् ... | " |
| अशुभरौतिकालक्षणम् ... | " |
| रौतिकाशोधनम् ... | " |
| रौतिकाद्रावणम् ... | १६० |
| रौतिकामारणम् ... | " |
| मतान्तरम् ... | " |
| पित्तलप्रयोगः ... | " |
| कांस्यम् ... | १६१ |
| कांस्यस्य उत्पत्तिनिर्देशः ... | " |
| प्रशस्तकांस्यलक्षणम् ... | " |
| अप्रशस्तकांस्यलक्षणम् ... | " |
| कांस्यगुणाः ... | " |
| कांस्यशोधनम् ... | १६२ |
| कांस्यमारणम् ... | " |
| मतान्तरम् ... | " |
| वर्तलोहम् ... | " |
| वर्तलोहस्वरूपम् ... | " |
| वर्तलोहगुणाः ... | १६३ |
| वर्तलोहशोधनम् ... | " |
| वर्तलोहमारणम् ... | " |
| रसोपरमलोहानां सूतसाधकत्वनिर्देशः ... | " |
| भस्मीभूतवादीनामेव सूतयोगे | |
| प्रयोज्यतानिर्देशः ... | १६४ |
| भूनागः ... | " |
| भूनागसत्त्वपातनम् ... | " |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|-----------------------------------|---------------|
| सतान्तरम् | ... १६४ |
| भूनागसत्त्वयोगविधिः | ... १६६ |
| तैलपातनविधिः | ... १६७ |
| अङ्गोन्नवीजात् तैलपातनम् | ... ” |
| सतान्तरम् | ... ” |
| ” | ... १६८ |
| ” | ... ” |
| वाक्कुचीबीज-घोषाबीजाभ्यां | |
| तैलपातनम् | ... ” |
| विषमृष्टितैलपातनम् | ... ” |
| नेपालात् तैलपातनम् | ... १६८ |
| वाक्कुचीबीजात् तैलपातने | |
| प्रकारान्तरम् | ... ” |
| ऊष्णामिश्रितमुष्णबीजात् तैलपातनम् | ... ” |

षष्ठोऽध्यायः ।

| | |
|---------------------------------------|---------|
| शिशूपनयनम् | ... १७० |
| रसशास्त्रप्रकटने हेतुनिर्देशः | ... ” |
| शास्त्रक्रमयोरन्योऽन्यपेक्षितनिर्देशः | ... ” |
| रसविद्याया गुरीर्लक्षणम् | ... १७१ |
| रसविद्यासाधकश्रित्यलक्षणम् | ... ” |
| रसविद्यासाधकस्य सहायलक्षणम् | ... ” |
| रसविद्यासाधने नास्तिकादौर्गा | |
| वैफल्यनिर्देशः | ... १७२ |
| रसविद्यायां गुरुसन्धीषस्य सिद्धि- | |
| प्रदत्तनिर्देशः | ... ” |
| रससाधनोपयोगिदेशनिर्देशः | ... ” |
| रससाधनोपयोगिगृह्यनिर्माण- | |
| प्रकारनिर्देशः | ... १७३ |
| रसलिङ्गप्रस्तुतप्रकारनिर्देशः | ... ” |
| रसलिङ्गार्चनादौ फलनिर्देशः | ... ” |
| पूजाविधिनिर्देशः | ... १७४ |
| आनम् | ... ” |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|---|---------------|
| देवीपूजायां मन्त्रम् | ... १७४ |
| पूजने प्रकारनिर्देशः | ... ” |
| रसविद्यादाने दौषाविधिः | ... १७५ |
| तत्र कालिनौलक्षणम् | ... ” |
| ” कालिन्धभावे तदनुकूल्यविधिः | ... ” |
| ” होमविधिः | ... १७६ |
| ” रसग्रन्थः | ... १७७ |
| ” उपरसाः | ... ” |
| ” मङ्गरसाः | ... ” |
| ” अष्टलोकपूजाक्रमः | ... १७८ |
| ” उपकरणानां पूजाविधिः | ... ” |
| ” रससिद्धानां नामानि | ... १७९ |
| अदोषितस्य रसविद्यासाधन | |
| वैफल्यनिर्देशः | ... १८० |
| रससाधने सिद्धिनामहेतुनिर्देशः | ... ” |
| कस्यै किमर्थे रसविद्या दातव्या | |
| तन्निर्देशः | ... १८१ |
| गुरुसन्धीषस्य सर्वसिद्धिहेतुत्वनिर्देशः | ... ” |
| रसविद्याया अवश्यमोप्यत्वनिर्देशः | ... ” |

सप्तमोऽध्यायः ।

| | |
|---|---------|
| रसशाला | ... १८२ |
| रसशालानिर्माणस्य स्थाननिर्देशः | ... ” |
| रसशालायाः कुत्र किं कर्म कर्तव्यं | |
| तन्निर्देशः | ... ” |
| रसशालायां सकृद्व्याधि उप- | |
| करणानि | ... १८३ |
| तत्र विविधचालनीनां स्यूतद्रव्यचालनाद्ये | |
| चालनीलक्षणम् | ... १८४ |
| ” चूर्णचालनाद्ये चालनीलक्षणम् | ... ” |
| ” सूक्ष्मचूर्णचालनाद्ये चालनी- | |
| लक्षणम् | ... ” |
| ” शिखिललक्षणम् | ... १८५ |
| ” कोटिचाललक्षणम् | ... ” |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|--------------------------------------|---------------|
| तत्र उपलब्धस्य पथ्यायाः | ... १८५ |
| „ कूपिकायाः | „ „ |
| „ चपकस्य | „ १८६ |
| रससाधनाङ्गानामर्चनायाः कर्तव्यता- | |
| निर्देशः | „ „ |
| रसकर्मणि यादृशा वेद्या नियोज्याः | |
| तत्क्षणम् | „ „ |
| रसपाककाले मन्त्रजपस्य कर्तव्यता- | |
| निर्देशः | ... १८७ |
| परिचारकलक्षणम् | „ „ |
| रसकर्मयोग्यस्य वेदास्य लक्षणम् | „ „ |
| पद्मङ्कवेदलक्षणम् | „ „ |
| वर्जनीयवेदलक्षणम् | „ „ |
| निधिसाधने नियोज्यपुरुषलक्षणम् | १८८ |
| बलिसाधने | „ „ |
| रसायने | „ „ |
| धातुवादे | „ „ |
| शेषभाट्टरणे | „ „ १८९ |
| रसविद्यायां लब्धव्यसाफल्यस्य लक्षणम् | „ „ |
| रससिद्धसाधकस्य कर्तव्यनिर्देशः | „ „ |
| रससिद्धेः फलम् | ... „ |

अष्टमोऽध्यायः ।

| | |
|-----------------------|---------|
| परिभाषा | ... १९० |
| परिभाषायाः प्रयोजनम् | „ „ |
| धन्वन्तरिभासः | ... „ |
| रुद्रभागः | ... १९१ |
| विश्वामघातकवेदलक्षणम् | ... „ |
| कञ्चली | ... „ |
| रसपङ्कः | ... „ |
| पिष्टी | ... १९२ |
| सताक्षरे पिष्टी | ... „ |
| घातनपिष्टी | ... „ |
| स्वर्ण-रोमयोः ऋष्टी | ... „ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|----------------------------------|---------------|
| ऋष्ट्याः कार्यम् | ... १९३ |
| स्वर्णऋष्टीकृतबीजस्य कार्यम् | „ „ |
| वरलोङ्कम् | ... „ |
| हेमरत्नी | ... „ |
| हेमरत्न्याः कार्यम् | ... „ |
| ताररत्नी | ... १९४ |
| दलम् | ... „ |
| अन्यविधदलम् | ... „ |
| शुक्लनागम् | ... „ |
| शुक्लनागगुणाः | ... १९५ |
| पिप्पली | ... „ |
| चन्द्राकेम् | ... „ |
| निर्वाङ्कम् | ... „ |
| निर्वापणस्य साधःनिर्देशः | ... १९६ |
| वारितरलोङ्कलक्षणम् | ... „ |
| रेखापूर्णाख्यमृतलोङ्कलक्षणम् | ... „ |
| अपुनर्भवलोङ्कलक्षणम् | ... „ |
| ऊनमल्लक्षणम् | ... १९७ |
| विहृत्तलोङ्कलक्षणम् | ... „ |
| बीजलक्षणम् | ... „ |
| उत्तरणम् | ... „ |
| ताडनम् | ... १९८ |
| धान्यामल्लक्षणम् | ... „ |
| सत्त्वलक्षणम् | ... „ |
| एककालीमकलक्षणम् | ... „ |
| द्रावणादिकर्मसाधने काष्ठनिर्देशः | ... „ |
| हिङ्गुलाकटरमः | ... १९९ |
| घोषाकटलक्षणम् | ... „ |
| वरनागलक्षणम् | ... „ |
| उत्थापनालक्षणम् | ... „ |
| ढालनलक्षणम् | ... „ |
| मानसभूतचपलः | ... २०० |
| वक्त्रमभूतचपलः | ... „ |
| चपः कार्यम् | ... „ |
| तः परस्वस्य कार्यम् | ... „ |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः । | विषयाः | पृष्ठाङ्काः । |
|--------------------------|---------------|-----------------------------------|---------------|
| श्रीतन्म | ... २०१ | द्रुतिस्वरूपम् | ... २०८ |
| हैम्भानम् | ... ” | आरणाभेदं आरणालक्षणम् | ... ” |
| भञ्जनी | ... ” | विडलक्षणम् | ... २०८ |
| पुल्लका | ... ” | रञ्जनलक्षणम् | ... ” |
| पतङ्गीशङ्कः | ... २०२ | सारणालक्षणम् | ... २१० |
| आवापः | ... ” | वेधलक्षणम् | ... ” |
| अभिषेकः | ... ” | वेधस्य पञ्चविधत्वनिर्देशः | ... ” |
| निर्वापः | ... ” | लेप-वेधलक्षणम् | ... ” |
| प्रलेपकालनिर्देशः | ... ” | खेप-वेधलक्षणम् | ... २११ |
| शुद्धार्थः | ... २०३ | कुल-वेधलक्षणम् | ... ” |
| बीजावर्णः | ... ” | धूम-वेधलक्षणम् | ... ” |
| स्वाङ्गश्रीतन्म | ... ” | शब्द-वेधलक्षणम् | ... ” |
| बहिःश्रीतन्म | ... ” | उद्घाटनलक्षणम् | ... २१२ |
| स्नेहनलक्षणम् | ... ” | स्नेदनलक्षणम् | ... ” |
| मर्दनलक्षणम् | ... २०४ | सर्त्रासलक्षणम् | ... ” |
| मूर्च्छनलक्षणम् | ... ” | रसस्य स्वेदसर्त्रासयोः गुणः | ... ” |
| उत्थापनलक्षणम् | ... ” | परिभाषाज्ञानस्य फलम् | ... २१३ |
| बन्धनलक्षणम् | ... ” | — | |
| पातनलक्षणम् | ... २०५ | | |
| रोधनलक्षणम् | ... ” | नवमोऽध्यायः । | |
| नियमनलक्षणम् | ... ” | | |
| दोषनलक्षणम् | ... ” | यन्त्राणि | ... २१३ |
| यासमानम् | ... २०६ | प्रस्तुताध्यायस्य वक्तव्यनिर्देशः | ... ” |
| आरणाशस्त्रेविध्यनिर्देशः | ... ” | यन्त्रशब्दस्य निरुक्तिः | ... २१४ |
| ” पुनस्त्रेविध्यनिर्देशः | ... ” | दोलायन्त्रम् | ... ” |
| ” पुनर्वैविध्यनिर्देशः | ... ” | स्नेदनोयन्त्रम् | ... ” |
| निर्मुखआरणालक्षणम् | ... ” | पातनायन्त्रलक्षणम् | ... ” |
| बीजनिर्देशः | ... २०७ | अधःपातनप्रकारः | ... २१५ |
| सुखलक्षणम् | ... ” | दोषिकायन्त्रम् | ... ” |
| समुखेनारणालक्षणम् | ... ” | उकोयन्त्रम् | ... २१६ |
| राक्षसवक्त्ररसलक्षणम् | ... ” | आरणायन्त्रम् | ... ” |
| आरणालक्षणम् | ... ” | आरणायन्त्रस्य प्रकारान्तरम् | ... २१७ |
| गर्भद्रुतिलक्षणम् | ... ” | कण्टकयन्त्रम् | ... ” |
| बाह्यद्रुतिलक्षणम् | ... २०८ | विद्याधरयन्त्रम् | ... २१८ |
| हुते, पञ्चविधत्वनिर्देशः | ... ” | सीमानुलयन्त्रम् | ... ” |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः । |
|---------------------------------------|---------------|
| गर्भयन्त्रम् | ... २१८ |
| कंसपाकयन्त्रम् | ... ११ |
| बालुकायन्त्रम् | ... २२० |
| बालुकायन्त्रस्य प्रकारान्तरम् | ... ११ |
| खण्डयन्त्रम् | ... २२१ |
| खण्डयन्त्रस्य प्रकारान्तरम् | ... ११ |
| नालिकायन्त्रम् | ... ११ |
| भूधरयन्त्रम् | ... ११ |
| पुटयन्त्रम् | ... २२२ |
| कोष्ठोयन्त्रम् | ... ११ |
| बलभोयन्त्रम् | ... ११ |
| तिर्यक्पातनयन्त्रम् | ... २२३ |
| पालिकायन्त्रम् | ... ११ |
| घटयन्त्रम् | ... २२४ |
| इष्टकायन्त्रम् | ... ११ |
| हिङ्गलाकटिबिद्याधरयन्त्रम् | ... ११ |
| खनकयन्त्रम् | ... २२५ |
| नाभियन्त्रम् | ... ११ |
| तत्र तोयस्त्रययन्त्रम् | ... ११ |
| ॥ वज्रसूत्रम् | ... ११ |
| यन्त्रयन्त्रम् | ... २२६ |
| खालोयन्त्रम् | ... ११ |
| धूपयन्त्रम् | ... ११ |
| कन्दुकयन्त्रम् | ... २२७ |
| कन्दुकयन्त्रस्य प्रकारान्तरम् | ... २२८ |
| खल्लयन्त्रम् | ... ११ |
| खल्लयन्त्रस्य वैविध्यनिर्देशः | ... ११ |
| द्विविधखल्लयोः सामान्यलक्षणम् | ... ११ |
| शोधनार्थमर्ज्यचन्द्राकृतिखल्लनिर्देशः | ... २२८ |
| मर्दनार्थं वर्धुलखल्लनिर्देशः | ... ११ |
| तप्तखल्लार्थं खल्लनिर्देशः | ... २२९ |
| तप्तखल्लविधिः | ... ११ |

विषयाः पृष्ठाङ्काः ।

दशमोऽध्यायः ।

| | |
|----------------------------|---------|
| मूषादिकथनम् | ... २३१ |
| मूषायाः पर्यायाः | ... ११ |
| ॥ निर्वातः | ... ११ |
| ॥ उपदानम् | ... ११ |
| मूषाप्रशंसा | ... ११ |
| सन्धिलिपस्य पर्यायाः | ... २३२ |
| मूषोपयोगिसूक्तिका | ... ११ |
| मूषोपयोगिद्रव्याणि | ... ११ |
| मूषाया उपकरणान्तराणि | ... ११ |
| वज्रमूषा | ... २३३ |
| योगमूषा | ... ११ |
| वज्रद्रावणोपयोगिमूषा | ... ११ |
| गारमूषा | ... २३४ |
| वरमूषा | ... ११ |
| वर्णमूषा | ... ११ |
| रुप्यमूषा | ... ११ |
| द्विजमूषा | ... २३५ |
| वज्रद्रावणोपयोगिमूषान्तरम् | ... ११ |
| मूषाऽऽप्यायनम् | ... ११ |
| हन्ताकमूषा | ... २३६ |
| गोलानीमूषा | ... ११ |
| मल्लमूषा | ... ११ |
| पक्तमूषा | ... ११ |
| गोलमूषा | ... ११ |
| महामूषा | ... २३७ |
| मण्डूकमूषा | ... ११ |
| मुचलमूषा | ... ११ |
| कोष्ठिकाप्रकाशः | ... ११ |
| चक्रारकोष्ठी | ... ११ |
| पातालकोष्ठी | ... २३८ |
| गारकोष्ठी | ... २३९ |
| वह्नालम् | ... |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः । |
|-------------------------------|---------------|
| सिद्धरसादीनां कोटौ | ... २४० |
| पुटानि | ... ” |
| पुटस्य प्रयोजननिर्देशः | ... ” |
| ” फलम् | ... ” |
| महापुटम् | ... २४१ |
| मग्नपुटम् | ... ” |
| बाराहपुटम् | ... २४२ |
| कुक्कुटपुटम् | ... ” |
| कपोतपुटम् | ... ” |
| गोबरस्तम्भपुटम् | ... ” |
| गोबरपुटम् | ... ” |
| भाग्दपुटम् | ... २४३ |
| बालकापुटम् | ... ” |
| मूषरपुटम् | ... ” |
| लावकपुटम् | ... ” |
| अनुक्तपुटमाने कर्तव्यनिर्देशः | ... २४४ |
| लपलपर्यायाः | ... ” |
| अकृतिस्तकृतिमल्लोद्भूतानि | ... ” |
| पङ्कजवर्णानि | ... ” |
| चारवर्णम् | ... ” |
| चारपञ्चकम् | ... २४५ |
| मधुरवर्णम् | ... ” |
| रसकर्मणि तैलयोनिकलानि | ... ” |
| नखावर्गः | ... ” |
| मूत्रवर्गः | ... २४६ |
| पञ्चमाह्वयम् | ... ” |
| हागलपञ्चकम् | ... ” |
| अस्त्रवर्गः | ... ” |
| अस्त्रपञ्चकम् | ... २४७ |
| पञ्चमृत्तिका | ... ” |
| विषवर्गः | ... ” |
| लपविषवर्गः | ... २४८ |
| दुग्धवर्गः | ... ” |
| विड्वर्गः | ... २४९ |
| रक्तवर्गः | ... ” |
| धीतवर्गः | ... ” |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः । |
|--------------------------------|---------------|
| श्वेतवर्गः | ... २५० |
| कृष्णवर्गः | ... ” |
| रक्तवर्गादीनां प्रयोजननिर्देशः | ... ” |
| शोधनीयगणः | ... ” |
| लोहानां मलनाशनगणः | ... ” |
| लोहकाष्ठित्वनाशनी योगः | ... २५१ |
| द्रावण्यो गणः | ... ” |
| आराक्त-विष-खेडानां कार्यम्... | ... ” |

एकादशोऽध्यायः ।

| | |
|-----------------------------------|---------|
| रसशोधनादिकथनम् | ... २५२ |
| मानपरिभाषा | ... ” |
| मानपरिभाषायां मतान्तरम् | ... ” |
| पारदस्य संस्कारकथने प्रतिज्ञा | ... २५३ |
| अष्टादशसंस्काराणां नामानि | ... २५४ |
| व्याधिविशेषे रसप्रयोगनिषेधः | ... ” |
| शुद्ध-मूर्च्छितरसयोगुणः | ... ” |
| मृतरसस्य | ... ” |
| रसस्य नैसर्गिकदोषवयं | ... ” |
| तेषां कार्याणि च | ... ” |
| ” योगिकदोषद्वयं तयोः कार्यम् | ... २५५ |
| ” औपाधिकदोषाः | ... ” |
| रसदोषाणां द्वादशत्वकथनम् | ... ” |
| सप्तकञ्चुकानां नामानि | ... ” |
| भूमिजादीनां कार्यम् | ... ” |
| उपसंहारः | ... २५६ |
| संस्काराणां सूतस्य परिमाणनिर्देशः | ... ” |
| संस्काराः | ... ” |
| स्वेदनविधिः | ... ” |
| मर्दनविधिः | ... २५७ |
| मूर्च्छनविधिः | ... ” |
| छत्वापनविधिः | ... ” |
| पातनविधिः | ... २५८ |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः । | विषयाः | पृष्ठाङ्काः । |
|------------------------------|---------------|-----------------------------------|---------------|
| ऊर्ध्वःपातनयोः सङ्गानिर्देशः | २५८ | जलबन्धलक्षणम् | ... २६८ |
| अधःपातनविधिः | ... | अग्निबन्धलक्षणम् | ... ” |
| पातने प्रकारान्तराणि | ... | महाबन्धलक्षणम् | ... ” |
| प्रकारान्तरम् | ... २५८ | सूतानां सङ्क्षिप्तमूर्च्छाकल्पः | ... २७० |
| तिर्य्यक्पातनम् | ... | जलूकाबन्धलक्षणम् | ... ” |
| मर्दनादीनां गुणः | ... | क्रियाविशेषेण जलूकाया गुणविशेषः | २७१ |
| रोधनम् | ... २६० | जलूकायाः त्रिविधप्रमाणनिर्देशः | ” |
| निधामनम् | ... | ” संस्कारविशेषः | ... २७२ |
| प्रकारान्तरम् | ... | अन्यविधां जलूकां वक्तुं प्रतिज्ञा | ” |
| दोषनम् | ... २६१ | द्वितीयप्रकारजलूकाबन्धः | ... ” |
| प्रकारान्तरदोषनम् | ... | जलूकाबन्धान्तरम् | ... २७३ |
| रसभावनादौ मूलिन्यः | ... | प्रकारान्तरम् | ... ” |
| रसबन्धनं वक्तुं प्रतिज्ञा | ... २६३ | ” | ... २७४ |
| रसबन्धाः | ... | ” | ... ” |
| मत्तान्तरीयबन्धः | ... | योनिविद्रावणम् | ... ” |
| कूटबन्धः | ... | मदनवल्लयम् | ... २७५ |
| आरोटबन्धः | ... २६४ | प्रकारान्तरम् | ... ” |
| आभासबन्धः | ... | सूतमारणम् | ... ” |
| क्रियाङ्गीनबन्धः | ... | प्रकारान्तरम् | ... २७६ |
| पिष्टकाबन्धः | ... | ” | ... ” |
| आरबन्धः | ... | ” | ... ” |
| खोटबन्धः | ... २६५ | ” | ... ” |
| पोटबन्धलक्षणम् | ... | ” | ... २७७ |
| कल्कबन्धलक्षणम् | ... | ” | ... ” |
| कज्जलीबन्धलक्षणम् | ... | अन्यविधम् | ... ” |
| सजीवबन्धलक्षणम् | ... २६६ | रसमख्यसेवनविधिः | ... ” |
| निर्जीवबन्धलक्षणम् | ... | रससेवने पथ्यविधिः | ... ” |
| निर्वीजबन्धलक्षणम् | ... | ” अपथ्यानि | ... २७८ |
| सजीवदन्धलक्षणम् | ... २६७ | देवीशास्त्रीकः ककारादिगणः | ... ” |
| शङ्खलाबन्धलक्षणम् | ... | श्रीकृष्णदेवोक्तः ” ” | ... २७९ |
| द्रुतिबन्धलक्षणम् | ... | ककारादिनिषेधस्थापवादः | ... ” |
| बालकबन्धलक्षणम् | ... | रसव्यापदि प्रतीकारः | ... ” |
| कुमारबन्धलक्षणम् | ... २६८ | रससेवने उपचारविधिः | ... २८० |
| तरुणबन्धलक्षणम् | ... | रसत्यागे | ... ” |
| वृद्धबन्धलक्षणम् | ... | | |
| मूर्तिबन्धलक्षणम् | ... २६९ | | |

विषयाः

पृष्ठाङ्काः ।

विषयाः

पृष्ठाङ्काः ।

द्वादशोऽध्यायः ।

| | | |
|-------------------------------------|-----|-----|
| ज्वरचिकित्सनम् | ... | २८१ |
| चिकित्सनीयरोगाणां यक्षाक्षमं नामानि | ... | २८२ |
| बातज्वरलक्षणम् | ... | २८२ |
| पित्तज्वरलक्षणम् | ... | २८३ |
| कफज्वरलक्षणम् | ... | २८३ |
| द्वन्द्वसन्निपातज्वराणामातिदेशिफ- | ... | २८४ |
| लक्षणम् | ... | २८४ |
| रसायनानि | ... | २८५ |
| त्रैलोक्यसुन्दररसः | ... | २८५ |
| त्रैलोक्यउत्तररसः | ... | २८५ |
| मेघनादरसः | ... | २८६ |
| ज्वरगणहरिरसः | ... | २८६ |
| दौषिकारसः | ... | २८७ |
| शीतभस्मीरसः | ... | २८७ |
| मृत्तमौवनरसः | ... | २८८ |
| शीतभस्मीरसः | ... | २८८ |
| हृदयज्वरादुःशः | ... | २८९ |
| महाज्वरादुःशः | ... | २९० |
| मृत्युञ्जयः | ... | २९० |
| सर्वज्वरारिः | ... | २९१ |
| चन्द्रमूर्ध्नी नामरसः | ... | २९१ |
| विषप्रयोगाद्योग्यनिर्देशः | ... | २९२ |
| उमाप्रसादनो रसः | ... | २९२ |
| ज्वरादुःशरसः | ... | २९३ |
| सर्वाङ्गसुन्दरचिन्तामणिरसः | ... | २९४ |
| लोकनाथगुटिका | ... | २९४ |
| सूचिकाभरणो रसः | ... | २९५ |
| शार्ङ्गष्टादिवर्गः | ... | २९५ |
| सूचीमुखो रसः | ... | २९६ |
| सन्निपातगजादुःशः | ... | २९६ |
| चातुर्थिकाहरी रसः | ... | २९७ |
| चातुर्थिकागजादुःशः | ... | २९७ |
| द्वितीयमृत्युञ्जयरसः | ... | २९८ |

| | | |
|----------------------|-----|-----|
| पञ्चवक्त्ररसः | ... | ३०० |
| उन्मत्तरसः | ... | ३०० |
| सन्निपातान्नरसः | ... | ३०१ |
| नख्यम | ... | ३०१ |
| प्रतापलङ्केश्वरः | ... | ३०२ |
| प्राणेश्वरः | ... | ३०२ |
| मृतमस्त्रीवनः | ... | ३०३ |
| द्वितीयमृतसस्त्रीवनः | ... | ३०३ |
| सन्निपातकुठारः | ... | ३०४ |
| नवज्वरारिः | ... | ३०५ |
| कलमस्त्रीरसः | ... | ३०५ |
| कालरसः | ... | ३०६ |
| चन्द्रोदयः | ... | ३०६ |
| गोर्ध्वज्वरारिः | ... | ३०७ |
| नवज्वरमुरारिः | ... | ३०७ |

त्रयोदशोऽध्यायः ।

| | | |
|-------------------------------|-----|-----|
| रक्तपित्तादिचिकित्सनम् | ... | ३०९ |
| रक्तपित्तस्य निदानसम्प्राप्ती | ... | ३०९ |
| पटोलादियोगः | ... | ३१० |
| रसेन्द्रियोगः | ... | ३१० |
| ऊर्ध्वपातितपारदादियोगः | ... | ३१० |
| चन्द्रकलारसः | ... | ३१० |
| पटोलकादियोगः | ... | ३१० |
| नवनीतादियोगः | ... | ३११ |
| श्रीरोलेपः | ... | ३११ |
| द्राक्षादिक्रावः | ... | ३११ |
| योगवधम् | ... | ३११ |
| सितामृता | ... | ३१२ |
| कासचिकित्सा | ... | ३१२ |
| कासस्य निदानादिकम् | ... | ३१२ |
| अर्कादियोगः | ... | ३१२ |
| रजतयोगः | ... | ३१२ |
| रत्नकरिण्डकारसः | ... | ३१२ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|-----------------------------------|---------------|
| भृताङ्गशरसः | ... ३१३ |
| बीलवङ्गरसः | ... ३१ |
| अग्निरसः | ... ३१ |
| भृङ्गराजयोगः | ... ३१४ |
| अर्कादियोगः | ... ३१ |
| आसन्नधूमद्वयम् | ... ३१ |
| स्वयन्मग्निरसः | ... ३१ |
| अथकासान्तको योगः | ... ३१ |
| श्वासचिकित्सा | ... ३१५ |
| आसन्न सन्ध्याभिः | ... ३१ |
| ऋद्धिश्वासारिः | ... ३१ |
| सूर्यावर्त्तरसः | ... ३१ |
| सौगन्धिकयोगः | ... ३१६ |
| शिलादिचूर्णम् | ... ३१ |
| धृतपञ्चकम् | ... ३१ |
| आसारिवटकः | ... ३१ |
| भागोत्तरगुडिका | ... ३१७ |
| नीलकण्ठः | ... ३१ |
| आसन्नासकरिकेशरीरसः | ... ३१ |
| सूर्यरसः | ... ३१८ |
| ह्रिकाचिकित्सा | ... ३१ |
| भागोत्तररसः | ... ३१ |
| कज्जलयोगः | ... ३१ |
| शिलापूतरसः | ... ३१८ |
| शालादिक्षीरम् | ... ३१ |
| ह्रिकाघ्नधूमः | ... ३१ |
| आसश्वासह्रिकास्वरभेद- चिकित्सा | ... ३१ |
| पर्पटीरसः | ... ३१ |
| कफरोगे कियामुक्ता | ... ३२१ |
| अभ्यासभैरवः | ... ३१ |
| गन्धपाण्ड्ययोगः | ... ३२२ |
| कफि भेषजविशेषनिर्देशः | ... ३१ |
| विश्वदिग्दण्डिका | ... ३१ |

विषयः पृष्ठाङ्काः ।

चतुर्दशोऽध्यायः ।

| | |
|------------------------------|---------|
| राजयक्ष्मादिचिकित्सनम् | ३२३ |
| राजयक्ष्मलक्षणम् | ... ३१ |
| कनकमुन्दरः | ... ३१ |
| राजमृगाङ्कः | ... ३२५ |
| शङ्खश्वरः | ... ३१ |
| मृगाङ्कपोटली | ... ३२६ |
| सातुलङ्कादियोगः | ... ३१ |
| रजन्त्यादियोगः | ... ३१ |
| सौभाग्ययोगः | ... ३१ |
| सुगन्धाद्योगः | ... ३१ |
| रत्नवान्तिहरो योगः | ... ३२७ |
| मृगाङ्कपोटलीरसः | ... ३१ |
| यक्ष्माणि औषधविशेषसंवनोपदेशः | ... |
| पञ्चाशतरसः | ... ३१ |
| जयन्तीयोगः | ... ३२८ |
| लोकनाथरसः | ... ३१ |
| लोकेश्वररसः | ... ३१ |
| वैद्यनाथरसः | ... ३३० |
| लोकनाथः | ... ३३१ |
| प्राणनाथः | ... ३१ |
| वज्ररसः | ... ३३२ |
| महावीरः | ... ३३३ |
| पञ्चाशतपर्पटी | ... ३३४ |
| गन्धकपिष्टादियोगः | ... ३३६ |
| राजावर्त्तरसः | ... ३३७ |
| द्वितीयराजावर्त्तरसः | ... ३१ |

पञ्चदशोऽध्यायः ।

| | |
|-----------------------|---------|
| अर्शसां चिकित्सनम् | ... ३३७ |
| अर्शसां स्वल्पलक्षणम् | ... ३३ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|--------------------------------|---------------|
| पित्तार्शोत्पत्त्यम् | ... ३३८ |
| वातार्शोत्पत्त्यम् | ... ३३ |
| श्लेष्मार्शोत्पत्त्यम् | ... ३३ |
| त्रिदोषजार्शोत्पत्त्यम् | ... ३३ |
| अशःकुठारः | ... ३३ |
| वचादिमोदकः | ... ३३८ |
| तौलामुखी रसः | ... ३३ |
| लौहाष्टकम् | ... ३३ |
| श्लेष्मार्शसि औषधविशेषनिर्देशः | ... ३३ |
| सर्वलोकाग्रयो रसः | ... ३४० |
| अशोन्नः वटकः | ... ३३ |
| अशोन्नी वटिका | ... ३४१ |
| मूलकुठारः | ... ३३ |
| महोदयप्रत्ययसारः | ... ३४३ |
| कनकसुन्दरः | ... ३४४ |
| अकशः | ... ३४५ |
| तौलामुखः | ... ३४६ |
| अशःकुठारः | ... ३३ |
| वैलोक्यतिलकः | ... ३४७ |
| अशोन्नहरयोगः | ... ३४८ |
| देवताल्यादिलेपः | ... ३४८ |
| अशःकुठारलेपः | ... ३३ |
| अशोन्नशौचः | ... ३३ |
| दुर्गमहरलेपः | ... ३३ |
| अशोन्नी वर्णः | ... ३३ |
| अर्कचौरादिलेपः | ... ३३ |
| शिशुमूलादिलेपः | ... ३५० |

षोडशोऽध्यायः ।

| | |
|------------------------|---------|
| उदावर्त्तादिचिकित्सनम् | ३५० |
| उदावर्त्तनिदानम् | ... ३३ |
| उदावर्त्तहरं प्लवम् | ... ३३ |
| अतीसारचिकित्सा | ... ३५१ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|------------------------|---------------|
| अतीसारनिदानम् | ... ३५१ |
| दर्दुररसः | ... ३५ |
| द्वितीयदर्दुररसः | ... ३५ |
| आमन्दभैरवः | ... ३५ |
| सुधासाररसः | ... ३५२ |
| रसीतमः | ... ३५३ |
| खेदनौयन्त्रलक्षणम् | ... ३५ |
| लोकेश्वरः | ... ३५४ |
| लोचनायः | ... ३५ |
| षष्टिकतैलम् | ... ३५ |
| नागसुन्दरः | ... ३५५ |
| ग्रहणीचिकित्सा | ... ३५६ |
| ग्रहणीलक्षणम् | ... ३५ |
| ग्रहणीवज्रकपाठः | ... ३५ |
| अग्निकुमारः | ... ३५ |
| शम्बूकादिचूर्णम् | ... ३५७ |
| कनकसुन्दरः | ... ३५ |
| ग्रहणीकपाठः | ... ३५ |
| अष्टसङ्कुङ्गदेककपाठः | ... ३५८ |
| लघुसिद्धाधकः | ... ३५ |
| सर्वारोग्यवटी | ... ३५८ |
| ग्रहणीगणकेशरी | ... ३६० |
| शीघ्रप्रभावः | ... ३६२ |
| पोटली | ... ३६३ |
| वज्रज्वाला वटी | ... ३५ |
| वज्रधरः | ... ३६४ |
| ग्रहणीकपाठः | ... ३५ |
| मुखादिचूर्णम् | ... ३५ |
| अजीर्णचिकित्सा | ... ३६५ |
| अजीर्णलक्षणम् | ... ३५ |
| अजीर्णकण्टकः | ... ३५ |
| विध्यंसनाना रसः | ... ३५ |
| ठङ्गत् विध्यंसनाना रसः | ... ३६६ |
| अग्निकुमारः | ... ३६ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|------------------------------|---------------|
| शेडवाधिरसः | ... २६६ |
| धराटीलक्षणम् | ... २६७ |
| शिशमध्यमाधनवराटिकाया लक्षणम् | ... |
| वराटलक्षणम् | ... २६८ |
| धेनवानरपोटलौ | ... २६८ |
| बडवासुखौ गटिका | ... २६९ |
| क्रव्याटनामा रसः | ... २७० |
| राजशेखरवटी | ... २७१ |
| द्वितीयशाम्रकुमारः | ... |
| अमृतवटी | ... २७२ |
| राक्षसनामा रसः | ... २७३ |
| जीवननामा ” | ... २७३ |
| बडवानलः | ... २७४ |
| अग्निजननी वटी | ... २७४ |
| सर्वरोगान्तका ” | ... २७५ |
| अग्निकरम् | ... २७५ |

सप्तदशोऽध्यायः ।

मूत्रकृच्छ्राश्मर्यादि-

| | |
|----------------------------|---------|
| चिकित्सनम् | ... २७६ |
| अश्मरीनिदानम् | ... २७७ |
| अश्मरीमूत्रकृच्छ्रचिकित्सा | ... |
| पाषाणभेदी रसः | ... २७८ |
| गोक्षुरप्रयोगः | ... २७९ |
| पाण्डुरादिप्रयोगः | ... २८० |
| शुक्लपिण्याकादिप्रयोगः | ... २८१ |
| मूत्रकृच्छ्रान्तकी रसः | ... २८२ |
| द्वितीयपाषाणभेदी ” | ... २८३ |
| गोक्षुरादिचूर्णम् | ... २८४ |
| चिकित्सः | ... २८५ |
| आमन्दभेरवी वटी | ... २८६ |
| अश्मरीहरप्रयोगः | ... २८७ |
| शुक्लचारप्रयोगः | ... २८८ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|----------------------------------|---------------|
| लघुलोकेन्द्रः | ... २८९ |
| विदाय्यादिकथायः | ... २९० |
| आरप्रयोगः | ... २९१ |
| हारिद्रप्रयोगः | ... २९२ |
| शैवयोगः | ... २९३ |
| प्रमेहनिदानम् | ... २९४ |
| प्रमेहचिकित्सा | ... २९५ |
| वज्रेश्वरी रसः | ... २९६ |
| गुडमार्कण्डे | ... २९७ |
| ताम्रयोगः | ... २९८ |
| रक्तमेहे बहुप्रयोगः | ... २९९ |
| शुक्लमेहे ” | ... ३०० |
| मधुमेहे ” | ... ३०१ |
| शान्दलोप्रयोगः | ... ३०२ |
| रक्तमेहे बोलबहरसस्य प्रयोगोपदेशः | ... ३०३ |
| श्लेष्मातकक्राथः | ... ३०४ |
| कुष्माण्डस्वरसप्रयोगः | ... ३०५ |
| स्त्रीणा रक्तस्रावे तीक्ष्णयोगः | ... ३०६ |
| चन्द्रप्रभा गटिका | ... ३०७ |
| प्रमेहजनिहः | ... ३०८ |
| महाविदा गटिका | ... ३०९ |
| बहुभाविप्रमेहारिः | ... ३१० |
| समाशुभः | ... ३११ |
| नायसुतयोगः | ... ३१२ |
| शान्तादिगटिका | ... ३१३ |
| कासीसादिमोदकम् | ... ३१४ |
| भौमपराकृतः | ... ३१५ |
| सञ्जीवनः | ... ३१६ |
| मेहमर्दनः | ... ३१७ |
| रामबाणरसः | ... ३१८ |
| राजसुगाढः | ... ३१९ |
| मेहहरः | ... ३२० |
| उदयभास्करः | ... ३२१ |
| मेहकुठारः | ... ३२२ |
| द्वितीयः | ... ३२३ |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः । |
|----------------|---------------|
| वसन्तकुसुमाकरः | ... ३८६ |
| मेघहरः | ... ३८७ |
| मेघारिः | ... ३८७ |
| मेघवद्धरसः | ... ३८८ |
| हरिशङ्कररसः | ... ३८८ |

अष्टादशोऽध्यायः ।

| | |
|-------------------------------|---------|
| विद्रध्यादिचिकित्सनम् | २८८ |
| विद्रधेर्निदानं सम्प्राप्तिय | ... |
| विद्रधिचिकित्सा | ... |
| सर्वेश्वरपर्वटी | ... |
| परुषकषायः | ... ४०२ |
| शोभाञ्जनादिकाद्यः | ... |
| सर्वामयहरी रसः | ... |
| हृदिचिकित्सा | ... ४०४ |
| दार्ढ्यप्रयोगः | ... |
| वाताग्निरसस्य प्रयोगोपदेशः | ... |
| वातारिः | ... |
| लाट्टकप्रयोगः | ... ४०५ |
| अन्तर्बद्धौ पानीयतैलम् | ... |
| “ पानीयतैलाकरं घृतञ्च | ... |
| “ मांसरसः | ... ४०६ |
| “ द्वितोयकांसरसः | ... |
| गन्धपूर्वकपम् | ... |
| गुल्मचिकित्सा | ... |
| गन्धकादिपोटलीरसः | ... |
| गन्धकादिपोटल्यः प्रयोगान्तरम् | ... ४०७ |
| वज्रेश्वर | ... ४०८ |
| देवदारोऽन्नाङ्गचूर्णम् | ... |
| तक्रासः | ... |
| परुष रस | ... ४०९ |
| शुष्कपुङ्खः प्रयोगः | ... |
| वज्र रसोपदेशः | ... |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः । |
|---------------------------------|---------------|
| काञ्चनोपयोगः | ... ४०९ |
| प्रोक्त्र रक्तमोक्षोपदेशः | ... |
| शिखिवाडनः | ... ४१० |
| दीपानरः | ... |
| विद्याधरः | ... ४११ |
| व्योषादिचूर्णम् | ... |
| देवदारोऽन्नाङ्गचूर्णम् | ... |
| रक्तोदरकठारः | ... |
| वैश्वानररसः | ... ४१२ |
| अग्निकुमारः | ... |
| सर्वाङ्गसुन्दरः प्राणेश्वरी रसः | ... ४१३ |
| गुल्मनाशनः | ... ४१४ |
| शूलचिकित्सा | ... ४१५ |
| अग्निप्लवः | ... |
| क्षारप्रयोगः | ... ४१६ |
| विनेश्वरः | ... |
| सौभाग्ययोगः | ... |
| चिन्ताकारः | ... ४१७ |
| शूलकेशरी | ... |
| बन्ध्यादिक्षारः | ... ४१८ |
| मृतात्यापनः | ... |
| क्षारताम्रम् | ... ४१९ |
| शूलान्तकः | ... ४२० |
| द्वितोयोऽग्निमुखः | ... |
| द्वितोयविनेश्वरः | ... ४२१ |
| उदयभास्करः | ... |
| शूलगजकेशरी | ... ४२२ |
| द्वितोयक्षारताम्रम् | ... ४२३ |
| ताम्राष्टकम् | ... |
| वज्रवानलगुटिका | ... |
| अग्निकुमारः | ... ४२४ |
| गन्धकादिजौहम् | ... ४२५ |
| इन्द्रधनुषिकादिचूर्णम् | ... |
| भृदावादियोगः | ... |
| सद्यःशूलहरी योगः | ... |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|---------------------------|---------------|
| अद्यःशूलहरयोगप्रथमम् | ... ४२६ |
| ज्वारपटी | ... ४२७ |
| कार्श्यचिकित्सा | ... ४२७ |
| अमृतार्णवः | ... ४२८ |
| पूर्णचन्द्रः | ... ४२८ |
| स्थूलचिकित्सा | ... ४२९ |
| बडवाग्रमुखः | ... ४२९ |
| स्थौल्य पूर्वकल्पनिर्देशः | ... ४२९ |
| मध्माष्टकप्रयोगः | ... ४३० |
| अग्रिकुमारः | ... ४३० |
| अक्षपित्तनिदानम् | ... ४३१ |
| अक्षपित्तचिकित्सा | ... ४३१ |
| अक्षपित्तोपधाराः | ... ४३१ |
| बभनयोगः | ... ४३१ |
| विरचनयोगः | ... ४३१ |
| खीलाविलासः | ... ४३१ |
| कुभाण्डखण्डम् | ... ४३२ |
| ताम्रदूतिः | ... ४३२ |
| पित्तरोगचिकित्सा | ... ४३३ |
| पित्तान्नकरसः | ... ४३३ |
| दशसारम् | ... ४३५ |

एकोनविंशोऽध्यायः ।

| | |
|------------------------------|---------|
| उदरादिचिकित्सनम् | ... ४३५ |
| जलोदरलक्षणम् | ... ४३५ |
| वातोदरलक्षणम् | ... ४३५ |
| उदरपाण्डुशोफकामलाकुम्भकामला- | |
| हलीमकचिकित्सा | ... ४३५ |
| कौमृतकादिगुटिका | ... ४३५ |
| विनोदविद्याधरः | ... ४३६ |
| दक्षिणीनादिरसः | ... ४३६ |
| अमृतप्रथः | ... ४३६ |
| उदरे विरचनविधिः | ... ४३७ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|-----------------------------------|---------------|
| त्रैलोक्यसुन्दरः | ... ४३७ |
| महापङ्क्तिः | ... ४३८ |
| गुडनागरप्रयोगः | ... ४३८ |
| बच्चारः | ... ४३८ |
| खदिरादिशोः | ... ४३९ |
| पिप्पलीप्रयोगः | ... ४३९ |
| वैश्वानरः | ... ४३९ |
| सूर्यप्रभा गुटिका | ... ४४१ |
| उदयमार्गलक्षरसः | ... ४४१ |
| पाण्डुरोगस्य सङ्क्षिप्तलक्षणम् | ... ४४२ |
| पाण्डुरोगचिकित्सा | ... ४४२ |
| हंसमण्डरः | ... ४४२ |
| कालविध्वंसनः | ... ४४२ |
| पञ्चाननः | ... ४४४ |
| आरोग्यसागरः | ... ४४५ |
| पाण्डुघनान्नलक्षरसः | ... ४४६ |
| पाण्डुहारिहरीतकी | ... ४४७ |
| पित्तपाण्डुरिगुटिका | ... ४४८ |
| त्रैलोक्यसुन्दरः | ... ४४८ |
| पाण्डुशोथे विनोदरसस्य प्रयोगविधिः | ... ४४८ |
| विजयागुटिका | ... ४४८ |
| टङ्कणादिशोः | ... ४४८ |
| अथपालरसः | ... ४४८ |
| देवदालीपचाकप्रयोगः | ... ४४८ |
| कामलालक्षणम् | ... ४५० |
| अपामार्गादिशोः | ... ४५० |
| पञ्चाक्षरसः | ... ४५० |
| विद्योनिः | ... ४५१ |
| मुक्तादिचूर्णम् | ... ४५१ |
| कामेश्वरः | ... ४५१ |
| पाण्डुघनान्नलक्षरसः | ... ४५२ |
| कंसादिपचकम् | ... ४५२ |
| सिन्दूरभूषणः | ... ४५३ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । | विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|--------------------------------|---------------|-----------------------------------|---------------|
| विंशोऽध्यायः । | | विश्रुतः | ... ४६६ |
| विसर्पादिचिकित्सनम् | ४५४ | निर्गुणादिपक्षेपः | ... ४६७ |
| विसर्पकुष्ठश्चिकित्सा | ... | कुष्ठराक्षसः | ... " |
| कालाग्रिद्वरसः | ... | व्योषादिगुटिका | ... " |
| परण्वीजादितैलम् | ... | कुष्ठकुठाररसः | ... " |
| द्वितीयेरण्वीजादितैलम् | ४५५ | गुग्गायुषर्तनम् | ... ४६८ |
| गलत्कुष्ठलक्षणम् | ... | वज्रशेखरः | ... " |
| कुष्ठेषु क्रियासूत्रम् | ... | कुष्ठविद्रावणतैलम् | ... ४६९ |
| वातकुष्ठारिः | ४५६ | दद्रुकुष्ठविद्रावणरसः | ... ४७० |
| पित्तकुष्ठारिः | ... | माषिक्यतिलकः | ... ४७१ |
| श्लेष्मकुष्ठारिः | ४५७ | परहितः | ... " |
| विदोषकुष्ठारिः | ... | तालकेश्वरः | ... ४७२ |
| विजयवटिका | ... | खगेश्वरः | ... ४७४ |
| सर्वेश्वरः | ४५८ | कुष्ठनाशनः | ... ४७५ |
| मुनिकुष्ठदलनो रसः | ... | आरोग्यवर्द्धनौ गुटिका | ... " |
| प्रतापलङ्केश्वरः | ४५९ | नारायणः | ... ४७६ |
| किटिसारितैलम् | ... | मेदिनीसाररसः | ... " |
| सिन्धे गन्धपाषाणलेपः | ... | लघुघ्नौ गुटिका | ... ४७८ |
| ... वराटिकालेपः | ४६० | धन्वन्तरिः | ... ४७९ |
| दद्रुकुष्ठ मधुरन्धारादिपक्षेपः | ... | वज्रधारः | ... " |
| चर्मकुष्ठे पपॅटीरसप्रयोगविधिः | ... | सर्वकुष्ठाङ्गः | ... " |
| ... मेघनादायुर्वर्तनम् | ... | द्वितीयमहातालेश्वरः | ... ४८० |
| शतारुषि रसादिषट्कम् | ... | द्वितीयकुष्ठकुठारः | ... " |
| कुष्ठविधूननो रसः | ४६१ | वज्रतैलम् | ... ४८१ |
| मस्त्रिहादिगणः | ... | स्वर्णक्षीरः | ... ४८२ |
| निधोऽम्बरयोः कङ्कणीतैलम् | ... | महाभङ्गातैलम् | ... " |
| प्रामारितैलम् | ... | तैलोक्यविजयतैलम् | ... ४८३ |
| तालेश्वरः | ४६२ | महामार्तकतैलम् | ... " |
| महावालेश्वरः | ४६३ | काश्मीतैलपयोगोपदेष्टः | ... ४८४ |
| सर्वकुष्ठान्तकृतैलम् | ४६४ | शुक्लकण्डूकृमायार्दिनलेपः | ... " |
| कुष्ठविध्वंसनो लेपः | ... | विपाटिकायः मैन्धर्वादिलेपः | ... " |
| कनकसुन्दरः | ... | कण्डूनाशो शिलादिः | ... " |
| हरिकृष्णाङ्गः | ४६५ | कुष्ठान्तपपॅटी | ... " |
| विपुलाङ्कः | ४६६ | काशीगव्ही रसः | ... ४८५ |
| | | द्वितीयसर्वेश्वरः | ... " |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । | विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|--------------------------------|---------------|---------------------------------|---------------|
| योगराजगुणुप्रयोगोपदेशः ... | ४८६ | विजयागुण्टकाप्रयोगोपदेशः ... | ४८८ |
| शिवलक्षणम् ... | ४८७ | श्रीतारिः ... | ४८९ |
| शिवारिः ... | ४८७ | स्पर्शवातलक्षणम् ... | ४९० |
| शिवे निम्नादिचूर्णम् ... | ४८७ | सर्वेश्वरः ... | ४९१ |
| शिवकुष्ठारिः ... | ४८७ | चक्रेश्वरः ... | ४९२ |
| चन्द्रप्रभा बाटिका ... | ४८८ | तारादिगुण्टिका ... | ४९३ |
| ताम्रलिप्तकज्जली ... | ४८८ | स्पर्शवाते राजहस्तप्रयोगः ... | ४९४ |
| चन्दयादित्यः ... | ४८९ | चक्रमर्दादिः ... | ४९५ |
| अल्पशिवे शिलादिलिपः ... | ४९० | स्पर्शवातात्मकदण्डिका ... | ४९६ |
| अद्वीकृतैलादिलिपश्चम् ... | ४९० | अस्पर्शवातारितैलम् ... | ४९७ |
| अतुर्गुण्यगन्धकज्जली ... | ४९० | अस्पर्शवाते विश्वप्रयोगः ... | ४९८ |
| अंतरियोगः ... | ४९१ | इष्ट्यावल्लोप्रयोगः ... | ४९९ |
| कर्णोकरश्चयोगः ... | ४९१ | अर्कदुग्धप्रयोगः ... | ५०० |
| गन्धकादिचारः ... | ४९२ | इष्ट्यादिलिपः ... | ५०१ |
| सुन्दरवादिचूर्णम् ... | ४९२ | रसेन्दुलिपः ... | ५०२ |
| अद्वीलादितैलम् ... | ४९३ | गन्धाश्मगर्भरसः ... | ५०३ |
| कुष्ठारितैलम् ... | ४९३ | द्वितीयगन्धाश्मगर्भरसः ... | ५०४ |
| क्रिमिलक्षणम् ... | ४९४ | अभ्यर्गारिरसः ... | ५०५ |
| क्रिमिचिकित्सा ... | ४९४ | रक्तवातलक्षणम् ... | ५०६ |
| क्रिमिशूलहरो रसः ... | ४९५ | रक्तवातचिकित्सा ... | ५०७ |
| अग्निगुण्डरसः ... | ४९५ | हरीतक्यादिचूर्णम् ... | ५०८ |
| क्रिमिज्वरे आखुपर्णप्रयोगः ... | ४९६ | कोकिलाचाटिकावायः ... | ५०९ |
| क्रिमो पप्टीप्रयोगोपदेशः ... | ४९७ | संशोधनोपदेशः ... | ५१० |
| क्रिमिशूलसंहारः ... | ४९७ | रक्तवाते अपप्यम् ... | ५११ |
| अजमोटादिबटिका ... | ४९८ | आमवातलक्षणम् ... | ५१२ |
| सूतभस्मप्रयोगः ... | ४९८ | आमवातचिकित्सा ... | ५१३ |
| क्रिमिहरो रसः ... | ४९९ | आमवाते वातारिरसप्रयोगोपदेशः ... | ५१४ |
| कौटमर्दो ... | ४९९ | अनिलारिण्योगः ... | ५१५ |

एकविंशोऽध्यायः ।

| | | | |
|-------------------------|-----|-------------------------------------|-----|
| वातव्याध्यादिचिकित्सनम् | ४९७ | अपस्मारचिकित्सा ... | ५१६ |
| मृदुरोगनामानि ... | ४९८ | अपस्मारे पप्टीरसस्य प्रयोगविधिः ... | ५१७ |
| श्रीतवातलक्षणम् ... | ४९९ | आक्षत्रादिनस्यम् ... | ५१८ |
| हृत्तारिः ... | ५०० | गवाक्ष्यादिनस्यम् ... | ५१९ |
| | | श्वेताप्रराजितादिनस्यम् ... | ५२० |

| विषयोः | पृष्ठाङ्काः । |
|------------------------------------|---------------|
| अपस्मारहरणस्यम् | ... ५०७ |
| अपस्मारहरी योगः | ... ” |
| उन्मादलक्षणम् | ... ” |
| उन्मादचिकित्सा | ... ५०८ |
| उन्मादे पर्पटीरसस्य प्रयोगविधिः | ” |
| ” उपचारविशेषाः | ... ” |
| साहस्यरूपः | ... ” |
| एकाङ्गवातलक्षणम् | ... ५०८ |
| एकाङ्गवातचिकित्सा | ” |
| एकाङ्गवाते पर्पटीरसस्य प्रयोगविधिः | ” |
| सर्जितैलम् | ... ” |
| अङ्गवायो यतावर्थादिगुणः | ५१० |
| विविधवातव्याधिचिकित्सा | ” |
| योगेराजगुणः | ... ” |
| द्वितीययोगराजगुणः | ... ५११ |
| बडवानलः | ... ५१२ |
| मार्च्छेयुरः | ... ५१३ |
| अतुःसुधैरवः | ... ” |
| सर्ववातारिः | ... ५१५ |
| वातविध्वंसनः | ... ५१६ |
| हकीदरगटिका | ... ५१८ |
| प्रभावती वटी | ... ५१८ |
| एकाङ्गवाते पर्पटीरसप्रयोगे | |
| विध्यन्तरम् | ... ५२० |
| विजयभैरवतैलम् | ... ” |
| स्वच्छन्दभैरवः | ... ५२१ |
| द्वितीयविजयभैरवतैलम् | ... ” |
| द्वितीयबडवानलः | ... ५२२ |
| द्वितीयस्वच्छन्दभैरवः | ... ” |
| बडङ्गगुणः | ... ५२३ |
| बडङ्गयोगः | ... ” |
| त्रिफलाद्यं यमकम् | ... ” |
| स्ववाते आनन्दभैरवप्रयोगोपदेशः | ” |
| विगुण्यप्रयोगः | ... ५२४ |

| विषयोः | पृष्ठाङ्काः । |
|-----------------------------|---------------|
| वतैरग्न्यप्रयोगः | ... ५२४ |
| इन्द्रवाक्प्रीप्रयोगः | ... ” |
| सर्वाङ्गवातारिः | ... ” |
| वाग्वक्त्रैरवः | ... ५२५ |
| गगनगर्भा वटी | ... ” |
| वातगजाङ्गः | ... ” |
| वातरक्तलक्षणम् | ... ५२६ |
| वातरक्तचिकित्सा | ... ” |
| वातरक्ते अन्याधिकारोक्तौषधः | |
| प्रयोगोपदेशः | ... ” |
| पित्तरोगचिकित्सा | ... ” |
| चन्द्रावलेहः | ... ” |
| ऐलेयसर्पिः | ... ५२७ |
| ऐलेयकप्रयोगः | ... ५२८ |
| ऐलेयकतैलम् | ... ” |
| ऐलेयकान्नप्राशः | ... ५२८ |

द्वाविंशोऽध्यायः ।

| | |
|--------------------------------|---------|
| बन्ध्यादिचिकित्सनम् | ... ५३० |
| बन्ध्याया दीपभेदादिकम् | ... ” |
| बन्ध्याय्य ” ” | ... ” |
| बन्ध्यालक्षणम् | ... ” |
| जयसुन्दरः | ... ५३१ |
| रत्नभागोत्तरः | ... ५३२ |
| चक्रिकावन्धः | ... ५३३ |
| बहुमानः | ... ५३४ |
| द्रुतिसारः | ... ५३७ |
| बन्ध्यागर्भसम्प्राप्तिः | ... ५३८ |
| सर्पाक्षीप्रयोगः | ... ” |
| देवदालीप्रयोगः | ... ५३८ |
| शरपुष्पाप्रयोगः | ... ” |
| वशावादिप्रयोगः | ... ” |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|--|---------------|
| श्वेतकण्टकारीप्रयोगः | ५३८ |
| विष्णुकान्ताप्रयोगः | ५४० |
| अश्वगन्धाप्रयोगः | ५४१ |
| सूतबन्धालक्षणम् | ५४२ |
| शङ्करोक्तदेवव्यपाद्यचिकित्सा | ५४३ |
| युक्तिव्यपाद्ये वन्ध्याकर्कोटकीप्रयोगः | ५४४ |
| प्रथमभासे पञ्चकादिकल्पाः | ५४५ |
| द्वितीयभासे नीलोत्पलादिकल्पाः | ५४६ |
| तृतीयभासे शौण्डिण्यादिकल्पाः | ५४७ |
| नीलोत्पलादिकल्पाः | ५४८ |
| गर्भिणीञ्चरे पाठादिकषायः | ५४९ |
| क्षिन्नादिकषायः | ५५० |
| पयस्यादिकषायः | ५५१ |
| गर्भिणीतृतीयांशे वृषकल्पादिकषायः | ५५२ |
| शोषणादिकषायः | ५५३ |
| गर्भिण्याः उदावर्त्तादौ पुनर्नवादिक्षायः | ५५४ |
| शोषादौ अन्धादिक्षायः | ५५५ |
| निर्गुण्डादिचूर्णम् | ५५६ |
| गर्भिणीशोषे पुनर्नवादिक्षायः | ५५७ |
| गर्भिण्याः उदावर्त्तादौ वषाभक्षायः | ५५८ |
| पित्तार्त्तौ यष्टिकादियवागूः | ५५९ |
| श्वसकासे तित्तादिकषायः | ५६० |
| गर्भिणीकासे मरिचप्रयोगः | ५६१ |
| गर्भिण्याः बालौ लालादिकषायः | ५६२ |
| हृक्कायां बालविल्लिप्रयोगः | ५६३ |
| अप्रिसान्धे अजमोदादिचूर्णम् | ५६४ |
| वातरोगे बाक्कादिचौरं | ५६५ |
| चौरयवागू | ५६६ |
| मूत्ररोगे श्वदेष्टादिकषायः | ५६७ |
| मानानुमानिकयोगः | ५६८ |
| गर्भिणीवाते उशीरादिचौरम् | ५६९ |
| द्राक्षादियवागूः | ५७० |
| गर्भिण्याः पित्ते वलादिकषायः | ५७१ |
| कान्तकादौ | ५७२ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|----------------------------------|---------------|
| गर्भिण्याः सवरोगे वलाप्रयोगः | ५७३ |
| मूदगर्भायां लक्षणम् | ५७४ |
| अनर्मृतापत्यायां लक्षणम् | ५७५ |
| मूदगर्भायां वसाध्यलक्षणम् | ५७६ |
| मूदगर्भचिकित्सा | ५७७ |
| करञ्जबीजादिपलेपः अङ्गिनिर्गोक्तः | ५७८ |
| सुदीचीरप्रयोगः | ५७९ |
| हलिगोप्रयोगः | ५८० |
| यष्टिकादिकल्पाः | ५८१ |
| लाङ्गल्यादिलेपः | ५८२ |
| मातुलुङ्गी रन्धाप्रयोगः | ५८३ |
| सिद्धार्थादिबलाः | ५८४ |
| सिद्धार्थकानुवासनम् | ५८५ |
| सूतिकाचिकित्सा | ५८६ |
| कोरककादिकषायः | ५८७ |
| पञ्चमूलकायः | ५८८ |
| भूनिम्बादिदेहम् | ५८९ |
| सोभाग्यगुण्डौ | ५९० |
| पर्वटीरसः | ५९१ |
| स्वर्णादिप्रयोगः | ५९२ |
| योनिव्यापञ्चकित्सा | ५९३ |
| योनिशुले निर्गुण्डोप्रयोगः | ५९४ |
| प्रसंसिन्धा कारलीकन्दप्रयोगः | ५९५ |
| शिशिलघोनौ इन्द्रगोपप्रयोगः | ५९६ |
| विहताया माकन्दमूलादिलेपः | ५९७ |
| श्रीपर्वतेलम् | ५९८ |
| बालचिकित्सा | ५९९ |
| बालस्य गर्भक्षेशनिवारणोपायः | ६०० |
| सद्योजातबालस्य संशयजननोपायः | ६०१ |
| उषरादिनिवारणोपायः | ६०२ |
| पित्तञ्चरे रोहिण्योचौरम् | ६०३ |
| अश्वत्थचौरम् | ६०४ |
| गन्धोत्पलशटादिकल्पाः | ६०५ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|-----------------------|---------------|
| मण्डित्यादिचूर्णम् | ... ५५६ |
| न्ययोषादिक्तायः | ... ५५७ |
| रक्तातोमारहरचूर्णम् | ... ५५८ |
| सखीरबोलप्रयोगः | ... ५५९ |
| मधुकादिकल्कः | ... ५६० |
| यष्ट्यादिघृतम् | ... ५६१ |
| शङ्खनाभ्यादिवर्तिः | ... ५६२ |
| अश्वगन्धाघृतम् | ... ५६३ |
| तालकण्टकलक्षणम् | ... ५६४ |
| तालकण्टकचिकित्सा | ... ५६५ |
| गुदकोटय निदानलक्षणम् | ... ५६६ |
| गुदकोटचिकित्सा | ... ५६७ |
| गुदपाकचिकित्सा | ... ५६८ |
| मुखपाकचिकित्सा | ... ५६९ |
| नाभिपाकचिकित्सा | ... ५७० |
| कुण्डलचिकित्सा | ... ५७१ |
| बालपञ्चाघृतम् | ... ५७२ |
| तिक्ताद्य घृतम् | ... ५७३ |
| राश्रीकुण्डादिप्रलेपः | ... ५७४ |
| पङ्कजी गुटिका | ... ५७५ |
| माहेश्वरी धूपः | ... ५७६ |
| हिन्नादितैलम् | ... ५७७ |
| स्फूर्जकादितैलम् | ... ५७८ |
| निम्बादिघृत खीरञ्च | ... ५७९ |
| शैलेयादिधूपः | ... ५८० |

तयोविंशोऽध्यायः ।

| | |
|-----------------------------|-----|
| उन्मादवातादिचिकित्सनम् | ५८१ |
| उन्मादस्य निदानसम्प्राप्ति | ... |
| उन्मादलक्षणम् | ५८५ |
| उन्मादचिकित्सा | ... |
| अकर्मूत्तिरसस्य प्रयोगविधिः | ... |
| निर्गुणिकादितैलम् | ५८६ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|------------------------------------|---------------|
| माहेश्वरी धूपः | ... ५८६ |
| अपस्मारसम्प्राप्तिलक्षणम् | ... ५८७ |
| अपस्मारचिकित्सा | ... ५८८ |
| अपस्मारनाशनो रसः | ... ५८९ |
| धुतूरपञ्चाङ्घृतम् | ... ५९० |
| चूर्णाञ्जनम् | ... ५९१ |
| मंसीयोगः | ... ५९२ |
| तिलजटीपाञ्जनम् | ... ५९३ |
| चण्डभैरवरसः | ... ५९४ |
| नवाङ्गवटिका | ... ५९५ |
| सूतकप्रत्ययः | ... ५९६ |
| पपंटीरसप्रयोगविधिः | ... ५९७ |
| पपंटीरसस्य अन्यविधप्रयोगविधिः | ... ५९८ |
| सर्वेश्वरः | ... ५९९ |
| नेत्ररोगाणां सङ्ख्या | ... ६०० |
| नेत्ररोगचिकित्सा | ... ६०१ |
| नागादिवर्तिः | ... ६०२ |
| वाताभिव्यन्दे इन्दादिवर्तिः | ... ६०३ |
| श्लेष्माभिव्यन्दे श्लेष्मादिवर्तिः | ... ६०४ |
| विदोषाभिव्यन्दे रसेन्द्रादिवर्तिः | ... ६०५ |
| पित्ताभिव्यन्दे तीक्ष्णादिवर्तिः | ... ६०६ |
| नागादिवर्तिः | ... ६०७ |
| ताम्रादिवर्तिः | ... ६०८ |
| पारदादिवर्तिः | ... ६०९ |
| एकचिंशादिवर्तिः | ... ६१० |
| वटङ्गवर्तिः | ... ६११ |
| गरुडाञ्जनम् | ... ६१२ |
| नयनामृताञ्जनम् | ... ६१३ |
| तिमिरहराञ्जनम् | ... ६१४ |
| हादशाङ्गवर्तिः | ... ६१५ |
| पटलहरन्दरसः | ... ६१६ |
| खर्चादिवर्तिः | ... ६१७ |
| विषाद्युञ्जनम् | ... ६१८ |
| पुष्पहराञ्जनम् | ... ६१९ |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः । |
|-----------------------|---------------|
| शिशुमूलाद्याशोतनम् | ... ५७६ |
| नेत्रशूलघ्नमाशोतनम् | |
| पोननवाञ्जनम् | |
| स्वावहाराञ्जनम् | |
| बक्रोमहाराञ्जनम् | |
| नृकपालाञ्जनम् | |
| शिशुवीजतैलाशोतनम् | ... ५८० |
| पटलहाराञ्जनम् | |
| तिमिरनाशनाञ्जनम् | |
| काशाम्यहाराञ्जनम् | ... ५८१ |
| शस्त्रकाटिर्वर्तिः | |
| अभिष्यन्दहरो योगः | |
| रावाम्यहाराञ्जनम् | |
| रावाम्ये श्लोषाञ्जनम् | ... ५८२ |
| .. मरिचाञ्जनम् | |
| .. पञ्चाङ्गमुडिका | |
| नवनेवदादो वटी | |
| हिकतरकणाटिर्वर्तिः | ... ५८३ |
| ताम्रवर्तिः | |
| ताम्रदृतिः | ... ५८४ |
| द्वितीयताम्रदृतिः | |
| गन्धकदृतिः | ... ५८५ |

चतुर्विंशोऽध्यायः ।

| | |
|-------------------------------|---------|
| कर्णरोगादिचिकित्सनम् | ५८६ |
| कर्णरोगाणां नामानि | |
| कर्णरोगचिकित्सा | ... ५८८ |
| कर्णशूलं लवणाद्रं कप्रयोगः | |
| गोमर्चिकायां किमिकर्णारितैलम् | |
| कर्णशूलं तिलपर्णीप्रयोगः | |
| .. शर्कराप्रयोगः | |
| .. रसोनप्रयोगः | ... ५८९ |
| शुक्लसावे मेघनादप्रयोगः | |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः । |
|--------------------------------|---------------|
| वाधिर्यं मुखल्यादिचूर्णम् | ... ५८९ |
| कर्णमूलस्थोटे कतकार्दिलेपः | |
| .. पुत्रजीवलेपः | |
| गोमर्चिकायां तगरादिप्रयोगम् | |
| पालीवर्द्धने मुखलीप्रयोगः | ... ५९० |
| .. चर्मचेटप्रयोगः | |
| .. वराहवसाप्रयोगः | |
| वज्रादिबटिका | |
| कृष्णायं तैलम् | ... ५९१ |
| नासारोगाणां नामानि | |
| पृथक्संलक्षणम् | ... ५९२ |
| नासारोगचिकित्सा | |
| पृथक्ते जीरकादिनखम् | |
| पीनसहरनखम् | |
| कामलाहाराञ्जनम् | |
| कामलाहरद्वितीयाञ्जनम् | ... ५९३ |
| मणिपर्पटी | |
| मुखरोगाणां महानिर्देशः | |
| गलकोलके आमलकप्रयोगः | ... ५९४ |
| .. विषतिन्दुकादिबटी | |
| .. मैत्रवप्रयोगः | ... ५९५ |
| .. भस्मातकप्रयोगः | |
| दन्तदाको जयाप्रयोगः | |
| मुखपाके पर्पटीरसप्रयोगोपदेशः | |
| मुखशोषे महाराष्ट्री गटिका | ... ५९६ |
| मुखवैषण्ये पुनर्नवाद्यङ्गनम् | |
| गोमर्चिकायां रजस्यादिप्रलेपः | |
| मुखवैषण्ये बद्धभस्म प्रयोगः | |
| मुखवैषण्यौ मातुलुङ्गादिप्रलेपः | |
| मुखवैषण्ये हरिद्रादिप्रलेपः | |
| मुखदोर्गस्थे कृष्णादिबटी | ... ५९७ |
| .. गृह्यमन्त्राथः | |
| .. पथ्यादिबटिका | |
| मुखवैरस्ये लालादिचूर्णम् | |
| उपनिष्ठायां निर्गुण्यादियोगः | ... ५९८ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|---------------------------------------|---------------|
| क्रिमिदन्ते अभयगुडिका ... | ५८८ |
| „ काशीगुडिका ... | „ |
| „ विशालाधुमः ... | „ |
| चलदन्ते जातीयवादिचर्चणम् ... | ५८९ |
| „ मूलकवीजप्रयोगः ... | „ |
| मुखवैरस्य चारनालगण्डूषः ... | „ |
| चूर्णदग्धे तैल-काञ्जिकगण्डूषौ ... | „ |
| सङ्ख्योक्तधारिणीयः ... | „ |
| कण्ठशालूकादौ पारदादिप्रलेपः ... | ६०० |
| गलकीले मैत्रवप्रलेपः ... | „ |
| मुखरोगे ताप्यादिबटी ... | „ |
| गलरोगे मण्डुरलेपः ... | „ |
| अपचीगण्डमालयोः कासव्यादिलेपः ... | „ |
| गण्डमालायां ब्रह्मदण्डौप्रलेपः ... | ६०१ |
| „ पञ्चाङ्गप्रलेपः मुण्डीप्रलेपश्च ... | „ |
| „ जेपालप्रलेपः ... | „ |
| चक्षुदन्ते हंसदारादिगुटिका ... | ६०२ |
| „ धातुवद्धरसगुटिका ... | „ |
| शिरोरोगाणां नामानि ... | ६०३ |
| शिरोरोगचिकित्सा ... | ६०४ |
| अर्द्धावभेदके गिरिकर्णोपयोगः ... | „ |
| „ गुडादिनखम् ... | „ |
| „ मरिचप्रलेपः ... | „ |
| चन्द्रकान्तौ रसः ... | „ |
| शिरःशूले कुङ्कुमादिनखम् ... | „ |
| अर्द्धावभेदके मरिचप्रयोगः ... | ६०५ |
| शिरःशूले कुङ्कुमप्रयोगः ... | „ |
| यूक्लिषायां पारदप्रयोगः ... | „ |
| दारुणहृदरतैलम् ... | „ |
| केशपाते हरिद्रादिलेपः ... | „ |
| „ द्राक्षजातौप्रलेपः ... | ६०६ |
| „ शङ्काटादितैलम् ... | „ |
| चन्द्रक्षेत्रे भक्तातादिलेपः ... | „ |
| „ गङ्गाप्रयोगः ... | ६०७ |
| सूर्यावर्णादौ अभादिबटिका ... | „ |
| पञ्जितादौ कटुतैलनखम् ... | „ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|---------------------------------------|---------------|
| खालित्ये बुद्ध्यादितैलं विषतैलञ्च ... | ६०८ |
| व्रणस्य भेदनिर्देशः ... | „ |
| व्रणचिकित्सा ... | ६०९ |
| व्रणशोधने ताम्रप्रयोगः ... | „ |
| व्रणरोपणे पटोलादिपूरणम् ... | „ |
| „ निम्बपवादिपूरणम् ... | „ |
| जात्याद्यं घृतम् ... | ६१० |
| व्रणरोपणे अपामार्गप्रयोगः ... | „ |
| „ गुडटङ्गणवर्णिः ... | „ |
| व्रणलेखने पारदादिलेपः ... | „ |
| भग्नस्य भेदनिर्देशः ... | ६११ |
| भग्नचिकित्सा ... | „ |
| भग्ने पप्टोरमप्रयोगविधिः ... | „ |
| „ बज्जीलेपः कान्तपाषाणलेपश्च ... | „ |
| भगन्दरलक्षणम् ... | „ |
| भगन्दरस्य निरुक्तिः ... | ६१२ |
| भगन्दरचिकित्सा ... | „ |
| भगन्दरे उपचारविशेषः ... | „ |
| लाङ्गल्यादिप्रलेपः ... | „ |
| कालाग्निरसः ... | ६१३ |
| चक्रिकावद्धरसप्रयोगोपदेशः ... | „ |
| रविताण्डवरसः ... | „ |
| स्फोटने चतुरङ्गलेपः ... | ६१४ |
| „ हरिद्रादिप्रलेपः ... | „ |
| शोषणे नरास्थितैलप्रयोगः ... | „ |
| शोधनरोपणे ताम्रप्रयोगः ... | „ |
| रोपणे मार्जारस्थिप्रलेपः ... | ६१५ |
| चालने विफलाकाशः ... | „ |
| भूलताप्रयोगः ... | „ |
| कुङ्कुमास्थिलेपः ... | „ |
| यन्त्रैलं चर्च व्युत्पत्तिश्च ... | ६१६ |
| मेढीयन्त्रौ चरिमेदादिमखलेपः ... | „ |
| मेढीयन्त्रौ गुडूच्यादः ... | „ |
| गण्डमालायामुदयभास्करप्रयोगोपदेशः ... | „ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|---------------------------------------|---------------|
| कालस्फोटादौ पुच्छजीवप्रयोगः ... | ६१६ |
| सन्धियन्त्रो रक्तसावविधिः ... | ६१७ |
| कक्षपण्यादौ पुच्छजीवप्रयोगः ... | ५१ |
| कालस्फोटे गुग्गापवादिचूर्णम् ... | ५२ |
| ” विष्णुक्कालादिप्रलेपः ... | ६१८ |
| गन्ध्यादौ पुनर्नवादिप्रलेपः ... | ५३ |
| अर्बुद-शोणितार्बुदलक्षणम् ... | ५४ |
| अर्बुदादौ पटपक्करमः ... | ५५ |
| अर्बुदे यवक्षारादिप्रलेपः ... | ६१९ |
| गण्डमालाऽपचौलक्षणम् ... | ५६ |
| गण्डमालायां सुरवारण्य्यादिप्रयोगः ... | ६२० |
| ” अर्कचौरादिप्रलेपः ... | ५७ |
| अपत्यां गिरिकर्णिकाप्रयोगः ... | ६२१ |
| गण्डमालायां कुकुन्दरौतेलम् ... | ५८ |
| ” सङ्कटबोप्रयोगः ... | ५९ |
| अपत्यादौ गुग्गादिप्रलेपः ... | ६० |

पञ्चविंशोऽध्यायः ।

| | |
|---------------------------------------|-----|
| क्षुद्ररोगादिचिकित्सनम् | ६२२ |
| क्षुद्ररोगाणां नामानि | ५९ |
| क्षुद्ररोगचिकित्सा | ६२३ |
| क्षुद्ररोगे पर्यट्टीप्रयोगविधिः | ५९ |
| व्यङ्गे शशबधिरप्रयोगः जातीफलप्रयोगश्च | ५९ |
| ” रङ्गदोमज्जप्रयोगः | ५९ |
| कुण्ठे सुडोलीरादिप्रलेपः | ६२४ |
| ” अभयाप्रयोगः | ५९ |
| ” कुष्ठादिप्रलेपः | ५९ |
| ” पुच्छजीवप्रयोगः | ५९ |
| कक्षायन्त्रो शिशुप्रयोगः | ५९ |
| ” विषादिप्रलेपः | ५९ |
| सनविद्रघो क्षिप्वाक्षनः | ६२५ |
| सनविद्रघिस्फोटने एकबीरप्रयोगः | ५९ |
| सनविद्रघिरोपणे यस्यादिचूर्णम् | ५९ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|--|---------------|
| सनविद्रघिरोपणे टासुवर्णिः | ६२६ |
| लिङ्गरोगे बोल्लप्रयोगः | ५९ |
| लिङ्गपाके सङ्कटरादिचालनम् | ६२६ |
| ” जौरकप्रयोगः | ५९ |
| ” मङ्गाशङ्खप्रयोगः | ५९ |
| लिङ्गरोगे चाण्डादिप्रलेपः | ५९ |
| लिङ्गपाके गन्धकप्रयोगः | ५९ |
| ” निम्बादिचूर्णम् | ५९ |
| लिङ्गवर्णरोपणे सैन्धवप्रयोगः | ६२७ |
| लिङ्गवर्णादौ शिशुप्रयोगः | ५९ |
| लिङ्गादिगतपय्यो कुष्ठादिप्रलेपः | ५९ |
| गुह्यादिगतपिण्डकायाम अश्वत्थादिप्रलेपः | ५९ |
| लिङ्गादिपिण्डकायां बाजुबीचिवक्- प्रयोगौ | ५९ |
| लिङ्गादिपिण्डकायां सर्पाचीप्रयोगः | ६२८ |
| लिङ्गरोगे लवङ्गः दिधुनः | ५९ |
| कण्डादौ क्षाचनौप्रयोगः | ६२९ |
| पानायां शाखोटकक्षाश्च | ५९ |
| पादकण्डूहरप्रयोगः | ५९ |
| पाददाहे तिलादिचूर्णम् | ५९ |
| पादकण्डूहरयोगान्तरम् | ६३० |
| पादस्फुटने पथ्यामर्दनम् | ५९ |
| कदरे यवचिञ्चादिकषायः | ५९ |
| विपादिकायां गुग्गादिप्रलेपः | ५९ |
| ” मदनादिप्रलेपः | ६३१ |
| कण्डादौ रसादिप्रलेपः | ५९ |
| स्वरभङ्गे रसादिबटिका | ५९ |
| ” देवदारुदिचूर्णम् | ५९ |
| गलदाहे सैन्धवादिचूर्णम् | ६३२ |
| ” करञ्जमज्जा पथ्याप्रयोगौ | ५९ |
| सनवर्द्धने बलादिप्रलेपः | ५९ |
| ” खेडनस्यम् | ५९ |
| सनविद्रघो कृकवकतैलम् | ६३३ |
| ” शूलप्रयोगः | ५९ |
| खायुके कुम्भीप्रयोगः | ५९ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|----------------------------------|---------------|
| भक्षकचक्षुष्यम् | ... ६२४ |
| श्रीपदस्य सम्प्राप्तिश्चक्षुषे | ... " |
| श्रीपदे चक्षुष्यो रसः | ... " |
| .. गुडूच्यादिलेपः | ... ६२५ |
| वक्षीके बहुभावितापित्तप्रयोगः | .. " |
| स्थौल्य विडङ्गादिचूर्णम् | ... ६२६ |
| .. त्रिफलादि-पत्रादिकषायो | ६२७ |
| विपरीतरतिजग्याविलक्षणम् | ... " |
| विपरीतरतिजग्याधिप्रतीकारः | ... " |
| उपदेशादिप्रतीकारः | ... ६२८ |
| रक्तविकृतो बोलवद्धरमप्रयोगोपदेशः | .. " |
| अव्यभिचे लाक्षादिप्रलेपः | ... " |
| स्नायुके अम्यग्रीरिप्रयोगोपदेशः | .. " |
| योनिव्यापानदानम् | ... ६२९ |
| योनिव्यापस्य पिष्टीयोगः | ... " |
| योनिशूलनिम्बादिगोलकम् | ... " |
| योनिरोगे सीमुराज्यादिप्रलेपः | ... ६३० |
| योनिक्लिमिशूले रक्षोनादिप्रलेपः | .. " |
| फलघृतम् | ... " |
| रजोमाशे त्रियोनिरसप्रयोगविधिः | ६३१ |
| पुष्परोधहरयोगवचम् | ... " |
| पुष्परोध-रक्तगुल्महरयोगवचम् | ... " |
| पुष्परोधे अणकप्रयोगः | ... ६३२ |
| .. गुडव्याधादिचूर्णम् | ... " |
| गर्भाजनने पुष्परप्रयोगः | .. " |
| .. सैन्धवप्रयोगः | ... " |
| गर्भस्त्रावणं चूर्णप्रयोगः | ... ६३३ |
| .. परस्म्यप्रयोगः | ... " |
| .. चित्तकप्रयोगः | ... " |
| अतिरक्तस्त्रावि शरपुष्पाप्रयोगः | ... " |
| .. अर्कमूर्तिरसप्रयोगविधिः | ६३४ |
| योनिशूलहरयोगवचम् | ... " |
| रजोदोषे व्योषादितैलम् | ... " |
| पुष्पानुगं चूर्णम् | ... " |
| त्रिकषिषिषनिर्वैजः | ... ६३५ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|------------------------------|---------------|
| विषचिकित्सा | ... ६३६ |
| मेवनाटप्रयोगः | ... " |
| मृत-शताशरीरयोगः | ... " |
| मृत-सोमराश्रीयोगः | ... " |
| अभक्तादिप्रलेपः | ... ६३७ |
| लुताविषे मृतभक्षप्रयोगः | ... " |
| महामर्षविषे नागदन्तप्रयोगः | ... " |
| पञ्चाङ्गशरीरघप्रयोगः | ... " |
| अश्वगन्धा-वन्ध्याप्रयोगौ | ... " |
| हृदिकविषे व्योषादितैलम् | ... " |
| तार्क्ष्यसूतः | ... ६३८ |
| विषहररसः | ... " |
| सतसञ्चोवनम् | ... " |
| पाखुविषैशरीरघप्रयोगः | ... " |
| सर्वविषे देवदारुप्रयोगः | ... " |
| .. टङ्गणप्रयोगः | ... ६३९ |
| हृदिकविषे मनोज्ञादिगुडिका | ... " |
| .. पलाशबीजगुडिका | ... " |
| गरविषे कनकादिघटी | ... " |
| सविषाग्ने हृत्पास्त्रादियोगः | ... ६४० |

षड्विंशोऽध्यायः ।

| | |
|-------------------|---------|
| जरारोगचिकित्सनम् | ... ६४० |
| रसायनगुणाः | ... " |
| जराया निदानम् | ... ६४१ |
| बाहुकण्ठ-रसायनम् | ... " |
| उदयादिनरसः | ... ६४२ |
| मर्षरोगहर-रसायनम् | ... " |
| मासिक-रसायनम् | ... ६४३ |
| पाष्ठासिक-रसायनम् | ... " |
| पाचिक-रसायनम् | ... " |
| देवादि-रसायनम् | ... ६४४ |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः । |
|----------------------------------|---------------|
| पिप्पल्यादि-रसायनम् | ... ६५४ |
| षष्ठमासिक-रसायनम् | ... १ |
| विवाहिक-रसायनम् | ... ६५५ |
| षष्ठ्यधिकतिशतवर्षायुष्कर-रसायनम् | ... |
| सहस्रवर्षायुष्कर-रसायनम् | ... १ |
| त्रिफला-रसायनम् | ... ६५६ |
| द्वितीय-त्रिफला-रसायनम् | ... १ |
| तृतीय-त्रिफला-रसायनम् | ... १ |
| षडङ्ग-रसायनम् | ... ६५७ |
| वार्षिक-रसायनम् | ... १ |
| कुम्हादिद्वार-रसायनम् | ... १ |
| ज्योतिष्मतीतैल-रसायनम् | ... ६५८ |
| सर्वरोगान्तक-रसायनम् | ... १ |
| कान्त-रसायनम् | ... १ |
| चतुर्थ-त्रिफला-रसायनम् | ... ६५९ |
| द्वितीय-कान्त-रसायनम् | ... १ |
| तृतीय-कान्त-रसायनम् | ... १ |
| कान्ताभक-रसायनम् | ... ६६० |
| पाठादिष्टुतम् | ... १ |
| ताप्यादिबटकः | ... ६६१ |
| किमलाविलासो रसः | ... १ |
| लक्ष्मीविलासः | ... ६६२ |
| नारिकेलपाकः | ... १ |

सप्तविंशोऽध्यायः ।

| | |
|------------------------------|---------|
| धात्रीकरणम् | ... ६६४ |
| धात्रीकरणस्य गुणाः | ... १ |
| ,, निवृत्तिः | ... १ |
| धृक्चयस्य निदानम् | ... ६६५ |
| धात्रीकरणयोगोपदेशे प्रतिज्ञा | ... १ |
| धात्रीकरणप्रयोगे पूर्वकथम् | ... १ |
| सङ्क्षेपप्रयोगः | ... १ |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः । |
|---------------------------|---------------|
| शङ्खीप्रयोगः | ... ६६६ |
| व्ययङ्गमादिचूर्णम् | ... १ |
| तिलप्रयोगः | ... १ |
| मिन्दूररसः | ... १ |
| कामकलाप्यरसः | ... ६६७ |
| कामदेवः | ... १ |
| मदनचन्द्रः | ... ६६८ |
| पूर्णचन्द्रः | ... ६६९ |
| मदनसुन्दरसः | ... १ |
| कुसुमायुधः | ... ६७० |
| सूतेन्द्रः | ... ६७१ |
| कार्श्येद्वारयोगः | ... ६७२ |
| कार्श्येद्वारयोगवधम् | ... १ |
| मदनकामदेवः | ... ६७४ |
| कामधेनुः | ... ६७५ |
| महाभसत्त्वम् | ... ६७६ |
| उमापतिः | ... ६७७ |
| महाकनकसुन्दरः | ... ६७८ |
| अमृतार्थवः | ... ६७९ |
| मदनसञ्जीवनः | ... ६८० |
| मदनमोदकः | ... ६८२ |
| मदनाग्ने कर्पूरादिप्रलेपः | ... ६८३ |
| द्रावणे मूलप्रयोगः | ... १ |
| पुष्पधन्वा रसः | ... ६८४ |
| द्रावणे सिन्दूरप्रयोगः | ... १ |
| रसेन्द्रचूडामणिः | ... १ |
| कामेश्वरो मोदकः | ... ६८६ |
| सन्धाने ककवाकप्रयोगः | ... ६८७ |
| ,, कर्पूरादिप्रलेपः | ... ६८८ |
| ,, पुण्डरीकप्रयोगः | ... १ |
| पूर्णचन्द्रः | ... १ |
| कामदीपनः | ... ६८९ |
| मदनजीवनः | ... १ |
| महाकल्याणः | ... १ |

विषयः प्रमाणाः ।
अष्टाविंशतितमोऽध्यायः ।

| | | |
|------------------------------------|-----|-----|
| लोहकल्पः | ... | ६६२ |
| रसस्य प्राधान्यकौतूहलम् | ... | ॥ |
| रसभेदाः | ... | ६६३ |
| पानीयकषायविधिः | ... | ॥ |
| स्वर्णशोधनम् | ... | ६६४ |
| रौप्यशोधनम् | ... | ॥ |
| ताम्रशोधनम् | ... | ॥ |
| वज्रनागयोः शोधनम् | ... | ६६५ |
| कान्तलोहस्य लक्षणम् | ... | ॥ |
| ॥ शोधनम् | ... | ॥ |
| धातूनां सामान्यमारणम् | ... | ६६६ |
| स्वर्णमारणम् | ... | ॥ |
| रौप्यमारणम् | ... | ॥ |
| ताम्रमारणम् | ... | ॥ |
| वज्रमारणम् | ... | ॥ |
| सौमिकमारणम् | ... | ६६७ |
| वज्रस्य मारणान्तरम् | ... | ॥ |
| सौमिकस्य | ... | ॥ |
| लोहमारणम् | ... | ६६८ |
| असम्यग्धारितलोहस्य लक्षणम् | ... | ॥ |
| निहत्यलोहस्य | ... | ॥ |
| ॥ परीक्षा | ... | ॥ |
| अनिहत्यलोहस्य पुनर्मारणम् | ... | ६६९ |
| प्रथम-द्वितीयलोहकल्पौ | ... | ॥ |
| तृतीयलोहकल्पः | ... | ॥ |
| ताम्रद्रुतिभञ्जकः प्रतुर्थलोहकल्पः | ... | ७०० |
| पञ्चमलोहकल्पः | ... | ७०१ |
| षष्ठलोहकल्पः | ... | ॥ |
| सप्तमलोहकल्पः | ... | ७०२ |
| शुद्धि-षष्ठमलोहकल्पः | ... | ॥ |
| कीर्णज्वरादौ नवमलोहकल्पः | ... | ७०३ |
| अथादौ दशमलोहकल्पः | ... | ॥ |
| विविधरोगे एकादशलोहकल्पः | ... | ७०४ |

| | |
|----------------------------------|---------|
| विषयः प्रमाणाः । | |
| यक्षादौ द्वादशलोहकल्पः | ... ७०४ |
| गरादौ त्रयोदश-चतुर्दशलोहकल्पो | ॥ |
| अस्त्रपिचादौ पञ्चदशलोहकल्पः | ७०५ |
| वहण्यादौ षोडशलोहकल्पः | ... |
| अथादौ खण्डखाद्याख्यसप्तदश- | |
| लोहकल्पः | ... ७०६ |
| अष्टादशलोहकल्पाद्ये लोहमारण- | |
| प्रकारः | ... ७०८ |
| अष्टादशलोहकल्पे दन्त्यादिगणः | ७०९ |
| अष्टादशलोहकल्पः | ... |
| सर्वरोगे एकोनविंशलोहकल्पः | ... ७१० |
| कुष्ठे विंशलोहकल्पः | ... |
| मेदःप्रभृतिषु एकविंशलोहकल्पः | ॥ |
| कुष्ठे द्वाविंशलोहकल्पः | ... |
| सर्वरोगे त्रयोविंशलोहकल्पः | ... ७११ |
| नेत्ररोगे कान्तनागाख्यचतुर्विंश- | |
| लोहकल्पः | ... ॥ |
| रसायने पञ्चाविंशलोहकल्पः | ... ७१२ |
| मृत्युहारिरसाख्यषड्विंशलोहकल्पः | ॥ |
| सप्तविंशादिलोहकल्पवयम् | ... ७१३ |
| अष्टिचक्षणे विंशलोहकल्पः | ... |
| गरादौ एकविंशलोहकल्पः | ... ॥ |
| द्वाविंशादिलोहकल्पचतुष्टयम् | ... ७१४ |
| रसायने षट्त्रिंशलोहकल्पः | ॥ |
| मृतलोहानां रसलक्षणम् | ... ॥ |

एकोनविंशतितमोऽध्यायः ।

| | | |
|---------------------------------|-----|-----|
| विषयः | ... | ७१५ |
| विषोत्पत्तौ पौराणिकी कथा | ... | ॥ |
| प्यावरविषाणां जातिभेदाः | ... | ७१६ |
| कन्दविषाणां नामानि | ... | ॥ |
| कर्कटादिकन्दविषाणां लक्षणम् | ... | ॥ |
| अतादिवर्णभेदेन विषाणां जातिभेदः | ... | ७१७ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|--|---------------|
| वर्षभेदेन विषयाणां क्रियाभेदः ... | ७२७ |
| विषासृतयोः तन्वयोनित्वनिर्देशः ... | " |
| विषस्य सारानिर्देशः ... | " |
| प्रयोगकालभेदेन विषस्य | |
| क्रियाविशेषः ... | ७२८ |
| सारान्नामाभेदेन विषासृतयो- | |
| गुणागुणौ ... | ७२९ |
| आत्म्यासात्म्यायोरसृजविषयोः सङ्गसा | |
| प्रयोगे दोषः ... | " |
| सङ्गसा विषसेवने अष्टौ वेद्याः ... | " |
| विषसेवने संशोधनविधिः ... | " |
| विषघ्नो गन्धः ... | ७३० |
| गन्धघृतस्य विषघ्नत्वोक्तिः ... | " |
| विषस्य प्रयोगविधिः ... | " |
| विषसेविनः पथ्यापथ्यविधिः ... | ७३१ |
| प्रयोज्यविषाणि ... | " |
| तौक्ष्ण्यविषातिर्युक्तविषयोयिकित्सा | " |
| रसायनाद्यै विषप्रयोगे विधिः ... | ७३२ |
| विषप्रयोगार्हपुरुषकालयोर्निर्देशः ... | " |
| विषप्रयोगानर्हकालादिनिर्देशः ... | ७३३ |
| विषे निषिद्धद्रव्याणि ... | " |
| अवस्थात्रिष्वे विषस्यापकारकत्वनिर्देशः ... | " |
| विषशोधनम् ... | " |
| ज्वरज्वरे प्रथमविषकल्पः ... | ७३४ |
| जीर्णज्वरे द्वितीयविषकल्पः ... | " |
| जीर्णज्वरादौ तृतीयविषकल्पः ... | " |
| विषमज्वरे चतुर्थविषकल्पः ... | " |
| रक्तपित्ते पञ्चमविषकल्पः ... | " |
| श्वसवासं षष्ठविषकल्पः ... | ७३५ |
| श्वसद्विषयोः सप्तमविषकल्पः ... | " |
| कृमौषधे अष्टमविषकल्पः ... | " |
| अथै नवमविषकल्पः ... | " |
| विषविदारवापृताख्यः दशमविषकल्पः ... | " |
| वृद्ध्याय एकादशविषकल्पः ... | ७३६ |
| मृदुकायै द्वादशविषकल्पः ... | " |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|--------------------------------------|---------------|
| उदावर्ताग्रस्योः त्रयोदशविषकल्पः ... | ७३६ |
| चतुर्दशविषकल्पः ... | " |
| गुले पञ्चदशविषकल्पः ... | " |
| गुले षोडशविषकल्पः ... | " |
| गुल्यग्रीवोः सप्तदशाष्टादशविषकल्पो | " |
| ग्रीवै एकोनविंशविषकल्पः ... | ७३७ |
| कुष्ठे विंशविषकल्पः ... | " |
| " एकविंशविषकल्पः ... | " |
| " द्वाविंशविषकल्पः ... | " |
| विचर्चिकादौ त्रयोविंश-चतुर्विंश- | |
| विषकल्पो ... | " |
| विचर्चिकादौ पञ्चविंशविषकल्पः ... | ७३८ |
| कुष्ठे षड्विंशविषकल्पः ... | " |
| " विषतैलाख्यः सप्तविंशविषकल्पः ... | " |
| " कुष्ठदितैलाख्यः अष्टाविंश- | |
| विषकल्पः ... | ७३९ |
| कुष्ठदौ चन्दनादितैलाख्यः एकोनविंश- | |
| विषकल्पः ... | " |
| श्विचादौ विंशविषकल्पः ... | " |
| श्विचे एकाविंशविषकल्पः ... | ७४० |
| " क्रियाग्निरम् ... | " |
| " द्वाविंशविषकल्पः ... | " |
| आक्तिकोक्तशिवारितैलाख्यः त्रयोविंश- | |
| विषकल्पः ... | " |
| वाते चतुस्त्रिंशविषकल्पः ... | ७४१ |
| अग्निदाहं पञ्चविंशविषकल्पः ... | " |
| वन्ध्यायां षट्त्रिंशविषकल्पः ... | " |
| मूदगर्भे सप्तविंशविषकल्पः ... | ७४२ |
| वृद्धिबर्धने अष्टविंशविषकल्पः ... | " |
| तिमिरे एकोनचत्वारिंशविषकल्पः ... | " |
| " चत्वारिंशविषकल्पः ... | " |
| " एकचत्वारिंशविषकल्पः ... | " |
| काये द्वाचत्वारिंशविषकल्पः ... | ७४३ |
| " त्रिचत्वारिंशविषकल्पः ... | " |
| " चतुश्चत्वारिंशविषकल्पः ... | " |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः । |
|---|---------------|
| श्रुक्तां पञ्चत्वारिंशविषयकल्पः... | ७४३ |
| श्रुक्तादौ षट्पञ्चत्वारिंशविषयकल्पः... | ७४४ |
| सूर्यप्रभावर्याः समष्टत्वारिंश- विषयकल्पः... | ७४४ |
| पितृ षट्पञ्चत्वारिंशविषयकल्पः... | ७४४ |
| भक्त्या एकोनपञ्चाशत्तमविषयकल्पः... | ७४५ |
| पञ्चाशत्तमविषयकल्पः... | ७४५ |
| कथंयुले एकपञ्चाशत्तमविषयकल्पः... | ७४५ |
| शिरःयुले द्वापञ्चाशत्तमविषयकल्पः... | ७४५ |
| त्रिपञ्चाशत्तमविषयकल्पः... | ७४५ |
| पूतिनखे चतुःपञ्चाशत्तमविषयकल्पः... | ७४६ |
| मुखरोगे प्रपौष्टरौकादिनेत्याः पञ्च- पञ्चाशत्तमविषयकल्पः... | ७४६ |
| षट्पञ्चाशत्तमविषयकल्पः... | ७४६ |
| षष्ठितादौ सप्तपञ्चाशत्तमविषयकल्पः... | ७४६ |
| खलतौ षट्पञ्चाशत्तमविषयकल्पः... | ७४६ |
| दिग्धादौ एकोनषष्टितमविषयकल्पः... | ७४७ |
| दुष्टग्रंथे षष्टितमविषयकल्पः... | ७४७ |
| अपुत्र्यां कृतमात्रादिष्टाः एकषष्टि- तमविषयकल्पः... | ७४७ |
| अपचौन्नतेत्याः द्विषष्टितमविषयकल्पः... | ७४८ |
| अपच्यदौ त्रिषष्टितमविषयकल्पः... | ७४८ |
| विषे मन्त्रादिक्रियावैकल्ये प्रतीकारः... | ७४८ |
| सर्पदंष्ट्रे चतुःषष्टितमविषयकल्पः... | ७४८ |
| सर्पविषे मूलविषयः मावा... | ७४८ |
| कोटविषे " " " "... | ७४८ |
| हृदिकविषे " " " "... | ७४८ |
| जृताविषे पञ्चषष्टितमविषयकल्पः... | ७४८ |
| जङ्गमविषे षट्षष्टितमविषयकल्पः... | ७४८ |
| सप्तषष्टितमविषयकल्पः... | ७४८ |
| आयुविषे अष्टषष्टितमविषयकल्पः... | ७४८ |
| सूर्यविषे एकोनसप्ततितमविषयकल्पः... | ७४८ |
| संज्ञाज्ञने सप्ततितमविषयकल्पः... | ७४८ |
| विषग्रहादौ एकसप्ततितमविषयकल्पः... | ७४८ |
| दुःसाध्यरोगे द्वासप्ततितमविषयकल्पः... | ७४८ |

| विषयाः | पृष्ठाङ्काः । |
|--|---------------|
| रसायने त्रिसप्ततितमविषयकल्पः... | ७५१ |
| चतुःसप्ततितमविषयकल्पः... | ७५१ |
| जयागुडिकाः पञ्चसप्ततितमादि- | ७५१ |
| चतुर्दशाधिकशततमानविषयकल्पः... | ७५१ |
| जयनीवट्टिकाः पञ्चदशाधिक- शततमविषयकल्पः... | ७५१ |
| जयावट्टिकाः षोडशाधिकशततम- | ७५१ |
| विषयकल्पः... | ७५१ |
| रसायने सप्तदशाधिकशततमविषयकल्पः... | ७५१ |
| वाजीकरणे अष्टादशाधिकशततम- | ७५१ |
| विषयकल्पः... | ७५१ |
| विषसेवनस्य फलम्... | ७५१ |

विंशत्तमोऽध्यायः ।

| | |
|---------------------------------|-----|
| रसकल्पः... | ७५५ |
| मृतसूताध्यायः... | ७५५ |
| रसगारयम्... | ७५५ |
| रसगारये निविद्धद्रव्याणि... | ७५५ |
| वटवानली विडः... | ७५५ |
| मत्तानरे रसगारयम्... | ७५५ |
| द्विविधं रसगारयम्... | ७५५ |
| रसगारये प्रकारान्तरम्... | ७५५ |
| प्रकारान्तरम्... | ७५५ |
| " " " "... | ७५५ |
| " " " "... | ७५५ |
| " " " "... | ७५५ |
| " " " "... | ७५५ |
| " " " "... | ७५५ |
| उर्वरे रसगारयम्... | ७५५ |
| विदोषउर्वरे द्वितीयरसकल्पः... | ७५५ |
| रसायने द्वितीय-चतुर्थरसकल्पः... | ७५५ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|--|---------------|
| कासे पञ्चमरसकल्पः | ... ७६१ |
| अथे षष्ठ-सप्तमरसकल्पो | ... " |
| अथादौ अष्टमरसकल्पः | ... " |
| द्विजायां नवमरसकल्पः | ... ७६२ |
| कुर्दिर्दाहयो. दशमैकादशरसकल्पो | .. |
| अर्गः सु हादशरसकल्पः | ... " |
| अतीमारे त्रयोदशादिरसकल्पवयम् | ७६३ |
| विमुक्त्यां षोडशरसकल्पः | ... " |
| अनौर्णे सप्तदशरसकल्पः | ... " |
| अष्टादिकायाम अष्टादशैकोनविंश- रसकल्पो | ... " |
| मूवकच्छे विंशरसकल्पः | ... ७६४ |
| मेहेषु एकविंशरसकल्पः | ... " |
| श्रीङ्गादौ द्वाविंश-वयोविंशरसकल्पो | .. |
| पाक्षिण्ये त्रयोविंशरसकल्पः | ... " |
| आमशुले पञ्चविंशरसकल्पः | ... " |
| सदरे षड्विंशरसकल्पः | ... ७६५ |
| कामलायां सप्तविंशरसकल्पः | ... " |
| पाण्डुरादौ अष्टाविंशरसकल्पः | ... " |
| श्रीषे एकोनविंशरसकल्पः | ... " |
| कुष्ठे त्रिंशैकविंशरसकल्पो | ... " |
| .. हाविंश-वयस्त्रिंशरसकल्पो | ... ७६६ |
| .. अतस्त्रिंशरसकल्पः | ... " |
| किन्नासे पञ्चविंशरसकल्पः | ... " |
| द्विषे षट्त्रिंशरसकल्पः | ... ७६७ |
| किमौ सप्तविंशरसकल्पः | ... " |
| वातगेने अष्टविंशरसकल्पः | ... " |
| गृध्रस्थाम एकोनचत्वारिंशरसकल्पः | .. |
| वातरक्ते चत्वारिंशरसकल्पः | ... " |
| खौल्ये एकचत्वारिंशरसकल्पः | ... ७६८ |
| .. हाचत्वारिंशरसकल्पः | ... " |
| काष्ठीं विचत्वारिंशरसकल्पः | ... " |
| अपन्मारादौ अतुल्यचत्वारिंशरसकल्पः | .. |
| .. पञ्चचत्वारिंशरसकल्पः | .. |
| पञ्चशते षट्चत्वारिंशरसकल्पः | ७६९ |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|--|---------------|
| नेत्रोगे सप्तचत्वारिंशरसकल्पः | ७६९ |
| तिमिरे अष्टचत्वारिंशरसकल्पः | ७७० |
| नाड्ये एकोनपञ्चाशत्तमरसकल्पः | .. |
| केशकण्ठीकरणे महागौलतेलाख्य- पञ्चाशत्तमरसकल्पः | ... " |
| त्रये एकपञ्चाशत्तमरसकल्पः | ... ७७१ |
| यन्यौ द्विपञ्चाशत्तमरसकल्पः | ... " |
| मसूरिकायां त्रिपञ्चाशत्तमरसकल्पः | .. |
| सिन्धुदौ चतुःपञ्चाशत्तमरसकल्पः | ७७२ |
| अथिन्नावे पञ्चपञ्चाशत्तमरसकल्पः | .. |
| विषे षट्पञ्चाशत्तमादिरस- कल्पवयम् | ... ७७३ |
| .. द्विषष्टितमरसकल्पः | ... " |
| सर्पविषे त्रिषष्टितमरसकल्पः | ... " |
| .. अतुःषष्टितमरसकल्पः | ... " |
| सन्तुक्विषे पञ्चषष्टितमरसकल्पः | ७७४ |
| वृश्चिकविषे षट्षष्टितमादिरसकल्प- चतुष्टयम् | ... " |
| विषदिग्धत्रये सप्ततितमादि- रसकल्पवयम् | ... " |
| रसायने द्विसप्ततितमरसकल्पः | ७७५ |
| .. त्रिसप्ततितमरसकल्पः | .. |
| .. अतु सप्ततितमरसकल्पः | ७७६ |
| .. पञ्चसप्ततितमरसकल्पः | .. |
| .. षट्सप्ततितमरसकल्पः | .. |
| .. सप्तसप्ततितमाष्टशतितमान- रसकल्पः | ... " |
| .. पञ्चाशतितमरसकल्पः | .. |
| .. वज्रपञ्जररसाख्यः द्वाशतितम- रसकल्पः | ... ७७७ |
| .. पञ्चाशत्तमरसाख्यः द्वाशतितम- रसकल्पः | ... ७७८ |
| रसपथगे उपचारविधिः | ... " |
| रससेवने अपख्यानि | ... ७७९ |
| निषिद्धद्रव्यवहारे दीपः | ... |

| विषयः | पृष्ठाङ्काः । | विषयः | पृष्ठाङ्काः । |
|-------------------------------------|---------------|--|---------------|
| निषिद्धद्रव्यव्यवहारजदोषे प्रतीकारः | ७८० | कुवेद्यानां वर्जनीयतातिः | ... ७८६ |
| नागवङ्कयुक्तरससेवने | .. | शास्त्रज्ञवैद्यास्य साफल्योक्तिः | ... ७८४ |
| रसायने सतमस्त्रीवन्धाख्यं चतुरशीति- | | शिक्षितायाः त्रिवर्गसाधकतीतिः | ७८५ |
| तमरसकल्पः | | कुवेद्यास्य निरयभाक्तीतिः | |
| वाजीकरणे मदनवर्द्धनाख्यः पञ्चाशीति- | | यावच्छासं शिक्षितायाः कर्षयतीतिः | .. |
| तमरसकल्पः | ... ७८१ | वैद्यातुरयोरेत्वीत्यक्षयनिर्देशः | .. |
| वाजीकरणे षडशीतितमरसकल्पः | .. | वैद्यानां सुलभाजीवत्वनिर्देशः | |
| रसायने सन्दिग्धम् प्रति उक्तिः | ७८२ | पुराहृतवर्णनद्वारा वैद्यास्य सर्वपूज्यत्व- | |
| औषधानां गुणदोषवत्त्वे प्रयोक्तुः | | निर्देशः | ... ७८६ |
| ज्ञानाज्ञावयीः हेतुता | | उपसंहारः | ... ७८७ |
| आचाररसायनम् | | | |
| आयुर्वेदापदेशस्य अवश्यपालनीय- | | | |
| तीतिः | ... ७८३ | | |

भ्रमनिरसनम् ।

“७०८” इति पत्राङ्कस्थाने “७१३” इति

अङ्कसन्निवेशः प्रामादिकः ।

रसरत्नसमुच्चयः ।

रसोत्पत्तिर्नाम प्रथमोऽध्यायः ।

अथ मङ्गलाचरणम् ।—

यस्याऽऽनन्दभवेन मङ्गलकलासम्भावितेन स्फुर-
द्धान्ना सिद्धरसामृतेन करुणावीक्षासुधासिन्धुना ।
भक्तानां प्रभवप्रसङ्गतिजरारागादिरोगाः क्षणा-
च्छान्तिं यान्ति जगत्प्रधानभिषजे तस्मै परस्मै नमः ॥ १ ॥

नत्वा गुरुपदं न्व भारतीं ज्ञानदायिनीम् ।

ज्ञानदं शङ्करस्यैव पितरस्य पितामहम् ॥ १ ॥

शर्मणा चाशुबोधेन नित्यबोधेन च श्रिया ।

क्रियते बोधिनी टीका रसरत्नसमुच्चये ॥ २ ॥

अथ सुप्रथितनामा निखिलायुक्तनूपारद्वन्ना भिषग्वरः श्रीवाग्भटाचार्यः रसतत्त्वं
ईक्षमपि चिकीर्षुः तस्य निर्विघ्नं परिसमाप्तये अनन्तान्तरायसन्तानमिज्जन्तङ्गेतुं विशिष्ट-
शिष्टाचारपरम्परापरिप्राप्तं स्नेहस्तुतिरूपं मङ्गलमाचरति यस्याहौ यथेत्यादिना ।—
यस्य परमात्मनः, आनन्दभवेन आनन्दः सुखं भवति अस्मात् तेन सुखोत्पाद-
हेतुना, दर्शनेनैव त्रिविधदुःखनाशात् चतुर्वर्गावाप्तेः इति भावः । मङ्गल-
कलासम्भावितेन मङ्गले श्रेयोजनने, या कला सामर्थ्ये, तत्र सम्भावितेन सम्भवयुक्तेन,
श्रमहेतुकेन दृष्टिपातेनैव सर्वापेक्षानिगमनादिति भावः । स्फुरद्धान्ना स्फुरत् दीप्य-
मानम्, उज्ज्वलमित्यर्थः, धाम तेजः यत्र तेन भास्वता, दृष्टिमात्रेणैव सर्वरीगवीज-
पापादः मञ्जीकरणात् इति । सिद्धरसामृतेन सिद्धरसः पारदः, तद्वत् अमृतेन
मरणादिनाशनेन, पारदवदमृतायमानेन, अमृतनिष्पन्दिस्त्रिभूदर्शनेनैव रसेन्द्रवत्
सर्वमयशान्तिकरणात् । रसचिकित्सायन्येऽस्मिन् रसस्य उत्कर्षव्यापनाय तद्दर्शनस्य
रसेन्द्रवत् गुणकारकत्वं व्यापितम् । करुणावीक्षासुधासिन्धुना करुणावीक्षा कृपादृष्टिः,
सुधासिन्धुरिव अमृतसागर इव तेन, सागरस्य यथा पारं न विद्यते, तथा भक्तजनै

अथ यन्त्रकर्तृणां नामानि यन्त्रस्याभिधेयञ्च ।—

आदिमच्चन्द्रसेनश्च लङ्केशश्च विशारदः ।

कपाली मत्त-माण्डव्यौ भास्करः शूरसेनकः ॥ २ ॥

रत्नकोशश्च शम्भुश्च सात्त्विको नरवाहनः ।

इन्द्रो गोमुखश्चैव कम्बलिर्याङ्गिरेव च ॥ ३ ॥

नागार्जुनः सुरानन्दो नागबोधिर्धर्मशोधनः ।

खण्डः कापालिको ब्रह्मा गोविन्दो लम्पको हरिः ॥ ४ ॥

सप्तविंशतिसङ्क्राका रससिद्धिप्रदायकाः ।

रसाङ्कुशो भैरवश्च नन्दो खच्छन्दभैरवः ॥ ५ ॥

मन्यानभैरवश्चैव काकखण्डीश्वरस्तथा ।

वासुदेव ऋषिः शृङ्गः क्रियातन्त्रसमुच्चयो ॥ ६ ॥

रसेन्द्रतिलको योगी भालुकिर्मथ्यलाह्वयः ।

महादेवो नरेन्द्रश्च रत्नाकर-हरीश्वरौ ॥ ७ ॥

तत्कृपाऽपि अपारा इति भावः । अथ “आनन्दभवेन” इत्यादिविशेषणानि सुधासिन्हा-
वपि योज्यानि ; तथा च सुधापानेनापि सर्वं गन्धन्ति, अतस्तस्या आनन्दजनकत्व
युज्यते । अमृतस्य मृतिनाशनत्वात् “जैवघ्नो भद्रघ्नतानि पश्येत्” इत्यनुसारेण मङ्गल-
सङ्गननमपि तत्र न विरोधमावहति । प्रभावेणैव सर्वपापदाहकत्वमपि तस्याः
मङ्गच्छते । सिद्धरसवत् अस्या अपि जरादिव्याधिनाशनत्वं प्रसिद्धमेव । भक्तानां
मेवक्तानां, प्रभवादिरोगाः जन्ममृत्युवाङ्मयासक्त्यादिदुःखजनकरीगाः, अथात्
अणमात्रेणैव शान्तिं प्रश्नं, यान्ति प्राप्नुवन्ति, जगत्प्रधानभिषजे जगतां जगत्सु
वा विभुवनेषु, प्रधानभिषजे प्रकटवेद्याय, लौकिकभिषजस्तु ज्वरादिसाधारण-
व्याधिकिचिकित्से समर्थाः, न तु प्रभवाद्यसाधारणरुगाहरणे, अत एव परमात्मनो
भिषक्प्रधानत्वम् । तस्मै अस्यक्तस्वरूपाय, परस्मै परमपुरुषाय परमात्मने, नमः
नमोऽस्तु ॥ १ ॥

इदानीं रसशास्त्रप्रवर्तकानां सप्तविंशतिसङ्क्राकानामादिमासीनां भिषजां तथा-
ऽश्वेषामपि रसाङ्कुशादीनां नामान्युत्कीर्णयति, आदिमः इत्यादि ।—एते सप्तविंशति-
सङ्क्राकाः तथा रसाङ्कुशादयश्च अष्टादशसङ्क्राकाः अपरे सप्तान्तः भिषजः रससिद्धिः

एतेषां क्रियतेऽन्येषां तन्वाण्यालोक्य सङ्गृहः ।

रसानामय सिद्धानां चिकित्सार्थोपयोगिनाम् ।

सुनुना सिंहगुप्तस्य रसरत्नसमुच्चयः ॥ ८ ॥

रसोपरसलोहानि यन्त्रादिकरणानि च ।

शुद्धार्थमपि लोहानां तन्त्रादिकरणानि च ।

शुद्धिः सत्त्वं द्रुतिर्भस्मकरणञ्च प्रवक्ष्यते ॥ ९ ॥

प्रदायकाः रसेन रसप्रयोगेण या शुद्धिः आरोग्यादिः तत्प्रदायकाः, चासन् इति शेषः ॥ १-७ ॥

ननु सर्वदा समप्रमादबहुलैरसर्वविदुरैर्मर्त्यैः प्रणीतेऽस्मिन् प्रेक्षावतां कथं प्रवृत्तिर्जायते इत्याशङ्क्य तेषां प्रवृत्त्यन्मुखीकरणाय यन्त्रस्यास्य प्रामाणिकत्वं प्रतिपादयितुमाह, एतेषामिति ।—नाहं स्वयं किमपि लिखामि कित्पु एतेषां पूर्वोक्तानां तथा अन्येषामपि आत्मानां रसचिकित्सामार्गप्रवर्तयितृणां कृतानि तन्त्राणि शास्त्राणि आत्मैक्य दृष्ट्या, अथ अनन्तरं, चिकित्सार्थोपयोगिनां चिकित्सीपयुक्तानां, सिद्धानां दृष्टफलानां रसानां रसवृत्तिवैधानां सङ्गृहः एकत्र यथनरूपः रसरत्नसमुच्चयः तदौख्ययन्त्रः, सिंहगुप्तस्य तदाख्यवेद्यस्य सुनुना पुत्रेण बाम्भटेन मया क्रियते ॥८॥

अभिधेयसम्बन्धप्रयोजनोपदेशमन्तरेण कृतेऽपि यन्त्रे न प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः स्यात्, यदुक्तम्—“अभिधेयफलज्ञानविरहस्मिन्तोयमाः । श्रोतुमन्त्यमपि यन्त्रं नाद्रियन्ते हि साधवः ॥ सिद्धान्तं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तन्ते । यन्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥” इत्यतः यन्त्रस्याभिधेयादिकं वक्तुमाह, रसेति ।—रसः पारदः, उपरसाः गन्धकादयः, तद्वयथा,—“गन्धको वज्रवैकान्तं वज्राक्षं तालकं शिला । खर्परं शिखिगुह्यञ्च विमलं हेममाचिकम् ॥ काशीशं कालपाषाणं वराटाक्षनङ्किण्डुलम् । गौरिकं शङ्खभुनागं टङ्गनञ्च शिलाजतु । एते चोपरसाः प्रोक्ताः—” ॥ लोहानि स्वर्णादयोऽष्टौ धातवः, तद्वयथा,—“सुवर्णे रजतं तावत् कांस्यं पित्तलमेव च । नागं वज्रं तथा लौहं धातवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ॥” तानि । यन्त्रादि इत्यत्र आदिपदेन पुटादयो षट्छन्ने । लोहानां स्वर्णादीनाम् । शुद्धिः शोधनम् । सत्त्वं सत्त्वपातनं, सारयङ्गणम् । द्रुतिः द्रावणम् । रसोपरसादीनां शोधनमारणादिकं तथा प्रयोगश्च यन्त्रस्यास्माभिधेयः । शोधनमारणौषधप्रयोगादिभिः सङ्काश बाध्यवाचकभावसम्बन्धः । प्रयोजनगन्तव्यं तज्ज्ञानद्वारा रोगप्रशमनम् ॥ ९ ॥

अथ हिमालयवर्णनम् ।—

अस्ति नीहारनिलयो महानुत्तरदिषुखे ।

उत्तुङ्गशृङ्गसङ्घात-लङ्घिताम्बो महीधरः ॥ १० ॥

विश्रामाय वियन्मार्ग-विलङ्घनघनश्रमः ।

अवतीर्ण इव क्षीणीं शरदम्बुमुचां गणः ॥ ११ ॥

राशिराशीविषाधीश-फणाफलकरोचिषाम् ।

भिस्त्वा भुवमिवोत्तीर्णो यो विभाति भृशोन्नतः ॥ १२ ॥

ज्वलदोषधयो यस्य नितम्बमणिभूमयः ।

नक्तमुहामतङ्कितामनुकुर्वन्ति वार्मुचाम् ॥ १३ ॥

इदानीं रसस्य गुणादिकं वक्तुं तदुत्पत्तिस्थानं हिमवतं वर्णयति, अस्तीति ।—
नीहारनिलयः तुषारावासः । उत्तुङ्गेति ।—उत्तुङ्गानामुन्नतानां शृङ्गाणां शिखराणां
सङ्घातेन समूहेन लङ्घितम् अतिक्रान्तम् अर्धं मेघः येन सहः । वियन्मार्गस्य
आकाशपथस्य विलङ्घनेन अतिक्रमणेन घनः प्रगाढः श्रमः क्लान्तिः यस्य स तथाभूतः,
अत एव विश्रामाय मार्गशमापनोदनाय, क्षीणीं मुवं पार्वत्यभुभागम्, अवतीर्णः
अवच्छेदः शरदम्बुमुचां शरत्प्रेषानां गणः समूह इव, परिरुध्यमानः इति शेषः,
तुषाराच्छृङ्गशृङ्गत्वेनातिशुभे तस्मिन् भुवमवतीर्णातिशुभशरत्प्रेषत्वोत्प्रेक्षा । राशि-
रित्वादि ।—मुवं भूगुष्ठं भिस्त्वा विदार्य उत्तीर्णः उद्गतः, आशीविषाधीशस्य नागराजस्य
शेषस्य फणाः सहस्रसङ्ख्याकाः भोगसमूहाः फलकाः विक्षतत्वात् काष्ठादिपट्टका इव
तेषां यानि रोचोषि प्रभापटलानि, सहस्रनक्षत्रके सहस्रसङ्ख्याकमणिभूषितत्वात् ;
तेषां राशिरिव अवस्थितः तुषारशुभस्त्रानेकशिखरिणः बहुरत्नाधिष्ठानस्यास्य
रजतगौरसहस्रमणिभूषितसहस्रशीर्षशेषवत् प्रभावतोत्प्रेक्षा । भृशोन्नतः भृशम्
अत्यर्थम् उन्नतः यः महान् महीधरः पर्वतः हिमाचलः, विभाति चकास्ति । यस्य
पर्वतस्य, ज्वलन्त्यः दीदीप्यमानाः ओषधयः ओषधद्वेतुभूतानि द्रव्याणि यव तादृशः,
द्रव्यमात्रे ओषधिशब्दप्रयोगे प्रमाणं यथा सुसृते—“तानि पुनरोषधयः । ताव
द्विविधाः, स्थावराः जङ्गमाश्च । तासां स्थावराः चतुर्धा यथा—वनस्पतिः, हृत्,;
वीरुः, ओषधिरिति । तासु अपुष्पफलवान् वनस्पतिः, पुष्पफलवान् हृत्, प्रतानवती
क्षता वीरुः, फलपाकनिष्ठा च ओषधिः । जङ्गमा अपि जरायुशालजस्त्रेदनीद्विज-
स्त्रेदौ चतुर्धा इत्यादि । नितम्बमणिभूमयः नितम्बे कटके पर्वतमध्यभागे वाः

कटके सञ्चरन्तीनां यस्य किञ्चरयोषिताम् ।

पादेषु धातुरागेण लाक्षाकृत्यमनुष्ठितम् ॥ १४ ॥

अवतंसितशीतांशुराच्छादितदिगम्बरः ।

यो गुहाधिगतो लोकैर्गिरीश इति गीयते ॥ १५ ॥

निमीलितदृशो नित्यं मुनयो यस्य सानुषु ।

प्रत्यक्षयन्ति गिरिशमवाङ्मनसमोचरम् ॥ १६ ॥

मणिभूमयः रत्नानामाकराः ताः नक्तं रात्रौ सद्दामा अत्युत्कटा भास्वतीत्यर्थः, तडित् विद्युत् यत्र तादृशानां, वारुणां वा नलं मुच्यन्ति ये तेषां मेघानामनुकुर्वन्ति विडम्बयन्ति सादृश्यं बहन्तीत्यर्थः । नक्तं वारिपूर्णप्रगाढकण्ठे मेघे पिङ्गलवर्णा विद्युत् यथा भाति, तथा तामस्यां निशि कृष्णवर्णकटकदेशे खनिनिःसृतपिङ्गलवर्णरत्न-
ज्योतीषि तथा औषधौनामपि प्रभाः विद्योतन्ते ; किञ्च, यदा वायुताडितवृक्षादिभि-
राच्छाद्यन्ते तदा ज्योतीषि अन्तर्दधते, यदा च कायाऽपसरति तदा पुनः द्योतन्ते, एवं तडितनूकरणं युज्यते इति भावः ॥ १०—१३ ॥

कटके इति ।—कटके अद्रिनितम्बदेशे पर्वतमध्यभूभागे, सञ्चरन्तीनाम् इतस्ततः परिभ्रमन्तीनां किञ्चरयोषितां किम्पुरुषवभूनां, पादेषु यस्य अचलस्य धातुरागेण धातूनां पञ्चरागादिमणौनां मनःशिलागैरिकादीनां वा रागेण लौहिलेन, लाक्षा-
कृत्यम् अलक्तकप्रयोजनम् अलक्तकेन पादप्रसाधनकार्यम्, अनुष्ठितं सम्पादितम् ; तत्र गैरिकमनःशिलादयः औषधोपयोगिनः सर्वे धातवः सन्तीत्यभिप्रायः ॥ १४ ॥

अवतंसितेति ।—अवतंसितः भ्रूषणीकृतः, शीतांशुः चन्द्रः येन स तथाभूतः,
तस्य हरिधिष्ठानत्वात् हरस्य च चन्द्रभ्रूषणत्वात् आश्रयाश्रयिणोरभेदोपचारेण शीतांशुभ्रूषणत्वम् । आच्छादितानि पिधानोक्तानि परिहितानीत्यर्थः, दिशः एव अम्बराणि येन स तथाभूतः दिग्वेष्टितः दिगन्तव्यापीत्यर्थः । गुहाभिः कन्द्रेः अधिगतः प्राप्तः बहुगुहासमन्वितः, अथवा—पर्वताधिष्ठातृदेवतात्वेन गुहागृह्णाश्रितः,
यद्वा—गुह्येन कार्तिकेयेन अधिगतः अधिष्ठितः मातामहनिखलत्वात्, यः महीधरः लोकैः गिरीशः गिरीणां पर्वतानाम् ईशः अधिपतिः, इति एवम्प्रकारः, गीयते स्तूयते, काप्यते इत्यर्थः ॥ १५ ॥

निमीलितेति ।—यस्य अचलस्य सानुषु प्रस्थेषु समतलदेशेषु, मुनयः वीतरागाः मग्नशीलाः योगिनः, निमीलितदृशः ध्यानमुदितनेत्राः सन्तः, नित्यं सदेव,

शिलातलप्रतिहतैर्यस्य निर्भरशीकरैः ।

अहन्यपि निरीक्षन्ते यच्चास्ताराङ्कितं नभः ॥ १७ ॥

नीहारपवनोद्रेक-निःसृष्टा यत्र पूरुषाः ।

निजस्त्रीणां निषेवन्ते कुचोष्माणं निरन्तरम् ॥ १८ ॥

सञ्चरन् कटके यस्य निदाघेऽपि दिवाकरः ।

उद्दामहिमरुद्धोष्मा न शीतांशोर्विभिद्यते ॥ १९ ॥

गुहागृहेषु कस्तूरी-मृगनाभिसुगन्धिषु ।

गायन्ति यत्र किन्नर्यो गौरोपरिणयोत्सवम् ॥ २० ॥

कदाऽप्यविनश्यत् वा, अवाप्तनसगीचरं वाप्तनसयोरभोचरम् अविषयीभूतं, गिरिशं गिरौ श्रुते अधितिष्ठति यः तं शङ्करं, प्रत्यक्षयन्ति ध्यानदृशा हृदये प्रत्यक्षवत् पश्यन्ति ॥ १६ ॥

शिलेति ।—यस्य शिलातले शिलापृष्ठे प्रतिहतैः प्रतिस्खलितैः चूर्णैर्मृतेरिति यावत्, निर्भरशीकरैः प्रसवणोदककण्ठैः करणैः, यच्चाः देवयोनिर्विशेषाः, अहन्यपि दिवा अपि, नभः स्व, ताराङ्कितं नक्षत्रमुद्रितं, निरीक्षन्ते अवलोकयन्ति, अभंलिह-शङ्कावस्थितनिर्भरात् चरन्त्युदकानि पार्श्वधातुरागानुरञ्जितानि शिलापृष्ठे प्रतिहृत्य कण्ठो भुत्वा ऊर्ध्वमुत्पतन्ति नभसि नक्षत्राण्येव प्रतिभान्तीति भावः ॥ १७ ॥

नीहारेति ।—यत्र महीध्रे पूरुषाः नीहारपवनस्य तुषारकणमिश्रवायोः शीत-वायोर्वा उद्रेकम् आतिशय्य निःसृष्टाः सीदुमशक्वाः सन्तः निरन्तरं सदैव दिवाऽपीत्यर्थः, निजस्त्रीणां स्ववधूनां कुचोष्माणं स्तनतापं, निषेवन्ते भजन्ते, अनुभवन्तीत्यर्थः । श्रैत्याधिक्याद्विर्गन्तुमशक्ताः निरन्तरं गुहागृहे स्वस्त्रियं गादमालिङ्गा अवतिष्ठन्ते इति भावः ॥ १८ ॥

सञ्चरन्ति ।—दिवाकरः सूर्यः, यस्य कटके मितम्बर्देशे सञ्चरन् भास्यन्, एतेनास्य महीव्रतत्वं सूचितं, यतः नभसि सूर्यपथः अस्य मध्यप्रदेशे वर्तते । निदाघे-ऽपि शीघ्रतावपि उद्दामेन उत्कटेन दुःसहेन हिमेन तुषारेण रुद्धः प्रतिहतः मन्दोभूतः उष्मा सन्तापः यस्य सः तदाभूतः सन् शीतांशोः अन्दात् न विभिद्यते न विशिष्यते न पृथक्केनानुमीयते, जनैरिति शेषः । हिमाभिहतोष्मत्वात् उष्णकरोऽपि हिमकरवत् प्रतीयते इति भावः ॥ १९ ॥

गुह्येति ।—यत्र कस्तूरीमृगाणां कस्तूरिकाकरमृगविशेषाणां नाभिना नाभि-

चकास्ति तत्र जगतामादिदेवी महेश्वरः ।

रसात्मना जगन्नातुं जातो यस्मात् महारसः ॥ २१ ॥

अथ रसोत्कर्षवर्णनम् ।—

शताश्वमेधेन कृतेन पुण्यं गोकोटिभिः स्वर्णसहस्रदानात् ।

नृणां भवेत् सूतकदर्शनेन यत् सर्वतीर्थेषु कृताभिषेकात्

॥ २२ ॥

विधाय रसलिङ्गं यो भक्तियुक्तः समर्चयेत् ।

जगत्त्रितयलिङ्गानां पूजाफलमवाप्नुयात् ॥ २३ ॥

भक्षणं स्पर्शनं दानं ध्यानञ्च परिपूजनम् ।

पञ्चधा रसपूजोक्ता महापातकनाशिनी ॥ २४ ॥

प्रदेशेन, सुष्ठु गन्धः विद्यते यत्र तेषु कक्षरिकामोदवत्सु, गुहागृहेषु कन्दरनिक्षेपेषु अवस्थिताः किन्नर्यः गौर्याः पार्वत्याः परिणये विवाहसमये यः उत्सवः आनन्दजनकस्यापारविशेषः तं गायन्ति पार्वतीविवाहज्ञानात् स्वरसंयोगेन कथयन्ति इत्यर्थः । कक्षरौसगन्धभिः सुगन्धिषु इत्युक्त्या अत्र उत्कृष्टसुगन्धिद्रव्याण्यपि सन्ति न केवलं रसादौ नि इत्याद्याति ॥ २० ॥

चकास्तीति ।—तत्र तस्मिन् हिमभूधरे, जगताम् आदिदेवः आदौ पथमे दीव्यति स्वयं राजते इति आदिदेवः महेश्वरः शिवः, रसात्मना रसस्वरूपेण, तस्मात् रसोत्पत्तेः ; जगत जगद्वासिजनसमूहं, नातुं रसस्य सर्वरोगहरत्वात् व्याधिभ्यः रक्षितुं चकास्ति विराजते, यस्मात् महेश्वरात् महारसः पारदः, जातः उत्पन्नः । महेश्वरस्य सृष्ट्युत्पत्त्यात् तदुत्पन्नस्य रसस्यापि सृष्ट्युत्पत्त्यमित्यभिप्रायः ॥ २१ ॥

अनुरागदाकार्यं रसप्रशंसामाह, श्रुतेति ।—कृतेन अनुष्ठितेन, शताश्वमेधेन शतसङ्ख्याकाश्वमेधयज्ञेन करणेन, गोकोटिभिः कोटिसङ्ख्याकगोदानेन, स्वर्णसहस्रदानात् सहस्रसङ्ख्याकसुवर्णमुद्रादानात्, तथा सर्वतीर्थेषु काशीप्रयागादिपण्यस्थानेषु, कृतः आवरितः यः अभिषेकः स्नानं तस्मात् तीर्थस्नानात् यत् पुण्यं सकृत्कृतं भवेत्, सूतकदर्शनेन पारददर्शनेनैव नृणां तत् पुण्यं भवेत् । अश्वमेधादिभ्योऽपि पारददर्शनं बहुफलम् इति भावः ॥ २२ ॥

विधायेति ।—जगत्त्रितये विमुचने यानि लिङ्गानि शिवलिङ्गानि तेषाम् ॥ २३ ॥

भक्षणमिति ।—भक्षणादिभेदेन पञ्चधा पञ्चप्रकारा रसपूजा रसाचनं रससेवा ॥ २४ ॥

हन्ति भक्षणमात्रेण पूर्वजन्माघसम्भवम् ।
 रोगसङ्घमशेषाणां नराणां नात्र संशयः ॥ २५ ॥
 पूर्वजन्मतं पापं सद्यो नश्यति देहिनाम् ।
 सुगन्धपिष्टसूतेन यदि शम्भुर्विलेपितः ॥ २६ ॥
 अभ्रकं वृटिमात्रं यो रसस्य परिजारयेत् ।
 शतक्रतुफलं तस्य भवेदित्यब्रवीच्छिवः ॥ २७ ॥
 यश्च निन्दति सूतेन्द्रं शम्भोस्तेजः परात्परम् ।
 स पतेन्नरके घोरे यावत्कल्पविकल्पनम् ॥ २८ ॥
 रोगिभ्यो यो रसं दत्ते शुद्धिपाकसमन्वितम् ।
 तुलादानाश्वमेधानां फलं प्राप्नोति शाश्वतम् ॥ २९ ॥
 सिद्धे रसे करिष्यामि निर्दोरिद्रागदं जगत् ।
 रसध्यानमिदं प्रोक्तं ब्रह्महत्यादिपापनुत् ॥ ३० ॥

रसभक्षणगुणमाह, हन्तीति ।—पूर्वजन्म कर्मणि यानि अघानि पापानि,
 तेभ्यः सम्भवः उत्पत्तिर्यस्य तं तथाविधं रोगसङ्घं व्याधिसमूहम् ॥ २५ ॥

रसस्पर्शनगुणमाह, पूर्व्यादिशब्दाभ्याम् ।—सुगन्धेन सुदृग्मयुक्तद्रव्येण सह पिष्टः
 पेयितः यः सूतः पारदः तेन यदि शम्भुः शिवः, विलेपितः अतुलेपितः ॥ २६ ॥

अभ्रकमिति ।—यः अभ्रकं तथा रसस्य पारदस्य वृटिमात्रं लेशमात्रं बिन्दुमात्र-
 रसमित्यश्रं, परिजारयेत् परितः सर्वतोभावेन कारयेत् भक्ष्यीकुर्यात् । शतक्रतुफलं
 शताश्वमेधयागफलम् ॥ २७ ॥

रसनिन्दाया दीवमाह, यश्चेति ।—सूतेन्द्रं पारदम् । शम्भोस्तेजः शिववीर्यम् ।
 परात् परं श्रेष्ठतमम् । कल्पविकल्पनं कल्पस्य प्रलयस्य विकल्पनं विरचनं प्रलयागमनं
 कल्पान्तमिति यावत् ॥ २८ ॥

रसदानगुणमाह, रोगिभ्य इति ।—शुद्धिपाकसमन्वितं शोधितमारितम् । शाश्वतं
 नित्यम् ॥ २९ ॥

रसध्यानगुणमाह, सिद्धे इति ।—सिद्धे शोधनादिना सम्यक् निष्पन्ने ।
 निर्दोरिद्रागदं निः निर्मुक्तं दारिद्र्यागदाभ्यां यत् तथाभूतं दारिद्र्याभ्यामिमुक्तम्, इदम्
 एवभूतचिन्तनं, रसध्यानं समाहितचेतसा ऐकाग्र्येण रसचिन्तनं प्रोक्तम् ॥ ३० ॥

अभ्यग्रासो हि सूतस्य नैवेद्यं परिकीर्तितम् ।

रसस्येत्यर्चनं कृत्वा प्राप्नुयात् क्रतुर्जं फलम् ॥ ३१ ॥

उदरे संस्थिते सूते यस्योत्क्रामति जीवितम् ।

स मुक्तो दुष्कृताहोरात् प्रयाति परमं पदम् ॥ ३२ ॥

मूर्च्छित्वा हरति रुजं बन्धनमनुभूय मुक्तिदो भवति ।

अमरीकरोति हि मृतः कोऽन्यः कर्णकारः सूतात् ? ॥ ३३ ॥

रसपूजागुणमाह, अभ्येति ।—अभ्यस्य यासः कबलीकरणं सूतसाधको-
नविंशतिकमंसु मध्ये रसजारणार्थं प्रकारविशेषः । तद्यथा रसेन्द्रचिन्तामणौ—
“जारणा हि पातनगालनव्यतिरेकेण घनहेमादिघासपूर्वकं पूर्वावस्थापन्नत्वम् ।”
यसिताभ्यरसगुणः यथा तत्रैव—“युद्धगन्धेषु जीर्णस्तु यथाच्छतगुणाधिकः । षड्गुणे
‘गन्धके जीर्णो रसो भवति रोगहृदा ॥.....तस्माच्छतगुणो व्यिमसत्त्वे जीर्णस्तु—”
रसस्य अभ्यगसने सामर्थ्यमाह यथा तत्रैव—“देव्या रसो भवेद्गन्धो घातुः शुक्रं
तथाऽधकम् ।, चालिक्राने समर्थो हौ प्रियत्वाच्छिबरीतसः ॥” यस्यप्रकारं यथा
तत्रैव—“वज्रकण्टकवशात् वृद्धमष्टाङ्गुलं मृदा । विलिप्य गोकरीषाग्नौ पुटितं तत्र
शोधितम् ॥ वज्रं वज्रे विनिक्षिप्तो यासार्थो जायते रसः । यसते गन्धहेमादिबन्धसत्त्वा-
दिकं क्षणात् ॥” अथ यासयोग्यरसो यथा तत्रैव—“सतुल्यटङ्कनस्वज्जि-पट्टतामे व्राद्धी-
षितम् । काञ्चिकं भावितं तेन गन्धाच्छरति क्षणात् ॥ विदेष्टु काञ्चिके क्षिप्तो रसः
स्यात् यासलालसः । यसते सर्वलोहानि सर्वसत्त्वानि बध्यकम् ॥” अभ्यरहितजारित-
रसस्य नैष्कल्यमाह यथा तत्रैव—“घनरहितबीजजारणसम्प्राप्तिसिद्धिकृतजत्याः ।
रूपस्थाः प्राप्य समुद्रं वराटिकालामसन्तुष्टाः ॥ विनैकमधसत्त्वं नाग्यो रसपक्षकर्तन-
समर्थः ॥” इति । सूतस्य पारदस्य, नैवेद्यं दीवोद्देशेन निवेदनं यत् द्रव्यं, पूजायै सुपहार-
मित्यर्थः, परिकीर्तितम्, अभ्यगसनशक्तिसञ्जननमेव रसस्य पूजनमित्यर्थः । यदुक्तं
रसेन्द्रचिन्तामणौ—“नीचाभिव्यक्तं देवि ! जारणा साधकस्य तु । खल्वस्य पिष्टिका
देवि ! रसेन्द्रो लिङ्गमुच्यते ॥ मर्द्दनं बन्धनञ्चैव यासं पूजा विधीयते ॥” इति
एवमप्युक्तं अर्चनं पूजनम् । क्रतुर्जम् अथनैवेद्यपूजनम् ॥ ३१—३२ ॥

मूर्च्छित्वेति ।—मूर्च्छित्वा अव्यभिचरितव्याचिन्ताकृतं मूर्च्छना तां प्राप्य इत्यर्थः ।
तत्प्राप्तारी यथा रसेन्द्रसारसङ्ग्रहे—“गन्धकेन रसं प्राप्यः सुहृदं मर्दयेत् भिषक् । काञ्च-
िन्तामणौ यदा सूतो विहाय घनपापलम् ॥ इत्यतः सूतो यदा श्रेयो मूर्च्छितो रसकोविदेः ॥

सुरगुरुगोद्विजहिंसापापकलापोद्भवं किलासाध्यम् ।

श्वित्रं तदपि च श्रमयति यस्तस्मात् काः पवित्रतरः सूतात् ?

॥ ३४ ॥

रसबन्ध एव धन्यः प्रारम्भे यस्य सततमिति कर्तव्या ।

सेव्यति रसे करिष्ये महीमहं निर्जरामरणाम् ॥ ३५ ॥

असौ रोगचयं हन्यादनुपानस्य योगतः ॥” मूर्च्छनाप्रकारस्तु बहुविधः, तच्च षड्गुण-
गन्धकजारणप्रक्रिया साधीयसी । यदुक्तं रसेन्द्रचिन्तामणौ—“रसगुणवलिजारणं विना-
ऽयं न खलु रजाद्धरणक्षमो रसेन्द्रः । न जलदकलधौतपाकहीनः स्पृशति रसायनता-
मिति प्रसिद्धा ॥” बन्धनं स्वाभाविकद्रवत्वे सति वज्रिनाऽगुच्छिद्यमानत्वं मूर्त्तिबद्धत्वं
स्वेदनमर्हनायूनविंशतिकर्मसाध्यः अवस्थाविशेष इत्यर्थः, तम् अनुभूय प्राप्येत्यर्थः ।
बन्धनसाधनान्यूनविंशतिकर्माणि यथा रसेन्द्रचिन्तामणौ—“स्वेदनमर्हन्मूर्च्छनीत्यापन-
पातनबोधननिधननदीपनानुवासन-गगनादिशासप्रमाणचारण-गर्भद्रुतिबाह्यद्रुतियोग-
जारणरञ्जनसारणक्लामणवेधभक्षणानि” इति । बन्धनप्रकारो यथा रसरत्नाकरे—
“कटुतुम्बुदाद्वे कन्दे बन्धायाः क्षीरकन्दके । अपक्वैकं समुदाय तद्गर्भे पिण्डिका
ततः ॥ दशनिष्कं शुद्धतृतं निष्कैकं शुद्धगन्धकम् । क्षौकं क्षौकं क्षिपेद्गन्धं पाषाणे
तु च कुट्टयेत् ॥ याममात्रे भवेत् पिण्डी रक्तकन्दे विनिःक्षिपेत् । अधोर्ध्वं भक्ष-
वैक्रान्तं दत्त्वा निष्कार्जमावकम् ॥ ततः कन्दस्य मज्जाभिर्मुखं बद्धा मृदा दृढम् ।
लितमङ्गुलमानेन सर्वतः शोथ गोलकम् ॥ पाचयेत् भूधरे यन्त्रे ततोद्धृत्य पुनः
पचेत् । ऊर्ध्वभागमधः कुप्यादित्येव परिवर्जयेत् ॥ क्रमेण चालयेद्दूर्ध्वं बहिर्युग्योपलेः
पचेत् । ततो भित्त्वा तु सङ्क्राष्टः बडः स्याद्वाङ्मोपमम् ॥ नात्रा वैक्रान्तबडोऽयं
सर्वरोगेषु योजयेत् ॥” इति । अन्ये च प्रकाराः बन्धनस्य तत्रैव द्रष्टव्याः ।
मृतः भक्षीभूतः ; तत्रकारो यथा रसेन्द्रसारसङ्ग्रहे—“द्विपलं शुद्धमृतस्य
सूतार्द्धं गन्धकं तथा । कन्यानीरेण सम्यग्द्वं दिनमेकं निरन्तरम् ॥ रुद्धा तत् भूधरे
यन्त्रे दिनैकं मारयेत् पुटे ॥” इति । अमरीकरोति अमरम् अमरं करोति मरण-
अनिष्टं मृत्युरहितं करोति ॥ ३३ ॥

• सूतस्य पवित्रतां पापनाशकत्वञ्चाह सुरेति ।—देवतागुरुजनगोब्राह्मणानां
हिंससा यै पापकलापाः पापसमुदाः तेभ्यः उद्भवः जन्म यस्य तथाविधं, श्वित्रं
श्वेतकुष्ठम् । असाध्यम् अपिक्विस्यम् । किल निचये ॥ ३४ ॥

• बहुरसस्य गुणोत्कर्षमाह, रसेति ।—यस्य रसबन्धस्य प्रारम्भे उपक्रमे एव

सुकृतफलं तावदिदं सुकुले यज्जन्तु धीश्च तत्रापि ।

साऽपि च सकलमह्यीतलतुलनफला भूतलञ्च सुविधेयम्

॥ ३६ ॥

भूतलविधेयतायाः फलमर्थास्ती च विविधभोगफलाः ।

भोगाश्च सन्ति शरीरे तदनित्यमतो वृथा सकलम् ॥ ३७ ॥

सुततं निरन्तरम्, इति एवं वक्ष्यमाणरूपा, करुणा अनुकम्पा, बन्धयितुमेतसि सदेति इति शेषः, यत् रसे रसबन्धे, सेव्यसि सम्यक् निष्पत्त्यमाने सति, अहं महीं पृथिवीं निर्जरामरणां बाह्यैकमृत्युरहितां, मर्त्यसङ्गं जरामृत्युविवर्जितमित्यर्थः, कारित्वे । स रसबन्धः बन्धनप्राप्ति रसः, धन्यः प्रशस्य एव ॥ ३५ ॥

रससेवनस्य जरामृत्युनाशनतया दीर्घकालव्यापिसाधनसामर्थ्यप्रदत्वात् सुक्ति-प्रदत्वं वर्णयितुम् अजरामरस्य च तत्साधनं सम्भवतीत्यभिप्रायेण शरीरादौ नामानित्यत्वं प्रतिपादयति, सुकृतेत्यादिभिस्त्रिभिः ।—सुकुले प्रशस्तवंशे, यत् जन्म उत्पत्तिः, इदं कुले जन्म तावत् सुकृतफलं शुभादृष्टफलं जन्मान्तरीयसुकृतिवशादेव सङ्ग्रे उच्यते इत्यर्थः । तत्रापि सुकुले जन्मलाभेऽपि, धीश्च प्रशस्तबुद्धिरपि, सुकृतफलेति शेषः । सा बुद्धिः अपि, सुकलेन समयेण, मह्यीतलेन भूतलेन सह, तुलनम् उपमाप्रदर्शनं, फलं यस्याः सा तथाविधा, प्रशस्तबुद्धिमान् एव भूतलस्थानां सर्वेषां दृष्टान्तस्थलमित्यर्थः । भूतलं भूतलस्थाः सर्वे एव प्राणिनः इत्यर्थः, सुविधेयं वचने स्थितम् आज्ञासम्पादकमिति यावत्, भवेदिति शेषः । बुद्धिमन्तः सर्वानेव स्वायत्तान् कुर्वन्तीति भावः ॥ ३६ ॥

भूतलेति ।—भूतलविधेयतायाः पृथिवीसर्वजनवशोकरणस्य फलम् अर्थाः धनानि, अत्याहुताग्निप्रभुशक्तिसम्पन्नस्याज्ञां सर्वे एव शिरसा वहन् धनानि प्रयच्छति । ते च अर्थाः, विविधभोगफलाः विविधाः बहुप्रकाराः भोगाः स्वच्छन्दनवनिताद्युप-भोगजनितसुखानि फलानि कार्याणि येषां ते तथाभूताः, धनं विविधभोगसाधन-मित्यर्थः । भोगाश्च धनसाध्यास्तु भोगाः पुनः, शरीरे प्रविष्टान् नरदेहे, सन्ति विद्यन्ते, शरीरमेव भोगाधिष्ठानमित्यर्थः । तत् भोगाधिष्ठानशरीरम्, अनित्यं तन्मरम्, अतः शरीरस्य तन्मरत्वात्, सकलं सुकुले जन्मादि भोगालं सर्वमेव, वृथा निरर्थकं, यदा अवश्यमेव शरीरं तस्यति तदा सुकुले जन्मलाभादिना किं फलम् ? इति भावः ॥ ३७ ॥

इति धनशरीरभोगान्मत्वाऽनित्यान् सदैव यतनीयम् ।
 मुक्तौ सा च ज्ञानात्तथाभ्यासात् स च स्थिरे देहे ॥ ३८ ॥
 तत्स्थैर्यं न समर्थं रसायनं किमपि मूललोहादि ।
 स्वयमस्थिरस्वभावं दाह्यं क्लेशश्च शोथम् ॥ ३९ ॥
 काष्ठौषधौ नागे नागो वङ्केऽथ वङ्गमपि शुल्के ।
 शुल्कं तारे तारं कनके कनकञ्च लीयते सूते ॥ ४० ॥
 अमृतत्वं हि भजन्ते हरमूर्त्तौ योगिनो यथा लीनाः ।
 तद्वत् कवलितगगने रसराजे हेमलोहाद्याः ॥ ४१ ॥

इतीति ।—इति उक्तप्रकारेण, धनशरीरभोगान् अनित्यान् अशाश्वतान्, मत्वा विविच्य, सदैव मुक्तौ मुक्तिसाधने, यतनीयं यत्रः कर्तव्यः इत्यर्थः । सा च सा शाश्वती मुक्तिः पुनः, ज्ञानात् जीवन्मुक्त्योरेक्यवस्थात्, भवतीति शेषः । तच्च मुक्तिहेतुकज्ञानं पुनः, अभ्यासात् सततानुशीलनात्, जायते इति शेषः । स च अभ्यासः, स्थिरे स्थायिनि अविनश्यरे देहे, सम्भवतीति शेषः । सुदीर्घजीवनमन्तरेण मुक्तिहेतुभूतज्ञानानुशीलनं न सम्भवतीति भावः ॥ ३८ ॥

पुनरपि रसस्य मुक्तिप्रदत्वं वक्ष्यति, तदिति ।—तत् तस्य देहस्य स्थैर्यं स्थिरत्व-सम्पादने, मूललोहादि मूलभूतं वनीषवादिषु तथा लोहादि स्वर्णरौप्यादिकञ्च, किमपि रसायनं किञ्चिदपि रसायनौषधं, रसायनलक्षणं यथा चरके—“यज्जरा-व्याधिबिभ्वंसि भेषजं तद्रसायनम्” इति । न समर्थं न शक्तं भवेत् । यतः तत् मूललोहादिकं स्वयम् अस्थिरस्वभावं असंलभ्यकृतिकम् अन्यस्मिन् पातौ विलयन-स्वभावविशिष्टं, दाह्यं दाहयोग्यं, मारणं विना तत् न साधकं भवति, क्लेशं क्लेदन-योग्यं, तेजतन्नादिषु सिञ्चनाद् तद्व्यतिरेकेण शुद्धिक्रियाभावात् ; शोषश्च पातपे शोषणयोग्य, शोषणाद्यं शोषणोपद्रवेण यन्मर्दनं क्रियते तच्छोषणार्थम् पातपे शोषणमर्हति, रसस्तु तथा न दाहक्लेदादिकमनुभवति इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

सुतेतररसायनानाम् अस्थिरस्वभावत्वं प्रदर्शयति, काष्ठौषधः इति ।—काष्ठौषधः काष्ठवङ्कः औषधः मूलिनः । नागे सीसके । शुल्के ताजे । तारे रजते । लीयते लीनी भवति तदाहृष्यो भवतीत्यर्थः ॥ ४० ॥

रसस्य अमृतवद्भक्षणादकालमाह, अमृतत्वमिति ।—योगिनः सर्वभूतेषु सुख-हृद्यादिषु वृत्तेषु च समदर्शिनः, हरमूर्त्तौ लोपास्त्रशरदेहे, लीनाः स्वयं गताः

अथ रसस्य जीवन्मुक्तिकारणतानाह ।—

परमात्मनीव सततं भवति लयो यत्र सर्वसत्त्वानाम् ।

एकोऽसौ रसराराजः शरीरमजरामरं कुरुते ॥ ४२ ॥

स्थिरदेहेऽभ्यासवशात् प्राप्य ज्ञानं गुणाष्टकोपेतम् ।

प्राप्नोति ब्रह्मपदं न पुनर्भववासजन्मदुःखानि ॥ ४३ ॥

एकांशिन जगदयुगपदवष्टभ्यावस्थितं परं ज्योतिः ।

पादैस्त्रिभिस्तदमृतं सुलभं न विरक्तिमात्रेण ॥ ४४ ॥

सायुज्यं प्राप्ताः सन्तः, यथा यदत् अमृतत्वं जन्ममृत्युजरादुःखराहित्यं मोक्षस्वरूप-
मित्यर्थः, भजन्ते चाश्रयन्ति, तद्वत् तथा कबलितगगने यासीकृतान् रसराराजं पारदे
हेमलोहाद्याः स्वर्णाद्यष्टलोहाः लीनाः एकीभूताः सयुक्ताः सन्तः, अमृतत्वम् अमृत-
मित्त्वं गुणशालित्वं जरामरणादिबिनाशकगुणवृत्ता, भजन्ते प्राप्नुवन्ति, रसराराजस्य स्थिर-
देहप्रदत्वात् तत्र लीनाः हेमादयोऽपि देहस्थैर्यप्रदानेन तत्साधकानां जरामरणाद-
निवारणं कुर्वन्ति ; अथवा पुनः पुनः जन्ममृत्युधर्मिणोऽपि मानवाः यथा साधनबलेन
हरसामुज्यं प्राप्य अपुनरावर्तिनो भवन्ति, तथा उत्थानविलयधर्मिणः हेमादयोऽपि
रससायुज्यं प्राप्य निरुत्यत्वं भजन्ते इति भावः ॥ ४१ ॥

रसस्य परब्रह्मसादृश्यं प्रदर्शयति, परमात्मनीति ।—परमात्मनि परमब्रह्मणि
स्वसत्त्वानां सर्वप्राणिनां लयः संश्लेषः इव यत्र रसराराजं सर्वसत्त्वानां सर्वेषां रसी-
परसलोहादिद्रव्याणां सततं निरन्तरं लयः भवति, असौ रसराराजः, एकः केवलः
अद्वितीयः एव, शरीरम् अजरामरं जरामरणविमुक्तं कुरुते, परब्रह्मोपासनेन यथा
अजरामरो भवति तथा रसीपासनेनापीति भावः ॥ ४२ ॥

रससेवनस्य मोक्षप्रदत्वमाह, स्थिरदेहे इति ।—स्थिरदेहे रससेवनेन अविनश्य-
शरीरे सति अभ्यासवशात् निरन्तरानुशीलनात् गुणाष्टकोपेतं गौतमोक्तेन सर्व-
भूतेषु दया-दाननिरनमूया-श्रीचमनायासो-मङ्गलमकार्पणमसृङ्गाकपाटविधात्मगुणेन
समन्वितं ज्ञानं “सर्वे खल्विदं ब्रह्म” इत्याकारं उत्त्वावबोधं प्राप्य ब्रह्मपदं मोक्षस्वरूपं
प्राप्नोति विन्दति, भववासेन संसारी अवस्थानेन जन्म उत्पत्तिर्विषां तानि तथाभूतानि
दुःखानि पुनः न प्राप्नोति, रससेवनेन स्थिरदेहं प्राप्य निरन्तरानुशीलनजनित-
ज्ञानोन्नत्या मोक्षस्वरूपं लभते । अनेन रसस्यैव मोक्षदायित्वं सूचितम् ॥ ४३ ॥

ज्ञानं विना विरक्तिमात्रं न मोक्षकारणमिति वक्तुमाह, एकांशेनेति ।—यत् त्रिभिः

न हि देहेन कथञ्चित् व्याधिजरामरणदुःखविधुरेण ।

क्षणभङ्गुरेण सूक्ष्मं तत् ब्रह्मोपासितुं शक्यम् ॥ ४५ ॥

नामापि देहसिद्धेः को गृह्णीयाद्दिना शरीरेण ।

यद्योगगम्यममलं मनसोऽपि न गोचरं तत्त्वम् ॥ ४६ ॥

पादैः उपलक्षितं विविक्रमस्वरूपमित्यर्थः, परम् उत्कृष्ट ज्योतिः धाम ज्योतिःपदार्थः एकांशेन एकावयवेन सर्वभूतस्वरूपेण एकेन पादेनेत्यर्थः, तथा च श्रुतौ—“पादोऽस्य सर्वभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि” इति । जगत् विभुवनं युगपत् एकदैव अवष्टभ्य आत्मस्य विधुरेत्यर्थः, अवस्थितं, यदुक्तं गीतायां—“विष्टभ्याहमिदं कृत्स्न-मेकांशेन स्थितो जगत्” इति ; तत् ज्योतिःस्वरूपम् अमृतं ब्रह्म विरक्तिमात्रेण देहस्थैर्यादिसाधनजनितज्ञानादिकं विना केवलया अनसक्त्या एव न सुलभं न सुभाषम् ; तथा च श्रीमद्भगवद्गीतायां—“ज्ञानेन तु तदज्ञानम्” इत्यादि । ज्ञानादिसाधनं विना केवलवैराग्येण ब्रह्मज्ञानं दुर्लभमेव, ज्ञानादिसाधनान्तु देह-स्थैर्यापि, तच्च रससिद्ध्यापि, अतो रस एव मुक्तिकारणमिति भावः ॥ ४४ ॥

अणव्यायिनि अस्मिन् देहे ब्रह्मज्ञानलाभो न सुलभः इति श्रुत्वाह, नेति ।—व्याधिना पीडया जरया देहशैथिल्यापादकावस्थामेतेन बाहुंक्ष्येनेत्यर्थः, मरणेन च यत् दुःखं तेन विधुरेण क्षिप्तेन क्षणभङ्गुरेण क्षणविवर्तिना देहेन करणेन, सूक्ष्मं ज्ञानमावगम्यम् अस्यात्मस्वरूपं तत् ज्योतीरूपं ब्रह्म असृतम् उपासितुम् आराधयितुं कथञ्चित् केनापि प्रकारेण न हि नेव शक्यं समर्थम् ; सुदौर्घजीवनव्यापिसाधना-जनितज्ञानगम्यस्य ब्रह्मणो पद्मदवस्थवारिविन्दुवत् अलनानेन देहेन लाभोऽसम्भव एवेति भावः ॥ ४५ ॥

एतदेव प्रकारान्तरेणाह, नामापीति ।—यत् अमलं निर्मलं ज्योतीरूपमित्यर्थः, तत् ब्रह्म मनसोऽपि न गोचरम् अतःकरणस्यापि अविषयीभूतं सङ्कल्प-विकल्पात्मककृतिसमदन्तःकरणस्यापि अघातं, केवलं योगगम्य योगेन सर्वविषयेभ्यः चित्तवृत्तिनिरोधरूपेण “संयोगं योगमित्याहर्जीवात्मपरमात्मनोः” इत्युक्तेन जीव-परमात्मनोरैक्यरूपेण गम्यं ज्ञेयं तत् दर्शयं वस्तु, अपि प्रप्रे, कः जनः नाम सन्भावकः, देहसिद्धेः देहस्य स्थैर्यादिसिद्धिं विना शरीरेण प्रतिक्षणं शीघ्रमात्रेण देहेन गृह्णीयात् ? ज्ञातुं शक्नुयात् ? न कीदृशीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः,—“अगीश-तत्त्वमसलं केवली निर्गुणम्” “निष्कलं निष्क्रियं ज्ञानम्” “अतो वाची निवर्तन्ते

ब्रह्मसूत्रम् ॥ ४६ ॥

यज्ञाहानात्तपसो वेदाध्ययनादमात् संदाचारात् ।

अत्यन्तभूयसी किल योगवशादात्मसंविद्धिः ॥ ४७ ॥

भूयुगमध्यगतं यच्छिखि-विद्युत्सूर्यवज्जगद्भाति ।

केषाञ्चित् पुण्यदृशामुन्मीलति चिन्मयं परं ज्योतिः ॥ ४८ ॥

ब्रह्मज्ञानोपायमाह, यज्ञादिति ।—यज्ञात् यागानुष्ठानात् दानात् अन्न-
वस्त्रादीनां त्यागात् तपसः तपश्चरणात् वेदाध्ययनात् वेदपाठात् दमात् वाङ्मे-
न्द्रियव्यापाररोधान्, यदुक्तं—“नियहो वाङ्महत्तोनां दम इत्यभिधीयते” इति । सदा-
चारात् “सरस्वतीदृषद्व्योर्देवनयोर्दन्तरम् । तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त्ते प्रचक्षते ॥
तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमगतः । वर्णानां सान्तरालानां सः सदाचार
इत्यने ॥” इति मूलतः देशप्रचलिताचारात्, “माधवः क्षीणदोषाय सच्छब्दः साधु-
वाचकः । तेषामाचरणं यत् सदाचारः स उच्यते ॥” इत्युक्तलक्षणकसाधुविहित-
आचारानुष्ठानाद्, तथा योगवशात् सर्वविषयेभ्यः जीवब्रह्मधीरेकज्ञानहेतुभूतचित्त-
वृत्तिनिरोधकपात् अत्यन्तभूयसी अतिबहुला श्रेष्ठतमा इत्यर्थः, आत्मसंविद्धिः
आत्मतत्त्वोपलब्धिः ब्रह्मज्ञानं किल, जायते इति शेषः । निरन्तरयागाद्यनुष्ठान-
जनितचित्तयुद्धात् अनुत्पन्नब्रह्मोपलब्धिरिति भावः ॥ ४७ ॥

ब्रह्म न सर्वेषां सुज्ञेयमिति वक्तुमाह, भूयुगेति ।—भूयुगयोः भूयोः मध्यगतं
सन्धिस्थलावस्थितं शिखिविद्युत्सूर्यवत् अप्रिविद्यद्भास्कर इव जगतां भातिः प्रकाशो
यस्मात् तत् जगद्भाति जगत्प्रकाशके, “जगद्भासि” इति पाठेऽपि—जगत् भासयते यत्
तदिति व्युत्पत्त्या जगत्प्रकाशकमित्येवायं, यत् ज्योतिःस्वरूपं वस्तु, तथा च श्रुतिः,—
“येन सूर्यस्तपति तेजसेऽहः, न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्यती भान्ति
कुतोऽयमग्निस्तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति” इत्यादि ।
तत् चिन्मयं ज्ञानस्वरूपं ज्ञानगम्यमित्यर्थः, अखण्डज्ञानमयमित्यर्थो वा, यदुक्तं
गीतायां—“ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यम्” इति । परम् उत्कृष्टं ज्योतिः तेजःपदार्थः
ब्रह्मेति यावत्, केषाञ्चित् पुण्यदृशां स्वल्पसङ्ख्याकानां ज्ञानचक्षुषां सत्त्वभ्यः
पुनाति शोधयति पवित्रीकरोति इति व्युत्पत्त्या पुण्यशब्दः ज्ञानेऽपि वर्णते,
यतो ज्ञानमपि पवित्रताऽऽपादकं स्वयञ्च पवित्रं, यदुक्तं गीतायां—“न हि ज्ञानेन
सदृशं पवित्रमिह विद्यते” “ज्ञाननिर्भूतकल्पाः” इति । उन्मीलति प्रकाशं
धातीत्यर्थः ॥ ४८ ॥

परमानन्दैकरसं परमं ज्योतिःस्वभावमविकल्पम् ।

विगलित-सकलक्लेशं ज्ञेयं शान्तं स्व-संवेद्यम् ॥ ४९ ॥

तस्मिन्नाधाय मनः स्फुरदखिलं चिन्मयं जगत् पश्यन् ।

उत्सन्न-कर्मबन्धो ब्रह्मत्वमिहैव चाप्नोति ॥ ५० ॥

रागद्वेषविमुक्ताः सत्याचारा मृषारहिताः ।

सर्वत्र निर्विशेषा भवन्ति चिद्ब्रह्मसंस्पर्शात् ॥ ५१ ॥

तदेव विशिनष्टि, परमेति ।—परमानन्दे एव एकः केवलः रसः अनुरागो यस्य तत् आनन्दघनं निव्यानन्दमयमित्यर्थः, परमम् अनादि ज्योतिःस्वभावं स्वप्रकाशस्वरूपम् अविकल्पं नास्ति विकल्पः इदं वा इदं वा इत्यादिरूपः वितर्कः यस्मिन् तत् भातज्ज्ञेयादिविभागशून्यं विशेष्यविशेषणसम्बन्धरहितञ्च ब्रह्मात्मैकात्म्यविषयकमखण्डाकारकमेकविषयकज्ञानस्वरूपं, विगलितः खण्डितः सकलः क्लेशः यस्मिन् तत्, यस्मिन् प्राप्ते सर्वदुःखविनिवृत्तिः इत्यर्थः, ज्ञेयं ज्ञानगम्यं शान्तं ज्ञमगुणयुक्तं स्वसंवेद्यं स्वस्मिन् आत्मनि एव रुवेद्यम् अनुभवनीयम् । एवम्भूतं परं ज्योतिरिति पूर्वं सन्बन्धः ॥ ४९ ॥

इहैव मुक्तिभाक्तं प्रदर्शयति, तस्मिन्निति ।—तस्मिन् तथाभूते ज्योतिर्मये ब्रह्मणि मनः चित्तम् आधाय निविश्य जगत् इदं विश्वं स्फुरत् प्रकाशमानम् अखिलं समग्रं वस्तु यच्च तत् तथाभूतं, चिन्मयं ज्ञानस्वरूपं ब्रह्ममयं पश्यन् “सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म” “सर्वे खल्विदं ब्रह्म” इत्यादि श्रुतेः; उत्सन्नः विच्छिन्नः कर्मबन्धः शुभाशुभकर्मजनितबन्धनं यस्य तथाभूतः विमुक्तकर्मपाशः सन् इहैव तस्मिन्नेव संसारे, स्थितः इति शेषः, ब्रह्मत्वं ब्रह्मस्वरूपं जीवन्मुक्तत्वम् आप्नोति लभते ॥ ५० ॥

उत्सन्नब्रह्मभावस्य समदर्शितमाह, रागेति ।—चिद्ब्रह्मसंस्पर्शात् ज्ञान-स्वरूपब्रह्मसायुज्यलाभात् रागद्वेषाभ्याम् आसक्त्यनासक्तिभ्यां विमुक्ताः सत्याचाराः सद्भाः हितमार्गं सत्यं तदाचाराः साधुविहितानुष्ठानतत्पराः मृषारहिताः मिथ्याविवाज्जिताः सन्तः सर्वत्र सर्वेष्वेव वस्तुषु निर्विशेषाः भेदज्ञानविरहिताः भवन्ति । यदुक्तं गीतायां—“विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि । शुनि चैव शपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ इहैव तेजितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः । निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥” इति । सर्वभूतानि आत्मन् पश्यतीत्यर्थः ॥ ५१ ॥

तिष्ठन्धनिभादियुता विलसद्देहाः सदोदितामन्दाः ।

ब्रह्मस्वभावममृतं सम्प्राप्ताश्चैव कृतकत्वाः ॥ ५२ ॥

आयतनं विद्यानां मूलं धर्मार्थकाममोक्षाणाम् ।

श्रेयः परं किमन्यच्छरीरमजरामरं विहायैकम् ? ॥ ५३ ॥

प्रत्यक्षेण प्रमाणेन यो न जानाति सूतकम् ।

अदृष्टवियद् देवं कथं ज्ञास्यति चिन्मयम् ? ॥ ५४ ॥

ब्रह्मज्ञानिनोक्त्यर्थमाह, तिष्ठन्तीति ।—अमृतं सुधास्वरूपं परब्रह्मरूपं वा जन्ममरणविषयं वा ब्रह्मस्वभावं ब्रह्मत्वं जीवन्मुक्तत्वमिति यावत्, सम्प्राप्ताः आश्रिताः, जीवाः इति श्रेयः, धनिमादिभिः “धनिमा लुप्तिमा प्राप्तिः प्राप्ताम्प्य महिमा तथा । ईशित्वञ्च वशित्वञ्च तथा कामावसाप्रिता ॥” इत्यष्टैश्वर्यैः युताः उपेताः विलसद्देहाः दौर्गतशरीराः ज्योतिर्मयदेहाः इत्यर्थः, सदा नित्यम् उदितः प्रकाशितः आनन्दः ब्रह्मोपलब्धिजनितमुखं येषां ते तथाभूताः नित्यानन्दमयाः, अत एव कृतं सम्पन्नं कृत्यम् अनुष्ठेयकार्यं येषां ते तथाभूताश्च मोक्षलाभात् अवसितसर्वप्रयोजनाच्च सन्तः तिष्ठन्ति । जीवन्मुक्तेन किमपि अनासादितमिति भावः ॥ ५२ ॥

स्थिरशरीरस्य सर्वसम्पन्नमूलकत्वमाह, आयतनमिति ।—अत्र यदिति पदमध्याह्वयम् । यत् वस्तु विद्यानां श्रुतिस्मृत्यादिषु ज्ञानानां तत्त्वसाक्षात्कारहेतुभूतानां, यदुक्तं श्रुती—“विद्ययाऽमृतममृतं” इति । आयतनम् अधिष्ठानं तथा धर्मार्थकाममोक्षाणां मूलं चतुर्वर्गलाभस्य हेतुभूतं तत् तादृशम् एकं मुख्यम् अजरामरं जरासृज-विवर्जितं शरीरं विहाय त्यक्त्वा अन्यत् अपर परम् उत्कृष्टं श्रेयः शिवं सङ्गलायतनमित्यर्थः, किम् ? अस्तीति श्रेयः, न किमपीत्यर्थः । अजरामरशरीरेण सुबहुकालं ज्ञानादिसाधनद्वारा सर्वश्रेयोनिदानभूतं तत्त्वसाक्षात्कारं चतुर्वर्गफलञ्च यथा लभते, अणुस्थायिशरीरेण तु न तथा इति भावः ॥ ५३ ॥

रसमाहात्म्याद्यज्ञाने दोषमाह, प्रत्यक्षेणेति ।—यः प्रत्यक्षेण प्रमाणेन देहल्लैल्यादिकरणरूपाधिगीचरीभूतप्रमाणेन, सूतकं पारदं न जानाति, स न दृष्टे प्रत्यक्षीकृतं वियद् शरीरं यस्य तथाविधं स्थूलदृष्टेरविषयीभूतं निराकारं वा चिन्मयं ज्ञानस्वरूपं देवं ब्रह्म कथं ज्ञास्यति ? प्रत्यक्षप्रमाणसिद्धवस्तुज्ञानासमर्थस्य अप्रत्यक्षानुमेयब्रह्म ज्ञानमसम्भवमेवेति भावः ॥ ५४ ॥

यज्जरया जर्जरितं कास-श्वासादिदुःखविवशश्च ।

योग्यं तन्न समाधौ प्रतिष्ठत-बुद्धीन्द्रियप्रसरम् ॥ ५५ ॥

बालः षोडशवर्षो विषयरसास्वाद-लम्पटः परतः ।

यातविवेको बृद्धो मर्त्यः कथमाप्नुयात्मुक्तिम् ? ॥ ५६ ॥

ब्रजज्ञानलाभानुपयोगिदेहं विवर्णोति, यदिति ।—यत्, शरीरमिति शेषः, जरया जर्जरितं जीर्णं कासश्वासादिदुःखेन तत्तद्व्याधिजनितसुखाभावेन, अथवा—दुःखयतीति दुःखं व्याधिः, कासश्वासादिव्याधिना विवशम् अस्वाधीनञ्च विकलमिति यावत्, अत एव प्रतिष्ठतः निरुद्धः बुद्धीन्द्रियाणां अक्षरादीनां ज्ञानेन्द्रियाणां प्रसरः वेगः स्वरूपविषयाभिगमनशक्तिः यस्मिन् तादृशं तत् शरीरं समाधौ परमात्मनि एकाग्रतया चित्तसन्निवेशरूपध्याने योग्यम् उपयुक्तं न, भवतीति शेषः, जराव्याधिक्रिये देहे परमात्मनि एकाग्रतया मनःसमाधानासमर्थत्वादिति तात्पर्यम् ॥ ५५ ॥

दीर्घजीवनं विना मुक्तिलाभस्य असम्भावनामाह, बालः इति ।—षोडशवर्षः षोडशवर्षीयः षोडशवर्षे यावत् इत्यर्थः, मर्त्यः मानवः बालः शिशुः, बालावस्था मोक्षोपयोगिसाधनानर्हा इति भावः । परतः षोडशादूर्ध्वं सति यावत् मध्यवस्थाः इत्यर्थः, विषयाः सकृच्चन्दनवनितादयः एव रसाः आस्वाद्याः उपभोग्य-वस्तुनीत्यर्थः, तेषाम् आस्वादे उपभोगे रसानुभवे इत्यर्थः, लम्पटः आसक्तः विषयासक्तचित्ते तत्त्वज्ञानादयानवकाशत्वात् मध्यावस्थाऽपि न मोक्षार्हा, यदुक्तं श्रीमद्भागवते—“विषयासक्तचित्तानां कृष्णविशः सुदुस्तरः । वारुणीदिग्गतं वस्तु ब्रजज्ञेन्द्रो किमाप्नुयात् ?” ॥ इति । अत्र परतः शब्दः सम्यक्वापि उभेयः ; परतः सप्ततिवर्षादूर्ध्वं बृद्धः अविदः यातः अपगतः विवेकः यादार्थ्येन वस्तुस्वरूपावधारण-सामर्थ्ये यस्य तथाभूतः, बृद्धस्य जराव्याधिजीर्णदेहत्वात् ज्ञानेन्द्रियाणां शक्ति-वैकल्याच्च साऽवस्थाऽपि न मुक्तिसाधनार्हा इति भावः ; यदा—यातः प्राप्तः विवेकः यस्य स तथाभूतः, यदा विवेकवान् तदा बृद्धः, बृद्धस्य आयुषोऽस्यावशेषत्वात् जरादिजीर्णत्वात् इन्द्रियापाटवाच्च साऽप्यवस्था तदनर्हा इति भावः ; “जातविवेकः” इति पाठे तु—जातः उत्पन्नः सञ्जातविवेकः । कथं केन प्रकारेण मुक्तिम् आप्नुयात् प्राप्नुयात् ? न केनापीत्यर्थः । षोडशवर्षादीनां बालादित्ये प्रमाणमाह अत्र, —“आ षोडशाहवेदबालः पञ्चविंशौ युवा नरः । मध्यमः सप्ततिर्यावत् परतो बृद्ध उच्यते ॥” इति । बाल्यशौवनयोश्चित्तविक्षेपकरत्वात् न मुक्तिसाधनयोग्यता, वारुण्यस्य

अस्मिन्नेव शरीरे येषां परमात्मनो न संवेदः ।

देहत्यागादूर्ध्वं तेषां तद्ब्रह्म दूरतरम् ॥ ५७ ॥

ब्रह्मादयो यतन्ते तस्मिन् दिव्यां तनुं समाश्रित्य ।

जीवन्मुक्ताश्चान्ये कल्पान्तस्थायिनो मुनयः ॥ ५८ ॥

तस्माज्जीवन्मुक्तिं समीहमानेन योगिना प्रथमम् ।

दिव्या तनुर्विधेया हरगौरीसृष्टिसंयोगात् ॥ ५९ ॥

तु चित्तस्थैर्यकरत्वेन मुक्तिसाधनाहंत्वेऽपि जरायाक्रमणेन मनःक्षोभात् न मोक्ष-
साधनोपयोगित्वम्, अतो यथा जरा नाक्रामेत् बार्ज्जक्यागमनात् प्रागेव तथा यति-
तन्वमित्याशयः ॥ ५६ ॥

तत्त्वज्ञानमेव मुक्तिहारमित्याशयेनाह, अस्मिन्निति ।—अस्मिन्नेव शरीरे परिदृश्य-
मानस्थूलशरीरे एव येषां परमात्मनः “आत्माऽस्य जगतो यस्मात् सर्वोत्कर्षा-
श्रयो मतः । परमात्मा परं ब्रह्म तेन वेदे प्रकीर्तितः ॥” इत्युक्तस्वरूपस्य
परब्रह्मणः संवेदः सम्यक् ज्ञानं न, भवेदिति शेषः, तेषाम् अनात्मज्ञानां देह-
त्यागादूर्ध्वं मरणानन्तरं तत् ब्रह्म दूरतरम् अतिशयेन दूरे वर्तन्ते, वर्त्तमानदेहे
साधनादिना ब्रह्मज्ञानानुदये मरणान्तरं साधनानुपयोगिदेहे तत्प्राप्तिसम्भावना
सुदूरपराङ्मता एव इत्यर्थः ॥ ५७ ॥

अस्तु, ब्रह्माप्राप्तौ का क्षतिः ? इत्याशङ्क्याह, ब्रह्मादयः इति ।—ब्रह्मादयः तथा
अन्ये च कल्पान्तस्थायिनः आ प्रलयवर्तिनः जीवन्मुक्ताः कृतात्मसाक्षात्काराः प्रारम्भ-
कर्मक्षयपर्यन्तं सुषुप्तिवत् व्यवहर्तारः आत्मज्ञाः इति यावत्, मुनयः दिव्यां
ज्योतिष्मतीं तनुं देहं समाश्रित्य अवलम्ब्य धृत्वा इत्यर्थः, रससेवनेन इति
भावः, तस्मिन् ब्रह्मणि यतन्ते तद्ब्रह्मलाभार्थम् आयस्यन्ते इत्यर्थः । आत्मज्ञा ब्रह्मादयो-
ऽपि यस्य महिमानं ज्ञातुमशक्नुवन्तः रससेवनेन सुचिरमायुर्लब्ध्वा यन्नाभायै यतन्ते
तदज्ञानलाभायै मानवैरवश्यमेव प्रयत्नो विधेयः इति तात्पर्यम् ॥ ५८ ॥

फलितमाह, तस्मादिति ।—तस्मात् ब्रह्मादीनामपि आयासलभ्यत्वात्
जीवन्मुक्तिं कर्तृत्वभोक्त्वादिवन्धात् जीवन् एव बन्धनिवृत्तिं समीहमानेन अभि-
लषता तन्नाभायै चेष्टमानेनेत्यर्थः, जीवेनेति शेषः, योगिना सुखदःखादिषु
सर्वभूतेषु च समदर्शिनः सता प्रथमम् आदावेव हरगौरीयोः शिवयोः ये सृष्टी
सृज्येते त्यज्येते इति सृष्टी शुक्तशोचिते इत्यर्थः, यदा—सृज्यते निर्मावते उत्पद्यते

अथ रसोत्पत्तिवर्णनम् ।—

शैलेऽस्मिन् शिवयोः प्रीत्या परस्परजिगीषया ।

सम्प्रवृत्ते च सम्भोगे त्रिलोकीक्षोभकारिणि ॥ ६० ॥

विनिवारयितुं वङ्गिः सम्भोगं प्रेषितः सुरैः ।

काङ्क्षमाणैस्तयोः पुत्रं तारकासुरमारकम् ॥ ६१ ॥

कपोतरूपिणं प्राप्तं हिमवत्कन्दरेऽनलम् ।

अपक्षिभावसङ्कुब्धं स्मरलीलाविलोकिनम् ॥ ६२ ॥

इत्यर्थः. आभ्यामिति व्युत्पत्त्या सृष्टिशब्देन जीवसृष्टिकारणं शक्तशोणितमुच्यते. तच्च रसगन्धकरूपम् ; यदुक्तं—“पारदं शिवबोध्यं च दुर्गाबोजस्य गन्धकम्” इति । तयोः सम्भोगात् मूर्च्छनात् सम्मेलनादित्यर्थः. रसगन्धकयोर्मेलनजनितौषधविशेषमलम्बादिति भावः. दिव्या ज्योतिर्मयी अजरामररूपा तनुः देहः विधेया करणीया । आदौ रसादिसंवेनेन देहस्थैर्यं विधाय पश्चात् मुक्तिलाभाय यतितव्यमिति भावः ॥ ५८ ॥

रसोत्पत्तिं वर्णयितुं हरगौरीसम्भोगं प्रदर्शयति पञ्चभिः श्लोकेः. शैले इत्यादिभिः । —अस्मिन् शैले हिमाचले शिवयोः हरयार्वन्धोः प्रीत्या प्रीतिवशीन, न तु विद्वेषेण इति भावः. परस्परजिगीषया अन्योऽन्यं जेतुमिच्छया त्रिलोकीक्षोभकारिणि त्रिलोक्याः त्रिभुवनस्य क्षोभकारिणि चासत्त्वविधायिनि सम्भोगे निधुवनव्यापारे सम्प्रवृत्ते प्रारब्धे सति, तारकासुरमारकं तटाव्यदैत्यविनाशनं तयोः समानद्वैतशयोः पुत्रं काङ्क्षमाणैः अभिलषङ्गिः सुरैः देवैः सम्भोगं विनिवारयितुं प्रतिषेधयितुं, वङ्गिः प्रेषितः प्रेरितः । पुरा तारकासुरपीड्यमाना देवाः तद्दिनाशकं शिवयोः पुत्रमेकं काङ्क्षन्तः अतिष्ठन् ; ततश्च परस्परजिगीषाप्रवृत्तयोस्तयोः सम्भोगसमाप्तिविलम्बहेतुकपुत्रीत्यतिविलम्बमाशङ्कमानाः सन्तः, सत्वरं सम्भोगसमापनमभिसन्धाय हुताशनं प्रेषितवन्तः इत्यर्थः ॥ ६०।६१ ॥

कपोतिति ।—कपोतरूपिणं पारावतरूपधारिणं हिमवत्कन्दरे हिमाचलगुहायां प्राप्तं समागतम् अपक्षिभावसङ्कुब्धं न पक्षिभावेन तिर्यग्योनिज-स्वभावत्वेन सङ्कुब्धः सङ्कोभः सङ्कोचः यस्य तम् ; संपूर्व-क्षुभधातोर्भावविहित-“त”-प्रत्ययेन निपातने सिद्धत्वात् सङ्कुब्धशब्देन सङ्कोभः गम्यते ; यथा—अपक्षिभावेन पक्षिभावाद्वत्वेन द्विभावेन सङ्कुब्धं कारव्यापारं देहा सङ्कुचितं सञ्जातवाच्यं वा

तं दृष्ट्वा लज्जितः शम्भुर्विरतः सुरतात्तदा ।
 प्रच्युतश्चरमो धातुर्गृहीतः शूलपाणिना ॥ ६३ ॥
 प्रक्षिप्तो वदने वज्रेर्गङ्गायामपि सोऽपतत् ।
 वह्निः क्षिप्तस्तथा सोऽपि परिदन्दह्यमानया ॥ ६४ ॥
 सञ्जातास्तन्मलान्नानाधातवः सिद्धिहेतवः ।
 यावदग्निमुखाद्रेतो न्यपतद्भूरिसारतः ॥ ६५ ॥
 शतयोजनगम्भीरान् कृत्वा कूपान्स्तु पञ्च च ।
 तदाप्रभृति कूपस्थं तद्रेतः पञ्चधाऽभवत् ॥ ६६ ॥

अथ रसस्य पञ्चविधत्वकथनम् ।—

रसो रसेन्द्रः सूतश्च पारदो मिश्रकस्तथा ।
 इति पञ्चविधो जातः क्षेत्रमेदेन शम्भुजः ॥ ६७ ॥

अरलीलाविलोकिनं कामक्रीडादर्शिनं तम् अनलं दृष्ट्वा, शम्भुः लज्जितः सन् सुरतात्
 विरतः प्रतिनिवृत्तः अभूत् । तदा सुरतविरतिसमये प्रच्युतः अरितः चरमो धातुः
 रसादिसप्तधातुमध्ये अन्तर्धातुः शुक्रम् इति यावत्, शूलपाणिना शङ्करेण गृहीतः
 धृतः, ततः वज्रेः वदने प्रक्षिप्तः निक्षिप्तः अपि, शूलपाणिना इति शेषः, सः धातुः
 गङ्गायां गङ्गानीरे अपतत्, वज्रिमुखोद्भूतः सन् इति भावः । तथा गङ्गाया अपि
 परि सर्वतोभावेन दन्दह्यमानया दाहेन पीड्यमानया सत्या, तस्य शिवतेजस्वात् ;
 सः वह्निः तटदेशे इत्यर्थः, क्षिप्तः त्यक्तः ॥ ६२—६४ ॥

रसोत्पत्तिं तथा तस्य पञ्चधाभवने हेतुमाह, सञ्जाताः इति ।—तस्य रेतसः
 मलात् मलभागात् सिद्धिहेतवः ईदृख्यैरुपसिद्धिप्रदाः नानाधातवः रसादयः
 सञ्जाताः उत्पन्नाः । रेतः शिवबोध्यम् अग्निमुखान् यावत् यदैव न्यपतत् अभवत्
 तदाप्रभृति तदारभ्य भूरिसारतः प्रभूतस्त्रिराश्वत्तात् गुरुमारत्वादित्यर्थः, शत-
 योजनगम्भीरान् अतुःशतकोशगम्भीरान् पञ्च कूपान् कृत्वा तत् रेतः कूपस्थं
 पूर्वोक्तपञ्चकूपमध्ये अवस्थितं सत् पञ्चधा कूपपञ्चकेषु अवस्थानवशात् पञ्चप्रकारम्
 अभवत् । यथा किञ्चित् गुरुभारं वस्तु उच्यते तदा वेगेन पतत् भूमौ गाढलीनं सत्
 तिष्ठति, तथा अग्निमुखमष्टं पञ्चधा विभक्तं रेतः गुरुत्वात् भूमौ पञ्च गम्भीरकूपान्
 कृत्वा तत्रानर्लीनमतिष्ठत् इत्यर्थः ॥ ६५।६६ ॥

रसभेदं विवक्षीति, रसः इति ।—शम्भुजः शिवाकृत्तवः शिवबोध्यमिति तात्पर्यं,

अथ रसादीनां लक्षणानि ।—

रसो रक्तो विनिर्मुक्तः सर्वदोषै रसायनः ।

सञ्ज्ञातास्त्रिदशास्तेन नीरुजा निर्जरामराः ॥ ६८ ॥

रसेन्द्रो दाषनिर्मुक्तः श्यावो हृद्योऽतिनिर्मलः ।

रसायनोऽभवंस्तेन नागा मृत्युजरोऽभिज्ञताः ॥ ६९ ॥

चित्तभेदेन अविष्टानभूमिगुणप्रभेदेन रसः रसेन्द्रः सूतः पारदः तथा मिश्रक इति पञ्चविधः पञ्चप्रकारः जातः ॥ ६७ ॥

तत्र आदौ रसस्य लक्षणं गुणांशद्वयं, रसः इति ।—रसः पञ्चधा विभक्त्य रेतसः रसनामको भेदः रक्तः रक्तवर्णः सर्वदोषैः नागवक्त्रादिभिः नैसर्गिकदोषैः विनिर्मुक्तः विनिर्जितः तथा रसायनः रसानां प्रशस्तरसादिधातूनाम् अयनं प्राप्तिः यस्मात् सः तथाभूतः ; आद्यधातुत्वात् रसस्य प्रधान्येन तद्गुणत्वादेव रसायनशब्देन रक्तादीनामाप्ययनं बोध्यम् । रसायनलक्षणं यथा अरकचिकित्सिते—“यज्जराव्याधिर्विभ्रंवि भेषजं तद्रसायनम् ।” अन्यच्च—“स्वस्वस्थौजस्तं यत् तदृथं तद्रसायनम्” इति । तेन च दीर्घायुदादिनामः । अन्यदपि लक्षणं यथा वैद्यकसङ्ग्रहे द्वितीयोध्याये—“देहस्येन्द्रियदन्तानां हृदीकरणमेव च । बलीपलितखालित्ववर्जनेऽपि च या क्रिया । पूर्ववैद्यप्रणीतं हि तद्रसायनमुच्यते ॥” इति । तत्फलं यथा सौश्रुतसूत्रे—“वयःस्थापनमायुर्मेधावशकरं रोगापहरणसमर्थञ्च” इति । तेन तद्रससेवनेन विदशाः तिस्रः दशाः अवस्थाः बाल्यकैशोरयौवनरूपाः येषां ते तथाभूताः देवाः नीरुजाः व्याधिरुद्धिताः तथा निर्जरामराः जराशून्यविवर्जिताः सञ्ज्ञाताः अभवन्निवर्थः । रससेवनेनैव देवाः विदशनिर्जरामरादिसंज्ञां लेभिरे इति तात्पर्यम् ॥ ६८ ॥

क्रमप्राप्तस्य रसेन्द्रस्य लक्षणवदिकमाह, रसेन्द्र इति ।—रसेन्द्रः पूर्ववत् रसेन्द्रनामको भेदः दोषनिर्मुक्तः नागवक्त्रादिदोषविनिर्जितः श्यावः शुक्लानुविहङ्गवर्णः शाकवर्ण इति लोके, हृद्यः स्नेहविनिर्जितः अति अतिशयेन निर्मलः शुद्धः मालिन्यविनिर्जितः रसायनश्च । तेन रसेन्द्रसेवनेन नागाः नागवाक्यतिफण्यलाङ्गूलविशिष्टबाहुकोप्रभृतयः सर्पाः मृत्युजराभ्याम् उज्जिताः त्यक्ताः जराशून्यपरिशुद्धा इत्यर्थः, अभवन् । रससेवनेन इन्द्रादयो देवः तथा रसेन्द्रसेवनेन बाहुकादयो नागाः निर्जरामरा अभवन् इति फलितम् ॥ ६९ ॥

देवैर्नागैश्च तौ कूपौ पुरितौ सृजिष्यमभिः ।

तदाप्रभृति लोकानां तौ जातावतिदुर्लभौ ॥ ७० ॥

ईषत्पीतश्च रुचाङ्गो दोषयुक्तश्च सूतकः ।

दशाष्टसंस्कृतैः सिद्धो देहं लोहं करोति सः ॥ ७१ ॥

अथान्यकूपजः सोऽपि चञ्चलः श्वेतवर्णवान् ।

पारदो विविधैर्योगैः सर्वरोगहरः स हि ॥ ७२ ॥

रसरसेन्द्रोर्दुष्पाप्यतामाह, देवैरिति ।—देवैः इन्द्रादिभिः नागैः वासुकी-
प्रभृतिभिश्च तौ कूपौ रसरसेन्द्रपुष्पकूपौ सृजिः सृष्टिकाभिः तथा अश्वभिः प्रसरस्त्रखैः
पुरितौ परिपूर्णौ कृतौ भूमभोजितौ इत्यर्थः, मन्थकर्मकण्डूपाशङ्कया इति भावः ।
तदाप्रभृति तौ रसरसेन्द्रौ लोकानां मन्थवासिनामित्यर्थः, अतिदुर्लभौ एकान्तदुष्पापौ
जातौ । रसरसेन्द्रौ सुप्राप्यौ चेत् मानवासस्त्रेवनेन देवनागसदृशाः भविष्यन्तीत्याशङ्क्य
देवनागैः तत्कूपौ रुद्धौ इति भावः ॥ ७० ॥

पूर्वरोत्या सूतकस्य लक्षणं गुणांवाह, ईषदिति ।—सूतकः पञ्चप्रकारस्य तस्य
सूतनामकभेदविशिषः ईषत् पीतः अत्यहरिद्राभः रुचाङ्गः निःक्लेहावयवः तथा दोष-
युक्तश्च नामवङ्गादिदोषलः ; रसदोषा यथा रसेन्द्रसारसङ्गुहे—“नागो वङ्गो मल्लो वज्रि-
यास्त्रल्यश्च विधं गिरिः । असह्याग्निमंदादोषा निसर्गाः पारदे स्थिताः ॥” इति । सः
इत्यभूतः सूतकः दशाष्टसंस्कृतैः स्वेदनाद्यष्टादशसंस्कारैः सिद्धः निष्पन्नः कर्मोपयोगि-
गुणसम्पन्नः सन् इत्यर्थः ; अष्टादशसंस्कारा यथा रसेन्द्रचित्तान्तौ—“स्वेदनमर्दन-
मूर्च्छनोत्थापन-पातनबोधननियमन-दोषनानुवासनगगनादिषासुप्रमाणचारणगर्भद्रुति-
ज्ञाहृद्रुतियोगनारणरञ्जनसारणकान्धवेषभक्षणातीति ।” यद्यपि स्वेदनादिभक्षणात्मे-
रेतेकनधिंशतिसंस्कारा भवन्ति, तथाऽपि गर्भद्रुतिवाह्यद्रुत्योः द्रुतित्वसामान्यात् एकत्वं
परिगणय्याम संस्काराणाम् अष्टादशविधत्वं निर्दिष्टम् । देहं लोहं लोहवत् स्थिर-
मित्यर्थः, करोति स्वेदनादिकर्मसंयुतस्यैव देहः लोहवदस्यो भवतीत्यर्थः ॥ ७१ ॥

कमप्राप्तपारदस्य लक्षणादिकमाह, अथेति ।—अथशब्दोऽत्र सूचनायकः वाक्य-
प्रारम्भे इत्यर्थः, अन्यकूपजः क्षेपभेदेन पञ्चधा विभक्तत्वात् कूपान्तरावस्थितः सः शम्भुजः
पारदोऽपि पारदः पुनः अञ्चलः द्रवत्वादस्थिरः श्वेतवर्णवान् शुभवर्णविशिष्टः । स हि
पारदः विविधैः योगैः नानाविधौषधसंयोगैः अष्टादशसंस्काररूपोपायैर्वा सर्वरोगहरः
निखिन्नश्याधिनाशनः, भवतीति शेषः ॥ ७२ ॥

मयूरचन्द्रिकाच्छायः स रसो मिश्रको मतः ।

सोऽप्यष्टादशसंस्कार-युक्तश्चातीव सिद्धिदः ॥ ७३ ॥

त्रयः सूतादयः सूताः सर्वसिद्धिकरा अपि ।

निजकर्म-विनिर्माणैः शक्तिमन्तोऽतिमात्रया ॥ ७४ ॥

एतां रससमुत्पत्तिं यो जानाति स धार्मिकः ।

आयुरारोग्य-सन्तानं रससिद्धिञ्च विन्दति ॥ ७५ ॥

अथ रसादीनां निरुक्तिः ।—

रसनात् सर्वधातूनां रस इत्यभिधीयते ।

जरारुद्ध्यत्यनाशाय रस्यते वा रसो मतः ॥ ७६ ॥

अन्यस्य मिश्रकस्य लक्षणं गुणांशदः, मयूरेति ।—मयूरस्य चन्द्रिका मेषकः पुच्छस्थानानावर्णविशिष्टचन्द्राकृतिपदार्थविशेषः सा इव ह्याया कान्तिः यस्य सः तथाभूतः सः पूर्वोक्तः रसः शिववीर्यं मिश्रकः मिश्रकनामा भेदः सतः कथितः इत्यर्थः, सोऽपि अष्टादशसंस्कारयुक्तः पूर्वोक्ताष्टादशसंस्कारसंस्कृतः सन् अतीव सिद्धिदः देहस्थैर्यादिसिद्धिप्रदः, भवतीति शेषः ॥ ७३ ॥

सूनादीनां सिद्धिप्रदत्वमाह, तयः इति ।—सूतादयः त्रयः सूतपारदमिश्रकाह्वाः त्रिविधाः सूताः रसाः अपि, (यद्यपि सूतशब्दः चेत्यभेदेन पञ्चधा विभक्तस्य शिवरेतसः अन्यतमभेदविशेषार्थकः, तथाऽपि सर्वेषामेव तज्जातीयानां सामान्यतः देहस्थैर्येकप- सिद्धिपदत्वेन सूतसंज्ञा न विरुध्यते, यथा दण्डशब्दः दण्डविशेषे दण्डनामौ च वस्तुं तद्वदिहापि बोध्यम्) निजकर्मविनिर्माणैः निजस्य स्वस्य यत् कर्म स्वेदनाद्यष्टादश- संस्काररूपं तस्य विनिर्माणैः करणसौष्टवैरित्यर्थः, अतिसात्रया शक्तिमन्तः प्रभूतवीर्य- ज्ञातिनः सन्तः, सर्वसिद्धिकराः सर्वविधसिद्धिप्रदाः, भवन्तीति शेषः । ते स्वेदनादि- कर्मणा एव अधिककार्मुकाः सिद्धिप्रदाश्च स्मरित्यर्थः ॥ ७४ ॥

रसोत्पत्तिज्ञाने फलमाह, एतामिति ।—यः जनः एतां सत्तत्त्वां रससमुत्- पत्तिं रसप्रादुर्भावं जानाति, सः जनः धार्मिकः आयुषः आरोग्यस्य च सन्तानं विनाशं दोषांशुः दोषारोग्यश्च तथा रससिद्धिं रसशोषनादिविषये साफल्यञ्च विन्दति लभते ॥ ७५ ॥

रसस्य निरुक्तिमाह, रसनादिति ।—सर्वेषां धातूनां स्वसादीनां रसनात् दूषोक्तस्यात् वीर्याधानात् वा, “अक्षरादौ विभे वीर्ये गुणे राने द्रवे रसः”

रसोपरसराजत्वादसेन्द्र इति कीर्तितः ।

देहलोहमयीं सिद्धिं सूते सूतस्ततः स्मृतः ॥ ७० ॥

रोग-पङ्काब्धिमग्नानां पारदानाञ्च पारदः ।

सर्वधातुगतं तेजो मिश्रितं यत्र तिष्ठति ।

तस्मात् स मिश्रकः प्रोक्तो नानारूपफलप्रदः ॥ ७८ ॥

इत्यमरोक्तेः रसयति द्रवीकरोति वीर्यमापादयति वा इति व्युत्पत्त्या रस इति अभिधीयते ; अथवा—जरारुक्षुत्याशय जरारोगमरणनिवारणाय रस्यते समर्थेन भूयते इति हेतोः रसः सतः कथितः । रसशब्दस्य निरुक्तिरन्यत्रापि उक्ता, यथा रसेश्वरदर्शने—“मम देहरसो यस्माद्रससोनायमुच्यते” इति ॥ ७६ ॥

रसेन्द्रसूतयोः निरुक्तिमाह, रसेति ।—रसेषु अथादिषु अष्टमहारसेषु तथा उपरसेषु गन्धादिषु अष्टसु च राजते इति तथाभूतत्वात् शब्दत्वात् रसेन्द्रः रसश्रेष्ठः इति कीर्तितः कथितः । रसेन्द्रस्य कर्म यथा रसेश्वरदर्शने—“अजरामरी-करणसमर्थश्च रसेन्द्र एव तदाह—एकोऽसौ रसरजः शरीरमजरामरं कुर्वते” इति । • अथादीनां महारसत्वं गन्धादीनामुपरसत्वञ्च इहेवाये वक्ष्यति । देहस्य लोहमयीं लोहवत् दृढीकरणरूपां सिद्धिं साफल्यं सूते जनयति यतः ततः सूतः स्मृतः कथितः । तथा च रसेश्वरदर्शने—“लोहवेधन्वया देव ! यद्दत्तं परमीश्वरितः । तद्देहवेधमाचक्ष्व येन स्यात् खेचरी यतिः ॥ यथा लोहे तथा देहे कर्तव्यः सूतकः सता । समानं कुर्वते देवि ! प्रत्ययं देहलोहयोः । पूर्वं लोहे परीक्ष्येत पश्चाद्देहे प्रयोजयेत् ॥” इति ॥ ७७ ॥

पारदमिश्रकयोर्निरुक्तिमाह, रगेति ।—रोगाः एव पङ्काब्धयः कर्दमसागराः दुरुत्तरणीयत्वात्, तत्र मग्नानां दुस्तरव्याधिसागरे निमज्जितानां लोकानां पारदानात् व्याघ्रुत्तरणरूपकूलायधप्रदायकत्वात् पारदः, कीर्तित इति शेषः । रसेश्वरदर्शनेऽपि उक्तं यथा—“रसस्य पारदत्वं संसारपरपारप्रापणहेतुत्वेन, तदुक्तं—‘संसारस्य परं पारं दत्तेऽसौ पारदः स्मृतः । पारदी गदितो यस्मात् पाराधे साधकीत्तमैः । गुप्तेऽयं मन्त्रो देवि । मम प्रत्यङ्मुखः ॥’ इति ।” यत्र यस्मिन् रसे सर्वधातुगतं सर्वधातुस्थितं तेजः वीर्यं मिश्रितं मिश्रितम् एकीभूतं सदिति यावत्, तिष्ठति, नानारूपफलप्रदः बहुविधरोगनाशनः च तस्मात् सर्वधातवतेजःसम्प्लेखनात् मिश्रकः मिश्रीभूतः प्रोक्तः सर्वेषां धातूनां हारः मिश्रके तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ७८ ॥

एवम्भूतस्य सूतस्य मर्त्यमृत्युगदच्छिदः ।

प्रभावात्मानुषा जाता देवतुल्यबलायुषः ॥ ७८ ॥

अथ रससंस्कारकारणम् ।—

तान् दृष्ट्वाऽभ्यर्थितैः रुद्रैः शक्रेण तदनन्तरम् ।

दोषैश्च कञ्चुकाभिश्च रसराजो नियोजितः ॥

तदाप्रभृति सूतोऽसौ नैव सिध्यत्यसंस्कृतः ॥ ८० ॥

जलगो जलरूपेण त्वरितो हंसगो भवेत् ।

मलगो मलरूपेण सधूमो धूमगो भवेत् ॥ ८१ ॥

अन्या जीवगतिर्देवी जीवोऽण्डादिव निष्क्रमेत् ।

स तांश्च जीवयिज्जीवांस्तेन जीवो रसः स्मृतः ॥ ८२ ॥

इदानीं सर्वेषां सूतजातीयानां सामान्यतो गुणमाह, एवमिति ।—मर्त्यानां मानुषाणां मृत्युरेव गदः तं मरणरूपव्याधिं, मृदा—मृत्युगदौ मृत्युज्वरादिरोगौ क्लिन्धीति मृत्युगदच्छिदः तस्य मर्त्यमृत्युगदच्छिदः एवम्भूतस्य उत्तलक्षणस्य सूतस्य पारदसामान्यस्य प्रभावात् सामर्थ्यात् मानुषा देवानां तुल्ये सद्गुणे, बलायुषौ शक्तिजीवनकालौ येषां तादृशाः जरामृत्युविवर्जिता इत्यर्थः, जाताः ॥ ७८ ॥

पारदस्य दोषयोगकारणमाह, तानिति ।—तदनन्तरं सम्भीगावरतिकाले शक्र-
पञ्चवनानन्तरं रसरसिन्दुपूर्णकूपयोः निरोधानन्तरं वा तान् सूतादीन् वीन् सूतस्य
तथामृतगुणान् वा दृष्ट्वा शक्रेण इन्द्रेण अभ्यर्थितेन अभि सर्वतोभावेन अर्थितेन
प्राथितेन अनायाससंशयशेदसौ सर्व एव मर्त्याः एतत्क्षेपेन जरामरणविवर्जिताः
देवीपमा भविष्यन्ति देवनरयोर्नां काऽपि भेदो वर्त्तिष्यते अतोऽसं तथा कुरु यथा
आयाससंशया भवदित्येवंप्रकारेण शक्रकर्मकथाचितेन रुद्रेण शङ्करेण रसराजः पारदः
दोषैः नागवज्रादिभिरष्टभिर्दोषैः कञ्चुकाभिः प्रपञ्चादिभिः सप्तभिः दोषविशेषैः
करणैः नियोजितः संयोजितः सङ्गमित इत्यर्थः । कञ्चुका यथा—“परपटी
पाटलैर्भेदौ द्रावी मलकरी तथा । अन्यकरी तथा ध्वाङ्गी विजिघ्राः सप्त कञ्चुकाः ॥”
इति । तदिति ।—तदाप्रभृति तदारभ्य असौ सूतः असंस्कृतः मूर्च्छनादिभिः
संस्कारैः अशीधितयेत् नैव सिध्यति कार्यासिद्धिं प्रददाति ॥ ८० ॥

रसस्य पञ्चविधगतिमाह, जलग इति ।—जलरूपेण द्रवत्वेन, जलगः १ जलस्य

चतस्रो गतयो दृश्या अदृश्या पञ्चमी गतिः ।

मन्त्रध्यानादिना तस्य कथ्यते पञ्चमी गतिः ॥ ८३ ॥

इति भिन्नगतित्वाच्च सूतराजस्य दुर्लभः ।

संस्कारस्तस्य भिषजा निपुणेन तु रक्षयेत् ॥ ८४ ॥

सह गमनशीलः भवेत्, रसस्य चूर्णप्रायोऽतिमुष्माश्च इति भावः ; त्वरितः चञ्चलः चाचक्ष्यादित्यर्थः, हंसगः हंसवद्गमनशीलः भवेत्, मलरूपेण मलवत्वात् मलगः मलेन सह मिश्रितः दीर्घसंश्लिष्टः भवेत्, सधूमः वज्रिदृष्टत्वात् धूमगः धूमेन सह गमनशीलः सङ्कटयन्त्रभावः भवेत्, अन्या अपरा पञ्चमीत्यर्थः, देवी अदृश्यरूपा जीवस्य रसस्य गतिः गमनम्, अस्तीति शेषः ; तथा गत्या अण्डात् देहकपकोषात् जीवः आत्मा इव निष्क्रमेत्, रस इति भावः ; केन पथा देहात् जीवो निर्गच्छति तत् यथा न दृश्यते तथा पारदस्य पञ्चमी गतिरपि न ज्ञातुं शक्यते इत्यर्थः । पूर्वश्लोके जीवगतिशब्देन रसगतिरिति प्रदर्शितं, जीवशब्दस्य रसार्थत्वे हेतुमाह, स इति ।—सः रसः तान् जीवान् जीवयेत् जराभरणादिविनाशनाशकारा दीर्घजीवनं प्रदापयेत् तेन हेतुना रसः जीवः जीवयतीति व्युत्पत्त्या जीवनदायकः स्रुतः कथितः ॥ ८१।८२ ॥

पञ्चमगतिरीधनप्रकारमाह, चतस्र इति ।—चतस्रः जलग-हंसग-मलग-धूमग-रूपाः गतयः दृश्याः द्रष्टुं शक्याः पञ्चमी अण्डाज्जीवगतिरिव गतिः अदृश्या द्रष्टुमशक्या अतुर्विधगमनं नेत्रविषयीभूतं पञ्चमगतिस्तु न शक्या चक्षुषा द्रष्टुमित्यर्थः । तस्य सूतस्य पञ्चमी गतिः मन्त्रध्यानादिना रसरक्षामन्त्र-रसध्यानादिना कर्मणा कथ्यते संश्रम्यते निवार्यते इत्यर्थः । रसरक्षामन्त्रो यथा रसेन्द्रसारसङ्गृह्णै—“ओम् अघोरिभ्योऽघ घोरेभ्यः घोराघोरतरिभ्यश्च । सर्वतः सर्वसर्वेभ्यो नमस्ते रुद्ररुद्रिभ्यः ॥” इति । ध्यानप्रकारी यथा रसेन्द्रचिन्तामणौ—“हृद्गोमर्कणिकाऽन्तःस्थं रसेन्द्रं परमेश्वरि ! । अरन् विमुच्यते पापैः सख्या जन्मान्तरार्जितैः ॥” इति ॥ ८३ ॥

इतीति ।—इति उक्तप्रकारेण, भिन्नगतित्वात् पृथक् पृथक् गतिविशिष्टत्वात् तस्य सूतराजस्य संस्कारः मूर्च्छनादिना गुणाधानविशेषः निपुणेन कुशलिना अभिज्ञेनेति यावत्, भिषजा तु भिषजा अपि दुर्लभः दुःखेन स्वस्य साधयितुमित्यर्थः, शक्यः दुःसाध्यः इत्यर्थः, अतः रक्षयेत् पालयेत्, भिषक् तमिति शेषः, बहुविधगतिमन्त्र-स्वभावत्वान् तत्संस्कारस्य दुःसाध्यतया अभिज्ञेन भिषजा यवतः स संस्कारः परिपालनीय इत्यर्थः ॥ ८४ ॥

अथ रसस्य स्थानान्तरगतिवर्णनम् ।—

प्रथमे रजसि स्नातां ह्यारूढां खलङ्कृताम् ।

वीक्षमाणां बधूं दृष्ट्वा जिष्टक्षुः कूपगो रसः ॥ ८५ ॥

उद्गच्छति जवात् साऽपि तं दृष्ट्वा याति वेगतः ।

अनुगच्छति तां सूतः सीमानं योजनोन्मितम् ॥ ८६ ॥

प्रत्यायाति ततः कूपं वेगतः शिवसन्धवः ।

मार्गनिर्मितगर्त्तेषु स्थितं गृह्णन्ति पारदम् ॥ ८७ ॥

अथ द्विकुलीत्यतिः ।—

पतितो दरदे देशे गौरवाद्भ्रिवक्त्रतः ।

स रसो भूतले लीनस्तत्तद्देशनिवासिनः ॥

तां मृदं पातनायन्त्रे क्षिप्त्वा सूतं हरन्ति च ॥ ८८ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सुनोवांम्भटाचार्यस्य कृतो रसरत्नसमुच्चये रसोत्पत्तिर्नाम

अधमोऽध्यायः ॥ १ ॥

पारदस्य स्थानान्तरगमनमाह, प्रथमे इति ।—कूपगः कूपस्थः रसः प्रथमे रजसि स्नातान् आचक्रतुस्नातां ह्यारूढान् अथारूढां खलङ्कृतां बस्त्रालङ्कारादिभिर्भूषणा वीक्षमाणां कौतुकवशेन सुश्रुतं पारदं पश्यन्तो बधूं काचन पर्वतवासिनी स्त्रियं दृष्ट्वा जिष्टक्षुः तां गृहीतुमिच्छुः सन् जवात् वेगात् उद्गच्छति ऊर्ध्वम् उत्तिष्ठति; सा बधूरपि तं रसं दृष्ट्वा वेगतः वेगेन याति पलायते इत्यर्थः । सूतः योजनोन्मितं सीमानं क्रोशचतुष्टयपरिमितभूमिं तां बधूम् अनुगच्छति अनुयाति तत्पश्चात् आवतीत्यर्थः । ततः तस्याः पलायनानन्तरं शिवसन्धवः शिवाङ्गनः सूत इत्यर्थः, वेगतः कूपं प्रत्यायाति स्वाधिष्ठानकूपं प्रति आगच्छति, यावदिति शिवः, तावत् मार्गे पथि निर्मितगर्त्तेषु तद्देशवासिभिः कृतगर्त्तेषु स्थितं पतितमित्यर्थः, पारदं गृह्णन्ति, जना इति शिवः ॥ ८५—८७ ॥

द्विकुलीत्यतिप्रकारमाह, पतित इति ।—गौरवात् भूरिसारात् ब्रह्मवक्त्रतः अग्नि-मुखात् ; अग्निमुखे गमनप्रकारश्च प्राक् प्रदर्शितः ; दरदे तन्नामके देशे पतितः स रसः भूतले लीनः अगर्हितः सन्, तिष्ठतीति शिवः । तत्तद्देशनिवासिनः दरदवासिनः

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

अथ महारसाः ।—

अभवैकान्तमाक्षीकविमलाद्रिजसस्यकम् ।

चपलो रसकश्चेति ज्ञात्वाऽष्टौ सङ्ग्रहेद्रसान् ॥ १ ॥

तस्मिन्निहितदेशवासिनश्च जनाः तां सृष्टं सृष्टिकां पातनायन्ते विद्याधराख्योद्दे-
पातनायन्ते चिन्ता निखिप्य सृतं पारदं हरन्ति आहरन्ति दरदाद्रसमाकृष्य गृह्णन्ति
इत्यर्थः ॥ ८८ ॥

इति रसरजसमुख्यबोधिन्यां प्रथमाध्यायः समाप्तः ॥१॥

अथ रसीत्यतिविवरणानन्तरं महारसान् विवरीतुमाह, अस्मेति ।—वैकान्तं
स्वनासख्यातमणिविशेषः, चुनीति लोके, तच्च श्वेतरक्तगोलभेदेन विधा । तस्य निरुक्ति-
र्यथा—“वज्राकारतयेव प्रसृज्य हरणाय सर्वरोगाणाम् । यद्विक्रांतिं धत्ते तदैकान्तं
बुधैरिदं कथितम् ॥” इति । गुणाः यथा—“रसवीर्यविपाकेषु वयसमं क्षयकृष्टविषघ्नं
पुष्टिकरं रसायनञ्च” इति । मात्सिकं स्पर्शरौप्यभेदेन द्विविधं, तदुक्तं रसेन्द्रसार-
सङ्ग्रहे—“मात्सिकं द्विविधं प्रीतं हेमाङ्गं तारमात्सिकम् । भिन्नवर्णविशेषत्वाद्रज-
वीर्यादिकं पृथक् ॥” इति । विमला मात्सिकविशेषः । अद्रिजः शिलाजतः ।
तल्लक्षणादिकं यथा भावप्रकाशपूर्वखण्डे—“निदाघे घमंसन्ततं घातुमारं धराधराः ।
निर्यासवत् प्रमुच्यन्ति तल्लिलाजतु कौत्सितम् ॥ सौवर्णे राजतं ताम्रमायमं
तच्चतुर्विधम् । शिलाजं कटुतिक्तोष्णं कटुपाकं रसायनम् ॥ छेदि योगवहं क्लिप्तं
कफमेदोऽश्मशर्कराः । मूवक्रच्छं चयं श्वासं वाताग्नांसि च पाण्डिताम् ॥ अपक्वार्
तयोन्मादं शोथकृष्टोदरक्लिमीन् । सौवर्णे तु जपापुष्प-वर्णे भवति तद्रसात् ॥ मधुरं कटु-
तिक्तञ्च शीतलं कटुपाणि च । राजतं पाण्डुरं शीतं कटुकं स्वादुपाकि च ॥ तावत्
मधुरकण्डाभं तीक्ष्णमुष्णं च ज्ञायते । लौहं जठःपुष्पाभं तत्तिक्तं लवणं भवेत् ॥
विपाके कटुकं शीतं खल्वेष्टेषामुदाहृतम् ॥” इति । सुखकं दुःखकम् ; तच्च

* अथ गन्धामयोः स्वरूपम् ।—

देव्या रजो भवेद्गन्धो धातुः शुक्रं तथाऽभ्रकम् । *

अथ अश्वकगुणाः ।—

गौरीतेजः परमममृतं वातपित्तक्षयघ्नं
प्रज्ञाबोधि प्रशमितरुजं वृथ्यमायुष्यमग्राम् ।
बल्यं स्निग्धं रुचिदमकफं दीपनं शीतवीर्यं
तत्तदयोगैः सकलगदहृदव्याम सूतेन्द्रबन्धि ॥ २ ॥
राजहस्तादधस्तादयत् समानौतं घनं खनेः ।
भवेत्तदुक्तफलदं निःसत्त्वं निष्फलं परम् ॥ ३ ॥

ताम्रोपधातुः ; उक्तञ्च—“तुल्यं ताम्रोपधातुर्हि किञ्चिन्नामेष तद्ववेत् । किञ्चित्-
ताम्रगुणं तस्मात् वक्ष्यमाणगुणश्च तत् ॥ तुल्यं कटु कषायोष्णं श्विदनेतामयापहम् ।
विषदांषेषु सर्वेषु प्रशक्तं बालिकारकम् ॥” इति । अथलः यशदविशेषः “दस्ता”
इति लोके । “यशदं वक्रसदृशं रीतिर्हंतुश्च तन्मतम् । यशदं तुवरं तित्तं शीतलं
कफपित्तहृत् ॥ चक्षुष्यं परमं मेहान् पाण्डुं श्वासश्च नाशयेत् ॥” रसकः खर्परः ;
तदयथा भावप्रकाशपूर्वखण्डे—“खर्परोतुल्यकं तुल्यादन्यत्तद्रसकं स्यूतम् । ये
गुणान्तुल्यके प्रोक्तास्ते गुणा रसके स्यूताः ॥” अन्यञ्च—“खर्परं कटु चारुं कषायं
वामकं लघु लेखनं मेदनं शीतलं चक्षुष्यं रक्तपित्तहर्त्रं विषाश्रमी-
कुष्ठकण्डूघ्नञ्च” इति ॥ १ ॥

अश्वकगुणसाह, गौरीति ।—गौरीतेजः देव्याः शुक्रम् अश्वकमित्यर्थः । प्रज्ञाबोधि
प्रज्ञां बुद्धिं बोधयति जागरयति उद्धीपयतीति यावत्, बहुकरुण्येषकम् इत्यर्थः ।
अकफं न कफो यस्मात् तत् कफक्षयकरमित्यर्थः । तत्तदयोगैः यस्मिन् गदे तत्
प्रयोज्यं तत्तद्भोगनाशकद्रव्यसंयोगैः । व्योम अश्वम् । सूतेन्द्रबन्धि सूतेन्द्रं रसरत्नं
पारदमिति यावत्, भ्रष्टाति नियच्छतीति तत् पारदनिघामकमित्यर्थः । किञ्चिदश्वकं
प्रेषणकारकमित्याह, राजहस्तादिति ।—घनम् अश्वम् । खनेः आकरात् । निःसत्त्वं
साररहितम् । परं राजहस्तादुपरिख्यम् ॥ २।३ ॥

* गन्धामयोः स्वरूपसाह, देव्याः इति ।—रजः चार्तवशीलितम् । अश्वकं शुक्रं
गन्धातुः देव्याः शुक्रमश्वकमित्यर्थः । शीतार्तवशीलितं प्रविष्टः इति केचित् ।

अथ अश्वभेदाः ।—

पिनाकं नागमण्डूकं वज्रमित्यभ्रकं मतम् ।

श्वेतादिवर्णभेदेन प्रत्येकं तच्चतुर्विधम् ॥ ४ ॥

अथ पिनाकादीनां लक्षणानि ।—

! पिनाकं पावकोत्तमं विमुञ्चति दलोच्चयम् ।

तत् सेवितं मलं बद्धा मारयत्येव मानवम् ॥ ५ ॥

नागाभ्रं नागवत् कुर्यात् ध्वनिं पावकसंस्थितम् ।

तद्भक्तं कुरुते कुष्ठं मण्डलाख्यं न संशयः ॥ ६ ॥

उत्प्लुत्योत्प्लुत्य मण्डूकं ध्यातं पतति चाभ्रकम् ।

तत् कुर्यादश्मरौरोगमसाध्यं शस्त्रतोऽन्यथा ॥ ७ ॥

वज्राभ्रं वज्रिसन्तप्तं निर्मुक्ताशेषवैकृतम् ।

देहलोहकरं तच्च सर्वरोगहरं परम् ॥ ८ ॥

‘अश्वकस्य भेदानाह, पिनाकमिति ।—प्रत्येकं पिनाक-नाग-मण्डूक-वज्रभेदेन चतुर्धा भिन्नं तत् अश्वं पिनाकादिचतुर्विधमश्वं प्रत्येकं श्वेतरक्तपीतकृष्णभेदेन चतुःप्रकारमित्यर्थः । रसरत्नाकरेऽप्युक्तं—“कृष्णं पीतं सितं रक्तं योज्यं योगे रसायने । पिनाकं दर्दूरं नागं वज्रश्चेति चतुर्विधम् ॥ पिनाकाद्यास्तथो वर्ज्या वर्जं यन्नात् समाहरेत् ॥” इति ॥ ४ ॥

तत्र पिनाकादीनां लक्षणमाह, पिनाकमिति ।—पावकोत्तमम् अग्निसन्तप्तम् । दलोच्चयम् उपर्यधो विन्यस्य पचयत् अंशसमुद्भूतम् । मलं बद्धा विट्सङ्गं कृत्वा । नागवत् सर्पवत् ध्वनिं फुत्कारशब्दम् । उत्प्लुत्य उत्प्लुत्य उत्प्लुत्या उत्प्लुत्या । ध्यातं वज्रिसंयुक्तं, मण्डूकाश्वं वज्रिसन्वन्ध्यात् मण्डूकवत् पुनः पुनरुद्धमुत्प्लुत्याऽप्युत्प्लुत्या पततीत्यर्थः । असाध्य-मित्यादि ।—शस्त्रविक्रित्यां विहाय असाध्यं स्यात् व्रजेणैव सा साध्या, न त्वन्ये-नेत्यर्थः । निर्मुक्तम् अपगतम् अशेषं कृतं वैकृतं विकृतिः यस्य तत् सर्वदोषरहितं वज्रिचितम् न कामपि विकृतिं व्रजेदित्यर्थः । देहं लोहवत् लौहमिव करोतीति तत् देहलोहकरं लौहवत् स्थिरसारदेहप्रदम् । रसरत्नाकरेऽपि पिनाकादीनां लक्षणा-न्युक्तानि, तत् यथा—“सुचक्षुषी विनिश्चिमे पिनाकं दलसचक्षुषम् । अज्ञानाहल्यनख-जङ्घाकुष्ठप्रदायकम् ॥ दर्दूरं निश्चितं ज्ञप्ती कुरुते दार्दूरध्वनिम् । नागश्चाग्रगतं

अथ श्वेतादिवर्णस्याभ्यस्य क्रियाविषयः ।—

श्वेतं रक्तञ्च पीतञ्च कृष्णमेवं चतुर्विधम् ।

श्वेतं श्वेतक्रियासूक्तं रक्ताभं रक्तकर्मणि ॥

पीताभमभ्रकं यत्तु श्रेष्ठं तत् पीतकर्मणि ॥ ८ ॥

चतुर्विधं वरं व्योम यद्यप्युक्तं रसायने ।

तथाऽपि कृष्णवर्णाभ्रं कोटिकोटिगुणाधिकम् ॥ १० ॥

अथ प्रशस्ताभलक्षणम् ।—

स्निग्धं पृथुदलं वर्ण-संयुक्तं भारतोऽधिकम् ।

सुखनिर्मोच्यपत्रञ्च तदभ्रं शस्तमीरितम् ॥ ११ ॥

शब्दं फुत्कारश्च विमुचति ॥ तच्च देहगतं नित्यं व्याधिं कुर्यात् भगन्दरम् ।
वज्राभकं वज्रमंस्थं न किञ्चित् विकृतिं व्रजेत् । तस्मात् वज्राभकं योज्यं व्याधिवाहुक्य-
भ्यत्युजितम् ॥” इति । रसेन्द्रमारसङ्गहे वज्राभलक्षणमुक्तं यथा—“सुप्रशस्तं कठोराङ्गं
गुरु कज्जलमत्रिभम् । यत्र शब्दायने वज्रौ नैवोच्छून् भवेदपि । सदाकरं समुद्रुतं व्रजेति
प्रथितं घनम् ॥” इति । रसेन्द्रचिन्तामणावपि—“यदञ्जनमिभं चिभं न वज्रौ विकृतिं
व्रजेत् । वज्रमंजं हि तत् योज्यमभं सर्वत्र नेतरत् ॥” इति ॥ ५—८ ॥

श्वेतादिवर्णभेदेन तस्य क्रियाविशेषे अधिकारमाह, श्वेतमिति ।—श्वेतक्रियासु
रजतादिशुभवस्तुमारणक्रियासु श्वितनाशनक्रियासु वा अथवा दाहादिना कृष्णीभूत-
प्रदेशस्य श्वेतीकरणक्रियासु । रक्तकर्मणि हिङ्गुलादिरक्तवस्तुशोधनक्रियायां रक्त-
प्रसादनक्रियायां वा । पीतकर्मणि स्वर्णादिपीतवस्तुमारणादिकर्मणि अथवा देहस्य
पीतत्वापादकपाण्डुरोगादिकर्मणि । इदानीं कृष्णाभस्य गुणाधिक्यमाह, चतुर्विधमिति ।
—चतुर्विधं पिनाकादिचतुष्टयम् । वरं श्रेष्ठम् । तत्त्वान्तरेऽपि उक्तं यथा—“प्रशस्यते
सितं तारे रक्तं तत्तु रसायने । पीतं हेमनि कृष्णत्वं गदेषु भूतयेऽपि च ॥” इति ।
किञ्च अन्यस्मिन् तन्त्रे कृष्णाभस्यैव चतुर्विधः भेदो दृश्यते, तद्वयथा—“अभकं चतुर्विधं
—श्वेतरक्तपीतनीलभेदात् भिन्नभिन्नक्रियायां युज्यते । यथा—श्वेतं तारे पीतरक्ते
काशने नीलञ्च व्याधी प्रयोज्यं यद्योत्तरं गुणाब्जम् । तेषु नीलामं दर्दरनागपिनाक-
वज्रभेदेन चतुर्विधम्” इति ॥ ८।१० ॥

पृथुदलं सुखनिर्मोच्यपत्रञ्च, स्निग्धमिति ।—पृथुदलं स्थूलपत्रविशिष्टम् । वर्णसंयुक्तं

अथ यासाथोग्याभक्तम् ।—

सचन्द्रिकश्च किट्टाभं व्योम न यासयेदसः ।

यसितश्च नियोज्य तत् लोहे चैव रसायने ॥ १२ ॥

अथ निश्चन्द्रसचन्द्राभयोगुणदीपो ।—

निश्चन्द्रिकं मृतं व्योम सेव्यं सर्वगदेषु च ।

सेवितं चन्द्रिकायुक्तं मेहं मन्दानलं चरेत् ॥ १३ ॥

अगुहाभस्य दीपः ।—

यैरुक्तं युक्तिनिर्मुक्तैः पत्राभ्रकरसायनम् ।

तैर्दृष्टं कालकूटाख्यं विषं जीवनहेतवे ॥ १४ ॥

सत्त्वार्थं सेवनार्थश्च योजयेच्छोधिताभ्रकम् ।

अन्यथा त्वगुणं कृत्वा विकरोत्येव निश्चितम् ॥ १५ ॥

प्रशस्तवर्णविशिष्टम् । भारतीऽधिकं गुरुभारवत् । सुखनिर्मोच्यपत्रं सुखेन अनायासेन निर्मोच्यम् उन्मुचनीयं पृथक्करणीयमिति यावत्, पत्रं दलं यस्य तथाभूतम् । शस्तं प्रशस्तम् ॥ ११ ॥

यासाथोग्याभक्तमाह, सचन्द्रिकमिति ।—सचन्द्रिकं चन्द्रिकाविशिष्टम् । किट्टाभं किट्टं लोहमलं तददाभाविशिष्टं मण्डूरवत् परिदृश्यमानम् । यासयेदिति स्वार्थे णिच् यसेत्यर्थः । यसितं प्राप्तयार्थं, रसेनेति शेषः ॥ १२ ॥

निश्चन्द्र-सचन्द्राभयोगुणदीपावाह, निश्चन्द्रिकमिति ।—मृतं भक्ष्यभूतम् । रसेन्द्र-सारोऽयुक्तं—“निश्चन्द्रमारितं व्योम रूपं नीर्यं दृढं तनुम् । कुर्वते नाशयेन्मृतं जरारीग-कदम्बकम् ॥” इति ॥ १३ ॥

अशोधिताभस्य दीपमाह, यैरिति ।—युक्तिनिर्मुक्तैः युक्तिबहिष्कृतेः अज्ञैः युक्ति-मनादित्येत्यर्थः । पत्राभ्रकरसायनं पत्राभ्रकेण अपृथक्कृतदस्ताभ्रेण अशोधितामारिताभ्रे-त्येत्यर्थः, रसायनं रसायनगुणसाभः, भवेदिति इति शेषः । विषमित्यत्र अपीति शेषः, सपत्राभ्रकं प्रयुज्यमानं कालकूटवत् जीवनं हन्तीत्यर्थः । सत्त्वार्थं सारगुणार्थं, यदुक्तं—“आतस निर्गतः सारः सत्त्वमित्यभिधीयते” इति । अन्यथा अगुहाभम् । अगुणं विरुद्धगुणं दीपमित्यर्थः । विकरोति विकारं करोतीत्यर्थः । तथा च रसेन्द्र-सारसङ्गुहे—“अगुहाभं निहन्त्यायुः वञ्चयेन्मावतं कफम् । अगुहाभं निहन्त्यायुः मन्दाग्निमिषञ्जनम् ॥” इति ॥ १४।१५ ॥

अथाशशोधनमारण्ये ।—

प्रतप्तं सप्तवाराणि निक्षिप्तं काञ्चिकेऽभ्रकम् ।
 निर्दोषं जायते नूनं प्रक्षिप्तं वाऽपि गोजले ॥ १६ ॥
 त्रिफलाक्षयिते चापि गवां दुग्धे विशेषतः ।
 ततो धान्याभ्रकं कृत्वा पिष्ट्वा मत्स्याक्षिकारसैः ॥ १७ ॥
 चक्रीं कृत्वा विशोष्याथ पुटेद्वर्द्धभके पुटे ।
 पुटेदेवं हि षड्वारं पौनर्नवरसैः सह ॥ १८ ॥
 कलांशटङ्गणेनापि समर्थं कृतचक्रिकम् ।
 अर्द्धभाष्यपुटेस्तद्वत् सप्तवारं पुटेत् खलु ॥ १९ ॥
 एवं वासारसेनापि तण्डुलीयरसेन च ।
 प्रपुटेत् सप्तवाराणि पूर्वप्रोक्तविधानतः ॥
 एवं सिद्धं हतं सर्वयोगेषु विनियोजयेत् ॥ २० ॥

अथ धान्याभ्रलक्षणम् ।—

चूर्णाभ्रं शालिसंयुक्तं वस्त्रबद्धं हि काञ्चिके ।
 निर्यातं मर्दनाद्वस्त्राद्धान्याभ्रमिति कथ्यते ॥ २१ ॥

अशशोधनमारण्यमाह, प्रतप्तमिति ।—प्रतप्तं, वज्रौ इति शेषः । गोजले गोमूत्रे । धान्याभ्रकम् अशमारण्यार्थं प्रक्रियाविशेषः, तद्व्याये वक्ष्यमाणम् । मत्स्याक्षिका हिलमोक्षिका गण्डदूर्वा वा । अर्द्धभके पुटे अर्द्धगजपुटे गजपुटापेक्षया अर्द्धपुटे इत्यर्थः । पौनर्नवरसैः पुनर्नवरसैः । कलांशटङ्गणेन अभापेक्षया षोडशभागेक-भागटङ्गणचूर्णेन । तण्डुलीयः अल्पसारिषः “काँटानटे” इति भाषा । पूर्वप्रोक्त-विधानतः अर्द्धभाष्यपुटे इत्यर्थः । हतं मृतं मञ्जीभृतमित्यर्थः । अभ्रकं वज्रौ प्रतप्य काञ्चिकादिषु निषिञ्चेत् एवं सप्तशः कृत्वा वक्ष्यमाणविधिना धान्याभ्रकं विधाय मत्स्याद्यादीनां रसैः पिष्ट्वा चक्रिकां विधाय अर्द्धगजपुटे यथानिर्देशं पुटेदित्यर्थः ॥ १६—२० ॥

धान्याभ्रविधिमाह, चूर्णाभ्रमिति ।—चूर्णाभ्रम् अभ्रचूर्णे शालिसंयुक्तम् ; अथप्यत्र शालिपरिमाणं गीतं तथाऽपि तन्वान्तरानुसरणात् पादमितशास्त्रि-धान्यसहितं बोद्धव्यम् ; तथा च रसेन्द्रसारसङ्ग्रहे—“पादांशं शालिसंयुक्तमभ्रकं

अथ धान्याभ्रमारणम् ।—

धान्याभ्रं कासमर्दस्य रसेन परिमर्दितम् ।

पुटितं दशवारेण म्रियते नात्र संशयः ॥

तद्वन्मस्तारसेनापि तण्डुलीयरसेन च ॥ २२ ॥

अथ अभ्रमारणम् ।—

पीतामलकसौभाग्य-पिष्टं चक्रीकृताभ्रकम् ।

पुटितं षष्टिवारणि सिन्दूराभं प्रजायते ।

क्षयाद्यखिलरोगघ्नं भवेद्दोगानुपानतः ॥ २३ ॥

मतान्तरम् ।—

वटमूलत्वचः काथैस्ताम्बूलीपत्रसारतः ।

वासामख्याच्चिकाभ्यां वा मीनाच्या सकठिलया ॥ २४ ॥

पयसा वटवृक्षस्य मर्दितं पुटितं घनम् ।

भवेद्द्विंशतिवारेण सिन्दूरसदृशप्रभम् ॥ २५ ॥

कम्बलीदरे । “विरावं व्यापयेन्नोरे ततः किञ्च मर्दयेद्बृहत् ॥ कम्बलादुगलितं अक्ष्णं बालकारहितञ्च यत् । तद्धान्याभ्रमिति प्रोक्तमभ्रमारणसिद्धये ॥” इति । निर्यातं निर्गतम् । अभ्रं चूर्णितं कृत्वा पादांशशालिधान्येन सह स्थूलवस्त्रे बद्धा काञ्चिके तावन्मर्दनीयं यावत् वस्त्रच्छिद्रात् अक्ष्णं बालकारहितं सत् निर्याति तद्धान्याभ्रं स्मृतम् ॥ २१ ॥

धान्याभ्रमारणमाह, धान्याभ्रमिति ।—कासमर्दः “कालकासन्दा” इति लोके ॥ २२ ॥

अभ्रमारणमाह, पीतेति ।—पीतामलकसौभाग्यैः हरिद्राऽऽमलकटङ्गणैः सह मर्दितम् । यद्यप्यत्र सौभाग्यस्य भागो नोक्तः तथाऽपि तन्मत्तान्तरसंवादात् द्विगुणो बोध्यः, यथा रसेन्द्रसारसङ्ग्रहे—“धान्याभ्रकस्य भागैकं भागौ द्वौ टङ्गणस्य च” इति । एवञ्च हरिद्राऽऽमलकरसाभ्यां द्विगुणेन टङ्गणचूर्णेन च सह धान्याभ्रं पिष्टा चक्रीकृत्य षष्टिपटं दद्यात् । रोगानुपानतः यस्मिन् व्याधौ प्रयुज्येत तत्तद्दशाध्रिविक्ताश्रकानुपानयोगादित्यर्थः ॥ २३ ॥

प्रकारान्तरमाह, वटमूलिति ।—वटमूलत्वकुशेरेकमर्दनम्, अथवा ताम्बूलीपत्र-सारतः पार्थपत्ररसेन, अथवा वासामख्याच्चिकाभ्यां वासारस-द्विखर्गोपिकारसाभ्याम्,

अथ सत्त्वपातनम् ।—

पादांशटङ्गणोपेतं मुसलीरसमर्दितम् ।

कन्यात् कोष्ठगं दृढं धातं सत्स्वरूपं भवेद्धनम् ॥ २६ ॥

प्रकारान्तरम् ।—

कासमर्दघनाधान्यवासानाञ्च पुनर्भुवः ।

मत्स्याद्याः काण्डवल्ग्राश्च हंसपाद्या रसैः पृथक् ॥ २७ ॥

पिष्टा पिष्टा प्रयत्नेन शोषयेद्धर्मयोगतः ।

पलं गोधूमचूर्णस्य क्षुद्रमत्स्याश्च टङ्गणम् ॥ २८ ॥

प्रत्येकमष्टमांशेन दत्त्वा दत्त्वा विमर्दयेत् ।

मर्दने मर्दने सम्यक् शोषयेद्रविरश्मिभिः ॥ २९ ॥

पञ्चाजं पञ्चगव्यं वा पञ्चमाहिषमेव वा ।

क्षिप्त्वा गोलान् प्रकुर्वीत किञ्चित्तिन्दुकतोऽधिकान् ॥ ३० ॥

पयो दधि घृतं मूत्रं सविट्कञ्चाजमुच्यते ।

अधःपातनकोष्ठगं हि धात्वा सत्त्वं निपातयेत् ॥ ३१ ॥

अथवा सकठिन्नया मीनात्स्या कठिन्नः कर्कटः “वनकांक्रील” इति भाषा, मीनाच्चो गण्डदूर्वा ब्राह्मी वा, अथवा वटवृक्षस्य पत्राणां वटचौरेश, एषां पञ्चानामेकतमरसेन मर्दयित्वा विंशतिपुटः देयः ॥ २४।२५ ॥

सत्त्वपातनमाह, पादांशेति ।—पादांशटङ्गणोपेतं चतुर्थांशटङ्गणसंयुक्तम् । मुषली तालमूली । कोष्ठगं कोष्ठिकायन्त्रे ; तल्लक्षणमत्रिसंहितायां यथा—“षोडशा-
ङ्गुलविस्तीर्णं इक्षमावायतं समम् । चातुसत्त्वनिपातायै कोष्ठिकं परिकीर्तितम् ॥
परिपूर्णं दृढाङ्गारैरधी वातेन कोष्ठिके । माचया ज्वालामार्गेण ज्वालयेश्च हुताशनम् ॥”
इति । धातं बलिसंयोगात्तम् । सत्स्वरूपं “धातश्च निर्गतः सारः सत्त्वमित्यभिधीयते”
इत्युक्तलक्षणं निर्गतसारम् ॥ २६ ॥

सत्त्वपातने प्रकारान्तरमाह, कासमर्देति ।—सना गुडूची । पुनर्भूः पुनर्नवा ।
काण्डवल्गु कारवेक्षकः । हंसपादो गीषापदौ “गीषालेखता” इति भाषा ।
धर्मयोगतः आत्मपसंयोगात् । पञ्चाजं क्षायाः पयोदधिघृतमूत्रपुरीषपञ्चकम् । पञ्चगव्यं
पूर्ववत् गोषाणि क्षौरादिपञ्चकम् । पञ्चमाहिषं महिष्या अपि पूर्ववत् पञ्चकम् ।

अथ किंदात् सत्त्वयङ्गम् ।—

कोष्ठं किं समाहृत्य विचूर्णावकरान् हरित् ।
तत् किं स्वल्पटङ्गेन गोमयेन विमर्द्य च ॥ ३२ ॥
गोलान् विधाय संशोष्य धमेत् भूयोऽपि पूर्ववत् ।
भूयः किं समाहृत्य मृदित्वा सत्त्वमाहरेत् ॥ ३३ ॥

अथ सत्त्वशोधनम् ।—

अथ सत्त्वकणांस्तांस्तु क्वाथयित्वाऽम्लकाञ्जिकैः ।
शोधनीयगणोपेतं मूषामध्ये निरुध्य च ॥ ३४ ॥
सम्यक् द्रुतं समाहृत्य द्विवारं प्रधमेहनम् ।
इति शुद्धं भवेत् सत्त्वं योज्यं रसरसायने ॥ ३५ ॥

अथ सत्त्वानां मृदूकरणम् ।—

मधुतैलवसाऽऽज्येषु द्रावितं परिवापितम् ।
मृदु स्याद्दशवारिण सत्त्वं लाङ्घादिकं खरम् ॥ ३६ ॥

तिन्दुकतः कर्षमानात् किञ्चिदधिकान् पादपरिमिताधिकान् सपादकर्षमानानित्यर्थः ।
अधःपातनकोष्ठम् अधःपातनार्थकोष्ठिकायन्ते । अयमर्थः,—कासमर्दादीनामष्टानां
रसेन पृथक् पृथक् सम्यग् आतपे संशोष्य च गोधूमचूर्णादीन् पृथक् पृथक् दत्त्वा दत्त्वा
पुनः मर्दयेत् शोषयेच्च, ततः अजायाः गोः सहित्या वा क्षीरादिपञ्चकेन गोलककरण-
योग्येन समिश्र्य सपादकर्षमितान् गोलान् विधाय अधःपातनार्थकोष्ठिकायन्ते आत्वा
सत्त्वं गृह्णीयादिति ॥ २७—३१ ॥

किंदात् सत्त्वयङ्गमाह, कोष्ठमिति ।—कोष्ठं किं धमनवशेन
कोष्ठिकालयम् अक्षमलम् । अवकरान् रज्ज्वांश्च चूर्णानीति यावत् । “रवकान्”
इति पाठान्तरम् । भूयः पुनरपि । किं धमनवशेन यत् किं निर्गतं
तदित्यर्थः ॥ ३२।३३ ॥

सत्त्वशोधनमाह, अथेति ।—सत्त्वकणान् धमननिःसृतमारुपचूर्णानि ।
शोधनीयगणोपेतं शोधनार्थविफलादिगणसंयुतम् । द्रुतं गलितम् । रसरसायने रसे
रसायने च ॥ ३४।३५ ॥

सत्त्वानां मृदूकरणमाह, मध्मिति ।—द्रावितं पूर्वप्रक्रियया मापितद्रवीभाव-

अथामारणम् ।—

पट्टचूर्णं विधायाय गोघृतेन परिप्लुतम् ।
 भर्जयेत् सप्तवाराणि चुक्षीसंस्थितखर्परे ॥ ३७ ॥
 अग्निवर्णं भवेद्यावहारं वारं विचूर्णयेत् ।
 दृढं क्षिप्वा दहेद्यावत्तावद्वा भर्जनं चरेत् ॥ ३८ ॥
 ततः सगन्धकं पिष्ट्वा वटमूलकषायतः ।
 पुटेद्द्विंशतिवारेण वाराहेण पुटेन हि ॥ ३९ ॥
 पुनर्विंशतिवाराणि त्रिफलीत्यकषायतः ।
 त्रिफलामुण्डिकाभृङ्ग-पत्रपथ्याऽक्षमूलकैः ॥ ४० ॥
 भावयित्वा प्रयोक्तव्यं सर्वरोगेषु मात्रया ।
 सत्त्वाभ्रात् किञ्चिदपरं निर्विकारं गुणाधिकम् ॥ ४१ ॥
 एवं चेच्छतवाराणि पुटपाकेन साधितम् ।
 गुणवज्जायतेऽत्यर्थं परं पाचनदीपनम् ॥ ४२ ॥

मारणे प्रकारान्तरम् ।—

गन्धर्वपत्रतीयेन गुडेन सह भावितम् ।
 अधोर्द्ध्वं वटपत्राणि निश्चन्द्रं त्रिपुटैः खगम् ॥ ४३ ॥
 क्षुधं करोति चात्यर्थं गुञ्जार्द्धमितिसेवया ।
 तत्तद्गोगह्वरैर्योगैः सर्वरोगह्वरं परम् ॥ ४४ ॥

मित्यर्थः । परिवापितं प्रक्षिप्तम् । खरं कठिनम् ; मध्नादिषु दशवारप्रक्षेपेण द्रुवीभूतं
 खरलीङ्गादिसत्त्वं सटु भवेदित्यर्थः ॥ ३६ ॥

अथमारणमाह, पट्टचूर्णमिति ।—पट्टचूर्णं पट्टे शिलापट्टे चूर्णं बल्लकानित-
 चूर्णमित्यर्थो वा । विधाय जला । परिप्लुतमित्यत्र अभिमिति शेषः । सगन्धकमित्यत्र
 पूर्वोक्तभृष्टाभिमिति शेषः । वाराहेण पुटेन “अरविमावके कुण्डे पुटे वाराहमुच्यते”
 इति भावप्रकाशोक्तलक्षणकपटविशेषेण । मुण्डिका मुण्डिकी । भृङ्गपत्रं भृङ्गराजपत्रम् ।
 अक्षं विभीतकः । एवं पट्टचूर्णं विधायाय इत्याद्युक्तविधानेनेत्यर्थः ॥ ३७—४२ ॥

अथमारणे प्रकारान्तरमाह, गन्धर्वेति ।—गन्धर्वपत्रतीयेन एरण्डपत्ररसिन ।
 सटुपत्राणीत्यत्र इत्या इति शेषः । खगम् अभ्रम् ॥ ४३।४४ ॥

अथ सत्त्वस्य शोधनमारणे ।—

मत्त्वस्य गोलकं ध्यातं शस्यसंयुक्तकाञ्चिके ।
निर्वाप्य तत्क्षणेनैव कुट्टयेत्त्रोदपारया ॥ ४५ ॥
सम्प्रताप्य घनस्थलकणान् क्षिप्वाऽथ काञ्चिके ।
तत्क्षणेन समाहृत्य कुट्टयित्वा रजश्चरेत् ॥ ४६ ॥
गोघृतेन च तच्चूर्णं भर्जयेत् पूर्ववत् त्रिधा ।
धात्रोफलरसैस्तद्वह्नीपत्ररसेन वा ॥ ४७ ॥
भर्जने भर्जने कार्यं शिलापट्टेन पेषणम् ।
ततः पुनर्नवावासा-रसैः काञ्चिकमिश्रितैः ॥ ४८ ॥
प्रपुटेद्दशवाराणि दशवाराणि गन्धकैः ।
एवं संशोधितं व्योममत्त्वं सर्वगुणोत्तरम् ॥
यथेष्टं विनियोक्तव्यं जारणे च रमायने ॥ ४९ ॥

अथ अश्वद्रावणानुज्ञेखे कारणम् ।—

द्रुतयो नैव निर्दिष्टाः शास्त्रे दृष्टा अपि दृढम् ।
विना शम्भाः प्रसादेन न सिद्ध्यन्ति कदाचन ॥ ५० ॥

अथ अश्वप्रयोगः ।—

वेङ्कव्योषसमन्वितं घृतयुतं वल्लोन्मितं सेवितं
दिव्याभ्रं क्षयपाण्डुरग्नृहणिकाशूलामकुष्ठामयम् ।
जूर्तिं श्वासगदं प्रमेहमर्चिं कासामयं दुर्हरं
मन्दाग्निं जठरव्यथां विजयते योगैरशेषामयान् ॥ ५१ ॥

[इत्यभ्राधिकारः] ।

मत्तानरे अश्वसत्त्वस्य शोधनमारणमाह, सत्त्वस्येति ।—शस्यसंयुक्तकाञ्चिके
अथान्यकाञ्चिके अहानितकाञ्चिके इत्यर्थः । लोहपारया लोहमुपलीन । रजः चूर्णम् ।
पूर्ववत् चुञ्जीसंस्मितखर्परे पट्टचूर्णावचूर्णेन विधायित्यर्थः ॥ ४५—४८ ॥

अश्वद्रावणानुज्ञेखे कारणमाह, द्रुतय इति ।—सुगमम् ॥ ५० ॥

एवं भारिताद्यस्य गुणमाह, वेङ्कति ।—वेङ्कव्योषसमन्वितं विद्वज्जटुनयसंयुक्तम् ;

अथ वैक्रान्तः ।—

अथ वैक्रान्तस्वरूपमाह ।—

अष्टास्रष्टाफलकः षट्कोणी मसृणी गुरुः ।

शुद्धमिश्रितवर्णैश्च युक्तो वैक्रान्त उच्यते ॥ ५२ ॥

अथ वैक्रान्तस्य वर्णभेदाः ।—

श्वेतो रक्तश्च पीतश्च नीलः पारावतच्छविः ।

श्यामलः कृष्णवर्णश्च कर्बुरश्चाष्टधा हि सः ॥ ५३ ॥

अथ वैक्रान्तस्य गुणाः ।—

आयुष्पदश्च बलवर्णकरोऽतिवृष्यः

प्रज्ञाप्रदः सकलदोषगदापहारौ ।

दोषाग्निहृत् पविसमानगुणस्तरस्त्री

वैक्रान्तकः खलु वपुर्वललोहकारी ॥ ५४ ॥

रसायनेषु सर्वेषु पूर्वगण्यः प्रतापवान् ।

वज्रस्थाने नियोक्तव्यो वैक्रान्तः सर्वदोषहा ॥ ५५ ॥

अथ वैक्रान्तदीनां मानागुणत्वेऽपि असमानसाहचर्यात् वैक्रान्तव्योषयोः प्रत्येकं वल्लमान बोध्यम् । वल्लः द्विगुणा, गुञ्जावयमिति खोलावती सार्द्धगुञ्जति राजनिघण्टुः । जून्तिं ऊरां उर्वरं वा ॥ ५१ ॥

वैक्रान्तस्वरूपमाह, अष्टास्र इति ।—अष्टास्रः अष्टकोणः । अष्टफलकः अष्टास्रत्वा-
देव फलकाकाराद्रेखाविशिष्टः । षट्कोण इत्यत्र वा-शब्द ऊहनीयः तेन अष्टकोणः
षट्कोणी वा बोध्यः ॥ ५२ ॥

वर्णभेदेन तस्याष्टधात्वमाह, श्वेत इति ।—पारावतच्छविः धूसवर्ण इत्यर्थः ।
कर्बुरः स्वर्णवर्ण इत्यर्थः, विचित्रवर्ण इत्यर्थो वा ॥ ५३ ॥

वैक्रान्तस्य गुणमाह, आयुष्पद इति ।—पविसमानगुणः क्षीरकसृष्टशगुणविशिष्टः ।
तरस्त्री बोध्यवान्, यहा—तरः मांसं मांसवद्गुण इत्यर्थः, विद्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या
मांसवान्, मांसवत् गुणसम्पन्नः मांसवर्द्धक इत्यर्थः । वपुःरिति ।—वपुः देहं बलं
मनोबलं, वल्लवर्णकर इति प्रागुक्तत्वात्, खोहं रक्तं तानि करोतीति देहवर्द्धनः मनो-
बलवर्द्धनः, रक्तवर्द्धनश्च इत्यर्थः । पूर्वगण्यः प्राथम्येन गणनीयः । प्रतापवान् प्रभाव-

अथ वैकान्तीत्यतिः ।—

दैत्येन्द्रो माहिषः सिद्धः सहदेवसमुद्भवः ।

दुर्गा भगवती देवी तं शूलेन व्यमर्दयत् ॥ ५६ ॥

तस्य रक्तं तु पतितं यत्र यत्र स्थितं भुवि ।

तत्र तत्र तु वैक्रान्तं वज्राकारं महारसम् ॥ ५७ ॥

अथ वैकान्तस्य अवस्थितिस्थानं निरुक्तिश्च ।—

विन्ध्यस्य दक्षिणे भागे ह्युत्तरे चास्ति सर्वतः ।

विक्रान्तयति लोहानि तेन वैक्रान्तकः स्मृतः ॥ ५८ ॥

मतान्तरे वर्णभेदकथनम् ।—

श्वेतः पीतस्तथा रक्तो नीलः पारावतप्रभः ।

मयूरकण्ठसदृशश्चान्यो मरकतप्रभः ॥ ५९ ॥

सम्पन्नः । वज्रस्थाने हीरकप्रयोगयोग्यस्थाने । तन्मत्तरेऽपि वज्रवैकान्तयोः समान-
गुणत्वमुक्तं तद्वयथा—“रसवीर्यविपाकेषु वज्रममं चयकुष्ठविषघ्नं पुष्टिकरं रसायनञ्च ।
अपि च—वैक्रान्तं वज्रसदृशं वज्रवद्रसवीर्यकम् । तथाऽयमभावे वज्रस्य गार्ह्यं वैकान्त-
मुत्तमम् ॥” इति ॥ ५४।५५ ॥

वैकान्तस्य उत्पत्तिमाह, दैत्येन्द्र इति ।—सिद्धः शङ्करवरेण सिद्धिप्राप्तः । सहदेव-
समुद्भवः सह देवैः समुद्भवः उत्पत्तिः यस्य तथाभूतः देवताभिः सह समकालीत्यत्र ।
“सर्वदेवसमुद्भवा” इति पाठे तु—सर्वेभ्यः देवेभ्यः समुद्भवः उत्पत्तिः आविर्भावः
यस्याः सा इति दुर्गायाः विशेषणं, तस्याः सर्व-देव-तेजः-समुत्पन्नत्वात् । तत्पमानञ्च
मार्कण्डेयचण्ड्यां द्रष्टव्यम् । श्लोकाविमो गन्यान्तराद्भूतो इति कथितम् ॥ ५६।५७ ॥

वैकान्तस्य स्थानं निरुक्तिश्चाह,—विन्ध्यस्येति । विक्रान्तयतीति ।—विक्रान्तयति
विशेषेण छेदयति गुणैः पराजयते इत्यर्थः, स्वर्णादिसर्वलोहेभ्यो गुणाधिकः इति
भावः । “विक्रान्तयति” इति पाठे तु—विक्रमं कारयतीत्यर्थः, वैकान्तयोगेन
सर्वलोहानां वीर्याधिक्यं भवतीति भावः । अथमेव पाठः साधोयान् इति सम्यक्ते
विपूर्व-कान्ततेः वैकान्तपदासिद्धेः । “विक्रान्तयति” “विक्रान्तयति” इति पाठान्तरावपि
कुतचित् दृश्यते । तन्मत्तरे तु वैकान्तशब्दस्यान्यथा निरुक्तिरुक्ता, सा तु एतदध्यायस्य
प्रथमश्लोकव्याख्यावस्तरे एवास्माभिः प्रदर्शिता ॥ ५८ ॥

मतान्तरे वर्णभेदमाह, श्वेत इति ।—सुगमम् ॥ ५९ ॥

वर्णभेदेन कार्यभेदकथनम् ।—

देहसिद्धिकरं कृष्णं पीते पीतं सिते सितम् ।
सर्वार्थसिद्धिदं रक्तं तथा मरकतप्रभम् ॥
शेषे हे निष्फले वर्ज्यं वैक्रान्तमिति सप्तधा ॥ ६० ॥

अथाऽऽहरणविधिः ।—

यत्र क्षेत्रे स्थितश्चैव वैक्रान्तं तत्र भैरवम् ।
विनायकश्च सम्पूज्य गृह्णीयाच्छुद्धमानसः ॥ ६१ ॥
गुणान्तरम् ।—

वैक्रान्तो वज्रसदृशो देहलोहकरो मतः ।
विषघ्ना रसराजश्च ज्वरकुष्ठक्षयप्रणुत् ॥ ६२ ॥

अथ शोधनम् ।—

वैक्रान्तकाः स्युस्त्रिदिनं विशुद्धाः संस्वेदिताः क्षारपटूनि दत्त्वा ।
अग्नेषु मूलेषु कुलत्यरम्भा-नीरेऽथवा कांद्रववारिपक्वाः ॥ ६३ ॥

मतान्तरे शोधनमारणम् ।—

कुलत्यकाथमंस्त्रिन्नी वैक्रान्तः परिशुध्यति ।
न्त्रियतेऽष्टपुटैर्गन्ध-निम्बुकद्रवसंयुतः ॥ ६४ ॥

वर्णभेदेन कार्यभेदमाह, देहेति ।—देहसिद्धिकरं देहस्य स्वीर्यरूपसिद्धिप्रदम् ।

शेषे हे पारावताभ-मयूरकण्ठाभे ॥ ६० ॥

वैक्रान्तग्रहणविधिमाह, यत्रेति ।—सुगमम् ॥ ६१ ॥

गुणान्तरमाह, वैक्रान्त इति ।—सुगमम् ॥ ६२ ॥

शोधनमाह, वैक्रान्तका इति ।—क्षारपटूनि यवक्षारपञ्चलवणानि । अग्नेषु
अश्वर्गरेसे । कुलत्यरम्भानीरे कुलत्यकाथे कदलीकन्दरसे च । कीद्रेवेति ।—
कीद्रवः “कीदी” इति प्रसिद्धलुणधान्यविशेषः तस्य वारिणि काये पक्वाः ॥ ६३ ॥

मतान्तरे शोधनं मारणमाह, कुलत्येति ।—कुलत्यकाथेन सह दीलायन्ते
स्वेद्य पक्वात् समपरिमितगन्धकं जम्बीररसश्च दत्त्वा अष्टपुटं दैवम्, एवं वैक्रान्तो
सिध्यते इत्यर्थः ॥ ६४ ॥

मतान्तरम् ।—

वैक्रान्तेषु च तमेषु ह्यमूत्रं विनिक्षिपेत् ।
 पौनःपुन्येन वा कुर्याद्भवं दत्त्वा पुटं त्वनु ॥
 भस्मीभूतन्तु वैक्रान्तं वज्रस्थाने नियोजयेत् ॥ ६५ ॥

अथ सत्त्वपातनम् ।—

मोच-मोरट-पालाशक्षार-गोमूत्रभाषितम् ।
 वज्रकन्द-निशाकल्क-फलचूर्णसमन्वितम् ॥ ६६ ॥
 तत्कल्कं टङ्कणं लाक्षा-चूर्णं वैक्रान्तसम्भवम् ।
 नरसारसमायुक्तं मेघशृङ्गौद्रवान्वितम् ॥ ६७ ॥
 पिण्डितं मूकमूषस्थं धापितञ्च हठाग्निना ।
 तत्रैव पतते सत्त्वं वैक्रान्तस्य न संशयः ॥ ६८ ॥

मतान्तरम् ।—

सत्त्वपातनयोगेन मर्दितञ्च वटोक्ततः ।
 • मूषास्थो घटिकाध्मातो वैक्रान्तः सत्त्वमुत्सृजेत् ॥ ६९ ॥

मतान्तरमाह, वैक्रान्तश्चित्ति ।—पौनःपुन्येन एकविंशतिवारमित्यर्थः, तथा च
 रसेन्द्रसारसङ्गुहे—“ह्यमूत्रेण तत् सेच्यं तप्तं तप्तं त्रिसप्तधा” इति । द्रवं ह्यमूत्र-
 मित्यर्थः । अतः पश्चात् पुटं कुर्यात् यावत् भस्मतां व्रजेत् ॥ ६५ ॥

सत्त्वपातनमाह, मोचेति ।—मोचः रश्मातकः तस्य कन्दोऽत्र याच्याः । मोरटम्
 इक्षुमूलम् अग्नयोः रसो याच्याः । पालाशक्षारः पलाशक्षारीदकम् । वज्रकन्दः
 बन्धशूरणकन्दः । निशाकल्कः हरिद्राचूर्णम् । फलचूर्णं त्रिफलाचूर्णम् । नरसारः
 “निशादल” इति ख्यातः । मेघशृङ्गौ “मेघाशुङ्गे” इति भाषा, तदभावे कर्कट-
 शृङ्गौ याच्याः । मूकमूषा अन्धमूषेत्यर्थः, मङ्गामूषा वा सत्त्वपातनकर्म्मणि तस्या
 एवोपयोगित्वात् ; तल्लवणश्चाप्ये बध्यमाणम् । हठाग्निना भस्माग्निना । अथमर्थः,
 —मोचादीनां रसेन वैक्रान्तं सन्ध्याय वज्रकन्दादीनां चूर्णेन नरसारचूर्णेन
 च संसृज्य मेघशृङ्गौद्रवेण सह मर्दयित्वा मूकमूषायां संस्थाप्य भस्माग्निना धापितं
 कृत्वा सत्त्वमाहरेदिति ॥ ६६—६८ ॥

मतान्तरमाह, सत्तेति ।—सत्त्वपातनयोगेन सत्त्वपातनाद्येन्द्रियसंयोगेन, तानि
 भोक्तानि रसेन्द्रियान्नाशयौ यथा—“गुरुः पुरस्तथा लाक्षा पिष्ट्वाकं टङ्कणं तथा ।

मृतवैकालस्य प्रयोगविधिर्गुणश्च ।—

भस्मत्वं समुपागतो विकृतको हेन्ना मृतेनान्वितः
पादांशेन कणाऽऽज्यवेक्षसहितो गुञ्जामितः सेवितः ।
यक्ष्माणं जरणञ्च पाण्डुगुदजं श्वासञ्च कामामयं
दुष्टाञ्च ग्रहणीमुरःक्षतमुखान् रोगान् जयेद्देहकृत् ॥ ७० ॥

प्रयोगान्तरम् ।—

सूतभस्मार्द्धसंयुक्तं नीलवैक्रान्तभस्मकम् ।
मृताभ्रसत्त्वमुभयोस्तुलितं परिमर्दितम् ॥ ७१ ॥
क्षौद्राज्यसंयुतं प्रातर्गुञ्जामात्रं निषेवितम् ।
निहन्ति सकलान् रोगान् दुर्जयानन्यभेषजैः ॥
त्रिःसप्तदिवसैर्नृणां गङ्गाभ्र इव पातकम् ॥ ७२ ॥
[इति वैक्रान्ताधिकारः] ।

अथ माक्षिकम् ।—

अथ माक्षिकोत्पत्तिस्थाननिर्देशः ।—

सुवर्णशैलप्रभवो विष्णुना काञ्चनो रसः ।
ताप्यां किरातचोनेषु यवनेषु च निर्मितः ।
ताप्यः सूर्यांशुसन्तप्तो माधवे मासि दृश्यते ॥ ७३ ॥

ऊर्णां सर्ज्जरमथैव क्षुद्रनीलममन्वितम् ॥ एतत् सर्वन्तु मञ्जूर्यं क्रागौदग्धेन पिण्डिकाः ।
कृता धाताः खगाङ्गारैः सत्त्वं मुञ्चति नान्यथा ॥” इति । घटिका षष्टिपलात्मक-
दण्डरूपः कालः ॥ ६८ ॥

वैक्रान्तस्य प्रयोगविधिं गुणाश्च, भस्मत्वमिति ।—विकृतकः वैक्रान्तः । पादांशेन
वैक्रान्तापेक्षया चतुर्थांशेन भस्ममुखर्णेन । कणाऽऽज्यवेक्षसहितः पिप्पलीविडङ्ग-
प्लुतसंयुक्तः, कणादीनाञ्च मात्रा यथायोग्यं बोध्या । गुञ्जामित इत्यस्य मृतहेमान्वित-
विकृतक इत्यनेन सन्वन्धः । जरणं जराम् । “जरणम्” इत्यत्र “जठरम्” इति पाठः
समीचीनः ॥ ७० ॥

प्रयोगान्तरमाह, सूतेति ।—सूतभस्म रससिन्दूरः ॥ ७१।७२ ॥

माक्षिकोत्पत्तिस्थानमाह, सुवर्णेति ।—काञ्चनः स्वर्णभ इत्यर्थः । ताप्यां

अथ मात्तिकस्य गुणाः ।—

मधुरः काञ्चनाभासः सास्त्रो रजतसन्निभः ।

किञ्चित् कषायमधुरः शीतः पार्क कटुर्लघुः ॥

तत्त्वेवनाज्जराव्यवि-विधैर्न पारभूयते ॥ ७४ ॥

अथ मात्तिकस्य द्विविधं परिचयय ।—

मात्तिको द्विविधो हेम-मात्तिकस्तारमात्तिकः ।

तत्राऽऽद्यं मात्तिकं कान्य-कुञ्जोत्थं स्वर्णसन्निभम् ॥ ७५ ॥

तपतोत्तोरमभूतं पञ्चवर्णसुवर्णवत् ।

पाषाणबहलः प्रीतिस्ताराख्योऽल्पगुणात्मकः ॥ ७६ ॥

गुणात्तरम् ।—

मात्तिकधातुः सकलामयघ्नः प्राणो रसेन्द्रस्य परं हि वृथः ।

दुर्मेलनीहृदयमेलनश्च गुणोत्तरः सर्वरसायनाग्रः ॥ ७७ ॥

तापीनदीतीरैः । ताप्यः तापीनदीसमुद्भवः मात्तिक इति यावत् । माधवे
वेशाखे ॥ ७३ ॥

मात्तिकस्य गुणमाह, मधुर इति ।—काञ्चनाभासः स्वर्णप्रभः, मात्तिक इति
शेषः, स्वर्णमात्तिक इत्यर्थः, सास्त्रमधुरः । रजतसन्निभः, रौप्यमात्तिकः किञ्चित्
कषायमधुरः ॥ ७४ ॥

मात्तिकस्य भेदादिकमाह, मात्तिक इति ।—तारमात्तिकः रौप्यमात्तिकः । आद्यं
मात्तिकं स्वर्णमात्तिकम् । पाषाणबहलः इत्यस्य ताराख्येन सूक्तम् । योगरत्नाकरे
स्वर्णमात्तिकस्य लक्षणमुक्तं यथा—“भङ्गे सुवर्णमडाग्रो मनाक् क्षणकविर्बहिः ।
ब्रह्म इति व्यातो मात्तिकोऽत्र प्रशस्यते ॥” इति । किञ्च स्वर्णमाह्वयात् अस्य स्वर्ण-
मात्तिक इत्यभिधानं, तथा च—“किञ्चिद्वर्णमाह्वयात् स्वर्णमात्तिकमुच्यते” इति ।
अन्यच्च—“उपधातुः सुवर्णस्य किञ्चित्स्वर्णगुणान्वितम् । तथा च काञ्चनाभावे दीयते
स्वर्णमात्तिकम् ॥” इति ॥ ७५।७६ ॥

अस्य गुणात्तरमाह, मात्तिकधातुरिति ।—प्राणो रसेन्द्रस्य पारदस्य बीर्योत्कर्ष-
जनक इत्यर्थः । दुर्मेलिति ।—दुःखेन मिश्रणीयलौहहयस्य ऐक्यसम्पादकः । गुणोत्तरः
महागुणः ॥ ७७ ॥

अथ शोधनानि ।—

एरण्डतैललुङ्गाब्धु-मिडं शुध्यति माक्षिकम् ।
मिडं वा कदलीकन्द-तीयन घटिकाद्वयम् ।
तप्तं क्षिप्तं वराक्षाथे शुद्धिमायाति माक्षिकम् ॥ ७८ ॥

अथ मारणम् ।—

मातुलङ्गाब्धुगन्धाभ्यां पिष्टं मूषोदरे स्थितम् ।
पञ्चक्रोडपुटेर्दग्धं स्त्रियते माक्षिकं खलु ॥ ७९ ॥

मतान्तरम् ।—

एरण्डस्नेहगव्याजैर्मातुलङ्गरसेन वा ।
खर्परस्थं दृढं पक्वं जायते धातुसन्निभम् ॥
एवं मृतं रसे योज्यं रसायनविधावपि ॥ ८० ॥

अथ सत्त्वपातनम् ।—

त्रिंशंशनागसंयुक्तं क्षारैरस्त्वैश्च मर्दितम् ।
धातं प्रकटमूषायां सत्त्वं मुञ्चति माक्षिकम् ॥ ८१ ॥

अथ माक्षिकस्य सीसकयामः ।—

सप्तवारं परिद्राव्य क्षिप्तं निर्गुण्डकारसे ।
माक्षीकसत्त्वसन्निभं नागं नश्यति निश्चितम् ॥ ८२ ॥

शोधनान्याह, एरण्डतैलत्यादि ।—एरण्डतैललुङ्गाब्धुमिडं, दीलायस्ने इति शेषः ।
लुङ्गाब्धु मातुलङ्गरसः । पक्षान्तरमाह,—मिडमिति । प्रकारान्तरमाह, तप्तमिति ।—
वराक्षाथे त्रिफलाक्षाथे ॥ ७८ ॥

मारणमाह, मातुलङ्गेति ।—पञ्चक्रोडपुटेः वाराहपुटे पञ्च वारान् ॥ ७९ ॥

मतान्तरमाह, एरण्डस्नेहेति ।—एरण्डतैलगव्याग्धागपयोभिः सह पिष्टा इत्यर्थः ।
दृढं निश्चितं सम्यगित्यर्थो वा । धातुसन्निभं स्वर्णगैरिकतुल्यरक्ताभम् ॥ ८० ॥

सत्त्वपातनमाह, त्रिंशंशेति ।—माक्षिकापेक्षया त्रिंशद्भागैकभागसीसकयाम-
संयुक्तम् । क्षारेः स्वर्जिकायाश्चकटकपाण्ड्यक्षारवधैः । अक्षौः मातुलङ्गाद्यन्त-
र्गमरसैः ॥ ८१ ॥

माक्षिकस्य सीसकयामप्रक्रियामाह, सप्तवारमिति ।—सीसकयामौ द्रवीकृत

प्रकारान्तरेण सत्त्वपातनम् ।—

क्षौद्रगन्धर्वतैलाभ्यां गोमूत्रेण घृतेन च ।

कदलीकन्दसारेण भावितं माञ्जिकं सुहुः ॥

मूषायां मुञ्चति धातं सत्त्वं शुल्बनिभं मृदु ॥ ८३ ॥

विशुद्धमाञ्जिकसत्त्वस्य लक्षणम् ।—

गुञ्जाबीजसमच्छायं द्रुतद्रावञ्च शीतलम् ।

ताप्यमत्त्वं विशुद्धं तद्देहलोहकरं परम् ॥ ८४ ॥

माञ्जिकसत्त्वस्य प्रयोगविशेषः ।—

माञ्जीकसत्त्वञ्च रसेन पिष्टं कृत्वा विलीने च बलिं निधाय ।

सम्मिश्र्य सम्यग् च खल्वमध्ये निक्षिप्य सत्त्वं द्रुतिमभ्रकस्य ॥

॥ ८५ ॥

विधाय गोलं लवणाख्ययन्त्रे पचेद्दिनाह्नं मृदुवर्जिना च ।

स्वतः सुशीतं परिचूर्ण्य सम्यग्बल्लोन्मितं व्योषविडङ्गयुक्तम् ॥

॥ ८६ ॥

संसेवितं क्षौद्रयुतं निहन्ति जरां सरोगान्त्वपमृत्युमेव ।

दुःसाध्यरीगानपि सप्तवासैर्नैतेन तुल्योऽस्ति सुधारसोऽपि ॥

॥ ८७ ॥

सप्तवारं निर्गुण्डीरसे निर्वाप्य माञ्जिकसत्त्वेन संयोजयेत्, एवञ्च तत् अवश्यमेव तत्र विलीयेत इत्यर्थः ॥ ८२ ॥

मतान्तरे सत्त्वपातनमाह, क्षौद्रेति ।—गन्धर्वतैलम् एरण्डतैलम् । सुहुः सप्तवार-
मित्यर्थः । शुल्बनिभं ताससदृशपाटलवर्णमित्यर्थः ॥ ८३ ॥

विशुद्धस्य गुणमाह, गुञ्जाबीजिति ।—गुञ्जाबीजसमच्छायं गुञ्जामदृशरक्तवर्ण-
मित्यर्थः । द्रुतद्राव्यं द्रूयते विलीयते द्रवीभूयते अनेनेति व्युत्पत्त्या द्रुतशब्देनाव अग्निः
प्रचलति, द्रुतेन अग्निना द्राव्यं सत्तप्तं तरलीभूतमित्यर्थः ॥ ८४ ॥

प्रयोगविधिमाह, माञ्जीकिति ।—विलीने मिश्रिते इत्यर्थः । बलिं गन्धकम् ।
सत्त्वमित्यादि ।—वैद्यस्य तरलसारेमित्यर्थः । लवणाख्ययन्त्रे लवणयन्त्रे तज्जलणञ्जापे
कृत्यति ॥ ८५—८७ ॥

अथ माक्षिकसत्त्वद्रावणम् ।—

एरण्डोत्थेन तैलेन गुञ्जा द्यौद्रक्ष टङ्कणम् ।

मर्दितं तस्य वापेन सत्त्वं माक्षीकजं द्रवेत् ॥ ८८ ॥

[इति माक्षिकाधिकारः] ।

अथ विमलः ।—

अथ विमलभेदाः ।—

विमलस्त्रिविधः प्रोक्तो हेमादयस्तारपूर्वकः ।

तृतीयः कांस्यविमलस्तत्तत्कान्त्या म लक्ष्यते ॥ ८९ ॥

अथ विमलस्य लक्षणं गुणाश्च ।—

वर्तुलः कोणसंयुक्तः स्निग्धश्च फलकान्वितः ।

मरुत्पित्तहरो वृथो विमलोऽतिरसायनः ॥ ९० ॥

अथ विविधस्य तस्य क्रियाविशेषः ।—

पूर्वो हेमक्रियासूक्तो द्वितीयो रूप्यकन्धतः ।

तृतीयो भेषजे तेषु पूर्वपूर्वो गुणोत्तरः ॥ ९१ ॥

अथ विमलशोधनम् ।—

आटरुषजले स्विन्नो विमलो विमलो भवेत् ।

जम्बीरस्वरसे स्विन्नो भेषशृङ्गीरसेऽथवा ।

आयाति शुद्धिं विमलो धातवश्च यथा परे ॥ ९२ ॥

माक्षिकसत्त्वद्रावणमाह. एरण्डोत्थेनेति ।—गुञ्जा गुञ्जावोजम् । तस्य वापेन मृष्ट-
गुञ्जादेः तत्र प्रक्षेपेण तत्कल्कमध्ये स्थापनेनेत्यर्थः ॥ ८८ ॥

विमलस्य भेदमाह, विमल इति ।—विमलः माक्षिकविशेषः । तत्तत्कान्त्या
हेमादीनां प्रभया । पर्यायमुक्तावलीकृता विमलग्रन्थेन रौप्यमाक्षिकं गृहीतम् ॥ ८९ ॥

विमलस्याकृतिं गुणांश्चाह, वर्तुल इति ।—सुगमम् ॥ ९० ॥

विविधस्य तस्य क्रियाविशेषमाह, पूर्व इति ।—हेमक्रियामु लक्षणाभावे तत्कार्य-
करणार्थमित्यर्थः । रूप्यकत् रौप्यकार्यमदित्यर्थः ॥ ९१ ॥

तथा शोधनमाह, आटरुषेति ।—आटरुषजले वासककृष्ण-
शृङ्गीरसे काथे वा ।
शुद्धिः, दीप्तावन्ति इति शेषः । परे अन्ये ॥ ९२ ॥

अथ विमलसारणम् ।—

गन्धाश्मलकुचान्मेष म्रियते दशभिः पुटैः ॥ ८३ ॥

अथ सत्त्वपातनम् ।—

सटङ्कलकुचद्रावैर्मेषशृङ्गाश्च भस्मना ।

पिष्टो मृषोदरे लिप्तः संशोष्य च निरुध्य च ॥ ८४ ॥

षट्प्रस्थकोकिलैर्धातो विमलः सीससन्निभः ।

सत्त्वं मुञ्चति तद्युक्तो रसः स्यात् स रसायनः ॥ ८५ ॥

मतान्तरम् ।—

विमलं शिशुतोयेन काङ्क्षी कासौमटङ्कणम् ।

वज्रकन्दममायुक्तं भावितं कदलोरसैः ॥ ८६ ॥

मोक्षक-क्षारसंयुक्तं धापितं मूकमूषगम् ।

सत्त्वं चन्द्रार्कसङ्काशं पतते नात्र संशयः ॥ ८७ ॥

अथ प्रयोगविधिः ।—

तत् सत्त्वं सूतसंयुक्तं पिष्टं कृत्वा सुमर्दितम् ।

विलीनं गन्धके क्षिप्त्वा जारयेत्त्रिगुणालकम् ॥ ८८ ॥

शिलां पञ्चगुणाञ्चापि बालुकायन्त्रके खलु ।

तारभस्म दशांशेन तावद्वैक्रान्तकं मृतम् ॥ ८९ ॥

विमलस्य सारणमाह, गन्धाश्मेति ।—गन्धाश्मा गन्धकः, लकुचः लकुचस्वरसः, लकुचः “उडुया” “मन्दार” इति वा ख्यातः अम्लः अम्लवर्गः ते ते ॥ ८३ ॥

सत्त्वसङ्कटङ्कणमाह, सटङ्केति ।—षट्प्रस्थकोकिलैः हादशशरावमितवदर-काष्ठाकारैः ; विमलं टङ्कणसमेषशृङ्गौभस्मभ्यां सम्मिश्रं लकुचद्रावै, पिष्टा मूषागर्भे संलिप्यातपि संशोष्य पश्चात् मूषा तां निरुध्य हादशशरावमितवदरकाष्ठाकारेण भस्मया धापयेत्, तेन विमलः सीसकसदृशः सन् सत्त्वं मुञ्चतीति निष्कर्षः ॥ ८४।८५ ॥

प्रकारान्तरमाह, विमलमिति ।—काङ्क्षी सौराष्ट्रभूमिका । माचकः सुष्कः चण्डापाटला इति यावत् ; काङ्क्षादिबज्रकन्दानैः विमलं अंशोज्ञ शिशुमूलरसेन तथा कदलीमूलरसेन च भावयित्वा चण्डापाटलिकाक्षारेण सम्मिश्रं मूषामध्ये स्थापयित्वा धमेदिकथं ॥ ८६।८७ ॥

विमलसत्त्वस्य प्रयोगं गुणांवाह, तत्सत्त्वमिति ।—जारयेत् त्रिगुणालकं विमल-

सर्वमेकत्र सञ्चूर्ण्य पटेन परिगाल्य च ।

निक्षिप्य कूपिकामध्ये परिपूर्य्य प्रयत्नतः ॥ १०० ॥

लीढो व्योषवरान्वितो विमलको युक्तो घृतैः सेवितो

हन्याद्दुर्भगकञ्जरान् श्वयथुकं पाण्डुप्रमेहारुचीः ।

मूलार्तिं ग्रहणीञ्च शूलमतुलं यक्ष्मामयं कामलां

सर्वान् पित्तमरुद्गदान् किमपरैर्योगैरशेषामयान् ॥ १०१ ॥

[इति विमलाधिकारः] ।

अथ शिलाजतु ।—

अथ शिलाजतुनो भेदः ।—

शिलाधातुर्द्विधा प्रोक्तो गोमूत्राद्यो रसायनः ।

कर्पूरपूर्वकश्चान्यस्तत्राऽऽद्यो द्विविधः पुनः ॥

ससत्त्वश्चैव निःसत्त्वस्तयोः पूर्वो गुणाधिकः ॥ १०२ ॥

अथ शिलाजतुन उत्पत्तिकथनम् ।—

ग्रीष्मे तीव्राकर्तसेभ्यः पादेभ्यो ह्रिमभूभृतः ।

स्वर्णरूप्याकर्गर्भेभ्यः शिलाधातुर्विनिःसरेत् ॥ १०३ ॥

सत्त्वपित्तशोषविगुणहरितालं दत्त्वा जारणां कुर्यादित्यर्थः । “जायते विगुणात्ककम्” इति पाठे—वातपित्तकफनाशनरूपगुणत्रयविशिष्टम् इत्यर्थः । दुर्भगकञ्जरान् शोहीनताकरञ्जरान्, वैरूप्यजनकञ्जरानित्यर्थः, यद्वा,—दुर्भगकृत भगन्दरः । मूलार्तिं शिरीरीगम् । अयमर्थः,—विमलसत्त्वं तुल्यरसेन सम्यग्यं पक्वीभूते मति हयोस्तुल्यं गन्धकं विगुणहरितालं तथा पञ्चगुणमनःशिलाञ्च दत्त्वा सन्निभ्य बालुकायन्त्रे दिनमेकं पचत, स्वाङ्गशीते च समुहृत्य दशमांशरीष्यभक्ष्यं तावच्च जतवैकालं दत्त्वा सञ्चूर्ण्य वस्त्रपूतं काचकूप्यां स्थापयेत् । तच्चूर्णमनुरूपं गृहीत्वा व्याघ्रादिभिः सह सेवितं वक्ष्यमाणगुणं कुर्यात् इति वृद्धाः ॥ ८८—१०१ ॥

अथ शिलाजतुनो द्विविध्यमाह, शिलेति ।—गोमूत्राद्यः गोमूत्रशिलाजतु गोमूत्र-
मन्त्रिशिलाजतु इत्यर्थः । अन्यः कर्पूरपूर्वकः कर्पूरशिलाजतु कर्पूरमन्त्रिशिलाजतु
इत्यर्थः । पूर्वः गोमूत्रशिलाजतु ॥ १०२ ॥

शिलाजतुन उत्पत्तिमाह, ग्रीष्मे इति ।—पार्श्वः प्रत्यक्षपूर्वसेभ्यः । स्वर्णरूप्या-
कर्गर्भेभ्यः गर्भे येषां तैभ्यः । अर्कः तावत् ॥ १०३ ॥

अथ विविधस्य तस्य गुणाः । —

स्वर्णगर्भगिरिर्जातो जपापुष्पनिभो गुरुः ।

स स्वल्पनिक्तः सुखादुः परमं तद्रमायनम् ॥ १०४ ॥

रूप्यगर्भगिरिर्जातं मधुरं पाण्डुरं गुरु ।

शिलाजं पित्तरोगघ्नं विशेषात् पाण्डुरोगहृत् ॥ १०५ ॥

ताम्रगर्भगिरिर्जातं नीलवर्णं घनं गुरु ।

शिलाजं कफवातघ्नं तिक्तोष्णं क्षयरोगहृत् ॥ १०६ ॥

अथ विग्रहशिलाजतुल्यवचनम् । —

वक्त्रो क्षिप्तं भवेद्यत्तल्लिङ्गाकारमधूमकम् ।

सलिलेऽप्यविलीनश्च तच्छुद्धं हि शिलाजतु ॥ १०७ ॥

अथ गुणाः । —

नूनं सज्जरपाण्डुशोफशमनं मेहाग्निमान्यापहं

मदश्चेदकरश्च यक्षशमनं शूलामयोन्मूलनम् ।

• गुल्मप्लीहविनाशनं जठर-हृच्छूलघ्नमामापहं

सर्वत्वग्दनाशनं किमपरं देहे च लोहे हितम् ॥ १०८ ॥

रसोपरस-सूतेन्द्र-रत्न-लोहेषु ये गुणाः ।

वसन्ति ते शिलाधातौ जरामृत्युजिगीषया ॥ १०९ ॥

तत्रादौ स्वर्णादिव्य उत्पत्तिभेदेन विविधस्य गोमूवगन्धिनः तस्य लक्षणमादिकमाह, स्वर्णेति । — तस्मान्नारे तु उत्पत्तिभेदेन भिन्नस्य तस्य धातुर्विध्यमुक्तं, यथा चरकः — “नात्युष्णशीतं धातुभ्यश्चतुर्भ्यस्तस्य सम्भवः । हृत्कोऽथ रजताभाभात वरं कालायनादपि ॥” इति । अत्र तु आयसं गौतमं, तल्लक्षणमपि तत्रैव द्रष्टव्यं यथा — “यत् गुग्गुलु-सङ्काशं तिक्तकं लवणान्वितम् । विपाके कटु शीतश्च सर्वश्रेष्ठं तदायसम् ॥ गोमूवगन्धि-सर्वेषां सर्वकर्मसु यौगिकम् । रसायनप्रयोगेषु पश्चिमन्तु विशिष्यते ॥” इति । अत्र हैम-शिलाजतुनो परमरसायनत्वेनोक्तत्वात् आयसस्यापि मुख्यतः रसायनगुणत्वेन एक-कार्यकत्वात् आयसं पृथङ्गोक्तमिति मन्तव्यम् ॥ १०४ — १०६ ॥

विग्रहस्य तस्य लिङ्गमाह, वक्त्राविति । — सुगमम् ॥ १०७ ॥

तस्य गुणमाह, नूनमिति । — देहे च लोहे हितं — देहस्य स्निग्धरीकरणे रक्तवर्धन-क्रियायाश्च हितम् ॥ १०८ ॥ १०९ ॥

अथ शोधनम् ।—

क्षाराम्लगोजलेर्धौतं शुध्यत्येव शिलाजतु ॥ ११० ॥

मतान्तरम् ।—

शिलाधातुश्च दुग्धेन त्रिफला-मार्कवद्रवैः ।

लोहपात्रे विनिक्षिप्य शोधयेदतियत्नतः ॥ १११ ॥

मतान्तरम् ।—

क्षाराम्लगुगुलोपेतैः स्वेदनीयन्तमध्यगैः ।

स्वेदितो घाटिकामानाच्छिलाधातुर्विशुध्यति ॥ ११२ ॥

अथ मारणम् ।—

शिलया गन्धतालाभ्यां मातुलुङ्गरसेन च ।

पुटितो हि शिलाधातुर्भ्रम्यतेऽष्टगिरिखड्कैः ॥ ११३ ॥

अथ प्रयोगविधिः ।—

भस्मीभूतशिलोद्भवं समतुलं कान्तञ्च वैक्रान्तकं

युक्तञ्च त्रिफलाकटुत्रिकष्टतैर्वस्त्रेण तुल्यं भजेत् ।

शिलाजतुशोधनमाह, चारिति ।—अत्र जलशब्दः क्षारादिभिः प्रत्येकं सम्बध्यते, ततश्च यवक्षारीदकेन काञ्चिकेन गोमूत्रेण च लोहपात्रे एकैकदिनं धौतं कृत्वा पातपे भक्ष्यं गृह्णीयात् । अत्र यद्यपि पातपशोधनं नीतं तथाऽपि तन्मतान्तरदर्शनात् ब्रह्म-वैद्यन्यवहारसिद्धत्वाच्च तत् कार्यम् ॥ ११० ॥

मतान्तरमाह, शिलिति ।—अत्रापि पूर्ववत् प्रत्येकद्रवेषु एकैकदिनं मर्दयित्वा पातपे भक्ष्यं शोधयेदित्यर्थः ॥ १११ ॥

मतान्तरमाह, चारिति ।—क्षाराम्लगुगुलोपेतैरित्यस्य “दुग्धेन त्रिफलामार्कवद्रवैः” इति पूर्ववाक्येन सम्बन्धः कल्पनीयः । स्वेदनीयन्तमये वक्ष्यति । स्वेदनप्रकारश्चायं—स्थालीमध्ये दुग्धादिगुगुलान्तं सर्वमेकौकृत्य निधाय स्थालीमुखं वस्त्रेण बद्धा तदुपरि शिलाजतु संस्थाप्य शरावेणाच्छाद्य सन्धिं लिप्ता घटिकां यावत् स्वेदयेत् इति ॥ ११२ ॥

मारणमाह, शिलयेति ।—शिलया मनःशिलया । शिलादीनां प्रत्येकं शिलाजतु-तुल्यत्वं मातुलुङ्गरसस्य पेषणयोग्यो दैवः । गिरिखड्कः वनोपलः ॥ ११३ ॥

पाण्डौ यक्षगदे तथाऽग्निसदने मेहेषु मूलामये
गुल्फोद्ग-महोदरे बहुविधे शूले च योन्यामये ॥ ११४ ॥
सेवेत यदि षण्मासं रसायनविधानतः ।
वलीपलितनिर्मुक्तो जीवेद्वर्षशतं सुखी ॥ ११५ ॥

अथ सत्त्वपातनम् ।—

पिष्टं द्रावणवर्गेण साम्नेन गिरिसम्भवम् ।
क्षिप्वा मूषोटरे रुद्धा गाढैर्धातं हि कोकिलैः ॥
सत्त्वं मुञ्चेच्छिलाधातुस्तत्क्षणात् लोहसन्निभम् ॥ ११६ ॥

कर्पूरशिलाजतुनो लक्षणादिकम् ।—

पाण्डुरं सिकताकारं कर्पूराद्यं शिलाजतु ।
मूत्रकच्छाश्मरीमेह-कामलापाण्डुनाशनम् ॥ ११७ ॥

अथ तस्य शोधनम् ।—

एलातोयेन सन्निभं सिद्धं शुद्धिसुपैति तत् ।
नैतस्य मारणं सत्त्व-पातनं विहितं बुधैः ॥ ११८ ॥

[इति शिलाजत्वधिकारः] ।

सुतशिलाजतुनः प्रयोगं गुणाश्चाह, भस्मोभूतेति ।—समत्तुलं समपरिमितम् ।
कालं काललोहम् । बल्लेन तुल्यमिति भस्मोभूतशिलोद्भवामल्येन सह योज-
नीयम् । कालवेकान्तयोः प्रत्येकं तत्समत्वम् । त्रिफलादिकमनु७५ इत्या-
सेव्यम् । मूलामये शिरोरोगे । रसायनविधानतः कुटीप्रवेशादिरसायनविधि-
मनुसृत्येत्यर्थः ॥ ११४।११५ ॥

सत्त्वपातनमाह, पिष्टमिति ।—द्रावणवर्गेण “गुङ्गुलुगुग्गुज्जाज्य-सारघ्नेष्टङ्गुणा-
न्वितेः । दुद्रांवाखिललोहाद्रेद्रांश्चाय गयो मतः ॥” इति वक्ष्यमाणवर्गेण । साम्नेन
सकाग्निकेन । कोकिलैः वादराकारैः ॥ ११६ ॥

इदानीं कर्पूरगन्धिशिलाजतुनो लक्षणादिकमाह, पाण्डुरमिति ।—सुगन्धम् ॥ ११७ ॥

तस्य शोधनमाह, एलेति ।—सन्निभं मिश्रितं मदितं वा । सिद्धम् एलातोयेनैव
क्षिप्तम् । नैतस्येति ।—एतस्य कर्पूरशिलाजतुनः ॥ ११८ ॥

अथ सस्यकः ।—

अथ सस्यकोत्पत्तिः ।—

पीत्वा हालाहलं वान्तं पीतामृतगरुत्मता ।

विषेणामृतयुक्तेन गिरौ मरकताह्वये ॥

तद्वान्तं हि घनीभूतं सञ्जातं सस्यकं खलु ॥ ११८ ॥

अथ प्रशस्तसस्यकलक्षणम् ।—

मयूरकण्ठसच्छायं भाराढ्यमतिशस्यते ॥ १२० ॥

अथ सस्यकस्योत्कर्षकथनम् ।—

द्रव्यं विषयुतं यत्तद्द्रव्याधिकगुणं भवेत् ।

सुधा हालाहलेर्युक्ता सुधाधिकगुणा तथा ॥ १२१ ॥

अथ गुणाः ।—

निःशेषदोष-विष-हृद्गद-शूल-मूल-

कुष्ठाम्लपैत्तिक-विबन्धहरं परञ्च ।

रसायनं वमनरेककरं गरघ्नं

श्वित्रापहं गदितमत्र मयूरतुल्यम् ॥ १२२ ॥

सस्यकोत्पत्तिमाह, पीलेति ।—वान्तं वमनं कृतम् । पीतामृतगरुत्मता अमृतं पीतवता गरुडेन । सस्यकं तुल्यकम् । गरुडोद्ग्रीष्मविषममृतं कालेन घनीभूतं सस्यकं जातमित्यर्थः । यद्यप्यस्य भेदादिकं कण्ठरवेण नीतं, तथाऽपि तन्मान्तर-दृशनात् द्वैविध्यं ज्ञेयम् ; यथा—“तुल्यं द्विविधं—मयूरं खर्परीतुल्यञ्च । तुल्यं कटु-कषायोष्णं श्वित्रनेत्रामयापहम् । विषदोषेषु सर्वेषु प्रशस्तं वान्तिकारकम् ॥ खर्परी कटुका तिक्ता चक्षुष्या च रसायनी । त्वग्दोषशमनी रुच्या दीप्या पुष्टिवर्द्धनी ॥” इति रत्नमालायाम् ॥ ११८ ॥

प्रशस्तसस्यकस्य लक्षणमाह, मयूरेति ।—सुगमम् ॥ १२० ॥

तस्य औत्कर्ष्यमाह, द्रव्यमिति ।—यत् द्रव्यं विषयुतं तत् द्रव्यं द्रव्यात् विषरहित-तत्त्वजातीयादिति भावः, अधिकगुणं भवेत् ॥ १२१ ॥

तस्य गुणमाह, निःशेषेति ।—रेककरं विरचकम् । मयूरतुल्यं मयूरकण्ठाभि-तुल्यकम् । गरघ्नं संयोगविषनाशनम् ॥ १२२ ॥

अथ शोधनम् ।—

सस्यकं शुद्धिमाप्नोति रक्तवर्गेण भावितम् ॥ १२३ ॥

मतान्नरम् ।—

स्नेहवर्गेण संसिक्तं सप्तवारमदूषितम् ।

दोलायन्त्रेण सुखिन्नं सस्यकं प्रहरत्रयम् ॥

गोमहिष्याजमूत्रेषु शुध्यते—” ॥ १२४ ॥

अथ तुल्यखर्परमारणम् ।—

—तुल्यखर्परम् ।

लकुचद्राव-गन्धाश्म-टङ्गणेन समन्वितम् ॥

निरुध्य मूषिकामध्ये म्रियते कौकुटैः पुटैः ॥ १२५ ॥

अथ सत्त्वपातनम् ।—

सस्यकस्य तु चूर्णन्तु पाटसौभाग्यसंयुतम् ।

करञ्जतैलमध्यस्थं दिनमेकं निधापयेत् ॥ १२६ ॥

अन्धमूषाऽऽस्यमध्यस्थं ध्यापयेत् कोकिलत्रयम् ।

इन्द्रगोपाकृति चैव सत्त्वं भवति शोभनम् ॥ १२७ ॥

शोधनमाह, सस्यकमिति ।—रक्तवर्गेण वक्ष्यमाणकुसुमादिकाद्येनेत्यर्थः । भावित-
मित्यत्र सप्तवारमिति शेषः ॥ १२३ ॥

मतान्नरे शोधनमाह, स्नेहमिति ।—स्नेहवर्गेण घृततैलवसामज्जरूपेण सप्तवारं
संसिक्तं भावितमित्यर्थः । अदूषितं विशुद्धम् । गोमहिष्याजमूत्रेषु दोलायन्त्रेण
प्रहरत्रयं सुखिन्नमित्यन्वयः ॥ १२४ ॥

खर्परंतुल्यमारणमाह, तुल्यखर्परमिति ।—कौकुटैः पुटैः,—“अथः षडङ्गुलं खातं
अतुदिच्छु च तादृशम् । एतं कुक्कुटनामानं पुटं विद्याद्भग्वरः ॥” इत्युक्तलक्षणकैः
द्वयवर्गीयपलसाध्यपुटविशेषैः ॥ १२५ ॥

सत्त्वपातनमाह, सस्यकस्येति ।—पाटसौभाग्यसंयुतं सस्यकापेक्षया चतुर्थांश-
टङ्गणसंयुक्तम् । कोकिलत्रयं कोकिलेन वदरकाष्ठाकारेण द्रव्यं वारद्वयम् इत्यर्थः ।
इन्द्रगोपाकृति तदाख्यरक्तवर्णकौटविशेषसदृशम्, आरक्तवर्णमित्यर्थः ॥ १२६, १२७ ॥

मतान्तरम् ।—

निम्बुद्रवाल्पटङ्गाभ्यां मूषामध्ये निरुध्य च ।

ताम्ररूपं परिष्कातं सत्त्वं मुञ्चति सस्यकम् ॥ १२८ ॥

मतान्तरम् ।—

शुद्धं सस्यं शिखिक्रान्तं पूर्वभेषजसंयुतम् ।

नानाविधानयोगेन सत्त्वं मुञ्चति निश्चितम् ॥ १२९ ॥

अथ प्रयोगविधिः ।—

सत्त्वमेतत् समादाय खर-भूनागसत्त्वयुक् ।

तन्मुद्रिका कृतस्पर्शा शूलघ्नी तत्क्षणाद्भवेत् ॥ १३० ॥

चराचरं विषं भूत-डाकिनी-दृग्गतं जयेत् ।

मुद्रिकेयं विधातव्या दृष्टप्रत्ययकारिका ॥ १३१ ॥

अथ भालुकितन्त्रोक्तप्रयोगविधिः ।—

“रामवत्सोमसेनानीर्मुद्रितेऽपि तथाऽक्षरम् ।

हिमालयोत्तरे पार्श्वे अश्वकर्णो महाद्रुमः ॥

मतान्तरमाह, निम्बुद्रवेति ।—अल्पटङ्गः पादसौभाग्यमित्यर्थः । ताम्ररूपं ताम्रवर्णं सत्त्वमिति योजनीयम् ॥ १२८ ॥

मतान्तरमाह, शुद्धमिति ।—शिखिक्रान्तं वज्रिणा दग्धम् । पूर्वभेषजसंयुतं पूर्वोक्तनिम्बुद्रवादिसमन्वितमित्यर्थः ॥ १२९ ॥

प्रयोगविधिमाह, सत्त्वमिति ।—खरभूनागसत्त्वयुक् खरः दुरालभा भूनाग-सत्त्वं सीसकसारः ताभ्या युनक्ति इति खरभूनागसत्त्वयुक् । “खर” इत्यत्र “कर्ष” इति पाठः समीचीनः ; तत्पक्षे—कर्षं भूनागसत्त्वमिति । मुद्रिका चाक्रिका इत्यर्थः । तन्मुद्रिकेत्यादि ।—पूर्वोक्तविधानेन सङ्गृहीततुल्यकसत्त्वं सीसकसत्त्वेन तुल्येन संयोज्य दुरालभासेन चक्रिकां विधाय शूलघ्नी गठरोपरि आनयेत् तत्क्षणादेव शूलादिकं नश्यतीत्यर्थः । चराचरमित्यादि ।—चराचरं स्वावरजङ्गमं तथा भूतडाकिन्योः दृग्गतं दृग्जनजनितं विषमिति योजनीयम् ॥ १३०-१३१ ॥

तत्र शूलं समुत्पन्नं तत्रैव विलयं गतम् ॥ १३२ ॥

मन्त्रेणानेन मुद्राऽभो निपीतं सप्तमन्त्रितम् ।

सद्यः शूलहरं प्रोक्तमिति भालुकिभाषितम् ॥ १३३ ॥

अथ प्रयोगान्तरम् ।—

अनया मुद्रया तप्तं तैलमग्नौ सुनिश्चितम् ।

लेपितं हन्ति वेगेन शूलं यत्र क्वचिद्भवेत् ॥

सद्यः सूतिकरं नार्थ्याः सद्यो नेत्ररुजापहम् ॥ १३४ ॥

[इति सस्यकाधिकारः].।

अथ चपलः ।—

अथ चपलस्य भेदादिकथनं । नरुक्तम् ।—

गौरः श्वेतोऽरुणः कृष्णश्चपलस्तु चतुर्विधः ।

हेमाभश्चैव ताराभो विशेषाद्रमबन्धनः ॥ १३५ ॥

शेषौ तु मध्यौ लाक्षावच्छीघ्रद्रावौ तु निष्फलो ।

वङ्गवद्भवते वङ्गौ चपलस्तेन कीर्तितः ॥ १३६ ॥

अथ गुणाः ।—

चपलो लेखनः स्निग्धो देहलोहकरो मतः ।

रसराजसहायः स्यान्निक्ताणामधुरो मतः ॥ १३७ ॥

भालुकिमन्त्रितप्रयोगभेदमाह. रामवदिति ।—रामवदित्यादि गतमित्यन्तेन मन्त्रेण सप्तवारमभिमन्त्रितं मुद्रानिषिक्तं जलं पीतमेव शूलहरं भवेदित्यर्थः ॥ १३२।१३३॥

प्रयोगान्तरमाह, अनयेति ।—सूतिकरं प्रसवकारकम् ॥ १३४ ॥

चपलस्य भेदं निरुक्तिमाह, गौर इति ।—चपलः यशसः, दक्षोति लोके । हेमाभः गौर इत्यर्थः । ताराभः श्वेतः । शेषौ कृष्णारुणौ । मध्यौ मध्यमगुणसम्पन्नौ । लाक्षेति ।—कृष्णारुणौ लाक्षावत् शीघ्रद्रावौ चेत् निष्फलो इत्यर्थः । निरुक्तिर्यथा वङ्गवदिति ।—सुगमम् ॥ १३५।१३६ ॥

गुणमाह, चपल इति ।—लेखनः सूक्ष्मसंविदारणः वालिकरो वा, अर्धसंविदारण-क्रियासु वसनकार्येषु वा प्रयोज्यः इत्यर्थः । रसरामस्य पारदस्य सहायः रुंयोगेन गुणाधिक्यजनक इत्यर्थः ॥ १३७ ॥

अथ वर्णाकृतिभेदेन गुणभेदः ।—

चपलः स्फटिकच्छायः षड्सः स्निग्धको गुरुः ।

त्रिदोषघ्नाऽतिवृथश्च रसबन्धविधायकः ॥ १३८ ॥

चपलस्य महारसत्वकथनम् ।—

महारसेषु कैश्चिद्भि चपलः परिकीर्तितः ॥ १३९ ॥

अथ शोधनम् ।—

जम्बीरककोटकमृङ्गवेरैर्विभावनाभिश्चपलस्य शुद्धिः ॥ १४० ॥

अथ सत्त्वपातनम् ।—

शैलन्तु चूर्णयित्वा तु धान्यान्लोपविषैर्विषैः ।

पिण्डं बद्ध्वा तु विधिवत् पातयेच्चपलं तथा ॥ १४१ ॥

[इति चपलाधिकारः] ।

वर्णाकृतिभेदेन तस्य गुणभेदमाह, चपल इति ।—षड्सः षट्कोणविंशष्टः ; स्फटिकच्छायः षड्सः चपलः स्निग्ध इत्यादिगुणविंशष्टः ॥ १३८ ॥

तन्त्रान्तरं उपरसमध्य पाठता एते अभादयः निबन्धकता महारसोपरसभेदेन विधा विभज्य साक्षात्कृताः, अभादीनां महावीर्यत्वात् बहुलप्रयोगदर्शनाच्च महारसत्वन्तु कदाचित् युज्यते, चपलस्य तु न तथात्वं दृश्यते, अतस्तत्त्वोपरसत्वमाशङ्कमानानां मतं निरासतु स्तोकोदाख्यार्थमाह, महति ।—सुगमम् ॥ १३९ ॥

शोधनमाह, जम्बीरैरिति ।—ककोटकः “कौकरोल” इति ख्यातः ; जम्बीरादीनां रसेः सप्तभिर्भावनाभिः विमुञ्चिमायातीत्यर्थः ॥ १४० ॥

सत्त्वपातनमाह, शैलमिति ।—शैलं शिलाशतम् । उपविषाणि लाङ्गल्यादीन्वये चक्ष्यमाणानि । विषाणि शृङ्गादीन् तान्बध्यये वाच्यानि, शैलादि चपलान् द्रव्यजातं काष्ठिकेन सम्यक् पिण्डं कृत्वा पूर्ववत् मूषामध्ये निरुध्य कौबिलैर्भापयेत्, तेन सत्त्वं मुञ्चेदित्यर्थः ॥ १४१ ॥

अथ रसकः ।—

अथ रसकस्य भेदलक्षणम् ।—

रसको द्विविधः प्रोक्तो दुर्दुरः कारवेत्तकः ।

सदलो दुर्दुरः प्रोक्तो निर्दलः कारवेत्तकः ॥ १४२ ॥

तयोः प्रयोगविषयः गुणाश्च ।—

सत्त्वपाते शुभः पूर्वं द्वितीयश्चौषधादिषु ।

रसकः सर्वमेहघ्नः कफपित्तविनाशनः ॥

नेत्ररोगक्षयघ्नश्च लोहपारटरञ्जनः ॥ १४३ ॥

नागार्जनेन सन्दिष्टो रसश्च रसकावभौ ।

श्रेष्ठौ सिद्धरसौ ख्यातौ देहलोहकरो परम् ॥ १४४ ॥

रसश्च रसकश्चौभौ येनाग्निसहनौ कृतौ ।

देहलोहमयो सिद्धिर्दामो तस्य न संशयः ॥ १४५ ॥

अथ शोधनम् ।—

कटुकालावुनिर्यास आलोक्ष्य रसकं पचेत् ।

प्लुङ्गं दोषविनिर्मुक्तं पीतवर्णञ्च जायते ॥ १४६ ॥

मतान्तरम् ।—

खर्परः परिसन्तप्तः समवारं निमज्जितः ।

बीजपूर-रमस्यान्तर्निर्मलत्वं समश्नुते ॥ १४७ ॥

रसकस्य द्विविध्यं लक्षणञ्चाह, रसक इति ।—रसकः खर्परीतुल्यकविशेषः ; यदुक्तं भावप्रकाशे—“खर्परीतुल्यकं तुल्यादव्यक्तं रसकं स्मृतम् । ये गुणास्तुल्यके प्रोक्तास्ते गुणाः रसके स्मृताः ॥” इति । सदलः सपत्रः, वंशपत्रहरितालवदिति भावः ॥ १४२ ॥ कायेषु प्रयोगं गुणाञ्चाह, सत्त्वपाते इति ।—पूर्वः दुर्दुरः । द्वितीयः कारवेत्तकः ॥ १४३—१४५ ॥

शोधनमाह, कटुकेति ।—पचेत् इत्यत्र दीक्षायन्ते इति शेषः ॥ १४६ ॥

मतान्तरमाह, खर्पर इति ।—खर्परमग्नौ समाप्य मातुलुङ्गरसाभ्यन्तरे निमज्जेत् प्लुङ्गं समवारकरणेन मुद्धिमायातीत्यर्थः ॥ १४७ ॥

सतान्तरम् ।—

नृमूत्रे वाऽश्वमूत्रे वा तक्ने वा काष्णिकेऽथवा ।

प्रताप्य मज्जितं सम्यक् खर्परं परिशुध्यति ॥ १४८ ॥

अथ रसकस्य ताम्रादिरञ्जनविधिः ।—

नरमूत्रे स्थितो मासं रसको रञ्जयेद्भ्रुवम् ।

शुद्धताम्रं रसं तारं शुद्धस्वर्णप्रभं यथा ॥ १४९ ॥

अथ सत्त्वमङ्गुष्ठः ।—

हरिद्रा-त्रिफला-राल-मिन्धु-धूमैः सटङ्कणैः ।

मारुष्करैश्च पादांशैः सान्धैः सम्यग् खर्परम् ॥ १५० ॥

लिप्तं वृन्ताकमूषायां शोषयित्वा निरुध्य च ।

मूषां मूषोपरि न्यस्य खर्परं प्रधमेत्ततः ॥ १५१ ॥

खर्परे प्रद्रुते ज्वाला भवेन्नीला सिता यदि ।

तदा सन्दंशतां मूषां धृत्वा कृत्वा त्वधोमुखीम् ॥ १५२ ॥

शनैरास्फालयेद्भूमौ यथा नालं न भज्यते ।

वङ्गाभं पतितं सत्त्वं समादाय नियोजयेत् ॥

एवं त्रिचतुरैर्वारैः सर्वं सत्त्वं विनिःसरेत् ॥ १५३ ॥

सतान्तरमाह, नृमूत्रे इति ।—अमानुक्तत्वेऽपि पूर्ववत् सप्तवारं निमज्जनं ज्ञेयम् ॥ १४८ ॥

तस्य ताम्रादिरञ्जनविधिमाह, नरमूत्रे इति ।—सुगमम् ॥ १४९ ॥

सत्त्वमङ्गुष्ठमाह, हरिद्रेति ।—रालः सज्जरसः । धूमः गृहधूमः । मारुष्करः भस्मातकः । वृन्ताकमूषालक्षणञ्चाये वाच्यम् । शोषितखर्परं प्रत्येकं पादांशैः हरिद्रादिभिः सह काष्णिकाग्नेन सम्यग् वृन्ताकमूषोदरे लिप्ता आतपे संशोष्य निरुध्य मूषान्तरीपरि संस्थाप्य च भस्त्राग्निना प्रधमेत् । खर्परे द्रवीभूते सति नील-वर्णानलशिखा यदा शुभा भवेत्, तदा सन्दंशेन मूषां गृहीत्वा अधोमुखीं कृत्वा च तालदण्डं यथा न भज्यते तथा भूमौ सन्दं सन्दं ताडयेत्, एवं त्रिचतुरारान् कुर्यात् कृत्यपदेशः ॥ १५०—१५३ ॥

मतान्तरम् ।—

सामया-जतु-भूनाग-निशा-धूमज-टङ्कणम् ।

मूकमूषागतं धातं शुद्धं सत्त्वं विमुञ्चति ॥ १५४ ॥

मतान्तरम् ।—

लाक्षा-गुडामुरी-पथ्या-हरिद्रा-सर्ज-टङ्कणैः ।

सम्यक् सञ्चूर्ण्य तत् पक्वं गोदुग्धेन घृतेन च ॥ १५५ ॥

हन्ताकमूषिकामध्ये निरुध्य गुटिकाकृतिम् ।

धात्वा धात्वा समाकृष्य ढालयित्वा शिलातले ॥

सत्त्वं वङ्गाकृतिं ग्राह्यं रसकस्य मनोहरम् ॥ १५६ ॥

मतान्तरम् ।—

यद्वा जलयुतां स्थालीं निखनेत् कोष्ठिकोदरे ।

सच्छिद्रं तन्मुखे मल्लं तन्मुखेऽधोमुखीं क्षिपेत् ॥ १५७ ॥

मूषोपरि शिखित्वांश्च प्रक्षिप्य प्रथमेद्दृढम् ।

पतितं स्थालिकानोरे सत्त्वमादाय योजयेत् ॥ १५८ ॥

मतान्तरमाह, सामयेति ।—जतु शिलाजतु लाक्षा वा, सत्त्वपातने उभयस्यापि प्रयोगदर्शनात् । धूमजः गृहधूम इत्यर्थः, खर्परम् अमयादिभिः सह मर्दयित्वा मूकमूषायां संस्थाप्य आपयेत् ॥ १५४ ॥

मतान्तरमाह, लाचेति ।—षामुरी राजिका; लाक्षादिभिः समांशैः सह खर्परं चूर्णयित्वा गोदुग्धेन गाघृतेन च सह पक्त्वा गुटिकाकृतिं विधाय हन्ताक-मूषामध्ये निरुध्य पुनः पुनर्भापयित्वा समाकृष्य शिलाखण्डोपरि ढालयेत् इत्यर्थः ॥ १५५ । १५६ ॥

मतान्तरमाह, यदेति ।—निखनेत् स्थापयेदित्यर्थः । कोष्ठिका सत्त्वपातनाय चुल्लीप्रायो यन्त्रविशेषः । मल्लं पादविशेषं, शरावमिति यावत् । अधोमुखीमित्यत्र मूषा-मित्यध्याहार्यम् । शिखित्वान् शिखितम् अमलं त्रयाणि पालयन्ति रक्षन्तीति यावत् द्वे तान्, अग्निसापकान् अकारानित्यर्थः । अथमर्थः,—सजलां स्थालीमेकां कोष्ठिकामध्ये निवेश्य सच्छिद्रशरावेष तन्मुखे विधाय शरावोपरि खर्परगर्भं मूषामधी-

अथ सत्त्वमारणम् ।—

तत् सत्त्वं तालकोपेतं प्रक्षिप्य खलु खर्परे ।
मर्दयेज्जोहदण्डेन भस्मीभवति निश्चितम् ॥ १५८ ॥

अथ प्रयोगविधिः ।—

तत् भस्म मृतकान्तेन समेन सह योजयेत् ।
अष्टगुञ्जामितं चूर्णं त्रिफलाकायसंयुतम् ॥ १६० ॥
कान्तपात्रस्थितं रात्रौ तिलजप्रतिवापकम् ।
निषेवितं निहन्त्याशु मधुमेहमपि ध्रुवम् ॥ १६१ ॥
पित्तं क्षयञ्च पाण्डुञ्च श्वयथं गुल्ममेव च ।
रक्तगुल्मञ्च नारीणां प्रदरं सोमरोगकम् ॥ १६२ ॥
योनिरोगानशेषांश्च विषमांश्च ज्वरानपि ।
रजःशूलञ्च नारीणां कासं श्वासञ्च हिष्णिकाम् ॥ १६३ ॥

[इति रसकाधिकारः] ।

इति श्रीवैद्यपतिमिहगुप्तस्य मनीर्वाग्भट्टाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये

महाराष्टकशृङ्गादिनिरूपणं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

भुक्त्वा कृत्वा संस्थाप्य तदपरि बदरकाष्टाङ्गारं दत्त्वा भस्त्रया प्रधमेत्, एवं कृते
द्रवौभूतं खर्परसत्त्वं शरावच्छिद्रेण स्थालीस्थनीरे पतियतीति ॥ १५७ । १५८ ॥

सत्त्वमारणमाह, तत् सत्त्वमिति ।—तत् सत्त्वं रसकसत्त्वम् । तालकोपेतं
हृरितालसंयुक्तं, तच्च वंशपत्राख्यं याज्यम् । खर्परे मृत्कटादि इत्यर्थः ॥ १५८ ॥

प्रयोगविधिमाह, तन्नस्मिति ।—मृतकान्तेन भस्मीकृतकान्तलौहण । तिलज-
प्रतिवापकं तिलजैलप्रलेपयुक्तम् ॥ १६०—१६३ ॥

इति रसरत्नसमुच्चयबोधिण्यां द्वितीयोऽध्यायः

समाप्तः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

अथोपरसाः साधारणरसाश्च ।—

अथोपरसानां नामानि ।—

गन्धाश्म-गैरि-कासीस-काङ्क्षी-ताल-शिलाञ्जनम् ।

कङ्कुष्ठञ्चेत्युपरसाश्चाष्टौ पारदकर्मणि ॥ १ ॥

अथ गन्धकः ।—

अथ गन्धकौत्पत्तिः ।—

पार्वत्युवाच ।—

गन्धकस्य तु माहात्म्यं तद्गुह्यं वद मे प्रभो ! ॥ २ ॥

ईश्वर उवाच ।—

श्वेतद्वीपे पुरा देवि ! सर्वरत्नविभूषिते ।

सर्वकाममये रम्ये तीरे क्षीरपयोनिधेः ॥ ३ ॥

विद्याधरीभिर्मुखाभिरङ्गनाभिष्व योगिनाम् ।

सिद्धाङ्गनाभिः श्रेष्ठाभिस्तथैवाप्सरसां गणैः ॥ ४ ॥

द्वितीयाध्याये सहारसाष्टकानां नामादिकं निरूप्य इदानीमुपरसान् साधारण-
रसान् निरूपयितुं तृतीयाध्यायमारभते ; तदादौ उपरसानां नामान्वाह, गन्धाश्मेति ।
—गन्धाश्मा गन्धकः । काङ्क्षी क्षौराष्ट्रवृत्तिका । शिला मनःशिला । कङ्कुष्ठं
हिमवत्यादशिखरजः हरितालवत्पाषाणविशेषः, 'घुषिम्' इति प्रसिद्धं, तथा च—
“हिमवत्यादशिखरे कङ्कुष्ठमुपनायते । तत्रैकं रक्तकालं स्यात्तदन्यदण्डकं व्युतम् ॥
पीतप्रभं गुरु खिग्वं श्रेष्ठं कङ्कुष्ठमादिशेत् । श्यामं पीतं लघु त्यक्त-सत्त्वं नेष्टं तथा-
ऽण्डकम् ॥” इति । पार्वतीयवृत्तिकाविशेषो वा ॥ १ ॥

अथ गन्धकौत्पत्तिं निरुक्तिं च वर्णयितुं ईश्वरपार्वतीसंवादमाह, गन्धकस्तेति ।—

देवाङ्गनाभो-रम्याभिः क्रीडन्तीभिर्मनोहरैः ।

गोतेर्नृत्यैर्विचित्रैश्च वाद्यैर्नानाविधैस्तथा ॥ ५ ॥

एवं सङ्गोडमानायाः प्राभवत् प्रसृतं रजः ।

तद्रजोऽतोव सुश्राणि ! सुगन्धि सुमनोहरम् ॥ ६ ॥

रजसश्चातिबाहुल्याद्वासस्ते रक्ततां ययी ।

तत्र त्यक्त्वा तु तद्वस्त्रं सुस्नाता क्षीरसागरे ॥ ७ ॥

हता देवाङ्गनाभिस्त्व कौलासं पुनरागता ।

ऊर्मिभिस्तद्रजोवस्त्रं नीतं मध्ये पयोनिधेः ॥ ८ ॥

एवं ते शोणितं भद्रे ! प्रविष्टं क्षीरसागरे ।

क्षोराब्धिमथने चैतदमृतेन सङ्कोलितम् ॥ ९ ॥

निजगन्धेन तान् सर्वान् हर्षयन् सर्वदानवान् ।

ततो देवगणैरुक्तं गन्धकाख्यो भवत्वयम् ॥ १० ॥

रसस्य बन्धनार्थाय जारणाय भवत्वलम् ।

ये गुणाः पारदे प्रोक्तास्ते चैवात्र भवन्त्विति ॥ ११ ॥

इति देवगणैः प्रीतैः पुरा प्रोक्तं सुरेश्वरि ! ।

तेनायं गन्धको नाम विख्यातः क्षितिमण्डले ॥ १२ ॥

अथ गन्धकस्य भेदनिर्देशः ।—

स चापि त्रिविधो देवि ! शुक्लचक्षुनिभो वरः ।

मध्यमः पीतवर्णः स्याच्छुक्लवर्णीऽधमः प्रिये ! ॥ १३ ॥

प्रसृतम् आर्चवाशयान्निर्गतं पलहयपरिमार्थं वा । “प्रसृतम्” इत्यत्र “प्रकृतम्” इति

पादेः—प्राकृतं स्वभावसिद्धं प्राप्तकालमित्यर्थः । गन्धक इति संज्ञायां हेतुमाह,

निजिति ।—तान् सर्वान् इत्यत्र देवानिति शेषः । यतोऽयं निजप्रशस्तगन्धेन देवादीन्

अहर्षयत् अतः गन्धक इत्याख्यां प्राप्तवान् ॥ २—१२ ॥

गन्धकस्य त्रैविध्यमाह, स इति ।—शुक्लचक्षुनिभः रक्तवर्ण इत्यर्थः ॥ १३ ॥

मतान्तरम् ।—

चतुर्द्धा गन्धको ज्ञेयो वर्णैः श्वेतादिभिः खलु ।
 श्वेतोऽत्र खटिका प्रोक्तो लेपने लोहमारणे ॥ १४ ॥
 तथा चामलसारः स्याद् यो भवेत् पीतवर्णवान् ।
 शुकपिच्छः स एव स्याच्छ्रेष्ठो रसरसायने ॥ १५ ॥
 रक्तश्च शुकतुण्डाख्यो धातुवादविधौ वरः ।
 दुर्लभः कृष्णवर्णश्च स जरामृत्युनाशनः ॥ १६ ॥

अथ गुणाः ।—

गन्धाश्माऽतिरसायनः सुमधुरः पाके कटूष्णो मतः
 कण्डूकुष्ठविमर्षदृढलनी दीप्तानलः पाचनः ।
 आमोन्मोचनशोषणो विषहरः सूतेन्द्रवीर्यप्रदो
 गौरीपुष्पभवस्तथा कृमिहरः सत्यात्मकः सूतजित् ॥ १७ ॥
 बलिना सेवितः पूर्वं प्रभूतबलहेतवे ॥ १८ ॥

अथ बलिवसाख्यगन्धकोत्पत्तिः ।—

वासुकिं कर्षतस्तस्य तन्मुखज्वालयया द्रुता ।
 वसा गन्धकगन्धाख्या सर्वतो निःसृता तनोः ॥ १९ ॥

गन्धान्तरोक्तं चातुर्विध्यमाह, चतुर्द्धा ।—अन्यवाप्युक्तं—“स च रक्तपीतश्वेत-
 कृष्णचात् चतुर्विधः । तत्र पीतः शोषघ्नेषु श्वेतः चर्मरोगेषु बाह्यप्रयोगेषु च
 व्यवहार्यः । चतुर्द्धा गन्धकः प्रोक्तः रक्तः पीतः सितोऽसितः । रक्तो हर्मक्रियासूक्तः
 पीतश्चतौ रसायने ॥ व्रणादिलेपने श्वेतः कृष्णः श्लेष्मः सुदुर्लभः ॥” इति ॥ १४—१६ ॥

गन्धकस्य गुणमाह, गन्धाश्मति ।—गौरीपुष्पभवः पार्वतीरजःसम्भवः । सत्यात्मकः
 सती पार्वती आत्मा यस्य तादृशः, पार्वतीसमुद्भूतः, तद्रजःसमुत्पन्नत्वात् । “सत्यात्मकः”
 इति पाठस्तु साधूयान्, सत्त्वात्मकः सत्त्वगुणस्वरूपः सत्त्वगुणवर्द्धक इति तात्पर्यम् ।
 सूतजित् रसस्य बन्धने मारणे च समश्रत्वात् तस्य तद्यात्वम् । बलिना विरोचन-
 सुतेन द्वैत्यराजिन ॥ १७।१८ ॥

बलिवसाख्यसविषगन्धकोत्पत्तिमाह, वासुकिमिति ।—श्लोकेऽस्मिन् पूर्वं श्लोकोक्तः
 बलिग्रन्थः आकर्षणीयः । तस्य बलिराजस्य । तन्मुखज्वालयया आकर्षणजनितेन

गन्धकत्वञ्च सम्प्राप्ता गन्धोऽभूत् सविषः स्मृतः ।

तस्मात् बलिवसेत्युक्तो गन्धकोऽतिमनोहरः ॥ २० ॥

अथ शोधनम् ।—

पयःस्निग्धो घटीमात्रं वारिधौतो हि गन्धकः ।

गव्याज्यविद्रतो वस्त्राद्गालितः शुद्धिमृच्छति ॥ २१ ॥

एवं संशोधितः सोऽयं पाषाणान्ध्वरे त्यजेत् ।

घृते विषं तुषाकारं स्वयं पिण्डत्वमेव च ॥ २२ ॥

इति शुद्धो हि गन्धाश्मा नापथ्यैर्विकृतिं व्रजेत् ।

अपथ्यादन्यथा हन्यात् पीतं हालाहलं यथा ॥ २३ ॥

मतान्तरद्वयम् ।—

गन्धको द्रावितो भृङ्गरसे क्षिप्तो विशुध्यति ।

तद्रसैः सप्तधा भिन्नो गन्धकः परिशुध्यति ॥ २४ ॥

वासुकिमुखोद्गीर्णसन्तापेन । वसा मांसस्नेहः । गन्धकः ।—बालिना प्राक् सेवनान्
तस्य वसायां गन्धकगन्धभृशत्वमिति कीडव्यम् । गन्धकत्वमिति ।—गन्धकगन्ध
बाहल्यात् वसया एव गन्धक इति आख्या लब्धा । सविषः वासुकिमुखज्वालासम्बन्धान्
सावधत्वम् ॥ १८।२० ॥

शोधनमाह, पयःस्निग्ध इति ।—पयःस्निग्धः पयसा दुग्धेन स्निग्धः । घटीमात्रं
दण्डमात्रम् । पाषाणान् गन्धाग्रमणि ये पाषाणभागा विद्यन्ते तान् । अश्वरे गालनाद्यं
गृहीतवस्ते । घृते द्रावणाद्यं गृहीताज्ये ॥ २१—२३ ॥

मतान्तरमाह, गन्धक इति ।—भृङ्गरसे भृङ्गराजरसे । क्षिप्त इत्यत्र सकृदिति
शेषः । सप्ततृप्तसम्पर्कात् द्रवीकृतः गन्धकः सकृत् भृङ्गरसे निक्षिप्तः विशुद्धिमाया-
तोत्यर्थः । विकल्पमाह, तद्रसैरिति ।—तद्रसैः भृङ्गरसैः । भिन्नः क्षुद्रितः चूर्णीकृत
इति यावत् । गन्धकं चूर्णीकृत्य सप्तवारं भृङ्गराजरसैरापृत्य संशोष्य च वज्रौ द्रावयित्वा
वस्तान्तरेण पुनर्भृङ्गरसे निक्षिप्य शोधयेदिति । अथवा—गन्धकचूर्णे वज्रौ द्रवीकृत्य
भृङ्गरसे निक्षिपेत्, ततश्च तमुद्धृत्य शोधयित्वा पुनः सक्षुण्णं च द्रावयित्वा पुनर्भृङ्गरसे
क्षिपेत्, एवं सप्तवारं कुर्वीदिति वृद्धव्यवहारः ॥ २४ ॥

मतान्तरम् ।—

स्थाल्यां दुग्धं विनिक्षिप्य मुखे वस्त्रं निबध्य च ।
गन्धकं तत्र निक्षिप्य चूर्णितं सिकताकृतम् ॥ २५ ॥
कादयेत् पृथुदीर्घेण खर्परणेव गन्धकम् ।
ज्वालयेत् खर्परस्योर्ध्वं वनच्छाणैस्तथोपलैः ॥ २६ ॥
दुग्धे निपतितो गन्धो गलितः परिशुध्यति ।
शतवारं कृतञ्चैव निर्गन्धो जायते ध्रुवम् ॥ २७ ॥

अथ प्रयोगविधिः ।—

इत्थं विशुद्धस्त्रिफलाऽऽज्यभृङ्ग-
मध्वन्वितः श्राणमितो हि लोढः ।
गृध्राक्षितुल्यं कुरुतेऽक्षियुग्मं
करोति रोगोऽभिमतदौर्घमायुः ॥ २८ ॥

अथ गन्धकतैलविधिः ।—

कलांशव्योषसंयुक्तं गन्धकं श्लक्ष्णचूर्णितम् ।
अरन्निमात्रे वस्त्रे तद्विप्रकीर्य विवेक्ष्य तत् ॥ २९ ॥
सूत्रेण वेष्टयित्वाऽथ यामं तैले निमज्जयेत् ।
धृत्वा सन्दंशतो वर्त्ति-मध्यं प्रज्वालयेच्च तम् ॥
द्रुतो निपतितो गन्धो विन्दुशः काचभाजने ॥ ३० ॥

मतान्तरमाह, स्थाल्यामिति ।—ज्वालयेदित्यत्र वज्रिर्नाति शेषः । वनच्छाणैः
वनोपलैः । उपलैः गृहजातशुष्कगोमयपिण्डैः ॥ २५—२७ ॥

प्रयोगविधिमाह, इत्थमिति ।—घृतमधुभृङ्गसरसैः त्रिफलाचूर्णेन च सह श्राणमितं
गन्धकं लिह्यादित्यर्थः ॥ २८ ॥

गन्धकतैलमाह, कलांशेति ।—कलांशव्योषसंयुक्तं गन्धकापेक्षया षोडशभागेक
भागमिलितविकटुचूर्णमिश्रितम् । अरन्निमात्रे प्रसारितकनिष्ठाकुल्लवङ्गमुष्टिफल-
प्रमाणे । निपतित इत्यत्र भवेदिति शेषः ॥ २९३० ॥

अथ प्रयोगविधिः ।—

तां द्रुतिं प्रक्षिपेत् पत्रे नागवल्गुणास्त्रिविन्दुकाम् ।
 वल्लेन प्रमितं स्वच्छं सूतन्द्रञ्च विमर्दयेत् ॥ ३१ ॥
 अङ्गुल्याऽथ सपत्रां तां द्रुतिं सूतञ्च भक्षयेत् ।
 करोति दीपनं तीव्रं क्षयं पाण्डुञ्च नाशयेत् ॥ ३२ ॥
 कामं श्वासञ्च शूलार्त्तिं ग्रहणीमतिदुर्द्धराम् ।
 आमं विनाशयत्याशु लघुत्वं प्रकरोति च ॥ ३३ ॥

अथान्यविधप्रयोगविधिः ।—

घृताक्ते लोहपात्रे तु विद्रुतं शुद्धगन्धकम् ।
 घृताक्त-दर्विकाक्षिप्तं हृदिनिष्कप्रमितं भजेत् ॥
 हन्ति क्षयमुखान् रोगान् कुष्ठरोगं विशेषतः ॥ ३४ ॥

अथ गन्धकसंवने अपथ्यम् ।—

क्षाराम्लतैलसौवीर-विदाहि हिदलं तथा ।
 शुद्धगन्धकसेवायां त्यज्यं योगयुतेन हि ॥ ३५ ॥

गन्धकतैलस्य प्रयोगविधिमाह, तामातः ।—ता द्रुतम् उक्तप्रक्रियया द्रुतगन्धक-
 तैलम् । वल्लेन गुञ्जाया इत्येन वयेण वा । सूतन्द्रं सूतपारदं, रससिन्दूरमिति यावत् ।
 वल्गुमिति विशुद्धरससिन्दूरमङ्गुल्या विमर्दयं पत्रपत्रसंस्थितविन्दुवयपारमितगन्धकतैलेन
 सह भक्षयेत् ॥ ३१—३३ ॥

गन्धकस्य प्रयोगान्तरमाह, घृताक्ते इति ।—शुद्धगन्धकरजः घृताक्ते लौहकटाहे
 द्रव्योक्त्य घृतसञ्चितलौहद्रव्यां निक्षिपेत्, ततः तैलकांसतं तच्चूर्णम् उचितानुपानेन
 भक्षितं यथाक्तरोगान् नाशयेदिति ॥ ३४ ॥

गन्धकोपयोगे वर्ज्यान्वाह, क्षारेति ।—सौवीरं निस्तुषयवृक्तं गोधूमकृतं वा
 काञ्चिकं, तथा च भावप्रकाशे—“सौवीरन्तु यवैरामैः पक्षैर्वा निस्तुषैः कृतः । गोधूमे-
 रपि सौवीरमाचार्याः केचिदुचिरे ॥” इति । विदाहि अम्लपाकि वस्तु, यथा वंशकरो-
 रादि ; तल्लक्षणं भावप्रकाशे—“विदाहि द्रव्यमुद्गारमसं कुर्यात्तथा वषाम् । हृदि
 दाहञ्च जगयेत् पाकं गच्छति तच्चिरात् ॥” इति । हिदलं मुद्गादिशमोधान्यम् ॥ ३५ ॥

अथ कुष्ठरोगे गन्धकप्रयोगविधिः ।—

गन्धकस्तुल्यमरिचः षड्गुणत्रिफलान्वितः ।

दृष्टः शम्पाकमूलेन पीतश्चाखिलकुष्ठहा ॥ ३६ ॥

अथ प्रलेपयोगः ।—

तन्मूलमलिले पिष्टं लेपयेत् प्रत्यहं तनौ ।

दृष्टप्रत्यययोगोऽयं सर्वत्राप्रतिवीर्यवान् ॥

श्रीमता सोमदेवेन सम्यगत्र प्रकीर्तितः ॥ ३७ ॥

अथ लेपयोगान्तरम् ।—

द्विनिष्कप्रमितं गन्धं पिष्ट्वा तैलेन संयुतम् ।

अथापामार्गतोयेन सतैलमरिचेन हि ॥ ३८ ॥

विलिप्य सकलं देहं तिष्ठेद्घर्मे ततः परम् ।

तक्रभक्तञ्च भुञ्जीत तृतीये प्रहरे खलु ॥ ३९ ॥

भजेद्रात्रौ तथा वङ्गं समुत्थाय तथा प्रगे ।

महिषीच्छगणं लिप्त्वा स्नायाच्छीतेन वारिणा ॥ ४० ॥

ततोऽभ्यज्य घृतैर्देहं स्नायाद्विष्टोणवारिणा ।

अमुना क्रमयोगेन विनश्यत्यतिवेगतः ॥

दुर्जया बहुकालीना पामा कण्डूः सुनिश्चितम् ॥ ४१ ॥

कुष्ठरोगे गन्धकप्रयोगविधिमाह, गन्धक इति ।—षड्गुणत्रिफलान्वितः इति मिलितविफलाया एव षड्भागः याज्यः । शम्पाकमूलेन आरम्भधमूलरसेन ॥ ३६ ॥

लेपयोगमाह, तन्मूलमिति ।—तन्मूलमलिले शम्पाकमूलरसे । पिष्टमित्यत्र गन्धक-मिति शेषः । अप्रतिवीर्यवान् प्रभूतशक्तिसम्पन्नः इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

लेपयोगान्तरमाह, द्विनिष्कः ।—तैलेन कटुतैलेन, कुष्ठादिहस्तृतात् । घर्मे आबधे । प्रगे प्रभाते । महिषीच्छगणं महिषीभलम् । क्रमयोगेन पीतार्थानुसारतः पुनःपुनः करणेन । अयमर्थः,—निष्कद्वयं गन्धकञ्च कटुतैलेन अपामार्गमूलरसेन तथा कटु-तैलमरिचाभ्यां सह पिष्ट्वा तेन सर्वंगावमभ्यज्य द्विनामं चियामं वा आतपे तिष्ठेत्, ततः तृतीयप्रहरे तक्रात्रं भुङ्क्ता रात्रौ वङ्गिसेवनं कुर्यात्, ततः प्रभाते माहिषमर्चं गाने

गन्धकस्य प्रयोगाणां शतं तन्न प्रकीर्तितम् ।

अन्यविस्तरभीतेन सोमदेवेन भूमुजा ॥ ४२ ॥

अथ गन्धकतैलान्तरम् ।—

अथवाऽर्क-सुह्रीचीरेर्वस्त्रं लेप्यन्तु सप्तधा ।

गन्धकं नवनीतेन पिष्ट्वा वस्त्रं लिपेद्वनम् ॥ ४३ ॥

तद्वर्त्तिं ज्वलितां दंशे धृतां कुर्यादधोमुखीम् ।

तैलं पतेदधोभाण्डे ग्राह्यं योगेषु योजयेत् ॥ ४४ ॥

अथ शुद्धगन्धकगुणाः ।—

शुद्धगन्धो हरेद्रोगान् कुष्ठमृत्युजराटिकान् ।

अग्निकारो महानुष्णो वीर्यवृद्धिं करोति च ॥ ४५ ॥

[इति गन्धकाधिकारः] ।

अथ गैरिकम् ।—

अथ गैरिकस्य भेदः ।—

पाषाणगैरिकञ्चैकं द्वितीयं स्वर्णगैरिकम् ॥ ४६ ॥

अथ द्विविधशोणितशोणितलक्षणम् ।—

पाषाणगैरिकं प्रोक्तं कठिनं ताम्रवर्णकम् ।

अत्यन्तशोणितं स्निग्धं मसृणं स्वर्णगैरिकम् ॥ ४७ ॥

लिङ्गा शीततोयेन स्नायात्, स्नानानन्तरं गात्रं प्रमृज्य घृताभ्यक्तः सन् सुखीदकेभ्यः पुनः स्नानं कुर्यात्, एवं द्विविधारकरणेन दीर्घकालोत्पामादयोऽपि अवश्यमेव नश्यन्तीति ॥ ४८—४२ ॥

भिन्नविधं गन्धकतैलविधानमाह, अथवेति ।—दंशे सन्दंशे । अरत्रिमितं वस्त्रखण्डं प्राक् अर्क-सुह्री चीरे आधृत्य आतपे शोषयेत् एवं सप्तवारं प्रकुर्वीत, ततः सुह्रीचीरेऽपि तथा कुर्यात्, अनन्तरं शुद्धगन्धकं नवनीतेन पिष्ट्वा तद्वस्त्रं तेन गन्धकेन प्रमादं लिङ्गा वसिं विधाय तां सन्दंशेन धृत्वा अधोऽग्निं प्रज्वालयेत्, एवञ्च अथःस्थिते माण्डे निपतितं तैलं गृह्णीयादिति ॥ ४३।४४ ॥

शुद्धगन्धकस्य गुणमाह, शुद्धेति ।—सुगमम् ॥ ४५ ॥

गैरिकस्य द्विविध्यमाह, पाषाणेति ।—सुगमम् ॥ ४६ ॥

द्विविधशोणितशोणितलक्षणमाह, पाषाणगैरिकमिति ।—सुगमम् ॥ ४७ ॥

अथ द्विविधयोस्तयोर्गुणाः ।—

खादु स्निग्धं हिमं नेत्रं कषायं रक्तपित्तनुत् ।

हिष्मा-वमि-विषम्लञ्च रक्तघ्नं स्वर्णगैरिकम् ॥

पाषाणगैरिकञ्चान्यत् पूर्वस्मादल्पकं गुणैः ॥ ४८ ॥

अथ शोधनम् ।—

गैरिकन्तु गवां दुग्धैर्भावितं शुद्धिमृच्छति ॥ ४९ ॥

अथ गैरिकस्य सत्वरूपताकथनम् ।—

गैरिकं सत्त्वरूपं हि नन्दिना परिकीर्तितम् ॥ ५० ॥

अथ गैरिकस्य सत्त्वरूपतायां मतान्तरम् ।—

कैरप्युक्तं पतेत् सत्त्वं क्षाराम्ल-स्विन्नगैरिकात् ।

उपतिष्ठति सूतेन्द्रमेकत्वं गुणवत्तरम् ॥ ५१ ॥

[इति गैरिकाधिकारः] ।

अथ कासीसम् ।—

अथ कासीसस्य भेदः ।—

•कासीसं बालुकाद्येकं पुष्पपूर्वमथापरम् ॥ ५२ ॥

द्विविधयोस्तयोर्गुणमाह, स्वाहति ।—नेत्रं कषायं रक्तपित्तनुत् । रक्तघ्नं रक्तसन्धन-
मित्यर्थः ॥ ४८ ॥

गैरिकस्य शोधनमाह, गैरिकन्त्विति ।—भावितमित्यत्र सप्तवारमिति शेषः ॥ ४९ ॥

गैरिकस्य सत्त्वरूपतामाह, गैरिकमिति ।—सत्त्वरूपं स्वभावत एव साराम्लकम्,
अस्य क्वांसोपायेन सत्त्वसङ्कटणमनावश्यकमिति तात्पर्यम् ॥ ५० ॥

तस्य सत्त्वरूपतायां मतान्तरमाह,—कैरिति । क्षारिति ।—क्षारोदककाष्ठिकाभ्यां
दोलायन्ते पक्वगैरिकादित्यर्थः । उपतिष्ठतीति ।—गैरिकसत्त्वं पारदेन सह ऐक्यं
भजते गुणाधिक्यञ्च प्राप्नोति इति ॥ ५१ ॥

कासीसस्य भेदावाह, कासीसमिति ।—कासीसं “हिराकम्” इति लोके ।
बालुकाद्येकं बालुकाकासीसम् । तन्वान्तरे तु अस्य धातुकासीसं पांशुकासीसमिति वा
भञ्जा ; तद्वयथा भावप्रकाशे—“कासीसं धातुकासीसं पांशुकासीसमित्यपि” इति ।
पुष्पपूर्वमिति पुष्पकासीसमित्यर्थः । यद्यप्यस्यास्य लिङ्गं न स्फुटमुक्तं, तथाऽपि निबन्धान्तर-
दर्शनात् तत् ज्ञातव्यं, तद्वयथा रत्नमालायां—“कासीसं द्विविधं धातुपुष्पभेदात्,
धातुकासीसं हरितं लोहितञ्च, पुष्पं शुक्लं कृष्णञ्च” इति । अन्यथाप्युक्तं—“पुष्प-

अथ बालकाकासीसगुणाः ।—

क्षारान्नागुरुधूमाभं सोष्णवीर्यं विषापहम् ।

बालुकापूर्व-कासीसं श्वित्रघ्नं केशरञ्जनम् ॥ ५३ ॥

अथ पुष्पाकासीसगुणाः ।—

पुष्पादिकासीसमतिप्रशस्तं सोष्णं कषायान्ममतीव नेत्रम् ।

विषानिल-श्लेष्मगद-व्रणघ्नं श्वित्रक्षयघ्नं कचरञ्जनञ्च ॥ ५४ ॥

अथ शोधनम् ।—

सक्तदृङ्गाखुना क्लिन्नं कासीसं निर्मलं भवेत् ॥ ५५ ॥

अथ सत्त्वपातनविधिः ।—

तुवरीसत्त्ववत् सत्त्वमेतस्यापि समाहरेत् ॥ ५६ ॥

अथ शोधनान्तरम् ।—

कासीसं शुद्धिमाप्नोति पित्तैश्च रजसा स्त्रियाः ॥ ५७ ॥

अथ प्रयोगविधिः ।—

बलिना हतकासीसं क्रान्तं कासीसमारितम् ।

उभयं समभागं हि त्रिफलावेल्लसंयुतम् ॥ ५८ ॥

कासीसं किञ्चित् पीतं, भक्ष्यवत् घृतिकाभं धातुकासीसम्” इति । भैषज्यरत्नावल्यां प्रोद्वाधिकारोक्तमहाद्रावकाख्यौषधे तु कासीस-धातुकासीस-पुष्पाकासीसभेदेनास्य वैविध्यमुक्तम् ॥ ५२ ॥

बालकाकासीसस्य गुणमाह, क्षारिति ।—केशरञ्जनं केशस्य कृष्णीकरणम् ॥ ५३ ॥

पुष्पाकासीसस्य गुणमाह, पुष्पादोति ।—कचरञ्जनं केशरञ्जनम् ॥ ५४ ॥

शोधनमाह, सक्तदिति ।—सक्तत् एकवारम् । क्लिन्नम् आर्द्रं, भङ्गराजरेसे दिनमेकं निमग्नमिति यावत् । “क्लिन्नम्” इत्यत्र “श्वित्रम्” इति पाठः—श्वित्रं दोलायन्ते पक्तम् ; अयमेव पाठः प्रचारी ॥ ५५ ॥

सत्त्वपातनमाह, तुवरीति ।—वक्ष्यमाणसौराष्ट्रघृतिकासत्त्वपातविधिनेत्यर्थः ॥ ५६ ॥

शोधनान्तरमाह, कासीसमिति ।—पित्तैः पचपित्तैः, तानि च बराहच्छाग-महिषमव्यमयूरजानि इति । रजसा आर्तवशोषितेन, पचपित्तैः आर्तवेन च पृथक् पृथक् मर्दनेन शुद्धिमाप्नोति इत्यर्थः ॥ ५७ ॥

कासीसस्य प्रयोगविधिमाह, बलिनेति ।—बलिना गन्धकेन हत-कासीसं भक्ष्योक्तकासीसम् । क्रान्तं वैक्रान्तम् । वेल्लं विडङ्गम् ।

विषमांश-घृतक्षौद्रप्लुतं शाणमितं प्रगे ।

सेवितं हन्ति वेगेन खिलं पाण्डुक्षयामयम् ॥ ५८ ॥

गुल्मप्लीहगदं शूलं मूलरोगं विशेषतः ।

रसायनविधानेन सेवितं वत्सरावधि ॥ ६० ॥

आमसंशोषणं श्रेष्ठं मन्दाग्निपरिदीपनम् ।

पलितं बलिभिः सार्द्धं विनाशयति निश्चितम् ॥ ६१ ॥

[इति कासीसाधिकारः] ।

अथ तुवरी ।—

अथ तुवरीयाः परिचयः ।—

सौराष्ट्राश्मनि सम्भूता मृत्स्ना सा तुवरी मता ।

वस्त्रेषु लिप्यते याऽसौ मञ्जिष्ठारागबन्धनी ॥ ६२ ॥

अथ तुवरीयाः भेदकथनम् ।—

फट्की फुल्लिका चेति द्वितीया परिकीर्त्तिता ॥ ६३ ॥

विषमेति ।—अतुल्यघृतमधुमर्दितमित्यर्थः । प्रगे प्रमाने । रसायनविधानेन संशोधना-
नन्तर कुटीप्रवेशादवाधना इत्यर्थः । पलितं केशशौक्तात् । बलिः जरागमन-
जनितचर्मलोभता । शुद्धकासीसं समानगन्धकेन यावता पुटेन म्रियेत तावत्
पुटनं कुर्यात्, शुद्धवैकान्तमपि शुद्धमपरिमितकासीसेन सह तथा पुटेत्,
ततः त्रिफलाविडङ्गचूर्णसमन्वितं तदुभयं मिलित्वा शाणमानस्य अथमपरिमित-
घृतमधुभ्यां सममर्थं लिप्त्वा, तेन च शिवादिकं नश्यति । रसायनावधना
संस्कारं यावत् सेवेत चेत् बालपलितादिकं नश्यति इति । अस्य पदो यथा—
काशीशं र ४ वैकान्तं र ४ त्रिफला प्रः र ११ घृतं मा ६ मधु मा १० सर्वमालोष्ट
लेह्यम् ॥ ५८—६१ ॥

तुवरीयाः परिचयमाह, सौराष्ट्रेति ।—सौराष्ट्राश्मनि सौराष्ट्रदेशीयप्रवर्ते ।
मृत्स्ना मृत्तिका । तुवरी सौराष्ट्रमृत्तिका गोपीचन्दनमिति यावत् ; तदभावं
पङ्कप्यटो स्फाटिकारो वा यास्याः मञ्जिष्ठेति ।—मञ्जिष्ठायाः रागे रक्तमानं
बध्नाति संधीमेन दृढीकरोतीत्यर्थः या सा मञ्जिष्ठारागबन्धनी ॥ ६२ ॥

तस्या हेविष्यमाह, फट्कीति ।—फट्कीत्यत्र आद्या इत्यप्याहार्थम् ॥ ६३ ॥

अथ फटकाः गुणलक्षणम् ।—

ईषत्पीता गुरुः स्निग्धा पीतिका विषनाशिनी ।
व्रणकुष्ठहरा सर्वकुष्ठघ्नी च विशेषतः ॥ ६४ ॥

अथ फुल्लिकायाः गुणलक्षणम् ।—

निर्भारा शुभ्रवर्णा च स्निग्धा साम्नाऽपरा मता ।
सा फुल्लतुवरी प्रोक्ता लेपात्ताम्बं चरेदयः ॥ ६५ ॥

अथ शिविधस्य तस्य सामान्यगुणाः ।—

काङ्क्षी कषाया कटुकाम्लकण्ठ्या
केश्या व्रणघ्नी विषनाशिनी च ।
श्वित्रापहा नेत्रहृिता त्रिदोष-
शान्तिप्रदा पारदजारणी च ॥ ६६ ॥

अथ शोधनम् ।—

तुवरी काङ्क्षिके क्षिप्ता त्रिदिनाच्छुद्धिमृच्छति ॥ ६७ ॥

अथ सत्त्वपातनम् ।—

चारान्त्रैर्मर्दिता धाता सत्त्वं मुञ्चति निश्चितम् ॥ ६८ ॥

तत्र आद्यायाः लक्षणं गुणश्चाह, ईषदिति ।—पीतिका इति फटका नामान्तरम् ॥ ६४ ॥

द्वितीयायाः फुल्लिकाया लक्षणं गुणश्चाह, निर्भारिति ।—निर्भारा लघुत्वर्थः । अपरा फुल्लिका, स्फटिकारिकेत्यर्थः ; फुल्लतुवरीति तस्या नामान्तरम् । लेपादिति ।—फुल्लतुवरौलेपेन तासं लोह्वांशमुज्झति तान्ने यः लोह्वांशः विद्यते स निर्गच्छतीत्यर्थः, तासं लोह्वन् काठिन्यं गच्छतीत्यर्थो वा ॥ ६५ ॥

तृत्याः गुणमाह, काङ्क्षीति ।—काङ्क्षी सौराष्ट्रमृत्तिका ॥ ६६ ॥

शोधनमाह, तुवरीति ।—दिनद्वयं यावत् काङ्क्षिकेनाश्रुता सौराष्ट्री शुद्धिमायातीति ॥ ६७ ॥

सत्त्वपातनमाह, चारिति ।—चारान्त्रैः यवचारकाङ्क्षिकायज्ञैः । धाता सन्तदा, भस्माग्निनेति शेषः ॥ ६८ ॥

मताम्बरम् ।—

गोपित्तेन शनं वारान् सौराष्ट्रीं भावयेत्ततः ।

धमित्वा पातयेत् सत्त्वं क्रामणञ्चातिगुह्यकम् ॥ ६९ ॥

[इति तुवर्थ्यधिकारः ।]

अथ तालकः ।—

अथ तालकस्य भेदनिर्देशः ।—

हरितालं द्विधा प्रोक्तं पत्राद्यं पिण्डसंज्ञकम् ॥ ७० ॥

अथ पत्रतालकलक्षणम् ।—

स्वर्णवर्णं गुरु स्निग्धं तनुपत्रञ्च भासुरम् ।

तत् पत्रतालकं प्रोक्तं बहुपत्रं रसायनम् ॥ ७१ ॥

अथ पिण्डतालकलक्षणम् ।—

निष्पत्रं पिण्डसदृशं स्वल्पमत्त्वं तथा गुरु ।

स्त्रीपुष्पहरणं तत्तु गुणात्म्यं पिण्डतालकम् ॥ ७२ ॥

अथ गुणाः ।—

श्लेष्मरक्तविषवातभूतनुत् केवलञ्च खलु पुष्पहृत् स्त्रियाः ।

स्निग्धमुष्णकटुकञ्च दीपनं कुष्ठहारि हरितालमुच्यते ॥ ७३ ॥

मतान्तरमाह, गोपित्तेनेति ।—ततः भावनान्तरम् । क्रामणस्य अतिगोप्यत्व-
माह, क्रामणमिति ।—क्रामणं रसोपरसानां बन्धनायै स्वेदनमर्दनाद्येकीनविशति-
कर्मणा सप्तदशकर्मविशेषः ; अतौव गोपनीयत्वात् तदस्मिन् सकृद्वै गोक्तमिति
तात्पर्यम् ॥ ६९ ॥

हरितालस्य द्वैविध्यमाह, हरितालमिति ।—पत्राद्यं पत्रपूर्वकं हरितालं वंशपत्र-
हरितालमिति यावत् । पिण्डसंज्ञकमित्यत्र द्वितीयमिति शेषः, पिण्डहरिताल-
मित्यर्थः ॥ ७० ॥

पत्रहरितालस्य लक्षणमाह, स्वर्णवर्णमिति ।—तनुपत्रं सूक्ष्मपत्रम् । भासुरं
दीप्तिमत् । बहुपत्रं बहुपटलसमन्वितम् ॥ ७१ ॥

पिण्डहरितालस्य लक्षणमाह, निष्पत्रमिति ।—निष्पत्रं पटलरहितम् । स्वल्पमत्त्वं
स्वल्पसारम् । स्त्रीपुष्पहरणं रजोनाशकम् । गुणात्म्यमिति पत्रतालापेक्षयेत्यर्थः ॥ ७२ ॥

गुह्यमाह, श्लेष्मरक्तेति ।—सुगमम् ॥ ७३ ॥

अथ शोधनम् ।—

स्त्रिन्नं कुष्माण्डतोये वा तिलचारजलेऽपि वा ।
तोये वा चूर्णसंयुक्ते दोलायन्त्रेण शुध्यति ॥ ७४ ॥

अथ शुद्धस्य दोषनिर्देशः ।—

अशुद्धं तालमायुर्घ्नं कफमारुतमेहकृत् ।
तापस्फोटान्नासङ्कोचं कुरुते तेन शोधयेत् ॥ ७५ ॥

मतान्तरे शोधनम् ।—

तालकं कणशः कृत्वा दशांशेन च टङ्कणम् ।
जम्बीरीत्यद्रवैः क्षाल्यं काञ्चिकैः क्षालयेत्ततः ॥ ७६ ॥
वस्त्रे चतुर्गुणे बद्धा दोलायन्त्रे दिनं पचेत् ।
सचूर्णेनाऽऽरनालेन दिनं कुष्माण्डजे रसे ॥
खेद्यं वा शाल्मलीतोयेस्तालकं शुद्धिमाप्नुयात् ॥ ७७ ॥

मतान्तरे शोधनं मारणञ्च ।—

मधुतुल्ये घनीभूते कषाये ब्रह्मा-मूलजे ।
त्रिवारं तालकं भाव्यं पिष्ट्वा मूत्रेऽथ माहिषे ॥ ७८ ॥
उपलैर्दशभिर्दयं पुटं रुद्ध्वाऽथ पेषयेत् ।
एवं द्वादशधा पाच्यं शुद्धं योगिषु योजयेत् ॥ ७९ ॥

शोधनमाह, त्रिन्नमिति ।—तिलचारजलं तिलनालं दग्ध्वा तत् चारं षड्गुणतोये
एकावशतिवारं विस्त्राव्य शान्नामिति ॥ ७४ ॥

अशुद्धस्य दोषमाह, अशुद्धमिति ।—सुगमम् ॥ ७५ ॥

मतान्तरे शोधनमाह, तालकमिति ।—हरितालं खण्डशः कृत्वा तदपेक्ष्य
दशमांशटङ्कणेन सह मेलयित्वा जम्बीरद्रवैः सप्तधा काञ्चिकेय सप्तधा प्रक्षाल्य
चतुष्पटलवस्त्रखण्डे बद्धा दिनमकं चूर्णैर्दशसहितकाञ्चिकेन दोलायन्त्रे पचेत्,
ततः कुष्माण्डसलिलेऽपि दिनं पचेत्, अथवा उत्तरीत्या प्रक्षाल्य वस्त्रान्तरितं कृत्वा
शाल्मलीमूलरसेन दिनं यावत् दोलायन्त्रे खेदयेत् इति ॥ ७६।७७॥

मतान्तरे शोधनं मारणमाह, मधुतुल्ये इति ।—ब्रह्ममूलजे भार्गोमूलकते

अथ सत्त्वपातनम् ।—

कुलित्यकाथमौभाग्य-महिष्याज्यमधुप्लुतम् ।
 स्थात्यां चिक्षा पिदध्याच्च मल्लेन छिद्रयोगिना ॥ ८० ॥
 सम्यङ्ङिरुध्य शिखिनं ज्वालयेत् क्रमवर्द्धितम् ।
 एकप्रहरमात्रं हि रन्ध्रमाच्छाद्य गोमयैः ॥ ८१ ॥
 यामान्ते छिद्रमुद्वाह्य दृष्टे धूमे च पाण्डुरे ।
 शोतां स्थालीं समुत्तार्य सत्त्वमुत्कृष्य चाऽऽहरत् ॥ ८२ ॥
 सर्वपाषाणसत्त्वानां प्रकाराः सन्ति कीटिशः ।
 ग्रन्थविस्तरभौत्याऽत्र लिखिता न मया खलु ॥ ८३ ॥

मतान्तरम् ।—

पलालकं रवेर्दुग्धेर्दिनमेकं विमर्दयेत् ।
 चिक्षा षोडशिकातैले मिश्रयित्वा ततः पचेत् ॥ ८४ ॥

पलाशमूलकृते वा । मधुसमेन भागीकाथेन पलाशकाथेन वा हरिताले वारवये
 भावयित्वा माद्विषमूत्रे सम्यग्य मूषायां रुद्धा दशवनीपलैः पुटेत्, स्वाङ्गशोतञ्च तत्र
 आकृष्य पुनः माद्विषमूत्रेण पेययेत् पुटेच्च, एवं द्वादशधा कार्थ्यं, तेन शुद्धं सतञ्च
 तालम् औषधेषु प्रयुञ्जीत इति ॥ ७८-७९ ॥

सत्त्वग्रहणमाह, कुलित्येति ।—मौभाग्यं टङ्गणम् । महिष्याज्यं महिषीघृतम् ।
 पिदध्यात् आच्छादयेत् । मल्लेन शरावपटेन । अथमर्थः,— तालं कुलित्यकाथादिभिराद्भुत्य
 छिद्रिकाभ्यन्तरे निधाय सत्यच्छिद्रेण शरावेण आच्छाद्य सन्निर्गन्धं कृत्वा आर्द्र
 गोमयैः शरावमध्यच्छिद्रं पिधाय आ-यासं कमष्ठज्ञाग्निना पचेत्, प्रहरेऽतोति शराव-
 च्छिद्रमुद्वाह्य यदं तस्मात् पाण्डुरवर्णे धूम निर्गच्छति इति पश्यत् तदा वर्ज्यमयमनं
 कुप्यात्, ततः स्वाङ्गशोतं यत्नमवतार्य शरावमुत्कृष्य स्थालीमध्यस्थं सत्त्वमाकृष्य
 गृह्णीयादिति ॥ ८०—८३ ॥

मतान्तरमाह, पलालकमिति ।—पलालकं पलञ्च तत् चालकञ्चेति विशदं
 पलमानं हरितालम् । रवेर्दुग्धैः कर्षकौरेः । षोडशिकातैले पलपरिमित-
 तिलतैले । यद्यपि कर्षपय्यांशस्य षोडशिकाशब्दस्य पलार्थं प्रयोगो न सङ्गच्छते,
 तथाऽपि पलमिति हरिताले कर्षमिततैलस्य अत्यल्पत्वेन मिश्रणानुपयोगित्वात्

अनाहतप्रदेशे च सप्त-यामावधि ध्रुवम् ।

स्वाङ्गशोतमधःस्थञ्च सत्त्वं श्वेतं समाहरेत् ॥ ८५ ॥

मतान्तरम् ।—

क्वागलस्थाय बालेन बलिना च समन्वितम् ।

तालकं दिवसद्वन्द्वं मर्दयित्वाऽतियत्नतः ॥ ८६ ॥

युक्तं द्रावणवर्गेण काचकूप्यां विनिक्षिपेत् ।

त्रिधा ताञ्च मृदा लिप्ता परिशोष्य खरातपे ॥ ८७ ॥

ततः खर्परकच्छिद्रे तामडाञ्चैव कूपिकाम् ।

प्रवेश्य ज्वालयेदग्निं द्वादशप्रहरावधि ॥

कूपि-कण्ठस्थितं शीतं शुद्धं सत्त्वं समाहरेत् ॥ ८८ ॥

मतान्तरम् ।—

पन्नाडप्रमितं तालं बद्धा वस्त्रे सिते दृढे ।

बलिनाऽऽलिप्य यत्नेन त्रिवारं परिशोष्य च ॥ ८९ ॥

द्राविते त्रिपले ताम्रे क्षिपेत्तालकपोटलीम् ।

पाकानुपपत्त्या च षोडशौ ऽवेति षोडशिका इति व्युत्पत्त्या पलपट्योयकस्य षोडशौ-
शब्दस्यैवात्र ग्रहणमाचार्याभिमततया प्रतिभाति । केचित्तु कथार्थक एवार्थं
षोडशिकाशब्दः इति वदन्ति ॥ ८४।८५ ॥

मतान्तरमाह, क्वागलस्येति ।—क्वागलस्य बालेन क्वागपुष्करोष्णा । बलिना
गन्धकेन । दिवसद्वन्द्वं दिनद्वयम् । द्रावणवर्गेण—“गुडगुग्गुलुगुञ्जाज्य सारवे-
ष्टङ्गणान्वितैः” इति वक्ष्यमाणगणेन । तां कूपिकामित्यर्थः । अयमर्थः,—शुद्धतालं क्वाग
पुष्कलीमगन्धकाभ्यां दिवसद्वयमवहितः सम्यग् गुडाद्द्रावणवर्गेण अनुरूपेण सह
काचकूप्यन्तर्विशयेत्, ततः मृदस्त्रेण वारचयं कूपिका तां लिप्ता चण्डातपे संशोष्य
अर्धच्छिद्रकण्ठकामये कूपिकाया अर्द्धांशम् अर्द्धांशञ्च बहिः यथा तिष्ठेत् तथा
संशोष्य द्वादशप्रहरं यावत् वज्रज्वाला दद्यात्, शीतं कूपिकायाः कण्ठलग्नं शुद्धं सत्त्वं
गृह्णीयादिति ॥ ८६—८८ ॥

मतान्तरमाह, पक्षेति ।—कर्षद्वयं तालं दृढनिर्मलान्धरे बद्धा वस्त्रोपरि वारचयं
पिष्टमन्त्रं संलिप्य शोषयित्वा च गलिततामे पलमयमिति पीडयित्वा तां क्षिपेत्

भस्मना ह्लादयेच्छीघ्रं ताम्रेणाऽऽवेष्टितं सितम् ॥

मृदुलं सत्त्वमादद्यात् प्रोक्तं रसरसायने ॥ ८० ॥

[इति तालकाधिकारः] ।

अथ मनःशिला ।—

अथ मनःशिलाया भेदाः ।—

मनःशिला त्रिधा प्रोक्ता श्यामाङ्गी कणवीरका ।

खण्डाख्या चेति तद्रूपं विविच्य परिकथ्यते ॥ ८१ ॥

अथ विविधानां लक्षणानि ।—

श्यामा रक्ता मगौरा च भाराऽऽद्या श्यामिका मता ।

तेजस्विनी च निर्गौरा ताम्राभा कणवीरका ॥ ८२ ॥

चूर्णीभूताऽतिरक्ताङ्गी सभारा खण्डपूर्विका ।

उत्तरोत्तरतः श्रेष्ठा भूरिसत्त्वा प्रकीर्तिता ॥ ८३ ॥

अथ गुणाः ।—

मनःशिला सर्वरसायनाग्रा तित्ता कटूणा कफवातहन्त्री ।

सत्त्वात्मिका भूतविषाग्निमान्य-कण्डूतिकासक्षयहारिणी च

॥ ८४ ॥

शीघ्रं भस्मना ह्लादयेच्च, किञ्चित्कालातीते ताम्रगर्भस्थं मृदु शुभ सत्त्व गृहोत्वा कार्येषु
योगयेदिति ॥ ८० ॥

त्रिधा भिन्नायाः मनःशिलायाः भासान्वाह, मनःशिलेति ।—सुगमम् ॥ ८१ ॥

त्रिविधानां तासां लक्षणान्वाह, श्यामेति ।—सगौरा सपीता, तेन ईषत्वीत-
मिश्रितश्यामरक्तवर्णा इत्यर्थः । तेजस्विनी तेजोभूयिष्ठा पित्तवर्जिनीत्यर्थः । सभारा
खलघ्नीत्यर्थः । उत्तरोत्तरतः परपरत, प्रथमात् द्वितीया, द्वितीयात् तृतीया इत्यर्थः ।
भूरिसत्त्वा प्रभूतमारविशिष्टा ॥ ८२ ॥ ८३ ॥

मनःशिलाया गुणमाह, मनःशिलेति ।—सत्त्वात्मिका सत्त्वगुणमयी ; पित्तस्य
सत्त्वगुणसदृशकार्यत्वात् सत्त्वात्मिका-शब्देन पित्तस्वरूपा पित्तगुणा इत्यर्थः इक्षि-
व्यन्यते । सत्त्वात्मिका साररूपमौषधी वा ॥ ८४ ॥

अथ अगुह्यगुह्यशिलयोर्दोषगुणौ ।—

अश्मरीं मूत्रकच्छुश्च अगुहा कुरुते शिला ।

मन्दान्निं मलबन्धश्च शुद्धा सर्वरुजापहा ॥ ८५ ॥

अथ शोधनम् ।—

अगस्त्यपत्रतोयेन भाविता सप्तवारकम् ।

शृङ्गवेररसैर्वाऽपि विशुध्यति मनःशिला ॥ ८६ ॥

अथ प्रकारान्तरशोधनम् ।—

जयन्तीभृङ्गराजोत्थ-रक्तागस्त्यरसैः शिलाम् ।

दोलायन्त्रे पचेत् यामं यामं छागोत्थमूत्रकैः ॥

क्षालयेदारनालेन सर्वरोगेषु योजयेत् ॥ ८७ ॥

अथ सत्त्वपातनम् ।—

अष्टमांशेन किट्टेन गुडगुग्गुलुमर्पिषा ।

कोष्ठयां रुद्धा दृढं धाता मत्त्वं मुञ्चेन्मनःशिला ॥ ८८ ॥

अगुह्यगुह्ययोर्दोषगुणावाह, अश्मरीमिति ।—शिला मनःशिला ॥ ८५ ॥

द्विविधशोधनमाह, अगस्त्यात् ।—अगस्त्यपत्रतोयेन वक्त्रपुष्पपत्रस्वरसेन ; यद्यप्यत्र अगस्त्यस्य विशेषो नोक्तः, तथाऽपि अग्रे रक्तपुष्पवकत्रपुष्पदर्शनादिहापि रक्तवकस्यैव यद्वर्णं युक्तम् । भाविता सम्यक् मर्दनयोग्येन द्रवेण मसृता । भावनाया द्रवदान-विधिर्यथा तोडनानन्ते— “द्रवेण यावता सम्यगेकीभूयाद्रतो व्रजेत् । द्रवप्रमाणं निर्दिष्टं भिषाग्भावनविधौ ॥” इति । भावनाविधिर्यथा शार्ङ्गधर—“दिवा दिवातपे शुष्क रात्रौ रात्रौ निवासयेत् । शुष्कं चूर्णीकृतं द्रव्यं समाहं भावनविधिः ॥” इति । शृङ्गवेररसैः चार्द्रकस्वरसैः ; अर्वापि सप्तवारं भाविता इति शील्यम् ॥ ८६ ॥

मतान्तरमाह, जयन्तीति ।—जयन्ती स्नानामप्रसिद्धा । रक्तागस्त्यरसैः रक्तपुष्पवक्-पत्रस्वरसैः ; अगस्त्यादिद्रव्यवयाणां मिलितरसैः यामं, यामञ्च छागमूत्रकैः दोलायन्त्रे पक्वा पश्चात् कार्झिकेन प्रक्षाल्य गृह्णीयादिति ॥ ८७ ॥

सत्त्वाहरणमाह, अष्टमांशेनेति ।—अष्टमांशेन किट्टादिसुपिरत्नानां प्रत्येकं मनः-शिलापेक्षया अष्टमभागेन, अथवा किट्टस्यैव अष्टमी भागः गुडादिकञ्च यथायोग्यं दैवम् । किट्टेन मसूरिण । कोष्ठयां कोष्ठिकायन्त्रे । धाता सत्त्वता ॥ ८८ ॥

मतान्तरम् ।—

भूनाग-धौत-सौभाग्य-मदनैश्च विमर्दितैः ।

कारवल्लीदलाभोभिर्मूषां कृत्वाऽत्र निक्षिपेत् ॥ ८८ ॥

शिलां चाराम्बुनिष्पिष्टां प्रधमेत्तदनन्तरम् ।

कोकिलाद्वयमात्रं हि ध्यानात् मत्त्वं त्यजत्यसौ ॥ १०० ॥

[इति मनःशिलाधिकारः] ।

अथाञ्जनानि ।—

अथाञ्जनानां भेदनिरदेशः ।—

सौवीरमञ्जनं प्रोक्तं रसाञ्जनमतः परम् ।

स्रोतोऽञ्जनं तदन्यच्च पुष्पाञ्जनकमेव च ॥

नीलाञ्जनञ्च तेषां हि स्वरूपमिह वर्ण्यते ॥ १०१ ॥

अथ सौवीरमञ्जनगुणाः ।—

सौवीरमञ्जनं धूम्रं रक्तपित्तहरं हिमम ।

विषहिंश्चाक्षिरोगघ्नं व्रणशोधनरोपणम् ॥ १०२ ॥

मतान्तरमाह, भूनागिति ।—भूनागः मौसकम् । धौतं भौलकामौसम् । “धौतम्” इत्यत्र “सत्त्वम्” इति पाठे—भूनागसत्त्वं मौसकमारम् । मदनः स्वनामख्यातवृक्ष-विशेषः, तस्य फलं याज्यम् । कारवल्ली “क्षुद्रकरेला” इति प्रसिद्धा, तस्याः दलाभोभिः पत्रस्वरसैः । कोकिलेति ।—कोकिलया वादराज्जाराग्निना द्वयमात्रं वारहयम् । भूनागादिकं कारवल्लीपत्ररसेन मर्दयित्वा तेनैव मूषा विधाय चाराम्बुध्यां मनःशिलां पिष्टा तत्र संरुध्य वादराज्जाराग्निना वारहय प्रधमेदिति ॥ ८८।१०० ॥

अञ्जनस्य भेदनाह, सौवीरमिति ।—सौवीरं सुधीरानासौ काचिन्नदी तत्र भवमिति अञ्जनविशेषणम् । तल्लक्षणं यथा चक्रसङ्ग्रहे—“वल्लीकशिखराकारं भङ्गे नीलोत्पलद्युतिः । सौवीरमञ्जनमित्याहुरायुर्वेदविदो जनाः ॥” इति । स्रोतोऽञ्जनम् अञ्जनविशेषः, “ऊष्णमुष्मा” इति प्रसिद्धम् ; एतदेव श्रेष्ठम् ; यदुक्तं भावप्रकाश—“स्रोतोऽञ्जनगुणाः सर्वे सौवीरेऽपि मता बुधैः । किन्तु द्वयोरञ्जनयोः श्रेष्ठं स्रोतोऽञ्जनं स्मृतम् ॥” इति । तल्लक्षणं यथा राजनिघण्टौ,—वल्लीकशिखराकारं भिन्ननीलाञ्जनप्रभम् । पृष्टे च गैरिकावर्णे श्रेष्ठं स्रोतोऽञ्जनञ्च तत् ॥” इति । पुष्पाञ्जनकं कृत्रिममञ्जनविशेषः । नीलाञ्जनं स्रोतोऽञ्जनभेदः ॥ १०१ ॥

अथ रसाञ्जनगुणाः ।—

रसाञ्जनञ्च पीताभं विष-वक्त्रगदापहम् ।

श्वासहिष्मापहं वर्ण्यं वातपित्तासनाशनम् ॥ १०३ ॥

अथ स्त्रीतोऽञ्जनगुणाः ।—

स्त्रीतोऽञ्जनं हिमं स्निग्धं कषायं स्वादु लेखनम् ।

नेत्रं हिष्माविषच्छर्दि-कफपित्तास्ररोगनुत् ॥ १०४ ॥

अथ पुष्पाञ्जनगुणाः ।—

पुष्पाञ्जनं मितं स्निग्धं हिमं सर्वाक्षिरोगनुत् ।

अतिदुर्द्धरहिष्मान्नं विष ज्वरगदापहम् ॥ १०५ ॥

अथ नीलाञ्जनगुणाः ।—

नीलाञ्जनं गुरु स्निग्धं नेत्रं दोषत्रयापहम् ।

रसायनं सुवर्णं लोहमार्दवकारकम् ॥ १०६ ॥

अथ शोधनम् ।—

अञ्जनानि विशुध्यन्ति भृङ्गराज-निजद्रवैः ॥ १०७ ॥

अथ सत्त्वयङ्गम् ।—

मनोह्रा-सत्त्ववत् सत्त्वमञ्जनानां सभाहरेत् ॥ १०८ ॥

तत्र स्त्रीतोराञ्जनस्य गुणमाह, स्त्रीतोऽञ्जनमिति ।—धूस्रं धूस्रवर्णमित्यर्थः । हिष्मा हिक्का । प्रथेति ।—व्रणानां शोधनं दोषनाशनं, रोगघ्नं अतः पूरणम् ॥ १०३ ॥

रसाञ्जनगुणमाह, रसाञ्जनमिति ।—वातपित्तासनाशनं वातरक्तनाशनं रक्तपित्ताशनञ्च ॥ १०३ ॥

स्त्रीतोऽञ्जनगुणमाह, स्त्रीतोऽञ्जनमिति ।—लेखनं—“धातून् मलान् वा देहस्य विशीथोल्लेखयेच्च यत् । लेखनं तत् यथा स्त्रीद्रं नीरमुष्णं वचा यवाः ॥” इत्युक्त-
स्त्वचकम् ॥ १०४ ॥

पुष्पाञ्जनगुणमाह, पुष्पाञ्जनमिति ।—मितं यथार्थम् ॥ १०५ ॥

नीलाञ्जनगुणमाह, नीलाञ्जनमिति ।—सुवर्णं स्वर्णमार्दकम् । लोहमार्दव-
कारकम् एकत्र मर्दनेन पुटनेन वा लोहानां श्लाघ्यत्वसम्पादकम् ॥ १०६ ॥

शोधनमाह, अञ्जनानीति ।—भृङ्गराजनिजद्रवैः भृङ्गराजस्तरसैः ॥ १०७ ॥

सत्त्वपातनमाह, मनोह्वेति ।—मनःश्लेष्मातः सत्त्वयङ्गविधिना अञ्जनेभ्योऽपि
स्त्वत्वं गृह्णीयादिति ॥ १०८ ॥

अथ स्तोतोऽञ्जनलक्षणम् ।—

वल्मीकशिखराकारं भङ्गे नीलोत्पलद्युति ।

घृष्टन्तु गैरिकच्छायं स्तोतोऽंजं लक्षयेत् बुधः ॥ १०८ ॥

अथाञ्जनेन रसवत्स्वनीपायः ।—

गोशङ्कद्रम-मूत्रेषु घृत-क्षौद्र-वसासु च ।

भावितं बहुशस्तच्च शीघ्रं बध्नाति सूतकम् ॥ ११० ॥

अथ रसाञ्जनस्य विशेषशोधनम् ।—

सूर्यावर्त्तादियोगेन शुद्धिमिति रसाञ्जनम् ॥ १११ ॥

अथ स्तोतोऽञ्जनात् सत्त्वगुणम् ।—

राजावर्त्तकवत् सत्त्वं ग्राह्यं स्तोतोऽञ्जनादपि ॥ ११२ ॥

[इत्यञ्जनाधिकारः] ।

अथ कङ्कष्ठम् ।—

अथ कङ्कष्ठस्यान्तत्त्वात् भेदश्च ।—

हिमवत्पादशिखरे कङ्कष्ठमुपजायते ।

तत्रैकं गालिकाख्यं हि तदन्यद्रेणुकं मतम् ॥ ११३ ॥

स्तोतोऽञ्जनस्य लक्षणमाह, वल्मीकेति ।—वल्मीकशिखराकारं वल्मीकवत् सन्नतावनतबहुशिखरविशिष्टम् । घृष्टमिति ।—शिलाखण्डे घृष्टे मति गैरिकवत् लोडिताभं परिदृश्यते । अथ चतुर्णामपरेषां लक्षणं बोद्धा यत् केवलस्तोतोऽञ्जनस्यैव लक्षणमुक्तं तत् स्तोतोऽञ्जनस्य प्रशक्ताप्रतिपादनायम् ॥ १०८ ॥

तस्य रसवत्स्वकत्वमाह, गोशङ्कदिति ।—तत् स्तोतोऽञ्जनम् । गोमयरसेन गोमूत्रेण घृतेन क्षौद्रेण वसया च प्रत्येकशः सप्तवारान् भावितं स्तोतोऽञ्जनं रसवत्स्वमाय अलं भवतीति ॥ ११० ॥

रसाञ्जनस्य विशेषशोधनमाह, सूर्यावर्त्तादीति ।—सूर्यावर्त्तः सुवर्चसा “हुङ्कुडिश” इति प्रसिद्धः । अत आदिपदेन “सूर्यावर्त्तककदली बन्धा कोषातकी च मुरदाली । शिशुश्च वज्रकन्दो गौरं कणा काकमाचौ च ॥” इत्यनेन वक्ष्यमाणः सूर्यावर्त्तादिगणः बोध्यः ॥ १११ ॥

स्तोतोऽञ्जनात् सत्त्वगुणपकारमितिदिश्याह, राजावर्त्तकवदिति ।—राजावर्त्तकम् उपरद्भवविशेषः, “रेवट्यै” इति नाम्ना पश्चिमदिशि प्रसिद्धम् । इत्येवमाथराजावर्त्तक-मुल्लपातनविधिना यस्यापि सत्त्वं ग्राह्यम् इति ॥ ११२ ॥

अथ कङ्कुष्ठद्वयलक्षणम् ।—

पीतप्रभं गुरु स्निग्धं श्रेष्ठं कङ्कुष्ठमादिमम् ।

श्यामपीतं लघु त्यक्त-सत्त्वं नेष्टं हि रेणुकम् ॥ ११४ ॥

अथ कङ्कुष्ठस्योत्पत्तौ मतान्तरद्वयं लक्षणम् ।—

केचिद्वदन्ति कङ्कुष्ठं मद्योजातस्य दन्तिनः ।

वर्चश्च श्यामपीताभं रेचनं परिकथ्यते ॥ ११५ ॥

कतिचित्तेजिवाहानां बालं कङ्कुष्ठसंज्ञकम् ।

वदन्ति श्वेतपीताभं तदतोव विरेचनम् ॥ ११६ ॥

अथ नालिकाकङ्कुष्ठस्य प्रयोगविषयः

रेणुकाकङ्कुष्ठस्य अप्रयोज्यता च ।—

रसे रसायने श्रेष्ठं निःसत्त्वं बहुवैकृतम् ॥ ११७ ॥

अथ गुणाः ।—

कङ्कुष्ठं तिक्तकटुकं वीर्यघ्निश्चातिरेचनम् ।

व्रणोदावर्तशूलार्ति-गुल्मघ्नो हगुदार्तिनुत् ॥ ११८ ॥

कङ्कुष्ठस्योत्पत्तिस्थानं भेदश्चाह, हिमवदिति ।—कङ्कुष्ठं “घुषिम्” इति प्रसिद्धम् ।
यस्यान्तरे तु रक्तकालम अण्डकश्चेति भेदद्वयमस्य निर्दिष्टं, तत् प्रागेव प्रदर्शितम् ॥ ११९ ॥
तयोर्लक्षणमाह, पीतेति ।—आदिमं नालिकाहम् । त्यक्तसत्त्वं निःसारम् ।
नेष्टं नाभिमत्तं, न याज्ञानित्यर्थः ॥ ११४ ॥

केषाञ्चिन्मते कङ्कुष्ठस्य स्वरूपलक्षणमाह, केचिदिति ।—वर्चः पुरीषम् ।
तेजिवाहानां तेजस्विनामश्यानां, “सर्वे सान्तास्त्वदन्ताः” इति । नयमात् अदन्त-तेज-
शब्दादिन्-प्रत्ययेन तेज्रीति पदं सिद्धम् ; बालं पुच्छलोम इत्यर्थः । “बालम्”
इत्यत्र “नालम्” इति पाठे—नालं मेढ्रम् ॥ ११५।११६ ॥

नालिकायाः प्रयोगविषयं रेणुकाया अप्रयोज्यताश्चाह, रसे इति ।—श्रेष्ठं नालि-
काव्यकङ्कुष्ठमित्यर्थः, प्राक् तस्यैव श्रेष्ठत्वेनोक्तत्वात्, रसे रसायने, योज्यमिति शेषः ।
निःसत्त्वं रेणुकाव्यकङ्कुष्ठं, तस्य त्यक्तसत्त्वत्वेनोक्तत्वात् ; बहुवैकृतं बहुविधकारजनकम् ।
“श्रेष्ठम्” इत्यत्र “नेष्टम्” इति पाठे—कङ्कुष्ठसंज्ञकं तेजिवाहानां बालं निःसत्त्वं
बहुवैकृतम् अत एव रसे रसायने नेष्टमिति पूर्वश्लोकेन अन्यथो बोध्यः ॥ ११७ ॥

कङ्कुष्ठस्य गुणमाह, कङ्कुष्ठमिति ।—गुदार्तिः अशः ॥ ११८ ॥

अथ रसोपरसानां सामान्यतः शोधनं सत्त्वपातनञ्च ।—

सूर्यावर्त्तक-कदली बभ्या कोशातकी च सुरदाली ।

शियश्च वज्रकन्दो नीरं कणा काकमाची च ॥११८॥

आसामेकरसेन तु लवणक्षारास्त्रभाविता बहुशः ।

शुध्यन्ति रसोपरसा धाता सुञ्चन्ति सत्त्वानि ॥ १२० ॥

अथ कङ्कुष्ठशोधनम् ।—

कङ्कुष्ठं शुद्धिमायाति त्रिधा शुण्ठास्त्रभावितम् ॥ १२१ ॥

अथ कङ्कुष्ठस्य सत्त्वरूपतायाः कथनम् ।—

सत्त्वाकर्षोऽस्य न प्रोक्तो यस्मात् सत्त्वमयं हि तत् ॥ १२२ ॥

अस्य विरेचनार्थप्रयोगे मावादिनिर्देशः ।—

भजेदेनं विरेकार्थं ग्राहिभिर्यवमात्रया ।

नाशयेदामपूर्तिञ्च विरेच्य क्षणमात्रतः ॥ १२३ ॥

रसोपरसानां सामान्यतः शोधनं सत्त्वपातनञ्चाह, सूर्यावर्त्तकेति ।—सूर्यावर्त्तकः सुवर्चला “हुडहुडिया” इति प्रसिद्धः । बभ्या बभ्याकर्कोटकी “तिर्काक्त्राल” इति ख्याता । कोशातकी घोषकः “घोषालता” इति भाषा । सुरदाली हनिघोषकः “पीतघोषा” इति भाषा । वज्रकन्दः वज्रशूरणः । नीरं बालकम् । “नीरकणा” इति समस्तपाठे तु—जलपिप्पली “काच्डा” इति ख्याता । रसोपरसादिकं सूर्यावर्त्तादीनामेकतमरसेन सैन्धवयवक्षारकाञ्जिकेश सह समवारं भावयित्वा शोधयेत्, ततो मन्त्रया धात्वा सत्त्वं गृह्णीयात् इति ॥ ११८।१२० ॥

कङ्कुष्ठस्य शोधनमाह, कङ्कुष्ठमिति ।—त्रिधा शुण्ठास्त्रभावितं शुण्ठीकाद्येन शारवयं भावितम् ॥ १२१ ॥

अस्य सत्त्वस्वरूपतामाह, सत्त्वेति ।—सुगमम् ॥ १२२ ॥

विरेकार्थम् अस्य प्रयोगविधिमाह, भजेदिति ।—ग्राहिभिः मलरीधकैः, शुण्ठी-जौरकादिभिरिति यावत् ; ग्राहिलक्षणं यथा माधप्रकाशे,—“दीपनं पाचनं यत् व्यादुष्यन् वातं द्रवशोषकम् । ग्राहि तच्च यथा शुण्ठी जौरकं गजपिप्पली ॥” इति । आमपूर्तिम् आमेन पूरणं, देहस्येति शेषः । “आमशार्तिम्” इति पाठे—आमजन्तु-विहारमित्यर्थः । विरेचनार्थं शुण्ठीजौरकादिभिः ग्राहिभिर्यवैः सह यवमात्रं कङ्कुष्ठं

अथान्न अविधिप्रयोगे दोषः ।—

भक्षितं सह ताम्बूलैर्विरेच्यासून् विनाशयेत् ॥ १२४ ॥

अथ विषनाशार्थं कङ्कुष्ठप्रयोगविधिः ।—

वर्बुरीमूलिकाक्ताथैर्जीरसौभाग्यकं समम् ।

कङ्कुष्ठं विषनाशाय भूयो भूयः पिबेन्नरः ॥ १२५ ॥

[इति कङ्कुष्ठाधिकारः] ।

इत्युपरसाः ।

अथ साधारणरसाः ।—

अथ साधारणरसानां नामानि ।—

कम्पिल्लश्चपलो गौरी-पाषाणो नवसारकः ।

कपर्दी वङ्गिजारश्च गिरिसिन्दूर-हिङ्गुली ॥ १२६ ॥

मृदारमृङ्गमित्यष्टौ साधारणरसाः स्मृताः ।

रसमिद्धिकराः प्रोक्ता नागार्जुनपुरःसरैः ॥ १२७ ॥

प्रयुञ्जीत, तेन अचिरमेव विरेकी भवेत् आमपूभिश्च नश्येत् । ग्राहिभेषजैः सह प्रयोगविधिश्च अतिविरेचननिवारणार्थं ज्ञेयम् ॥ १२१ ॥

अविधिप्रयोगे दोषमाह, भक्षितमिति ।—ताम्बूलैः पणपतैः, तस्य सरगुणविशिष्टत्वात् । विरेच्य इत्यत्र अति इति पदमूहनीयम्, अतिशयेन रेचयित्वा इत्यर्थः ॥ १२४ ॥

विषनाशार्थं कङ्कुष्ठप्रयोगमाह, वर्बुरीति ।—वर्बुरी वब्बोलः “वाब्बला” इति भाषा, “वावुइतलसी” इति ख्याता वनतलसी वा । मूलिका क्षीरिका “क्षीरु” इति प्रसिद्धा । समं समपरिमितम् । वर्बुरीमूलिकाक्ताथैः सह तृण्यमानं जीरकटङ्गणकङ्कुष्ठं विषनाशाय पुनः पुनः प्रत्यहं वा पिबेत् इति । “कङ्कुष्ठं विषनाशाय” इत्यत्र “कङ्कुष्ठ-विषनाशाय” इति पाठे—अमुञ्जकङ्कुष्ठभक्षणेजनितविषदोषनाशाय अविधिना कङ्कुष्ठभक्षणेजनितविषक्रियानिवारणार्थं वा समपरिमितजीरकटङ्गणं युक्त्या वर्बुरी-मूलिकाक्ताथेन पिबेत् इति ॥ १२५ ॥

उपरसानां शोधनादिनिर्देशानन्तरं साधारणरसानामपि तेषु वक्तव्येषु आदौ तेषां नामान्माह, कम्पिल्ल इति ।—कम्पिल्लः गुण्डारोचनी “कमलागुण्डो” इति खीले । चपलः यशदः “दक्षा” इति भाषा । “कम्पिल्लश्चपलः” इत्यत्र “कम्पिल्लश्च

अथ कम्पिलः ।—

अथ कम्पिलस्य स्रष्टृपक्षस्यमुत्पत्तिस्थानम् ।—

इष्टिकाचूर्णमङ्गाशश्चन्द्रिकाऽऽख्योऽतिरेचनः ।

सौराष्ट्रदेशे चोत्पन्नः स हि कम्पिलकः स्मृतः ॥ १२८ ॥

अथ गुणाः ।—

पित्तत्रणाशानविबन्धनिघ्नः श्लेष्मोदरार्तिक्कमिगुल्मवैरो ।

मूलाभशोफज्वरशूलहारौ कम्पिलको रच्यगदापहारौ

॥ १२९ ॥

[इति कम्पिल्लाधिकारः] ।

परः” इति पाठः साधयान् । गौरीपाषाणः शुक्लपाषाणः, “फुलखाडि” इति लोके । नवसारकः “निशादल” इति भाषा, “नरसारः” इत्येव नाम सर्वत्र दृश्यते । कपर्दः बराटिका । वज्रिगारः खनामख्यातः पश्चिमसागरसम्भूत औषधविशेषः । गिरिमिन्दूरः रक्तवर्णः पार्वतीयसरविशेषः । हिङ्गुलः प्रसिद्धः । सहारशृङ्ग सौषकसमुत्पन्नः पार्वतीयधातुविशेषः । अथ कम्पिल्लादि सहारशृङ्ग-मित्यन्तानां साधारणरसानां नवसङ्ख्यावत्त्वं सम्पद्यते, परन्तु सङ्ख्याकथनावसरे “इत्यष्टौ” इति विरुद्धोक्तिः कथं सङ्गच्छते ? इति चेत् उच्यते—सङ्गृहकारः प्राक् महारसमध्ये चरलं पठित्वाऽपि पुनः साधारणरसे यदस्य यद्वर्णं कृतवान्, तत्र प्राचा मतद्वेषदर्शनमेव हेतुः, निबन्धकारस्य स्वमतन्तु महारसत्वेन, तत् तत्रैव समर्थितम् । अतः यद्यपि मतभेदे स्मृतिद्वेषवत् उभयमपि प्रमाणं, यथा चरकमते महाकुष्ठे पठितस्य सिन्धस्य सुशुने क्षुद्रकुष्ठेषु, किञ्च महाकुष्ठे पठितस्य सौशुतदद्रुणः चरके क्षुद्रकुष्ठेष्वन्तर्भावः । अत एव शोधनादिकथनावसरे आचार्येणास्य पुनः यद्वर्णं न कृतम्, एवञ्च अपक्षपरिथागादष्टलमवाध्याहृतमेव इति ॥ १२६।१२७ ॥

कम्पिलस्य लक्षणमुत्पत्तिस्थानञ्चाह, इतिकेति ।—चन्द्रिकाख्यः आकचक्यविशिष्टः, सचन्द्राक्षवत् उज्ज्वलकणावकुलः इत्यर्थः ॥ १२८ ॥

तस्य गुणमाह, पिचेति ।—मूलाभेत्यत्र मूलशब्देन मूलगतरीगः साक्षाः, तेन शिरोरोगनाशनः इत्यर्थः । रच्येति ।—रच्यः विरेचनार्हः यः गदः रोगः तम् अपहरति नाशयतीति तादृशः विरेचनोपक्रमणोद्योगनाशनः इत्यर्थः ॥ १२९ ॥

अथ गौरीपाषाणः ।—

अथ गौरीपाषाणस्य पर्यायो भेदश्च ।—

गौरीपाषाणकः पीतो विकटो हतचूर्णकः ।

स्फटिकाभश्च शङ्खाभो हरिद्राभस्त्रयः स्मृताः ॥

पूर्वः पूर्वो गुणैः श्रेष्ठः—”

॥ १३० ॥

अथ शोधनम् ।—

“—कारवल्लीफले क्षिपेत् ।

स्वेदयेद्वणिष्कामध्ये शुद्धो भवति मूषकः ॥ १३१ ॥

अथ सत्त्वगुणम् ।—

तालवद्गाहयेत् सत्त्वं शुद्धं शुभ्रं प्रयोजयेत् ॥ १३२ ॥

अथ गुणाः ।—

रसबन्धकरः स्निग्धो दोषघ्नो रसवीर्यकृत् ॥ १३३ ॥

[इति गौरीपाषाणाधिकारः] ।

अथ नवसारः ।—

अथ नवसारस्त्यपत्तिः पर्यायश्च ।—

करीर-पीलुकाष्ठेषु पच्यमानेषु चोद्भवः ।

क्षारोऽसौ नवसारः स्याच्चूलिकालवणाभिधः ॥ १३४ ॥

गौरीपाषाणस्य पर्यायान् वर्णभेदेन वेविध्यञ्चाह, गौरीति ।—पीत-विकट-हतचूर्णकः इति इमे त्रयः पर्यायाः । पूर्व इति ।—पूर्वः पूर्वः हरिद्राभगौरी-पाषाणात् शङ्खाभः, शङ्खाभपाषाणात् स्फटिकाभः श्रेष्ठः ॥ १३० ॥

तस्य शोधनमाह, कारवल्लीति ।—कारवल्लीफले कारवल्लीफलरसे, कारवल्ली “चुद्र-करेला” इति भाषा । स्वेदयेत्, दीलायन्ते इति शेषः । मूषकः गौरीपाषाणः ॥ १३१ ॥

सत्त्वगुणमाह, तालवदिति ।—हरितालात् सत्त्वगुणविशिना इत्यर्थः ॥ १३२ ॥

गुणमाह, रसेति ।—रसवीर्यकृत्, संयोगेन इति शेषः ॥ १३३ ॥

नवसारस्य उत्पत्तिं पर्यायञ्चाह, करीरिति ।—करीरः वंशाक्षुरः मरुजद्रुम-विशेषो वा । पीलुः पीतारपक्षिफलविशेषः “आखरोट्” इति लोके । चूलिका-लवणमिति पर्यायः ॥ १३४ ॥

उत्पत्तौ मतान्तरम् ।—

इष्टिकादङ्गने जातं पाण्डुरं खवर्णं लघु ।

तदुक्तं नवसाराख्यं चूलिकालवणञ्च तत् ॥ १३५ ॥

अथ गुणाः ।—

रसेन्द्रजारणं लीहद्रावणं जठराग्निकृत् ।

गुल्मप्लीहास्यशोषघ्नं भुक्तमांसादिजारणम् ॥

विडाख्यञ्च त्रिदोषघ्नं चूलिकालवणं मतम् ॥ १३६ ॥

[इति नवसाराधिकारः] ।

अथ वराटिका ।—

अथ वराटिकालक्षणम् ।—

पीताभा ग्रन्थिका पृष्ठे दीर्घवृत्ता वराटिका ।

रसवैद्येर्विनिर्दिष्टा सा चराचरसंज्ञिका ॥ १३७ ॥

अथ उत्तमादिभेदेन तस्याः त्रैविध्यमिदंशः ।—

साङ्गेनिष्कभरा श्रेष्ठा निष्कभारा च मध्यमा ।

पादांन-निष्कभारा च कनिष्ठा परिकीर्तिता ॥ १३८ ॥

उत्पत्तौ मतान्तरमाह, इष्टिकेति ।—इष्टिकादङ्गने इष्टकदङ्गनकाले इष्टकदङ्गन स्थाने वा । ग्रन्थान्तरे अथ उत्पत्तिरन्यविधा दर्शिता, यथा—“शौट्टं वा माद्विषं गव्यं पुरौषं भस्मतां गतम् । आरपाकविधानेन नृसागमिद्विकृत्यते ॥” इति । यतःऽत्रास्य शङ्किर्नोक्ता अतः ग्रन्थान्तरदर्शनात् सा ज्ञातव्या, तद्वद्वया—“नरसारी भवेत् यद्वः चूर्णतोवे विपातितः । ढोलायन्त्रेण यन्त्रेण भिषग्भिर्घर्षेणमिद्वये ॥” इति अत्रिः ॥ १३५ ॥

अथास्य गुणमाह, रसेन्द्रेति ।—विडाख्यं रसादीनां स्वर्णादिग्रसनार्थम् औषध-विशेषः विडः तदाख्यं, विडसाध्यकर्मण प्रयोज्यमिति ॥ १३६ ॥

वराटिकायाः लक्षणमाह, पीतामेति ।—पृष्ठे ग्रन्थिका ग्रन्थिविशिष्टा । दीर्घवृत्ता किञ्चित् गोलाकृतिदीर्घाकारा ; “दीर्घवृत्ता” इत्यत्र “दीर्घवृत्ता” इति पाठान्तरे—अथभागे वृत्तवत् दीर्घा इत्यर्थो ज्ञेयः । सेति ।—सा तथाभूता वराटिका चराचरेति नाम्ना ख्याता ॥ १३७ ॥

उत्तममध्यमाधमभेदेन तस्याः त्रैविध्यं विद्वसीति, साङ्गेति ।—साङ्गेनिष्कभरा

अथ गृणाः ।—

परिणामादिशूलघ्नो ग्रहणी क्षयनाशिनी ।

कटूणा दीपनी वृथा नेत्रा वातकफापहा ॥

रसेन्द्रजारणे प्रोक्ता विडद्रव्येषु शस्यते ॥ १३९ ॥

अथ वराटस्य लक्षणगणो ।—

तदन्ये तु वराटाः स्युर्गुरवः श्लेष्मपित्तजाः ॥ १४० ॥

अथ शोधनम् ।—

वराटाः काञ्चिके स्विन्ना यामाच्छृङ्गिमवाप्नुयुः ॥ १४१ ॥ }

[इति वराटिकाधिकारः] ।

अथ अग्निजारः ।—

अथाग्निजारस्य स्वरूपलक्षणम् ।—

समुद्रेणाग्निनक्रस्य जरायुर्वह्निरुज्जिह्वतः ।

संशुष्को भानुतापेन सोऽग्निजार इति स्मृतः ॥ १४२ ॥

षण्माषकपरिमिता । पादोननिष्कारा निष्कचतुर्थांश्चक्षीना, माषवयपरिमाणा इत्यर्थः ॥ १३८ ॥

तस्याः गुणानाह, परिणामादीति ।—परिणामादि इत्यत्र आदिपदेन अन्नद्रव-
यकृतं घ्नीकृतादीनां गृहणम् । विडद्रव्येषु रसादीनां स्वर्णादिग्रासशक्तिसञ्जननार्थम्
औषधद्रव्येषु ॥ १३९ ॥

वराटस्य आतिर्देशिकलक्षणं गुणञ्चाह, तदिति ।—प्रोक्तवराटिकालक्षणं
विपरीता वराटाः ज्ञेयाः इति ॥ १४० ॥

शोधनमाह, वराटा इति ।—स्विन्ना इत्यत्र दीलायामिति बोध्यम् ॥ १४१ ॥

अग्निजारस्य स्वरूपपरिचयमाह, समुद्रेणेति ।—अग्निनक्रस्य न क्लामति दूरस्थानम्
इति नक्रः जलगन्तुभेदः ; तथा च वाचस्पत्ये—“नक्रः जलगन्तुभेदे मकरादौ च”
इति । अत्र आदिपदेन शिशुमारवङ्गादयो बोध्याः, तेषामपि दूरस्थानभूमिगमनादि-
शक्तिराह्वित्यात् । अग्निविशिष्टः नक्रः तस्य समुद्रस्थाग्निवक्त्रजलगन्तुभेदस्य, वङ्गवाया
इत्यर्थः, यद्वा—नक्र नासिका, नक्रशब्दस्य नासिकायैकत्वेऽपि सामीप्यादत्र मुखे
उपचारः, तेनापि अग्निनक्रशब्देन अग्निमुखी वङ्गवा एव बोध्यः । जरायुः गर्भाशयः,
गर्भावरणवर्धन इति यावत् । वह्निः समुद्रात् वह्निः तटे इत्यर्थः । अन्यत्रापि

अथ गुणाः ।—

अग्निजारस्त्रिदोषघ्नो धनुर्वातादिवातनुत् ।

वर्धनो रसवीर्यस्य दीपनो जारणस्तथा ॥ १४३ ॥

तस्य स्वभावतः शुक्लत्वनिर्देशः ।—

यदब्धिच्चारसंशुद्धः तस्मात् शुद्धिर्न हीयते ॥ १४४ ॥

[इत्यग्निजाराधिकारः] ।

अथ गिरिसिन्दूरम् ।—

अथ गिरिसिन्दूरस्य स्वरूपलक्षणम् ।—

महागिरिषु चाल्पौयः-पाषाणान्तःस्थितो रसः ।

शुष्कः शोणः स निर्दिष्टो गिरिसिन्दूरसंज्ञया ॥ १४५ ॥

अथ गुणाः ।—

त्रिदोषशमनं भेदि रसबन्धनमग्निमम् ।

देहलोहकरं नेत्रं गिरिसिन्दूरमीरितम् ॥ १४६ ॥

[इति गिरिसिन्दूराधिकारः] ।

अथ हिङ्गुलः ।—

अथ हिङ्गुलस्य वैबध्यम् ।—

हिङ्गुलः शुकतुण्डाख्यो हंसपाकस्तथाऽपरः ॥ १४७ ॥

एतस्य लक्षणमुक्तं, तद्वत्तया—“जाराभो दहनमर्थो पिच्छिलः सागरे भवः । जरायुः स चतुर्वर्णः तेषु श्रेष्ठः सलोहितः ॥” इति । (जाराभः जारयुति असौ जौर्यते अनेन वा इति निरुक्त्या जारः अग्निः तटाभः अग्निवत् प्रभाविशब्द इत्यर्थः) ॥ १४२ ॥

गुणमाह, अग्निजार इति ।—धनुर्वातः धनुस्तथा ॥ १४३ ॥

शोधनस्य अप्रयोजनीयतामाह, यदिति ।—अब्धेः समुद्रस्य चारेण चारी-
दकेन समुद्रः ; समुद्रचारां खवणमयत्वात् ॥ १४४ ॥

गिरिसिन्दूरस्य स्वरूपलक्षणमाह, महेति ।—हिमालयादिहृङ्गपर्वतान्तर्वासेषु त-
पाषाणद्वयमभ्यनिष्ठतः रक्तवर्णवसिश्चैवः शुष्कोभूतः गिरिसिन्दूर इति ख्यातः ॥ १४५ ॥

तस्य गुणमाह, त्रिदोषेति ।—रसबन्धनमग्निं रसबन्धनार्हानां शुक्लद्रव्येषु
श्रेष्ठम् ॥ १४६ ॥

अथ शुकतुण्डाख्यस्य परिचयः ।—

प्रथमोऽल्पगुणस्तत्र चर्मारः स निगद्यते ॥ १४८ ॥

अथ हंसपाकस्य लक्षणम् ।—

श्वेतरेश्वः प्रवालाभो हंसपाकः स ईरितः ॥ १४९ ॥

अथ गुणाः ।—

हिङ्गुलः सर्वदोषघ्नो दीपनोऽतिरसायनः ।

सर्वरोगहरो वृथो जारणायातिशस्यते ॥ १५० ॥

अथ हिङ्गुलाकटस्तस्य गुणः ।—

एतस्मादाहृतः सूतो जीर्णगन्धसमो गुणैः ॥ १५१ ॥

अथ शोधनम् ।—

सप्तकृत्वाऽऽर्द्रकद्रावैर्लकुचस्याम्बुनाऽपि वा ।

शोधितो भावयित्वा च निर्दोषो जायते खलु ॥ १५२ ॥

नामभेदनं हिङ्गुलस्य द्वैविध्यमाह, हिङ्गुल इति ।—शुकतुण्डाख्य इत्यस्य आद्य इति शेषः ॥ १४७ ॥

शुकतुण्डाख्यस्य परिचयमाह, प्रथम इति ।—तत्र तयोर्मध्ये प्रथमः शुकतुण्डाख्यः अन्यगुणः हंसपाकाख्यहिङ्गुलापेक्षया बोध्यम् । चर्मारः इति तस्य नामान्तरम् । यदा—तत्र वक्तव्येषु विविधेषु हिङ्गुलेषु मध्ये प्रथमः चर्मारः, स अन्यगुणः, द्वितीयः शुकतुण्डाख्यः, अपरः हंसपाकः इति द्विविधः । तथा च भावप्रकाश—“द्वैविध्यविधः प्रोक्तश्चर्मारः शुकतुण्डकः । हंसपादतृतीयः स्यात् गुणवान् उत्तरीतरम् ॥ चर्मारः शुकवर्णः स्यात् सपीतः शुकतुण्डकः । जवाकुसुमसङ्काशो हंसपादो रङ्गात्मकः ॥” इति । अत्र च प्रणिनीतमन्त्रयुक्त्यावेन आदौ द्वितीयतृतीयावकाशेन प्रथमसूक्तवान् ॥ १४८ ॥

हंसपाकस्य प्रवरत्नात् तस्यैव लक्षणमाह, श्वेतरेश्व इति ।—श्वेतरेश्वः शुभ्रोऽश्वलरेश्वविशिष्टः ॥ १४९ ॥

हंसपाकहिङ्गुलस्य गुणमाह, हिङ्गुल इति ।—जारणायातिशस्यते भक्ष्यकरणार्थं हंसपाकः प्रशस्तः ॥ १५० ॥

हिङ्गुलाकटस्तस्य गुणमाह, एतस्मादिति ।—जीर्णगन्धसमः शोधितगन्धकसङ्गः ; जीर्णगन्धेनाय शोधितो बोध्यः । अथवा—जीर्णगन्धसमः गन्धकद्रावसमः ; गन्धकद्रुतिरेव गन्धकजारणीयते ॥ १५१ ॥

अथ शोधनविशेषेण गुणविशेषः ।—

किमत्र चित्रं दरदः सुभावितः क्षीरेण मेथ्या बहुशोऽस्त्ववर्गैः ।

एवं सुवर्णं बहुधर्मतापितं करोति साक्षाद्भरकुङ्कुमप्रभम्

॥ १५३ ॥

अथ हिङ्गुलात् सत्त्वाकर्षणविधिः ।—

दरदः पातनायन्त्रे पातितश्च जलाश्रये ।

तत् सत्त्वं सूतसङ्काशं जायते नात्र संशयः ॥ १५४ ॥

[इति हिङ्गुलाधिकारः] ।

अथ मृद्धारशृङ्गकम् ।—

अथ मृद्धारशृङ्गस्य परिचयः ।—

सटलं पीतवर्णं च भवेद्गर्जरमण्डले ।

अर्बुदस्य गिरिः पार्श्वे जातं मृद्धारशृङ्गकम् ॥ १५५ ॥

शोधनमाह. समकृतेति ।—समकृतः समवारान् ; समशब्दात् अकृतम्-प्रत्ययेन निघट्टम् ; “सर्वे सान्तास्तदन्ताः” इति नियमात् अत्र समकृत इति अदन्तः सिद्धः । लकुचाम्बुना उद्धरसेन ॥ १५२ ॥

शोधनविशेषेण हिङ्गुलस्य गुणविशेषमाह. किमिति ।—मेघोदग्धेन तथा अम्बु-वर्गेण च समसमवारान् भावितः हिङ्गुलः सेवितः प्रखरातपतप्तं गरं प्रवरकुङ्कुमसदृशं शोभनवर्णं करोति, अथवा—सक्तप्रकारशोधितहिङ्गुलः स्वयोगेन वक्रिणा बहुवार-मारितं सुवर्णं प्रवरकुङ्कुमसदृशं सुवर्णं करोति इति ॥ १५३ ॥

सत्त्वाकर्षणमाह. दरद इति ।—पातनायन्त्रे अधःपातनायन्त्रे ; अधःपातन-विधिना ऊर्ध्वाभाण्डोदरे गम्भीरशोधितदरदं क्षिप्वा अधोभाण्डे जलं संस्थाप्य ऊर्ध्वाभाण्डोपरि पुटं देयं, तेन अधःस्थजले पारदसदृशं सत्त्वं पतैत् इति । अधःपातनायन्त्र-लक्षणञ्चायं वक्ष्यति ॥ १५४ ॥

मृद्धारशृङ्गस्य लक्षणमुत्पत्तिस्थानञ्चाह. सदलमिति ।—वंशपत्रहरितालवत् पटलविशिष्टम् । मृद्धारशृङ्गस्य पर्यायादिकं निघट्टादौ अन्यत्र वा कुत्रापि यन्त्रे न स्मरिदृश्यते, परन्तु अजदेशे यत् “मुद्राशृङ्ग” इति नाम्ना प्रसिद्धं, पश्चिमदेशे तत्

अथ गुणाः ।—

सीससत्त्वं गुरु श्लेष्म-शमनं पुं-गदापहम् ।

रसवन्धनमुत्कृष्टं केशरञ्जनमुत्तमम् ॥ १५६ ॥

[इति मृद्धारशृङ्गाधिकारः] ।

अथ साधारणरसानां सामान्यशोधनम् ।—

साधारणरसाः सर्वे मातुलुङ्गार्द्रकाम्बुना ।

त्रिरात्रं भाविताः शुष्काः भवेयुर्दोषवर्जिताः ॥ १५७ ॥

अथ सत्त्वानां सामान्यशोधनम् ।—

यानि कानि च सत्त्वानि तानि शुध्यन्त्यशेषतः ।

ध्मातानि शुद्धिवर्गेण मिलन्ति च परस्परम् ॥ १५८ ॥

इति करवालभैरवः । *

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनीर्वाण्डाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये उपरस-

साधारणरसानां शुद्ध्यादिनिरूपणं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

“मुरदारशृङ्ग” इति नाम्ना तत्रत्यैरभिधीयते, अतो भव्ये मृद्धारशृङ्गैर्मुद्राशृङ्ग एव इति ॥ १५५ ॥

तस्य गुणमाह, सीसेति ।—सीससत्त्वमिति मृद्धारशृङ्गस्य नामान्तरं, तस्य सीसक-
सारविशेषत्वात् । पुं-गदापहं पुंनृतिनियतोपदंशादिरोगनाशनम् ॥ १५६ ॥

साधारणरसानां सामान्यशोधनमाह, साधारणेति ।—साधारणरसाः कम्पिता-
दयः ॥ १५७ ॥

सत्त्वानां सामान्यशोधनमाह, यानीति ।—ध्मातानि शुद्धिवर्गेण “काचटङ्गण-
शिप्राभिः शोधनीयगणो मतः” इत्येव वक्ष्यमाणशोधनीयगणेन सह मर्दयित्वा
अस्त्राग्निना सन्धितानि । मिलन्ति एकैकं भवन्ति यस्यैतौ त्वर्थः ॥ १५८ ॥

* करवालभैरव इति कस्यचित् रसतन्त्रकर्तुः अभिधा ।

इति रसरत्नसमुच्चयबोधिन्यां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

अथ रत्नानि ।—

अथ मणयः ।—

अथ मणीनां सामान्यकार्यम् ।—

मणयोऽपि च विज्ञेयाः सूतबन्धनकारकाः ॥ १ ॥

अथ मणीनां नामानि ।—

वैक्रान्तः सूर्यकान्तश्च हीरकं मौक्तिकं मणिः ।

चन्द्रकान्तस्तथा चैव राजावर्तश्च सप्तमः ॥ २ ॥

गरुडोद्धारकश्चैव ज्ञातव्या मणयस्त्वमी ।

पुष्परागो गोमेदश्च पद्मरागः प्रबालकम् ॥ ३ ॥

वैदूर्यञ्च तथा नोल एतं च मणयो मताः ।

यत्नतः सङ्गृहीतव्या रसबन्धस्य कारणात् ॥ ४ ॥

अथ तृतीयाध्याये उपरस-साधारणरमानां शोधनादिनिर्दिष्टपणान्तरम् इदानीं रत्नानां नामलक्षणादिकं निरूपयितुं चतुर्थाध्यायमारभते ; तत्रादौ रत्नानां सामान्य-कार्यमाह, मणय इति ।—मणयः रत्नानि । रत्नशब्दस्य निरुक्तिः राजनिघण्टौ उक्ता यथा—“धनार्थिनो जनाः सर्वे रमन्तेऽस्मिन्नतीव यत । ततो रत्नमिति प्रोक्तं शब्दशास्त्र-विशारदैः ॥” इति । सूतबन्धनकारकत्वं सामान्यकार्यम् ॥ १ ॥

मणीनां नामान्याह, वैक्रान्त इति ।—वैक्रान्तादिनीलान्ताः चतुर्दश मणिभेदाः । वैक्रान्तः “सुणिविशेषः” इति लोके । सूर्यकान्तः स्वनामख्यातः “आतमपाथर” इति लोके ; यद्यप्येवायं गुणादिकं नोक्तं तथाऽपि यस्यान्तरदृशनात् तज्ज्ञातव्यं, यथा राजनिघण्टौ—“सूर्यकान्तो भवेदृणो निर्मलश्च रसायनः । वातश्लेष्मज्वरो मेध्यः पुजनात् रवितृष्टिदः ॥” इति । मणिः स्फटिकोपलः ; अस्यापि गुणं यथा राजनिघण्टौ—“पित्तदाहरीगघ्नः रक्तसमवीर्यश्च” इति । चन्द्रकान्तः स्वनामख्यातः ; अस्यापि गुणं तमेव द्रष्टव्यं यथा—“चन्द्रकान्तस्तु शिशिरः स्निग्धः पितामहतापहृत् । शिवप्रोतिकरः स्वच्छः गूढालक्षोविनाशकत् ॥” इति । राजावर्तः पश्चिमदिशि “रेवटी” इति नाम्ना ख्यातः । गरुडोद्धारकः सरकतः “पाद्मा” इति लोके । पुष्परागः

अथ श्रेष्ठमन्त्राणां नामानि ।—

पद्मरागेन्द्रनीलाख्यौ तथा मरकतोत्तमः ।

पुष्परागः सवज्राख्यः पञ्च रत्नवराः स्मृताः ॥ ५ ॥

अथ दृष्टमन्त्राणां प्रसादकरानि ।—

माणिक्यमुक्ताफलविद्रुमाणि तार्क्ष्यं च पुष्पं भिदुरञ्च नीलम् ।

गोमेदकञ्चाथ विदूरकञ्च क्रमेण रत्नानि नवग्रहाणाम् ॥ ६ ॥

अथ अन्यविधानि दृष्टमन्त्राणां प्रसादकरानि ।—

ग्रहानुमैत्र्या कुरुविन्दपुष्प-प्रवालमुक्ताफलतार्क्ष्यवज्रम् ।

नीलाख्य-गोमेदविदूरकञ्च क्रमेण मुद्राधृतमिष्टसिद्धै ॥ ७ ॥

अथ रत्नधारणस्य सिद्धिप्रदत्वोक्तिः ।—

रमे रसायने दाने धारणे देवतार्चने ।

सुलक्ष्माणि सुजातौनि रत्नान्युक्तानि सिद्ध्यै ॥ ८ ॥

पीतवर्णमणिविशेषः “पीखराज्” इति लोके । गोमेदः रक्तवर्णमणिविशेषः । पद्मरागः रक्तवर्णमणिविशेषः । एतस्यापि गुणं यथा राजानघशृङ्गी—“माणिक्यं मधुरं स्निग्धं वातपित्तप्रणाशनम् । रत्नप्रयोगप्रज्ञानां रसायनकरं परम् ॥ माणिक्यं पद्मरागः” इति । तद्वत्थे विदूरभूमिजमणिविशेषः पांचमे “लक्ष्मिनिद्या” इति ख्यातं, तच्च मन्त्रगर्जननं अङ्गुरीभवति इति प्रसिद्धः । नीलः इन्द्रनीलः “नीला” इति ख्यातः ॥ २—४ ॥

श्रेष्ठरत्नानां नामान्याह, पद्मरागेति ।—इन्द्रनीलः नीलः । मरकतोत्तमः गरुडोद्धारकः, गारुडतः इति यावत् । वर्जं ह्योरकम् ॥ ५ ॥

नवग्रहेषु कुपितेषु यस्य प्रसादनार्थं यानि रत्नानि धार्याणि तेषां नामान्याह, माणिक्येति ।—माणिक्यं पद्मरागः । तार्क्ष्यं गरुडोद्धारकः, मरकतमिति यावत् । पुष्पं पुष्परागः । भिदुरं ह्योरकम् । माणिक्यादीनि विदूरकानि एतानि नव रत्नानि सूर्यादिकेतनानां नवग्रहाणां प्रसादनार्थं क्रमेण धार्याणि इत्यर्थः ॥ ६ ॥

नवग्रहप्रसादनार्थं रत्नधारणविषये मतान्तरमाह, यच्छेति ।—ग्रहानुमैत्र्या ग्रहाणां नवग्रहाणां मन्त्रैः प्रसादम् अथ लक्ष्मीकृत्य इति ग्रहानुमैत्रौ तथा नवग्रहप्रसादन-कृत्या इत्यर्थः । कुरुविन्दः पद्मरागः । क्रमेणेति ।—क्रमेण पौर्वापर्यानुसारं, मुद्रया अङ्गुरीधारेण सह धृतं सत् इष्टसिद्धै अभिलषितफललाभाय, भवतीति शेषः ॥ ७ ॥

रत्नानां सिद्धिकारकत्वमाह, रमे इति ।—सुलक्ष्माणि प्रशस्तलक्षणाणि ;

अथ माणिक्यम् ।—

अथ द्विविधमाणिक्यनिर्देशः ।—

माणिक्यं पद्मरागाख्यं द्वितीयं नीलगन्धि च ॥ ८ ॥

अथ प्रशस्तपद्मरागमाणिक्यलक्षणम् ।—

कुशेशयदलच्छायं स्वच्छं स्निग्धं महत् स्फुटम् ।

वृत्तायतं समं गात्रं माणिक्यं श्रेष्ठमुच्यते ॥ १० ॥

अथ प्रशस्तनीलगन्धिमाणिक्यलक्षणम् ।—

नीलं गङ्गासुसम्भूतं नीलगर्भारुणच्छवि ।

पूर्वमाणिक्यवच्छेष्टं माणिक्यं नीलगन्धि तत् ॥ ११ ॥

अथ निकृष्टमाणिक्यलक्षणम् ।—

रन्ध्रकार्कश्यमालिन्य-रौच्यावैशद्यसंयुतम् ।

चिपिटं लघु वक्रञ्च माणिक्यं दुष्टमष्टधा ॥ १२ ॥

“सुरत्याणि” इति पाठे—सु शोभनं यथा तथा रत्याणि उत्तमप्रयत्नेन रक्षणाङ्ग-
णीत्यर्थः । मृक्कातीनि उत्कृष्टजातीयानि । रसादिविषये सिद्धिभाष्येन उक्तानि
उत्कृष्टजातीयरत्नानि सर्वप्रयत्नेन व्यवहर्त्तव्यानि भवन्तीति ॥ ८ ॥

माणिक्यस्य द्वैविध्यमाह, माणिक्यमिति ।—प्रथमं पद्मरागनामकं द्वितीयं नील-
गन्धिनामकम् । इदं हि चादित्यस्य प्रसादनाथे धार्यम् इति यच्चविदः ॥ ९ ॥

प्रशस्तपद्मरागमाणिक्यलक्षणमाह, कुशेशयेति ।—कुशेशयदलच्छायं पद्म-
पत्राभम् । स्वच्छं निर्मलम् । स्निग्धं मसृणम् । महत् गुरुभारम् । स्फुटं दीप्तिमत् ।
वृत्तायतं वर्तुलं विस्तृतञ्च । समं गात्रम् उत्तमोच्चरजितावयवम् ; यद्वा—समं
समावयवम्, गात्रं स्थूलमित्यर्थः । माणिक्यं पद्मरागमाणिक्यं तस्यैव प्राथम्येनीतत्वात्
नीलगन्धिमाणिक्यलक्षणस्य पञ्चादुल्लिखितत्वाच्च ॥ १० ॥

नीलगन्धिमाणिक्येषु श्रेष्ठस्य लक्षणमाह, नीलमिति ।—नीलमिव नीलगन्धि-
माणिक्यभेदः, न तु इन्द्रनीलः । नीलगर्भारुणच्छवि अन्तर्नीलाभसरुणवर्णम् ।
पूर्वमाणिक्यवत् प्रथमोक्तपद्मरागमाणिक्यलक्षणवत् स्वच्छस्निग्धादिगुणविशिष्टम्
इत्यर्थः ॥ ११ ॥

अनिकृष्टमाणिक्यलक्षणमाह, रन्ध्रेति ।—रन्ध्रं छिद्रम् । अवैशद्यम् अनुज्वल-
मित्यर्थः । “वैशद्य” इति पाठे—धूलिस्पर्शवदपेक्षितं, खरत्वमित्यर्थः ॥ १२ ॥

अथ माणिक्यस्य गुणाः ।—

माणिक्यं दीपनं वृष्यं कफघातक्षयार्त्तिनुत् ।
भूतवेतालपापघ्नं कर्मजव्याधिनाशनम् ॥ १३ ॥

[इति माणिक्याधिकारः] ।

अथ मौक्तिकम् ।—

अथ प्रशस्तमौक्तिकलक्षणम् ।—

ह्लादि श्वेतं लघु, स्निग्धं रश्मिवन्निर्मलं महत् ।
ख्यातं तोयप्रभं वृत्तं मौक्तिकं नवधा शुभम् ॥ १४ ॥

अथ मौक्तिकगुणाः ।—

मुक्ताफलं लघु हिमं मधुरञ्च कान्ति-
दृष्ट्यग्निपुष्टिकरणं विषहारि भेदि ।
वीर्यप्रदं जलनिधेर्जनिता च शुक्ति-
दीप्ता च पक्तिरुजमाशु हरेदवश्यम् ॥ १५ ॥

गुणमाह, माणिक्यमिति ।—दीपनम् अधिकारकम् । तल्लक्षणं यथा—“पचेन्नामं
वर्जकृतं यद्दीपनं तत् यथा मिषः” इति । भुनेति ।—भूतवेतालाद्यावेशनाशनं
पापनाशनञ्च, तच्च धारणेनेति त्रैयम् । कर्मजव्याधिनाशनमपि धारणेन बोध्यम् ॥ १३ ॥

प्रशस्तमौक्तिकलक्षणमाह, ह्लादीति ।—ह्लादि आनन्दजननम् । रश्मिवत् प्रभा-
विशिष्टम् अत्युज्ज्वलमिति यावत् । महत् स्थूलम् । तोयप्रभं जलाभं, यव तिस्रति तत्र
दूरतो जलभ्रमोत्पादकमित्यर्थः । यथा—जलवत् तरलच्छाद्यं, लावण्यविशिष्टमिति
यावत् । लावण्यशब्दः जलगन्देन उपचरितः कविभिः, यथा—“लावण्यभीलाजलम्”
इति । नवधा शुभम् एतद्वल्लक्षणविशिष्टं मौक्तिकं प्रशस्तम् । इदं चन्द्रप्रसादकम् ;
मतान्तरे चान्द्रेः ॥ १४ ॥

गुणमाह, मुक्ताफलमिति ।—भेदि रेचनम् । मौक्तिकयोनित्वात् मौक्तिकगुण-
वर्णनप्रसङ्गेनात्र युक्तेरपि गुणमाह, जलनिधेरिति ।—जलनिधेः जनिता समुद्रभवा,
कान्तिशब्दोऽव आतार्ये प्रयुक्त इति बोध्यम् । दीप्ता दीपनगुणसम्पन्ना, अग्निदीपनी
इति यावत् । अथवा—दीप्ता उज्ज्वला । पक्तिरुजं परिणामयुक्तामिति । मौक्तिक-
योनिशुक्तिप्रसङ्गेनात्र अन्येऽपि तद्वर्णनयः सन्त्यान्तरात्सरयात् स्नातव्याः, तद्वद्व्या—

अथ निरुपभौक्तकलक्षणम् ।—

रूक्षाङ्गं निर्जलं श्यावं ताम्राभं लवणोपमम् ।

अर्धशुभ्रञ्च विकटं ग्रन्थिलं मौक्तिकं त्यजेत् ॥ १६ ॥

अथ मौक्तिकस्य गुणान्तरम् ।—

कफपित्तक्षयध्वंमि कासश्वासाग्निमान्द्यनुत् ।

पुष्टिदं वृथमायुष्यं दाहघ्नं मौक्तिकं मतम् ॥ १७ ॥

[इति मौक्तिकाधिकारः] ।

अथ प्रवालम् ।—

अथ प्रशस्तप्रवाललक्षणम् ।—

पक्कविम्बफलच्छायं वृत्तायतमवक्रकम् ।

स्निग्धमव्रणकं स्थूलं प्रवालं सप्तधा शुभम् ॥ १८ ॥

अथ निरुपप्रवाललक्षणम् ।—

पाण्डुरं धूसरं रूक्षं सव्रणं कीटरान्वितम् ।

निर्भरं शुभ्रवर्णञ्च प्रवालं नेष्यतेऽशुभम् ॥ १९ ॥

“शक्तिः शङ्को गजः क्रोडः फणी मत्स्यश्च दर्दूरः । वेषुरते समाख्यातालङ्घनेः मौक्तिक-
भोजनः ॥” इति ॥ १५ ॥

वर्जनीयमुक्तालक्षणमाह, रूक्षाङ्गमिति ।—निर्जलं निर्जडं, डल्यारेक्यात्
अशिशिरमित्यर्थः, उष्णमिति यावत् ; यदा—विच्छायं, दृश्यते च लावण्ये जलशब्दा-
पचारः, मुक्ताफलस्य तरलच्छाया एव लावण्यशब्दबोधिका, यदुक्तं,—“मुक्ताफलस्य
च्छायाशरत्तलमिवान्तरा । प्रतिभाति यदङ्गेषु तज्जावण्यमिहोच्यते ॥” इति ।
अथ जलशब्देन मुक्ताफलगततरलच्छाया बोध्या । श्यावं मुक्तानुविलक्षणवर्णम् ।
लवणोपमं लवणसदृशखरस्यर्शम् । अर्धशुभ्रं मत्स्यात्याभमाविलम् । विकटं विषम
गात्रम् । ग्रन्थिलं सव्रणं, ग्रन्थिविशिष्टमिति यावत् ॥ १६ ॥

गुणान्तरमाह, कफेति ।—दाहघ्नमिति धारणात् ॥ १७ ॥

उत्तमप्रवालस्य लक्षणमाह, पक्केति ।—पक्कविम्बफलच्छायं विम्बफलम् ओष्ठी-
पमाफलं “तेलाकुचा” “बनकुंदरि” इति च भाषा ; पक्कविम्बफलवत् रक्तवर्णम् ।
अव्रणकं ग्रन्थादिरहितम् । सप्तधा शुभम् एतत्सप्तविधलक्षणविशिष्टं प्रवालं मङ्गल-
प्रदम् । रत्नमेतत् भूमिसुतस्य श्रेष्ठम् ॥ १८ ॥

अथ प्रबालगुणाः ।—

क्षय पित्तास्र-कासघ्नं दीपनं पाचनं लघु ।

विषभूतादिशमनं विद्रुमं नेत्ररोगनुत् ॥ २० ॥

[इति प्रबालाधिकारः] ।

अथ तार्क्ष्यम् ।—

अथ प्रशक्तार्क्ष्यलक्षणम् ।—

हरिद्वर्णं गुरु स्निग्धं स्फुरद्रश्मिचयं शुभम् ।

मसृणं भासुरं तार्क्ष्यं गात्रं सप्तगुणं मतम् ॥ २१ ॥

अथ प्रशक्तार्क्ष्यलक्षणम् ।—

कपिलं कर्कशं नीलं पाण्डु कृष्णं मलान्वितम् ।

चिपटं विकटं रूक्षं लघु तार्क्ष्यं न शस्यते ॥ २२ ॥

अथ तार्क्ष्यगुणाः ।—

ज्वरच्छर्दिविषश्वास-सन्निपाताग्निमान्द्यनुत् ।

दुर्नामपाण्डुशोफघ्नं तार्क्ष्यमोजोविवर्धनम् ॥ २३ ॥

[इति तार्क्ष्याधिकारः] ।

कप्रबाललक्षणमाह, पाण्डुरमिति ।—पाण्डुरं श्वेतपीतमिश्रवर्णम् । धूसरं श्वेत-
कृष्णमिश्रवर्णम् । कोटरान्वितं मोक्षङ्गं, भस्किद्रमिति यावत् । निर्भारं लघु ॥ १९ ॥

गुणमाह, चयेति ।—पाचनम् आमपाचकं किन्तु नाग्निसन्धुलणम् ; तल्लक्षणं यथा
शाङ्गधरे—“पचत्यामं न वज्रिष कुर्थात् यत्तद्धि पाचनम्” इति । विषभूतादिशमनं
धारणादिति ज्ञेयम् ॥ २० ॥

प्रशक्तार्क्ष्यलक्षणमाह, हरिदिति ।—हरिद्वर्णं नीलपीतमिश्रवर्णं, हृत्पत्रवर्ण-
मिति यावत् । स्फुरद्रश्मिवर्णं विसारिकिरणसमूहम् । भासुरं प्रभासमन्वितम् । तार्क्ष्यं
मरकतः । गात्रं स्थूलम् । एतत्सप्तगुणसंयुक्तं तार्क्ष्यं शुभं ज्ञेयम् । इदं बुधयङ्-
प्रसादनाथे धार्यं, मतान्तरे सुरगुरोरिति ॥ २१ ॥

दुष्टतार्क्ष्यलक्षणमाह, कपिलमिति ।—कपिलं पिक्वलवर्णम् । विकटं विकृता-
ङ्गम् ॥ २२ ॥

गुणमाह, ज्वरेति ।—सुगमम् ॥ २३ ॥

अथ पुष्परागः ।—

अथ प्रथमपुष्परागलक्षणम् ।—

पुष्परागो गुरुः स्वच्छः स्निग्धः स्थूलः समो मृदुः ।
कर्णिकारप्रसूनाभो मसृणश्च शुभोऽष्टधा ॥ २४ ॥

अथ प्रथमपुष्परागलक्षणम् ।—

निष्पुंभं कर्कशं रुक्षं पीतश्यामं नतोन्नतम् ।
कपिशं कपिलं पाण्डुं पुष्परागं परित्यजेत् ॥ २५ ॥

अथ पुष्परागगुणाः ।—

पुष्परागो विषच्छर्दि-कफवाताग्निमान्द्यनुत् ।
दाहकुष्ठाम्रशमनो दौपनः पाचनो लघुः ॥ २६ ॥

[इति पुष्परागाधिकारः] ।

अथ वज्रम् ।—

अथ वज्राणां वैविध्यनिर्देशः ।—

वज्रञ्च त्रिविधं प्रोक्तं नरो नारी नपुंसकम् ।
पूर्वं पूर्वमिह श्रेष्ठं रसवीर्यविपाकतः ॥ २७ ॥

उत्कृष्टपुष्परागलक्षणमाह, पुष्पराग इति ।—समः समगावः । मृदुः सुखस्पर्शः इत्यर्थः । कर्णिकारप्रसूनाभः कर्णिकारः कृष्णारग्वधः, “क्रीट मोदाल” इति भाषा, तस्य पुष्पमदश्चवर्णविशिष्टः, पीतः इति यावत् । एतदष्टलक्षणसमन्वितः पुष्परागः शुभप्रदः ज्ञेयः । अयं बाह्यस्पर्शः, मसान्तरे सोमस्य इति ॥ २४ ॥

वर्जनीयपुष्परागलक्षणमाह, निष्पुंभमिति ।—निष्पुंभं ज्योतिःसूत्रं, मलिनमिति यावत् । पीतश्यामं कृष्णपीतमिश्रवर्णम् । नतोन्नतं विषमगावम् । कपिशं श्याववर्णम् । कपिलं पिकलवर्णम् ॥ २५ ॥

गुणमाह, पुष्परागः इति ।—सुगमम् ॥ २६ ॥

स्त्रीपुंसादिभेदेन वज्रस्य वैविध्यमाह, वज्रमिति ।—पूर्वं पूर्वं श्रेष्ठं नपुंसकात् नारी नाख्याः नरः श्रेष्ठः ।, रसेति ।—रसादिहेतोरित्यर्थः, तत्र रसः द्रव्याणां स्वाभाविक-मधुरत्वादिगुणयोगः, वीर्यं द्रव्यगता कार्यसाधिका स्वाभाविकी शक्तिः ; यदुक्तं

अथ पुं-वज्रलक्षणम् ।—

अष्टास्रश्चाष्टफलकं षट्कोणमतिभासुरम् ।

अम्बुदेन्द्रधनुर्वारितरं पुं-वज्रमुच्यते ॥ २८ ॥

अथ स्त्रीवज्र-नपुंसकवज्रलक्षणे ।—

तदेव चिपिटाकारं स्त्रीवज्रं वर्त्तुलायतम् ।

वर्त्तुलं कुण्ठकोणाग्रं किञ्चिद्गुरु नपुंसकम् ॥ २९ ॥

सुश्रुते—“द्रव्याणि येन कुर्वन्ति तद्वीर्यम्” इति । (येन गुणेनेत्यर्थः । कुर्वन्ति क्रियामिति शेषः) तच्च द्विविधं, यदुक्तं भावप्रकाशे—“तत्त्वशीतगुणोत्कर्षात् ब्रह्मेर्वीर्यं द्विधा स्यूतम् । यत् सर्वमग्निषोमीयं दृश्यते भुवनत्रयम् ॥” इति (अग्निषोमीयम् अग्निषोमगुणविभागद्वयं, शीतोष्णगुणमित्यर्थः) अन्यदाप्युक्तं—“तत् द्विविधं चिन्त्याचिन्त्य-क्रियाद्वयत्वेन, तत् चिन्त्यक्रियाद्वयं या द्रव्यरसादीनां स्वस्वकर्मणि स्वभावसिद्धा शक्तिः, आचिन्त्यक्रियाद्वयं प्रभावापरपर्यायः द्रव्याणां रसादानुसङ्गपकार्यकरणशक्तिः” इति । अत्र द्रव्यगताचिन्त्यक्रियाद्वयतया स्वभावसिद्धा शक्तिः सैव वीर्यशब्दाभिधेया ज्ञेया । विपाकः सुक्तद्रव्यपाकानन्तरं माधुर्यादिपरिणामः ; यदुक्तं भावप्रकाशे—“जाठरेणाग्निना योगात् यदुदति रसान्तरम् । रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्यूतः ॥” इति । इदं दैत्यगुरोरिति ॥ २७ ॥

तेषु पुंजातीयवज्रस्य लक्षणमाह, अष्टास्रमिति ।—अष्टास्रम् अष्टकोणम् । अष्ट फलकम् अष्टधारम्, अस्तादीनामग्रभागवत् सूत्राग्रमित्यर्थः । षट्कोणं वा । अम्बु-दति ।—अम्बुदे मेघे, इन्द्रधनुः इन्द्रधनुर्विव “इवाद्यर्थे प्रयुक्तः शब्दो वतिमन्तरेणापि वल्यर्थं गमयति” इति नियमात् इन्द्रधनुः-शब्देनात्र इन्द्रधनुर्विवेति बोध्यम् ; वारिणि जले तरति प्रवते इति तादृशं, कृष्णवर्णमेघमण्डले वर्षाज्ज्वलित्इन्द्रधनुः यथा भासते तद्वत् कृष्णवर्णजले भासत् पुंवज्रं तरति इत्यर्थः ; अथवा—अम्बुदशब्देनात्र तादृश्यात् लक्षणया तडित बोध्या, तेन तडिदिब इन्द्रधनुर्विव अतिभासुरमिति द्वितीयचरणेन सम्बन्धः ; तथा वारितरं लघु इत्यर्थः । वज्रस्य लघुता एव प्रशङ्का, यदुक्तं गार्कडे—“गुरुता सर्वरत्नाणां गौरवाधानकारणम् । वजे सा वैपरीत्येन सूरयः परिचक्षते ॥” इति । इन्द्रधनुश्च उज्ज्वकारणं स्वरूपस्यान्यत्र द्रष्टव्यं यथा—“रविकिरणा बहुवर्णा वातेन विलोडिता नभसि । शक्रायुधसंख्याना दृश्यन्ते तत्तु इन्द्रधनुः ॥” इति ॥ २८ ॥

स्त्रीनपुंसकयोर्लक्षणे आह, तदेवेति ।—चिपिटाकारम् अथवा वर्त्तुलायतम्

अथ तेषां नातिभेदेनाधिकारिभेदनिर्देशः ।—

स्त्री-पुं-नपुंसकं वज्रं योज्यं स्त्री-पुं-नपुंसके ।

व्यत्यासान्नैव फलदं पुं-वज्रेण विना क्वचित् ॥ ३० ॥

अथ तेषां वर्णभेदेनाधिकारिभेदनिर्देशः ।—

श्वेतादिवर्णभेदेन तदेकैकं चतुर्विधम् ।

ब्रह्म-क्षत्रिय-विट्-शूद्रं स्वस्ववर्ण-फलप्रदम् ॥ ३१ ॥

उत्तमोत्तमवर्णं हि नीचवर्णफलप्रदम् ।

न्यायोऽयं भैरवेणोक्तः पदार्थेष्वखिलेष्वपि ॥ ३२ ॥

अथ वज्रगुणाः ।—

आयुष्प्रदं भटिति सङ्गणदश्च वृष्यं

दोषत्रयप्रशमनं सकलामयघ्नम् ।

स्त्रीवज्रं ज्ञेयम् । कण्ठकोणाग्रं कण्ठः क्रियासु मन्दः कोणः अयस्य यस्य तत्
स्खलितधारमित्यर्थः । किञ्चित् गुरु स्त्रीपुंजात्यपेक्षया इति बोध्यम् ॥ २९ ॥

केन कीदृशं व्यवहर्तव्यं तदाह, स्त्रीति ।—सुगमम् ॥ ३० ॥

वर्णभेदेन तेषां प्रत्येकं चातुर्विध्यं तथा यज्जातीयाय यज्जातीयं फलप्रदं तच्चाह,
श्वेतेति ।—स्त्रीपुंनपुंसकजातीयं वज्रं प्रत्येकं श्वेतरक्तपीतकृष्णवर्णभेदेन यथाक्रमं
ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रवर्णसंज्ञकं चतुर्विधं ज्ञेयम् ; तत्र शुभं विप्रवर्णं विप्रवर्णेषु, रक्तं
क्षत्रियवर्णं क्षत्रियवर्णेषु, पीतं वैश्यवर्णं वैश्यवर्णेषु, कृष्णं शूद्रवर्णं शूद्रेषु गुणकारि,
किञ्च ब्राह्मणाद्युत्तमवर्णं वज्रं निम्नवर्णेन पुरुषेण धृतमपि फलदं भवति किन्तु अधम-
वर्णं नीचमवर्णैः धार्यम् इति । अत्र वज्रस्य उत्कृष्टापक्रष्टलक्षणं वर्णजात्यादिकञ्च
विसरतोऽनक्तमपि तन्नान्तरदर्शनात् ज्ञातव्यं, तदयथा—“स्वच्छं विद्युत्प्रभं स्निग्धं
मन्दरं लघु लेखनम् । षडारं तोष्णधारश्च सुश्यामारं श्रियं दिशेत् ॥ भस्माङ्गं काक-
पादश्च रेखाक्रान्तस्तु वर्तुलम् । अधारं मलिनं विन्दुसन्नासं स्फुटितं तथा ॥ नीलामं
चिपिटं रुचं तद्वर्जं दोषलं त्यजेत् । स तु श्वेतः स्युतो विप्रो लोहितः क्षत्रियः स्युतः ॥
पीतो वैश्योऽसितः शूद्रश्चतुर्वर्णात्मकश्च सः । रसायने सतो विप्रः सर्वसिद्धिप्रदायकः ।
क्षत्रियो व्याधिविध्वंसी जरासमुद्धरः स्युतः ॥ वैश्यो धनप्रदः प्रीतकथा देहस्य
दारुणकृत् । शूद्रोऽनाश्रयति व्याधीन् वयःसन्धं करोति च ॥” इति । (अत्र काकपादं
काकपादवत् आकृतिविशिष्टं काकपदवद्रेखाङ्कितं वा । सः हीरकः) ॥ ३१।३२ ॥

सूतेन्द्रबन्धबधसङ्गणकत् प्रदीपनं

मृत्युञ्जयं तदमृतोपममेव वज्रम् ॥ ३३ ॥

अथ सर्वरत्नाणां साधारणदोषनिर्देशः ।—

ग्रामस्त्रासञ्च विन्दुश्च रेखा च जलगर्भता ।

सर्वरत्नेष्वमी पञ्च दोषाः साधारणा मताः ॥

क्षेत्र-तोयभवा दोषा रत्नेषु न लगन्ति ते ॥ ३४ ॥

अथ वज्रशीघ्रम् ।—

कुलत्यक्कायके स्त्रिंशं कोद्रवक्काथितेन वा ।

एकयामावधि स्त्रिंशं वज्रं शुध्यति निश्चितम् ॥ ३५ ॥

अथ वज्रमारणम् ।—

वज्रं मत्कुणरक्तेन चतुर्वारं विभावितम् ।

सुगन्धिमूषिकामांसैर्वर्तितैः परिवेष्ट्य च ॥ ३६ ॥

पुटेत् पुटेर्वराहाख्यैस्त्रिंशद्वारं ततः परम् ।

ध्वात्वा ध्वात्वा शतं वारान् कुलत्यक्कायके क्षिपेत् ॥

अन्यैरुक्तैः शतं वारान् कर्त्तव्योऽयं विधिः क्रमात् ॥ ३७ ॥

गुणमाह,—आयुरिति । सूतेति ।—सूतेन्द्रस्य पारदस्य बन्धं बधं मद्गुणञ्च करोति इति तत् तद्याभूतं, रसनिरुद्धं रसमारकं तथा रसस्य गुणवर्जनञ्चेत्यर्थः । प्रदीपनं वज्रमन्दीपनम् ॥ ३३ ॥

वज्रस्य नैसर्गिकदोषानाह, ग्राम इति ।—ग्रामग्रामादयः पञ्च दोषाः सर्वरत्नेष्वेव सङ्गताः क्षेत्राः, किन्तु तेषाम् आकरजलादिसम्भवत्वात् तैः रत्नस्य न काऽपि गौरव-
हानिरिति ॥ ३४ ॥

वज्रशीघ्रमाह, कुलत्येति ।—कोद्रवः कोद्रूपः “कोदो” इति ख्यातः धान्य-
विशेषः । प्रहरं यावत् कौलत्ये कषाये कोद्रवकषाये वा दोषाग्रन्ते संस्वेद्य वज्रं
शीघयेत् इति ॥ ३५ ॥

मारणमाह, वज्रमिति ।—मत्कुणः वस्त्राग्रयः कोटविशेषः “कारपोका”
इति ख्यातः । सुगन्धिमूषिका कुकुन्दरी “कुँचा” इति ख्याता । शोधितवज्रं मत्कुण-
रक्तेन बारणपुट्यं भाषयेत्, ततो गन्धमूषिकामांसं सम्पिष्ट पित्वाकारं कृत्वा तदनः

अथ मारणान्तरम् ।—

कुलत्यक्कायसंयुक्तलकुचद्रवपिष्टया ।

शिलया लिप्तमूषायां वज्रं क्षिप्त्वा निरुध्य च ॥ ३८ ॥

अष्टवारं पुटेत् सम्यग्विशुष्कैश्च वनोत्पलैः ।

शतवारं ततो ध्यात्वा निक्षिप्तं शुद्धपारदे ॥

निश्चितं म्रियते वज्रं भस्म वारितरं भवेत् ॥ ३९ ॥

सत्यवाक् सोमसेनानीरितद्वज्रस्य मारणम् ।

दृष्टप्रत्ययसंयुक्तमुक्तवान् रसकौतुकी ॥ ४० ॥

मतान्तरम् ।—

विलिप्तं मत्कुणस्यासैः सप्तवारं विशोषितम् ।

कासमर्दरसापूर्णे लोहपात्रे निवेशितम् ॥ ४१ ॥

सप्तवारं परिष्ठातं वज्रं भस्म भवेत् खलु ।

ब्रह्मज्योतिर्मुनीन्द्रेण क्रमोऽयं परिकीर्तितः ॥ ४२ ॥

तं वज्रं संस्थाप्य मूषायां निरुध्य च अत्रविपरिमितकुण्डे पुटेत्, एवं विंशहार कायैः, ततः भस्त्राग्निना ध्यात्वा पुनः कुलत्यकषायं निक्षिपेत्, एवं शतवारं कुर्यात् । अथ मतान्तरमाह, अन्यैरिति ।—केषाञ्चिन्मते मत्कुणरक्तेन भावनामारब्धं कुलत्यक्काये निक्षेपान्तः कृत्स्नो विधिः यथोक्तक्रमेण शतवारं कार्यः इति ॥ ३६।३७ ॥

मारणे सोमसेनानीमतमाह, कुलत्येति ।—लकुचः उडुकः । शिलया मनः-शिलया । अवायं विधिः,—कुलत्यक्कायलकुचस्वरसाभ्याम् एकौभुताभ्यां मनःशिलां पिष्ट्वा तेन मूषागर्भमालिप्य तत्र वज्रं निधाय सन्निरोधं कृत्वा मत्कर्पटादिना मूषावर्हिर्लिप्ता वन्यकरीषाग्निना पुटेत्, एवमष्टवारं, पश्चिमपुटानन्तरं शोषित-पारदेन सह ण्कौकृत्य पारदपिष्टमध्ये निधाय वा धमेत्, एवं शतवारं कार्यम् ; तेन वज्रस्य वारितरं भस्म सञ्जायते ; प्रक्रियेयं सोमसेनान्या विहिता इति ॥ ३८—४० ॥

मुनीन्द्रब्रह्मज्योतिःप्रोक्तं मारणमाह, विलिप्तमिति ।—मत्कुणशोषितेन वज्रं सप्तवारं विलिपयेत् स्थापये शोधयेत्, ततः कासमर्दस्वरसपरिपूर्णलोहपात्रे तदाभ्युद्य भस्त्राग्निना धमेत्, एवं सप्तधाकरणेन भस्मोभवेत् इति ॥ ४१।४२ ॥

मतान्तरम् ।—

नीलज्योतिर्लताकन्दे घृष्टं घर्मे विशोषितम् ।

वज्रं भस्मत्वमायाति कर्मवज्ज्ञानवह्निना ॥ ४३ ॥

मतान्तरम् ।—

मदनस्य फलोद्भूतरसेन क्षीणिनागकैः ।

कृतकत्केन संलिप्य पुटेद्विंशतिवारकम् ॥

वज्रचूर्णं भवेद्वर्णं योजयेच्च रसादिषु ॥ ४४ ॥

मतान्तरम् ।—

तद्वज्रं चूर्णयित्वाऽथ किञ्चिद्वज्रसंयुतम् ।

श्वरभूनागसत्त्वेन विंशेनाऽऽवर्त्तयेद्भ्रुवम् ॥

तुल्यस्वर्णेन तदुष्मात् योजनीयं रसादिषु ॥ ४५ ॥

अथ प्रयोगविशेषेण गुणविशेषकथनम् ।—

त्रिगुणेन रसेनैव सम्मर्द्य गुटिकौकतम् ।

मुखे धृतं करात्थाशु चलदन्तविवन्धनम् ॥ ४६ ॥

अग्निसम्पर्के बिनाऽपि वज्रभस्मप्रक्रियामाह, नीलेति ।—नीलः नीलीवस्त्रः नीला-
पराजिता वा, ज्योतिर्लता ज्योतिष्मती “लताफट्को” इति भाषा । नीलवज्र-
मूलरसेन नीलापराजितामूलरसेन वा तथा ज्योतिष्मतीमूलरसेन च घृष्टं वज्रं घातये
संशोषणात् भस्मीभवति । अथ दृष्टान्तमाह, कर्मवदिति ।—ज्ञानाग्निः यथा सर्व-
कर्मणि भस्मसात् करोति तथेत्यर्थः ॥ ४३ ॥

मतान्तरमाह, मदनस्येति ।—क्षीणीनागकैः भूनागकैः, “कैचो” इति ख्यातेः ।
नागकैरिति स्वार्थे कः । मदनफलरसेन भूनागं पिष्टा तत्कल्केन वज्रं संलिप्य पुटेत्,
एवं विंशतिवारकरणेन वज्रं चूर्णंभवति ॥ ४४ ॥

मतान्तरमाह, तदिति ।—तत् पूर्वोक्तविधानेन मारितम् । पूर्वप्रक्रियया मारितं
वज्रं किञ्चित् टङ्कणेन सह सच्चूर्णं पुष्टाङ्गविंशतिसङ्काककिञ्चुलरसेन सह आलोच्य
समानसुवर्णेन सह मूषायां निरूप्य आपयेत्, तेन गुणाधिक्यं जायते इति ॥ ४५ ॥

प्रयोगविशेषेण गुणविशेषमाह, त्रिगुणेनेति ।—त्रिगुणेन वज्रभागमपेक्ष्य
इति बोध्यम् ॥ ४६ ॥

प्रयोगान्तरम् ।—

त्रिंशद्भागमितं हि वज्रभसितं स्वर्णं कलाभागिकं
तारच्चाष्टगुणं सितामृतवरं रुद्रांशकश्चाभ्रकम् ।
पादांशं खलु ताप्यकं वसुगुणं वैक्रान्तकं षड्गुणं
भागोऽप्युत्तरसै रसोऽयमुदितः षाड्गुण्यसंसिद्धये ॥ ४७ ॥
[इति वज्राधिकारः] ।

अथ नीलम् ।—

अथ नीलस्य द्वैविध्यकथनम् ।—

जलनीलञ्चेन्द्रनीलं शक्रनीलं तयोर्वरम् ॥ ४८ ॥

अथ नीलद्वयस्य सामान्यलक्षणम् ।—

श्वेत्यगर्भित-नीलाभं लघु तज्जलनीलकम् ।

कार्ण्यगर्भित-नीलाभं सभारं शक्रनीलकम् ॥ ४९ ॥

प्रयोगान्तरमाह, त्रिंशदिति ।—वज्रभसितं हीरकभक्ष । कलाभागिकं षोडश-
भागम्, “कला तु षोडशी भागः” इत्युक्तेः, न तु षोडशभागेकभागः इति ।
सितामृतवरं शुभ्रपारदम् । रुद्रांशकम् एकादशभागम् । पादांशं चतुर्भागम् । ताप्यकं
स्वर्णमालिकम् । वसुगुणम् अष्टगुणम् । भागः भागपरिमितः, यथाग्निमात्रया इत्यर्थः,
मेवित इति शेषः । रसैः पूर्वोक्तकुलत्थकोद्रवकासमर्दनकचमदनफलादीनां रसैः । अयं
रसः वज्रभक्षादिकृत औषधविशेषः । षाड्गुण्यसंसिद्धये षाड्गुण्यं विदावितर्कादिकं
तस्य सम्यक् सिद्धिलाभाय ; षाड्गुण्यमुक्तं चरके यथा—“विद्या वितर्का विज्ञानं,
स्मृतिलप्पराता क्रिया । यस्यैते षड्गुणस्तस्य—” इति । एतद्रसवरसेवनात् धीधृतिस्मृति-
मेधादिसमन्वितः विद्यावितर्कादिसिद्धिं लभते इति निष्कर्षः । अस्य पदौ यथा
—हीरकभक्ष ३० स्वर्णभक्ष १६ रौप्यभक्ष ८ मुग्धगुग्गुपारदं तद्वक्ष वा ११ अभ्रभक्ष
४ स्वर्णमालिकभक्ष ८ वैक्रान्तभक्ष ६ सर्वसैकीकृत्य कुलत्थादिरसेन सम्यग्य योग्यमात्रा
प्लपथीज्या । “भागोऽप्युक्त” इत्यत्र “भागोक्त” इति पाठकल्पनं समीचीनम् ॥ ४७ ॥

नीलस्य द्वैविध्यमाह, जलनीलमिति ।—शक्रनीलम् इन्द्रनीलम् ॥ ४८ ॥

तयोः साधारणलक्षणमाह, श्वेत्येति ।—श्वेत्यगर्भितनीलाभम् अल्पशुभाभनील-
वर्णम् । लघु निर्भारिकम् । कार्ण्यगर्भितनीलाभम् अल्पऋण्यभनीलवर्णम् । सौरेरिदं
ज्ञेयम् ॥ ४९ ॥

अथ प्रशस्तशक्तीलक्षणम् ।—

एकच्छायं गुरु स्निग्धं स्रच्छं पिण्डितविग्रहम् ।

मृदु मध्ये लसज्जगतिः सप्तधा नीलमुत्तमम् ॥ ५० ॥

अथ जलनीलस्य विशेषलक्षणम् ।—

कीमलं विहितं रुचं निर्भारं रक्तगन्धि च ।

चिपिटाभं ससूक्ष्मञ्च जलनीलञ्च सप्तधा ॥ ५१ ॥

अथ गुणाः ।—

श्लामकामहरं वृथं त्रिदोषघ्नं सुदीपनम् ।

विषमज्वरदुर्नामपापघ्नं नीलमौरितम् ॥ ५२ ॥

[इति नीलाधिकारः] ।

इन्द्रनीलस्य विशेषलक्षणमाह, एकेति ।—एकच्छायम् एका अद्वितीया, अतुल्या इत्यर्थः, अन्यधर्मायाद्विधौति यावत्, क्वाया कान्तिः यस्य तत्, यत् द्रव्यान्तरस्य प्रतिबिम्बं न गच्छाति, किन्तु स्वकान्त्या द्रव्यान्तरं रञ्जयति, यदुक्तं राजनिघण्टौ—“यः पात्रं रञ्जयत्याशु स ज्ञात्यो नील उच्यते” इति । अन्यञ्च—“क्षीरभक्षे क्षिपेद्नीलं क्षीरक्षेत्रीयतां व्रजेत् । इन्द्रनीलमिति ख्यातम्” इति । यद्वा—एका मुख्या श्रेष्ठा इति यावत्, क्वाया कान्तिः यस्य तत् उत्तमकान्तिमतः, यद्वा—एका केवला क्वाया चातपाभावः, औष्ण्यशून्यता इति यावत् यस्य तत् स्पृशंतीतिमित्यर्थः, चातपस्य औष्ण्यधर्मित्वेन क्वायायाश्च श्रेयतया तथाभूतोऽर्थः बोध्यः । स्रच्छं निर्मलम् । पिण्डितविग्रहं घनोभूतावयवं, स्थूलमित्यर्थः । मृदु अदार्ढ्यं, सुखस्पर्शमिति यावत् । मध्ये लसज्जगतिः अभ्यन्तरे दोषप्रकाशं, ज्यातिर्मयमित्यर्थः, नीलम् उत्तमम् इन्द्रनीलम् एतत्सप्तविध-गुणमस्यैव ज्ञेयम् । वज्रवज्जीलस्यापि विप्रश्रुतादिवर्णभेदेन चातुर्विध्यं बोध्यं, तथा च निघण्टुराजे—“रुतशोणपोतकृष्णान्क्वाया नीले क्रमादिमाः कथिताः । विप्रादिवर्ण-मिच्छेद्धारणमस्यापि वज्रवत् फलवत् ॥” इति ॥ ५० ॥

जलनीलस्य विशेषलक्षणमाह, कीमलमिति ।—कीमलं मनीहरं, पञ्चवर्णविशिष्ट-मित्यर्थः । विहितम् अर्द्धभागेन सम्पूर्णं वर्णम् अर्द्धभागेन पञ्चवर्णमित्यर्थः । निर्भारं लघु । सूक्ष्मं कृशावयवमित्यर्थः ॥ ५१ ॥

गुणमाह, यासिति ।—पापघ्नं चारुवेनेति बोध्यम् ; यद्वा—पापरोगमसूरिकादि-ज्ञानं, तस्य मङ्गल्यत्वात् प्रभावाच्च इति ॥ ५२ ॥

अथ गोमेदः ।—

अथ गोमेदस्य निरुक्तिः ।—

गोमेदः समरागत्वाद्गोमेदं रत्नमुच्यते ॥ ५३ ॥

अथ प्रशस्तगोमेदलक्षणम् ।—

सु-स्वच्छ-गोजलच्छायं स्वच्छं स्निग्धं समं गुरु ।

निर्दलं मष्टणं दीप्तं गोमेदं शुभमष्टधा ॥ ५४ ॥

अथाप्रशस्तगोमेदलक्षणम् ।—

विच्छायं लघु रूक्षाङ्गं चिपिटं पटलान्वितम् ।

निष्प्रभं पीतकाचाभं गोमेदं न शुभावहम् ॥ ५५ ॥

अथ गुणाः ।—

गोमेदं कफपित्तघ्नं क्षय-पाण्डुक्षयङ्करम् ।

दीपनं पाचनं रुच्यं त्वच्यं बुद्धिप्रबोधनम् ॥ ५६ ॥

[इति गोमेदाधिकारः] ।

गोमेदस्य निरुक्तिमाह, गोमेद इति ।—गोः मेदसा समः तुल्यः रागः वर्णः यस्य तथात्वात् हेमारक्तत्वादित्यर्थः ॥ ५३ ॥

शुभगोमेदस्य लक्षणमाह, सुस्वच्छेति ।—सुस्वच्छगोजलच्छायम् अनाविलगोमृच-वर्णम् । समं समगात्रम् । निर्दलं निष्प्रभम्, अशुभगोमेदस्य सपटलत्वात् अत्र शुभ-गोमेदस्य निर्दलत्वावतारणम् । राहुप्रसादनमेतत् ॥ ५४ ॥

अप्रशस्तगोमेदलक्षणमाह, विच्छायमिति ।—विच्छायं विकृतकान्ति, मलिन-मित्यर्थः । पटलान्वितं सदलम् । निष्प्रभम् अनुज्ज्वलम् । पीतकाचाभं पीतवर्ण-काचाख्यमणिविशेषत्वञ्च गौरक्षणमिश्रितवर्णाभम् इति वा ; काचशब्दः कृष्णाश्वकी-ऽपि दृश्यते, यथा—काचलवणं कृष्णलवणम् ; यद्वा—पीतकाचाभं श्वेतपीतमिश्र-वर्णमिति ॥ ५५ ॥

गुणमाह, गोमेदमिति ।—क्षयपाण्डुक्षयङ्करं क्षयस्य राजयक्ष्णः पाण्डुश्च क्षयङ्करं नाशनम् । क्षयङ्करमित्यत्र विभक्तेरनुक्तं क्लान्तसत्वात् । त्वच्यं त्वक्प्रसादनं, त्वचः श्लोकुमार्यसम्पादकमित्यर्थः ॥ ५६ ॥

अथ वैदूर्यम् ।—

अथ शुभवैदूर्यलक्षणम् ।—

वैदूर्यं श्यामशुभ्राभं समं स्रक्छं गुरु स्फुटम् ।

अभ्रशुभ्रोत्तरीयेण गभितं शुभमौरितम् ॥ ५७ ॥

अथ अशुभवैदूर्यलक्षणम् ।—

श्यामं तोयसमच्छायं चिपिटं लघु कर्कशम् ।

रक्तगर्भोत्तरीयञ्च वैदूर्यं नैव शस्यते ॥ ५८ ॥

अथ गुणाः ।—

वैदूर्यं रक्तपित्तघ्नं प्रज्ञाऽऽयुर्वलवर्द्धनम् ।

पित्तप्रधानरोगघ्नं दीपनं मलमोचनम् ॥ ५९ ॥

[इति वैदूर्याधिकारः] ।

अथ नवरत्नानां शोधनम् ।—

शुध्यत्यस्त्रेण माणिक्यं जयन्त्या मौक्तिकं तथा ।

विद्रुमं चारवर्गेण तार्क्ष्यं गोदुग्धकैस्तथा ॥ ६० ॥

पुष्परागञ्च सन्धानैः कुलत्यक्ताथमयुतैः ।

तण्डुलोयजलैर्वज्रं नीलं नीलीरसेन च ॥

रोचनाभिश्च गोमेदं वैदूर्यं त्रिफलाजलेः ॥ ६१ ॥

मङ्गल्यवैदूर्यलक्षणमाह, वैदूर्यमिति ।—श्यामशुभ्राभं चेतकणामिश्रवर्णम् । समं समगात्रम् । स्फुटं प्रकाशवत्, उज्ज्वलमित्यर्थः । अथेति ।—अश्वत् शुभेण शक्तवर्णेन उत्तरीयेण ऊर्ध्वदेहधार्थ्यवस्त्रविशेषाकारचिह्नेत्यर्थः, गभितं मध्ययुक्तमित्यर्थः, लम्बितोत्तरीयवदपवीतवद्वा शुभरेखाविशिष्टमध्यमित्यर्थः । केतुरङ्गमिति प्रसिद्धमेतत् ॥ ५७ ॥

कवैदूर्यलक्षणमाह, श्याममिति ।—श्यामम् अमिश्रकणवर्णं, शुभवैदूर्यस्य श्यामशुभ्रत्वात् । तोयसमच्छायं जलसमानकान्तिमत्, दूरतो दर्शने लज्जसमोत्पादकं, न तु जलवत् इवमित्यर्थः । रक्तगर्भोत्तरीयं रक्तः रक्तवर्णः गर्भो उत्तरीयः यस्य तत्, पुर्ववत् रक्तरेखाविशिष्टमध्यम इत्यर्थः ॥ ५८ ॥

गुणमाह, वैदूर्यमिति ।—मलमोचनं पुरीषरेचनं दोषनाशनं वा ॥ ५९ ॥

अथ नवरत्नानां प्रत्येकं शोधनमाह, शुध्यतीति ।—अस्त्रेण “अस्त्रवेतसगन्धर्वी

अथ रत्नानां मारणम् ।—

लकुचद्रावसम्प्लेष्टेः शिलागन्धकतालकैः ।

वज्रं विनाऽन्यरत्नानि स्त्रियन्तेऽष्टपुटेः खलु ॥ ६२ ॥

अथ रत्नानां द्रावणम् ।—

रामठं पञ्चलवणं क्षाराणां त्रितयं तथा ।

मांसद्रवाऽस्त्रवेतस्य चूलिकालवणं तथा ॥ ६३ ॥

स्थूलं कुम्भोफलं पक्वं तथा ज्वालामुखो शुभा ।

द्रवन्ती च रुदन्ती च पयस्या चित्रमूलकम् ॥ ६४ ॥

दुग्धं स्त्रह्यास्तथाऽर्कस्य सर्वं सम्पद्य यत्नतः ।

गालं विधाय तन्मध्ये प्रक्षिपेत्तदनन्तरम् ॥ ६५ ॥

गुणवन्नवरत्नानि जातिमन्ति शुभानि च ।

भूर्जे तं गोलकं कृत्वा सूत्रेणाऽऽवेष्ट्य यत्नतः ॥ ६६ ॥

शुद्धास्त्रवणकौस्तुभाः । नागरजं तिमिडी च चिन्तापदस्य निम्बुकम् ॥ चाङ्गेरौ दाडिमश्चैव करमर्दं तथैव च । एष चास्त्रगणः प्रोक्तः वेतसास्त्रसमायुतः ॥” इत्युक्तस्त्र-
वणैरसेन काञ्चिकेन वा । माणिक्यं पञ्चरागः । जयन्त्या जयन्तीपद्मस्वरसेन । क्षारवर्गेण
“स्वर्जिका टङ्गणश्चैव यवचार उदाहृतः” इत्युक्तवर्गेण । पुष्परागमिति ।—कुलत्पकाय-
मिश्रकाञ्चिकैः पुष्परागं शुभ्रयति । तन्मुलीयजलैः “काँटानटे” इति ख्यातक्षुपर्वशिष-
मूलरसेः । नौली नौलहयः । गौचना गौगौचना हरिद्रा वा । यथायोग्यमेवां स्वरमा-
दिभिः सङ्घ दीलायन्ते विपाच्य रत्नानि शोधयेत् इति । इक्षुलिखितादर्शपुस्तकावर्षे पते
वक्ष्यमाणश्लोका मूलमध्ये अधिकतया पठिता दृश्यन्ते, यथा—“रत्नानां शोधनं श्रेष्ठ
मारणं न गुणप्रदम् । मज्जना बीज्यहानिः स्यात् तस्मात्तानि च शोधयेत् ॥ रसे
रसायने दाने धारणी देवतार्चने । सुलक्षाणि सुजातीनि सर्वाण्युक्तानि शोधयेत् ॥
शुद्धिं चरन्ति रत्नानि निम्बुसुनि तुषाम्बुनि । विशुध्यन्ति विदिवसेः विष्टतानि च
सर्वशः ॥” इति ॥ ६०-६१ ॥

मारणमाह, लकुचेति ।—लकुचः उडुकः । लकुचरसपिटमनःशिलागन्धक-
हरितालकल्कमध्ये । वक्ष्यतिरिक्तानि रत्नानि स्त्रापयित्वा षट्फलः पुटनेन
स्त्रियन्ते इति ॥ ६२ ॥

पुनर्वस्त्रेण संवेष्ट्य दीलायन्त्रे निधाय च ।

सर्वान्मयुक्तसन्धान-परिपूर्णघटोदरे ॥ ६७ ॥

अहोरात्रत्रयं यावत् खेदयेत्तौब्रवज्जिना ।

तस्मादाहृत्य सङ्गाल्य रत्नजां द्रुतिमाहरेत् ॥

रत्नतुल्यप्रभा लघ्वी देहलोहकरी शुभा ॥ ६८ ॥

अथ मुक्ताद्रावणे विशेषक्रमः ।—

मुक्ताचूर्णन्तु सप्ताहं वेतसाम्नेन मर्दितम् ।

जम्बीरोटरमध्ये तु धान्यराशौ विनिक्षिपेत् ॥

सप्ताहादुद्धृतञ्चैव पुटं दत्त्वा द्रुतिं हरेत् ॥ ६९ ॥

सर्वरत्नाणां द्रावणमाह, रामठमिति ।—रामठं हिङ्गु । मांसद्रवः अस्त्र-
वेतसमेदः, यदुक्तं राजनिघण्टौ—“शङ्खमांसादिद्रावी स्यात् द्विषा चैवास्त्रवेतसः”
इति । अस्त्रवेतसः प्रसिद्ध एव । “मांसद्राव्यस्त्रवेतस” इति पाठे—मांसद्रावणाहोस्त्र-
वेतसः, न तु प्रसिद्धोऽपरः । चूलिकालवणं लवणविशेषः नरसारो वा । स्थूलं
कुम्भीफलं पक्वं सुपक्वपरिपुष्टाङ्गजैपालबीजम् । ज्वालामुखी शुभा उत्तमा लाङ्गली
“ईशलाङ्गला” इति भाषा, भस्मातकी वा । द्रवली क्षीरितपत्रदन्तीमेदः, ब्रह्मदन्तीति
यावत्, पात्रकुक्षी लता वा । रुदन्ती उत्कलादिदेशे खनामख्याता, तल्लक्षणं यथा
राजनिघण्टौ—“अस्त्रपत्रसमं पत्रं क्षुण्णैव तथास्त्रकः । शिशिरे जलविन्दूनास्रवन्तीति
रुदन्तिका ॥” इति । पयस्या क्षीरकाकीली भूमिकुष्माण्डो वा । जातिमन्ति अक्त-
विभाषि उत्कृष्टानीति यावत् । शुभानि मङ्गल्यानि । भुजं भुजपत्रे । अथमत्र क्रमः,—
रामठाद्यर्कक्षीरानां सर्वमनुकूपं गृहीत्वा सम्पिष्य तपिष्ठान्तः वररत्नानि निदध्यात्,
ततः भुजपत्राभ्यन्तरे तत् पिष्टं संस्थाप्य सूत्रेण दृढं बद्धा पुनः बस्त्रेणावेष्ट्य अस्त्र-
वेतसाद्यस्त्रवर्गैरसमिश्रकाञ्चिकेन सह सरस्थास्थां दीलायां तौब्रवज्जिना त्रिदिनं पचेत्,
तेन रत्नानि द्रवीभवन्ति, अनन्तरमवतार्य बस्त्रादिवेष्टनमपसार्य प्रक्षाल्य च
मध्यस्थद्रुतिं गृहीयादिति ॥ ६९—७० ॥

मुक्ताद्रावणे विशेषक्रममाह, मुक्तेति ।—सप्ताहं यावत् अस्त्रवेतसेन सह मुक्ताचूर्णं
खल्लयित्वा तेन जम्बीरभर्जनापूर्य सत्कपटादिना संलिप्य धान्यराशौ सप्ताहं स्थापयेत्,
सप्ताहानन्तरमुद्धृत्य पुटो देयः ॥ ६९ ॥

अथ वज्रद्रावणे विशेषक्रमः ।—

वज्रवज्रान्तरस्थञ्च कृत्वा वर्ज्यं निरोधयेत् ।

अग्नभाण्डगतं स्वेद्यं सप्ताहान्नवतां व्रजेत् ॥ ७० ॥

अथ वैक्रान्तद्रावणे विशेषक्रमः ।—

श्वेतवर्णान्तु वैक्रान्तमस्त्रवेतसभावितम् ।

सप्ताहान्नात्र सन्देहः खरघर्मे द्रवत्यलम् ॥ ७१ ॥

मतान्तरम् ।—

केतकीखरसं ग्राह्यं सैन्धवं स्वर्णपुष्पिका ।

इन्द्रगोपकसंयुक्तं सर्वं भाण्डे विनिक्षिपेत् ॥

सप्ताहं स्वेदयेत्तस्मिन् वैक्रान्तं द्रवतां व्रजेत् ॥ ७२ ॥

मतान्तरम् ।—

लोहाष्टके तथा वज्रे वापनात् स्वेदनाद्भुतिः ।

जायते नात्र सन्देहो योगस्यास्य प्रभावतः ॥ ७३ ॥

वज्रद्रावणमाह, वज्रवज्रीति ।—वज्रवज्री अय्यसंहारः “हाडजीडा” इति प्रमिडा । वज्रवज्रीमूलपिण्डाभ्यन्तरे वज्रं निरुध्य काष्ठिकपूर्णघटे दीलायां सप्ताहं स्वेदयेत्, तेन द्रवत्वमाप्नोति कुशिशम् ॥ ७० ॥

वैक्रान्तद्रावणमाह, श्वेतवर्णमिति ।—महारसविशेषस्य वैक्रान्तस्य शोधनादिकं द्वितीयाध्याये महारसाधिकारे प्रामेयिकं, किन्तु द्रावणस्य तद्वानुक्तत्वात् अस्य उपरव-विशेषत्वाच्च रजद्रावणप्रसङ्गे अत्र द्रावणं निर्देष्टुं पुनरुल्लेखः कृतो यत्प्रकृता । किञ्च महारसत्वेऽपि अस्य उपरवत्वं नामङ्गतं, यतो यस्यान्तरे वज्रव्यापि उपरवसमर्थं यद्वर्णं दृश्यते । किंवा केषाञ्चिन्मते अस्य महारसत्वं केषाञ्चित् उपरवत्वम्, उभयमपि अविरुद्धं स्युतिरुच्यते । वर्णभेदेनाष्टविधेषु वैक्रान्तेषु श्वेतवर्णवैक्रान्तम् अस्त्रवेतसक्राथेन तोत्रातपे सप्ताहं भावयेत्, तेन निश्चितमेव द्रव्योभवति इति ॥ ७१ ॥

मतान्तरमाह, केतकीति ।—स्वर्णपुष्पिका स्वर्णयूष्पिका, पीतपुष्पयूष्पिका इत्यर्थः । इन्द्रगोपकः वार्षिककौटविशेषः “बाषादे पोका” इति “केष्ठा” इति वा भाषा । केतकीखरसादिद्रव्यचतुष्टयेन सह वैक्रान्तं स्यात्सीमध्ये संख्याप्य सप्ताहं दीलायन्ते स्वेदनेन द्रव्योभवतीति ॥ ७२ ॥

मतान्तरमाह, लोहाष्टक इति ।—लोहाष्टकम् अष्टलौहं, तच्च स्वर्णरीप्यताम्रवज्र-

अथ सर्वरत्नानां सामान्यद्रावणम् ।—

कुरुते योगराजोऽयं रत्नानां द्रावणं परम् ॥ ७४ ॥

अथ राजावर्त्तः ।—

अथोत्तममध्यमराजावर्त्तलक्षणम् ।—

राजावर्त्तोऽल्परक्तोऽनीलकामिश्रितप्रभः ।

गुरुश्च मसृणः श्रेष्ठस्तदन्यो मध्यमः स्मृतः ॥ ७५ ॥

अथ गुणाः ।—

प्रमेहक्षयदुर्नाम-पाण्डुश्लेष्मानिलापहः ।

दीपनः पाचनो वृथो राजावर्त्तो रसायनः ॥ ७६ ॥

अथ राजावर्त्ताद्युपरत्नानां सामान्यशोधनम् ।—

निम्बद्रवैः सगोमूत्रैः सक्षारैः स्नेदिताः खलु ।

द्वित्रिवारेण शुध्यन्ति राजावर्त्तादिधातवः ॥ ७७ ॥

अथ राजावर्त्तशोधनम् ।—

शिरिषपुष्पाद्वरसैः राजावर्त्तं विशोधयेत् ॥ ७८ ॥

सौषपित्तल-कान्तलोह-तीक्ष्णलौहात्मकम् । उक्ताष्टविधलोहभक्ष्यमध्ये तथा वज्रभक्ष्य-
मध्ये च वैक्तानां प्रलिप्यं दीलायन्ते स्नेदनान् द्रवीभवति ॥ ७३ ॥

सर्वरत्नानां द्रावणमाह, कुरुते इति ।—योगराजोऽयं लोहाटकादिकृतः अयं
योगः । रत्नानां माणिक्यादीनाम् ॥ ७४ ॥

उत्तममध्यमभेदेन द्विविधराजावर्त्तयोः स्वरूपलक्षणमाह, राजावर्त्त इति ।—
अल्परक्तोऽनीलकामिश्रितप्रभः ईषट्कान्तानल्पनीलद्युतिः । तदन्यः श्रेष्ठलक्षणविपरीतः,
अनल्परक्तोऽनीलद्युतिः लघुः खरस्येत्यर्थः ॥ ७५ ॥

राजावर्त्तस्य गुणमाह, प्रमेह इति ।—मुगमम् ॥ ७६ ॥

राजावर्त्ताद्युपरत्नानां सामान्यशोधनमाह, निम्बद्रवैरिति ।—निम्बुरसगोमूत्राभ्यां
सक्षारैश्च च सप्त राजावर्त्तादिकं स्थावरा दीलायन्ते वारहस्यं वारहस्यं वा स्नेदयेत्
तेन शुध्यतीति ॥ ७७ ॥

राजावर्त्तस्य विशेषशोधनमाह, शिरिषेति ।—सद्यस्त्रिशिरिषपुष्पखरसैः राजावर्त्तं
भावयित्वा स्नेदयित्वा वा शोधयेदिति ॥ ७८ ॥

अथ राजावर्त्तमारणम् ।—

लुङ्गास्त्रगन्धकोपेती राजावर्त्तो विचूर्णितः ।

पुटनात् सप्तवारिण राजावर्त्तो मृतो भवेत् ॥ ७९ ॥

अथ सत्त्वपातनम् ।—

राजावर्त्तस्य चूर्णन्तु कुनटी-घृतमिश्रितम् ।

विपचेदायसे पात्रे मङ्घिषीक्षीरसंयुतम् ॥ ८० ॥

सौभाग्यपञ्चगव्येन पिण्डीवद्धन्तु जारयेत् ।

ध्यापितं खदिराङ्गारैः सत्त्वं मुञ्चति शोभनम् ॥ ८१ ॥

[इति राजावर्त्ताधिकारः] ।

अथ द्रुतीनां दीर्घकालरक्षणोपायः ।—

कुसुम्रतैलमध्ये तु संस्थाप्या द्रुतयः पृथक् ।

तिष्ठन्ति चिरकालन्तु प्राप्ते कार्य्ये नियोजयेत् ॥ ८२ ॥

मारणमाह, लुङ्गास्त्रिति ।—लुङ्गास्त्रं मातुलङ्गरसः । मातुलङ्गरसेन तुल्यगन्धकं राजावर्त्तं पिष्ट्वा सप्तवारं पुटेत् इति ॥ ७९ ॥

सत्त्वपातनविधिमाह, राजावर्त्तस्येति ।—कुनटी मनःशिला । अथमत्र क्रमः,— राजावर्त्तचूर्णं घृतमनःशिलाभ्यां तुल्याभ्यां पिष्ट्वा मङ्घिषीक्षीरेण चतुर्गुणेन क्षीरशीघ्रं यावत् क्षौद्रपावे पचेत्, ततः तुल्यटङ्गव्येन पिण्डत्वसम्पादनादर्थे पञ्चगव्येन च सम्यग् पिण्डाकारं कृत्वा मूषायां संस्थाप्य पुटं दद्यात्, ततः खदिरकाङ्गारिण भस्मया ध्यापित्वा सत्त्वं गृह्णीयादिति । ननु उद्देशे वैकान्तादीनि चतुर्दश रत्नान्युक्ता विवरणे एकादशानामेव गुणादिकमुक्तं, तत् कथमिति चेदुच्यते—“रत्नं गान्धर्वतं पुष्य-रागो माषिकमेव च । इन्द्रनीलस्य गोमेदस्तथा वैदूर्यमित्यपि ॥ मौक्तिकं विट्प्रमथेति रत्नान्युक्तानि वै नव ॥” इति नवरत्ननिर्देशात् अत्र प्राधान्येन तेषामेव परिचयादिक-मुक्तम् । वैकान्त सूर्यकान्त-स्फटिक-चन्द्रकान्त-राजावर्त्ताख्यानां मण्योनाम् उपरत्न-जातीयानां रत्नाधिकारे निर्देशे कृतेऽपि सूर्य-चन्द्रकान्तस्फटिकानामौषधादिषु बाहुल्येन प्रयोगदर्शनात् लक्षणादिकं नोक्तं, वैकान्तराजावर्त्तयोस्तु प्रयोगदर्शनात् उल्लिखितम् इति । (अत्र रत्नं क्षीरकम्) ॥ ८०।८१ ॥

द्रवाणां चिरकालनविकृततया संस्थापने प्रकारमाह, कुसुमेति ।— सुगन्धम् ॥ ८२ ॥

अथ रत्नधारणगुणाः ।—

सूर्यादियह-निग्रहापहरणं दीर्घायुरारोग्यदं
सौभाग्योदय-भाग्य-वश्य-विभवोत्साहप्रदं धैर्यकृत् ।
दुःखाया-चलधूलि-सङ्कतिभवाऽलक्ष्मीहरं सर्वदा
रत्नानां परिधारणं निगदितं भूतादिभौनाशनम् ॥ ८३ ॥

अथ गैरिकम् ।—

अथ गैरिकस्य शोधनं सत्त्वपातनञ्च ।—

अनेन क्रमयोगेन गैरिकं विमलं भवेत् ।
क्रमात् पीतञ्च रक्तञ्च सत्त्वं पतति शोभनम् ॥ ८४ ॥

इति श्रीवैद्यपतिमिहगणस्य स्तोत्रांशटाकायस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये

रत्नानां शुद्ध्यादिनिरूपणं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

रत्नधारणगुणमाह, सूर्यादीति ।—सूर्यादिभिः ग्रहेः कृतस्य निग्रहस्य अपहरणं विग्रह-नवग्रहजनितापहरणमनम् । सौभाग्येति ।—सौभाग्यं स्त्रीप्रियत्वं उदयः उत्पत्तिः भाग्यं शुभादृष्टं “भाग्य” इत्यत्र “भोग्य” इति पाठे—भोगार्हवन्त इत्यर्थः, वश्यं लोकवशीकरणमामर्ष्यं विभवः धनम् उत्साहः कार्येषु उद्यमः तान् प्रददाति इति तथाभूतम् । दुःखायेति ।—दुः दृष्टा अशुभोत्पादिका इत्यर्थः, छाया प्रतिविम्बं तथा चला वातेन व्यानान्तरं नीयमाना धूलिः पांशुः अजादीनां खुरोत्था इति भावः, तयोः सङ्गत्या संस्पर्शेन भवा या अलक्ष्मीः शोभनता दैन्यमिति यावत्, तां हरतीति तथाभूतम् । भूतादिभौनाशनं भूतप्रेतादिभ्यो भयनिवारणम् ॥ ८३ ॥

उपरमभेदस्य गैरिकस्य शोधनादिकं तृतीयाध्याये उपरसाधिकारे उक्तमपि राजावर्तवत् शोधनाद्यतिदेशार्थमत्रापि पुनस्तदाह, अनेनेति ।—अनेन राजावर्तस्य शोधनसत्त्वपातनविध्यनुसारेण । क्रमात् पीतञ्च रक्तञ्चेत्यत्र पाषाणगैरिकस्य पीतं स्वर्णगैरिकस्य च रक्तं सत्त्वं बोध्यमिति ॥ ८४ ॥

इति रसरत्नसमुच्चयबोधिन्यां चतुर्थाध्यायः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः ।

अथ लोहानि ।—

अथ लोहानां जातिनिरूपणम् ।—

शुद्धं लोहं कनकरजतं भानुलोहाश्मसारं
पूतलोहं द्वितयमुदितं नागवङ्गाभिधानम् ।
मिश्रं लोहं त्रितयमुदितं पित्तलं कांस्यवर्त्तं
धातुर्लोहं लुह इति मतः सोऽप्यनकार्यवाची ॥ १ ॥

अथ चतुर्थाध्याये रत्नानां शोधनादिकं निरूप्य स्वर्णाद्यल्लोहानामपि रत्नसदृश-
गुणवत्त्वात् इदानीं तेषामपि शोधनादिविवरणार्थं पञ्चमाध्यायमारभते ; तत्रादौ तेषां
जातीः निरूपयति, शुद्धमिति ।—भानुलोहाश्मसारं भानुना ताम्रेण सह लोहाश्मसारं
कान्तादिसंज्ञकलोहवयमित्यर्थः । स्वर्णं रौप्यं ताम्रं तथा कान्तमुख्यलोहाश्मसारं त्रितयम्
अमिश्रलोहं ज्ञेयम् । भीसकं वङ्गश्च द्वयं पूतलोहाभिधानम् ; पूतलोहमिति
लोहस्य जातिविशेषः, अथवा वङ्गस्य पूतिगन्धेतिपय्यायकत्वात् नागस्य च वङ्गसदृश-
गुणवत्त्वात् लोहविशेषयोर्नागवङ्गयोः पूतलोहाभिधानम् इति । पित्तलोहद्वयं
मिश्रलोहसंज्ञं तेषां धातुन्तरसंयोगजत्वात्, यदुक्तं भावप्रकाशे—“रौतिरप्युपधातुः
स्यात्तामस्य यशदस्य च । पित्तलस्य गुणाः ज्ञेयाः स्वधीनिसदृशाः जनेः ॥ संयोगज-
प्रभावेण तस्यान्येऽपि गुणाः स्मृताः ॥ ताम्रवपुजमाख्यातं कांस्यं घोषश्च कंसकम् ।
उपधातुर्भवेत् कांस्यं ह्योलरश्मिरङ्गयोः ॥ कास्यस्य तु गुणाः ज्ञेयाः स्वधीनिसदृशाः
जनेः । संयोगजप्रभावेण तस्यान्येऽपि गुणाः स्मृताः ॥” इति । वर्त्तलोहस्य
मिश्रत्वज्ञाये वक्ष्यति । वर्त्तलोहं रुक्मलोहं “विदरी” इति ख्यातम् । लोहे
कनकादिधातौ लुहधातुः इति मतः, लुहः लोहस्य पय्याय इत्यर्थः । अनकार्य-
वाची अगुरुलोहितसुवर्णादिवद्वर्थबोधकः । “तत्त्वार्थवाची” इति पाठे—स लुहाख्यः
॥ धातुलोहः तत्त्वार्थवाची लोहस्य प्रकृतार्थख्यायःशब्दस्य बोधकः इत्यर्थः । “कषार्थ-
वाची” इति पाठे—कषार्थबोधकः, कषपय्याय इत्यर्थः ॥ १ ॥

अथ स्त्रीर्णम् ।—

अथ स्त्रीर्णस्य पञ्चविधत्वनिर्देशः ।—

प्राकृतं सहजं वक्रिमम्भूतं खनिमम्भवम् ।

रसेन्द्रवेधसञ्जातं स्त्रीर्णं पञ्चविधं स्मृतम् ॥ २ ॥

तवाटौ सर्वलोहप्राधान्यात् स्त्रीर्णस्य पञ्चधा भेदमाह, प्राकृतमिति ।—प्राकृतं प्रकृत्या स्वभावेन निवृत्तम् अकृतमिदं, सृष्टेरादौ स्वभावत एव उत्पन्नत्वात् ; यथा—
 ब्रह्मणः प्रकृतिभूतस्य अण्डस्य आवरकत्वात् प्राकृतम् । सहजं ब्रह्मणा सह जातं गर्भावरकस्य उत्त्वापराख्यस्य जराग्रोः ब्रह्मणा सहैव निवृत्तत्वात् । वक्रिमम्भूतम् अग्नि-
 सन्धिवत्, अस्य विवर्तित्वेन अये द्रष्टव्यम् । खनिमम्भवं भृगुर्भस्म्याकरजातम् । रसेन्द्रवेध-
 सञ्जातं रसेन्द्रस्य पारदस्य वेधः स्वेदनाद्यूनविंशतिकर्मान्तर्गतकर्मविशेषः, येन कर्मणा स्यर्गादिभावैर्षेव रसस्य अन्यपदार्थविच्छेदकरणशक्तिरुत्पद्यते, सा च स्वेष्टादिमंथोने भवति, यदन्तं रसेन्द्रचिन्तामणौ—“अटानवतिभागश्च हृष्यमिकश्च डाटकम् । सूतकीन
 च वेधः स्यात् शतांशविधिरौरितः ॥ चन्द्रसैकीनपचाशतथा शुद्धस्य भास्वतः । वक्रि-
 रिकः शम्भुरिकः शतांशविधिरौरितः ॥ दावेव रजतधोनितास्रधोनिस्तेनोपचर्यते ; एवं
 सहस्रवेधादयो जारणवौजवशादनुसर्तव्याः । अतिविद्रुते तस्मिन् वेष्ट्याऽभौ दण्डवेधेन ।
 विह्वं रसेन यद्व्यं पचाहं श्यापयेद्वि । तत आभीय नगरे विजानीत विचक्षणः ॥”
 इति । तस्मात् सञ्जातं रसेन्द्रवेधकर्मणि उत्पन्नम् । रसेन्द्रवेधजस्त्रीर्णस्य करणप्रकारो
 षाटकाभेदतन्त्रेऽप्युक्तं, यथा—“आनीय पारदं देवि ! श्यापयेत् प्रकरोपरि । तस्योपरि
 कपेत्तन्त्रं सर्वबन्धमशात्मकम् ॥ साष्टसहस्रं दैवेष्टि ! प्रजपेत् साधकायणीः ।
 स्वयम्भुपुष्पसंयुक्ते वस्त्रे चारुणसन्निभे ॥ संख्याप्य पारदं देवि ! मृत्पात्रयुगले शिवे ! ।
 पुष्पयुक्तेन सूत्रेण बध्नीयात् बहुयवतः ॥ मृत्तिकया रत्नेनैव धान्यस्य परमेश्वरि ! ।
 लेपयेत् बहुयवेन रौद्रे युष्माणि कारयेत् ॥ पुनश्च लेपयेद्भौमान् ततो वज्रौ विनि-
 क्षिपेत् । अष्टमीनवमीरात्रौ क्षिपेद्भैव सुरेश्वरि ! ॥ अथवा परमेशानि ! मृत्पात्रे
 श्यापयेद्रसम् । वज्रोरसेन तद्व्यं शोधयेत् बहुयवतः ॥ घृतनारीरसेनैव तथैव
 शोधनं चरेत् । एवं कृते तु गटिका यदि स्यात् दृढबन्धना ॥ धूसूत्रं समानीय
 मध्ये गुण्यश्च कारयेत् । कृष्णाख्यतुलसीयोगे तथा घृतकुमारिका ॥ ‘एवं कृते
 वक्रिशोभे भस्मसात् जायते ध्रुवम् । भस्मयोगे भवेत् स्वेष्टं धनदायाः प्रसादतः ॥ दिवर्षे
 जायते द्रव्यं यदि पूजां न चाचरेत् ॥” इति । राजनिघण्टौ पुनः “तस्मैकं रसवेधजं
 तदपरं जातं स्वेष्टं भूमिजम् । किञ्चान्यहङ्गुलोहसङ्करमवसेति त्रिधा काचनम् ॥” इति

अथ स्वर्णरौप्ययोः सामान्यगुणः ।—

आयुर्लक्ष्मीप्रभाधीकृतिकरमखिलव्याधिविध्वंसि पुण्यं
भूतावेशप्रशान्तिस्मरभरसुखदं सौख्यपुष्टिप्रकाशि ।
गाङ्गेयश्चाथ रूप्यं गदहरमजराकारि मेहापह्वारि
क्षीणानां पुष्टिकारि स्फुटमतिकरणं वीर्यवृद्धिप्रकारि ॥३॥

अथ प्राकृतस्वर्णोत्पत्तिः ।—

ब्रह्माण्डं संवृतं येन रजोगुणभुवा खलु ।
तत् प्राकृतमिति प्रोक्तं देवानामपि दुर्लभम् ॥ ४ ॥

अथ सङ्गजस्वर्णोत्पत्तिः ।—

ब्रह्मा येनाऽऽवृतो जातः सुवर्णेन जरायुणा ।
तन्मेरुरूपतां यातं सुवर्णं सङ्गजं हि तत् ॥ ५ ॥

यदस्य त्रैविध्यमुक्तं, तत् प्राकृतसङ्गजयोः दुर्लभतया भूमिजान्तर्गणनया वा
बोध्यम् ॥ २ ॥

स्वर्णरौप्ययोः सामान्यगुणमाह, आयुरिति ।—गाङ्गेयं स्वर्णम् । स्फुटमतिकरणं
चिन्मीश्वरमस्यादनग ॥ ३ ॥

प्राकृतस्वर्णोत्पत्तिमाह, ब्रह्माण्डमिति ।—रजोगुणभुवा रजोगुणोत्पन्नेन रजसः
सृष्टिप्रवर्त्तकत्वात् ब्रह्मणश्च सृष्टिकर्त्तृत्वात् तदयोनेः हेमाण्डस्यापि रजोगुणोद्भूतत्वं तथा
कारणभूतहेमाण्डस्य रजोगुणसम्भवत्वात् कार्यभूतब्रह्मणोऽपि रजोगुणमयत्वं बोध्यम् ;
येन सुवर्णेन ब्रह्माण्डं ब्रह्मणः आधारभूतः स्वर्णमयः अण्डाकारः भुवनकोषः संवृतं
पिष्टितम् ; यदुक्तं मनुसंहितायां—“सोऽभिधाय्य शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः
प्रजाः । अप एव समर्जादौ तासु बीजमवाकृजत् ॥ तदण्डमभवत्त्रैमं सङ्ख्याय-
समप्रभम् । तस्मिन् अग्रे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥” इति ॥ ४ ॥

सङ्गजस्वर्णोत्पत्तिमाह, ब्रह्मेति ।—येन सुवर्णेन सुवर्णमयेन जरायुणा गर्भ-
मन्दिररूपविष्णुनाभिपद्मेन आवृतः वेष्टितः, तदन्तःस्थः सन् इति यावत्, ब्रह्मा
जातः ; तदुक्तं श्रीमद्भागवते—“परावरेषां भूतानामात्मा यः पुरुषः परः । स
प्रबालोदिदं विश्वं कल्पान्तोऽन्वज्जितश्च ॥ तस्य नाभेः समभवत् पद्मकोषो हिर-
ण्ययः । तस्मिन्नग्रे महाराज ! स्वयम्भुवतुरावनः ॥” इति ॥ ५ ॥

अथ वज्रिजस्वर्णोत्पत्तिः ।—

विस्फुटमग्निना श्रैवं तेजः पीतं सुदुःसहम् ।

अभूत् सर्वं समुद्दिष्टं सुवर्णं वज्रिसम्भवम् ॥ ६ ॥

अथ प्राकृतादिवर्णाणां लक्षणगुणौ ।—

एतत् स्वर्णत्रयं दिव्यं वर्णैः षोडशभिर्युतम् ।

धारणादेव तत् कुर्याच्छरीरमजरामरम् ॥ ७ ॥

अथ खनिजस्वर्णस्योत्पत्तिलक्षणगुणौ ।—

तत्र तत्र गिरीणां हि जातं खनिषु यज्ञवेत् ।

तच्चतुर्दशवर्णाक्यं भक्षितं सर्वरोगहृत् ॥ ८ ॥

अथ रसेन्द्रवेधजस्वर्णस्योत्पत्तिगुणौ ।—

रसेन्द्रवेधसम्भूतं तद्देधजमुदाहृतम् ।

रसायनं मद्वाश्रेष्ठं पवित्रं वेधजं हि तत् ॥ ९ ॥

वज्रिजस्वर्णस्योत्पत्तिमाह, विस्फुटमिति ।—विस्फुटं त्यक्तम् । वज्रिसम्भूतसुवर्ण-
स्योत्पत्तिकथा यथा—प्रसन्नस्य रुद्रस्य कथ्य आग्निमङ्गान्तस्थाग्निना देवताप्रार्थनया
गङ्गायामाहितस्य तथा च बौद्धमधुमर्थतया “समुत्समर्ज्जं रं गर्भे मेरौ गिरिवरे
तदा” इत्यनेन मेरौ निक्षिप्तस्य तस्य तेजमेव मेरुस्थं सर्वं वस्तु सुवर्णीकृतं, तदेव
वज्रिजं सुवर्णं ज्ञेयम् ; यथोक्तं भारतानुशासनिके—“तेजसा तस्य गर्भस्य भास्वरस्येव
रश्मिभिः । यद्व्यं परिसंस्तुष्टं पृथिव्यां पर्वतेषु च । तत् सर्वं काञ्चनीभूतं समन्तात्
प्रत्यदृश्यते ॥.....तस्मात् सुवर्णं माङ्गल्यं रत्नानामुत्तमोत्तमम् । सहजं कार्तिकेयस्य
वज्रेल्लेजः परं मतम् ॥” इति ॥ ६ ॥

प्राकृतादीनां विविधानां गुणमाह, एतदिति ।—स्वर्णत्रयं प्राकृतसहजवज्रि-
सम्भूतचिबिधसुवर्णम् ॥ ७ ॥

१. खनिजस्वर्णस्योत्पत्तिमाह, तथेति ।—गिरीणां विन्ध्यपुमेरुहिमाचलादिपर्वता-
नाम् । खनिषु आकटेषु । चतुर्दशवर्णाक्यं चतुर्दशविधवर्णसम्पन्नम् ॥ ८ ॥

रसेन्द्रवेधजस्वर्णस्य विवृतिमाह, रसेन्द्रेति ।—एतस्य प्रकारस्तु प्रागेव
वृद्धिर्ज्ञेयः ॥ ९ ॥

अथ गुणाः ।—

स्निग्धं मेध्यं विषगदहरं बृंहणं वृष्यमग्रां
यक्ष्मोन्मादप्रशमनपरं देहरोगप्रमाथि ।
मेधाबुद्धिस्मृतिसुखकरं सर्वदोषामयघ्नं
रुच्यं दीपि प्रशमितरुजं स्वादुपाकं सुवर्णम् ॥ १० ॥

अथाशोधितामारितस्वर्णस्य दोषाः ।—

सौख्यं वीर्यं बलं हन्ति रोगवर्गं करोति च ।
अशुद्धममृतं स्वर्णं तस्माच्छुद्धञ्च मारयेत् ॥ ११ ॥

अथ सुवर्णस्य सु-वर्णसम्पादनम् ।—

कर्षप्रमाणन्तु सुवर्णपत्रं शरावरुद्धं पटुधातुयुक्तम् ।
अङ्गारसंस्थं प्रहरार्द्धमानं धानेन तत् स्यान्ननु वर्णपूर्णम् ॥ १२ ॥

अथ लोहमारकद्रव्येषु उक्तमादिनिर्देशः ।—

लोहानां मारणं श्रेष्ठं सर्वेषां रमभस्मना ।
मूलिभिर्मध्यमं प्राहुः कनिष्ठं गन्धकादिभिः ॥
अरिलोहेन लोहस्य मारणं दुर्गुणप्रदम् ॥ १३ ॥

गुणमाह, स्निग्धमिति ।—मेध्यं पवित्रम् । बृंहणं पृष्टिकरम् । वृष्यमग्रां प्रेक्ष-
वाजीकरम् । “यक्ष्मोन्माद” इत्यत्र “यक्ष्मोन्माद” इति पाठे—यक्ष्मोन्माद-
नाशनम् । दीपि अग्निवर्द्धकम् । प्रशमितरुजं रुजाप्रशमकम् ॥ १० ॥

अशुद्धामृतस्वर्णस्य दोषमाह, सौख्यमिति ।—सुगमम् ॥ ११ ॥

स्वर्णस्य प्रशक्तवर्णसम्पादनप्रकारमाह, कर्षेति ।—पटुधातुः गन्धकः । कण्टक-
वध्यं कर्षप्रमाणं स्वर्णपत्रं गन्धकेन सह शरावसम्पुटे बद्धा निर्धमाङ्गाराग्नौ संस्थाप्य
“वृद्धप्रहरं” यावत् भस्मया आपनेन वर्णोत्कर्षतां याति ॥ १२ ॥

लोहमारणे प्रवरावरादिसहाययोगमाह, लोहानामिति ।—लोहानां स्वर्णाद्यष्ट-
कैः वेधलाहानाम् । मूलिभिः शोषधीना मूलविशेषैः इत्यर्थः । अरिलोहं लोहारिणा
रितालेनेति यावत् । दुर्गुणप्रदम् अपकर्षतासम्पादकमित्यर्थः ॥ १३ ॥

अथ स्वर्णमारणम् ।—

कृत्वा कण्टकवेध्यानि स्वर्णपत्राणि लेपयेत् ।

लुङ्गाम्बु-भस्मसूतेन म्रियते दशभिः पुटैः ॥ १४ ॥

मतान्तरम् ।—

द्रुते विनिक्षिपेत् स्वर्णं लोहमानं सृतं रसम् ।

विचूर्ण्य लुङ्गतोयेन दरदेन समन्वितम् ॥

जायते कुङ्कुमच्छायं स्वर्णं द्वादशभिः पुटैः ॥ १५ ॥

मतान्तरम् ।—

हेम्नः पादं सृतं सूतं पिष्टमस्त्रेण केनचित् ।

पत्रे लिप्त्वा पुटैः पञ्चादष्टभिर्म्रियते ध्रुवम् ॥ १६ ॥

अथ स्वर्णद्रावणम् ।—

मण्डूकास्थिवसाटङ्क-हयलालेन्द्रगोपकैः ।

प्रतिवापेन कनकं सुचिरं तिष्ठति द्रुतम् ॥ १७ ॥

मारणमाह, कृत्वेति ।—लुङ्गाम्बु मातुलङ्गरसः । भस्मसूतः पारदभस्म, रससिन्दूर-
मित्यर्थः ॥ १४ ॥

मतान्तरमाह, द्रुते इति ।—द्रुते गलिते । लोहमानं स्वर्णपरिमितम् । दरदेन
हिङ्गुलेन । टङ्कणादिद्रावणवर्गेण द्राविते स्वर्णे तुल्यमानं पारदभस्म तथा हिङ्गुलञ्च
प्रक्षिप्य मातुलङ्गरसेन सम्मिश्र्य पुटो देयः, एवं द्वादशपुटेन स्वर्णस्य कुङ्कुमवर्णं भस्म
जायते ॥ १५ ॥

मतान्तरमाह, हेम्नः इति ।—शुद्धसुवर्णस्य चतुर्थांशं सूतभस्म जम्बीराद्यस्त्राणां
केनापि सम्मिश्र्य तेन कल्केन कण्टकवेध्यस्वर्णपत्राणि लिप्त्वा लघुपुटो देयः, एवमष्ट-
कालः कार्यम् ॥ १६ ॥

द्रावणमाह, मण्डूकेति ।—मण्डूकास्थिवसा भेकास्थि भेकवसा च । हयलाला
अश्वलाला । “हयलाला” इत्यत्र “हयमार” इति पाठे—करवीर इत्यर्थः बोध्यः ।
इन्द्रगोपकः रक्तवर्णवार्षिककौटविविशेषः “आषाढे पोका” इति “केण्डाड” इति
वा भाषा । प्रतिवापः गलितस्य धातोः द्रव्यान्तरेण अवचूर्णनम् । विशुद्धसुवर्णं
द्रावणवर्गेण यज्ञौ द्रावितं मण्डूकास्थ्यादिभिः अवचूर्णनेः अवचूर्णितं सुचिरकालं
द्रुतं तिष्ठति इति ॥ १७ ॥

अथ द्रावणान्तरम् ।—

चूर्णं सुरेन्द्रगोपाणां देवदालौफलद्रवैः ।

भावितं सदृशं हेम करोति जलवद्भूतम् ॥ १८ ॥

अथ मारितस्वर्णस्य प्रयोगविधिः ।—

एतद्भस्म सुवर्णजं कटुघृतोपेतं द्विगुञ्जोन्मितं

लोठं हन्ति नृणां क्षयाग्निसदनं श्वासश्च कासारुचिम् ।

ओजोधातुविवर्धनं बलकरं पाण्डुरामयध्वसनं

पथ्यं सर्वविषापहं गरुडरं दुष्टग्रहण्यादिनुत् ॥ १९ ॥

अथ अमारितस्य स्वर्णस्य दोषः ।—

बलञ्च वीर्यं हरते नराणां रोगव्रजं कोपयतीव काये ।

असौख्यकारश्च सदैव हेमापक्वं सदोषं मरणं करोति ॥ २० ॥

[इति स्वर्णाधिकारः] ।

प्रकारान्तरमाह, चूर्णमिति ।—सुरेन्द्रगोपः इन्द्रगोपकीटः । देवदालौ इति-
घोषकः । सदृशं हेमतुल्यमित्यर्थः, सुरेन्द्रगोपाणां चूर्णमित्यनेनान्वयः । अथ हेम इति
कर्मपदं बोध्यम् । इन्द्रगोपकीटचूर्णे स्वर्णतुल्यमानं इतिघोषकफलरसैः भावयित्वा
सचूर्णयेत्, तस्यावचूर्णेनेन स्वर्णं जलवत् तरलं भवति ॥ १८ ॥

सप्तस्वर्णस्य प्रयोगविधिमाह, एतदिति ।—कटुशब्देनात्र विकटुर्बोध्यः क्षयादि-
हन्तृत्वात् ; विकटुचूर्णघृताभ्यां सह द्विगुञ्जोन्मितं सुवर्णजं भस्म इति योज्यं, यद्वा
—कटुघृतोपेतम् अपेतमाधुर्यपराणघृतसंयुक्तम् । ओजोधातुविवर्धनं “हृदि तिष्ठति
यच्छुद्धं रक्तमोषत् सपीतकम् । ओजः शरीरे सङ्क्रान्तं तन्नाशना विनश्यति ॥” अन्वय-
—“अष्टविन्दुप्रमाणं तदोषद्रक्तं सपीतकम् । अग्निमीमात्मकत्वेन हिरुपं वर्णितञ्च
तत् ॥” अन्वय—“ओजस्य तेजो धातूनां शुक्लानानां परं श्रुतम् । हृदयस्थमपि
व्यापि देहस्थितिनिवन्धनम् ॥” इत्याद्युक्तलक्षणस्य रसादिशुक्लानां सर्वधातुसार-धातु-
विशेषस्य हृदिकारकम् । गरुडरं संयोगजविषनाशनं, कृत्रिमविषापहारकमिति यावत् ;
गरुडरूपं यथा वागटे—“गानाप्राण्यङ्गशमल-विरुद्धोषधभक्ष्यम् । विषाणाद्यान्-
वीर्याणां योगी गर इति श्रुतः ॥” इति ॥ १९ ॥

असप्तस्वर्णस्य दोषमाह, बलमिति ।—हेमापक्वं असृष्टं, स्वर्णमित्यर्थः ।
ओजोऽयं प्रचिप्त इति कैचित् ॥ २० ॥

अथ रजतम् ।—

अथ रौप्यस्य वैविध्यमिदंशः ।—

महजं खनिसञ्जातं कृत्रिमं त्रिविधं मतम् ।

रजतं पूर्वपूर्वं हि स्वगुणैरुत्तरोत्तरम् ॥ २१ ॥

अथ सहजरौप्यस्थोत्पत्तिर्गुणश्च ।—

कैलामाद्यद्रिसम्भूतं महजं रजतं भवेत् ।

तत् स्पृष्टं हि सकृत् व्याधिनाशनं देहिनां भवेत् ॥ २२ ॥

अथ खनिजरौप्यस्थोत्पत्तिर्गुणश्च ।—

हिमाचलादिकूटेषु यद्रूप्यं जायते हि तत् ।

खनिजं कथ्यते तज्ज्ञैः परमं हि रसायनम् ॥ २३ ॥

अथ कृत्रिमरौप्यस्थोत्पत्तिर्गुणश्च ।—

श्रीरामपादुकान्यस्तं वङ्गं यद्रूप्यतां गतम् ।

तत् पादरूप्यमित्युक्तं कृत्रिमं सर्वरोगनुत् ॥ २४ ॥

अथोत्तमरौप्यलक्षणम् ।—

घनं स्वच्छं गुरु स्निग्धं दाहे छिदे सितं मृदु ।

शङ्काभं मसृणं स्फोटरहितं रजतं शुभम् ॥ २५ ॥

रजतस्य वैविध्यमाह, महजमिति ।—स्वगुणैः आत्मगुणैः, रजतसहजगुणैरित्यर्थः, उत्तरोत्तरं श्रेष्ठात् श्रेष्ठतरमित्यर्थः, उत्तरशब्दाऽव श्रेष्ठार्थको बोध्यः ; कृत्रिमापेक्षया खनिज तदपेक्षया च सहजं गुणाधिकमित्यर्थः ॥ २१ ॥

सहजस्थोत्पत्तिं गुणश्चाह, कैलासादीति ।—सकृत् एकवारम् ॥ २२ ॥

खनिजस्थोत्पत्तिं गुणश्चाह, हिमाचलादीति ।—कूटेषु शिखरेषु ॥ २३ ॥

कृत्रिमरौप्यस्थोत्पत्तिं गुणश्चाह, श्रीरामेति ।—श्रीरामचन्द्रस्य पादुकानिवर्णं वङ्गं यत् रौप्यत्वं प्राप्तं, तत्पादस्यशात् इति शेषः । पादरूप्यं चरणसंस्पर्शजनित-रौप्यम् ॥ २४ ॥

उत्तमरौप्यलक्षणमाह, घनमिति ।—घनं निबिडावयवं, नीचनीचमिति यावत् । स्वच्छं निर्मलम् । दाहे तथा छिदेऽपि सितम् अन्तःशुभम् । मृदु अदारुणं, सुखस्पर्श-मित्यर्थः । स्फोटरहितं त्रणवत् गच्छरहितम् ॥ २५ ॥

अथापक्वैरौष्यलक्षणम् ।—

दाहो रक्तञ्च पीतञ्च कर्णं रुद्धं स्फुटं लघु ।

स्थूलाङ्गं कर्कशाङ्गञ्च रजतं त्याज्यमष्टधा ॥ २६ ॥

अथ रौष्यगुणाः ।—

रूष्यं विपाकमधुरं तुवरास्त्रसारं

शीतं सरं परम-लेखनकञ्च रूष्यम् ।

स्निग्धञ्च वातकफजिज्जठराग्निदीपि

बल्यं परं स्थिरवयस्करणञ्च मेध्यम् ॥ २७ ॥

अथ गुणान्तरम् ।—

रौष्यं शीतं कषायास्त्रं स्निग्धं वातहरं गुरु ।

रसायनविधानेन सर्वरोगापहारकम् ॥ २८ ॥

अथ स्वर्णादिशोधनम् ।—

तैले तक्ते गवां मूत्रे ह्यारनाले कुलित्यजे ।

क्रमान्नपेचयेत्तप्तं द्रावे द्रावे तु सप्तधा ॥

स्वर्णादिलोहपत्राणां शुद्धिरेषा प्रशस्यते ॥ २९ ॥

अथ अशोषितामारतरौष्यस्य दोषाः ।—

आयुः शुक्रं बलं हन्ति तापविड्बन्धरोगकृत् ।

अशुद्धममृतं तारं शुद्धं मार्य्यमतो बुधैः ॥ ३० ॥

निकृष्टरौष्यलक्षणमाह, दाह इति ।—स्फुटं भिन्नं, विदीर्णमिति यावत् ; “स्फुटं यत् घनाङ्गं स्फुटति” इति भावमिष्टः ॥ २६ ॥

गुणमाह, रूष्यमिति ।—तुवरास्त्रसारं कषायास्त्ररसमित्यर्थः । सरं सारकमित्यर्थः । लेखनकं “धातून् मलान् वा देहस्य विशोष्यलेखयेच्च यत् । लेखनं तत्” इति-लक्षणात्तत्रशोकारकमित्यर्थः ॥ २७ ॥

मतान्तरे गुणमाह, रौष्यमिति ।—सुगमम् ॥ २८ ॥

शोधनमाह, तैले इति ।—कुलित्यजे कुलित्यक्ताये । कण्टकवेद्यं रौष्यपत्रम् अग्नौ प्रताप्य प्रताप्य क्रमात् तैलादौ प्रत्येकं सप्तकालः निषिद्धेत्, एवं रजतं शुद्धिमायाति । स्वर्णादिसर्वलोहानामपि शोधने अयमेव क्रमः प्रशस्तः ॥ २९ ॥

अथ रौप्यस्य विशेषशीघ्रणम् ।—

नागेन टङ्कणेनैव वापितं शुद्धिमृच्छति ।

तारं त्रिवारं निक्षिप्तं तैले ज्योतिष्मतीभवे ॥ ३१ ॥

मतात्तरम् ।—

खर्परं भस्मचूर्णाभ्यां परितः पालिकां चरेत् ।

तत्र रूप्यं विनिक्षिप्य समसौप्तमन्वितम् ॥ ३२ ॥

जातमौप्त्ययं यावद्वमेत्तावत्पुनः पुनः ।

इत्थं संशोधितं रूप्यं योजनीयं रसादिषु ॥ ३३ ॥

अथ रौप्यमारणम् ।—

लकुचद्रवसूताभ्यां तारपत्रं प्रलेपयेत् ।

ऊर्द्धाधो गन्धकं दत्त्वा मूषामध्ये निरुध्य च ॥ ३४ ॥

स्वेदयेद्वालुकायन्त्रे दिनमेकं दृढाग्निना ।

स्वाङ्गशीताञ्च तां पिष्टिं सास्त्रतालेन मर्दिताम् ॥

पुटेद्वादशवाराणि भस्मीभवति रूप्यकम् ॥ ३५ ॥

अशीधितामतरौप्यस्य दोषमाह. आयुरिति ।—सुगमम् ॥ ३० ॥

रौप्यस्य विशेषशीघ्रणमाह. नागेनेति ।—वापितं कल्कीकृतं, पिष्टमित्यर्थः । तैले ज्योतिष्मतीभवे ज्योतिष्मती "लताफट्की" इति भाषा, तत्फलमश्नते तैले । कण्टकवेष्टार्हं रौप्यपत्रं समपरिमितमौप्त्यभस्मटङ्कणचूर्णाभ्यां सह विष्टा वारवयं ज्योतिष्मतीफलैस्तैले निक्षिपेत्, तेन शुद्धिं याति ॥ ३१ ॥

मतात्तरमाह. खर्परं इति ।—भस्मचूर्णाभ्यां मौप्त्यभस्मटङ्कणचूर्णाभ्याम् । पालिकाम् चालवालम् । अर्थाय विधिः—नागभस्मटङ्कणचूर्णं कलेर्पिष्टा तत्पिण्डेन खर्परं परितः चालवालं रक्षयित्वा तन्मध्ये सममौप्त्यचूर्णपिष्टरौप्यं निक्षिप्य तावत् भस्मया धमेत् यावत् मौप्त्ययं न भवेदिति ॥ ३२३३ ॥

मारणमाह. लकुचेति ।—सास्त्रतालेन सकाञ्जिकहरितालेन ; लकुचद्रवसूताभ्यां रौप्यपत्रं प्रलेप्य मूषामध्ये ऊर्द्धाधो गन्धकं दत्त्वा संस्थाप्य सृत्कर्पटादिना मन्विरोद्धं कृत्वा च पातये शोधयेत्, ततः दिनमेकं तीव्राग्निना वालुकायन्त्रे पचेत्, ततः स्वाङ्ग-शीतं तमुद्धृत्य भूयः काञ्जिकहरितालाभ्यां पेषयित्वा द्वादशवारं पुटेदिति ॥ ३४३५ ॥

मतान्तरम् ।—

माक्षीकचूर्णलुङ्गान्न-मर्दितं पुटितं शनैः ।

त्रिंशद्वारेण तत्तारं भस्मसाज्जायतेतराम् ॥ ३६ ॥

अथ रौप्यस्य निरुत्यभक्षीकरणम् ।—

भाय्यं ताप्यं सुहीक्षीरैस्तारपत्राणि लेपयेत् ।

मारयेत् पुटयोगेन निरुत्य जायते ध्रुवम् ॥ ३७ ॥

अथ निरुत्यभक्षीकरणे मतान्तरम् ।—

तारपत्रं चतुर्भागं भागैकं शुद्धतालकम् ।

मर्द्यं जम्बीरजद्रावैस्तारपत्राणि लेपयेत् ॥ ३८ ॥

शोषयेदन्धयन्त्रे च त्रिंशदुत्पलकैः पचेत् ।

चतुर्दशपुटैरेवं निरुत्य जायते ध्रुवम् ॥ ३९ ॥

अथ स्वर्णरौप्ययोर्द्रावणम् ।—

सप्तधा नरमूत्रेण भावयेद्देवदालिकाम् ।

तच्चूर्णावापमात्रेण द्रुतिः स्यात् स्वर्णतारयोः ॥ ४० ॥

मतान्तरमाह, माक्षीकेति ।—लुङ्गान्नः मातृलङ्गः ॥ ३६ ॥

रौप्यस्य निरुत्यभक्षप्रकारमाह, भाय्यमिति ।—ताप्यं स्वर्णमाक्षिकम् ; सुहीक्षीरैः सप्तधां स्वर्णमाक्षिकं भावयित्वा तेन रौप्यपत्रं प्रलिप्य यावन्मृतिं पटेत्, एवं रौप्यस्य निरुत्यं भक्ष्यं जायते ॥ ३७ ॥

निरुत्यभक्षीकरणे मतान्तरमाह, तारपत्रमिति ।—अन्धयन्त्रे अन्धमूषायाम् ; इदमेव वज्रमूषानाम्ना ख्याता इति केचित् । तल्लक्षणं यथा—“अन्धमूषा तु कर्णव्या गोलनाकारैश्चक्षिमा । सैवाच्छिद्वान्विता मध्ये गभीरा सारणीचिता ॥ द्वौ भागौ तृष- दन्धस्य एका वक्षीकस्थिका । लौहकिट्टय भागैकं श्वेतपाषाणभागिकम् ॥ नरकेशसमं किञ्चित् क्वागोक्षीरेण पेषयेत् । यामद्वयं दृढं मर्द्यं तेन मूषां सुमस्युटाम् ॥ शोषयित्वा रसं क्षिप्वा तत्कल्कैः सन्निरोधयेत् । वज्रमूषेयमाख्याता सम्यक् पारदसाधिका ॥” इत्यत्रिः । एतद्रूप्यान्नवज्रमूषावक्ष्ये चार्थे द्रष्टव्यम् । उत्पलकैः वज्रकरीषैः ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

स्वर्णरौप्ययोः द्रावणमाह, सप्तधेति ।—देवदालिका हलिघोषकः । तच्चूर्णावाप- मात्रेण नृमूत्रभाविताहलिघोषकमूलचूर्णप्रक्षेपमात्रेण ॥ ४० ॥

अथ रौप्यप्रयोगः ।—

भस्मीभूतं रजतममलं तत्समौ व्योमभान्
सर्वैस्तुल्यं त्रिकटु सवरं सारघ्राज्येन युक्तम् ।
लीढं प्रातः क्षपयतितरां यक्ष्मपाण्डूदरार्शः
श्वासं कासं नयनजरुजः पित्तरोगानशेषान् ॥ ४१ ॥
[इति रजताधिकारः] ।

अथ ताम्रम् ।—

अथ ताम्रस्य द्वैविध्यनिर्देशः ।—

स्नेच्छं नेपालकञ्चेति तयोर्नेपालमुत्तमम् ।
नेपालादन्यखन्युत्थं स्नेच्छमित्यभिधीयते ॥ ४२ ॥

अथ स्नेच्छताम्रस्य लक्षणम् ।—

सितकृष्णारुणच्छायमतिवामि कठोरकम् ।
क्षालितञ्च पुनः कृष्णमेतन्स्नेच्छकताम्रकम् ॥ ४३ ॥

अथ नेपालताम्रलक्षणम् ।—

सुस्निग्धं मृदुलं शोणं घनघातक्षमं गुरु ।
निर्विकारं गुणश्रेष्ठं ताम्रं नेपालमुच्यते ॥ ४४ ॥

रजतप्रयोगमाह, भस्मीभूतमिति ।—तत्समौ प्रत्येकं सूतरजतसमौ । व्योमभानू
मृताभताम्रे । सर्वैरिति ।—मिलितत्रिकटुत्रिफलाचूर्णे रजतादीनां मिलितचूर्णसमम् ।
सारघ्राज्येन क्षीट्टनेन । अस्य पञ्चौ यथा—रौप्यभस्म र २, अश्वभस्म र २,
ताम्रभस्म र २, त्रिकटु प्रः र १, त्रिफला प्रः र १, अतुल्यघृतमधुना लक्ष्मार्थं प्रातः
लेह्यम् ॥ ४१ ॥

ताम्रस्य द्वैविध्यं परिषयमाह, स्नेच्छमिति ।—नेपालकं नेपालदेशीयखनि-
समुत्थम् ॥ ४२ ॥

स्नेच्छताम्रस्य लक्षणमाह, सितेति ।—अतिवामि वसनातिशयकारकम् ॥ ४३ ॥

नेपालताम्रस्य लक्षणमाह, सुस्निग्धमिति ।—शोणं कृपाकसुनसङ्काशरक्तवर्णम् ।
घनघातक्षमं पुनः पुनराघातसहम् । निर्विकारम् अतिवासकादिदोषपरिशुष्यम्
इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

अथ रसकर्मणि रसलक्षणम् ।—

पाण्डुरं कृष्णशोणञ्च लघु स्फुटनसंयुतम् ।

रूक्षाङ्गं सदलं ताम्रं नेष्यते रसकर्मणि ॥ ४५ ॥

अथ ताम्रस्य गुणाः ।—

ताम्रं तिक्तकषायकञ्च मधुरं पाकेऽथ वीर्यीशकं

साम्बं पित्तकफापहं जठररुक्कृष्टामजन्वन्तकृत् ।

ऊर्द्धाधःपरिशोधनं विष-यकृत् स्थौल्यापहं क्षुत्करं

दुर्नामचयपाण्डुरोगशमनं नेत्रं परं लेखनम् ॥ ४६ ॥

अथाशोषितामारितताम्रस्य दोषाः ।—

अशुद्धं ताम्रमायुर्ध्नं कान्तिवीर्यबलापहम् ।

वान्तिमूर्च्छाभ्रमोत्क्लेदं न मृतं कुष्ठशूलकृत् ॥ ४७ ॥

उत्क्लेदभेदभ्रमदाहमोहास्ताम्रस्य दोषाः खलु दुर्हरास्ते ।

विशोधनात्तद्विगतस्वदोषं सुधाममं स्याद्रसवीर्यपाके ॥ ४८ ॥

अथ ताम्रशोधनम् ।—

ताम्रं चारास्त्रसंयुक्तं द्रावितं दत्तगैरिकम् ।

निक्षिप्तं महिषीतक्रे कृगणे सप्तवारकम् ॥

पञ्चदोषविनिर्मुक्तं सप्तवारेण जायते ॥ ४९ ॥

रसकर्मयोग्यताम्रलक्षणमाह, पाण्डुरमिति ।—कृष्णशोणं धूस्रवर्णम् । स्फुटन-
संयुतं विदीर्णप्रायम् । सदलं सपवं, पटलभंयुतमिति यावत् ; “दलं जीर इति लोके”
इति भावमिहः ॥ ४५ ॥

गुणमाह, ताम्रमिति ।—पाके मधुरमिति योज्यम् । जलुः क्षिप्तिः । ऊर्द्धाधः-
परिशोधनं वसनविरेचनकारकम् । लेखनं लेखनगुणविशिष्टम् ॥ ४६ ॥

अशुद्धताम्रस्य दोषमाह, अशुद्धमिति ।—उत्क्लेदम् उत्थापितवमनवेगम् । दुर्हराः
दुर्हराः ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

शोधनमाह, ताम्रमिति ।—चारास्त्रसंयुक्तं यवचार-काञ्जिकाद्यस्त्रमहितम् । कृगणे
करीषे । पञ्चदोषविनिर्मुक्तम् उत्क्लेदभेदभ्रमदाहमोहादोषशून्यम् । चारास्त्रमदितं ताम्रं
कृगणे द्रव्योक्त्य तत्र गैरिकचूर्णं दत्त्वा महिषीतक्रे निक्षिपेत्, एवं सप्तवारम् ॥ ४९ ॥

मतान्तरम् ।—

ताम्रनिर्मलपत्राणि लिप्ता निम्बुम्बुसिन्धुना ।
धात्वा सौवीरकक्षेपात् विशुध्यत्यष्टवारतः ॥ ५० ॥

मतान्तरम् ।—

निम्बुम्बुपटुलिप्तानि तापितान्यष्टवारकम् ।
विशुध्यन्त्यर्कपत्राणि निर्गुण्ड्या रसमज्जनात् ॥ ५१ ॥

मतान्तरम् ।—

गोमूत्रेण पचेद्यामं ताम्रपत्रं दृढाग्निना ।
शुध्यते नात्र सन्देहो मारणञ्चाप्यथोच्यते ॥ ५२ ॥

अथ तासमारणम् ।—

जम्बीर-रससम्पिष्ट-रसगन्धकलीपितम् ।
शुल्वपत्रं शरावस्थं त्रिपुटैर्याति पञ्चताम् ॥ ५३ ॥

अथ रसरत्नाकरोक्ताशुतीकरणम् ।—

अथवा मारितं ताम्रमस्त्रेनैकेन मर्दितम् ।
तद्गोलं शूरणस्यान्ता-रुद्धा सर्वत्र लेपयेत् ॥ ५४ ॥
शुष्कं गजपुटे पञ्चात् सर्वदोषहरं भवेत् ।
वान्तिं भ्रान्तिं विरेकञ्च न करोति कदाचन ॥ ५५ ॥

मतान्तरमाह, ताम्रेति ।—निम्बुम्बुसिन्धुना जम्बीररस-सैन्धवलवणेन । सौवीरक-
क्षेपात् निस्तुषयवक्तृकाञ्चिके निक्षेपात् ॥ ५० ॥

मतान्तरमाह, निम्बुति ।—निम्बुम्बु इत्यादौ पटुः सैन्धवलवणम् । निर्गुण्ड्याः
सिन्दुवारस्य । जम्बीररसमिश्रसैन्धवलवणेन तासपत्राणि लिप्ता अथो प्रताप्य
निर्गुण्डीरसे निक्षिपेत्, एवमष्टवारान् ॥ ५१ ॥

मतान्तरमाह, गोमूत्रेणेति ।—सुगमम् ॥ ५२ ॥

मारणमाह, जम्बीरेति ।—जम्बीररसपिष्टकज्जल्या तासपत्रौ लिप्ता शराव-
सम्पुटे बद्धा पुटद्वयं देयं, तेन तासं भक्षीभवति ॥ ५३ ॥

रसरत्नाकरोक्ताशुतीकरणमाह, अथवेति ।—अथवा-शब्दोऽत्र तद्गुण्योक्तप्रक्रिया-

अथ मारणान्तरम् ।—

ताम्रपत्राणि सूक्ष्माणि गोमूत्रे पञ्चयामकम् ।

क्षिप्वा रसेन भाण्डे तद्विगुणं देहि गन्धकम् ॥ ५६ ॥

अन्नपर्णीं प्रपिथ्याथ ह्यभितो देहि ताम्रकम् ।

सम्यङ्निद्रुध्य भाण्डे तमग्निं ज्वालय यामकम् ॥

भस्मीभवति ताम्रं तदयथेष्टं विनियोजयेत् ॥ ५७ ॥

अथ सोमनाथोक्तताम्रप्रयोगः ।—

शुल्वतुल्येन सूतेन बलिना तत्समेन च ।

तदर्द्धांशेन तालेन शिलया च तदर्द्धया ॥ ५८ ॥

विधाय कज्जलीं श्लक्ष्णां भिन्नकज्जलसन्निभाम् ।

यन्त्राध्यायविनिर्दिष्ट-गर्भयन्त्रोदरान्तरे ॥ ५९ ॥

कज्जलीं ताम्रपत्राणि पर्यायेण विनिक्षिपेत् ।

प्रपचेद्यामपर्यन्तं स्वाङ्गशोतं विचूर्णयेत् ॥ ६० ॥

तत्तद्रोगहरानुपानसहितं ताम्रं द्विवल्लोन्मितं

संलौढं परिणामशूलमुदरं शूलञ्च पाण्डुज्वरम् ।

गुल्मघ्नोदयकृत् क्षयाग्निसदनं मेहञ्च मूलाभयं

दुष्टाञ्च ग्रहणीं हरेद्भ्रुवमिदं तत् सोमनाथाभिधम् ॥ ६१ ॥

नरापेक्षया बोध्यः । सूतताम्रं येन केनापि एकेनास्त्रेण मर्दयित्वा पिष्टं कुर्यात्, ततः शूरणकन्दगर्भे तत् पिष्टं सप्ताप्य मुखं बद्धा मूत्रपेटादिना लिपयेत्, शुष्के गजपटो दंयः ॥ ५४।५५ ॥

मारणान्तरमाह, ताम्रपत्राणीति ।—अन्नपर्णीं चाङ्गेरी । कण्टकवेध्यामपत्रं गोमूत्रे क्षिप्वा पञ्चशर्मं व्यापयेत्, तत उद्धृत्य श्लेष्मे समानपारदेन सहितं ताम्रविगुणं गन्धकं दत्त्वा सम्यग्यं चाङ्गेरीकलकेन तत् सरसगन्धकं ताम्रपत्रं लिपयेत्, ततो भाण्डमध्ये श्लस्यक् निद्रुध्य यामं यावत् ज्वाला देया, तेन भस्मीभवति ॥ ५६।५७ ॥

सोमनाथोक्तताम्रप्रयोगमाह, शुल्वेति ।—शुल्वं ताम्रम् । बलिना तत्समेन पारद-तुल्येन गन्धकेन । तदिति ।—नव्यकारेण हरितालेन हरितालाङ्गेन मनःशिलाचूर्णेन क्षेत्यर्थः । यस्मेति ।—“गर्भयन्त्रं प्रवक्ष्यामि पिष्टकामककारकम्” इत्यादिना

अथ यन्त्रालोक्तताम्रप्रयोगः ।—

सूताद्विगुणितं ताम्र-पत्रं कन्यारसैः भुतम् ।
 पिष्ट्वा तुल्येन बलिना भाण्डमध्ये विनिक्षिपेत् ॥ ६२ ॥
 क्लृप्तं शरावकेणैतत्तदूर्ध्वं लवणं त्यजेत् ।
 मुखे शरावकं दत्त्वा वज्रं यामचतुष्टयम् ॥ ६३ ॥
 अवचूर्ण्यैव तच्छूर्ण्यं वल्लमात्रं प्रयोजयेत् ।
 पिप्पलीमधुना सार्द्धं सर्वरोगेषु योजयेत् ॥ ६४ ॥
 श्वार्सं कासं क्षयं पाण्डुमग्निमान्द्यमरोचकम् ।
 गुल्मप्लोहयकृन्मूर्का-शूलपक्त्यर्थमुत्तमम् ॥ ६५ ॥
 दोषत्रयसमृद्धूतानामयान् जयति भ्रुवम् ।
 रोगान्पानसहितं जयेद्वातुगतं ज्वरम् ॥
 रसे रसायनं चैव योजयेद्युक्तमात्रया ॥ ६६ ॥

[इति ताम्राधिकारः] ।

अथायः ।—

अथाथोभेदाः ।—

मुखं तीक्ष्णञ्च कान्तञ्च त्रिप्रकारमयः स्मृतम् ॥ ६७ ॥

वक्ष्यमाणदशभाष्याशोक्तगर्भयन्त्रमध्ये । आदौ यथार्थानर्दणं कज्जलीं कियत्परिमाणं
 मूषायां संस्थाप्य तदपरि ताक्षपर्वौ तदुपरि पुनः कज्जलीं तदुपरि ताम्रपत्रीं ततः
 कज्जलीमिदंक्रमेण संस्थाप्य यामं यावत् गर्भयन्त्रे पचेत्, स्वाङ्गशीतं यदा
 भवेत् तदा विचूर्ण्यं प्छापयेत् । तत्तदिति ।—यस्मिन् यस्मिन् रोगे ताम्रं प्रयोज्यं,
 तत्तदोषनाशकान्पानसहितम् । सोमनाथाभिधं सोमनाथशोक्तत्वात् सोम-
 नाथाहम् ॥ ५८—६१ ॥

यन्त्रालोक्तताम्रप्रयोगमाह, सूतादिति ।—पारदापेक्षया द्विगुणं ताम्रपत्रं
 घृतकुमारीरसेनाप्लाव्य तेनैव पिष्ट्वा भाण्डमध्ये संस्थाप्य च ताम्रतुल्यगन्धकमूर्धाघौ दत्त्वा
 स्वयंशरावकेण पिष्ट्वा लवणोद्धै पूरयेत्, ततो भाण्डमुखं शरावातरेणाच्छाद्य
 यामचतुष्टयं वज्रिना पचेत् ॥ ६२—६६ ॥

लोहस्य भेदानाह, मुखमिति ।—मुखं क्षबिलौहम् । तीक्ष्णं ककिलौहम्,
 'इध्यात्' इति भाषा । कान्तम् अथक्कान्तं, कान्तलोहमिति यावत् ॥ ६७ ॥

अथ मुण्डलौहस्य त्रैविध्यम् ।—

मृदु कुण्ठं कडारञ्च त्रिविधं मुण्डमुच्यते ॥ ६८ ॥

अथ मृदुमुण्डलक्षणम् ।—

द्रुतद्रावमविस्फोटं चिक्रणं मृदु तच्छुभम् ॥ ६९ ॥

अथ कुण्ठमुण्डलक्षणम् ।—

हतं यत् प्रसरद्दृष्ट्वात्तत् कुण्ठं मध्यमं स्मृतम् ॥ ७० ॥

अथ कडारमुण्डलक्षणम् ।—

यद्वतं भज्यते भङ्गे कणां स्यात्तत् कडारकम् ॥ ७१ ॥

अथ मुण्डगुणाः ।—

मुण्डं परं मृदुलकं कफवातशूल-

मूलांममेहगद-कामलपाण्डुहारि ।

गुल्मामवातजठराग्निहरं प्रटौपि

शोफापहं रुधिरक्तं खलु कोष्ठशोधि ॥ ७२ ॥

अथ अशुद्धलौहस्य दोषाः ।—

अशुद्धलोहं न हितं निषेवणा-

दायुर्बलं कान्तिविनाशि निश्चितम् ।

तत्रादौ मुण्डलौहस्य भेदमाह, मृद्विति ।—कडारमित्यत्र कुठारमिति पाठान्तरम् ॥ ६८ ॥

मुण्डभेदस्य मृदुनी लक्षणमाह, द्रुतेति ।—द्रुतद्रावम् अग्नौ शीघ्रद्रवणशोणम् । पविस्फोटं विस्फोटाकृति-गण्डादिशून्यगावम् ; यद्वा—स्फुटनादिरहितम्, अभङ्गुर-मिति यावत् । चिक्रणं श्लक्ष्णम् ॥ ६९ ॥

कुण्ठस्य लक्षणमाह, हतमिति ।—परीकरणार्थम् अग्नौ दग्ध्वा आघातितमपि क्रक्कणं विस्तारं गच्छति । मध्यमं मध्यगुणविशिष्टम् ॥ ७० ॥

कडारस्य लक्षणमाह, यद्वतमिति ।—पूर्ववत् आघातितं सत् अल्पेनैव भग्नतां याति । सद्रुक्कुण्ठयोश्चतुर्धनमध्यमलोक्त्या अनुक्तमपि एतस्य अधमत्वमर्थादेव व्यज्यते । कडारक-मित्यत्रापि कुठारकमिति पाठान्तरम् ॥ ७१ ॥

मुण्डलौहस्य गुणमाह, मुण्डमिति ।—परं मृदुलकम् अत्यर्थं मृदु, तीक्ष्ण-कालापेक्षया चीनगुणमित्यर्थः ॥ ७२ ॥

हृदि प्रपीडां तनुते ह्यपाटवं

कृजं करोत्येव विशोध्य मारयेत् ॥ ७३ ॥

अथ तीक्ष्णलोहस्य षड्विधत्वम् ।—

खरं सारश्च हृन्नालं तारावट्टश्च वाजिरम् ।

काललोहाभिधानश्च षड्विधं तीक्ष्णमुच्यते ॥ ७४ ॥

अथ खरतीक्ष्णलक्षणम् ।—

परुषं पोगरोन्मुक्तं भङ्गे पारदवच्छवि ।

नमने भङ्गुरं यत्तत् खरलोहमुदाहृतम् ॥ ७५ ॥

अथ सपर्याय-पोगरलक्षणम् ।—

अङ्गक्षया च वङ्गश्च पोगरस्याभिधातव्यम् ।

चिकुरं भङ्गुरं लोहात् पोगरं तत् परं मतम् ॥ ७६ ॥

अथ सारतीक्ष्णलक्षणम् ।—

वेगभङ्गुरधारं यत् सारलोहं तदीरितम् ।

पोगराभासकं पाण्डुभूमिजं सारमीरितम् ॥ ७७ ॥

अशुभलोहस्य दाघमाह, अशुभेति ।—सुगमम् ॥ ७३ ॥

तीक्ष्णलोहस्य भेदानाह, खरमिति ।—सुगमम् ॥ ७४ ॥

तीक्ष्णभेदखरस्य लक्षणमाह, परुषमिति ।—पोगरं कुक्षितालकवत् तरङ्गायितं तेन उन्मुक्तं तद्रहितमित्यर्थः ॥ ७५ ॥

खरलक्षणं “पोगरोन्मुक्तम्” इत्युक्तम्, अतः पोगरस्य पर्यायादिकमाह, अङ्ग-
क्षयेति ।—विलम्बाच्च पोगरमपेत्य बीज्यं, तेन अङ्गक्षया वङ्गं पोगरश्च इत्युक्तार्थम् ।
पोगरस्य खरपलक्षणमाह, चिकुरमिति ।—लोहात् लौहभासे इत्यर्थः । अथ
सप्तम्यर्थं पञ्चमौति बोद्धव्यम् ; यत् चिकुरं भङ्गुरं कुक्षितकुल्लवङ्गङ्गीविशेषः
इत्यर्थः ॥ ७६ ॥

सारस्य लक्षणमाह, वेगभङ्गुरधारमिति ।—वेगभङ्गुरधारं वेगेन जवेन प्रवला-
जातेन भङ्गुरा भयप्रवणा धारा यस्य तादृशम्, अत्यर्थाघातेनैव भङ्गुरधारं, न त्वस्या-
जातेनेत्यर्थः ; “वेगभं गुरुधारम्” इति पाठे—वेगेन किम्पाकेन अत्योत्तापेनेत्यर्थः,
किम्पाके वेगशब्दलिपु व्युतः” इति ज्ञानवत्प्रज्ञात् ; भा दीप्तिः

अथ ह्यत्रास्तोत्रसूत्रस्य नाम ।—

कृशापाण्डवपुंसश्च वीजतुल्योरु-पोगरम् ।

छेदने चातिपरुषं हृन्नालमिति कथ्यते ॥ ७८ ॥

अथ बाजिरतौष्ण्यलक्षणां ।—

पोगरेर्वज्रमङ्गाशैः सूक्ष्मरेखैश्च मान्द्रकैः ।

निचितं श्यामलाङ्गश्च वाजिरं तत् प्रकीर्त्यते ॥ ७९ ॥

अथ कान्तलोहाख्यतीक्ष्णलक्षणम् ।—

नौलक्षणप्रभं सान्द्रं मष्टणं गुरु भासुरम् ।

लोहघातेऽप्यभङ्गात्मधारं कालायसं मतम् ॥ ८० ॥

अथ खरतीक्ष्णगुणाः ।—

रूक्षं स्यात् खरलोहकं समधुरं पाकेऽथ वीर्यं हिमं

तिक्ताणं कफपित्तकुष्ठजठर-प्लोहामपाण्डुर्त्तिनुत् ।

सद्यः शूलयक्तदक्षयजरा मेहामवातापहं

दौषञ्चातिरसायनं बलकरं दुर्नामदाहापहम् ॥ ८१ ॥

चौज्वल्यमित्यर्थः, यस्य तादृशम्, अत्यासपिनेव प्रभासपद्ममित्यर्थः; वेगा वेगिनौ
अत्यर्था भा प्रभा यस्य तादृशमित्यर्थो वा, तथा गुरुधारं स्खलुधारमित्यर्थः। पोगरा-
भासकं तरङ्गितकुललच्छायम्। पाखुभूमिजं पाखुवर्णसत्तिकाविशिष्टदेश-
जातम् ॥ ७७ ॥

इन्द्रात्म्यं तद्वत्तमाह, कथेति ।—कृष्णपाशुवपुः कृष्णपाशुमिववर्णमित्यर्थः ।
चक्षिति ।—एरुक्षवीजतुल्यं प्रत्यक्षापीगच्छ । छेदने भक्षे इत्यर्थः ॥ ७८ ॥

वाजिरस्य खचणमाह, पीगरेरिति ।—हीरकवत कठिनैरङ्गुलैर्वा तथा
मूजरेखाभिः घनसन्निविष्टैश्च पीगरेः व्याप्तं यन्मामदेहश्च वाजिराण्यतीक्ष्णलोहं श्रेयम्
इत्यर्थः ॥ ७८ ॥

कालखोदकचक्रमाह, नीलिति ।—मान्द्रं स्त्रुमन्त्र्यः । खोदिति ।—खोदान-
रिष बाधाते कृतेऽपि यमकरधारिणिष्टम् ॥ ८० ॥

तीक्ष्णोद्भेदस्य खरलोहस्य गुणमाह, दधिमिति ।—सुयमम् ४५६-४५७

अथ सारतीक्ष्णादीनां पञ्चानां गुणः ।—

खरलोहात् परं सर्वमेकैकस्माच्छतोत्तरम् ॥ ८२ ॥

अथ कान्तलौहस्य पञ्चविधत्वम् ।—

भ्रामकं चुम्बकञ्चैव कर्षकं द्रावकं तथा ।

एवं चतुर्विधं कान्तं रोमकान्तञ्च पञ्चमम् ॥ ८३ ॥

अथ पञ्चविधस्य कान्तस्य भेदान्तरनिर्देशः ।—

एक-द्वि-त्रि-चतुष्पञ्च-सर्वतोमुखमेव तत् ।

पीतं कृष्णं तथा रक्तं त्रिवर्णं स्यात् पृथक् पृथक् ॥

क्रमेण देवतास्तत्र ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥ ८४ ॥

अथ वर्णभेदेन कान्तस्य कार्यभेदनिर्देशः ।—

स्पर्शवेधि भवेत् पीतं कृष्णं श्रेष्ठं रमायने ।

रक्तवर्णं तथा चापि रसबन्धे प्रशस्यते ॥ ८५ ॥

सारादीनां गुणमाह, खरलोहादिति ।—सारादिलौहं खरलोहादुत्तरोत्तरशत
गुणाधिकमित्यर्थः ॥ ८२ ॥

कान्तलौहस्य भेदानाह, भ्रामकमिति ।—सुगमम् । राजनिघण्टौ—“स्याद्भ्रामकं
तदन चुम्बकरोमकाख्यं स्याच्छेदकाख्यमिति तच्च चतुर्विधं स्यात्” इत्यनेन यदस्य
चातुर्विध्यमुक्तं तत चुम्बककर्षकयोः प्रायस्तुल्यगुणत्वेनाभेदं विगणय्य एकत्वेन
गणनादिति मन्तव्यम् । किञ्च द्रावकच्छेदकयोरपि तुल्यार्थत्वात् तदीकृतं छेदकमेव अत्र
द्रावकं ज्ञेयम् ॥ ८३ ॥

पञ्चविधानां तेषां भेदान्तरमाह, एकैति ।—किञ्चित् एकमुखं किञ्चित्
द्विमुखमित्यादि । अथवा सर्वतोमुखी प्रतिभा इतिवत् एकमुखादिशब्देन एकांश-
द्विविधत्रिविधादिकाख्यं उपयुक्तम् ; यतः अग्रे वक्ष्यति “कनिष्ठं स्यादेकमुखम्”
इत्यादि । क्रमेणेति ।—पीतादिवर्णवति कान्तलौहे यथाक्रमं ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः
अभिप्रातदेवताः ज्ञेयाः ॥ ८४ ॥

वर्णभेदेन कार्यभेदमाह, स्पर्शवेधीति ।—स्पर्शवेधि स्पर्शमात्रेणैव वेधकारकं
रमेन्द्रस्य वेधाख्यमंस्तारसम्पादकं वा इत्यर्थः । “स्पर्शवेधे” इति पाठे—स्पर्शज्ञान-
जनने, सुप्तिनाशार्थमित्यर्थः । रसबन्धे रसस्य निगडौकरणार्थम् ॥ ८५ ॥

अथ भ्रामकादीनामधममध्यमत्वादिनिर्देशः ।—

भ्रामकान्तु कनिष्ठं स्याच्चुम्बकं मध्यमं तथा ।

उत्तमं कर्षकञ्चैव द्रावकञ्चोत्तमोत्तमम् ॥ ८६ ॥

अथ भ्रामककान्तलक्षणम् ।—

भ्रामयेत्क्षोहजातन्तु तत् कान्तं भ्रामकं मतम् ॥ ८७ ॥

अथ चुम्बक-कर्षककान्तद्वयलक्षणम् ।—

चुम्बयेच्चुम्बकं कान्तं कर्षयेत् कर्षकं तथा ॥ ८८ ॥

अथ द्रावककान्तलक्षणम् ।—

साक्षात् यत् द्रावयेत्क्षोहं तत् कान्तं द्रावकं भवेत् ॥ ८९ ॥

अथ रोमकान्त-कान्तलक्षणम् ।—

तत् रोमकान्तं स्फुटितात् यतो रोमोद्गमो भवेत् ॥ ९० ॥

अथ एकादिमुखभेदेन कान्तस्याधममध्यमत्वादिनिर्देशः ।—

कनिष्ठं स्यादेकमुखं मध्यं द्वित्रिमुखं भवेत् ।

चतुर्ष्वङ्गमुखं श्रेष्ठमुत्तमं सर्वतोमुखम् ॥ ९१ ॥

कान्तलोहभेदभ्रामकादीनामधममध्यमत्वादिकं निर्दिशति, भ्रामकमिति ।—

सुगमम् ॥ ८६ ॥

भ्रामकस्य लक्षणमाह, भ्रामयेदिति ।—यत् कान्तलोहं सन्निकर्षवशात् लोहान्तर-
समूहं विघूर्णयेत् तत् भ्रामकाख्यं ज्ञेयम् ॥ ८७ ॥

चुम्बककर्षकयोर्लक्षणे आह, चुम्बयेदिति ।—यत् सन्निकर्षवशात् लोहान्तरम्
आश्लिष्यति तत् चुम्बकम् ; यच्च लोहान्तरम् आकृष्य स्वान्तिकमानयति तत्
कर्षकमिति ॥ ८८ ॥

अथ द्रावकस्य लक्षणमाह, साक्षादिति ।—यत् लोहान्तरं द्रवीकरोति तत्
द्रावकाख्यं ज्ञेयम् ॥ ८९ ॥

रोमकान्त-कान्तलक्षणमाह, तदिति ।—यच्च भग्रे विदीर्ष्य वा उद्भिन्नपुच्छकवत्
स्फुटितमात्रं दृश्यते, तत् रोमकान्तं बोध्यम् ॥ ९० ॥

एकमुखत्वादिभेदेन तेषामपकर्षतामुत्कर्षतांश्चाह, कनिष्ठमिति ।—प्राक्
भ्रामकस्य कनिष्ठत्वमुक्तम्, अतः तु एकमुखस्य कनिष्ठलोते; भ्रामकमेव एकमुखं

अथ भ्रामकादीनां कार्यनिर्देशः ।—

भ्रामकं चुम्बकश्चैव व्याधिनाशे प्रशस्यते ।

रसे रसायने चैव कर्षकं द्रावकं द्वितम् ॥ ८२ ॥

अथ रसकर्मणि कान्तस्य विविधोपयोगिता ।—

मदीन्यत्तगजः सूतः कान्तमङ्कुशमुच्यते ॥ ८३ ॥

अथ कान्तस्य याज्ञवल्क्यनिर्देशः ।—

क्षेत्रं ज्ञात्वा ग्रहीतव्यं तत् प्रयत्नेन धीमता ।

मारुताऽऽतपविक्षिप्तं वर्जयेन्नात्र संशयः ॥ ८४ ॥

अथ कान्तलौहलक्षणम् ।—

पात्रे यस्य प्रसरति जले तैलविन्दुर्न लिप्तो

द्विङ्गुर्गन्धं विसृजति तथा तिक्ततां निम्बकल्कः ।

पाके दुग्धं भवति शिखराकारकं नैति भूमौ

कान्तं लौहं तदिदमुदितं लक्षणोक्तं न चान्यत् ॥ ८५ ॥

अथ कान्तलौहगुणाः ।—

कान्तायोऽतिरसायनोत्तरतरं स्वस्थे चिरायुःप्रदं

स्निग्धं मेहहरं त्रिदोषशमनं शूलाममूलापहम् ।

कनिष्ठं ज्ञेयम् ; एवं चुम्बकादीनामपि । उत्तमं सर्वतोमुखमित्यत्र उत्तम-शब्देन उत्तमोत्तमं याज्ञम् ॥ ८१ ॥

क्रियाविशिष्टे भ्रामकादीन्मुपयोगितामाह, भ्रामकमिति ।—सुगमम् ॥ ८२ ॥

रसबन्धनादिषु कान्तलौहस्योपयोगितां प्रदर्शयति, मदीन्यत्तेति ।—अङ्कुशताडनेन यथा गजो बन्धोभवति तथा कान्तलौहसंयोगेन रसो बन्धो भवति इत्यर्थः ॥ ८३ ॥

कौटशल्यानस्थं कान्तलौहं याज्ञं वर्ज्यं वा तदाह, चेवमिति ।—मारुतातप-विक्षिप्तं, चेवमिति शेषः ॥ ८४ ॥

कान्तलौहस्य लक्षणमाह, पात्रे इति ।—यस्य पात्रे जले यन्निर्मितपात्रस्थे जले, न प्रसरति न विसृमरी भवति, इदं हि तैलधर्मं यत्—जले निक्षेपमात्रेणैव तत् प्रसृतं भवति, किन्तु कान्तपात्रस्थे जले निक्षिप्तं तत् स्थिरमेव तिष्ठतीत्यर्थः । लिप्त इत्यस्य द्विङ्गुरित्यनेनान्वयः, तत्पात्रे लिप्तो द्विङ्गुः निजगन्धं त्यजतीत्यर्थः ॥ ८५ ॥

गुल्मप्लीहयकृत-क्षयामयहरं पाण्डूदरव्याधिनृत्
तिक्तोष्णं हिमवीर्यकं किमपरं योगेन सर्वार्त्तिनृत् ॥ ८६ ॥

अथ लौहस्य शोधनमारणयोरावश्यकता ।—

सम्यगौषधकल्पानां लौहकल्पः प्रशस्यते ।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन शुद्धलोहं विमारयेत् ॥ ८७ ॥

अथ मारणार्थं लौहस्य परिमाणनिर्देशः ।—

नायः पचेत् पञ्चपलाटर्वागृह्यं त्रयोदशात् ॥ ८८ ॥

अथ लौहमारणे मन्त्रम् ।

आदौ मन्त्रस्ततः कर्म कर्त्तव्यं मन्त्र उच्यते ॥ ८९ ॥

“ओम् अमृतोद्भवाय स्वाहा ।”

अनेन मन्त्रेण लौहमारणम् ।

गुणमाह, कान्ताय इति ।—अतिरसायनोत्तरतरं रसायने अतिश्रेष्ठतरमित्यर्थः ।
स्वस्थे इति ।—व्याधिविवर्जितेन देहना सेवितं सत् दीर्घायुष्यदं भवति । “स्वस्थे”
इत्यत्र “स्वच्छम्” इति पाठे—स्वच्छं मलादिरहितं दीर्घायुमित्यर्थः ॥ ८६ ॥

लौहानां शोधनमारणयोरावश्यकतामाह, सम्यगिति ।—औषधकल्पानाम्
औषधान्तरकल्पनानां मध्ये सम्यक् यथाविधि लौहकल्पः लौहकल्पना लौहप्रयोग इति
यावत्, प्रशस्यते ; यद्वा—औषधकल्पानां विफलाकल्प-शाल्यलीकल्पप्रभृतीनां मध्य
लौहकल्प एव प्रशस्तः ॥ ८७ ॥

मारणार्थं पाण्डूलौहस्य परिमाणमाह, नाय इति ।—पञ्चपलात अर्वाक्
विंशतिकर्षात् न्यूनमित्यर्थः । ऊर्ध्वं त्रयोदशात् त्रयोदशपलातिरिक्तमित्यर्थः ॥ ८८ ॥

मारणार्थं लौहे मन्त्रेषामभिमन्त्रणस्यावश्यकतामाह, आदाविति ।—कर्म मारण-
कर्मैत्यर्थः । “ओम् अमृतोद्भवाय स्वाहा” इति मन्त्रं पठित्वा सम्प्रदायं पश्चात् पुटो देयः ।
रसरत्नाकरे तु—“ओम् अमृतोद्भवाय स्वाहा” इति पाठो दृश्यते । तत्र चास्य
बलिदानमन्त्रोऽप्युक्तः, तदयथा—“ओम् अमृतोद्भवाय हूं फट् स्वाहा । ओं नमः शि-
व्यपायवे महायन्त्रासनाधिपतये सुखं सुखं स्वाहा यक्षविद्याबलाय स्वाहा” इति ।
तस्मान्तरे चास्य “शाश्विघर्षणम् उद्धर्षणम् अस्त्रभावनम् आतपशोषः निषेकः मारणं
दहनं चालनं सूर्यपाकः खालीपाकः चूर्णनं पुटपाकः पाकनिष्पत्तिश्च” इति
त्रयोदशविधः संस्कार उक्तः ॥ ८९ ॥

अथ लौहजगामुत्तरीत्तरगुणाधिक्यम् ।—

लक्षोत्तरगुणं सर्वं लोहं स्यादुत्तरोत्तरम् ।

कान्तं कोटिगुणं तत्र तदप्येवं गुणोत्तरम् ॥ १०० ॥

अथ सर्वलौहानां सामान्यशोधनम् ।—

शश-क्षतजमंलिप्तं त्रिवारं परितापितम् ।

मुण्डादि सकलं लोहं सर्वदोषान् विमुञ्चति ॥ १०१ ॥

अथ लौहानां गिरिजदोषशोधनम् ।—

क्वाथ्यमष्टगुणे तोये त्रिफला-षोडशं पलम् ।

तत्क्वाथे पादशेषे तु लोहस्य पलपञ्चकम् ॥ १०२ ॥

कृत्वा पत्राणि तप्तानि मस्रवारं निषेचयेत् ।

एवं प्रलीयते दोषो गिरिजो लोहसम्भवः ॥ १०३ ॥

लौहानामुत्तरीत्तरगुणाधिक्यमाह, लक्षोत्तरगुणमिति ।—मुण्डादिसर्वप्रकारलोह-
मुत्तरीत्तरं लक्षगुणाधिकं, तत्र च कान्तलोहं कोटिगुणं श्रेष्ठं, तदपि कोटिगुणमपि
तत्र कान्तम् एवं पूर्वोक्तविधानेन आदौ मन्त्रेणाभिर्नान्तं पश्चात् शोधनार्थकर्मणा
संस्कृतं सत कोटिगुणादपि अधिकगुणवत् भवेत् । रसरत्नाकरेऽपि उक्तं—“किंहात्
शतगुणं मुण्ड मुण्डान् तौल्यं शताधिकम् । तौल्याल्लक्षगुणं कान्तं भक्षणात् कुरुते
गुणम् ॥ तस्मात् कान्तं मदा सेव्यं जलामृत्युद्वयं परम् ॥” इति । यत् रसेन्द्रविनामणौ
“सामान्यात् द्विगुणं क्रीडं कालिञ्जोऽष्टगुणस्ततः । कल्लेदंशगुणं (शतगुणं)
भट्टं भट्टात् वज्रं सहस्रधा ॥ वज्रात् शतगुणं पाण्डि निरङ्गं दशभिर्गुणैः । तस्मात्
सहस्रगुणस्तमयः कान्त गुणाधिकम् ॥” (ततः कोटिसहस्रैर्वा कान्तलोहं महा-
गुणम् ॥) इत्यनेन क्रीड-कालिङ्ग-कलि-भट्ट-वज्र-पाण्डि-निरङ्ग-कान्तभेदेन लौहस्य
अष्टविधत्वमुक्तं तत्तु मुण्डादीनां प्रकारभेदस्यैव समाधिः, लौहजातीयानां
बहुधात्वात् । अथ तु प्रयोगवाङ्मयदर्शनात् गुणाधिकत्वाच्च मुण्डादिविष-
येषोक्तम् इति ॥ १०० ॥

सर्वलौहानां सामान्यशोधनमाह, शशेति ।—शशरक्तेन लोहपदम् आलिप्य
वारत्रयम् अग्नौ सत्तापयेत् ॥ १०१ ॥

सर्वलौहानां गिरिजदोषशोधनमाह, क्वाथ्यमिति ।—अष्टगुणे तोये इति त्रिफला-
षोडशपलापेक्षया बोध्यम् । गिरिजो दोषः अस्मदोषः ; यदुक्तं भावप्रकाशे धात्वादि-

मतान्तरम् ।—

सामुद्रलवणोपेतं तप्तं निर्वापितं खलु ।

त्रिफलाक्वथितं नूनं गिरिदोषमयस्यजेत् ॥ १०४ ॥

मतान्तरम् ।—

चिञ्चाफल-जलक्वाथादयो दोषमुदस्यति ॥ १०५ ॥

मतान्तरे शोधनं मारणञ्च ।—

यद्वा फलत्रयोपेतं गाम्मूत्रे क्वथितं क्षणम् ।

रेचितं घृतसंयुक्तं क्षिप्त्वाऽयः खर्परे पचेत् ॥ १०६ ॥

चानयेज्जोहदण्डेन यावत् क्षिप्तं दृढं दहेत् ।

पिष्ट्वा पिष्ट्वा पचेदेवं पञ्चवारमतः परम् ॥ १०७ ॥

धात्रीफलरसैर्यद्वा त्रिफलाक्वथितोदकैः ।

पुटेज्जोहं चतुर्वारं भवेद्धारितरं खलु ॥ १०८ ॥

वर्गे—“गुरुता दृढतात्क्लेशः कश्मलं दाहकारिता । अग्निदोषः सुदुर्गन्धी दोषाः सप्तमस्य तु ॥” इति ॥ १०२।१०३ ॥

मतान्तरमाह, सामुद्रेति ।—सामुद्रलवणं “करकच” इति ख्यातम् । सामुद्र-
लवणं जलेन गोलयित्वा तेन लौहपत्रम् आलिप्य तप्तं कृत्वा च त्रिफलाक्वाथे समधा-
निर्वापयेत् इति ॥ १०४ ॥

मतान्तरमाह, चिञ्चेति ।—चिञ्चाफलं तिलिङ्गीफलं जलं बालकं तथो-
क्वाथात् क्वाथे निक्षेपात् इति हेत्वर्थे पञ्चमी ल्यब्लोपे पञ्चमी वा, क्वाथे निक्षेप-
प्राप्य इत्यर्थः ; यद्वा—चिञ्चा तिलिङ्गी, फलं त्रिफला । “जल” इत्यत्र “दल”
इति पाठे—दलं तेजपत्रम् ॥ १०५ ॥

मतान्तरे शोधनं तथा मारणञ्चाह, यदेति ।—रेचितं स्थावितम् । पूर्वोक्तकम-
भनस्य षोडशपत्रत्रिफलासंयुक्तं पञ्चमल्लौहचूर्णम् अष्टगुणे गोमूत्रे निःक्राप्य
अर्द्धावशेषं विस्त्राय समष्टेन पिष्ट्वा खर्परे लौहद्वयां विचष्टयन् तावत् पचेत्
यावत् लौहोपरि क्षिप्तं दृढं न भङ्गीभवेत् ; एवं पञ्चवारं कार्यं, ततः
आमलकीखरसेन त्रिफलाक्वाथेन वा पिष्ट्वा पिष्ट्वा चतुष्टी देयः, तेन वारितरं भक्ष-
यति ॥ १०६—१०८ ॥

मतान्तरे मारणम् ।—

खेडाक्तं लोहरजो मूत्रे स्वरसेऽपि रात्रिधात्रीणाम् ।
पृथगेवं सप्तकृत्वो भर्जितमन्त्रिणामये योज्यम् ॥ १०६ ॥

अथ तीक्ष्णलोहस्य मारणम् ।—

तीक्ष्णलोहस्य पत्राणि निर्दलानि दृढेऽनले ।
धात्वा त्रिपेज्जले सद्यः पाषाणोलूखनोदरे ॥ ११० ॥
कण्डयेद्वदनिर्घातैः स्थूलया लोहपारया ।
तन्मध्यात् स्थूलखण्डानि कङ्का मज्जदयान्तरे ॥ १११ ॥
धात्वा त्रिष्ठा जले सम्यक् पूर्ववत् कण्डयेत् खलु ।
तच्चूर्णं सूतगन्धाभ्यां पुटेहिंशतिवारकम् ॥ ११२ ॥
पुटे पुटे विधातव्यं पेषणं दृढवत्तरम् ।
एवं भस्मीकृतं लोहं तत्तद्गोषेषु योजयेत् ॥ ११३ ॥

अथ कान्तलोहस्य रसमिश्रकृष्णम् ।—

कान्तायः कमनीयकान्तिजननं पाण्डामयोन्मूलनं
यक्ष्मव्याधिनिवर्हणं गरहरं दोषत्रयोन्मूलनम् ।

मारणे मतान्तरमाह, खेडाक्तमिति ।—खेडाक्तं घृतपिष्टम् । मूत्रे गोमूत्रे । रात्रिः
इन्द्रि । ॥ १०६ ॥

तीक्ष्णलोहस्य मारणमाह, तीक्ष्णलोहस्येति ।—लोहपारया लोहमपि पारयति
समापयति निःशेषं चूर्णयति या तथा लोहदण्डेनेत्यर्थः । मज्जदयान्तरे पाचदयमध्ये ।
अवायं क्रमः,—तीक्ष्णलोहं दल्लरहितं सूक्ष्मपत्रं कृत्वा तोत्राप्रौ भस्मया चाधस्य
जले निक्षिपेत्, निक्षेपानन्तरञ्च सद्य एव सङ्कृत्य पाषाणोलूखने स्थूललोहदण्डेन दृढ-
माहस्य चूर्णोक्त्यार्थः ; तत्र यानि स्थूललोहपत्राणि न चूर्णोभवन्ति तानि शरावहय-
मध्ये पुनः कृत्वा चाधस्य च पूर्ववत् जले निक्षिपेत्, तत्तत्तमेव सङ्कृत्य चूर्णयेत्,
एवं यावत् सम्यक्तया चूर्णोभूतानि न भवन्ति तावत् कुर्यात्, ततः चूर्णोभूतानि
ज्ञानि समसूतगन्धाभ्यां मर्दयित्वा विंशतिवारं पुटेत् प्रतिपुटे दृढतरं पेषयेत्
इति ॥ ११०—११३ ॥

मानाकुष्ठनिवर्हणं बलकरं वृथं वयःस्तम्भतं
सर्वव्याधिहरं रसायनवरं भीमामृतं नापरम् ॥ ११४ ॥

अथ सर्वलौहानां मारणे मतान्तरम् ।—

हिङ्गुलस्य पलान् पञ्च नारोस्तन्येन पेषयेत् ।
तेन लोहस्य पत्राणि लेपयेत् पलपञ्चकम् ॥ ११५ ॥
रुद्धा गजपुटे पद्यात् कषायैस्त्रैफलैः पुनः ।
जम्बोरैरारनालेर्वा विंशत्यंशेन हिङ्गुलम् ॥ ११६ ॥
पिष्टा रुद्धा पचेन्नोहं तद्वैः पाचयेत् पुनः ।
चत्वारिंशत्पुटैरेवं कान्तं तीक्ष्णञ्च मुण्डकम् ॥
म्रियते नात्र सन्देहो दत्त्वा दत्त्वेव हिङ्गुलम् ॥ ११७ ॥

अथ तीक्ष्णलोहस्य विशेषमारणम् ।—

अथ पूर्वादितं तीक्ष्णं वसुभङ्गकवासयोः ।
पुटितं पत्रतोयेन त्रिंशद्वाराणि यत्नतः ॥
शोणितं जायते भस्म कृतसिन्दूरविभ्रमम् ॥ ११८ ॥

रससिन्धुतं काललोहस्य गुणमाह, कालाद्य इति ।—भीमामृतं नापरं काल-
लोहमेव पाणिबान्तं नापरं किञ्चित्, तस्य श्रेष्ठरसायनत्वात् वयःस्तम्भकत्वा-
दिगुणवत्त्वाच्च अमृतत्वेन निर्देशो बोध्यः ॥ ११४ ॥

मतान्तरं सर्वलौहानां मारणमाह, हिङ्गुलस्येति ।—विंशत्यंशेन हिङ्गुलं लौहा-
पेचया विंशतिभागैकभाग, कर्षमितमित्यर्थः । आदौ पञ्चपलमितं हिङ्गुलं गृहीत्वा
स्त्रोक्तान्येन सम्पिष्य तेन पलपञ्चमितानि तनुलोहपत्राणि लेपयेत् ततो मूषामध्ये
संस्थाप्य गजपुटे पचेत् ; द्वितीयदिने कर्षमितेन हिङ्गुलेन सह तानि पत्राणि
विफलाकाशेन जम्बोररसेन आरनालेन वा पिष्टा पूर्ववत् गजपुटे पचेत् । ततः
पुनः पूर्वोक्तद्रवैः प्रागुल्लिखितमानं हिङ्गुलं पिष्ट्वा तेन तान्येव लोहपत्राणि
लिप्ता गजपुटे पचेत्, एव चत्वारिंशद्वारं क्रुष्यात्, प्रतिपुटे एव हिङ्गुलं दद्यात्
इति ॥ ११५—११७ ॥

तीक्ष्णलोहस्य विशेषमारणमाह, अथेति ।—वसुभङ्गकं श्वेतपुनर्नवा । पूर्वोक्त-

मतान्तरम् ।—

यद्वा तीक्ष्णदलोद्भूतं रजस्रं त्रिफलाजलैः ।

पिष्ट्वा दत्त्वौदनं किञ्चिच्चक्रिकां प्रविधाय च ॥ ११९ ॥

शोषयित्वाऽतिथन्नेन प्रपचेत् पञ्चभिः पुटेः ।

रक्तवर्णं हि तद्वस्त्रं योजनीयं यथायथम् ॥ १२० ॥

अथ मतान्तरे सर्वलौहानां मारणम् ।—

मत्स्याक्षौगन्धवाह्नीकैर्लकुचद्रवपेषितैः ।

विलिप्य सकलं लोहं मत्स्याक्षौकल्कपेषितम् ॥ १२१ ॥

भस्त्राभ्यां सुदृढं ध्यात्वा त्रिशूलोनिर्गमावधि ।

अथोद्धृत्य क्षिपेत् काये त्रिफलागोजलात्मके ॥ १२२ ॥

तस्मादाहृत्य सन्ताड्य मृतमादाय लोहकम् ।

पुनश्च पूर्ववद्ध्यात्वा मारयेदखिलायसम् ॥ १२३ ॥

खण्डयित्वा ततो गन्ध-गुडत्रिफलया सह ।

पुटेक्षिप्रतिवाराणि निरुत्य भस्म जायते ॥ १२४ ॥

क्रमेण चूर्णीकृतं तीक्ष्णलोहं श्वेतपुननेवाधाः तथा वामायाश्च स्वरसेन पिष्ट्वा त्रिशलुपुटे दद्यात्, एवं तस्य सिन्दूरवत् रक्तवर्णं भस्म जायते ॥ ११८ ॥

मतान्तरमाह, यदेति ।—श्वेतौदनं पिष्टतण्डुलम् अन्नं वा । किञ्चित् चतुर्थोऽंशम् ; लोहचूर्णं चतुर्थांशेन पिष्टतण्डुलेन अन्नेन वा सुदृढं त्रिफलाकायेन पिष्ट्वा चक्रिका कार्या, ततः शोषयित्वा पञ्चपुटी देयः ॥ ११९-१२० ॥

सर्वलोहमारणे प्रकारान्तरमाह, मत्स्याक्षौ ।—मत्स्याक्षौ शालिधः, लोहमारकत्वात्, गन्धः गन्धकः, वाह्नीकं कुङ्कुमं छिद्रुर्वा । त्रिशूली त्रिशलवत् चाटकादयमित्यर्थः । लकुचद्रवेण मत्स्याक्षौद्यादिकं पिष्ट्वा तेन कल्केन सर्वविधं लोहमालिप्य संशोष्य च पुनरपि केवलमत्स्याक्षौकल्केन पिष्ट्वा भस्मादयेन भूयतः तीव्राग्निना सुदृढं धमेत् यावत् उभयपार्श्वं विदार्य चाटकां निर्गम्य त्रिशल-तत् परिदृश्यमानं न भवेत्, ततः त्रिफलाकाये ग्रीमूते च निर्वाप्य पाषाणोद्-खले खूललोहदण्डेन ताडयत् ताडयत् यावत् चूर्णं निर्गच्छति, यदा च चूर्णनिर्गमरहितं भवेत् तदा पुनश्च पूर्वकृमात् चूर्णं गृह्णीयात्, एवं यावत्

मतान्तरम् ।—

समगन्धमयचूर्णं कुमारीवारिमर्दितम् ।

पुटौकृतं कियत्कालमवश्यं म्रियते ह्ययः ॥ १२५ ॥

मतान्तरम् ।—

जम्बीर-रससंयुक्ते दरदे तप्तमायसम् ।

बहुवारं विनिक्षिप्तं म्रियते नात्र संशयः ॥ १२६ ॥

मतान्तरम् ।—

गोमूत्रैस्त्रिफला क्वाथ्या तत्कषायेण भावयेत् ।

त्रिःसप्ताहं प्रयत्नेन दिनैकं मर्दयेत् पुनः ॥ १२७ ॥

रुद्धा गजपुटे पचाद्दिनं क्वाथेन मर्दयेत् ।

दिवा मर्द्यं पुटेद्रात्रावेकविंशद्दिनावधि ॥

एकविंशत्पुटैश्चैव म्रियते त्रिविधं ह्ययः ॥ १२८ ॥

अथ तीक्ष्णलौहटावणम् ।—

त्रिःसप्तकृत्वो गोमूत्रे जालिनीभस्म भावितम् ।

शोषयेत्तस्य वापेन तीक्ष्णं मूषागतं द्रवेत् ॥ १२९ ॥

सम्यक्तया चूर्णं न भवति तावत् कर्ष्यात्, ततस्तच्चूर्णे गन्धकगुडविफलाक्वाथेन पिष्टा विंशद्द्वारं पुटेत्, प्रतिपुटे एव गन्धकादिकं दद्यात् ॥ १२१—१२४ ॥

भारणान्तरमाह, समगन्धमिति ।—सुगन्धम् ॥ १२५ ॥

प्रकारान्तरमाह, जम्बीरेति ।—निमज्जनयोग्यजम्बीररसे किञ्चित् दृढकुलं सम्यग्य तत्र सन्ततलौहपत्रं बहुवारं विनिक्षिपेत्, तेन लोहं म्रियेत ॥ १२६ ॥

अपरमतमाह, गोमूत्रैरेति ।—“भाज्यद्रव्यममं काथ्यम्” इत्यादिपरिभाषया लोहतुल्या विफला कृथनीया, ततश्च एकविंशतिदिनानि तेन क्वाथेन लोहं भावयित्वा अग्नन्तरमेकदिनं तेनैव क्वाथेन सम्यग्य चक्रिका विधाय रात्रौ गजपुटे पचेत्, अपरदिने पुनश्च पूर्वोक्तक्वाथेनैकदिनं मर्दयित्वा पूर्ववत् पुटेत्, एवमेकविंशतिदिनानि कर्ष्यादिति ॥ १२७।१२८ ॥

तीक्ष्णलौहस्य द्रावणमाह, त्रिःसप्तेति ।—त्रिःसप्तकृत्वः एकविंशतिवारान् । जालिनीभस्म पीतपुष्पघोषाकृताक्षारः । वापेन प्रक्षेपेण । गोमूत्रे एकविंशतिवारं

मत्तान्तरे द्रावणम् ।—

सुरदालिभस्म गलितं त्रिःसप्तकत्वोऽथ गोजले शुष्कम् ।
तापेन सलिलसदृशं करोति मूषागतं तीक्ष्णम् ॥ १३० ॥

अथ लोहप्रयोगः ।—

एतत् स्यादपुनर्भवं हि भसितं लोहस्य दिव्यामृतं
मम्यक् सिद्धरसायनं त्रिकटुकीवेक्षान्यमध्वन्वितम् ।
हृन्वास्त्रिष्कमितं जरामरणजव्याधीष सत्पुत्रदं
दिष्टं श्रीगिरिशेन कालयवनोद्धृत्य पुरा तत्पितुः ॥ १३१ ॥

अथ कान्तलोहस्य रामराजीप्रोक्तशोधनम् ।—

यत्पात्राध्युषिते तोये तैलविन्दुर्न सर्पति ।
तारिणाऽऽवर्त्तते यत्तत् कान्तलोहं तनूकृतम् ॥ १३२ ॥
अयसामुत्तमं सिञ्चेत्तप्तं तप्तं वरारसे ।
एवं शुद्धानि लोहानि पिष्टान्यज्ज्ञेन केनचित् ॥ १३३ ॥
मृतसूतस्य पादेन प्रलिप्तानि पुटानले ।

पचेत्तुल्येन वा ताप्य-गन्धाश्म-हृतेजसा ॥ १३४ ॥

भावितं जालिनीभस्म आतपे शोधयेत्, ततो मूषामध्ये तद्वस्त्रं संस्थाप्य तन्मध्ये
तीक्ष्णलोहं स्थापयेत्, तेन च तत् द्रवीभवति । अथवा घोषालारोटके भावितं लोहं
गोमूत्रे निक्षिप्य रीट्रयन्त्रे शोधयेत्, एवम् एकविंशतिवारं कुर्व्यात् ; ततस्तस्मिन् एव
आरं मूषास्थे लोहं प्रक्षिपेत् ॥ १२९ ॥

प्रकारान्तरेण द्रावणमाह, सुरदालीति ।—सुरदाली देवदाली, इक्षुघोषक इति
प्राकृत, तस्या भस्म । गलितं परिसृतम् । गोमूत्रे एकविंशतिवारं परिसृतं इक्षु-
घोषकचारं शुष्कं कृत्वा तत्चारमध्ये तीक्ष्णलोहं निक्षिप्य मूषायां निरुध्य च अपि-
सत्तापेन द्रवीकुर्व्यादिति ॥ १३० ॥

लोहस्य प्रयोगविधिमाह, एतदिति ।—एतत् पूर्वोक्तरूपम् । अपुनर्भवं निरुक्त-
मित्यर्थः । भसितं लोहस्य लोहभस्म । दिव्यामृतं स्वर्गोयामृतवत् गुणविशिष्टमित्यर्थः ।
वर्त्तनीयवद्भस्म । त्रिकटुकादिकम् अनुकूपमात्रेण याच्यम् । निष्कमितम् अर्द्धतोलक-
परिमाणम् । दिष्टम् उपदिष्टम् । कालयवनोद्धृत्य कालयवनाख्यस्य दापरीयासुर-
राजस्य जम्बानिमितम् । तत्पितुः कालयवनपितुः ॥ १३१ ॥

तप्तं क्षारान्नसंलितं शशरक्ते निधापितम् ।

कान्तलोहं भवेच्छुद्धं सर्वदोषविवर्जितम् ॥ १३५ ॥

अथ सर्वविधलोहानां रामराजौक्तमारणम् ।—

शुद्धसूतं द्विधा गन्धं खल्लेन कृतकज्जलम् ।

द्वयोः समं लोहचूर्णं मर्दयेत् कन्यकाद्रवैः ॥ १३६ ॥

यामद्वयात् समुद्धृत्य तद्गोलं ताम्रपात्रके ।

आच्छाद्यैरण्णपत्रैश्च यामार्द्धेऽत्युष्णतां व्रजेत् ॥ १३७ ॥

धान्यराशौ न्यसेत् पश्चात्तिदिनान्ते समुद्धरेत् ।

सम्प्रेष्य गालयेद्वस्त्रे सत्यं वारितरं भवेत् ॥

कान्तं तीक्ष्णञ्च मृण्डञ्च निरुत्यं जायते मृतम् ॥ १३८ ॥

स्वर्णादीन् मारयेदेवं चूर्णं कृत्वा च लोहवत् ।

सिद्धयोगो ह्ययं ख्यातः सिद्धानां सुमुखागतः ॥ १३९ ॥

अनुभूतं मया सत्यं सर्वरोगजराऽपहम् ।

त्रिफलामधुमंयुक्तं सर्वरोगेषु योजयेत् ॥ १४० ॥

सलक्षणं कान्तलोहस्य विशेषशोधनमाह, यदिति ।—यस्य यस्मिन् वा पात्रे अधुषिते स्थापिते तोषी तैलबिन्दुः, प्रक्षिप्तः सन्निति शेषः, न सर्पति, यच्च लोहं तादृशं रीत्येव सह आवर्तते आवर्तितं मिश्रितं सत् तिष्ठति, अथसामुत्तमं तत् कान्तलोहं तन्मृज्जतं सूक्ष्मपवीकृतं तप्तं तप्तं सन्नाप्य सन्नाप्य वरारसे त्रिफलाक्वाथे सिञ्चेत् इत्येवं योगना । एवं संशोधितं तत् कान्तारारनालादीनामस्नानां केनचिद्रसेन पिष्टा लोहापेक्षया पादमितभस्मसूतेन संलिप्य, लोहतुल्येन मिलितस्त्रयमांशक-गन्धकपारदेन संलिप्य वा पुटाशौ पचेत्, ततः टङ्कणेन केनचित् अस्तरसेन च संलिप्य शशरक्ते समदिनं निधाप्य अनन्तरं प्रच्छाद्य गृह्णीयादिति ॥ १३२—१३५ ॥

सर्वविधलोहानां सामान्यमारणमाह, शुद्धसूतमिति ।—यामद्वयात् यामद्वयाद्द्वयम् । ताम्रपात्रे, संस्थाप्य इति शेषः । “ताम्रपात्रके” इत्यत्र “कांस्यपात्रके” इति पाठान्तरम् । यामार्द्धेऽत्युष्णतां व्रजेत् यामार्द्धं यावत् पुटं दद्यादित्यर्थः । “आच्छाद्य” इत्यादी “घर्मे धृत्वावृत्तञ्च” इत्यादिरसेन्द्रबिलामणिपाठे—घर्मे इत्यस्य अप्रिसन्तापे इत्यर्थः कार्यः ; रौद्रसन्तापे इत्यर्थे कृते तु अप्रिसन्त्यर्हमात्रेण कान्तलोहसिद्धिश्चजनितगुह्यसद्भावान्

अथ लोहानां रामराजीप्रोक्तगुणाः ।—

लोहं जन्तुविकारपाण्डुपवन-क्षीणत्वपित्तामय-
स्थीत्याशीग्रहणोज्वरान्ति-कफजिच्छोफप्रमेहप्रणुत् ।
गुल्मप्लीहविषापहं बलकरं कुष्ठान्निमान्प्रणुत्
सौख्यालम्बि रसायनं मृतिहरं कान्तादिकं किट्टवत् ॥१४१॥

मृतानि लोहानि रसोभवन्ति निघ्नन्ति युक्तानि महामयांश्च ।
अभ्यासयोगाद्दृढदेहसिद्धिं कुर्वन्ति रुग्जम्भजराविनाशम् ॥१४२॥

वारितरत्नासम्भवादिति । चान्दराशाविति ।—चान्दराशौ स्थापनमपि एरुष्टपते-
णाच्छाद्यैव कार्यम् । मया वाग्मटेनेत्यर्थः । प्रथीगविधिमाह,—विफलिति । लोह-
मारण्यसञ्जेन एतद्गुणानुक्तं पतञ्जल्यादिभिर्लोहविज्ञेयैः सम्यक्पाकादिलक्षणमव
प्रदर्श्यते ; तथा च पतञ्जलिः,—“तावज्जौहं पचेद्देवी यावत् वस्त्रेण गालितम् ।
स मुदं जायते व्यक्तं न निःसरति स्यन्दिभिः ॥” अन्यच्च—“अङ्गुलिभ्या दृढं घृष्टं यदा
चूर्णत्वमागतम् । तदा सिद्धं विजानीयाज्जौहं लोहविदा वरः ॥ अञ्जनाभं घनं स्निग्धं
श्लक्ष्णमूलमलेपनम् । अक्षिन्नमन्धसि क्षितं सम्यक्पक्वस्य लक्षणम् ॥ मन्दमाहुरथो
लोहमलव्याखिललक्षणम् । अतिपाकेन तज्ज्येयं खरमुज्झितलक्षणम् ॥” इति ।
अभीषतन्त्रे चोक्तं—“पाकान्तु विविधाः प्रोक्ता मृदुमध्यमतीक्ष्णकाः । वैविध्यात्
सर्वधातूनां पित्तानिलकफात्मनाम् ॥ दर्वीमाश्लिष्यते यत्तत् स्वेरं स्रवति वा न वा ।
मृदपाकं विजानीयात् पित्ते तद्दीप्त्य योजयेत् ॥ सितापुञ्जीपमं यत्तु मूषिकीत्स्वर-
सन्निभम् । तदयः खरपाकं स्यात् श्लेष्मण्येव प्रकीर्तितम् ॥ एकैकगुणयोगित्वाद्
तद्विच्छन्ति तादृहः । सर्वप्रकृतिसेव्यत्वान्मध्यमं बहुपूजितम् ॥ गुडादिः प्रविशदयश्च
तत्र पाकोऽस्य मृदया ॥” इति ॥ १३६—१४० ॥

मृतलोहस्य गुणमाह, लोहमिति ।—जन्तुविकारः क्षिमिरोगः । पवनक्षीणत्वं वात-
अथः, पवनः वातविकृतिः क्षीणत्वं कार्यमिति वा । सौख्यालम्बि सौख्यम् आलम्बते
दधाति यत् तत् सुखदायकमित्यर्थः । मृतिहरम् अकालमृत्युनाशनं कालमृत्योर्दृढ-
रणीयत्वात् । किट्टवत् सकिट्टं मुख्यतीक्ष्णकान्तलोहानि मखूरसेत्यर्थः ॥ १४१ ॥

रामराजीप्रोक्तगुणमाह, मृतानीति ।—अरसाः रसाः भवन्ति इति रसोभवन्ति
रसतुल्यगुणवन्ति भवन्तीत्यर्थः ॥ १४२ ॥

अथ उत्तमकान्तलौहस्य लक्षणम् ।—

पक्वजम्बूनिभच्छायं कान्तलौहं तदुत्तमम् ॥ १४३ ॥

अथ कान्तलौहस्य विशेषमारणम् ।—

सुरदालिभवं भस्म नरमूत्रेण गालितम् ।

त्रिःसप्तवारं तत्क्षार-वापात् कान्तहतिर्भवेत् ॥ १४४ ॥

अष्टलौहानां द्रावणम् ।—

गन्धकं कान्तपाषाणं चूर्णयित्वा समं समम् ।

द्रुते लोहे प्रतीवापो देयो लोहाष्टकं द्रवेत् ॥ १४५ ॥

मतान्तरम् ।—

देवदाल्या द्रवैर्भाष्यं गन्धकं दिनसप्तकम् ।

तेन प्रवापमात्रेण लोहं तिष्ठति सूतवत् ॥ १४६ ॥

अथ मण्डूरः ।—

अथ मण्डूरशोधनम् ।—

अक्षाङ्गारैर्धमेत् किट्टं लोहजं तद्गवां जलैः ।

सेचयेदक्षपात्रान्तः सप्तवारं पुनः पुनः ॥

मण्डूरोऽयं समाख्यातश्चूर्णं श्लक्ष्णं प्रयोजयेत् ॥ १४७ ॥

वर्णभेदेन प्रशक्तकान्तलौहस्य लक्षणमाह, पक्षेति ।—सुगमम् ॥ १४३ ॥

कान्तलौहस्य विशेषमारणमाह, सुरदालिभवमिति ।—नरमूत्रेण एकविंशतिवारं परिश्रुते इतिघोषकचारोदके प्रक्षिप्य कियन्ति दिनानि स्थापनात् कान्तलौहं सत् भवेत् । “हतिः” इत्यत्र “द्रुतिः” इति पाठे—कान्तस्य द्रुतिः द्रावणं जलवत् तारल्य-मित्यर्थो बोध्यः ॥ १४४ ॥

अष्टविधलौहानां द्रावणमाह, गन्धकमिति ।—कान्तपाषाणं “तुम्बक” इति ख्यातः प्रसरविशेषः । स्वर्षाद्यष्टविधलौहानां यत्किञ्चिन्नोहं द्रवौक्त्य तत्र प्रत्येकं लोहपरिमितं गन्धकचूर्णं कान्तपाषाणचूर्णञ्च प्रक्षिपेत्, एवञ्च सर्वविधलोहं द्रवौभूय तिष्ठति ; अथवा—लौहमिति प्रसिद्धं लोहं द्रवौक्त्य तत्र उत्तचूर्णद्वयं प्रक्षिप्य स्वर्षाद्यन्तमलौहं प्रक्षिपेत्, एवञ्च तत् द्रवौभूय एव तिष्ठति ॥ १४५ ॥

द्रावणान्तरमाह, देवदाल्या इति ।—तेन प्रवापमात्रेण तद्गन्धकचूर्णप्रक्षेपमात्रेणैव । सूतवत् पारदवत् तरलमेव इत्यर्थः ॥ १४६ ॥

सतान्तरम् ।—

गोमूत्रैस्त्रिफला क्वाथ्या तत्क्वाथे सेचयेच्छनैः ।

लोहकिट्टं सुमन्तसं यावज्जीर्यति तत् स्वयम् ॥

तच्चूर्णं जायते पेष्यं मण्डूरोऽयं प्रयोजयेत् ॥ १४८ ॥

अथ लौहमण्डूरयोः तत्त्वगुणत्वनिर्देशः ।—

ये गुणा मारिते मुण्डे ते गुणा मण्डकिट्टके ।

तस्मात् सर्वत्र मण्डूरं रोगशान्त्यै प्रयोजयेत् ॥ १४९ ॥

अथ मण्डूरस्य लोहानाञ्च उत्तरोत्तरगुणाधिक्यम् ।—

किट्टादृशगुणं मण्डं मण्डात्तीक्ष्णं शतोन्मितम् ।

तीक्ष्णाल्पतगुणं कान्तं भक्षणात् कुरुते गुणान् ॥

तस्मात् कान्तं सदा सेव्यं जरासृत्यहरं नृणाम् ॥ १५० ॥

किट्टस्य लौहसगुणत्वात् लौहमलत्वाच्च लौहशोधनमारणप्रकरण एव तस्यापि शोधनादकमाह. अक्षाङ्गादिति ।—विभोतककाष्ठार्शौ मण्डूरं भस्त्रया आध्मात् विभोतककाष्ठमयपात्राभ्यन्तरे स्थापिते गोमूत्रं मिचेत्, एवं समवारं मण्डूरः गृह्यति, ततः अक्षतं चूर्णोक्तस्य कार्येषु नियोजयेत् इति ॥ १४७ ॥

सतान्तरमाह, गोमूत्रेरिति ।—क्वाथयाव मण्डूरापेक्षया द्विगुणो याव्यः ॥ १४८ ॥

लोहमण्डूरयोः तत्त्वगुणशालिलं प्रदर्श्य मण्डूरस्य प्रयोगार्हतामाह, ये इति ।—अथ मण्डशब्दः तीक्ष्णकान्तयोरुपलक्षणं, यतः यक्षोहं यद्गुणं तत्किट्टमण्डूरोऽपि तद्गुणविशिष्ट इत्युक्तम् ; तथा च भावार्थः,—“भायमानस्य लौहस्य मलं मण्डूर-मुच्यते । लौहसिंहानिका किट्टी सिंहानञ्च निगद्यते ॥ यक्षोहं यद्गुणं प्रोक्तं तत्किट्टमपि तद्गुणम् ॥” इति ॥ १४९ ॥

मण्डूरस्य तथा त्रिविधलौहस्य च उत्तरोत्तरगुणाधिक्यं पदर्शयति, किट्टादिति ।—यत्तु प्राक् “ये गुणा मारिते मुण्डे” इत्यादिना लौहमण्डूरयोः समानगुणत्वमुक्तं ततः लौहाप्राप्तौ मण्डूरस्यैव लौहसाध्यकर्मसम्पादनाय, लौहमलत्वात् लौहगुणाः बाह्यं विद्यन्ते एव इति ज्ञापनार्थञ्च, वस्तुतस्तु मलमपेक्ष्य सारांशस्य गुणबाह्यत्वं स्वाभाविकमेव इति । अद्यानुक्तोऽपि यस्यान्तरात् मण्डूरगुणो द्रष्टव्यः, तद्वया राजनिघण्टो—“लोहकिट्टस्य मधुरं कटूणं क्षिप्वातनुत् । पतितयत्नं भस्त्रकूलं मण्डुगुणार्निशोधयत् ॥” इति । किञ्च मण्डूरस्य उत्तममध्यमत्वादिकमप्यतानुक्तं

अथ अशुद्धलौहस्य गत्यान्तरोक्तदोषाः ।—

अशुद्धलौहं न हितं निषेवणादायुर्वर्षं कान्तिविनाशि निश्चितम् ।
हृदि प्रपीडां तनुते ह्यपाटवं कृजं करोत्येव विशोध्य मारयेत् ॥ १५१ ॥

अथ शुद्धलौहस्य गत्यान्तरोक्तगुणाः ।—

आधृष्टदाता बलवीर्यकर्ता रोगप्रहर्ता मदनस्य कर्ता ।
अयःसमानं न हि किञ्चिदन्यद्रमायनं श्रेष्ठतमं हि जन्तोः ॥ १५२ ॥
[इत्ययोऽधिकारः] ।

अथ वङ्गम् ।—

अथ वङ्गस्य वैविध्यनिर्देशः ।—

खुरकं मिश्रकञ्चेति द्विविधं वङ्गमच्यते ।
खुरं तत्र गुणैः श्रेष्ठं मिश्रकं न हितं मतम् ॥ १५३ ॥

अथ खुरकवङ्गस्य लक्षणम् ।—

धवलं सृढं स्निग्धं द्रुतद्रावं सगौरवम् ।
निःशब्दं खुरवङ्गं स्यात्—

अथ मिश्रकवङ्गस्य लक्षणम् ।—

“—मिश्रकं श्यामशुभ्रकम् ॥ १५४ ॥

प्रदर्शयति, यथा रसेन्दुबिन्तामणौ—“शतोर्द्धमुत्तमं किङ्कं मध्यञ्चाशीतिवार्षिकम् । अश्वमं
षष्टिर्धौगं ततो ह्रीनं विषोपमम् ॥” इति ॥ १५० ॥

अशुद्धलौहसेवने गत्यान्तरोक्तं दोषमाह, अशुद्धलौहमिति ।—आयुर्वलमित्यत्र
विनाशयेदिति शेषः ॥ १५१ ॥

तत्रोक्तं शुद्धलौहस्य गुणमाह, आयुरिति ।—मदनस्य कर्ता वाञ्छोकरणा-
मित्यर्थः ॥ १५२ ॥

इदानीं वङ्गस्य वैविध्यमुक्त्वा तथोक्तमाधमतां निर्दिशति, खुरकमिति ।—खुरकं
“पशुखुरि रां” इति प्रामादम् । मिश्रकं तदितरत् ज्ञेयम् ॥ १५३ ॥

खुरकस्य मिश्रकस्य च लक्षणमाह, धवलमिति ।—द्रुतद्रावं शीघ्रद्रवणशीलम् ।
निःशब्दं पत्नीभूतमपि शब्दरहितं, पत्नीभूतं रङ्गान्तरं यथा सशब्दं भवति, तथा न
व्यर्थः । मिश्रकमिति ।—कण्ठश्वेतमिश्रवर्णत्वात् मिश्रकमिति संज्ञा श्रेया ॥ १५४ ॥

अथ वङ्गगुणाः ।—

वङ्गं निक्तोष्णकं रुक्षमीषहातप्रकोपणम् ।

मेहश्लेष्मामयघ्नश्च मेदोघ्नं कृमिनाशनम् ॥ १५५ ॥

अथ खुरकवङ्गशोधनम् ।—

द्रावयित्वा निशायुक्ते क्षिप्तं निर्गुण्डिकारसे ।

विशुध्यति त्रिवारेण खुरवङ्गं न संशयः ॥ १५६ ॥

अथ मिश्रकवङ्गशोधनम् ।—

अस्मत्तक्रविनिक्षिप्तं वर्षाभूविषतिन्दुभिः ।

कट्फलाम्बुगतं वङ्गं द्वितीयं परिशुध्यति ॥ १५७ ॥

अथ नागवङ्गकांक्षताम्राणां नामान्यशोधनम् ।—

शुध्यति नागो वङ्गो घोषा रविरातपेऽपि मुनिसङ्घैः ।

निर्गुण्डोरससेकैस्तन्मूलरजःप्रवापैश्च ॥ १५८ ॥

गुणमाह, वङ्गमिति ।—स्पष्टायम् ॥ १५५ ॥

खुरकवङ्गस्य शोधनमाह, द्रावयित्वेति ।—निशा हरिद्रा । अप्रसन्तापेनादौ वङ्गं तरलीकृत्य पश्चात् हरिद्राचूर्णसंयुक्ते हरिद्राखुरससंयुक्ते वा निर्गुण्डीखरसे निक्षिपेत्, एवं बारवशेण वङ्गं शुध्यति ॥ १५६ ॥

मिश्रकस्य शोधनमाह, अस्मेति ।—विषतिन्दुः कुचिला “कुचिला” इति भाषा । वर्षाभूविषतिन्दुभिः, कृतकाये विनिक्षिप्तमिति शेषः । द्वितीयं मिश्रकम् । अस्मत्तक्रे दिनचयं पुनर्नवा विषमुष्टिकाये दिनचयं तथा कट्फलकाये च दिनचयं वङ्गं निमज्जा स्थापयेत् । “विनिक्षिप्तम्” इत्यत्र “विनिष्पिष्टम्” इति पाठे—अस्मत्तक्रेण सह वङ्गं निषिष्य वर्षाभूविषतिन्दुकाये कट्फलकाये च दिनचयं स्थापयेत् । “विषतिन्दुभिः” इत्यत्र “वृषतिन्दुभिः” इति पाठे—वृषः वामकः तिन्दुः विषतिन्दुकः । “विषतिन्दुभिः” इति पाठे—विषं वस्त्रनाभविषं तिन्दुः तिन्दुवारः । “विषतिन्दुभिः” इति पाठेऽपि स एवार्थः । “कट्फलाम्बुगतम्” इत्यत्र “कटुलावुगतम्” इति पाठे—क्षिप्ततुल्यमध्यस्थितमित्यर्थः । “वङ्गं द्वितीयम्” इत्यत्र “वङ्गं द्वितयम्” इति च पाठे—खुरकं मिश्रकस्य द्विविधवङ्गमित्यर्थः ॥ १५७ ॥

तुल्यशोधनत्वात् वङ्गशोधनप्रसङ्गे नागताम्राणां नामान्यशोधनमाह, शुध्यतीति । —घोषः कांक्षकम् । रविः तावम् । मुनिसङ्घैः सप्तसङ्घैः । तन्मूलरजःप्रवापैः

अथ वङ्गमारणम् ।—

सतालैनाकंदुग्धेन लिप्ता वङ्गदलानि च ।
बोधि-चिञ्चात्वचः क्षारेर्दद्यात्तद्वपुटानि च ॥
मर्दयित्वा चरेद्भस्म तद्रसादिषु शस्यते ॥ १५८ ॥

मारणे मतान्तरम् ।—

प्रद्राव्य खर्परे वङ्गं षोडशांशं रसं क्षिपेत् ।
खल्पखल्पाऽऽलकं दत्त्वा भारद्वाजस्य काष्ठतः ॥
मर्दयित्वा चरेद्भस्म तद्रसादिषु कौर्त्तितम् ॥ १६० ॥

मतान्तरम् ।—

पलाशद्रवयुक्तेन वङ्गपत्रं प्रलेपयेत् ।
तालेन पुटितं पश्चान्मिश्रयते नात्र संशयः ॥ १६१ ॥

मतान्तरम् ।—

भङ्गाततैलमंलिप्तं वङ्गं वस्त्रेण वेष्टितम् ।
चिञ्चा-पिप्पल-पालाश-काष्ठाग्नी याति पञ्चताम् ॥ १६२ ॥

निर्गुण्डीमूलचूर्णमध्ये निक्षेपेः । नागादिचतुष्टयं प्रत्येकं सिन्दुवाररसान् संख्याप्य
आतपे शीघ्रयित्वा सिन्दुवारमूलचूर्णमध्ये प्रक्षिप्य च दिनमेकं न्यसेत्, एवं सप्तवारं
कुर्व्यात् ॥ १५८ ॥

वङ्गस्य मारणमाह, सतालैनेति ।—सतालैर्न हरितालसहितेन । बोधिः अश्वत्थः,
चिञ्चा तिलिङ्गी तथैः त्वचः क्षारैः । चरेत् आचरेत्, रोगेषु प्रयुञ्जीतेत्यर्थः ॥ १५८ ॥

मतान्तरमाह, प्रद्राव्येति ।—आलकं हरितालम् । भारद्वाजस्य वनकार्पास्याः ।
वङ्गं खर्परे कृत्वा अग्नौ विद्राव्य वङ्गषोडशभागैकभागं रसं तत्र निक्षिपेत्, ततः तत्र
अल्पमल्पं हरितालचूर्णं दत्त्वा दत्त्वा चारण्यकार्पासदण्डेन तावत् निरन्तरं मर्दयेत्
यावत् भस्म न भवेत् इति ॥ १६० ॥

मतान्तरमाह, पलाशेति ।—पलाशद्रवः पलाशमूलरसः ॥ १६१ ॥

प्रकारान्तरमाह, भङ्गातेति ।—भङ्गातलोहवेन तैलेन वङ्गं लिप्ता वस्त्रखण्डेना-
वेष्ट्य च तिलिङ्गिकाश्वत्थपलाशकाष्ठान् भक्षीकुर्व्यात् । भङ्गाततैलविधिशायम्—आदौ
गोमूत्रे भावितान् भङ्गातकान् क्षीरे विराजम् अक्षिवाय द्विषाकुर्व्यात्, ततः लौहकथं
ज्ञान संख्याप्य सक्लिद्रशरावेष्टं सुखं दद्यात् लौहमयकुम्भात्तरस्य भूमावाकथं निखातलो-

अथ वङ्गप्रयोगः ।—

वङ्गभस्मसमं कान्तं व्योमभस्म च तत्समम् ।
 मर्दयेत् कनकाभोभिर्निम्बपत्ररमैरपि ॥ १६३ ॥
 दाडिमस्य मयूरस्य रसेन च पृथक् पृथक् ।
 भूपालावर्तभस्माथ विनिक्षिप्य समांशकम् ॥ १६४ ॥
 गाम्बूवक-शिलाधातु-जलैः सम्यक् विमर्दयेत् ।
 ततो गुग्गुलतोयेन मर्दयित्वा दिनाष्टकम् ॥ १६५ ॥
 विशोष्य परिचूर्ण्यथ समभागेन योजयेत् ।
 घृष्टं बभ्रुकनिर्यामैर्नाकुलीबीजचूर्णकैः ॥ १६६ ॥
 ततः क्षिपेत् करण्डान्स्विधाय पटगालितम् ।
 गोतक्रपिष्ट-रजनौ-सारिण सह पाययेत् ॥ १६७ ॥
 चतुर्भिर्वल्लकैस्तुल्यं रस्यं वङ्गं रसायनम् ।
 निश्चितं तेन नश्यन्ति मेहा विंशतिभेदकाः ॥ १६८ ॥
 शालयो मुद्गसूपश्च नवनीतं तिलोद्भवम् ।
 पटोलं तिक्ततुण्डोरं तक्रं पथ्याय शस्यते ॥ १६९ ॥

[इति वङ्गाधिकारः] ।

परि भस्मातपूर्णकुम्भं तप्तघोमुखं योजयित्वा सन्निरीधं कृत्वा च उपरिष्ठात्
 करीषाग्निं दद्यात्, अप्रिसन्नापेन तस्मात् निक्षुतः यः स्नेहः तलभाण्डे पतित्यति,
 तदेव भस्मातलेन याज्यम् इति ॥ १६२ ॥

वङ्गप्रयोगमाह, वङ्गभस्मसममिति ।—कान्तं कान्तलोहं, तच्च मारितं याज्यम् ।
 कनकाभोभिः धूलूरपत्ररसेः । “कनकाभोभिः” इत्यत्र “कन्यकाभोभिः” इत्येव पाठः
 साधोयान्, तत्र—कन्यकाभोभिः घृतकुमारौरसेः । मयूरस्य अपामार्गैः । भूपालावर्तः
 राजावर्तः । समांशकं वङ्गभस्मातुल्यम् । गाम्बूवकशिलाधातुजलैः गोमूत्रेण शिलाजतु-
 जलेन च, गोमूत्रगन्धिश्शिलाजतुजलेन इत्यर्थो वा ; अत्र जलेरिति बहुवचननिर्देशेन
 सप्तवारमर्दनं बोद्धव्यम् । समभागेन इत्यत्र गृहीतेरिति शेषः, बभ्रुकनिर्यामैर्नाकुली-
 बीजचूर्णकैरित्यनेनान्वयः । बभ्रुकः बभ्रुबीजपुष्पं “बांधुलि” इति
 आषा, तस्य निर्यासेः चौरैः क्रावैर्वा । नाकुलीबीजं राखाबीजं शाजलीबीजं वा ।

अथ सीसकम् ।—

अथ शुद्धाशुद्धसीसकलक्षणम् ।—

द्रुतद्रावं महाभारं क्लृप्ते कृष्णं समञ्जलम् ।

पूतिगन्धं वह्निः कृष्णं शुद्धं सीसमतोऽन्यथा ॥ १७० ॥

अथ सीसकगुणाः ।—

अत्युष्णं सीसकं क्षिप्तं तिक्तं वातकफापहम् ।

प्रमेह-तोयदोषघ्नं दीपनञ्चाऽऽमवातनुत् ॥ १७१ ॥

अथ सीसकशोधनम् ।—

सिन्दुवारजटा-कौन्ती-हरिद्राचूर्णकं क्षिपेत् ।

दृते नागेऽथ निर्गुण्डास्त्रिवारं निक्षिपेद्व्रसे ॥

नागः शुद्धो भवेदेवं मूर्च्छास्फोटोदि नाऽऽचरेत् ॥ १७२ ॥

“मृष्टं बन्धूकनिर्यासेनाकुलीवीजचूर्णकैः” इत्यत्र “मृष्टबन्धूकनिर्यासेनाकुलीवीज-
चूर्णकैः” इति पाठे—बाकुची सीमराजी । बङ्गलान्तलीहाभकभक्ष्यं तल्यमानं गृहीत्वा
कनकादीनां प्रत्येकं स्वरसैरेकेकादिनं मर्दयेत्, ततः राजावर्त्तभक्ष्यं बङ्गमानं तत्र
दत्त्वा गोमूत्रेण शिलाजतुक्काद्येन च शिलाजतुभिग्रजलेन वा अथवा गोमूत्रगन्ध-
शिलाजतुक्काद्येन मग्राहं भावयित्वा पश्चात् गुग्गुलुकाद्येन टिनाष्टकं मर्दयेत्, अनन्तरं
शोधयित्वा विघूर्ण्य च बन्धूकनिर्यासेन नाकुलीवीजचूर्णेन च तल्येन मर्दयेत्,
ततो बन्धूपतं विधाय पावान्तः स्थापयेत् । अष्टरक्तिमितं तच्चूर्णं हरिद्राचूर्ण-
गन्धतकानुपानेन प्रयोजयेत् । तिलोद्भवं तिलतेजं तिलवीजं वा । तिक्ततुण्डीरं विष्ठी-
फलम् ॥ १६३—१६९ ॥

प्रशस्ताप्रशक्तसीसकलक्षणमाह, द्रुतद्रावमिति ।—अतोऽन्यथा इत्यत्र अशुद्धमिति
शेषः ॥ १७० ॥

सीसकगुणमाह, अत्युष्णमिति ।—तोयदोषघ्नं दुष्टजलोपथोगजनितव्याधिनिवा-
रकम् इत्यर्थः ॥ १७१ ॥

शोधनमाह, सिन्दुवारजटिति ।—कौन्ती रेणुकम् । सीसकमग्निसत्त्वादेन विलाप्य
सिन्दुवारमूलादीनां चूर्णैः सह घृष्टा घृष्टा निर्गुण्डीरसे निक्षिपेत्, एवं वाऽ-
न्यम् ॥ १७२ ॥

अथ सौसकमारणम् ।—

तिर्य्यगाकारचुल्लान्तु तिर्य्यग्वक्त्रं घटं न्यसेत् ।
 तच्च वक्त्रं विना सर्वं गोपयेत् यत्नतो मृदा ॥ १७३ ॥
 भृष्टयन्त्राभिधे तस्मिन् पात्रे सौसं विनिक्षिपेत् ।
 पलविंशतिकं शुद्धमधस्तोत्रानलं क्षिपेत् ॥ १७४ ॥
 द्रुते नागे क्षिपेत् सूतं शुद्धं कर्षमितं शुभम् ।
 घर्षयित्वा क्षिपेत् चारमेकैकं हि पलं पलम् ॥ १७५ ॥
 अर्जुनस्याक्षतृक्षस्य महा-राजगिरेरपि ।
 टाडिमस्य मयूरस्य क्षिप्त्वा चारं पृथक् पृथक् ॥ १७६ ॥
 एवं विंशतिरात्राणि पचेत्तोत्रेण वङ्किना ।
 विघट्टयन् दृढं दोर्भ्यां लोहद्व्यां प्रयत्नतः ॥ १७७ ॥
 रक्तं तज्जायते भस्म कपोतच्छायमेव वा ।
 नागं दोषविनिर्मुक्तं जायतेऽतिरसायनम् ॥ १७८ ॥

मतान्तरम् ।—

हृतमृत्यापितं सौसं दशवारिण सिध्यति ।
 तन्मृतं सौसकं सर्वदोषमुक्तं रसायनम् ॥ १७९ ॥

मारणमाह, तिर्य्यगिति ।—अक्षः विभीतकः । महा राजगिरिः शाकविशेषः, अजशाकमिति यावत्, स तु लघुस्थूलभेदेन द्विविधः, अथ च स्थूलो ग्राह्यः । मयूरः अपभारगः । अत्रेदं कार्यं—वक्राकारां चुल्लीं कृत्वा तदुपरि घटमेकं वक्रमुखं कृत्वा स्थापयेत्, ततो वक्त्रमात्रं विधाय कृत्स्नं घटावयवं मृत्पेनाच्छादयेत्, भृष्टयन्त्राण्यस्मिन् यन्त्रे विंशतिपलमानं शुद्धं सौसकं दत्त्वा तोत्रोत्पापेन द्रव्यीकृत्यात्, ततः तस्मिन् कर्षप्रमाणं शोधितपारदं प्रक्षिप्य द्रव्यां घट्टयेत्, मिश्रीभूते च तस्मिन् प्रथमं पलमानम् अर्जुनादोनां चारं पृथक् पृथक् दत्त्वा लोहद्व्यां दृढं घट्टयन् तोत्रार्द्रपेना विंशतिरात्रं पचेत् । कपोतच्छायं पारावतवर्णं, धूसरवर्णमिति यावत् ॥ १७३—१७८ ॥

मतान्तरे मारणमाह, हृतमिति ।—आदौ भस्मीकृत्य ऊर्ध्वपातनायन्त्रे उत्थापयेत्, ततः पुनः भस्मीकृत्य पुनरुत्थापयेत्, एवं दशवारिण सौसकस्य निश्चयं भस्म भवति ।

अथ सीसकस्य निरुत्यभक्षीकरणम् ।—

अश्वत्थ-चिञ्चात्वग्भक्ष्यं नागस्य चतुरंशतः ।
क्षिपेन्नागं पचेत् पात्रे चालयेन्नोदचाटुना ॥ १८० ॥
यामाङ्गस्य तदुद्धृत्य भक्ष्यतुल्या मनःशिला ।
जम्बीरैरारनालैर्वा पिष्ट्वा रुद्ध्वा पुटे पचेत् ॥ १८१ ॥
स्वाङ्गशीतं पुनः पिष्ट्वा विंशत्यंशशिलायुतम् ।
अस्त्रेणैव तु यामैकं पूर्ववत् पाचयेत् पुटे ॥
एवं षष्टिपुटैः पक्वो नागः स्यात् सुनिरुत्थितः ॥ १८२ ॥

अथ निरुत्यभक्षीकरणे मतान्तरम् ।—

शिलया रविदुग्धेन नागपत्राणि लेपयेत् ।
मारयेत् पुटयोगेन निरुत्यं जायते तथा ॥ १८३ ॥

अथ सीसकप्रयोगः ।—

एवं नागोद्भवं भक्ष्यं ताप्यभस्माद्धभागिकम् ।
पाटं पाटं क्षिपेद्भस्मं शुल्बस्य विमलस्य च ॥ १८४ ॥
कान्ताभ्रसत्त्वयोद्यापि स्फटिकस्य पृथक् पृथक् ।
सर्वमेकत्र सञ्चूर्ण्य पुटेक्षिफलवारिणा ॥ १८५ ॥
त्रिंशदनगिरिण्डैश्च त्रिंशद्द्वारं विचूर्ण्य तत् ।
व्योषवेक्षकचूर्णैश्च समांशैः सह मेलयेत् ॥ १८६ ॥

छत्यापनप्रकारो यथा—“मदयेत् कन्यकाद्भावैः चूर्णितैः रात्रिपादकैः । पातयेत् पातनायन्त्रे इत्युत्पापनसौरितम् ॥” इति ॥ १७८ ॥

मतान्तरमाह, अश्वत्थचिञ्चेति ।—लोदचाटुना लोदद्वयं । सीसकात् प्रत्येकं पादिकम् अश्वत्थवल्कलभक्ष्यं तथा तिलिकीत्वग्भक्ष्यं पात्रस्थे प्रदुते नागे जिघ्रा लोदद्वयं ग्रामं विघट्टयन् भक्ष्यं कुर्यात्, ततः तं भक्ष्यनागं तुल्यमनःशिलया सन्नेयं जम्बीर-रमेरारनालैर्वा पि । पुटे पचेत्, स्वाङ्गशीतञ्च तमुद्धृत्य विंशतिभागैकभागमनः-शिलया सह जम्बीरादीनां केनचिदस्त्रेण पुनः मर्दयित्वा ग्रामं पुटेत्, एवं षष्टिपुटैः नागस्य निरुत्यं भक्ष्यं जायते ॥ १८०—१८२ ॥

प्रकारान्तरमाह, शिलयेति ।—स्यद्धम् ॥ १८३ ॥

मध्वाज्यसहितं हन्ति प्रलीढं वल्लमात्रया ।

अशीतिं वातजान् रोगान् धनुर्वातं विशेषतः ॥ १८७ ॥

कफरोगानशेषांश्च मूत्ररोगांश्च सर्वशः ।

श्वासं कासं चैवं पाण्डुं श्वयर्थुं शीतकज्वरम् ॥ १८८ ॥

ग्रहणीमामदोषश्च वर्ज्यमान्यं सुदुर्जरम् ।

सर्वानुदकदोषांश्च तत्तद्रोगानुपानतः ॥ १८९ ॥

[इति सीसकाधिकारः] ।

अथ पित्तलम् ।—

अथ पित्तलस्य द्विविधनिर्देशः ।—

रीतिका काकतुण्डो च द्विविधं पित्तलं भवेत् ॥ १९० ॥

अथ रीतिकालक्षणम् ।—

सन्ताप्य काञ्चिके क्षिप्त्वा ताम्राभा रीतिका मता ॥ १९१ ॥

अथ काकतुण्डो लक्षणम् ।—

एवं या जायते कृष्णा काकतुण्डोति सा मता ॥ १९२ ॥

नागप्रयोगमाह, एवमिति ।—एवं पूर्वकर्मणो भक्ष्यभूतम् । ताप्येति ।—सीस-
काञ्चिं स्वर्णमालिकभक्ष्यं । विशदिति ।—त्रिशद्वर्णापले, त्रिशद्वारं पटेदिति योजनीयम् ।
क्षिप्तकं विडम् । समाश्रितः प्रत्येकं नागपरिमितैः, वल्लमानैः औषादचूर्णै-
रित्यर्थः ॥ १८४—१८९ ॥

पित्तलस्य भेदमाह, रीतिकेति ।—रीतिका पित्तलम् । काकतुण्डो राजरीतिः,
पित्तलविशेषः, “कांवा पित्तल” “वेडा पित्तल” इति च भाषा । तच्च क्रविसधातुर्जयं,
यदुक्तं भावप्रकाशे—“रीतिरप्युपधातुः स्यात् ताम्रस्य यशदस्य च । पित्तलस्य
गुणो ज्ञेयाः स्वयोनिसदृशा जगैः ॥ संयोगजप्रभावेण तस्याप्यन्ये गुणाः स्यूताः ॥”
इति ॥ १९० ॥

रीतिकाया लक्षणमाह, सन्ताप्येति ।—यत् पित्तलमुष्णीकृतं काञ्चिके क्षिप्तं
ताम्रवर्णं भवेत् सा रीतिकेत्यर्थः ॥ १९१ ॥

काकतुण्डो लक्षणमाह, एवमिति ।—यस्य उष्णीकृतं काञ्चिके क्षिप्तं कृष्णवर्णं
ज्ञानं सा काकतुण्डो ज्ञेया इत्यर्थः ॥ १९२ ॥

अथ रीतिकाया गुणाः ।—

रीतिस्त्रिक्तरसा रुक्षा जन्तुघ्नी मास्रपित्तनुत् ।

पाण्डुकुष्ठहरा योगात् सोष्णवीर्या च शीतला ॥ १८३ ॥

अथ काकतुण्डा गुणाः ।—

काण्डतुण्डो गतस्त्रेहा तिक्रोष्णा कफपित्तनुत् ।

यक्तप्लोहहरा शीत-वीर्या च परिकीर्त्तिता ॥ १८४ ॥

अथ शुभरीतिकालक्षणम् ।—

गुर्वी मृद्वी च पीताभा साराङ्गी ताडनक्षमा ।

सुस्निग्धा मसृणाङ्गी च रीतिरेतादृशी शुभा ॥ १८५ ॥

अथ अगुभरीतिकालक्षणम् ।—

पाण्डु-पीता खरा रुक्षा बर्बरा ताडनाक्षमा ।

पूतिगन्धा तथा लघ्वी रीतिर्नेष्टा रसादिषु ॥ १८६ ॥

अथ रीतिकाशोधनम् ।—

तस्मां क्षिप्वा च निर्गुण्डो-रसे श्यामारजोऽन्विते ।

पञ्चवारिण संशुद्धिं रीतिरायाति निश्चितम् ॥ १८७ ॥

रीतिकाया गुणमाह, रीतिरिति ।—जन्तुघ्नी किमिनाशिनो । योगादिति ।—
उष्णवीर्यद्रव्यसंयोगात् उष्णवीर्या शीतवीर्यद्रव्यसंयोगाच्च शीतवीर्या भवती-
त्यर्थः ॥ १८३ ॥

काकतुण्डा गुणमाह, काकतुण्डोति ।—गतस्त्रेहा निःस्त्रेहा, रुक्षा इति यावत् ।
“गतस्त्रेहा” इत्यत्र “त्वतिस्त्रेहा” इति पाठान्तरम् ; युक्तश्चेतत् राजनिघण्टुसंवादान्,
तथा च—“शुद्धा स्निग्धा मृदुः शीता” इत्यादि ॥ १८४ ॥

प्रशक्तीति लक्षणमाह, गुर्वीति ।—मृद्वी कोमला, सुखस्पर्शा इत्यर्थः । साराङ्गी
दृढा, क्लिष्टरहितेयर्थो वा । ताडनक्षमा आघातसह्य, घनघातेऽपि न भज्यते
इत्यर्थः ॥ १८५ ॥

दृष्टरीतिलक्षणमाह, पाण्डुपीतेति ।—पाण्डुपीतमिश्रवर्णा । बर्बरा अधमा
इत्यर्थः ॥ १८६ ॥

शोधनमाह, तथेति ।—श्यामारजोऽन्विते हरिद्राचूर्णसंयुते ॥ १८७ ॥

अथ रीतिकाद्रावणम् ।—

सुवर्णरीतिकाचूर्णं भक्षितं विष्ठितं पुनः ।

क्रागेन कृष्णवर्णेन मत्तेन तरुणेन च ॥ १८८ ॥

तल्लितं खर्परे दग्धं द्रुतिं मुञ्चति शोभनाम् ।

चतुर्दश-लसद्गर्ग-सुवर्ण-सदृशच्छविः ॥

देहलीहकरो प्रोक्ता युक्ता रसरसायने ॥ १८९ ॥

अथ रीतिकामारणम् ।—

निम्बूरस-शिला-गन्ध-वेष्टिता पुटिताऽष्टधा ।

रीतिरायाति भस्मत्वं ततो योज्या यथायथम् ॥ २०० ॥

मतान्तरम् ।—

ताम्रवन्मारणं तस्याः कृत्वा सर्वत्र योजयेत् ॥ २०१ ॥

अथ पित्तप्रयोगः ।—

मृतारकूटकं कान्तं व्यामसत्त्वञ्च मारितम् ।

त्रयं समांशकं तुल्य-व्याघ्रं जन्तुघ्नसंयुतम् ॥ २०२ ॥

ब्रह्मवीजाजमोदाग्नि-भस्माततिलसंयुतम् ।

सेवितं निष्कमात्रं हि जन्तुघ्नं कुष्ठनाशनम् ॥

विशेषाच्छेतकुष्ठघ्नं दौषघ्नं पाचनं हितम् ॥ २०३ ॥

[इति पित्तलाधिकारः] ।

द्रावणमाह, सुवर्णंति ।—सुवर्णवत् पीताभपित्तलचूर्णं कृष्णवर्णं तरुणं मत्तञ्च क्रागेन भोजयेत्, यदा भक्षितं तत् रीतिकाचूर्णं विष्टाकपेण परिणतं सत् निर्गच्छति, तदा तं मलं खर्परे लिप्ता दहति, एवञ्च उत्कृष्टं द्रव्यं निःसरति । चतुर्दशेति ।—चतुर्दशभिः चतुर्दशविधैः लसद्भिः लज्जलेः वर्णैः सुवर्णसदृशी छविः कान्तिः सन्नाः सा तादृशी अत्युज्ज्वलकर्बूरवर्णा इत्यर्थः । प्रायुक्तां द्रुतिमिति द्वितीयान्तपदम् अथ चाकृष्य लिङ्गविपरिणामेन अन्वेतव्यः ॥ १८८-१८९ ॥

मारणमाह, निम्बूरमेति ।—सुगमम् ॥ २०० ॥

मारणान्तरमितिदिशति, ताम्रवदिति ।—सुगमम् ॥ २०१ ॥

पित्तप्रयोगविधिमाह, मृतारकूटकमिति ।—मृतारकूटकं पित्तप्रभञ्जकं । जन्तुघ्नः

अथ कांस्यम् ।—

अथ कांस्यस्य उत्पत्तिनिर्देशः ।—

अष्टभागेन ताम्रेण द्विभागखुरकेण च ।

विद्रुतेन भवेत् कांस्यं तत् सौराष्ट्रभवं शुभम् ॥ २०४ ॥

अथ प्रशस्तकांस्यलक्षणम् ।—

तीक्ष्णशब्दं मृदु स्निग्धमीषच्छामलशुभ्रकम् ।

निर्मलं दाहरक्तञ्च षोढा कांस्यं प्रशस्यते ॥ २०५ ॥

अथ अप्रशस्तकांस्यलक्षणम् ।—

तत् पीतं दहने ताम्रं खरं रुक्षं घनासहम् ।

मन्दनादं गतज्योतिः सप्तधा कांस्यमुत्सृजेत् ॥ २०६ ॥

अथ कांस्यगुणाः ।—

कांस्यं लघु च तिक्तोष्णं लेखनं दृक् प्रसादनम् ।

क्षमिकुष्ठहरं वात-पित्तघ्नं दीपनं हितम् ॥ २०७ ॥

विडङ्गम् । ब्रह्मबीजं पलाशबीजं ब्रह्मीशाकबीजं वा । अजमोढा यमानी, अन्तःपरिभाजकत्वात् । अग्निः चित्रकः । आरकूटादि तिलान्तं द्वादशद्रव्यं समंश्च गृहीत्वा मिश्रीकृत्य श्रावमाणेन प्रयोज्यमिति ॥ २०२।२०३ ॥

मिश्रधातोः कांस्यस्य उत्पत्तिप्रकारमाह, अष्टभागेनेति ।—खुरकेण तदाख्यवज्जेन । “खुरकेण” इत्यत्र “कुटिलेन” इति पाठे—कुटिलेन रङ्गेण । तदिति ।—सौराष्ट्र-देशोत्पन्नं तत् कांस्यम् उत्तमम्, एतादृशमिष्येन यत् कांस्यं भवति तदेव सुराष्ट्रजं कांस्यं शुभञ्च इत्यर्थः । एतस्य मिश्रधातुत्वे प्रमाणं प्रागेव प्रदर्शितम् इति ॥२०४॥

प्रशस्तकांस्यलक्षणमाह, तीक्ष्णशब्दमिति ।—मृदु कोमल, सुखस्पर्शमित्यर्थः । ईषदिति ।—ईषत् स्थामाभयुभयवर्णम् । दाहरक्तम् अग्निसन्तापेन रक्तवर्णम् । षोढा षड्विधम् ॥ २०५ ॥

अवरकांस्यलक्षणमाह, तदिति ।—घनासहं “घनाग्निसहन्नाहं कांस्यमुत्तम-भौरितम्” इति राजनिघण्टुवचनेन घनाग्निसह्यस्य उत्तमकांस्यलक्षणत्वात् तद-विषयांसेन घनाग्न्यसहं, तीव्रानले विदोष्यमाणमित्यर्थः । “मन्दनादं गतज्योतिः” इत्यत्र “मन्दनादागतज्यातिः” इति पाठे तु—घर्षणादिना प्रातोऽज्ज्वल्यम् ॥ २०६ ॥

घृतमेकं विना चान्यत् सर्वं कांस्यगतं नृणाम् ।

भुक्तमारोग्यमुखदं हितं सान्त्व्यकरं तथा ॥ २०८ ॥

अथ कांस्यशोधनम् ।—

तप्तं कांस्यं गवां मूत्रे वापितं परिशुध्यति ॥ २०९ ॥

अथ कांस्यमारणम् ।—

स्त्रियते गन्धतालाभ्यां निरुत्यं पञ्चभिः पुटैः ॥ २१० ॥

मतान्तरम् ।—

त्रिचारं पञ्चलवणं समधाऽन्नेन भावयेत् ।

कांस्यारकूटपत्राणि तेन कल्केन लेपयेत् ॥

रुद्ध्वा गजपुटे पक्वं शुद्धिमायाति नान्यथा ॥ २११ ॥

[इति कांस्याधिकारः] ।

अथ वर्तलीहम् ।—

अथ वर्तलीहस्वरूपम् ।—

कांस्यार्क-रौति-लीहाहि-जातं तद्वर्तलीहकम् ।

तदेव पञ्चलीहाख्यं लोहविद्धिरुदाहृतम् ॥ २१२ ॥

गणमाह,—कांस्यमिति । घृतमेकमिति ।—केवलं घृतं विना चान्यत् सर्वं कांस्यपावस्यं सेवितम् आरोग्यादिप्रदं भवति, कांस्यपावस्यघृतस्य विषवदप-
कारकत्वादिति ॥ २०७।२०८ ॥

शोधनमाह, तप्तमिति ।—वापितं प्रक्षिप्तम् ॥ २०९ ॥

मारणमाह, स्त्रियते इति ।—गन्धतालाभ्यां गन्धकद्वरितालाभ्यां सम-
भागाभ्याम् ॥ २१० ॥

मतान्तरे मारणमाह, विचारमिति ।—विचारं “स्वर्जिचारं यवचारं टङ्गणचार-
मेव च । चारवयं समान्यातं विचारश्च प्रकीर्तितम् ॥” इत्युक्तस्वरूपम् । पञ्चलवणं
“मौवचलं सेन्धवश्च विद्धमौद्धमेव च । सामुद्रेण समं पञ्च लवणानि” इत्युक्तस्वरूपम् ।
“आरकूटं पित्तलम् । “कांस्यारकूटपत्राणि” इत्यत्र “कांस्यारघोषपत्राणि” इति
याठे—आरः इति घोषः शब्दः, संज्ञा इति यावत्, यस्मै स आरघोषः पित्तलशब्दवाच्य
इत्यर्थः ॥ २११ ॥

अथ वर्त्तलोद्गुणाः ।—

हिमालं कटुकं रुक्षं कफपित्तविनाशनम् ।

रुच्यं त्वच्यं क्षमिन्नञ्च नेत्रं मलविशोधनम् ॥ २१३ ॥

तद्वाण्डे साधितं सर्वमन्नव्यञ्जनसूपकम् ।

अन्नेन वर्जितञ्चाति-दीपनं पाचनं हितम् ॥ २१४ ॥

अथ वर्त्तलोद्गोधनम् ।—

द्रुतमश्वजले क्षिप्तं वर्त्तलोद्गं विशुध्यति ॥ २१५ ॥

अथ वर्त्तलोद्गमारणम् ।—

स्त्रियते गन्धतान्त्राभ्यां पुटितं वर्त्तलोद्गकम् ।

तेषु तेष्वथ योगेषु योजनीयं यथाविधि ॥ २१६ ॥

[इति वर्त्तलोद्गाधिकारः] ।

अथ रसोपरसलोद्गानां सूतसाधकत्वनिर्देशः ।—

जातिमद्भिर्विशुद्धैश्च विधिना परिसाधितैः ।

रसोपरस-लोद्गाद्यैः सूतः सिध्यति नान्यथा ॥ २१७ ॥

वर्त्तलोद्गस्य उत्पत्तिप्रकारं पर्यायञ्चाह, कांस्थेति ।—कांस्थतासारकृतसौम-
लौहोतिपञ्चधातुमन्त्रेणोत्पन्नत्वात् तस्य पञ्चलौहेति नामान्तरं बोध्यम् । वर्त्तलोद्गं
“विदरी” इति लोके प्रसिद्धम् ॥ २१२ ॥

गुणमाह, हिमालसिति ।—त्वच्यं त्वचः सौकुमार्यमभ्यादकम् । तद्वाण्डे वर्त्तलोद्ग-
निर्मितप्याल्यम् । साधितं निष्पादितं पक्वमित्यर्थः ॥ २१३-२१४ ॥

शोधनमाह, द्रुतमिति ।—द्रुतं द्रावितमित्यर्थः । अश्वजले अश्वमूत्रे ॥ २१५ ॥

मारणमाह, स्त्रियते इति ।—गन्धतान्त्राभ्यां गन्धकहरितालाभ्याम् ॥ २१६ ॥

शोधितानामेव रसोपरसादीनां सूतकर्मणि प्रयोज्यतामाह, जातिमद्भिर्विति ।—
जातिमद्भिः अक्राचिभैः । विशुद्धैः प्रशुद्धैः । विधिना परिसाधितैः यथाशास्त्रं
शोधितमारितैः । रसेति ।—रसशब्देनात्र मङ्गारसा यास्याः । एवंविधमङ्गारसोप-
रसलोद्गादिसंयोगात् स्नेहमूष्णनायोक्तोवर्धिशकर्मसिद्धः पारदः दिङ्गलोद्गमयलादि-
करो भवति, नान्यथा इति ॥ २१७ ॥

अथ भस्मीभूतरत्नादीनामेव सूतयोगे प्रयोज्यतानिर्देशः ।—

रत्नानि लोहानि वराटशुक्ति-पाषाणजातं खुरशृङ्गशल्कम् ।
महारसाद्येषु कठोरदेहं भस्मीकृतं तत् खलु सूतयोग्यम्
॥ २१८ ॥

अथ भूनागः ।—

अथ भूनागसत्त्वपातनम् ।—

षज्जाणां द्रावणार्थाय सत्त्वं भूनागजं ब्रूवे ।
तदेव परमं तेजः सूतराजेन्द्र-वज्रयोः ॥ २१९ ॥
धीत-भूनागसम्भूतं मर्दयेद्भृङ्गजद्रवेः ।
निम्बुद्रवैश्च निर्गुण्ड्याः स्वरसौस्त्रादनं पृथक् ॥ २२० ॥
तद्द्रावणगणोपेतं सम्मर्द्य वटकौकृतम् ।
निरुध्य दृढमूषायां द्विदण्डं प्रधमेद्वदम् ॥ २२१ ॥
स्वतः शीतं समाहृत्य पट्टकं विनिवेष्ट्य तत् ।
रवकान् राजिकातुल्यान् रेणूनतिभरान्वितान् ॥ २२२ ॥
हादशांशाकंसंयुक्तान् धमित्वा रवकान् हरेत् ।
प्रक्षाल्य रवकानांशु समादाय प्रयत्नतः ॥ २२३ ॥
वज्रादिद्रावणं तेन प्रकुर्वीत यथेप्सितम् ।
खुरसत्त्वमिदं प्रोक्तं रसायनमनुत्तमम् ॥
द्वित्रिमूषासु चैकस्यां सत्त्वं भवति निश्चयः ॥ २२४ ॥

रत्नादीनां सूतसाधनकर्मणि उपयोगिकरणप्रकारमाह, रत्नानीति ।— शल्कम्
अण्डि । महारसाद्येषु यत् कठोरदेहं वेकालमादिकादिकाठिनद्रव्यम् । सूतयोग्यं
पारदकर्मोपयोगि, भवति इति शेषः ॥ २१८ ॥

वज्रमारणे भूनागसत्त्वस्य उपयोगिता प्रायुक्ता, इदानीं पुनर्द्रावणार्थं तस्य सत्त्व-
पातनमाह, वज्राण्यनिति ।—भूनागः भृङ्ग-रक्ततुल्यकादिपर्यायकः द्रव्यविशेषः ।
किञ्चुलक इति केचित् । हस्यते च—किञ्चुलकप्रचारस्थाने सौमकपृष्टरेखावत् रेखा,
अत एव तस्य भूनागसंज्ञा इति, किञ्च सुखस्यापि तस्य किञ्चिदारक्ताभत्वात् इति

मतान्तरम् ।—

भुजङ्गमानुपादाय चतुष्पृष्ठममन्वितान् ।
 सुवर्णरूप्यताम्रायस्कान्त-सम्भूतभूमिजान् ॥ २२५ ॥
 प्रक्षाल्य रजनीतोयैः शीतलैश्च जलैरपि ।
 उपोषितं मयूरं वा शूरं वा चरणायुधम् ॥ २२६ ॥
 क्रमेण चारयित्वाऽथ तद्विष्टां समुपाहरेत् ।
 क्षाराम्बुः सह सम्प्रेष्य विशोष्य च खरातपे ॥ २२७ ॥
 ततः खर्परके क्षिप्त्वा भर्जयित्वा मर्षीं चरेत् ।
 मर्षीं द्रावणवर्गेण संयुक्तां सम्प्रमर्दिताम् ॥ २२८ ॥
 निरुध्य कोष्ठकामध्ये प्रथमेऽङ्कटिकादयम् ।
 शीतलीभूतमूषायाः खोटमाहृत्य पेप्रयेत् ॥ २२९ ॥
 प्रक्षाल्य रवकान् सूक्ष्मान् समादाय प्रयत्नतः ।
 सुवर्णमानवदुष्मात्वाऽनवं कृत्वा नियोजयेत् ॥ २३० ॥

च तेषामाशयः । यत् किंचिदत्र भूनागशब्देन सीसकमित्याहुः तन्नित्यम् ; सीसक-
 प्रकरणे तत्सत्त्वपातनमनुक्ता अत्र पुनस्तत्प्रसङ्गावतारणस्यासमीचीनत्वादिति । तज्ज-
 सत्त्वं सारम् । तद्वेति ।—पारदहीरकयोः तत् भूनागसत्त्वमेव अतीव नेत्रोवर्द्धकम् ।
 रवकान् तोष्यान् खरानिति यावत्, अक्षलः निति वा । धीतभूनागसम्भूतमित्यत्र चूर्ण-
 मिति शेषः, भूनागमुद्धृत्य प्रक्षाल्य च चूर्णे कृत्वा मृष्टादीनां प्रत्येकं स्वरमेकं दिनद्वयं
 मर्दयेत्, ततो द्रावणवर्गेण सह दिनमेकं सन्ध्यं चार्जिकां कृत्वा दृढमूषायाम् अवबध्य
 दण्डद्वयं तीव्राग्निना चाधमेत् । ततः स्वाङ्गशीतम् आदाय पट्टके बन्ध्याप्य राजिकाव्य-
 सर्षपसदृशान् खरान् गुह्यं रेणून् गृहीत्वा हादग्नांशताप्तेषु सह पुनरपि
 भस्मया आधाप्य खररेणून् गृहीयात्, एवं द्वित्रिवारेण कदाचिद्वारेष्वपि
 सत्त्वं भवति, ततस्तान् प्रक्षाल्य काचकूप्यां निधापयेत् । इदमेव खरसत्त्वाहं
 बोध्यम् ॥ २१९—२२४ ॥

मतान्तरमाह. भुजङ्गमानिति ।—भुजङ्गमशब्देनात्र प्रकरणवशात् मृगजङ्गी
 बोध्यः, ततश्च भूनाग इत्यर्थः । शूरं चरणायुधं पराक्रान्तकुण्डम् । चारयित्वा अत्रचार्यं,
 भोजयित्वेत्यर्थः । तद्विष्टानित्यादि ।—विष्टासमाहारेण चात्र तस्याः प्रथमाः परित्याज्यः

अथ भूनागसत्त्वप्रयोगविधिः ।—

भूनागोद्भवमस्त्वमुत्तममिदं श्रीमौमदेवोदितं
दत्तं पादमितं दिशाणकनकेनैकङ्कगतंनोर्मिकाम् ।
तद्धीताम्बुविलेपनं स्थिरचरोद्भूतं विषं नेत्ररक्
शूलं मूलगदश्च कर्णजकुजो हन्यात् प्रसूतिग्रहम् ॥२३१॥

[इति भूनागाधिकारः] ।

—“मलं मूलं गृहीत्वा च मन्थय्य प्रथमांशिकम्” इति रसेन्द्रचित्तामणि-
प्रमाणात् । खोटं रसज्वारणश्चनट्यविशेषः । भूनागसत्त्वं रसज्वारकत्वात्
अथ खोटशब्देन रवकरेणुरूपं भूनागसत्त्वं बोध्यम् । सुवर्णमानवत् सुवर्णस्य मानं
परिमाणं तद्वत् तादृशिष्ट, स्वर्णतुल्यानित्यर्थः । अनन्तं कृत्वा पुरातनं कृत्वा,
पुरातनमेव तत्त्वत्वं प्रयोज्यं, न तु नवं, “पुराणाः स्युर्गुणैर्युक्ता आसन्वा धातनी रमाः”
इत्युक्तेः । अत्रार्थमर्थः—सुवर्णादीनामाकरभूतभूमिस्थान् चतुष्टयमितान् भूनागान्
सङ्गृह्य हरिद्रास्वरस-शीतलजलाभ्यां प्रक्षाल्य च उपोषितमयूरं वीर्यवान् कुक्कुटं वा तान्
भोजयेत्, ततो यदा स मयूरः कुक्कुटो वा परीषमकृजेत्, तदा व्यक्तप्रथमांशं तत्
परीषं गृहीत्वा टङ्कणचारास्त्रकाङ्गिकादिभिः सङ्ग मर्दयित्वा च तीव्रतपे विशोषयेत्,
ततः खर्परे संस्थाप्य भर्जनकमेण यदा समोवत् कृष्णवर्णं भवेत्, तदा तटादाय
टावणवर्गेण सङ्ग सम्पिष्य कोष्ठिकामध्ये दृढा च दण्डद्वयं भस्त्रया प्रथमेत्, स्वाङ्गशीताश्च
तां मूषामुद्वाह्य खोटोपराज्य रसवन्धनमाधनं तत् खरसत्त्वमादाय पिष्ट्वा प्रक्षाल्य
च समसुवर्णं सङ्ग पुनः ध्यात्वा तन्निस्तृतरवकान् गृहीत्वा च काचकूप्यां व्यापयेत्,
अतीते च संवत्सरे तत् रसकर्मणि अवधारयेत् इति । रसेन्द्रचित्तामणावप्यस्य
सत्त्वपातनविधिमाह, यथा,—“सद्यो भूनागमादाय धारयेत् शिखिनं वधः ।
अथवा कुक्कुटं वीरं कृत्वा मन्दिरमागतम् ॥ मलं मूलं गृहीत्वा च मन्थय्य
प्रथमांशिकम् । आलोक्ष्य चारमध्वाज्यैः धमेत् सत्त्वार्थमादरात् ॥ मुञ्चन्ति
ताम्रवत् सत्त्वं तन्मुद्राजल्पपानतः । नश्यन्ति कङ्कमविधं स्थावरश्च न संशयः ॥”
इति । ताम्रवत् सत्त्ववत्त्वात्, वज्रद्रावण-मृतवन्धनादिकर्मोपयोगित्वाच्च अ-धातोरपि
भूनागसत्त्वस्य लौहनिरुपणाधिकारे यद्वर्णं बोध्यम् ॥ २२५—२३० ॥

भूनागसत्त्वप्रयोगविधिमाह, भूनागोद्भवसत्त्वमिति ।—पादमितमिति दिशाण-
कनकापेक्षया ज्ञेयं, तेन भूनागसत्त्वस्य माषकद्वयं कनकस्य च शायद्वयं शायम् ।

अथ तैलपातनविधिः ।—

अथ अङ्गोष्ठवौजात् तैलपातनम् ।—

मूलान्युत्तरवारुण्या जर्जरीकृत्य काञ्चिके ।

क्षिपेदङ्गोष्ठवौजानां पेशिकां जर्जरीकृताम् ॥

तत्तैलं घृतवत् स्थानं ग्राह्यं तत्तु यथाविधि ॥ २३२ ॥

मतान्तरम् ।—

सम्येष्टोत्तरवारुण्याः पेटकार्या टलान्यथ ।

काञ्चिकेन ततस्तेन कल्केन परिमर्दयेत् ॥ २३३ ॥

रजश्चाङ्गोष्ठवौजानां तद्वद्धा विरलाखरे ।

तद्विलम्ब्याऽऽतपे तीव्रे तस्याधश्चषकं न्यसेत् ॥

तस्मिन्निपतितं तैलमादेयं श्वितनाशनम् ॥ २३४ ॥

कर्मिका अङ्गुरीयकमित्यर्थः । प्रसृतिगुहं प्रसृतिगोमं, मृत्तिकातङ्कमिति यावत् ।
सुवर्णतोलकेन सप्त भुनागसत्त्वमाषद्वयं मिश्रयित्वा अङ्गुरीयकरणीपथोगिकं विधाय
तेन अङ्गुरीयकं कुर्यात् ; तदङ्गुरीयकधौताम्बुविलेपनेन श्यावरजस्तमविषादिकं
विनाशयति ॥ २३१ ॥

तैलानां बीजसत्त्वत्वात् सत्त्वपातनवर्णनप्रसङ्गेन तैलपातनविधिं विवक्षुरादौ
अङ्गोष्ठवौजात् तैलपातनविधिमाह, मूलानीति ।—उत्तरवारुण्याः “राखालग्रशा”
इति प्रसिद्धायाः इन्द्रवारुण्याः । अङ्गोष्ठः अङ्गोष्ठः “धल् चाँकडा” इति
ख्यातः, अङ्गोष्ठो टेबढारु इति वा, “चीकडा” इति ख्यातो वा, काँकरोल” इति
वा ख्यातः, तस्य बीजानां पेशिकां बीजमज्जानम् । जर्जरीकृतां चूर्णितमित्यर्थः ।
उत्तरवारुणीमूलं कट्टयित्वा तदमेन अङ्गोष्ठमज्जचूर्णं परिभाष्य काञ्चिके लिप्ता तीव्रतपे
न्यसेत्, घृतवत् स्थानं यत्तैलं काञ्चिकोपरि उत्तिष्ठेत् तत् वस्त्रखण्डेन पाणिना वा
आकृत्य गृह्णीयात् : यदा,—वक्ष्यमाणविधिना कट्टितोत्तरवारुणीमूलम् अङ्गोष्ठमज्ज-
चूर्णञ्च काञ्चिकेन पिष्टा मृक्षवस्त्रे बद्धा च तीव्रातपे लम्बयेत् तदधः पादमेकं
स्थापयेच्च, लम्बमानवस्त्रबहुवेषधात् यत् तैलं च्यवेत् तत् यास्याम् इति ॥ २३२ ॥

अस्यैव प्रकारान्तरमाह, सम्येष्टेति ।—पेटकारी ज्योतिष्मती । विरलाखरे
प्रतद्रवः । षषकं पादम् ; षषकशब्दः सुरापानपात्रार्थकोऽपि अत्र पाचमानार्थको

मतान्तरम् ।—

अङ्गोक्षबीजसम्भृतं चूर्णं समर्थं काञ्चिकैः ।
 एकरात्रोषितं तत् पिण्डीकृत्य ततः परम् ॥ २३५ ॥
 स्वेदयेत् कन्दुके यन्त्रे घटिकाद्वितयं ततः ।
 ताञ्च पिण्डीं दृढे वस्त्रे बद्ध्वा निष्पीड्य काष्ठतः ॥ २३६ ॥
 अधःपात्रस्थितं तैलं समाहृत्य नियोजयेत् ।
 एवं कन्दुकयन्त्रेण सर्वतैलान्युपाहरेत् ॥ २३७ ॥

मतान्तरम् ।—

अङ्गोक्षस्यापि तैलं स्यात् काकतुण्ड्या समूलया ॥ २३८ ॥
 अथ बाकुचीबीज-घोषाबीजाभ्यां तैलपातनम् ।—

बाकुची-देवदाल्योश्च कर्कोटीमूलतो भवेत् ॥ २३९ ॥

अथ विषमुष्टितैलपातनम् ।—

अपामार्गकषायेण तैलं स्याद्विषमुष्टिजम् ॥ २४० ॥

बोध्यः । इन्द्रवारुण्याः ज्योतिष्मत्याश्च पक्षाणि काञ्चिकेन पिष्टा तत्कल्मेन
 अङ्गोक्षबीजचूर्णं मर्दयेत्, ततः पूर्वोक्तक्रमानुसारेण तैलं गृह्णीयात् ॥ २३१-२३४ ॥

प्रकारान्तरमाह, अङ्गोक्षेति ।—अङ्गोक्षबीजचूर्णं काञ्चिकेन मर्दयित्वा एकरात्रं
 तामयेत्, उपरिष्ठः तत् पिण्डीकृत्य कन्दुकयन्त्रे दण्डद्वयं स्वेदयित्वा पश्चात्
 दृढे वस्त्रे बद्ध्वा काष्ठद्वयेन उभयतः पीषयेत्, अधःपात्रे तैलं पतति ।
 कन्दुकयन्त्रलक्षणञ्च अग्रे वक्ष्यति । यस्यान्तरे इदं स्वेदनयन्त्राख्यम् ; तल्लक्षणं
 यथा—“मासुष्यालौमुखे बद्धे वस्त्रं स्वेद्यं निधाय च । पिधाय पश्चतः यत् तत्
 यन्त्रं स्वेदनं कृतम् ॥” इति ॥ २३५—२३७ ॥

मतान्तरमाह, अङ्गोक्षेति ।—काकतुण्ड्यां श्वेतगन्ध्या । समूलकाकतुण्ड्योरसेन
 अङ्गोक्षबीजं मर्दयित्वा पूर्ववत् कन्दुकयन्त्रे तैलं याच्यम् ॥ २३८ ॥

बाकुचीबीज-घोषाबीजाभ्यां तैलपातनविधिमाह, बाकुचीत्यादि ।—बाकुची
 झीमरात्री । देवदाली हलिचोषकः । कर्कोटी कर्कोटकं, “कर्कोरु” इति
 भाषा । कर्कोटीमूलरसमर्दितबाकुची-देवदालीबीजाभ्यां पूर्वरीत्या तैलमाहरे-
 दिति ॥ २३९ ॥

विषमुष्टिबीजात् तैलपातनविधिमाह, अपामार्गकषायेणेति ।—विषमुष्टिः

अथ जैपालात् तैलपातनम् ।—

मूलकायैः कुमार्याश्च तैलं जैपालजं हरेत् ॥ २४१ ॥

अथ बाकुचीबीजात् तैलपातने प्रकारान्तरम् ।—

कायै रक्तापमार्गस्य बाकुचीतैलमाहरेत् ॥ २४२ ॥

अथ कृष्णामिश्रश्वेतगुग्गाबीजात् तैलपातनम् ।—

कृष्णायाः काकतुण्ड्याश्च वीजचूर्णानि कारयेत् ।

कान्तपाषाणचूर्णञ्च एकीकृत्य निरोधयेत् ।

धान्यराशिगतं पचादुद्धृत्य तैलमाहरेत् ॥ २४३ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनोर्वाग्मटाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये

खोदोद्योगमारणादिनिरूपणं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

“कुचिला” इति ख्याता । अपामार्गकषायभावित्रविषमुष्टिबीजात् पूर्वोक्तक्रमेण तैलमाहरेदिति ॥ २४० ॥

जैपालबीजात्तैलपातनविधिमाह, मूलकायैरिति ।—कुमार्याः घृतकुमार्याः । पूर्वरोत्या कुमारोमूलकायभावित्रजैपालबीजात् तैलमाहरेत् ॥ २४१ ॥

बाकुचीबीजात् तैलपातने प्रकारान्तरमाह, कायैरिति ।—अत्रापि पूर्वक्रमो बोध्यः । “रक्तापमार्गस्य” इत्यत्र द्रवस्कान्तसः ॥ २४२ ॥

कृष्णामिश्रश्वेतगुग्गाबीजात् तैलपातनमाह, कृष्णाया इति ।—कृष्णा पिप्पली कालाजाजी वा । कान्तपाषाणम् अयस्कान्तः । कृष्णादिद्रव्यत्रयमेकीकृत्य पात्रमध्ये मंथ्याय निरुध्य च धान्यराशिमध्ये पत्रं निधापयेत्, पचादुत्तोल्य पूर्ववत् तैलमाकर्षेत् इति ॥ २४३ ॥

इति रसरत्नसमुच्चयेबोधिण्यां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अथ षष्ठोऽध्यायः ।

अथ शिष्योपनयनम् ।— *

अथ रसशास्त्रप्रकटने हितुमिदंशः ।—

रसशास्त्राणि सर्वाणि समालोच्य यथाक्रमम् ।

साधकानां हितार्थाय प्रकटीक्रियतेऽधुना ॥ १ ॥

अथ शास्त्रक्रमयोरन्योऽन्यापेक्षित्वनिर्देशः ।—

न क्रमेण विना शास्त्रं न शास्त्रेण विना क्रमः ।

शास्त्रं क्रमयुतं ज्ञात्वा यः करोति स सिद्धिभाक् ॥ २ ॥

रसशास्त्राणां प्रकटीकरणे कारणं विवक्षुराचार्यः स्वस्मिन् शिष्याणां प्रत्ययीत्-
पादनार्थमादौ आत्मनः रसशास्त्रेषु विशेषज्ञत्वं विवर्णयति, रसशास्त्राणीति ।—यथाक्रमं
पौर्वापर्यानुसारणं, शास्त्रविरहितस्वदनमूर्च्छनोत्थापनादिप्रक्रियाया यथानिर्देशानु-
सारणं, यथा—यथाक्रमं यथाऽनुष्ठानं, स्वयमनुष्ठानादिकं कृत्वा इत्यर्थः, बाह्यं स्वयं
किञ्चिदपि विदधामि किन्तु पूर्वाचार्यप्रणीतानि सर्वाणि शास्त्राणि सम्यक् आलोच्य
अनुष्ठानादिना ज्ञातव्यतयः सन् प्रकटीकरोमि अत एव एतत् सर्वं विश्वास्यमिति ॥१॥

शास्त्रक्रमयोरन्योऽन्यापेक्षित्वमाह, नेति ।—पौर्वापर्यरूपेण विन्यासविरहितं
शास्त्रं न शास्त्रं, शास्त्रविरहितक्रमाऽपि न क्रमः, शास्त्रादन्यत्र क्रमविधानस्य

* सूतस्य सर्वायसाधकशतयाधाने प्रागुक्तमङ्कारसादीनां विशिष्टोपयोगितया प्राक्
तेषां सर्वविधमन्कारमुक्त्वा इदानीं रसस्य शोधनादिकं विवक्षुः आचार्यः रसकर्मणि
सम्यक्मिहितलाभस्य मन्त्रपूजाद्यायत्तत्वात्, मन्त्रादौ पुनः अदौक्षितस्य अनधिकारित्वाच्च
रसकर्म शिशिक्षिषोः शिष्यस्य मन्त्राद्युच्चारणे अधिकारलाभाय शिष्योपनयनीयं नाम
षष्ठमध्यायमारभते, अथेति ।—उपनयनम् उप समीपं, गुरोरिति शेषः, नीयते
प्राप्यते वेदादिशास्त्राभ्यासायमिति तात्पर्यं, येन कर्मणा तत् ; “गृह्योक्तकर्मणा येन
समीपं नीयते गुराः । बालो वेदाय तदयोगात् बालस्थोपनयं विदुः ॥” इत्युक्त-
लक्षणेवेदाधिकारिकरणयोग्यसंस्कारनिर्देशः, अथ च अथर्ववेदीपाङ्गायुर्वेदाधिकारि-
करणार्हः संस्कारविशेषो बोध्यः ।

अथ रसविद्यायां गुरोर्लक्षणम् ।—

आचार्यो ज्ञानवान् दक्षो रमशास्त्रविशारदः ।

मन्त्रसिद्धो महावीरो निश्चलः शिववत्सलः ॥ ३ ॥

देवोभक्तः सदा धीरो देवता-याग-तत्परः ।

सर्वाऽऽम्नायविशेषज्ञः कुशलो रसकर्मणि ॥

एवं-लक्षणसंयुक्तो रसविद्यागुरुर्मवेत् ॥ ४ ॥

अथ रसविद्यासाधकशिष्यलक्षणम् ।—

गुरुभक्ताः सदाचाराः सत्यवन्तो दृढव्रताः ।

निरालस्याः स्वधर्मज्ञाः सदाऽऽज्ञापरिपालकाः ॥ ५ ॥

दम्भ-मात्सर्यनिर्मुक्ताः कुलाचारेषु दीक्षिताः ।

अत्यन्तसाधकाः शान्ता मन्त्राराधनतत्पराः ॥

इत्येवं-लक्षणैर्मुक्ताः शिष्याः स्युः सूतसिद्धये ॥ ६ ॥

अथ रसविद्यासाधकस्य सहायलक्षणम् ।—

सहायाः सोद्यमास्तत्र यथा शिष्यास्ततोऽधिकाः ।

कुलोनाः स्वामिभक्ताश्च कर्त्तव्या रसकर्मणि ॥ ७ ॥

न काऽप्युपयोगिता इत्यर्थः ; यद्वा—अनुष्ठानं विना शास्त्रं न, शास्त्रं विना अनु-
ष्ठानमपि न, यदि अनुष्ठानं न क्रियते तदा शास्त्रपठनस्य वैयर्थ्यं, यदि शास्त्रं
नाधीयते, तदा अनुष्ठानमपि सम्यक् न जायते अतस्तस्य वैयर्थ्यम् इति ॥ २ ॥

रसकर्मोपदेष्टृगुरुलक्षणमाह, आचार्य इति ।—आचार्यः “उपनीय तु यः शिष्यं
वेदमध्यापर्यङ्कितः । सकलं सरहस्यञ्च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥” इत्युक्तलक्षणः
सकलसरहस्यवेदाध्यापयिता । निश्चलः स्थिरमतिः ॥ ३४ ॥

उपदेष्टव्यशिष्यलक्षणमाह, गुरुभक्ता इति ।—कुलाचारेषु स्ववंशीषितर्षनेषु
दीक्षिताः प्राप्नोपदेशाः, स्वधर्मनिष्ठाः इत्यर्थः ; यद्वा—“जीवः प्रकृतितत्त्वञ्च दिक्काला-
काशमेव च । क्षित्ये जीवायवश्च कुलमित्यभिधीयते ॥ ब्रह्मबुद्ध्या निर्विकल्पमेतेष्वा-
चरेण च यत् । कुलाचारः स एवोक्तः” इत्युक्तलक्षणेऽपि कुलाचारेषु दीक्षिताः सर्वभूते
समदर्शिनः इत्यर्थः । सूतसिद्धये सूतस्य सर्वसिद्धिप्रदगुणसम्पादनाय ॥ ५६ ॥

रसकर्मसाधने उपयुक्तसहायलक्षणमाह, सहाया इति ।—सहायाः सहचराः,

अथ रसविद्यासाधने नास्तिकादीनां वैफल्यनिर्देशः ।—

नास्तिका ये दुराचाराश्चुम्बका गुरुतोऽपरात् ।
विद्यां ग्रहीतुमिच्छन्ति चौर्याच्छस्त्रखलोत्सवात् ॥ ८ ॥
न तेषां सिध्यते किञ्चिन्मणिमन्त्रीषधादिकम् ।
कुर्वन्ति यदि मोहेन नाशयन्ति स्वकं धनम् ॥
इहलोके सुखं नास्ति परलोके तथैव च ॥ ९ ॥

अथ रसविद्यायां गुरुसन्तोषस्य सिद्धिप्रदत्वनिर्देशः ।—

तस्माद्भक्ति-बलादेव मन्तुष्यति यदा गुरुः ।
तदा शिष्येण सा ग्राह्या रसविद्याऽऽत्मसिद्धये ॥
हस्तमस्तकयोगेन वरं लब्ध्वा सुसाधयेत् ॥ १० ॥

अथ रससाधनोपयोगिदेशनिर्देशः ।—

आतङ्गरहिते देशे धर्मराज्ये मनोरमे ।
उमामहेश्वरोपेते समृद्धे नगरे शुभे ॥ ११ ॥
कर्त्तव्यं साधनं तत्र रसराजस्य धोमता ।
अत्यन्तोपवने रम्ये चतुर्द्वारोपशोभिते ॥ १२ ॥
तत्र शाला प्रकर्त्तव्या सुविस्तीर्णा मनोरमा ।
सम्यग्वातायनोपेता दिव्यचित्रैर्विचित्रिता ॥ १३ ॥

परिचारका इति यावत् । सीदमा इति ।—शिष्येभ्योऽपि अधिकोद्यमशीलाः
इत्यर्थः । कुलीनाः सङ्गणनाः ॥ ७ ॥

नास्तिकादीनां रसकर्मणि वैफल्यमाह, नास्तिका इति ।—पुम्बकाः धूर्ताः,
यन्येकदेशाभिज्ञाः वा, पञ्चवयादिभ्यः इति यावत् । गुरुत इति ।—गुरुं विहाय
अन्यथात् चौर्यमाश्रित्य अथवा कृशना गुप्तभावेनेत्यर्थः, खले खलकर्मणि यः उत्सवः
आनन्दः आसक्तिरिति यावत्, तस्मात् स्वकीयनास्तिकादिकं निजुल्य साधुत्वपदेशा-
दित्यर्थः, विद्यां ग्रहीतुमिच्छन्ति इति योजना ॥ ८ ॥

गुरुसन्तोषस्य सिद्धिर्हेतुत्वमाह, तस्मादिति ।—हस्तमस्तकयोगेन करशिरःसंयोग-
रूपप्रधानेन । “सुसाधयेत्” इत्यत्र “सुशोधयेत्” इति पाठान्तरम् ॥ १० ॥

अथ रसविद्यादाने दीक्षाविधिः ।—

रसविद्या शिवेनोक्ता दातव्या साधकाय वै ।
यथोक्तेन विधानेन गुरुणा मुदितात्मना ॥ २७ ॥
सुमुहूर्ते सुनक्षत्रे चन्द्रताराबलान्विते ।
कलसं तोयसम्पूर्णं हेमरत्नफलैर्युतम् ॥ २८ ॥
स्थापयेद्रसलिङ्गाग्रे दिव्यवस्त्रेण वेष्टितम् ।
गन्धपुष्पाक्षतैर्धूपैर्नैवेद्यैश्च सुपूजयेत् ॥ २९ ॥
पूजाऽन्ते हवनं कुर्यादयोनिकुण्डे सुलक्षणम् ।
तिलाऽऽज्यैः पायसैः पुष्पैः शतपुष्पादिकैः पृथक् ॥ ३० ॥
अघोरं रसाङ्कुश्या होमान्ते शिष्यमाह्वयेत् ।
कालिनीशक्तिसंयुक्तं रससिद्धिपरायणम् ॥ ३१ ॥

तत्र कालिनीलक्षणम् ।—

{यस्यास्तु कुञ्चिताः केशाः श्यामा या पद्मलोचना । }
{सुरूपा तरुणो भिन्ना विस्तीर्णजघना शुभा ॥ ३२ ॥ }
{मङ्गोर्णहृदया पीन-स्तनभारेण नम्रिता । }
{चुम्बनालिङ्गनस्पर्श-कोमला मृदुभाषिणी ॥ ३३ ॥ }
{अश्वत्थपत्रमदृश-योनिदेश-सुशोभिता । }
{कृष्णपद्मे पुष्पवती सा नारी कालिनी स्मृता ॥ }
{रसबन्धे प्रयोगे च उत्तमा सा रसायने ॥ ३४ ॥ }

तत्र कालिन्यभावे तदनृकल्पविधिः ।—

{तदभावे सुरूपा तु या काचित्तरुणाङ्गना । }

दिश आरभ्य दक्षिणावर्त्तेन । नाममन्त्रैरिति ।—“ओम् नन्दिने नमः” इत्यादि-
रूपमन्त्रैः ॥ २५।२६ ॥

रसविद्यादानार्थं दीक्षाविधिमाह, रसविद्येति ।—योनिकुण्डे योन्याकारे
होमकुण्डे । अघोरं रसाङ्कुश्या इत्यत्र मन्त्रेणेति शेषः, हवनं कुर्यादित्यने-
नान्वयः । कालिनीशक्तिसंयुक्तं “यस्यास्तु” इत्यादिना वक्ष्यमाणलक्षणान्वितस्त्री-
द्वितीयम् । कालिनीलक्षणमाह, यस्या इति ।—भिन्ना प्रस्फुटितयोनिर्वा इत्यर्थः ।

{ तस्या देयं त्रिसप्ताहं गन्धकं घृतसंयुतम् ॥
 { कर्षकैकं प्रभाते तु सा भवेत् कालिनीसमा ॥ ३५ ॥ }

एवं शक्तियुतो योऽसौ दीक्षयेत्तं गुरुत्तमः ।

सुस्नातमभिषिञ्चेत मन्त्रेण कलसोदकैः ॥ ३६ ॥

अघोरामङ्कशीं विद्यां दद्याच्छिष्याय सद्गुरुः ।

यथाशक्त्या सुशिक्षेण दातव्या गुरुदक्षिणा ॥ ३७ ॥

अथाऽऽज्ञया गुरोर्मन्त्रं लक्षं लक्षं पृथग्जपेत् ।

“ओम् क्रीं क्रीं क्रीं क्रीं क्रीं अघोरतर प्रस्फुट २ प्रकट २

कह २ शमय २ जात २ दह २ पातय २

ओम् क्रीं क्रीं क्रीं क्रीं क्रीं अघोराय फट्” इममघोरमन्त्रन्तु

“ओम् कामराजशक्तिवोजरसाङ्कशायै आञ्जया

विद्यां रसाङ्कशाम्”

अनया पूजयेद्देवीं शक्तिमङ्कशविद्यया ॥ ३८ ॥

तत्र होमविधिः ।—

{ दशांशं जुह्यात् कुण्डे त्रिकोणे हस्तमात्रके ।
 { जातिपुष्पं त्रिमध्वाक्तं पूर्णान्ते कन्यकाऽर्चनम् ॥ ३९ ॥ }

कृत्वाऽथ प्रविशिच्छालां शुद्धां लिप्तां सवेदिकाम् ।

षट्कोणं मण्डलं तत्र सिन्दूरेण दिङ्मस्तकम् ॥ ४० ॥

जमिता नसा जाता । अथ “नामिता” इति साधोयान् । पुष्पवती
 षट्पुमती । कालित्या अभावे तदनुकल्पनाह, तदिति ।—कर्षकैकम् एकैक-
 कर्षं, गन्धकमेककर्षं घृतैककर्षमित्यर्थः । दीक्षाप्रकारमाह, एवमिति ।—
 कलसोदकैः रसलिङ्गाय स्थापितस्य हेमरवादिभुक्तकलसस्य जलैः । अथेति ।
 —अघोरमन्त्रं तथा रसाङ्कशविद्यां प्रत्येकं लक्षजपं कुर्यात् । अघोरमन्त्रमाह,—
 ओम् क्रीं क्रीं क्रीं क्रीं क्रीं अघोराय फट् । रसाङ्कशमन्त्रमाह,—ओम् कामेश्यादि । पूजान्ते होमविधिमाह,
 दशांशमिति ।—दशांशमिति जपसङ्ख्यापेक्षया दशभागैकभागं त्रिमध्वाक्तं सध्वाज्य-
 शर्करासंयुक्तं जातिपुष्पं जुह्यात् । त्रिमधुलक्षणं यथा राजनिघण्टौ—“सितामाक्षिक-
 सर्षपौषि मिलितानि यदा तदा । मधुरवयनाख्यातं त्रिमधु स्नात् मधुवयम् ॥” इति ।

अथ रसमाधनोपयोगिगृहनिर्माणप्रकारनिर्देशः ।—

तत्समीपे समे दोमे कर्तव्यं रसमण्डपम् ।

अतिगुप्तं सुविस्तीर्णं कपाटागलशोभितम् ॥ १४ ॥

ध्वजच्छत्रवितानाढ्यं पुष्पमालाविलम्बितम् ।

भेरि-काहल-घण्टादि-शृङ्गिनादविनादितम् ॥ १५ ॥

भूः समा तत्र कर्तव्या सुदृढा दर्पणोपमा ।

तन्मध्ये वेदिका रम्या कर्तव्या लक्ष्णान्विता ॥ १६ ॥

अथ रसलिङ्गप्रस्तुतप्रकारनिर्देशः ।—

निष्कत्रयं हेमपत्रं रसेन्द्रं नवनिष्ककम् ।

अस्त्रेण मर्दयेद्यामं तेन लिङ्गन्तु कारयेत् ॥ १७ ॥

दोलायन्त्रे सारनाले जम्बीरस्थं दिनं पचेत् ।

तल्लिङ्गं पूजयेत्तत्र सुशुभैरुपचारकैः ॥ १८ ॥

अथ रसलिङ्गाचर्चनादौ फलनिर्देशः ।—

लिङ्गकोटिमहस्यस्य यत् फलं सम्यगर्चनात् ।

तत् फलं कोटिगुणितं रसलिङ्गाचर्चनाद्भवेत् ॥ १९ ॥

रसमाधनोपयोगिर्निर्देशं तथा सामान्यतो गृहप्रकारश्चाह, आतङ्केति ।—अथन्तो-
पवने उपवनबहुले, उपवनप्रान्ते वा । तत्र पूर्वाङ्कप्रकारनिर्देशे ॥ ११—१३ ॥

तत्र केवलरसमाधनार्थमेव विशेषगृहनिर्माणप्रकारमाह, तदिति ।—तत्समीपे
पूर्वाङ्कदिशा निर्मितगृहमलप्रस्थाने । दोमे मुष्पटे मूर्ध्यकिरणोद्भासिते इत्यर्थः, भूमौ
इति शेषः । वितानं चन्द्रापः, ध्वजादिभिः आढ्यं सज्जम् । काहलः महादक्का ।
समा अनुसनीया । दर्पणोपमा मालिन्यविरहिता मृच्छा वा इत्यर्थः । लक्ष्णान्विता
वेदिका उमरुकाऽऽकारपिण्डिकावती कृतसंस्कारा परिष्कृता चतुरस्रादिलक्षणसयुक्ता
भूमिः ॥ १४—१६ ॥

रसलिङ्गप्रस्तुतप्रकारमाह, निष्कत्रयमिति ।—निष्कत्रयं सार्द्धतोलकम् । दोला-
यन्त्रे इति ।—जम्बीररसमध्ये अङ्गारावस्थितं शिवलिङ्गं दोलायन्त्रे काञ्चिकेन
पचेत् ; यथा—जम्बीरफलमध्यस्थं लिङ्गं दिनं यावत् काञ्चिकेन दोलायन्त्रे पचेत् ।
तत्र वेदिकायाम् ॥ १७।१८ ॥

ब्रह्मइत्यासहस्राणि स्त्री-गोहत्याऽयुतानि च ।
तत्क्षणाद्विलयं यान्ति रसलिङ्गस्य दर्शनात् ॥
स्पर्शनात् प्राप्यते मुक्तिरिति सत्यं शिवोदितम् ॥ २० ॥

अथ पूजाविधिनिर्देशः ।—

आग्नेय्यां श्रीमघोरेण मन्तराजेन चार्चयेत् ॥ २१ ॥

अथ ध्यानम् ।—

अष्टादशभुजं शुभ्रं पञ्चवक्त्रं त्रिलोचनम् ।
प्रेतारूढं नौलकण्ठं रसलिङ्गे विचिन्तयेत् ॥ २२ ॥
तस्योत्सङ्गे महादेवोमेकवक्त्रां चतुर्भुजाम् ।
अक्षमालाऽङ्गुशं दत्ते वामे पाशाभयं शुभम् ॥
दधतीं तप्तहेमाभां पीतवस्त्रां विभावयेत् ॥ २३ ॥

अथ देवपूजाया मन्त्रः ।—

“वाङ्माया श्रीः कामराजशक्तिवीजं रसाङ्गुशा—
ये नमो” हादशार्णेषा ज्ञेया विद्या रसाङ्गुशा ॥ २४ ॥

अथ पूजने प्रकारनिर्देशः ।—

अनया पूजयेद्देवीं गन्धपुष्पाक्षतादिभिः ।
नन्दी-भृङ्गी-महाकाल-कुलीरान् पूर्वदिक्क्रमात् ॥ २५ ॥
पूजयेन्नाममन्त्रैश्च प्रणवादि-नमोऽन्तकैः ।
एवं नित्यार्चनं तत्र कर्त्तव्यं रससिद्धये ॥ २६ ॥

रसलिङ्गार्चनादिफलमाह, लिङ्गकोटिमहत्तयेति ।—सुगमम् ॥ १९/२० ॥

रसलिङ्गस्य पूजाविधिमाह, आग्नेय्यामिति ।—आग्नेय्याम् अग्निक्षेत्रे, वेदिकायां
स्थापितमिति शेषः । श्रीमघोरेण मन्तराजेन वक्ष्यमाण “ओम् क्राम्” इत्यादिरूपेण
अघोरमन्त्रेण ॥ २१ ॥

ध्यानमाह, अष्टादशभुजमिति ।—दत्ते दक्षिणहस्ते ॥ २२/२३ ॥

देवपूजने मन्त्रमाह, वाङ्मायेति ।—हादशार्णां हादशाक्षरा ॥ २४ ॥

पूजनप्रकारमाह, अनयेति ।—अनया रसाङ्गुशाविद्यया । पूर्वदिक्क्रमात् पूर्वस्था

वेदिकायां लिखेत् सस्यक् तद्विष्टाष्टपत्रकम् ।
 कमलं चतुरस्रञ्च चतुर्द्वारैः सुशोभितम् ॥ ४१ ॥
 कर्णिकायां न्यसेत् खल्लं लोहजं स्वर्णलेखितम् ।
 तन्मध्ये रसरजन्तु पलानां शतमात्रकम् ॥
 पञ्चाशत् पञ्चविंशद्वा पूजयेद्रसलिङ्गवत् ॥ ४२ ॥

तत्र रसशक्तयः ।—

{ वज्रवैक्रान्तवज्राभ्र-कान्तपाषाणटङ्कणम् ।
 { भूनागः शक्तयश्चैताः षट्कोणे पूजयेत् क्रमात् ॥ ४३ ॥ }

तत्र उपरसाः ।—

{ गन्धतालककामीस-शिलाकङ्कुष्ठभूषणम् ।
 { राजावर्त्ता गैरिकञ्च ख्याता उपरसा अमौ ॥
 { पूज्या अष्टदलेष्वेते पूर्वादीशानगं क्रमात् ॥ ४४ ॥ }

तत्र महारसाः ।—

{ रसकं विमला ताप्यं चपला तुल्यमञ्जनम् ।
 { हिङ्गुलं सस्यकञ्चैव ख्याता एते महारसाः ॥
 { पूर्वादीशानपर्यन्तं पत्राग्रेषु प्रपूजयेत् ॥ ४५ ॥ }

पूर्णांते पूर्णाहुतिशेषे । कस्यकाऽर्चनं कुमारीपूजनम् । हिङ्गुलकं हस्तद्वयपरिमितपरिधि-
 विशिष्टं । मण्डलमित्यनेनान्वयः । कर्णिकायामित्यादि ।—कर्णिकायां लिखितपद्म-
 बीजकोषोपरि लोहखल्लं संस्थाप्य तन्मध्ये सुवर्णेन रेखामङ्कयित्वा तदुपरि शतपलं
 पञ्चाशत्पलं पञ्चविंशतिपलं वा पारदं न्यस्य रसलिङ्गपूजनक्रमेण पूजयेत् ।
 रसशक्तीराह । वज्रेत्यादि ।—संयोगेन रसशक्तिवर्द्धकत्वात् वज्रादिभूनागान्ताः षट्
 शक्तयः उक्ताः । तास्य अङ्कितमण्डलस्य षट्सु कोणेषु स्थापयित्वा पूजयितव्याः ।
 दीक्षाविधौ उपरसानां नामान्वाह, गन्धेति ।—भूषणं सौराष्ट्रसत्तिका । राजा-
 वर्त्तस्य उपरसत्वेऽपि यदत्र उपरसमध्ये गन्धनं, तत् रससाधनकर्मण्येव बोध्यम् ;
 तेन रसवादे अस्य उपरसत्वं धातुवादे च उपरसत्वम् इति । दीक्षाविधौ महारसानां
 नामान्वाह, रसकमिति ।—तुल्यं, खर्परीतुल्यम् । सस्यकं मयूरकण्ठाभं तुल्यकम् ।
 पूर्ववदेषां च अञ्जनहिङ्गुलयोरुपरस-साधारणरसमध्ये प्राक् पठितयोः यत् महारसेषु

तत्र अष्टलोहपूजाक्रमः ।—

{ पूर्वद्वारे स्वर्णरूप्ये दक्षिणे ताम्रसीसके । }
 { पश्चिम वङ्ककान्तौ च उत्तरे मुण्डतीक्ष्णके ॥ }
 { सर्वमेतदधारेण पूजयेदङ्कुशान्वितम् ॥ ४६ ॥ }

तत्र उपकरणानां पूजाविधिः ।—

{ विडं काञ्चिकयन्त्राणि चारमृत्तवर्णानि च । }
 { कोष्ठौ मूषा वङ्कनालतुषाङ्गारवनोपलाः ॥ ४७ ॥ }

{ भस्त्रिका दण्डिकाऽनेकाः शिलाः खल्लान्युल्लसलम् । }
 { स्वर्णकारोपकरणं समस्ततुलनानि च ॥ ४८ ॥ }

{ मृत्काष्ठताम्रलोहोत्प-पात्राणि विविधानि च । }
 { दिव्यौषधीनां वर्गाश्च रञ्जकस्नेहनानि च ॥ }
 { एतानि द्वारवाह्ये तु मूलमन्त्रेण पूजयेत् ॥ ४९ ॥ }

{ वाङ्माया क्लीं ततः चेच्च क्षय पञ्चाक्षरो मनुः । }
 { अनेन मूलमन्त्रेण भैरवं तत्र पूजयेत् ॥ }
 { सर्वेषां रससिद्धानां नाम सङ्कीर्तयेत्तदा ॥ ५० ॥ }

गणनं तत् रसवादे बोध्यम्, अन्यत्र तु साधारणरसोपरसत्त्वमेव । लोहाष्टकस्य पूजाक्रममाह, पूर्वद्वारे इति ।—अङ्कुशान्वितं रसाङ्कुशमन्त्रेणाभिमन्त्रितम् । साधनानां नामानि पूजाविधिमाह, विडमिति ।—विडं रसजारणार्थं चारवहुल-द्रव्यविशेषः । यदुक्तं रसेन्द्रचिन्तामणौ—“टङ्कणं शतधा भाव्यं द्वावैः पालाशठञ्जैः । विडो वज्रमुखो नाम द्वितीऽयं सर्वजारणे ॥” इति । अस्त्र च बहुवः प्रकाराः सन्ति विलारभयात्ते नाचोदाहृताः, यस्यान्तरे द्रष्टव्याः । यन्त्राणि ऊर्ध्वपातनादीनि । चारः “स्वर्जिका टङ्कणखैव यवचार उदाहृतः” इत्युक्तलक्षणचारवर्गः । मृत् “५. लोकाष्टिका धूमं गेरिकञ्चेष्टका पटुः । इत्येताः ऋतिकाः पञ्च” इत्युक्तपञ्च-ऋतिकाः । कोष्ठौ मूषादयोऽप्ये वक्ष्यमाणाः । दण्डिका मर्दनाय खल्लदण्डविशेषः । “दण्डिका” इत्यत्र “दंष्ट्रिका” इति पाठे—सन्दंष्ट्रयन्त्रमित्यर्थो बोध्यः । दिव्यौषधीनां वर्गाः जीवकर्षभकादयः । रञ्जकस्नेहनानि “मञ्जिष्ठा किंशुकखैव खदिरं रक्तचन्दनम् ।

तत्र रससिद्धानां नामानि ।—

{ व्यालाचार्यश्चन्द्रसेनः सुबुद्धिर्नरवाहनः ।
नागार्जुनो रत्नघोषः सुरानन्दोऽयशीधनः ॥ ५१ ॥ }

{ इन्द्रधूमश्च माण्डव्यश्चर्पाटिः शूरसेनकः ।
आगमो नागबुद्धिश्च खण्डः कापालिको मतः ॥ ५२ ॥ }

{ कामारिस्तान्त्रिकः शम्भुर्लङ्कालम्पटशारदौ ।
बाणासुरो मुनिश्चेष्टो गोविन्दः कपिलो बलिः ॥ ५३ ॥ }

{ एते सर्वे तु सूतेन्द्राः रससिद्धा महाबलाः ।
चरन्ति सर्वलोकेषु नित्या भोगपरायणाः ॥ ५४ ॥ }

{ समविंशतिसङ्ख्याका रससिद्धिप्रदायकाः ।
वैद्याः पूज्याः प्रयत्नेन ततः कुर्याद्रसार्चनम् ॥ ५५ ॥ }

हर्षयन् द्विजदेवानां तर्पयेदृष्टदेवताः ।

कुमारो-योगिनी-योगेश्वरान्मेलकसाधकान् ॥

तर्पयेत् पूजयेद्भक्ता यथाशक्तानुसारतः ॥ ५६ ॥

इत्येवं सर्वसम्भार-युक्तं कुर्याद्रसोत्सवम् ।

सर्वविघ्नप्रशान्त्यर्थं सर्वेप्सितफलप्रदम् ॥ ५७ ॥

करवीरं देवदारु सरलं रजनीद्वयम् ॥ अन्यानि रक्तपुष्पाणि पिष्टा लाक्षारसेन
तु । तैलं विपाचयेत्तेन कुर्याद्बीजादिरञ्जनम् ॥” इति रसेन्द्रचिन्तामण्युक्तपारद-
रञ्जकतैलादीनि । सर्वाण्येतानि रसकृत्वाङ्गाणि रसकर्माणि विघ्नविनाशाय
पूज्यानि इति बोध्यम् । मनुः मन्दः । रससिद्धानां नामानि पूज्यत्वञ्चाह,
व्यालाचार्य इति ।—सूतेन्द्राः सूतसाधने इन्द्रतुल्याः, सूतसाधकश्रेष्ठा इत्यर्थः ।
“सूतेन्द्राः” इत्यत्र “राजेन्द्राः” इति पाठे—राजेन्द्रतुल्या इत्यर्थः । रससिद्धाः
रसे रसशास्त्रे सिद्धाः प्राप्तसाफल्याः, आद्यतौक्ततरसशास्त्राः इत्यर्थः । नित्याः
अविनाशिनः ॥ २७—५७ ॥

अदोक्षितस्य रसविद्यासाधनवैफल्यनिर्देशः ।—

अन्यथा यो विमूढात्मा मन्त्रदीक्षाक्रमाद्विना ।

कर्तुमिच्छति सूतस्य साधनं गुरुवर्जितः ॥ ५८ ॥

नासौ सिद्धिमवाप्नोति यत्नकोटिशतैरपि ।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन शास्त्रोक्तां कारयेत् क्रियाम् ॥ ५९ ॥

अथ रससाधने सिद्धिप्राप्त्यर्थनिर्देशः ।—

सम्यक्साधनमीदृशमा गुरुयुता राजाऽऽज्ञयाऽलङ्कृता

नानाकर्मपराङ्मुखा रसपरायाऽऽद्या जनैश्चार्यिताः ।

मात्रा-यन्त्र-सुपाककर्मकुशलाः सर्वौषधे कोविदा-

स्तेषां सिध्यति नान्यथा विधिवत्ताच्छ्रीपारदः पारदः ॥ ६० ॥

गुरुसन्निधाने अदोक्षितस्य रससाधनेष्विषी नैष्फल्यमाह, अन्यथेति ।—
सुगमम् ॥ ५८।५९ ॥

रसकर्मणि साफल्यहेतुमाहः सम्यगिति ।—सम्यक् यथाशास्त्रं साधनानि विद्या-
पायाः येषां ते, तथा सह उद्यमेन वर्त्तमानाः मीदृशा' सम्यक् साधनाश्च ते मीदृशाश्च
सम्यक्-साधनमीदृशाः विद्यादिसाधनवन्तः उद्यमशोलाश्च । राजाज्ञया राजाज्ञां प्राप्य
अलङ्कृताः भूषिताः राजाज्ञाप्राप्ता सर्धजनपूज्याः । गुरुयुता इत्यादिविशेषणद्वयेन एतस्य
विश्वत्वं ज्ञत्वं प्रतिपादितम् । नानाकर्मपराङ्मुखाः रसपराश्च सर्वकर्मणि परिश्रम-
केवलं रसकर्मनिष्ठाः ; एताभ्यामस्य कार्यमाफल्यम् अवश्यम्भावि इति दर्शितम् ।
आद्याः धनवन्तः ; एतेनास्य सर्वोपकरणसमन्वितत्वं तेन च अवश्यमेव कार्यसाधकत्वम्
उक्तम् । जनैः अर्चिताः पारदसाधनं कुरु इत्येवंरूपेण प्रार्थिताः ; अनेनास्य परोपकार-
शीलत्वं ज्ञापितम् । मातेति ।—मात्रा शोधनार्थं शास्त्ररसादीनां परिमाणं यत्नम् ऊर्ध्व-
पातनादिरूपं सुपाककर्म सुदुरुपेण औषधपाकक्रिया तेषु कुशलाः निपणाः, इयन्मानं
रसादिकं शोध्यन्, एवंविधं यत्नं करणीयम्, एतादृशः पात्रः कर्तव्यः इत्यादिषु
अभिज्ञाः । सर्वौषधे कोविदाः सर्वविधौषधपरिचये प्रयोगे च अभिज्ञाः ; एताभ्यामस्य
दृष्टकर्मत्वेन अवश्यमेव पाकादिसिद्धिः इति बोधितम् । ये एवंविधाः तेषां विधिवत्तात्
विधानवशात् यथाशास्त्रक्रियाकरणात् इत्यर्थः, पारदः पारं जरामरणादिभया-
ज्ज्ञानम् आश्रयमित्यर्थः, ददाति इति तथोक्तः, यदुक्तं रसेश्वरदर्शने—“विधिवत्प्राप्तिः

अथ कश्चै किमर्थं रसविद्या दातव्या तन्निर्देशः ।—

रसशास्त्रं प्रदातव्यं विप्राणां धर्महेतवे ।

राज्ञे वैश्याय वृद्धार्थं दास्यार्थमितरस्य च ॥ ६१ ॥

अथ गुरुसन्तोषस्य सर्वसिद्धिहेतुत्वनिर्देशः ।—

गुरौ तुष्टे शिवस्तुष्टेच्छिवे तुष्टे रसस्तथा ।

रसे तुष्टे क्रियाः सर्वाः सिध्यन्त्येव न संशयः ॥ ६२ ॥

अथ रसविद्याया अवश्यगोप्यत्वनिर्देशः ।—

रसविद्या दृढं गोप्या मातुर्गुह्यमिव ध्रुवम् ।

भवेद्दोष्यवती गुप्ता निर्वीर्या च प्रकाशनात् ॥ ६३ ॥

न रोगिविदितं कार्यं बहुभिर्विदितं तथा ।

रोगिणा बहुभिर्ज्ञातं भवेन्निर्वीर्यमौषधम् ॥ ६४ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनोर्वात्सटाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये

शिष्योपनयनं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथोदयमरणजरासङ्कटेऽपि मर्त्यानाम् । पारं ददाति यस्मात्तस्मात् अग्रमेव
पारदः कथितः ॥” इति । श्रीपारदः पारदाख्यधातुः सिध्यति, अन्यथा एतादृष्यर्थे,
न, सिध्यतीति शेषः ॥ ६० ॥

कश्चै किमर्थं रसविद्या दातव्या तदाह, रसशास्त्रमिति ।—दास्यार्थं
विप्रादिवर्णव्याणां रससाधनकर्मणि साहाय्यकरणार्थम् इत्यर्थः । इतरस्य गूढस्य
सम्बन्धे ॥ ६१ ॥

रसकर्मसिद्धौ गुरुतुष्टेः मुख्यहेतुत्वमाह, गुराविति ।—सुगमम् ॥ ६२ ॥

रसविद्याया अवश्यगोप्यत्वं तथा प्रकाशे च बीर्यहीनत्वमाह, रसविद्येति ।—
सुगमम् ॥ ६३।६४ ॥

इति रसरत्नसमुच्चयबोधिन्यां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः ।

अथ रसशाला ।—

अथ रसशालानिर्माणस्य स्थाननिर्देशः ।—

रसशालां प्रकुर्वीत सर्वबाधाविवर्जिते ।

सर्वौषधिमये देशे रम्ये कूपसमन्विते ॥ १ ॥

यत्न-व्रत्त-महस्राक्षद्विभिन्ने सुशोभने ।

नानोपकरणोपेतां प्राकारेण सुशोभिताम् ॥ २ ॥

अथ रसशालायाः कुत किं कर्म कस्यं तन्निर्देशः ।—

शालायाः पूर्वदिग्भागे स्थापयेद्रसभैरवम् ।

वह्निकर्माणि चाऽऽग्नेये याम्ये पाषाणकर्म च ॥ ३ ॥

नेत्रेत्ये शस्त्रकर्माणि वारुणे चालनादिकम् ।

शोषणं वायुकोणे च वेधकर्मात्तरे तथा ॥

स्थापनं सिद्धवस्तूनां प्रकुर्व्यादौशकोणके ॥ ४ ॥

पञ्चांगे शिष्योपनयनप्रसङ्गेन रसकर्मसम्पादनाद्दृष्टादीनां सङ्क्षिप्तविधानमुक्त्वा
वदानो सर्वोपकरणानामाश्रयत्वेन दृष्टस्य प्राधान्यात् रसशालायां स्थापनीयद्रव्यवर्ण-
नायाः प्राक् पुनश्च तदस्थापनयोग्यं भूविभागं निरूपयति, रसशालामिति ।—रस-
शाला रसमाधनोपयोगि दृष्टम् । यत्नेति ।—यत्नः कुबेरः उदीचधिपतिः, व्रत्तः
वृंशानः वृंशानकोणपतिः, महस्राक्षः इन्द्रः प्राचधिपतिः, तेषां द्विभिन्ने
उत्तरस्यामैशानां पूर्वस्यां वा दिशि, पूर्वोत्तरस्यां दिशि वा ॥ १।२ ॥

एवं निर्मितदृष्टस्य कुत किं पथोजनं सम्पादनीयं तदाह, शालाया इति ।—
रसभैरवं प्रागुक्तरसनिर्मितसिद्धम् । वह्निकर्माणि आपनपुटनादिक्रियाः । पाषाणकर्म
शिलायां मर्दननादिक्रिया । शस्त्रकर्माणि धातूनां परीक्षार्थं यन्त्रादिकरणार्थं छेदनादि-
क्रिया । वारुणे वरुणसम्बन्धिनि, पश्चिमस्यामित्यर्थः । चालनादिकं काञ्चिकादिना
धातनादिकर्म । शोषणम् चार्द्धद्रव्यान्नामातपे शुष्कोकरणम् । वेधकर्म स्पर्शनात्वेन
रमेन्द्रस्य सर्वद्रव्याणां सुवर्णत्वादिप्रापणरूपशक्ताधानकर्म । सिद्धवस्तूनां यथाविधि

अथ रसशलायां सङ्गाह्याणि उपकरणानि ।—

पदार्थसङ्ग्रहः कार्य्यी रससाधनहेतुकः ।

सत्त्वपातनकोष्ठीश्च भरत्कोष्ठीं सुशामनाम् ॥ ५ ॥

भूमिकोष्ठीं चलत्कोष्ठीं जलद्रोण्याऽप्यनकशः ।

भस्त्रिकायुगलं तद्वन्नलिके वंशलोहयोः ॥ ६ ॥

स्वर्णयो-घाष-शुल्काश्म-कुण्डाश्चर्मकृतां तथा ।

करणानि विचित्राणि द्रव्याण्यपि समाहरेत् ॥ ७ ॥

कण्डनी पेषणो स्वल्पा द्राणीरूपाश्च वर्तुलाः ।

आयसास्तसखलाश्च मदकाश्च तथाविधाः ॥ ८ ॥

मारणादिसिद्धरसादीनाम् । अथ पूर्वदिग्भागे रसलिङ्गस्थापनं पूर्वाभिमुखीभूत्वा पूजा-
कार्य्यस्य प्राशस्त्यात् तत्सम्पादनार्थम् । अग्निर्कोणस्य अग्निदेवताकत्वात् अग्निमाध्य-
कर्मणा तत्रैव करणप्राशस्त्यात् आग्नेयां कृतिनिर्देशः । दक्षिणस्य दण्डधराधिपति-
कत्वात् दण्डपाषाणसाध्यमदनादिकर्मणां तत्रैव विधानं कृतम् । नैऋतस्य
राक्षसाधिपतिकत्वात् शस्त्रकर्मणश्च आसुरकत्वात् तन्निषाद्यानां तत्रैव विधानं
सङ्गतम् । पश्चिमस्य वरुणदेवतत्वात् वरुणस्य च जलाधिपत्वात् जालनादिकर्मणः
तत्राभिधानम् । वायुर्कोणस्य मरुदेवताकत्वात् मरुतश्च शोषकत्वात् शोषणादि
कर्मणां तत्र सम्पादनं कर्तव्यम् । उत्तरस्य कुबेराधिदेवताकत्वात् कुबेरस्य च
धनाधिपत्वात् सुवर्णायुत्पादकवेधकर्मणः उत्तरस्या निर्देशः । ईशानस्य ईशानापर-
नामक-शिवदेवतत्वात् शिवस्य च शिवकरत्वात् शिवकराणां मारणादिसिद्धरसादीनां
तत्र स्थापनविधानम् ; यद्वा—“आरोग्यं भास्त्रादिच्छेत्” इत्युक्त्या ईशानस्य मृत्यु-
मूर्तिधर-ईशानाधिपतिकत्वात् सूर्यस्य च आरोग्यप्रदत्वात् आरोग्यजनकसिद्धवस्तूनाम्
ऐशान्यां स्थापनं बोध्यमिति ॥ १४ ॥

तत्र रससाधनार्थं यानि यानि द्रव्याणि स्थाप्यानि तेषां नामान्याह, पदार्थसङ्ग्रहः
इति ।—सत्त्वपातनकोष्ठादिलक्षणमये वक्ष्यति । जलद्रोणः काष्ठादिनिर्मितजला-
धाराः । भस्त्रिका चर्मप्रसेविका, कर्मकाराणां चर्मनिर्मितयन्त्रविशेषः “छापर” इति
भाषा । नलिके इति ।—वंशनिर्मितं खोडनिर्मितञ्च नलिकाद्वयम् । स्वर्णेति ।—
स्वर्णादिनिर्मिताः कुण्डाः स्वल्पाः स्थाव्यः । तथा चर्मकृतां चर्मकाराणां करणानि
स्थापनानि उपकरणभूतानीत्यर्थः, विचित्राणि विविधानि द्रव्याणि । कण्डनी पेषणो

सूक्ष्मच्छिद्रसहस्राऽऽद्या द्रव्यगालनहेतवे ।

चालनी च कटत्राणि शलाका हि च कुण्डली ॥ ८ ॥

तत्र त्रिविधचालनीनां स्थूलद्रव्यचालनार्थं चालनीस्वरूपम् ।—

{ चालनी त्रिविधा प्रोक्ता तत्स्वरूपञ्च कथ्यते ।
 { वैणवीभिः शलाकाभिर्निर्मिता ग्रथिता गुणैः ॥
 { कीर्तिता सा सदा स्थूल-द्रव्याणां गालने हिता ॥ १० ॥ }

तत्र चूर्णचालनार्थचालनीस्वरूपम् ।—

{ चूर्णचालनहेतोश्च चालन्यन्याऽपि वंशजा ॥ ११ ॥ }

तत्र सूक्ष्मतरचूर्णचालनार्थं चालनीस्वरूपम् ।—

{ कर्णिकारस्य शाल्मल्या हरिजातस्य कम्बया ।
 { चतुरङ्गुलविस्तार-युक्तया निर्मिता शुभा ॥ १२ ॥ }

{ कुण्डल्यरत्नविस्तारा क्वागचर्माभिवेष्टिता ।
 { वाजि-वालाम्बरानङ्ग-तला चालनिकाऽपरा ॥
 { तया प्रचालनं कुर्याद्वर्तुं सूक्ष्मतरं रजः ॥ १३ ॥ }

स्वल्पा इत्यत्र स्वल्पा इत्यस्य कण्डनीपेषणीभ्यामुभाभ्यामीव सम्बन्धः, तेन स्वल्पा कण्डनी
 क्षुद्राकारोद्बुल्लमूषलं तथा स्वल्पः पेषणी क्षुद्राकृतिपेषणशिला च । द्रोणीति ।
 —वर्तुल्लकारद्रोणीसदृशपावविशेषः । आयमा इति ।—तत्रस्वल्पार्थं लौहखल्लाः
 लौहनिर्मितखल्लदृष्ट्या । कटत्राणि कटतीति कटः वर्षणं तस्मात् प्रायते इति तानि
 हृत्वादिनिवारणार्थमाच्छादनविशेषः, यद्वा—कटम् औषधं प्रायते इति तानि
 औषधाच्छादनार्थं द्रव्यविशेषः ; यद्वा—कटत्राणि कषायितचर्मखण्डानि इत्यर्थः ।
 शलाका रससिन्दूरादिपाकांश्च लौहनिर्मितालौहनीविशेषः । कुण्डली स्थाली-
 कटाहादिसंख्यापनार्थं तृणादिकृतवेष्टनीविशेषः । चालन्यास्तेविध्यमाह,—चालनी
 त्रिविधेति । तासु स्थूलद्रव्यचालनार्थं चालन्याः स्वरूपमाह, वैणवीभिरिति ।—
 वैणवीभिः वंशनिर्मिताभिः । गुणैः रज्जुभिः । तासु चूर्णचालनार्थं चालन्याः स्वरूप-
 माह,—चूर्णेति । तासु चतिसूक्ष्मचूर्णचालनार्थं चालन्याः स्वरूपमाह, कर्णिकार-
 स्येति ।—कर्णिकारस्य क्षुद्रारन्ध्रस्य । हरिजातस्य हरिः वंशः जातः यस्मात्तस्य
 वंशाक्षुरस्य कम्बया वल्कलेन ; चतुरङ्गुलविस्तारयुक्तया इत्यस्य कम्बयेत्यनेनात्म्यः ।

मूषा-मृत्तुष-कार्पास-वनोपलक-पिष्टकम् ।

त्रिविधं भेषजं धातु-जौव-मूलमयं तथा ॥

शिखित्रा गोवरञ्चैव शर्करा च सितोपला ॥ १४ ॥

तत्र शिखित्रस्वरूपम् ।—

{ शिखित्राः पावकोच्छिष्टा अङ्गाराः कोकिला मताः ॥ १५ ॥ }

तत्र कोकिलास्वरूपम् ।—

{ कोकिलाश्चेतिताङ्गारा निर्वाणाः पयसा विना ॥ १६ ॥ },

तत्र उपलस्य पर्यायाः ।—

{ पिष्टकं कृगणं क्वाणमुपलञ्चोत्पलं तथा ।
{ गिरिण्डोपलसाठो च संशुष्कच्छगणाभिधाः ॥ १७ ॥ }

काचायोमृद्वराटानां कूपिका चषकाणि च ॥ १८ ॥

तत्र कूपिकायाः पर्यायाः ।—

{ कूपिका कुपिका सिद्धा गोला चैव गिरिण्डका ॥ १९ ॥ }

कुण्डलो बालन्या वेष्टनी । अरत्रिविस्तारा प्रसारितकनिष्ठाकुलिवडमुष्टिहस्त-
प्रमाणायता ; चतुरङ्गुलवित्तृतकर्णिकारादिवक्कलनिर्मिता अरत्रिविस्तारवेष्टनीयुक्ता
कामचर्ममण्डिता अश्वपुष्ककेश-सञ्जवस्त्ररचिततलदेशा सूक्ष्मतरदव्यचालनार्थमपरिविधा
बालनीत्यर्थः । पिष्टकं तण्डुलपिष्टं “पिटुली” इति भाषा । त्रिविधं भेषजमिति ।—
धातुमयं स्पर्शादिरूपं व्याधवं, जौवमयं खीरमूत्रपरीवादिषां जङ्गमं, मूलमयं वनौषधा-
दिकम् औद्धिदम् । शर्करा बालका । सितोपला कठिनी “फुलखण्डो” इति भाषा ।
शिखित्रा-शब्दस्यार्थमाह, शिखित्रा इति ।—पावकोच्छिष्टाः अप्रपन्ना मुक्तावांश्टाः,
अप्रज्वलिताः किन्तु अग्निसंस्पर्ष्टाः इत्यर्थः, अङ्गाराः अङ्गारस्वरूपाः कोकिलाः
शिखित्राः शिखिनम् अनलं जायन्ते पालयन्ति प्रदीपनेन रक्षन्ति इति तादृशाः
ज्वलदङ्गाराः इत्यर्थः, मताः । शिखित्रलक्षणे कोकिला उक्ताः, अतः
कोकिला-शब्दस्यार्थमाह, कोकिला इति ।—चेतिताङ्गाराः तप्ताङ्गाराः,
पयसा विना स्वयं निर्वाणाः शान्ताः चेत् ते अङ्गाराः कोकिलाः मताः ;
कोकिलाः “कयला” इति भाषा । शुष्कगोबरस्य पर्यायमाह, पिष्टकमिति ।
—पिष्टकाद्युपलसाव्यन्ताः सप्त शब्दाः संशुष्कच्छगणाभिधाः शुष्कगोमयस्य पर्याया
इत्यर्थः । कूपिकाचषकयोः स्वरूपमाह, काचेति ।—कूपिका “शिखि” “कोतल”

तत्र चषकस्य पर्यायः ।—

{ चषकश्च कटोरो च वाटिका खारिका तथा । }
{ कञ्चोली ग्राहिका चेति नामान्येकार्थकानि हि ॥२०॥ }

शूर्पादिवेणुपात्राणि क्षुद्रशिप्राश्च शङ्खिकाः ।

क्षुरप्राश्च तथा पाक्यं यच्चान्यत्तत्र युज्यते ॥

पालिका कर्णिका चैव शाकच्छेदनशस्त्रकाः ॥२१॥

अथ रससाधनाङ्गानामर्थनायाः कर्तव्यतानिर्देशः ।—

शालासम्भार्जनाद्यं हि रसपाकान्तकर्म यत् ।

तत्रोपयोगि यच्चान्यत्तत् सर्वं परविद्यया ॥ २२ ॥

श्रीरसाङ्कुशया सर्वं मन्त्रयित्वा समर्चयेत् ।

अन्यथा तद्गतं तेजः परिगृह्णन्ति भैरवाः ॥ २३ ॥

अथ रसकर्मणि यादृशा वेद्या निधीय्याः तत्कथनम् ।—

रमसंवित्तरा वेद्या निघण्टुज्ञाश्च वार्त्तिकाः ।

सर्वदेगजभाषाज्ञाः सङ्ग्राह्यास्तेऽपि साधकैः ॥ २४ ॥

इति भाषा । चषक पानपात्रं, “वाटी” “ग्लाम” इति प्रसिद्धम् । कृपिकायाः पर्यायमाह,—कृपिकेति । चषकस्य पर्यायमाह,—चषकमिति । शूर्प शस्यगत-धृत्याद्यपनयनार्थं वंशशल्काकादिनिर्मितः करिकर्णाकारपात्रविशेषः । क्षुद्रशिप्रा, धाट्टाकाराः शुक्तयः । शङ्खिकाः क्षुद्रशङ्खाः । “क्षुद्रशिप्राश्च शङ्खिकाः” इत्यत्र “क्षुद्रशिप्राश्च शङ्खिकाः” इति पाठे—क्षुद्राकारा मन्दगामिन्यश्च शङ्खिकाः शम्बुका इत्यर्थः । पाक्यम् औषधपाकसम्पादनार्थं पात्रविशेषः पांशुलक्षणं वा । पालिका पाकपात्रविशेषः । कर्णिका अस्त्रविशेषः । शाकच्छेदनशस्त्रकाः शाकानां पत्रपुष्प-फलदीनां क्षेदनार्थं शस्त्रविशेषाः ॥ ५—२१ ॥

रससाधनोपयोगिद्रव्याणामभिमन्त्रणस्य कर्तव्यतामाह, शालेति ।—गृह्णमाजंन-मौर्य रसपाकान्तं यत् कर्म, द्रव्याणि च यानि तत्र उपयोगीनि तानि सर्वाणि परमगुह्यश्रीरसाङ्कुशमन्त्रेण अभिमन्त्र्य पूजयेत् तेन च रसकर्म निर्विघ्नं सिध्यति । अन्यथा अपूजने । तद्गतं द्रव्यनिष्ठम् । भैरवाः शिवानुचरभेदाः ॥ २२।२३ ॥

रससाधकेन तत्कर्मसाधनार्थं यादृशा वेद्याः सङ्ग्राह्यत्वेन ग्राह्याः तदाह, रस-

अथ रसपाककाले मन्त्रजपस्य कर्त्तव्यतानिर्देशः ।—

रसपाकावसानं हि सदाऽघोरस्य जापयेत् ॥ २५ ॥

अथ परिचारकलक्षणम् ।—

सौद्यमाः शुचयः शूरा बलिष्ठाः परिचारकाः ॥ २६ ॥

अथ रसकर्मयोग्यस्य वैद्यस्य लक्षणम् ।—

धर्मिष्ठः सत्यवान् विद्वान् शिवकेशवपूजकः ।

सदयः पद्महस्तश्च स योज्यो रसवैद्यके ॥ २७ ॥

अथ पद्महस्तवैद्यलक्षणम् ।—

पताका-कुम्भ-पाथोज-मत्स्य-चापाङ्गपाणिकः ।

अनामाधःस्थ-रेखाङ्कः स स्यादमृतहस्तवान् ॥ २८ ॥

अथ वर्जनीयवैद्यलक्षणम् ।—

अग्नेशिकः क्षपामुक्तो लुब्धो गुरुविवर्जितः ।

क्षयरेखा-करो वैद्यो दग्धहस्तः स उच्यते ॥ २९ ॥

संवित्तरा इति ।—रससंवित्तराः रसविषये अतोव ज्ञानिनः । “रससंवित्तरा वैद्याः” इत्यत “रससंहितया वैद्याः” इति पाठे—रसशास्त्राभिज्ञाः इत्यर्थः, “धान्येन धनवान्” इतिवत् तृतीया । वार्त्तिकः “उक्तानुक्तदुःस्वार्थ-व्यक्तकारिणो वार्त्तिकम्” इत्युक्तलक्षणे सूत्रानुक्तादर्थविष्कारके शास्त्रविशेषे निपुणाः । एतेन रससंवित्तरा इत्यादिविशेषण-क्षतुष्टयेन सर्वशास्त्रदर्शिनो विपश्चितः वैद्यस्य रससाधने सहायीभित्तुमधिकारः इति प्रदर्शितम् ॥ २४ ॥

रसस्य पाकशेषपर्यन्तं मन्त्रजपस्य कर्त्तव्यतामाह, रसपाकेति ।—अघोरमन्त्रजपस्य ॥ २५ ॥

परिचारकलक्षणमाह, सौद्यमा इति ।—सुगमम् ॥ २६ ॥

रससाधनयोग्यस्य वैद्यस्य लक्षणं निर्दिशति, धर्मिष्ठ इति ।—पद्महस्तः अमृतहस्तः पौष्ट्यपाणिः इत्यर्थः ॥ २७ ॥

पद्महस्तं विवृणोति, पताकेति ।—पाथोजं पद्मम् । अनामेति ।—अनामिकाया अङ्गुल्या अघोदेशपर्यन्तमूर्ध्वरेखाचिह्नितकर इत्यर्थः । अमृतहस्तवान् अमृतहस्त इत्यपरपर्यायक-पद्महस्तवान्, पौष्ट्यपाणिरित्यर्थः ॥ २८ ॥

रससाधनाधिकारिपद्महस्तपुरुषनिर्देशप्रसङ्गेन अनधिकारिदग्धहस्तपुरुषलक्षण-

अथ निधिसाधने नियोज्यपुरुषलक्षणम् ।—

भूतनिग्रहमन्त्रज्ञास्ते योज्या निधिसाधने ॥ ३० ॥

अथ बलिसाधने नियोज्यपुरुषलक्षणम् ।—

बलिष्ठाः सत्यवन्तश्च रक्ताक्षाः कृष्णविग्रहाः ।

भूतवासनविद्याश्च ते योज्या बलिसाधने ॥ ३१ ॥

अथ रसायने नियोज्यपुरुषलक्षणम् ।—

निर्लोभाः सत्यवक्तारो देवब्राह्मणपूजकाः ।

यमिनः पथ्यभोक्तारो योजनीया रसायने ॥ ३२ ॥

अथ धातुवादे नियोज्यपुरुषलक्षणम् ।—

धनवन्तो वटान्याश्च सर्वोपस्करसंयुताः ।

गुरुवाक्यरता नित्यं धातुवादेषु ते शुभाः ॥ ३३ ॥

माह, अदेशिक इति ।—अदेश्य निन्दितदेश्य स्नेहादिभूमेरिति यावत्, अयमिति स्नेहादिदेशवासौत्यर्थः, कुर्यामीति वा । कृष्णरेखाकरः कृष्णवर्णरेखाङ्कितकरः पुरुषः । एवम्भूतः पुरुषः दग्धहस्तः अतः वर्जनीयः इत्याशयः ॥ २८ ॥

अधिकारिनिदेशप्रसङ्गेन रससाधनार्थं यदृशि कर्मणि यद्विधानां पुंसामधिकारः तान् विवरीयन् आदौ निधिसाधनार्हानाह, भवेति ।—निधीनां पद्मशङ्खादीनां साधने आद्यौत्तरीय इत्यर्थः । रसकर्मणी वृद्धश्रेयाभ्यासात् तदर्थमङ्गुष्ठार्थं निधिसाधनप्रयोजनम् ; भूताश्च तव विघ्नकरा भवन्ति अतस्तदुत्सादनार्थं भूताभिज्ञानं प्रयोजनम् इति बोध्यम् ॥ ३० ॥

बलिसाधने नियोज्यान् पुरुषानाह, बलिष्ठा इति ।—भूतवासनविद्याः भूतैर्भ्यः वासनं भयप्रदर्शनं विद्या येषां ते भूतापसारकाः । बलिसाधने देव्यादिसमीपे उपहारोक्तद्रव्याणां रक्षणार्थम् ; विविधशुभकार्येषु भूतानां विघ्नोत्पादकत्वादिति ॥ ३१ ॥

रसायनसाधने नियोज्यानाह, निर्लोभा इति ।—यमिनः इन्द्रियनिग्रहशीलाः ॥ ३२ ॥

धातुवादे नियोज्यानाह, धनवन्त इति ।—वटान्याः दानशीलाः । सर्वोपस्करसंयुताः सर्वोपस्करः समसोपकरणं तेन संयुताः सर्वोपकरणवन्तः । धातुवादेषु कार्यक्षेत्रादिधातुसाधनक्रियासु ॥ ३३ ॥

अथ भेषजाह्वये नियोज्यपुरुषलक्षणम् ।—

तत्तदौषधनामज्ञाः शुचयो वस्त्रनीजिताः ।

नानाविषयभाषाज्ञास्ते मता भेषजाह्वतौ ॥ १४ ॥

अथ रसविद्यायां स्वस्वसाफल्यस्य लक्षणम् ।—

शुचीनां सत्यवाक्यानामास्तिकानां मनस्विनाम् ।

सन्देहोन्निभतचित्तानां रसः सिध्यति सर्वदा ॥ १५ ॥

अथ रससिद्धसाधकस्य कर्तव्यनिर्देशः ।—

दशाष्टक्रियया सिद्धो रसोऽसौ साधकोत्तमः ।

हा रसो नष्ट इत्युक्त्वा सेवेतान्यत्र तं रसम् ॥ १६ ॥

अथ रससिद्धेः फलम् ।—

रससिद्धो भवेन्नर्त्तुर्यो दाता भोक्ता न याचकः ।

जरामुक्तो जगत्पूज्यो दिव्यकान्तिः सदा सुखी ॥ १७ ॥

इति श्रीवैद्यपतिमिहगुप्तस्य सूत्रोवांमहाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये

रसशालाप्रकरणं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

भेषजाह्वये नियोज्यानाह, तत्तदिति ।—वस्त्रनीजिताः साध्वीचाराः ।

नानाविषयभाषाज्ञाः नानादेशीयभाषाभिज्ञाः ॥ १४ ॥

अवश्यप्रयत्नं रससाधकं निर्दिशति, शुचीनामित्यादि ।—सन्देहोन्निभतचित्तानां सिद्धिर्लाभे निश्चितमनसाम् ॥ १५ ॥

रससिद्धौ कर्तव्यान्तरमाह, दशाष्टक्रिययेति ।—यथायथं स्वेदनाद्यष्टादशविध-
कर्मणा रसः रसकर्म, सिद्धः सफलः जरामरणादिनिवारकशक्तिसम्पन्न इत्यर्थः, चेत्.
तदा असौ साधकोत्तमः हा खेदे, रसः नष्टः मृतः इत्युक्त्वा स्थानान्तरे पुनरपि रसकर्म
याचरेत् । अथ स्वप्रयत्नसाफल्यजनितदुर्बलज्ञापकाव्ययप्रयोगस्यौचित्येऽपि यत् “हा” इति
विषादाद्यर्थः शब्दः प्रयुक्तः, तत् देवांससम्भूतस्य महाप्रभावस्य रसस्य एवं स्वेदनादि-
कृदर्थनाजनितस्वरूपनाशनरूपमरणात् सदस्यस्य विपश्चितः सद्ब्रह्मज्ञापनार्थमिति
बोध्यं, यथा शत्रुं विनाश्यापि श्रीरामयुधिष्ठिरादीनां विषादः । अथवा हा इति
विशेष्ये । “सिद्धो रसः” इत्यत्र “सिद्धे रसे” इति पाठे—रसे सिद्धे सति ॥ १६ ॥

रससिद्धस्य गुणवत्तमाह, रससिद्ध इति ।—सुखमम् ॥ १७ ॥

इति रसरत्नसमुच्चयबोधिन्यां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथाष्टमोऽध्यायः ।

अथ परिभाषा ।—

अथ परिभाषायाः प्रयोजनम् ।—

कथ्यते सोमदेवेन मुग्धवैद्यप्रबुद्धये ।

परिभाषा रसेन्द्रस्य शास्त्रैः सिद्धैश्च भाषिता ॥ १ ॥

अथ धन्वन्तरिभागः ।—

अहं सिद्धरसस्य तैलघृतयोर्लेह्यस्य भागोऽष्टमः

संमिद्धाखिललोहचूर्णवटकादीनां तथा सप्तमः ।

या दीर्येत भिषग्वराय गदिभिर्निर्दिश्य धन्वन्तरि

सर्वारोग्यसुखामये निगदितो भागः स धन्वन्तरिः ॥ २ ॥

शास्त्रकृतमित्यं शैली यत् ते मुखयद्वेषार्थं नातिविस्तरार्थं केषाञ्चित् शब्दानाम्
अवग्रथाश्रमनादृत्य समुदायाश्रयापनाय परिभाषानाम्नां विशिष्टसंज्ञां विदधति,
तज्ज्ञानमन्तरेण च शास्त्रार्थो दुर्बोवो भवति, अतस्मात् निर्देष्टुम् अष्टमाध्यायमारभते ;
तत्र स्वल्पज्ञानां बोधसौकर्यार्थं सोमदेवोक्तां रसशास्त्रीयां परिभाषामाह, कथ्यते
इति ।—सोमदेवेन तदाख्यरसतन्त्रकर्ता । मुग्धेति ।—अनभिज्ञभिषजां बोध-
सौकर्यार्थम् । परिभाषा अव्यक्तानुक्तलेशोक्तसन्दिग्धार्थप्रकाशकः मानादिज्ञापकश्च
यस्यविशेषः ; यदुक्तं परिभाषाप्रदीपे—“ध्वान्ते पथि चरिणूनां यथा दीपः प्रदर्शकः ।
नानाशास्त्राश्चभिषजां सङ्गोऽयं तथा भवेत् ॥ अव्यक्तानुक्तलेशोक्तसन्दिग्धार्थ-
प्रकाशिकाः । परिभाषाः प्रकथ्यन्ते दीपोभूताः सुनिश्चिताः ॥” इति । अत्र तु रस-
कर्मणि रसविद्भिः विहितस्य समुदायाश्रयबोधकसंज्ञाविशेषस्य अर्थप्रकाशिका परिभाषा
इत्यर्थो बोध्यः । सिद्धैः योगसिद्धपुरुषैः ॥ १ ॥

भिषजां धन्वन्तर्यश्रुत्वात् धन्वन्तरिप्रसादनार्थं रोगिभिः वैद्याय यस्य यथौषधस्य
धन्वन्तरिभाग इति नाम्ना प्रसिद्धः यावान् यावानंशः दातव्यः तदाह, अहंमिति ।—
सिद्धरसस्य जारणादिक्रियानुष्ठानेन जरामरणादिविनाशकशक्तिसम्पन्नस्य रसस्य
अहं प्रस्तुतौषधापेक्षया अहंशम् ; तैलघृतघोरित्यस्यापि अहंमित्यनेन सम्बन्धः ;

अथ रुद्रभागः ।—

भैषज्यक्रीणितद्रव्य-भागोऽप्येकादशो हि यः ।

बणिग्भग्नो गृह्यते वैद्यै रुद्रभागः स उच्यते ॥ ३ ॥

अथ विश्वासघातकवैद्यलक्षणम् ।—

प्रगृह्याधिकरुद्रांशं योऽसमीचीनमौषधम् ।

दापयेत्सुधधीर्वैद्यः स स्याद्विश्वासघातकः ॥ ४ ॥

अथ कज्जली ।—

धातुभिर्गन्धकाद्यैश्च निर्द्रवैर्मर्दितो रसः ।

सुस्रक्ष्णः कज्जलाभोऽसौ कज्जलीत्यभिधीयते ॥ ५ ॥

अथ रसपङ्कः ।—

सद्रवा मर्दिता सैव रसपङ्क इति स्मृतः ॥ ६ ॥

तेन मिहिरसस्य षड् तेलघृतयोरपि षड् देयमिति बोध्यम् ; एवमष्टम सप्तमभागावपि प्राप्तुं लेहाद्यपि च यो बोध्यौ । एवंविधांशगृहणञ्च गुरुविप्रसिद्धतपस्विदुर्गतानाम् औषधप्रस्तुताद्यमाणां स्वभेषजैः चिकित्साकरणार्थं बोध्यं, यदुक्तं चरके—“गुरु-विप्रसिद्धतपस्विदुर्गतानां स्वभेषजैरुपाचरेत्” इति ॥ २ ॥

रुद्रस्य तन्तुकर्तृत्वात् तदनुग्रीविभिर्भिषग्भिः रुद्रप्रसादसम्पादनार्थं रुद्रभाग इति नाम्ना प्रसिद्धः अंशः यथा याज्ञः तदाह, भैषज्येति ।—अथ बणिग्भग्नः भैषज्यार्थं क्रीणितद्रव्याणां य एकादशो भागः इत्येवमन्वयः कार्यः ; किञ्च “सविशेषं हि विशेषणे विशेष्यं बाधित्वाऽपि विशेषणमुपसङ्गामति” इति न्यायात् शिखी विनष्टः पुरुषो न लष्टः इत्येवंदिशा भैषज्यक्रीणितद्रव्यस्य एकादशो भाग इति योजनीयम् । “भैषज्यक्रीणितं द्रव्यं भागः” इति पाठे—भैषज्यार्थं क्रीणीतं यत द्रव्यं तस्य य एकादशो भागः इत्येवमन्वयः । श्रीकोऽयं प्रक्षिप्त इति केचित् ॥ ३ ॥

निन्दनीयवैद्यमाह, प्रगृह्येति ।—अधिकरुद्रांशम् एकादशभागादप्यधिकम् । दापयेत्, बणिग्भिः रोगिभ्य इति शेषः । यः बणिग्भग्नः अधिकरुद्रांशमुत्कोचस्वरूपं रुद्धीत्वा अपक्वद्रव्यमुत्कृष्टमित्युक्ता ते रोगिभ्यो दापयेदित्यर्थः ॥ ४ ॥

कज्जलीमाह, धातुभिरिति ।—धातुभिः स्पर्णादिभिः । गन्धकाद्यैरित्यत्र आदि-पदेन ज्ञानादीनां ग्रहणं बोध्यम् ॥ ५ ॥

अथ पिष्टी ।—

अर्कांशतुल्याद्रसतोऽथ गन्धान्निष्काहृतुल्याद्गुटिशोऽधिखले ।
अर्कातपे तीव्रतरे विमर्द्यात् पिष्टी भवेत् सा नवनीतरूपा ॥ ७ ॥

मतान्तरे पिष्टी ।—

खले विमर्द्य गन्धेन दुग्धेन सह पारदम् ।
पेषणात् पिष्टतां याति सा पिष्टीति मता परैः ॥ ८ ॥

अथ पातनपिष्टी ।—

चतुर्थांशसुवर्णेन रसेन घृष्टपिष्टिका ।
भवेत् पातनपिष्टी सा रसस्योत्तमसिद्धिदा ॥ ९ ॥

अथ स्वर्णरौप्ययोः कृष्टी ।—

रूप्यं वा जातरूपं वा रसगन्धादिभिर्हृतम् ।
ममुत्थितञ्च बहुशः सा कृष्टी हेमतारयोः ॥ १० ॥

रसपङ्कमाह, सद्रवेति ।—सद्रवा केनचिद्द्वयेण संहिता । सेव कञ्जली एव ॥ ६ ॥

पिष्टीमाह, अर्कांशतुल्यादिति ।—अर्कांशः द्वादशभागः, स च निष्काहृतुल्या इति बोध्यं, तेन सार्द्धकर्षो रसस्येति । निष्काहृतुल्यात् माषद्वयमितान् ।
गुटिशः खण्डशः । अधिखले खल्लमध्ये । अत्र तुल्यादिति प्रयोगद्वये ल्यब्लोपे पञ्चमी,
तेन अर्कांशतुल्यं निष्काहृतुल्यञ्च गृहीत्वा इत्येवं योजनीयम् ॥ ७ ॥

पिष्ट्या मतान्तरमाह, खले इति ।—सुगमम् ॥ ८ ॥

पातनपिष्टीमाह, चतुर्थांशेति ।—रसापेक्षया चतुर्थांशसुवर्णेन इत्यर्थः । घृष्ट-
पिष्टिका आदौ घृष्टा पश्चात् पिष्टिका पिष्टीकृता । पातनपिष्टी ऊर्ध्वपातनायुक्ते
पिष्टी ॥ ९ ॥

कृष्टीलक्षणमाह, रूप्यमिति ।—जातरूपं सुवर्णम् । समुत्थितमिति अन्तर्भूतार्थः
प्रयोगः, तेन समुत्थापितं शोषितमित्यर्थः, ऊर्ध्वपातनायुक्ते साक्षितमित्यर्थो वा ।
सा लघुत्वापनक्रिया । कृष्टीति ।—स्वर्णरौप्ययोः सा क्रिया कृष्टीति बोध्यम् ।
रसादिभिः सह स्वर्णं वा रौप्यं वा केनचिन्मार्कद्रव्येण सम्यग्यं बहुशः आतपे
शोषयेत्, अथवा—रसगन्धादिभिर्निरितं स्वर्णं रौप्यं वा बहुवारम् ऊर्ध्वपातनायुक्तेषु
अमुत्थापयेत् सा क्रिया कृष्टी बोध्या ॥ १० ॥

अथ कृष्याः कार्यम् ।—

कटीं क्षिपेत् सुवर्णान्तर्न वर्षो ह्यीयते तथा ॥ ११ ॥

अथ स्वर्णकटीकृतबीजस्य कार्यम् ।—

स्वर्णकृष्या कृतं बीजं रसस्य परिरञ्जनम् ॥ १२ ॥

अथ वरलीहकम् ।—

ताम्ब्रं तीक्ष्णसमायुक्तं द्रुतं निक्षिप्य भूरिशः ।

स-गन्ध-लकुचद्रावे निर्गतं वरलीहकम् ॥ १३ ॥

अथ हेमरत्नी ।—

तेन रत्नीकृतं स्वर्णं हेमरत्नीत्युदाहृतम् ॥ १४ ॥

अथ हेमरत्नाः कार्यम् ।—

निक्षिप्ता सा द्रुते स्वर्णे वर्षोत्कर्षविधायिनी ।

तारस्य रञ्जनी चापि बीजरागविधायिनी ॥ १५ ॥

कृष्याः. कार्यमाह, कटीमिति ।—पूर्वरीत्या कृतया सुवर्णरीप्ययोरन्यतरकृष्या सह सुवर्णे सन्नाद्यं पुटनेन स्वर्णस्य वर्षान्त्यथा न जायते ॥ ११ ॥

स्वर्णकटीकृतबीजस्य कार्यमाह, स्वर्णकृष्येति ।—बीजं “निर्वापणविशेषेण” इत्यादिना बल्यमाचक्ष्वणः धातुविशेषाणां विचित्रसंस्कारविशेषः । उक्तप्रकारेणैव कृतस्वर्णकटीनिर्मितं बीजं पारदं रञ्जयेत् ॥ १२ ॥

वरलीहप्रस्तुतप्रकारमाह, ताम्रमिति ।—तीक्ष्णसमायुक्तं तीक्ष्णलौहसंयुक्तम् । भूरिशः सप्तवारानित्यर्थः । तीक्ष्णलौहं ताम्रस्य अपिसन्नापनं द्रवीकृत्य गन्धक-चूर्णमिश्रितलकुचरसे निक्षिपेत्, घनीभूतं तद्व्यसृज्य पुनः द्रावयित्वा पूर्वरसे निक्षिपेत्, एवं सप्तवारम् । “द्रुतम्” इत्यत्र “सृतम्” इति पाठे,—सृतं भक्ष्यभूतम् । एवं प्रक्रियया तस्मात् उत्कृष्टलौहं निर्गमिष्यतीति । १३ ॥

हेमरत्नीमाह, तेन रत्नीकृतमिति ।—तेन वरलीहसंयोगेन रत्नीभूतं सुवर्णं हेमरत्नी इति नावा ख्यातम् ॥ १४ ॥

हेमरत्नाः कार्यमाह, निक्षिप्तेति ।—सा हेमरत्नी । तारस्य रौप्यस्य । बीजरागविधायिनी निर्वापणविशेषेण इत्यादिना बल्यमाचक्ष्वणस्य विचित्रसंस्कार-क्रियेष्टधातुविशेषस्य रञ्जनी ॥ १५ ॥

अथ ताररक्ती ।—

एवमिव प्रकर्तव्या ताररक्ती मनीह्वरा ।

रञ्जनी खलु रूप्यस्य वीजानामपि रञ्जनी ॥ १६ ॥

अथ दलम् ।—

मृतेन वा बद्धरसेन वाऽन्यलोहेन वा साधितमन्यलोहम् ।

सितञ्च पीतत्वमुपागतं तद्वलं हि चन्द्रानलयोः प्रसिद्धम् ॥ १७ ॥

अथ अन्यविधदलम् ।—

आ-मास-कृतबद्धेन रसेन सह योजितम् ।

साधितं वाऽन्यलोहेन सितं पीतञ्च तद्वलम् ॥ १८ ॥

अथ गुल्लनागम् ।—

मात्रिकेण हतं तास्रं दशवारं समुत्थितम् ।

तद्वद्विगुहनागं हि द्वितयं तच्चतुष्पलम् ॥ १९ ॥

ताररक्तीमाह, एवमिति ।—एवं हिमरक्तीप्रक्रियामनुसृत्य इत्यर्थः । ताररक्ती शीघ्ररक्ती ॥ १६ ॥

दलमाह, मृतेनेति ।—बद्धरसेन निगड्डीकरणक्रियया संयमितमृतेन । अन्यलोहेन अष्टलोहानामन्यतमलोहेन ; अन्यत् लोहमन्यलोहमिति अलङ्-समासः, तेन । अन्य-लोहम् अष्टलोहानां यत् किञ्चिदंशं लोहमित्यर्थः । चन्द्रानलयोः दलमिति सितत्व-पीतत्वप्रातलोहविशेषस्य संज्ञाविशेषः । मृतमृतादीनामन्यतमेन साधितं यत्किञ्चिदंशं लोहं यदा सितत्व पीतत्वं वा प्राप्नोति तदा सितपीतान्यतरत्वमुपागतं तत् चन्द्रानलयोः दलमिति संज्ञां लभते, एवञ्च सितत्वमुपागतं लोहं चन्द्रदलं पीतत्वमुपागतञ्च लोह-मनलदलमिति बोध्यम् ॥ १७ ॥

दलक्रियाया क्रमान्तरमाह, आ-मासिति ।—आ मास-कृतबद्धेन मासं यावत् कुङ्कनिगड्डीकरणक्रियेण, मासं यावत् निगड्डीकरणक्रियया संयमितेनेत्यर्थः । “आ-मास” इत्यत्र “आवास” इति पाठे —“सर्पाक्षी क्षीरिणी” इत्यादिनीतक्रियामक-ग्रहो मय्यग्वासनद्वारा नियमितेनेत्यर्थः । योजितं मिश्रयित्वा साधितमित्यर्थः । तत् यत्किञ्चिल्लोहम् ॥ १८ ॥

मौलाञ्जनहृतं भूयः सप्तवारं समुत्थितम् ।

इति संसिद्धमेतद्धि शुल्बनागं प्रकीर्त्यते ॥ २० ॥

अथ शुल्बनागगुणाः ।—

साधितस्तेन सूतेन्द्रो वदने विधृतो नृणाम् ।

निहन्ति मासमात्रेण मेहव्यूहमशेषतः ॥ २१ ॥

पथ्याशनस्य वर्षेण पलितं बलिभिः सह ।

गृध्रदृष्टिर्लसत्पुष्टिः सर्वारोग्यसमन्वितः ॥ २२ ॥

अथ पिञ्जरी ।—

लोहं लोहान्तरे क्षिप्तं ध्यातं निर्वापितं द्रवे ।

पाण्डुपीतप्रभं जातं पिञ्जरीत्यभिधीयते ॥ २३ ॥

अथ चन्द्रार्कम् ।—

भागाः षोडश तारस्य तथा द्वादश भास्वतः ।

एकत्राऽऽवर्त्तितास्तेन चन्द्रार्कमिति कथ्यते ॥ २४ ॥

अथ निर्वाहणम् ।—

साध्यलोहेऽन्यलोहं चेत् प्रक्षिप्तं वङ्गनालतः ।

निर्वापणन्तु तत् प्रोक्तं वैद्यैर्निर्वाहणं खलु ॥ २५ ॥

शुल्बनागमाह, साधिकेयेति ।—स्वर्णमाधिकेय सह मारितं ताम्रं तथा सौम-
कश्च पृथक् पृथक् दशवारं समुत्थापितं कृत्वा तयोः प्रत्येकं चतुष्पलम् आदाय एकी-
कुर्यात् ततः तदुभयं भूयः मौलाञ्जनेन सह भस्मीकृत्य सप्तवारं समुत्थापयेत्, एवञ्च
तयोः शुल्बनाग इति संज्ञा जायते इति ॥ १८।२० ॥

शुल्बनागस्य गुणमाह, साधित इति ।—साधितः मारितः । वदने विधृतः,
शुटिकां कृत्विति शेषः ॥ २१।२२ ॥

पिञ्जरीमाह, लोहमिति ।—किमपि द्रुतं लोहमन्यतरस्मिन् द्रुते लोहे निक्षिप्य
त्रिफलाद्यन्यतरद्रावे निर्वापयेत्, एवञ्च पाण्डुपीतप्रभं तल्लोहं पिञ्जरीसंज्ञां प्राप्नोति
इत्यर्थः ॥ २३ ॥

चन्द्रार्कसंज्ञामाह, भागा इति ।—भास्वतः ताम्रस्य । एकत्राऽऽवर्त्तिताः एक-
स्मिन्नेव पात्रे युगपत् द्रवीकृत्य आलोडिताः । तेन तथा आलोडनेन ॥ २४ ॥

अथ निर्वापणस्य सामानिर्देशः ।—

क्षिपेन्निर्वापणं द्रव्यं निर्वाह्ये समभागिकम् ।

आवाह्यं वापनीये च भागे दृष्टे च दृष्टवत् ॥ २६ ॥

अथ वारितरलौहलक्षणम् ।—

मृतं तरति यत्तोये लौहं वारितरं हि तत् ॥ २७ ॥

अथ रेखापूर्णाव्यमृतलौहलक्षणम् ।—

अङ्गुष्ठतर्जनीदृष्टं यत्तद्रेखान्तरे विधेत् ।

मृतलौहं तदुद्दिष्टं रेखापूर्णाभिधानतः ॥ २८ ॥

अथ अपुनर्भवलौहलक्षणम् ।—

गुड-गुञ्जा-सुखस्यर्श-मध्वाज्यैः सह योजितम् ।

नाऽऽयाति प्रकृतिं धानादपुनर्भवमुच्यते ॥ २९ ॥

निर्वाहणमाह, साध्यलौहे इति ।—साध्यलौहे मारणीयलौहे । बहुनालतः बहु-
नालाख्ययन्त्रविशेषः । बहुनाललक्षणस्याये दशमाध्याये “भूषाम्निः” इत्यादिना “दृढ-
धानाय कौर्त्तितम्” इत्यन्तेन वक्ष्यति । निर्वापणं मारणलौहम् । निर्वाहणं संज्ञा-
विशेषः । मारणाहलौहे तप्तलौहमारकं लौहान्तरं यदि बहुनालेन प्रक्षिपेत् तर्हि
तन्मारकं लौहं निर्वाहणसंज्ञां लभते ॥ २५ ॥

निर्वापणद्रव्यस्य मानमाह, क्षिपेदिति ।—निर्वापणं मारणद्रव्यम् । निर्वाह्ये
सम्पादनीये, साध्ये इति यावत्, लौहादिद्रव्ये इति शेषः । साध्यलौहे मारणद्रव्यं
साध्यलौहसमभागं प्रक्षेप्यम् ; अथवा वापनीये प्रक्षेपयोग्ये भागे माने दृष्टे सति,
उपदेष्टुसकाशे इति शेषः, दृष्टवत् यथा दृष्टं तथा, प्रक्षेप्येति शेषः, आवाह्यम्
आ सम्यक् वाह्यं सम्पादनीयम् । “आवाह्यम्” इत्यत्र “आवाप्यम्” इति पाठे—
गुडसकाशे यथा दृष्टं तथा प्रक्षेप्यम् इति ॥ २६ ॥

वारितरलौहलक्षणमाह, मृतमिति ।—वारिणि जले तरति प्रवते भासते
इति यावत्, इति वारितरम् ॥ २७ ॥

रेखापूर्वलौहलक्षणमाह, अङ्गुष्ठेति ।—तद्रेखान्तरे तयोः तर्जनीदृष्टयोः रेखा-
न्तरे रेखावकाशे, अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां चषण्णे कृते यत्र लौहे तयोरेङ्गुष्ठयोः रेखासमूहः
अङ्कितो भवेदित्यर्थः ॥ २८ ॥

निवृत्तलौहलक्षणमाह, गुणेति ।—सुखस्यर्शः टङ्गश्च, निवृत्त्योक्तारकमित्यपञ्चकवर्गे

अथ जनमलक्षणम् ।—

तस्योपरि गुरुद्वयं धान्यञ्चोपनयेद्भुवम् ।

हंसवत्तीर्यते वारिष्यूनमं परिकीर्तितम् ॥ ३० ॥

अथ निरुत्यलोहलक्षणम् ।—

रौप्येण सह संयुक्तं धातं रौप्येण चेन्नगेत् ।

तदा निरुत्यमित्युक्तं लोहं तदपुनर्भवम् ॥ ३१ ॥

अथ बीजलक्षणम् ।—

निर्वापणविशेषेण तत्तद्वर्णं भवेद्दृयदा ।

मृदुलं चित्रसंस्कारं तद्बीजमिति कथ्यते ॥ ३२ ॥

अथ उत्तरणम् ।—

इदमेव विनिर्दिष्टं वैद्यैरुत्तरणं खलु ।

मंसृष्टलोहयोरैक-लोहस्य परिनाशनम् ॥ ३३ ॥

टङ्कणशब्दगुह्यात्, यदुक्तं रसेन्द्रसारे—“मधुसर्पिकथा गन्ना टङ्कणं गुग्गुलुलथा । निवपञ्चकमेतत्तु गणितं धातुमेलने ॥” इति । नियपञ्चकोक्तगुग्गुलीः कार्यमवगुडेन सत्यादनीयमिति । प्रकृतिं स्वरूपम् । अपुनर्भवम् अपुनरुत्थानं, निरुत्यमिति यावत् ॥ २९ ॥

जनमाख्यमृतलोहलक्षणमाह, तस्येति ।—तस्य उक्तप्रकारेण मृतलोहस्योपरि किमपि भारवद्भुव्य धान्यञ्च संस्थाप्य जले निक्षिप्ते सति तत् तरति चेत् जनमाख्यं तल्लोहं ज्ञेयम् ॥ ३० ॥

निरुत्यस्य लक्षणान्तरमाह, रौप्येणेति ।—रौप्य लोहञ्च एकत्र संस्थाप्य भस्मया धापनेन यदि परस्परं मिश्रीभवेत् तदाऽपि निरुत्यं ज्ञेयम् ॥ ३१ ॥

बीजमाह, निर्वापणेति ।—पूर्वनिर्दिष्टसाध्यलोहे तत्तल्लोहमारकान्यलोहनिक्षेप-रूपनिर्वाहसाध्यसंस्कारविशेषेण यदा साध्यलोहं प्रविशलोहवर्धं भवेत्, तदा मृदुलं सुखस्पर्शं, चित्रसंस्कारम् आहितापूर्वगुणान्तरं तत् बीजमिति ज्ञेयम् ॥ ३२ ॥

उत्तरणमाह, इदमिति ।—इदं संसृष्टलोहयोरित्यादिना वक्ष्यमाणरूपमित्यर्थः । उत्तरणमिति संज्ञाविशेषः । संसृष्टेति ।—मिश्रितलोहयोः एकलोहस्य परिनाशनं धापनादित्तिशयविशेषेण एकस्मात् अन्यत् पृथक्तुल्य भस्मीकरणम्, एकस्मात् अन्यस्य वह्निर्निष्काशनं वा ॥ ३३ ॥

अथ ताडनम् ।—

प्रधातं वङ्कनालेन तत्ताडनमुदाहृतम् ॥ ३४ ॥

अथ धान्याभलक्षणम् ।—

चूर्णाभ्रं शालिसंयुक्तं वस्त्रवडं हि काञ्चिके ।

निर्यातं मर्दनादस्त्राद्यान्याभ्रमिति कथ्यते ॥ ३५ ॥

अथ सत्त्वलक्षणम् ।—

क्षाराम्लद्रावकैर्युक्तं धातमाकरकोष्ठके ।

यस्ततो निर्गतः सारः सत्त्वमित्यभिधीयते ॥ ३६ ॥

अथ एककोलीसकलक्षणम् ।—

कोष्ठिका-शिखरापूर्णः कोकिलैर्ध्यानयोगतः ।

मूषाकण्ठमनुप्राप्तैरेककोलीसको मतः ॥ ३७ ॥

अथ द्रावणादिकर्मसाधने काष्ठनिर्देशः ।—

द्रावणे सत्त्वपाते च माधुकाः खादिराः शुभाः ।

दुर्द्रावे वंशजास्ते तु खेदने वादराः शुभाः ॥ ३८ ॥

ताडनमाह, प्रधातमिति ।—तत् उत्तरणक्रियानिष्पन्नं संवृष्टलोहयोरैक-
लोहम् ॥ ३४ ॥

धान्याभ्रमाह, चूर्णाभ्रमिति ।—व्याख्यातमेतत् द्वितीयाध्याये ॥ ३५ ॥

सत्त्वमाह, चारिति ।—सारः टङ्गणं लोहशोधकत्वात्, अस्त्रः काञ्चिकादिक,
द्रावकः “गुञ्जाटङ्गणमध्वाज्यगुडाः द्रावकपञ्चकाः” इत्युक्तस्वरूपः तैः । आकरकोष्ठके
कोष्ठिकायन्ते । सारः स्थिरांशः, प्रसादभागः इति यावत् ॥ ३६ ॥

एककोलीसकमाह, कोष्ठिकेति ।—कोष्ठिकायन्त्यायभागपर्यन्तम् अङ्गारैरापृत्य
आपनवशात् सारणीयद्रव्यैः मूषाकण्ठपर्यन्तमागतेः उपलब्धतो यत् कर्म स
एककोलीसकाख्यः क्रियाविशेषो मतः ॥ ३७ ॥

द्रावणादिकर्मसम्पादनार्थमित्यत्र निर्दिशति, द्रावणे इति ।—माधुकाः
मधुककाष्ठाकाराः । “माधुकाः” इति पाठे—मधूकः मधुद्रुमः “महुया” इति
आषा, मधूककाष्ठाकारा इत्यर्थः । दुर्द्रावे माधुक्खादिराभ्यां द्रावयितुं दुष्करे
इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

अथ हिङ्गुलाकृष्टरसः ।—

विद्याधराख्ययन्त्रस्थादार्द्रकद्रावमर्दितात् ।

समाकृष्टो रसो योऽसौ हिङ्गुलाकृष्ट उच्यते ॥ ३८ ॥

अथ घोषाकृष्टलक्षणम् ।—

स्वल्पतालयुतं कांस्यं वङ्कनालेन ताडितम् ।

मुक्तरङ्गं हि तत्ताम्रं घोषाकृष्टमुदाहृतम् ॥ ४० ॥

अथ वरनागलक्षणम् ।—

तीक्ष्णनीलाञ्जनोपेतं धातं हि बहुशो दृढम् ।

मृदु कृष्णं द्रुतद्रावं वरनागं तदुच्यते ॥ ४१ ॥

अथ उत्थापनालक्षणम् ।—

मृतस्य पुनरुद्भूतिः सम्प्रोक्तोत्थापनाख्यया ॥ ४२ ॥

अथ ढालनलक्षणम् ।—

द्रुतद्रव्यस्य निक्षेपो द्रवे तड्ढालनं मतम् ॥ ४३ ॥

हिङ्गुलाकृष्टरसमाह, विद्याधरेति ।—विद्याधरयन्त्रलक्षणज्ञाये वक्तव्यमाश्रम् ।
मर्दितादित्यत्र हिङ्गुलादिति शेषः ॥ ३८ ॥

घोषाकृष्टमाह, स्वल्पेति ।—मुक्तरङ्गं पृथग्भूतरङ्गधातुकं, कांस्यस्य ताम्रतङ्क-
संयोगजत्वात् । तत्ताम्रं रङ्गस्य पृथक्करणेन अवशिष्टं ताम्रम् । घोषाकृष्टं घोषात्
कांस्यात् षाकृष्टं निष्काशितमिति तादृशम् ॥ ४० ॥

वरनागलक्षणमाह, तीक्ष्णेति ।—अत्र विशेष्यपदोक्तेखाभावेऽपि वरनाग इति
संज्ञाबलादेव तीक्ष्णनीलाञ्जनोपेतमित्यत्र नागमिति विशेष्यपदं शेषः बोध्यः । तीक्ष्ण-
लौहमीलाञ्जनसंयुक्तं यत् सीसकं बहुवारं दृढमाधातं सत् मुक्तीमलं कृष्णवर्णं
द्रुतद्रावच्च स्यात् तत् सीसकं वरनागं बोध्यम् । “तीक्ष्णम्” इति पृथक् पाठे—
नीलाञ्जनं तीक्ष्णलौहञ्च इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

उत्थापनामाह, मृतस्येति ।—पुनरुद्भूतिः यन्त्रादिव्योगेन स्वरूपापादनम्
इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

ढालनमाह, द्रुतद्रव्यस्येति ।—द्रुतद्रव्यस्य गलितद्रव्यस्य ॥ ४३ ॥

अथ नागसम्भूतचपलः ।—

त्रिंशत्पलमितं नागं भानुदग्धेन मर्दितम् ।

विमर्द्य पुटयेत्तावद्यावत् कर्षावशेषितम् ॥ ४४ ॥

न तत् पुटसहस्रेण क्षयमायाति सर्वथा ।

चपलोऽयं समादिष्टो वार्त्तिकैर्नागसम्भवः ॥ ४५ ॥

अथ वङ्गसम्भूतचपलः ।—

इत्थं हि चपलः कार्यो वङ्गस्यापि न संशयः ॥ ४६ ॥

अथ चपलस्य कार्यम् ।—

तत्स्पृष्टहस्त-संस्पृष्टः केवली बध्यते रसः ॥ ४७ ॥

अथ तादृशवङ्गरसस्य कार्यम् ।—

स रसो धातुवादिषु शस्यते न रसायने ।

अयं हि खर्वणाख्येन लोकनाथेन कीर्तितः ॥ ४८ ॥

नागसम्भूतचपलमाह. त्रिंशदिति ।—भानुदग्धेन अर्कक्षीरेण । पुटयेदिति ।—
यावता पुटेन त्रिंशत्पलं तत् कर्षशेषं स्यात् तावत् पुटेत । तत् कर्षावशेष नागम् ।
वार्त्तिकैः “उक्तामुक्तदुरुक्तार्थ-व्यक्तकारि तु वार्त्तिकम्” इत्युक्तलक्षणकसूत्राशुक्ताद्यर्था-
विचारकग्रन्थविशेषाभिप्रेतः ॥ ४४।४५ ॥

वङ्गसम्भूतचपलमाह. इत्थमिति ।—इत्थं नागसम्भूतचपलवत् ॥ ४६ ॥

द्विविधचपलस्य कार्यमाह. तदिति ।—तेन चपलेन, स्पृष्टाभ्यां हस्ताभ्यां संस्पृष्टः
अग्रविषयीकृतः, केवल. एकः अन्याविमिश्रः, रसः बध्यते संयमितो भवति,
अनुष्ठयनस्वभावी भवति इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

तादृशवङ्गरसस्य कार्यमाह. स इति ।—स रसः पूर्वोक्तक्रियया बद्धो रसः ।
धातुवादिषु लोहलोदीनां स्वर्णादिरूपेण परिणमनक्रियासु । खर्वणाख्येन खर्वण
इति नाम्ना ख्यातेन । क्वचित् एतच्छ्लोकानन्तरं “नागं निरुत्थितं कृत्वा खर्वरेः षड्भुजेः
सह । षष्टिसतुर्थवेधेन तारमायाति काञ्चनम् ॥” इत्यधिकः श्लोको दृश्यते । अत्र
षष्टिरित्यस्य निरुत्थितमित्यनेनाश्वयः, षष्टिवारं निरुत्थितं कृत्वा इत्यर्थः ।
अतुर्थवेधेन सप्तविधनिरुत्थितनागद्वारा वारत्रयवेधानन्तरं अतुर्थवारवेधकर्म-
सम्पादनेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

अथ धीतम् ।—

भू-भुजङ्ग-शक्तोयैः प्रक्षाल्यापहृतं रजः ।

क्षणावर्णं हि तत् प्रोक्तं धीताख्यं रसवादिभिः ॥ ४८ ॥

अथ इन्दानम् ।—

द्रव्ययोर्मर्दनादुद्धानात् इन्दानं परिकीर्तितम् ॥ ५० ॥

अथ भञ्जनौ ।—

भागाद्द्रव्याधिकक्षेप-मनु वर्णसुवर्णके ।

द्रवैर्वा वज्रिकायासो भञ्जनौ वादिभिर्मता ॥ ५१ ॥

अथ पुञ्जका ।—

पतङ्गीकल्कतो जाता लोहे तारे च हेमता ।

दिनानि कतिचित् स्थित्वा यात्यसौ पुञ्जका मता ॥ ५२ ॥

धीतमाह, भूभुजङ्गेति ।—अपहृतम् अपचितं, निःसारितमित्यर्थः । रजः पुटनादिकाले तत्संक्षाल्यापहृतादिचूर्णम् । तत् अपलीभूतं नागं वज्रञ्च । मृगागमलरसैः तन्मलमिश्रणलेषां परिशोधितमलादिकं क्षणावर्णं अपलीभूतं नागं वज्रञ्च धीतनागं धीतवज्रञ्च प्रोक्तमिति निष्कर्षः ॥ ४८ ॥

इन्दानमाह, द्रव्ययोरिति ।—संसृष्टद्रव्यद्वयं मर्दयित्वा आपनेन इन्दानसंज्ञा जायते । “इन्दानम्” इत्यत्र “बन्धनम्” इति पाठान्तरम् ॥ ५० ॥

भञ्जनौमाह, भागादिति ।—वर्णेन सुवर्णं इव तस्मिन् वर्णसुवर्णके राजपितले, भागात् मारणार्थेनिर्दिष्टप्रक्षेप्यभागम् अपेक्ष्य, द्रव्याधिकक्षेपं द्रव्याणां प्रक्षेप्यद्रव्याणाम् अधिकक्षेपम् अधिकप्रक्षेपम्, अथु पश्चात् अधिकप्रक्षेपानन्तरमित्यर्थः, यः वज्रिकायासः मारणोद्यद्भ्यगतवज्रमिवापणं, वा अथवा द्रवैः क्षालादिभिः यः वज्रिकायासः, स भञ्जनौति संज्ञया वादिभिः रसवादिभिः मता कथिता ॥ ५१ ॥

पुञ्जकामाह, पतङ्गीति ।—पतङ्गीकल्कतः पतङ्गीकल्कान्तः इत्यर्थः, कतिचिद्दिनानि स्थित्वा, लोहे तारयेति शेषः, तत्र लोहे विशेषतः तारे च या हेमता स्वर्णसादृश्यं जाता असौ हेमता पुञ्जका याति पुञ्जका इति संज्ञा लभते इत्यर्थः, इति मता । पुञ्जका “गिण्टी” इति लोके । यद्वा—क्षणावर्णमर्दं, तेन पतङ्गीत्वारम्भे हेमता इत्यन्तेन स्त्रीकार्हेन हेमताश्चक्षुः; दिनानीत्यादिश्लोकार्हेन च पुञ्जकाश्चक्षुः श्रेयम् । अस्मिन् पक्षे—वक्ष्यमाणपतङ्गीरागाख्यरत्नसदृशविशेष

अथ पतङ्गीरागः ।—

रञ्जिताद्धि चिराह्णोहादुध्नानाहा चिरकालतः ।

विनिर्यासः स निर्दिष्टः पतङ्गीरागसंज्ञकः ॥ ५३ ॥

अथ आवापः ।—

द्रुते द्रव्यान्तरक्षेपो लोहाद्ये क्रियते हि यः ।

स आवापः प्रतीवापस्तदेवाऽऽच्छादनं मतम् ॥ ५४ ॥

अथ अभिषेकः ।—

द्रुते वज्रस्थिते लोहे विरम्याष्टनिमेषकम् ।

सलिलस्य परिक्षेपः सोऽभिषेक इति स्मृतः ॥ ५५ ॥

अथ निर्वापः ।—

तप्तस्याप्सु विनिक्षेपो निर्वापः स्नपनञ्च तत् ॥ ५६ ॥

अथ प्रक्षेपकालनिर्देशः ।—

प्रतीवापादिकं कार्यं द्रुते लोहे सुनिर्मले ॥ ५७ ॥

कल्कलेपनेन सर्वलोहे विशेषतः रौप्ये हेमता इति संज्ञा जायते । हेमो भावः इति हेमता स्वर्णसादृश्यम् । तथा असौ लोह तारयोर्हेमता, कतिचिद्दिनानि स्थित्वा, पतङ्गीकल्के इत्याशयः, चुल्लका याति चुल्लकेत्याख्यया ख्यातिं धातीत्यर्थः ॥ ५२ ॥

पूर्वश्लोके “पतङ्गी” इत्युक्तम्, अतः तामेव विवक्षोति, रञ्जितादिति ।—चिरात् दीर्घकालं व्याप्य रञ्जितात् वक्ष्यमाणरक्तादिवर्गान्वृतमवर्गेण रागपरिप्राप्तात्, यस्मात् कष्मादपि लोहात् अथवा चिरकालतः सुदीर्घकालं धानात् धूपितात् यस्मात् कष्मादपि रञ्जितलोहात् यः विनिर्यासः निःस्वः, सत्यमिति यावत्, निर्गच्छतीति शेषः, स पतङ्गीरागसंज्ञकः निर्दिष्टः ॥ ५३ ॥

आवापमाह, द्रुते इति ।—द्रुते द्रवीभूते ॥ ५४ ॥

अभिषेकमाह, द्रुते इति ।—वज्रस्थिते प्रज्वलितचुल्लुपरि एव अवस्थिते । अष्टनिमेषकम् अष्टवारमण्योर्निमीलनोन्मीलनाकाशं कालं विरम्य द्रवीभवमानगरम-पिच्य ॥ ५५ ॥

निर्वापमाह, तप्तस्येति ।—तप्तस्य लोहस्येति शेषः । स्नपनमिति निर्वापस्य नामान्तरम् ॥ ५६ ॥

अथ शुद्धावर्तः ।—

यदा हुताग्रे दीप्तार्चिः शुक्लोत्थानसमन्वितः ।

शुद्धावर्तस्तदा ज्ञेयः स कालः सत्त्वनिर्गमे ॥ ५८ ॥

अथ बीजावर्तः ।—

द्राव्यद्रव्यनिभा ज्वाला दृश्यते धमने यदा ।

द्रावस्योन्मुखता सेर्य बीजावर्तः स उच्यते ॥ ५९ ॥

अथ स्वाङ्गशीतलम् ।—

वह्निस्थमेव शीतं यत्तदुक्तं स्वाङ्गशीतलम् ॥ ६० ॥

अथ वह्निःशीतलम् ।—

अग्नेराकृष्य शीतं यत्तद्वह्निःशीतमीरितम् ॥ ६१ ॥

अथ स्वेदनलक्षणम् ।—

क्षाराम्लैरौषधैर्वाऽपि दोलायन्त्रे स्थितस्य हि ।

पचनं स्वेदनाख्यं स्यान्मलशैथिल्यकारकम् ॥ ६२ ॥

आवापादीनां कालमाह, प्रतीवापादिकमिति ।—अर्चादिपदेन निर्वापाभि-
षेकयोगं दृष्ट्वा बोध्यम् । हुते लोहे सुनिर्मले द्रव्यमूतं लोहं यदा सुनिर्मलं भवति
तदेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

शुद्धावर्तमाह, यदेति ।—शुक्लोत्थानसमन्वितः शुद्धोद्ज्वालासंयुक्तः । आपन-
काले यदा वह्निः दीप्तार्चिः शुभज्वालासमन्वितस्य भवेत् तदा तस्य शुद्धावर्त
इति संज्ञा ज्ञातव्या । तदेव सत्त्वनिर्गमो भावोति च ज्ञातव्यम् ॥ ५८ ॥

बीजावर्तमाह, द्राव्येति ।—द्राव्यद्रव्यनिभा द्रावणीयद्रव्यसदृशी । धमने
आपनकाले । द्रावस्योन्मुखता द्रव्योन्मुखता ॥ ५९ ॥

स्वाङ्गशीतलक्षणमाह, वह्निस्थमिति ।—सुगमम् ॥ ६० ॥

वह्निःशीतलक्षणमाह, अग्नेरिति ।—सुगमम् ॥ ६१ ॥

स्वेदनमाह, क्षाराम्लैरिति ।—औषधैः तत्तद्गोहशोषकद्रव्याणां खरसादिभि-
रित्यर्थः । मलशैथिल्यकारकं स्वेदनेन मादंवे जाते अतर्मलानां पृथक्करणं
द्रव्यकरणं वा ॥ ६२ ॥

अथ मर्दनलक्षणम् ।—

उदितैरीषधैः सार्धं सर्वाङ्गैः काष्ठीकैरपि ।

पेषणं मर्दनाख्यं स्याद्विह्वलविनाशनम् ॥ ६३ ॥

अथ मूर्च्छनलक्षणम् ।—

मर्दनादिष्टभैषज्यैर्नष्टपिष्टत्वकारकम् ।

तन्मूर्च्छनं हि वज्राहि-मन्त्रादिदोषनाशनम् ॥ ६४ ॥

अथ उत्थापनलक्षणम् ।—

स्वेदातपादियोगेन स्वरूपाऽऽपादनं हि यत् ।

तदुत्थापनमित्युक्तं मूर्च्छाव्यापत्तिनाशनम् ॥ ६५ ॥

अथ बन्धनलक्षणम् ।—

स्वरूपस्य विनाशेन पिष्टत्वादुबन्धनं हि तत् ।

विह्वलिर्निर्जितः सूतो नष्टपिष्टिः स उच्यते ॥ ६६ ॥

मर्दनमाह, उदितैरिति ।—उदितैरीषधैः तत्र तचीकभेषजद्रव्याणां स्वरसैः काष्ठैर्वा इत्यर्थः ॥ ६३ ॥

मूर्च्छनमाह, मर्दनादिति ।—इष्टभैषज्यैः शोषकादित्वेन अभिमतीषधैः । नष्ट-
पिष्टत्वकारकं पेषणेन स्वरूपापादात् यत् मूर्च्छिवडत्वम् । वज्रेति ।—नागवज्रादिदोष-
नाशनम् । एतत्तु रसमुद्दिश्य उक्तं, धातुनाराचामपि स्वरूपदोषनाशनमिति आदि-
पदेश बोध्यम् ॥ ६४ ॥

उत्थापनमाह, स्वेदेति ।—स्वेदः ऊर्ध्वपातनादिना स्वेदनम्, आतपः सौद्रसन्नापः,
आदिना मर्दनादीनां यद्वचम् । स्वरूपाऽऽपादनं प्रकृत्यवस्थापनम् । मूर्च्छाव्यापत्तिनाशनं
मूर्च्छनक्रियाजनितस्वरूपध्वंसरूपविपत्तिवारणम् ॥ ६५ ॥

बन्धनमाह, स्वरूपस्येति ।—पिष्टम् इष्टभैषज्यैः पेषणं, पिष्टमिति भावे क्तः ;
तस्य भावः तत्त्वात्, स्वरूपस्य विनाशेन अकौशल्यात्-अपक्षत्वादिकपापायेन,
यद्रूपापादनमिति शेषः, तत् बन्धनं वज्रनाडवृष्टिद्वयमानत्वं मूर्च्छिवडत्वमिति वा;
श्रेयमिति शेषः । अस्मैव नष्टपिष्टिरिति संज्ञाऽन्तरमाह, विह्वलिरिति ।—निर्जितः
बन्धनेन नष्टरूपः, यथा—निर्जितः सूतः, स सूतः, विह्वलिः नष्टपिष्टिः
उच्यते ॥ ६६ ॥

अथ पातनलक्षणम् ।—

उक्तौषधैर्मर्दितपारदस्य यन्त्रस्थितस्योर्ध्वमधश्च तिर्यक् ।

निर्यातनं पातनसंज्ञमुक्तं वज्राहिसम्पर्कज-कक्षुक्कन्नम् ॥ ६७ ॥

अथ रोधनलक्षणम् ।—

जलसैन्धवयुक्तस्य रसस्य दिवसत्रयम् ।

स्थितिरास्थापनी कुम्भे याऽसौ रोधनमुच्यते ॥ ६८ ॥

अथ नियमनलक्षणम् ।—

रोधनाक्तव्यवीर्यस्य चपलत्वनिवृत्तये ।

क्रियते पारदे स्वेदः प्रोक्तं नियमनं हि तत् ॥ ६९ ॥

अथ दीपनलक्षणम् ।—

धातु-पाषाण-मूलाद्यैः संयुक्तो घटमध्यगः ।

यासार्थं त्रिदिनं स्वेदो दीपनं तन्मतं बुधैः ॥ ७० ॥

पातनामयमाह, उक्तौषधेरिति ।—निर्यातनं शोधनाद्यर्थं यत् कदर्थन-
मित्यर्थः ॥ ६७ ॥

रोधनमाह, जलेति ।—जलसैन्धवाभ्यां सह कुम्भमध्ये दिवसत्रयं रसस्य या
वास्थापनी वा सम्यक् स्थापनी षण्द्वीषणाशपूर्वकं स्ववीर्यं स्थापनकारिणी, क्रियेति
शेषः, असौ स्थितिः स्थापनं, रोधनमित्युच्यते । इदं हि स्वेदनादिक्रियार्जनतकदर्थनेन
षण्दभावप्राप्तस्य रसस्य तद्द्वीषणाशपूर्वकवीर्यप्रकर्षाधानार्थं ज्ञातव्यम् । यस्यान्तरेऽस्य
बोधनम् इति सञ्ज्ञा निर्दिष्टा ॥ ६८ ॥

नियमनमाह, रोधनादिति ।—स्वेदः स्वेदनम् । यद्यप्यत्र स्वेदनार्थं द्रव्यनिर्देशो न
कृतः, तथाऽपि अध्येतृणां विज्ञानार्थं यस्यान्तरोक्तं तत् निर्दिश्यते, तथा च रसन्द-
विनामसौ,—“सर्पाक्षीविषिकाकान्वा-भृङ्गारकनकान्बुभिः । दिनं संस्वेदितः सुतो
नियमनात् स्थिरतां व्रजेत् ॥” इति । नियमनं अपलत्वपरिहारपूर्वकस्थिरत्व-
सम्पादनम् ॥ ६९ ॥

दीपनमाह, धात्विति ।—यासार्थं घनहेमादीनामिति शेषः । स्वेदः, दीपनायत्ने
काञ्चिकादिना रसस्य इति शेषः । दीपनं यासशक्तिसङ्कनक्रियाविशेषः । रसेन्दुविना-
मधिकारेण दीपनद्रव्याणि चम्यविधान्युक्तानि यथा—“कासोसं पञ्चलवचं राजिका
मरिचाणि च । भृशियुक्तोक्तैश्च टङ्गणेन समन्वितम् ॥ शालीय काञ्चिके

अथ यासमानम् ।—

इयम्मानस्य सूतस्य भोज्यद्रव्यात्मिका मितिः ।

इयतीत्युच्यते याऽसौ यासमानं समीरितम् ॥ ७१ ॥

अथ जारणायास्त्रेविध्यनिर्देशः ।—

यासस्य चारणं गर्भे द्रावणं जारणं तथा ।

इति विरूपा निर्दिष्टा जारणा वरवार्त्तिकैः ॥ ७२ ॥

अथ जारणायाः पुनस्त्रेविध्यनिर्देशः ।—

यासः पिण्डः परोणामस्ति स्रष्टाख्याः पराः पुनः ॥ ७३ ॥

अथ जारणायाः पुनर्द्वेविध्यनिर्देशः ।—

समुखा निर्मुखा चेति जारणा द्विविधा पुनः ॥ ७४ ॥

अथ निर्मुखजारणाक्षयम् ।—

निर्मुखा जारणा प्रोक्ता बीजादानेन भागतः ॥ ७५ ॥

शोला-यन्त्रे पाकाद्दिनेस्त्रिभिः । दीपनं जायते सम्यक् सूतराजस्य जारणे ॥ अथवा श्विककटावैः काञ्चिके त्रिदिनं पचेत् ॥” इति ॥ ७० ॥

यासमानमाह, इयम्मानस्येति ।—इयम्मानस्य एतावत्परिमाणस्य सूतस्य ; सन्त्यन्ध-विवक्षया षष्ठीः ; इयमिति सूते इत्यर्थः, या इयतीति मितिः एतावत्परिमाणं, भोज्य-द्रव्याणामिति शेषः, इति उच्यते, भोज्यद्रव्यात्मिका यस्य भोज्यद्रव्यार्णोद्विष्टाया मासनिर्देशरूपा असौ उक्तिः यासमानं समीरितम्, इयम्मासः सूतः इयम्मानं स्वर्णोद्विष्टं यासतुं समर्थः, एवं-रूपमाननिर्देशः यासमानं ज्ञेयम् ॥ ७१ ॥

जारणावयमाह, यासस्येति ।—यासस्य यासयोग्यस्य स्त्रिणां द्विविधैः, चारणं रसान्तः अपरं, गर्भे द्रावणं रसान्तः तत्रलीभवनं, जारणं विषयान्नादियोगेन द्रवीभूतयासस्य पाकः ॥ ७२ ॥

जारणाया अपरं त्रेविध्यमाह, यास इति ।—यासः कवलीकररूप-जारणा, पिण्डः कर्दमवत् पिण्डीभवत्पञ्चजारणा । परोणामः अथवा नारपाप-रूपजारणा ॥ ७३ ॥

उक्तरूपजारणायाः पुनरवान्तरभेदवयमाह, समुक्षेति ।—समुक्षनिर्मुखं श्व-जारणाक्षयमाचार्यः स्वयमेवाये वक्ष्यति ॥ ७४ ॥

तमाहो निर्मुखजारणमाह, निर्मुखेति ।—निः नास्ति मुखं वक्ष्यमाणवतुः पञ्चमः

अथ बीजनिर्देशः ।—

शुद्धं स्पर्णञ्च रूप्यञ्च बीजमित्यभिधीयते ॥ ७६ ॥

अथ सुखलक्षणम् ।—

चतुःषष्ट्यंशतो बीज-प्रक्षेपो सुखमुच्यते ॥ ७७ ॥

अथ समुद्धारणालक्षणम् ।—

एवं कृते रसो ग्रास-लोलुपो सुखवान् भवेत् ।

कठिनान्यपि लोहानि क्षमो भवति भक्षितुम् ॥

इयं हि समुद्धा प्रोक्ता जारणा मृगचारिणा ॥ ७८ ॥

अथ राक्षसवक्त्ररसलक्षणम् ।—

दिव्यौषधिसमायोगात् स्थितः प्रकटकोष्ठिषु ।

भुञ्जीताखिललोहाद्यं योऽसौ राक्षसवक्त्रवान् ॥ ७९ ॥

अथ चारणालक्षणम् ।—

रसस्य जठरे ग्रास-क्षपणं चारणा मता ॥ ८० ॥

अथ गर्भद्रुतिलक्षणम् ।—

ग्रस्तस्य द्रावणं गर्भे गर्भद्रुतिरुदाहृता ॥ ८१ ॥

बीजप्रक्षेपपदमुल्लक्षणं यच्च जारणायां तादृशी । बीजैति ।—भागतः यथाभागं, तत्तद्व्यञ्जारणायां निर्दिष्टभागमतिशय, बध्यमाणचतुःषष्टिभागात् न्यूनतया अधिकतया वा इत्यर्थः, बीजादानेन शुद्धस्पर्णरौप्यात्मकबीजग्रहणम् ॥ ७५ ॥

निर्मुद्धारणायां बीजमित्युक्तमतां बीजलक्षणमाह, शुद्धमिति ।—सुगमम् ॥ ७६ ॥

समुद्धा निर्मुद्धा च इत्युक्तं, तत्र मुखं तावत् क्षिमित्यपेक्षायामाह, चतुःषष्टीति ।
—रसापेक्षया चतुःषष्टिभागेनेत्यर्थः ॥ ७७ ॥

समुद्धारणामाह, एवमिति ।—एवं कृते चतुःषष्ट्यंशतो बीजप्रक्षेपे कृते ।
सुखवान् समुद्धः । मृगचारिणा तदाख्येन केनचित् रसतन्त्रकता ॥ ७८ ॥

राक्षसमुद्धरसमाह, दिव्यौषधीति ।—दिव्यौषधिः मनःशिला । प्रकटकोष्ठिषु विद्यमानकोष्ठिकावन्त्रेषु । भुञ्जीत गमेत् ॥ ७९ ॥

जारणाभेद-चारणालक्षणमाह, रसस्येति ।—जठरे मध्ये इत्यर्थः, ग्रासक्षपणं ग्रासस्य ग्रासाहलोहादेः क्षपणं चक्षमापादनं, रसेन सह एकैकरचनित्यर्थः ॥ ८० ॥

जारणाभेद-गर्भद्रुतिमाह, यस्तस्येति ।—यस्तस्य यस्तलोहादेः ॥ ८१ ॥

अथ बाह्यद्रुतिक्षणवचनम् ।—

बहिरेव द्रुतीकृत्य घनसत्त्वादिकं खलु ।

जारणाय रसेन्द्रस्य सा बाह्यद्रुतिकथ्यते ॥ ८२ ॥

अथ द्रुतेः पञ्चविधत्वनिर्देशः ।—

निर्लेपत्वं द्रुतत्वञ्च तेजस्त्वं लघुता तथा ।

असंयोगश्च सूतेन पञ्चधा द्रुतिलक्षणम् ॥ ८३ ॥

अथ द्रुतिस्वरूपम् ।—

औषधाभ्यानयोगेन लोहं धात्वादिकं तथा ।

सन्तिष्ठते द्रवाकारं सा द्रुतिः परिकीर्त्तिता ॥ ८४ ॥

अथ जारणामेद-जारणालक्षणम् ।—

द्रुतग्रामपरीणामो विडयन्त्रादियोगतः ।

जारणेत्युच्यते तस्याः प्रकाराः सन्ति कोटिशः ॥ ८५ ॥

गर्भद्रुतिप्रसङ्गेन बाह्यद्रुतिमाह, बहिरिति ।—बहिरेव पुष्पापरिष्कटाद्यादी, न तु रसगर्भे इत्यर्थः । घनसत्त्वादिकम् अभ्यसत्त्वादिकम् ; अत्रादिपदेन स्वर्ण-सत्त्वादीनां गृहणं बोध्यम् ॥ ८२ ॥

द्रुतेः पञ्चधाभेदानाह, निर्लेपत्वमिति ।—निर्लेपत्वं निः शेषेण निःशेषेण वा लेपत्वं लिप्तत्वं, द्राव्यान्तरेण सङ्ग निःशेषेण एकौभवनमित्यर्थः ; यदा—निः निर्गतः लेपः लिप्तपदार्थः सत्तादिर्यस्यात् तत्त्वं, पृथग्भूतसत्तादिकमित्यर्थः । द्रुतत्वं विशेषेण द्रुतौभवनम् । तेजस्त्वं स्वरूपापेक्षया तेजोभूयस्त्वम् । लघुता स्वाभाविकगुरुत्वमपेक्ष्य लाघवम् । असंयोगश्च सूतेन पारदेन सङ्ग पृथक्तया अवस्थानम् ॥ ८३ ॥

द्रुतिस्वरूपमाह, औषधेति ।—द्रावकौषधेन सङ्ग अप्रसंयोगादिक्रियया लोहं स्वर्णायटविधं, तथा धात्वादिकम् अस्मादयः, तेषामपि देहधारकत्वात् धातुसंज्ञया व्यपदेशः । अत्रादिपदेन रत्नादीनां गृहणम् । “लोहं धात्वादिकम्” इत्यत्र “लोहधात्वादिकम्” इति पाठान्तरेऽपि—स एवार्थः, अस्मिन् पक्षे—तथा इत्यस्य निर्लेपत्वादिकपेक्षेत्यर्थः ॥ ८४ ॥

जारणामेद-जारणानाह, द्रुतेति ।—विडः बल्यमाकलयन्वच्यते, यत्नं कोटि-कादिकं तदादिशोमतः, अत्रादिपदेन मृषापुटादीनां गृहणम् ; द्रुतस्य गर्भे तरलितस्य शासस्य स्वर्णादेः परीणामः परिपाकः, स्नातानि अभेदरूपेण परिचयनम् । रसेन्द्र-

अथ विडलक्षणम् ।—

क्षारेरन्वैद्य गन्धाद्यैर्मन्त्रैश्च पटुभिस्तथा ।

रसग्रासस्य जीर्णार्थं तद्विडं परिकीर्तितम् ॥ ८६ ॥

अथ रञ्जनलक्षणम् ।—

सुमिद्वीज-धात्वादि-जारणेन रसस्य हि ।

पीतादिरागजननं रञ्जनं परिकीर्तितम् ॥ ८७ ॥

चिन्तामणौ तु “जारणा हि पातनगालनन्यतिरेकेण घनहेमादियासपूर्वकं पूर्वाव-
स्थापनत्वम्” इत्यनेन यत् प्रकारान्तरं जारणालक्षणमुक्तं तत् चारणाख्य जारणाभि-
प्रायेण बोध्यम् ॥ ८५ ॥

पूर्वश्लोके विडग्रन्थादियोगतः इत्युक्तं, तत्र किन्नावत् विडमित्यपेक्षायामाह, क्षारे-
रिति ।—क्षारेः वासूकक्षारादिभिः टङ्गणादिभिश्च, अन्वैः काञ्जिकादिभिः जम्बीरा-
दिभिर्वा, यदुक्तं रसेन्द्रचिन्तामणौ—“जम्बीरबीजपूरकचाङ्गेरीवैतसास्त्रसंयोगात् ।
क्षारा भवन्ति सुतरां गर्भट्टतिजारणे शक्ता ॥” इति । गन्धाद्यैरित्यत्र आद्यशब्देन
काशीशसौराष्ट्रादीनां शङ्खादीनां वा यद्वच्यम् । मूत्रैरष्टविधैरित्याशयः । पटुभिः लवणैः,
तानि चात्र षड्विधानि बोध्यानि ; यदुक्तं रसेन्द्रचिन्तामणौ,—“वासूकैरण्डकटली-
दं वदालीपुनर्नवाः । वासापलाशनिचुल-तिलकाद्यनमोचक्राः ॥ सर्वाङ्गखण्डं सन्धिर्द-
र्मातिशयं शिलातले । दग्धं काण्डं तिलानाञ्च पञ्चाङ्गं मूलकस्य च ॥ प्रावयित्वा नवगण-
जलं तस्मात् परिसृतम् । लौहपात्रे पचेदयन्ते हंसपाकेऽग्निसान्निवत् ॥ बाष्पाणां
बुद्बुदानाञ्च बह्वनामृद्धौ यदा । तदा काशीशसौराष्ट्री-क्षारवयकटुवयम् ॥ गन्धकश्च
सिता हिङ्गुलवणानि च षट् तथा । एषां चूर्णे क्षिपेद्देवि । लौहमम्पुटमध्यतः ॥ सप्ताहं
भुगतं पश्चात् धार्यस्तु प्रचुरी विडः ॥ अत्र सकलक्षारेः साम्यं तिलकाण्डक्षाराणामात-
नित्यनाशपाटाः” इति । हंसपाकयन्त्रलक्षणमपि तत्रैव यथा—“खपरं सिकतापुष्पं
कृत्वा तस्योपरि क्षिपेत् । तत्समं खपरं तत्र शनेर्मृद्विघ्ना पचेत् ॥ हंसपाकं समाख्यातं
यन्त्रं तत् वारिष्कीर्तनैः ॥” इति । षड्विधवणानि यथा राजनिघण्टो,—“काचसैन्धव-
सामुद्र-विडसीवर्चलैः समैः । आत् पञ्चलवणं तच्च सृस्त्रोपेतं षडाह्वयम् ॥” इति ।
काचं कृष्णलवणं “कालालवणं” इति प्रसिद्धम् ; “सीरा” इति केचित् । सृस्त्रा
शाम्बरलवणम् । रसग्रासस्य रसेन गन्धस्येत्यर्थः, स्वर्णादिरिति शेषः ॥ ८६ ॥

रञ्जनमाह, सुसिद्धेति ।—गोधितस्वर्णरोषाभ्यां तथा जीर्णतामादियोगेन क्रिया-
विशेषमाश्रित्य रसस्य यत् पीतादिरागजननमित्यन्वयः ॥ ८७ ॥

अथ सारणालक्षणम् ।—

सूते सतैलयन्त्रस्थे स्वर्णादिक्षेपणं हि यत् ।

वेधाधिक्यकरं लोहे मारणा सा प्रकीर्तिता ॥ ८८ ॥

अथ वेधलक्षणम् ।—

व्यवायि-भेषजीपेतो द्रव्ये क्षिप्तो रसः खलु ।

वेधः इत्युच्यते तज्ज्ञैः स चानेकविधः स्मृतः ॥ ८९ ॥

अथ वेधस्य पञ्चविधत्वनिर्देशः ।—

लेपः क्षेपश्च कुन्तश्च धूमाख्यः शब्दसंज्ञकः ॥ ९० ॥

अथ लेप-वेधलक्षणम् ।—

लेपनं कुरुते लोहं स्वर्णं वा रजतं तथा ।

लेपवेधः स विज्ञेयः पुटमत्र च सौरकम् ॥ ९१ ॥

सारणामाह, सूते इति ।—सतैलयन्त्रस्थे तैलपूर्णान्धमूषानध्याज्यते सूते रसे यत्र स्वर्णादिक्षेपणं स्वर्णादिप्रक्षेपः, लोहे ताद्यादौ इत्यर्थः, वेधाधिक्यकरं वेधस्य स्वर्णादिजननरूपवेधशक्तेः, आधिक्यकरम् आतिशयजनकम् । उक्तञ्च रसेन्द्र चिन्तामणौ,—“अथ मारणीच्यते—‘अन्धमूषा तु कर्तव्या गोलनाकारसन्निभा । मेव छिद्रान्विता मध्ये गम्भीरा सारणीचिता ॥’ अस्यामेव मूषायां तत्तैलमपगतकल्क-विमलमापूर्यमन्त्रिप्रधिकनधस्तात् द्रुतबीजप्रक्षेपसमकालमेव समावर्जनीयः सूत-वरकटम् सदो मूषाननमाच्छादनीयम् । एतत्तैलात्तखण्डव्यवस्थेन अह्वयानित-बीजाभ्याम् अश्वनासारकर्मणा (?) मिलितयेत् सारितः सम्यक् संयमितः विज्ञातव्यः ।” सारणाद्यं तैलमपि तत्रैवान्वेष्टव्यं विस्तरभयाञ्छेदतम् इति ॥ ८८ ॥

सारणालक्षणे वेधाधिक्यकरमित्युक्तं, कलावत वेध इत्यपेक्षायामाह, व्याधीति । —नागवल्लीकुमारिकाधुसूरादिव्यवायिगुणवक्षेपजनसंयुक्तः इत्यर्थः । व्याधिलक्षणं शार्ङ्गधरे यथा,—“पूर्वं व्याध्याखिलं कायं ततः पाकश्च गच्छति । व्याधिस्तदध्या ५ भङ्गा फेनश्चादिसमुद्भवम् ॥” इति । द्रव्ये स्वर्णादिक्षेपे परिचि-जनयिषो लोहे ॥ ८९ ॥

वेधभेदानाह, लेप इति ।—खट्वम् ॥ ९० ॥

तेषु लेप-वेधलक्षणमाह, लेपनमिति ।—लेपनं वेधसामर्थ्यापादकक्रियाविशेष-

अथ क्षेप-वेधलक्षणम् ।—

प्रक्षेपणं द्रुते लोहे वेधः स्यात् क्षेपसंज्ञितः ॥ ८२ ॥

अथ कुल-वेधलक्षणम् ।—

सन्दंशदृतसूतेन द्रुतद्रव्याङ्गतिश्च या ।

सुवर्णत्वादिकरणं कुलवेधः स उच्यते ॥ ८३ ॥

अथ धूम-वेधलक्षणम् ।—

वज्जी धूमायमानेऽन्तः-प्रक्षिप्त-रस-धूमतः ।

स्वर्णाद्यापादनं लोहे धूमवेधः स ईरितः ॥ ८४ ॥

अथ शब्द-वेधलक्षणम् ।—

मुखस्थितरसेनाल्प-लोहस्य धमनात् खलु ।

स्वर्णरूप्यत्वजननं शब्दवेधः स कीर्तितः ॥ ८५ ॥

सिद्धरसेनेत्याशयः । अत्र क्षेपवेधे । सौरकं पटं, दद्यादिति शेषः, मूर्त्यपकं
कुर्व्यादित्यर्थः ॥ ८१ ॥

क्षेप-वेधलक्षणमाह, प्रक्षेपणमिति ।—गलित-स्वर्णंतरलोहे रसप्रक्षेपेण यत्
सुवर्णोत्करणं, स क्षेपाख्यवेधो ज्ञेयः ॥ ८२ ॥

कुल वेधमाह, सन्दंशेति ।—सन्दंशः “संदाशो” इति ख्यातः, सन्दंशश्चेत्
मूर्तिवद्भूतं धृत्वा द्रुतलोहे निमज्जनेन तत्सम्पर्कात् स्वर्णादिकपेण परिणतस्य लोहस्य
यदाहरणं स कुल-वेधसंज्ञको ज्ञेयः ॥ ८३ ॥

धूम-वेधमाह, वज्जाविति ।—सधूमवज्जिमध्ये वेधसमर्थरसनिक्षेपेण यो धूमः
निर्गच्छति, तत्सम्पर्कात् यत्किञ्चिल्लोहस्य स्वर्णादिकपेण या परिणतिः स धूमवेधः ॥ ८४ ॥

शब्द-वेधमाह, मुखेति ।—धमनात् शब्दोच्चारणादित्यर्थः, फुल्कारादित्यर्थो वा ।
“धम ध्वने” इत्यस्मात् ल्यः । मुखमध्ये वेधसमर्थरसगुटिकां संस्थाप्य परो
लोहखण्डमेकं धृत्वा शब्दोच्चारणे कृते फुल्कारे दत्ते वा तत् लोहखण्डं स्वर्णादिकपेण
परिणमेत् । “धमनात्” इत्यत्र “दमनात्” इति पाठे—मुखमध्ये वेधसमर्थरसगुटिकां
संस्थाप्य सुदलोहखण्डं तन्निधौ निधाय च पीकने कृते अथःस्यलोहखण्डं यत्र वेधे
स्वर्णादिकपेण परिणमेत् स शब्दवेधः इत्यर्थः ॥ ८५ ॥

अथ उद्घाटनलक्षणम् ।—

सिद्धद्रव्यस्य सूतेन कालुष्यादिनिवारणम् ।

प्रकाशनञ्च वर्णस्य तदुद्घाटनमौरितम् ॥ ८६ ॥

अथ स्वेदनलक्षणम् ।—

चारास्त्रैरौषधैः साह्यं भाण्डं रुद्ध्वाऽतियत्नतः ।

भूमौ निखन्यते यद्वात् स्वेदनं सम्प्रकीर्तितम् ॥ ८७ ॥

अथ सन्न्यासलक्षणम् ।—

रसस्यौषधयुक्तस्य भाण्डरुद्धस्य यत्नतः ।

मन्दान्निघृतचुक्षुरान्तः क्षेपः सन्न्यास उच्यते ॥ ८८ ॥

अथ रसस्य स्वेदसन्न्यासयोः गुणः ।—

हावेतौ स्वेदसन्न्यासौ रमराजस्य निश्चितम् ।

गुणप्रभावजनकौ शीघ्रव्याप्तिकरौ तथा ॥ ८९ ॥

उद्घाटनमाह, सिद्धद्रव्यस्येति ।—सिद्धद्रव्यस्य सूतलोद्घाटेरित्यर्थः, सूतेन क्रिया-
विशेषनिष्पन्नसूतसंयोगेन, यत् कालुष्यादिनिवारणं मालिन्यादिप्रोक्कनं, वर्णस्य च
प्रकाशनम् षोडशव्यसम्पादनम् ; यद्वा—सूतेन सूतसंयोगेन सिद्धद्रव्यस्य सारितलोद्घादेः
कालुष्यादिनिवारणं यथा क्रियया द्रव्यान्तरसंयोगजनितमालिन्यादिनाशनं स्यादित्येवं
योगनीयम् । “सिद्धद्रव्यस्य सूतेन” इत्यत्र “सिद्धद्रव्येण सूतस्य” इति पाठे—सूत-
लोद्घादिमयोगद्वारा सूतस्य यत् कालुष्यादिनिवारणमित्यर्थः ॥ ८६ ॥

स्वेदनमाह, चारास्त्रैरिति ।—औषधैः स्वेदनौषधैः । भाण्डं रसपूर्णभाण्ड-
मित्यर्थः । अत्र उक्तवैयर्थ्यं चारास्त्रैः सह भूयःस्थापनेन तदुपस्थापनप्रतिस्वदो
बोध्यः ॥ ८७ ॥

सन्न्यासमाह, रसस्येति ।—औषधयुक्तस्य चारास्त्रौषधयुक्तस्येत्यर्थः । मन्दान्निघृत-
चुक्षुरान्तः स्रष्टव्यविशिष्टचुक्षुर्मध्ये, न तु तोत्रान्निघृतचुक्षुरान्त्यर्थः ॥ ८८ ॥

स्वेदनसन्न्यासयोः फलमाह, हावेति ।—शीघ्रव्याप्तिकरौ सेवमानन्तरमेव सर्वदेह-
विस्मरणशौको, व्याधिगुणजनकमित्यर्थः ; यद्वा—रसस्य योगवाहित्वात् संसर्गितद्रव्येषु
स्वरितमात्रगुणरुच्यारणशौको ॥ ८९ ॥

अथ परिभाषाज्ञानस्य फलम् ।—

रमनिगममहाब्धेः सोमदेवः समन्तात्
स्फुटतरपरिभाषा-नामैद्वानि हृत्वा ।
व्यरचयदतियत्नात्तैरिमां कण्ठमालां
कलयतु भिषगग्रो मण्डनार्थं सभायाम् ॥ १०० ॥
भवेत् पठितवारोऽयमध्यायो रसवादिनाम् ।
रसकर्माणि कुर्वाणो न स मुह्यति कुत्रचित् ॥ १०१ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिद्धगुप्तभूतोवांश्मटाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये

रसपरिभाषाकथनं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः ।

अथ यन्त्राणि ।—

अथ प्रस्तुताध्यायस्य वक्तव्यनिर्देशः ।—

अथ यन्त्राणि वक्ष्यन्ते रसतन्त्राण्युपेक्षतः ।
समालोक्य समासेन सोमदेवेन साम्प्रतम् ॥
स्वेदादिकर्म निर्मातुं—” ॥ १ ॥

उपसंहरति द्वाभ्यां रसेत्यादिभ्याम् ।—हृत्वा आहृत्य । इमाम् उक्तद्वयम् ।
कलयतु गृह्णातु, धारयतु इत्यर्थः, कण्ठे इति शेषः, कण्ठस्थं करोतु अभ्यस्यतु
इत्याशयः । भिषगग्रः भिषक्येष्टः । भवेदिति ।—सुगमम् ॥ १००।१०१ ॥

इति रसरत्नसमुच्चयटीकान्याम् अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

पूर्वाध्याये परिभाषां निरूप्य इदानीं रसादिकर्मणां यन्त्रपुटनाद्यायत्नसहितान्
यन्त्रविधिज्ञानं विना च पुटनाद्यविद्येः आदौ यन्त्राण्येव विवरीतुं नवमाध्यायमारभते ।
तत्र प्रथमं तावदेतदध्यायस्य अभिषेकं निर्दिशति, अथेति ।—अथ रसपरिभाषा-
कथनानन्तरम् । यन्त्राणि वक्ष्यमाणदीक्षादीनि । स्वेदादीन् रसादिपदेन सर्वान्
मूर्च्छनाद्यनविशतिविधिरसकर्मणां यद्वचम् ॥ १ ॥

अथ यन्त्रशब्दस्य निवृत्तिः ।—

“—वार्तिकेन्द्रेः प्रयत्नतः ।

यन्त्राते पारदो यस्मात्तस्माद्यन्त्रमिति स्मृतम् ॥ २ ॥

अथ दीलायन्त्रम् ।—

द्रवद्रव्येण भाण्डस्य पुरिताङ्गीदरस्य च ।

मुखस्थोभयतो द्वार-द्वयं कृत्वा प्रयत्नतः ॥ ३ ॥

तयोस्तु निक्षिपेद्दण्डं तन्मध्ये रसपोटलीम् ।

बद्धा तु स्वेदयेदेतद्दीलायन्त्रमिति स्मृतम् ॥ ४ ॥

अथ स्वेदनीयन्त्रम् ।—

साम्बुस्थालीमुखे बद्ध-वस्त्रे पाक्यं निवेशयेत् ।

पिधाय पच्यते यत्र स्वेदनी-यन्त्रमुच्यते ॥ ५ ॥

अथ पातनायन्त्रलक्षणम् ।—

अष्टाङ्गुलपरीणाहमानाङ्गेन दशाङ्गुलम् ।

चतुरङ्गुलकोत्सेधं तोयाधारं गलादधः ॥ ६ ॥

यन्त्रस्य निवृत्तिमाह, वार्तिकेन्द्रेणिति ।—वार्तिकेन्द्रेः वार्तिकशस्त्रविशारदेः ; वार्तिकलक्षणश्च प्रकटितं प्रागेव । यन्त्राते नियम्यते, बध्यते इत्यर्थः, रक्ष्यते वा, अनेनोपायेनेति शेषः । “यत्र सङ्कोचने” इत्यस्य कर्मणि रूपनिधिः ॥ २ ॥

दीलायन्त्रमाह, द्रवद्रव्येणेति ।—द्रवद्रव्येण काञ्चिकादिस्वेदनद्रव्येण । मुख-
स्थेति ।—भाण्डकम्बरायाः प्रान्तद्वये द्विद्वयं कृत्वैत्यर्थः । तयोः द्विद्वयोः । तन्मध्ये
दण्डमध्ये । स्वेदनाङ्गेण काञ्चिकादिना केनचित् द्रवेण भाण्डाङ्गमापूय्य भाण्डकम्बरा-
प्रान्तद्वये द्विद्वयं कृत्वा तन्मध्ये दण्डमेकं पिधाय तस्मिन् रसपोटलीं बद्धा च पृथ-
क्स्थयेत् यथा भाण्डच्छद्वे सा निमज्जेत्, परन्तु भाण्डं न स्पृशेदिति निष्कर्षः ॥२॥४॥

स्वेदनीयन्त्रमाह, साम्बुस्थालीति ।—पाक्यं स्वेद्यम् । अन्तान्त्रशब्दो द्रवमात्रोप-
लक्षणः । तेन यथास्वदीवनाशकद्रवपूर्वस्थालीमुखं वस्त्रेणावृण्व तत्र स्वेद्यं पिधाय
किरावेणाच्छाद्य च स्वात्स्थो ज्वालां दद्यादिति ॥ ५ ॥

पातनायन्त्रस्य लक्षणमाह, अष्टाङ्गुलेति ।—परीणाहः विशारः, परिधिरिति

अधोभागं मुखं तस्य भाण्डस्योपरिवर्त्तिनः ।
 षोडशाङ्गुलविस्तीर्ण-पृष्ठस्याऽऽस्ये प्रवेशयेत् ॥ ७ ॥
 पार्श्वयोर्महिषीक्षीर-चूर्णमण्डूरफाणितैः ।
 लिप्त्वा विशोषयेत् सन्धिं जलाधारे जलं क्षिपेत् ॥
 चुल्लग्रामारोपयेदेतत् पातनायन्ममौरितम् ॥ ८ ॥

अथ अधःपातनप्रकारः ।—

अथोर्ध्वभाजने लिप्तस्थापितस्य जले सुधीः ।
 दीप्तैर्वनोत्पलैः कुर्यादधःपातं प्रयत्नतः ॥ ९ ॥

अथ दीपिकायन्मम् ।—

कच्छपयन्त्वान्तर्गत-सृन्मयपीठस्थ-दीपिकासंस्थः ।
 यस्मिन्निपतति सूतः प्रोक्तं तद्दीपिकायन्मम् ॥ १० ॥

यावत् । आनाहः शौचत्वं, देव्यमिति यावत् । उत्सेधः उपचितिः, स्थौल्यमिति यावत् ।
 फाणितम् अङ्गोवर्त्तितेचुरसविकृतिगुडविशेषः, तल्लक्षणं यथा भावप्रकाशे—“इषो
 रसस्तु यः पक्वः किञ्चिद्गाढो बहुद्रवः । स एवेक्षुविकारेषु ख्यातः फाणितमञ्जरा ॥”
 इति । अत्रैवमन्वयः कार्यः,—षोडशाङ्गुलपरीणाहमानाहं दशाङ्गुलं चतुरङ्गुलकोत्पेधं
 तोयाधारमधोभागं, कुर्यादिति शेषः । तस्य तोयाधारस्य अधोभागस्य मुखं
 षोडशाङ्गुलविस्तीर्णपृष्ठस्य उपरिवर्त्तिनः भाण्डस्य आस्ये गलादधःपर्यन्तं प्रवेशयेदिति ।
 एतेन षोडशाङ्गुलविस्तीर्णपृष्ठमपरमेकं भाण्डं कर्तव्यं, तस्य उपरिदिशि स्थाप्यमिति
 प्रतीयते । षोडशाङ्गुलपरिधिविशिष्टं दशाङ्गुलदीर्घं चतुरङ्गुलस्थूलञ्च जलाधारमेकं
 निमांशु अधः स्थापयित्वा तत्र जलं निक्षिपेत्, ततः षोडशाङ्गुलविकृतपृष्ठदेशम्
 शीघ्रधलिमोटरम् अधोमुखं भाण्डमेकं पूर्वोक्तभाण्डस्य मुखे कण्ठदेशादधःपर्यन्तं प्रवेश्य
 महिषीक्षीरादिभिः सन्धिं लिप्त्वा विशोष्य च चुल्लग्रं स्थापयेत् इति यन्त्रविधिः । अत्र
 पातनायन्मशब्देन अधःपातनं लक्षितमिति बोध्यम् ॥ ६—८ ॥

अधःपातनायन्ने पातनकममाह, अथेति ।—अथ उत्तरीया यन्त्रनिर्माणानन्तरम्,
 ऊर्ध्वभाजने उपरिस्थाधोमुखभाण्डोदरे इत्यर्थः, आदौ लिप्तं पश्चात् स्थापितं
 तस्य लिप्तस्थापितस्य, रसस्येति शेषः, कले, अधोभागस्थिते इति शेषः, दीप्तैः
 वनोत्पलैः वनकरीषाग्निभिः ॥ ९ ॥

दीपिकायन्ममाह, कच्छपेति ।—वज्रमाषकच्छपयन्मन्त्रवर्त्तितम् अथ चतुर्षु

अथ डेकीयन्तम् ।—

भाण्डकण्ठादधश्छिद्रे वेणुनालं विनिक्षिपेत् ।
 कांस्यपात्रद्वयं कृत्वा सम्पुटं जलगर्भितम् ॥ ११ ॥
 नलिकाऽऽस्यं तत्र योज्यं दृढं तच्चापि कारयेत् ।
 युक्तद्रव्यैर्विनिक्षिप्तः पूर्वं तत्र घटे रसः ॥ १२ ॥
 अग्निना तापितो नालात्तोये तस्मिन् पतत्यधः ।
 यावदुष्णं भवेत् सर्वं भाजनं तावदेव हि ॥
 जायते रससन्धानं डेकीयन्त्रमितोरितम् ॥ १३ ॥

अथ नारणायन्तम् ।—

लोहमूषाद्वयं कृत्वा द्वादशाङ्गुलमानतः ।
 ईषच्छिद्रान्वितामिकां तत्र गन्धकसंयुताम् ॥ १४ ॥
 मूषायां रसयुक्तायामन्यस्यां तां प्रवेशयेत् ।
 तोयं स्यात् सूतकस्याध ऊर्द्धाधो वज्रिदोषनम् ॥ १५ ॥

रूप-पीठोपरि प्रदीपमेकं संस्थाप्य तत्र सूतं स्थापयेत्, कच्छपयन्नाधः
 वज्रश्च दद्यात्, एवं प्रदीपस्थसूतः कच्छपयन्ते पतति तत् दीपिकास्य यन्त्रं
 श्रेयम् ॥ १० ॥

डेकीयन्तमाह, भाण्डकण्ठादिति ।—भाण्डस्य कण्ठनिम्ने छिद्रमेकं विधाय तत्र
 वज्रनिर्मितं नलमेकं संधीज्य स्थापयेत् । अन्यच्च जलपूर्णकांस्यपात्रद्वयेन सम्पुटमेकं
 कृत्वा भाण्डकण्ठस्य-नलायं तत्र प्रवेश्य दृढं संस्मिरोधं कुर्यात् । ततो भाण्डमध्ये
 निर्दिष्टद्रव्यैः सह रसं क्षिप्वा चाग्निज्वाला देया, तेन नालाच्छिद्रानुसारो रसः कांस्य-
 पात्रमध्यस्थगले पतति । एवं यावत् सर्वं पात्रम् उष्णं भवेत् तावत् कुर्यात् ।
 रससन्धानं रसनिर्गमनम् इत्यर्थः ॥ ११—१३ ॥

नारणायन्तमाह, लोहेत्यादि द्वाभ्याम् ।—वितस्मिन्नानं लोहमयमूषाद्वयं निर्माय
 तयोरीषच्छिद्रान्वितायाम् एकस्यां मूषायां गन्धकं संस्थापयेत्, ततः रसगन्धा-
 मन्यस्यां मूषायां पूर्वोक्तां सगन्धकमूषां प्रवेश्य सूतगन्धमूषाधो जलं स्थापयित्वा ऊर्ध्व-
 वज्रश्च वज्रं प्रज्वालयेदिति ॥ १४।१५ ॥

अथ जारणायन्त्रस्य प्रकारान्तरम् ।—

रसीनक-रसं भट्टे ! यद्वतो वस्त्रगालितम् ।
 दापयेत् प्रचुरं यद्वादाद्वाव्य रसगन्धकौ ॥ १६ ॥
 स्थालिकायां पिधायोद्धं स्थालीमन्यां दृढां कुरु ।
 सन्धिं विलेपयेत् यद्वात् सृदा वस्त्रेण चैव हि ॥ १७ ॥
 स्थान्तरं कपोताख्यं पुटं कर्षाग्निना मदा ।
 यन्त्रस्याधः करीषाग्निं दद्यात्तीव्राग्निमेव वा ॥ १८ ॥
 एवं तु त्रिदिनं कुर्यात्ततो यन्त्रं विमोचयेत् ।
 तप्तोदके तप्तचुल्लायां न कुर्याच्छीतलक्रियाम् ॥ १९ ॥
 न तत्र क्षीयते सूतो न च गच्छति कुत्रचित् ।
 अनेन च क्रमेणैव कुर्यान्नन्यकजारणम् ॥ २० ॥

अथ कच्छपयन्त्रम् ।—

जलपूर्णपात्रमध्ये दत्त्वा घटखर्परं सुविस्तीर्णम् ।
 तदुपरि विड्मध्यगतः स्थाप्यः सूतः कृतः कोष्ठग्राम् ॥ २१ ॥

अथविधं जारणायन्त्रमाह, रसीनक-रसमिति ।—“रसीनकरसम्” इत्यत्र
 “रसीनकवसाम्” इति पाठे—रसीनस्य मण्डं मज्जां वा, वसावत् प्रतीयमानत्वात्
 तद्यत्नेन निर्दंशी बोध्यः । भट्टे इति पार्वत्याः सम्बोधनम् । कपोताख्यं पुटं
 कपोतपुटं, तल्लवणं यथा भावप्रकाशे—“यत् पुटं दीयते खान्ति अष्टसङ्ख्यैर्वागोपलैः ।
 कपोतपुटमेतत् कथितं पुटपण्डितैः ॥” इति । कर्षाग्निना करीषाग्निनेत्यर्थः,
 त्रिभौतककाष्ठाङ्गारेभ्यश्चो वा । अथं विधिः,—स्थालीमध्ये रसगन्धकौ संस्थाप्य वस्त्र-
 प्रसूतेन प्रचुररसीनद्रवेण बाष्पावयेत्, ततः स्वल्पदरावेण रसगन्धकौ ती पिधाय
 स्थान्तरं यथा दृढां स्थालीं संस्थाप्य सृष्टेः सन्धिं लिप्ता च ऊर्ध्वस्थालीमध्ये
 कपोतपुटी देयः, यन्त्राधोऽपि करीषाग्निं तीव्राग्निं वा दद्यात्, एवं त्रिदिनं निरन्तरं,
 दिवसत्रयार्द्धं सन्तप्तचुल्लापरि उष्णोदकमध्ये यन्त्रं संस्थाप्य मोचयेत्, शीतक्रियास्त तदा
 न कुर्यात् । अनेनैव विधानेन गन्धकमपि जारयेत् इति ॥ १६—२० ॥

कच्छपयन्त्रमाह, कच्छपूर्णं ।—घटखर्परं घटकपालं “खाप्रा” इति भाषा ।

लघुलोहकटोरिकया कृतपणमृत्सन्धिलेपयाऽऽच्छाद्य ।

पूर्वोक्तघटखर्परमध्येऽङ्गारैः खदिर-कोलभवैः ॥ २२ ॥

स्वेदनतो मर्दनतः कच्छपयन्त्रस्थितो रसो जराति ।

अग्निबलेनैव ततो गर्भे द्रवन्ति सर्वसत्त्वानि ॥ २३ ॥

अथ विद्याधरयन्त्रम् ।—

यन्त्रं विद्याधरं ज्ञेयं स्थालोदितयसम्पुटात् ।

चुल्लीं चतुर्मुखीं कृत्वा यन्त्रभाण्डं निवेशयेत् ॥ २४ ॥

तत्रौषधं विनिक्षिप्य निरुन्ध्याद्भाण्डकाननम् ।

कोष्ठोयन्त्रमिदं नाम्ना तन्त्रज्ञैः परिकीर्तितम् ॥ २५ ॥

अथ सोमानलयन्त्रम् ।—

ऊर्ध्वं वङ्गिरधद्याऽऽपो मध्ये तु रससङ्ग्रहः ।

सोमानलमिदं प्रोक्तं जारयेद्गगनादिकम् ॥ २६ ॥

कोष्ठां कटोरिकायां मूषाया वा इत्यर्थः । कृतेति ।—कृतः षड्भिः सृष्टिः “बलीक-
सत्तिका धूमं गैरिकसेष्टका पटु । इत्येता सत्तिकाः पञ्च” इत्युक्तप्रकाराः पञ्च सृदः
तथा सामान्या सृष्ट इत्येताभिः पण्मुद्भिः ; यदा—कृतः षट् षड्वारं सृदा सन्धिलेपः
यस्याः तथामृतया, लघुलोहकटोरिकया इत्यनेन सम्बन्धः । सजलपात्रमध्ये
दृढतमं खर्परखण्डमेकं संस्थाप्य तदुपरि कटोरिका मूषां वा एकां स्थापयित्वा तत्र
त्रिडमध्यगतं रसं रक्षितं, पश्चात् स्वल्पलोहकटोरिकया रसं तमावृत्य षड्भिर्मुद्भिः सृदा
षड्वारं वा सन्धिलेपं कृत्वा च प्रागुक्तखर्परं खादिरकोलयोरन्यतराङ्गारिणापुण्यं स्वेदयेत्
मर्दयेच्च, तेन रसो जीर्यति । अग्निबलेनैव अग्निबलेनैव अन्यान्यपि सत्त्वानि गर्भे
द्रवन्ति ॥ २१—२३ ॥

विद्याधरयन्त्रमाह, यन्त्रमिति ।—स्थालोदितयसम्पुटात् ण्डिकावयकृतपुट-
विशेषात् । तदेव विवृणोति, चुल्लीमिति ।—अधोभाण्डे औषधं निक्षिप्य भाण्डा-
न्तरं सुखं पिषाद्य चुल्लीं चतुर्मुखीं संस्थाप्य च ज्वाला देया । कोष्ठोयन्त्रमिति
सजालरमन्ध । ग्रन्थान्तरे तु विद्याधरयन्त्रलक्षणमन्त्रविधं, तसु च ज्ञेयमेव
ब्रूयति ॥ २४।२५ ॥

सोमानलयन्त्रमाह, ऊर्ध्वमिति ।—गगनादिकम् असादिकम् । स्थालीमध्ये

अथ गर्भयन्त्रम् ।—

गर्भयन्त्रं प्रवक्ष्यामि पिष्टिका-भस्मकारकम् ।
चतुरङ्गलदीर्घान्तु त्राङ्गलान्मितविस्तराम् ॥ २७ ॥
मृन्मयीं सुदृढां मूषां वर्तुलं कारयेन्मृगम् ।
लोणस्य विंशतिभागा भाग एकस्तु गुगुलोः ॥ २८ ॥
सुश्लक्ष्णं पेषयित्वा तु वारं वारं पुनः पुनः ।
मूषालेपं दृढं कृत्वा लवणाङ्गमृदम्बुभिः ॥ २९ ॥
कर्षेत्तुषाग्निना भूमौ स्वेदयेन्मृदु मानवित् ।
अहोरात्रं तिरात्रं वा रसेन्द्रो भस्मतां व्रजेत् ॥ ३० ॥

अथ हंसपाकयन्त्रम् ।—

खर्परं सिकतापूर्णं कृत्वा तस्योपरि न्यसेत् ।
अपरं खर्परं तत्र शनैर्मृद्वग्निना पचेत् ॥ ३१ ॥
पञ्चचारैस्तथा मूत्रैर्लवणञ्च विडं ततः ।
हंसपाकं समाख्यातं यन्त्रं तद्वार्त्तिकोत्तमैः ॥ ३२ ॥

यस्य मूषां संस्थाप्य शराविण्णं मुखं पिषाय मृद्वस्त्रेण सन्धिं लिप्त्वा च जलपूर्णस्थाल्यन्तरो-
परि स्थालीं तां स्थापयेत् शरावीपरि करीषाग्निञ्च दद्यादिति ॥ २६ ॥

गर्भयन्त्रमाह, गर्भयन्त्रमिति ।—पिष्टिका गटपिष्टीकृतः रस इत्यर्थः । विस्तरामिति
कक्ष्ण्णान्दसः, विस्तरामित्यर्थः । लोणस्य लवणस्य ; “लोणस्य” इत्यत्र “लोहस्य”
इति पाठान्तरं न युक्तं, “लवणाङ्गमृदम्बुभिः” इति वक्ष्यमाणवाक्यविरोधात् । अत्र
वारं वारमिति पदं पेषयित्वा, तथा पुनः पुनरिति पदं मूषालेपमित्यनेन
योजनीयम् । लवणाङ्गमृदम्बुभिरिति सङ्घर्षे तृतीया, तेन लवणाङ्गमृदम्बुभिः सङ्घ-
र्षोऽगुगुलु पेषयित्वा इति तथा विंशतिभागलवणापेक्षया मृदोऽङ्गत्वमिति च
बोध्यम् । कर्षेत् आतपे शोषयेत् ॥ २७—३० ॥

हंसपाकयन्त्रमाह, खर्परमिति ।—सिकतापूर्णं बालुकापूर्णम् । पञ्चचारैः
“यवमुक्ककसज्जानां पलाशतिलश्रीलघा । चारैस्तु पञ्चभिः प्रोक्तः पञ्चचारामिधो
शब्दः ॥” इत्युक्तप्रकारैः । अत्र चारमाह चर्यात् मूत्रस्यापि पञ्चत्वं बोध्यम् ; तानि च
“नवानजानां सेवीषां मद्भिषोषाच मिश्रितम् । मूत्रं च गर्दभानां यत्तन्मूत्रं मूत्रपञ्च-

अथ बालुकायन्त्रम् ।—

सरसां गूढवक्त्रां मृदस्त्राङ्गुलघनावृताम् ।

श्रीषितां काचकलसीं त्रिषु भागेषु पूरयेत् ॥ ३३ ॥

भाण्डे वितास्त्रिगम्भीरे बालुका सुप्रतिष्ठिता ।

तद्भाण्डं पूरयेत्त्रिभिरन्याभिरवगुण्ठयेत् ॥ ३४ ॥

भाण्डवक्त्रं मणिकया सन्धिं लिम्पेन्मृदा पचेत् ।

तुल्लां तृणस्य चाऽऽदाहान्मणिकापृष्ठवर्तिनः ॥

एतच्च बालुकायन्त्रं तदयन्त्रं लवणाश्रयम् ॥ ३५ ॥

अथ बालुकायन्त्रस्य प्रकारान्तरम् ।—

पञ्चाढ-बालुकापूणे-भाण्डे निक्षिप्य यन्नतः ।

पच्यते रसगोलाद्यं बालुकायन्त्रमीरितम् ॥ ३६ ॥

कम् ॥” इति । लवणानि चाव षट् बोध्यानि रसेन्द्राचलामखिसंवादान्, तत्तु प्रागेव विवृतम् ; पञ्चचारिकया पञ्चमूलेः सङ्ग लवणानि संयोज्य विडं पचदिति योज्यम् । यन्त्रमेतत् विडपाकार्थं ज्ञेयम् ॥ ३१३२ ॥

बालुकायन्त्रमाह, सरसामिति ।—सरसां पारदगर्भात् । गूढवक्त्रां सङ्कीर्णमुखीम् । मृदिति ।—मृदस्त्रेण मृद्विप्रवस्त्रेण अङ्गुलघनम् अङ्गुलमानोत्प्रेक्षं यथा तथा आवृताम् । त्रिषु भागेषु पूरयेत् पाच्यरसादिना काचकलसाः भागवद्यं पूरयेदित्यर्थः । त्रिषु भागेष्विति अवच्छेदे मप्रमी । भाण्डे इत्येव काचकलसीं स्थापयेदिति शेषः । बालुकाभिः कियान् भागः पूरयितव्य इत्यपेक्षायामाह,—तद्भाण्डमिति । त्रिभिरन्यत्वं भागेरिति शेषः । तृतीया चाव चभेदे, भाण्डस्य भागवद्यमित्यर्थः, पूरयेत्, बालुकयेति शेषः । अन्याभिः बालुकाभिरित्यर्थः, अवशिष्टांशं पूरयेदिति शेषः । अवगुण्ठयेदित्यस्य मणिकया इत्यनेन सन्त्यन्तः ; मणिकया शरावेण । अयमर्थः,—सङ्कीर्णमुखीं काचकूपिकां मृदस्त्रेणाङ्गुलीत्प्रेक्षमालिप्य श्रीषयित्वा च तस्या भागवद्यं रसेनापूरयेत्, ततो वितलिप्रमाणगम्भीरे बालुकया त्रिभागपूर्वं भाण्डमध्ये तां निवेश्य ऊर्ध्वं बालुकया आच्छादयेत्, ततश्च शरावेण भाण्डवक्त्रं पिधाय मणिकया सन्धिं लिप्या च तावत् पचेत् यावत् शरावोपरि न्यस्तं दृश्यं न दृष्टेदिति । तुल्लावचकत्वात् बालुकायन्त्रप्रसङ्गे लवण-यन्त्रमप्यतिदिशति, तदिति ।—तत् सक्तप्रकारं यन्त्रं, लवणाश्रयम्, अपि भवतीति शेषः, लवणयन्त्रमपि बालुकायन्त्रवत् भवतीत्यर्थः ॥ ३३—३५ ॥

अथ लवणयन्त्रम् ।—

एवं लवणनिक्षेपात् प्रोक्तं लवणयन्त्रकम् ॥ ३७ ॥

अथ लवणयन्त्रस्य प्रकारान्तरम् ।—

अन्तःकृतरसालेप-ताम्बपात्रमुखस्य च ।

लिप्ता मृत्प्रवणेनैव सन्धिं भाण्डतलस्य च ॥ ३८ ॥

तद्भाण्डं पटुनाऽऽपूर्य क्षारैर्वा पूर्ववत् पचेत् ।

एवं लवणयन्त्रं स्याद्रसकर्मणि शस्यते ॥ ३९ ॥

अथ नालिकायन्त्रम् ।—

लोहनालगतं सूतं भाण्डे लवणपूरिते ।

निरुद्धं विपचेत् प्राम्बन्नालिकायन्त्रमोरितम् ॥ ४० ॥

अथ भूधरयन्त्रम् ।—

बालुकागूढसर्वाङ्गां गर्त्तं मूषां रसान्विताम् ।

दौसात्यलैः संवृणुयात् यन्त्रं तद्भूधराङ्गयम् ॥ ४१ ॥

अथर्विधं बालुकायन्त्रमाह, पञ्चेति ।—अत्रारिंशच्छरावमितबालुकापूर्णभाण्डे इत्यर्थः । अत्र बालुकामध्ये एव रसगोलादिकं स्थापयेत्, न तु काच-
कूप्यामिति विधेयः ॥ ३६ ॥

बालुकायन्त्रं “तदयन्त्रं लवणाश्रयम्” इत्युक्तम्, अतस्तदेव लवणयन्त्रमाह, पत्र-
मिति ।—एवं बालुकायन्त्रवत् । भाण्डमध्ये बालुकास्थाने लवणनिक्षेपात् लवणयन्त्रं
येयम् ; अन्वत् सर्वं तुल्यमिति ॥ ३७ ॥

लवणयन्त्रस्य प्रकारान्तरमाह, अन्तरिति ।—अन्तः ताम्रपात्रमध्ये इत्यर्थः, कृतः
रसेन चालेपः यत्र तथाभूतं यत् ताम्रपात्रं तस्य मुखं तस्य रसालशोदरताम्रपात्रमुखस्य,
तत्रा भाण्डतलस्य ताम्रपात्रमुखोपरि स्थापितभाण्डार्धभागस्य । तद्भाण्डम्
उपरिस्थभाण्डम् । पूर्ववत् ढक्कस्य चादाहान् इत्यर्थः । ताम्रपात्रोदरे रसं निक्षिप्य
तदुपरि लवणपूर्णं क्षारपूर्णं वा भाण्डमेकं बिम्बयेत्, ततो मृत्प्रवणेन सन्धिं कृत्वा पचेत्
इति ॥ ३८-३९ ॥

नालिकायन्त्रमाह, लोहेति ।—लोहमयनालमध्ये पारदनापूर्य क्षिद्रोर्ध्वं कृत्वा च
लवणपूरितभाण्डान्तः नालं त निरुध्यात्, ततो मणिकया भाण्डवक्रमाच्छाद्य
चालिख च सन्धिं तावत् पचेत् यावत् शरावोपरिस्थं ढक्कं न दृष्टेत् इति ॥ ४० ॥

अथ पुटयन्त्रम् ।—

शरावमम्पटान्तःस्थं करीषेष्वाग्निमानवित् ।

पचेच्छुक्लां द्वियामं वा रसं तत् पुटयन्त्रकम् ॥ ४२ ॥

अथ कोष्ठोयन्त्रम् ।

षोडशाङ्गुलविस्तीर्णं हस्तमात्राऽऽयतं समम् ।

धातुसत्त्विनिपातार्थं कोष्ठोयन्त्रमिति स्मृतम् ॥ ४३ ॥

अथ बलभीयन्त्रम् ।—

यत्र लोहमये पात्रे पार्श्वयोर्वलयद्वयम् ।

तादृक् स्वल्पतरं पात्रं वलयप्रोतकोष्ठकम् ॥ ४४ ॥

पूर्वपात्रोपरि न्यस्य स्वल्पपात्रे परिचिपेत् ।

रसं सम्भूच्छितं स्थूल-पात्रमापूर्य काञ्चिकैः ॥ ४५ ॥

भुधरयन्त्रमाह, बालकेति ।—गर्तस्थबालकोपरि रसगर्भी मूषा संस्थाप्य बालकया चाश्लाय उपरिदेशे करीषाग्निं दद्यादिति । यस्यान्तरे तु यन्त्रमेतत् अन्यथा पठितं, तद्वयथा अविमंदितायां,—“यन्त्रं डमरुवदाऽथ वाऽधःपातनयन्त्रवत् । भुगर्त्से तत् समाधाय षोडशाङ्गुलं वज्रिना ॥ अधःस्थास्यां जलं क्षिप्वा मृतकं तत्र पातयेत् । एतद्भुधरयन्त्रं स्यात् मृतसंस्कारकर्मणि ॥” इति ॥ ४१ ॥

पुटयन्त्रमाह, शरावेति ।—करीषेषु पचेत् अथवा अग्निमानवित् द्वियामं शुक्लाम् अङ्गारेषु पचेदिति योज्यम् ॥ ४२ ॥

कोष्ठोयन्त्रमाह, षोडशेति ।—अत्र सममिति पदेन मिलितभागद्वयस्य षोडशाङ्गुलवादि बोध्यम् ; एवञ्च वितक्षिप्रमाणदीर्घस्य अष्टाङ्गुलविक्षीर्णस्य च अधो-भागद्वयं मुखोपरि तावन्मानं भाग्डान्तरमधोमुखं संस्थाप्य अधो दृढाङ्गारेः भस्त्रया धमेत्, तेन धातुमत्त्वं निर्गच्छतौति । अविमंदितायां संतच्छ्रीकान्तर-मध्ये वा परांशः पठितः तद्वयथा,—“परिपूर्णं दृढाङ्गारेरधो वातेन कोष्ठकैः । मातया ज्वालमार्गेण ज्वालयेच्च हुताशनम् ॥” इति ॥ ४३ ॥ .

बलभीयन्त्रमाह, यत्रेति ।—वलयद्वयं वलयं “कडा” “आंटा” इति ख्यातम् । तादृक् लोहमयम् । वलयेति ।—वलये दृढत्वावस्थवलये प्रोतम् आवद्धं कोष्ठं लज्जदेशो यस्य तादृशम् । अयमर्थः,—दृढदाकारं कान्तलोहमयं पात्रमेकं निर्माय तस्मान्तर्गतादधःपार्श्वद्वये वलयद्वयं संयोजनीयम् ; दृढाकारमपरमपि तथाविधं

द्वियामं स्वेदयेदेवं रसोत्थापनहेतवे ।

एतत् स्याद्वलभीयन्त्वं रसे षाड्गुण्यकारकम् ॥

सूक्ष्मकान्तमये पात्रे रसः स्याद्गुणवत्तरः ॥ ४६ ॥

अथ तिर्यक्पातनयन्त्रम् ।—

क्षिपेद्रसं घटे दीर्घनताधोनालसंयुते ।

तन्नालं निक्षिपेदन्य-घटकुक्ष्यन्तरे खलु ॥ ४७ ॥

तत्र रुद्धा मृदा सम्यग्वदने घटयोरथ ।

अधस्ताद्रसकुम्भस्य ज्वालयेत्तीव्रपावकम् ॥ ४८ ॥

इतरस्मिन् घटे तोयं प्रक्षिपेत् स्वादु शीतलम् ।

तिर्यक्पातनमेतद्धि वार्त्तिकैरभिधीयते ॥ ४९ ॥

अथ पालिकायन्त्रम् ।—

चषकं वर्त्तुलं लोहं विनताग्रोर्द्धदण्डकम् ।

एतद्धि पालिकायन्त्रं बलिजारणहेतवे ॥ ५० ॥

पावमेकं कृत्वा ब्रह्मपावस्थे बलये अस्पृष्टतलमार्गं यथा तथा आबध्य तत्र मुच्छितरसं परिक्षिपेत्, कार्त्तिकेन स्थूलपावञ्च पूरयेदिति । रसे षाड्गुण्यकारकं षाड्गुण्यं “विद्या वितर्को विज्ञानं धृतिकल्परता क्रिया” इत्युक्त-षड्गुणभट्ट-शक्ति-जनकम् ; एवंविधरसोपयोक्ता उक्तषाड्गुण्यसिद्धिं लभते इत्यर्थः ॥ ४४-४६ ॥

तिर्यक्पातनयन्त्रमाह, क्षिपेदिति ।—दीर्घनताधोनालसंयुते दीर्घाकारं नतं निम्नाभिमुखञ्च यत्र अधोनालं तेन संयुते । अयं विधिः,—एकस्मिन् घटे रसं निधाय तस्य उदराधो दीर्घमधोनालनितं नालमेकं संयोज्य द्वितीयघटोदरस्थच्छिद्रे नालाग्रं प्रवेष्ट्य मृदस्त्रण सन्धिमालिष्य च घटयोर्मुखमपि तथा लिप्तेन, रसकुम्भाधश्च तौत्राग्रं प्रज्वालयेत्, द्वितीयघटे स्वादुशीतलं जलञ्च प्रक्षिपेत् इति ॥ ४७—४९ ॥

पालिकायन्त्रमाह, चषकमिति ।—विनतम् अयं यश्च तत् न्यूलोकताग्रभागम्, ऊर्ध्वम् उच्चैःकृतं दण्डं यस्य तत्र उन्नतदण्डं, विनताग्रञ्च तत् ऊर्ध्वदण्डञ्चेति विनताग्रोर्द्धदण्डकं लोहं लोहमयं वर्त्तुलं गोलाकारं चषकं कटोरिका, कायेमिति शेषः । चषकशब्दस्य मद्यपानपावार्थकत्वेऽपि पावमात्रार्थकत्वं प्रागेव प्रदर्शितम् । बलिजारणहेतवे गन्धकारणार्थम् ॥ ५० ॥

अथ घटयन्त्रम् ।—

चतुष्पथ-जलाधारश्चतुरङ्गलिकाऽऽननः ।

घटयन्त्रमिदं प्रोक्तं तदाप्यायनकं स्मृतम् ॥ ५१ ॥

अथ इष्टकायन्त्रम् ।—

विधाय वर्तुलं गर्तं मल्लमत्र निधाय च ।

विनिधायैष्टकां तत्र मध्यगर्तवतीं शुभाम् ॥ ५२ ॥

गर्तस्य परितः कुर्यात् पालिकामङ्गुलीच्छ्रयाम् ।

गर्तं स्मृतं विनिक्षिप्य गर्तास्ये वसनं क्षिपेत् ॥ ५३ ॥

निक्षिपेत् गन्धकं तत्र मल्लेनाऽऽस्यं निरुध्य च ।

मल्ल-पालिकयोर्मध्ये मृदा सम्यङ्निरुध्य च ॥ ५४ ॥

वनोत्पलैः पुटं देयं कपोताख्यं न चाधिकम् ।

इष्टिकायन्त्रमेतत् स्यान्नन्धकं तेन जारयेत् ॥ ५५ ॥

अथ हिङ्गुलाकृष्टिविद्याधरयन्त्रम् ।—

स्थालिकोपरि विन्यस्य स्थालीं सम्यङ्निरुध्य च ।

ऊर्ध्वस्थास्यां जलं क्षिप्त्वा वह्निं प्रज्वालयेदधः ॥

एतद्विद्याधरं यन्त्रं हिङ्गुलाकृष्टिर्हृतवे ॥ ५६ ॥

घटयन्त्रमाह. चतुरिति ।—षोडशशरावनितजलधारणसमर्थः चतुरङ्गुलविस्तृत-
मूलविशिष्टश्च घटः घटयन्त्रमिति निष्कर्षः । आप्यायनकं रसादीनां तर्पणं,
साङ्गण्यसम्पादनमिति यावत् । “आप्यायनकम्” इत्यत्र “उत्थापनकम्” इति पाठे
—रसोत्थापनसाधनमित्यर्थः ॥ ५१ ॥

इष्टकायन्त्रमाह, विधायेति ।—मल्लं शरावपातम् । पालिकाम् पालवालम् ।
गोलाकारं गर्तमेकं कृत्वा तत्र शरावं संस्थाप्य तदुपरि मध्याच्छिद्रामिष्टकानेकां
विन्यसेत्, इष्टकागर्तं परितः अङ्गुलिमितोन्नतम् पालवालमेकञ्च कुर्यात्, तत्र
इष्टकारम्भे पारदं विनिक्षिप्य रत्नमुखे वस्त्रं तदुपरि गन्धकञ्च विन्यस्य शरावालान्दरेण
बद्धा शरावालवालयोः सन्धिं मृदा सम्यगालिष्य च बन्धकरीषेः कपोताख्यपुटं
दद्यादिति निष्कर्षः ॥ ५२—५५ ॥

हिङ्गुलाकृष्टिविद्याधरयन्त्रमाह, स्थालिकोपरौति ।—स्थालीमित्यत्र ऊर्ध्वमुखी-

अथ उमरुयन्त्रम् ।—

यन्त्रस्याख्यं परि स्थालीं न्यूजां दत्त्वा निरुन्धयेत् ।

यन्त्रं उमरुकाख्यं तद्रसभस्मकृते हितम् ॥ ५७ ॥

अथ नाभियन्त्रम् ।—

मल्लमध्ये चरेद्गर्तं तत्र सूतं सगन्धकम् ।

गर्तस्य परितः कुण्डं प्रकुर्यादङ्गुलोच्छ्रितम् ॥ ५८ ॥

ततश्चाऽऽच्छादयेत् सम्यगोस्तनाकारमूषया ।

सम्यक् तोयमृदा रुद्ध्वा सम्यगत्रोच्यमानया ॥ ५९ ॥

तत्र तोयसंज्ञकम् ।—

{ लेहवत्कृतबब्बूल-कायेनैः परिमर्दितम् ।
 { जीर्णकिट्टरजः सूक्ष्मं गुडचूर्णममन्वितम् ॥
 { इयं हि जलमृत् प्रोक्ता दुर्भया सलिलैः खलु ॥ ६० ॥ }

तत्र वङ्गिमृत्स्ना ।—

{ खटिकापटुकिट्टैश्च महिषोदुग्धमर्दितैः ।
 { वङ्गिमृत्स्ना भवेद्द्वोर-वङ्गितापसङ्गा खलु ॥ ६१ ॥ }

मिति शेषो बोध्यः । अत्र हिङ्गुलाकटिप्रकारस्य अनुज्ञात्वात् यस्यान्तरोक्तकृत्प्रकारः प्रदर्श्यते, तद्वया—जन्वीराटिरसशोधितहिङ्गुलम् अथःस्थाल्यां पर्णोपरि मखाय्य काठनीष्टतलभानामुत्ताना स्थालीमपरा तदपरि दत्त्वा मृदम्बरादिभिः सन्निर्मातव्यं च अथो ज्वाला देशा ऊर्ध्वस्थाल्यां जलस्य, उष्णे च तस्मिन् तत् निक्षिप्य पुनर्देशम्, एवं विंशद्वारं कुर्यात् । यस्यान्तरेऽस्य ऊर्ध्वपातनमिति नामान्तरम् । क्वचिदंतदनन्तरं “रसं सम्यक्छितं स्थूलपात्रमापूर्य काञ्चिकैः । द्वियामं स्वेदयेद्वं रसो- त्यापनहेतवे ॥” इत्यधिकः पाठो विद्यते ॥ ५६ ॥

उमरुयन्त्रमाह, यन्त्रेति ।—न्यूजाम् अथोमुञ्जीम् । उमरुकाख्यं उमरुवीर्ययन्त्र- विशेषः तदाख्यम् ॥ ५७ ॥

नाभियन्त्रमाह, मल्लमध्ये इति ।—कुण्डं भित्तिः, चाखवालाकारमिति यावत् । अत्रोच्यमानया अत्र यन्त्रे उच्यमानया कथ्यमानया, तोयमृदा लेहवदित्यादिना वक्ष्य- मानया परिमाणिवक्ष्यमृदा इत्यर्थः । अत्र प्रथमं सम्यक् “आच्छादयेत्” द्वितीयं सम्यक्

{ एतया मृत्स्त्रया रुहो न गन्तुं क्षमते रसः ।
 { विदग्धवनिताप्रौढ-प्रेम्णा रुद्धः पुमानिव ॥ ६२ ॥
 { नन्दी नागार्जुनश्चैव ब्रह्मज्योतिर्मुनीश्वरः ।
 { वेत्ति श्रौसोमदेवश्च नापरः पृथिवौतलि ॥ ६३ ॥ }

ततो जलं विनिक्षिप्य वक्त्रं प्रज्वालयेदधः ।

नाभियन्त्रमिदं प्रोक्तं नान्दिना सर्ववेदिना ॥

अनेन जोर्यते सूतो निधमः शुद्धगन्धकः ॥ ६४ ॥

अथ यत्नयन्त्रम् ।—

मूषां मूषोदराविष्टामाद्यन्तः समवर्त्तुलाम् ।

चिपिटाञ्च तले प्रोक्तं ग्रस्तयन्त्रं मनोषिभिः ॥

सूतेन्द्रस्वनाथं हि रमविङ्गरुदीरितम् ॥ ६५ ॥

अथ स्थालीयन्त्रम् ।—

स्थाल्यां ताम्राटि निक्षिप्य मल्लेनाऽऽस्यं निरुध्य च ।

पच्यते स्थालिकाधस्तात् स्थालीयन्त्रमितोरितम् ॥ ६६ ॥

अथ धूपयन्त्रम् ।—

विधायष्टाङ्गुलं पात्रं लौहमष्टाङ्गुलोच्छ्रयम् ।

कण्ठाधो द्वाङ्गुले देशे गलाधारे हि तत्र च ॥ ६७ ॥

तिर्य्यग्लोहशलाकाश्च तन्वीस्तिर्य्यग्बनिक्षिपेत् ।

तनूनि स्वर्णपत्राणि तासामुपरि धिन्यसेत् ॥ ६८ ॥

“रुद्धा” तृतीयं सम्यक् “उच्यमानया” सम्बध्यते । तीयमृत्प्रकारमाह,—लेहवदिति ।

लेपांशुवृत्तिकाप्रस्तुतप्रसङ्गकमेव वक्त्रमृत्प्रकारमाह,—खटिकेति । अथ विधिः,—

धावमध्ये किञ्चित् गर्भं कृत्वा तत्र रसगन्धकौ निवेश्य गर्भस्थं चतुर्दिक्षु अङ्गुलीच्छ्रयम्
 आलवालं कुर्यात्, ततो गोलनाकृतिमूषया सालवालं सरसगन्धकं गर्भमाच्छाद्य
 शीघ्रमुदा सम्भिं लिप्सेत्, ततस्तत्र जलं दत्त्वा यन्त्राधो वक्त्रं दापयेत् इति ॥ ६८—६९ ॥

यत्नयन्त्रमाह, मूषामिति ।—सूतेन्द्रस्वनाथं रसपात्रायम् ॥ ६५ ॥

स्थालीयन्त्रमाह, स्थाल्यामिति ।—सुगमम् ॥ ६६ ॥

धूपयन्त्रमाह, विधायेति ।—गलाधारे शलाकाच्छापनाथं गलदेशस्थपालिका-

पत्राधो निक्षिपेद्भूमं वक्ष्यमाणमिहैव हि ।
 तत् पात्रं न्युजपात्रेण छादयेदपरेण हि ॥ ६८ ॥
 मृदा विलिप्य मन्त्रिञ्च वह्निं प्रज्वालयेदधः ।
 तेन पत्राणि कृत्स्नानि हतान्युक्तविधानतः ॥ ७० ॥
 रसश्चरति वेगेन द्रुतं गर्भे द्रवन्ति च ।
 गन्धालकशिलानां हि कज्जल्या वा मृताहिना ॥ ७१ ॥
 धूपनं स्वर्णपत्राणां प्रथमं परिकीर्तितम् ।
 तारार्थं तारपत्राणि मृतवङ्गेन धूपयेत् ॥ ७२ ॥
 धूपयेच्च यथायोग्यैरन्यैरुपरसैरपि ।
 धूपयन्त्रमिदं प्रोक्तं जारणद्रव्यसाधने ॥ ७३ ॥

अथ कन्दुकयन्त्रम् ।—

स्थूलस्थाल्यां जलं क्षिप्वा वासो बद्धा मुखे दृढम् ।
 तत्र खेद्य विनिक्षिप्य तन्मुखं प्रपिधाय च ॥ ७४ ॥
 अधस्ताज्ज्वालयेदग्निं तत् स्यात् कन्दुकयन्त्रकम् ।
 खेदनो-यन्त्रमित्यन्ये प्राहुश्चेदं मनीषिणः ॥ ७५ ॥

त्रयाधारविशेषे इत्यर्थः । अत्र प्रथमं तिर्यक् “लोहशलाका” इत्यनेन द्वितीयञ्च “विनि-
 क्षिपत” इत्यनेन मन्त्रध्वने । तिर्यक् वक्राकाराः तन्वीः सूत्राः लोहशलाकाः तिर्यक्
 वक्रभावेन विनिक्षिपेत् इत्यन्वयः । तेनेत्यादि ।—उक्तविधिना हतानि कृत्स्नानि
 पत्राणि द्रुतं गर्भे द्रवन्ति, ततश्च रसः स स्वर्णपत्रद्वयः वेगेन चरति स्वकार्यं
 साधयतीत्यर्थः । पत्राधो निक्षिपेद्भूममित्युक्तं, किन्तुभूमित्याह,—गन्धेति । प्रथमं
 श्रेष्ठम् । देव्यविस्तारतोऽष्टाङ्गुलमानं लोहपात्रमेकं कारयित्वा तस्य कण्ठाधः
 अङ्गुलिद्वयपरिमितस्थाने गलाधारे सूत्रतिर्यग्लोहशलाकाः तिर्यग्भावेन विन्यस्य
 तदुपरि कण्टकदेव्यस्वर्णपत्राणि स्थापयेत् ; तत्पत्राधः पात्राभ्यन्तरे गन्धकहरिताल-
 जलः शिलाभिः कृतकज्जलीं मृतनागं वा निक्षिप्य अधोमुखपात्रान्तरेण तत् पात्रं पिधाय
 मृदादिना मन्त्रिं बद्धा च पात्राधो वह्निं प्रज्वालयेत्, तेन मन्त्रकज्जल्यादितो धूमं
 निर्गम्य स्वर्णपत्रे लज्जिष्यति पत्राणि तानि भस्मीभवन्ति गर्भे द्रवन्ति च ॥ ६७—७३ ॥

कन्दुकयन्त्रमाह, स्थूलस्थाल्यामिति ।—स्पष्टम् । खेदनो-यन्त्रतया प्रागुक्तमपि

अथ कन्दुकयन्त्रस्य प्रकारान्तरम् ।—

यदा स्यात्स्यां जलं क्षिप्त्वा दृणं क्षिप्त्वा सुखीपरि ।

स्वेद्यद्रव्यं परिक्षिप्य पिधानं प्रविधाय च ॥

अधस्ताज्ज्वालयेद्वह्निं तत् स्यात् कन्दुकयन्त्रकम् ॥ ७६ ॥

अथ खल्लयन्त्रम् ।—

खल्लयोग्या शिला नीला श्यामा क्षिप्त्वा दृढा गुरुः ।

षोडशाङ्गुलकोत्सेधा नवाङ्गुलकविस्तरा ॥ ७७ ॥

चतुर्विंशाङ्गुला दीर्घा घर्षणी द्वादशाङ्गुला ।

विंशत्यङ्गुलदीर्घा वा स्यादुत्सेधे दशाङ्गुला ॥

खल्लप्रमाणं तज्ज्ञेयं श्रेष्ठं स्याद्रसकर्मणि ॥ ७८ ॥

अथ खल्लयन्त्रस्य वैविध्यनिर्देशः ।—

खल्लयन्त्रं त्रिधा प्रोक्तं रसादिसुखमर्दने ॥ ७९ ॥

द्विविधखल्लयोः सामान्यलक्षणम् ।—

निरुद्धारौ सुमसृणौ कार्यौ पुत्रिकया युतौ ॥ ८० ॥

इदं सञ्ज्ञानरप्रदर्शनार्थं पुनरुक्तम् ; अथवा तत्र स्यान्त्या विशेषो नोक्तः, अतः या
क्षाचित् स्यात्वी एव यास्या, अथ त खल्लस्यात्वी एव यास्या, अतः स्वेदनीयत्वात् यस्य
वैशिष्ट्यम् इति ॥ ७४।७५ ॥

प्रकारान्तरमाह, यद्वेति ।—सुखीपरि स्यात्स्या सुखीपरि इत्यर्थः । “सुखी-
परि” इत्यत्र “दृणोपरि” इति पाठे—स्यात्स्यां दृणं क्षिप्त्वा तत्तृणीपरि इत्यर्थः ।
जलपूर्णस्यात्वीमुखे दृणं संस्थाप्य तदुपरि स्वेद्यद्रव्यं निधाय च पिधानं कृत्वा
वह्निज्वाला देया ॥ ७६ ॥

खल्लयन्त्रमाह, खल्लयोग्येति ।—उक्तेषुः पार्श्वत उन्नतः । दीर्घः आशानेन
उन्नतः इति दीर्घोत्सेधयोर्भेदः । घर्षणी कण्टरणी, पुत्रिका इति यावत्, “नोडा”
इति भाषा ॥ ७७।७८ ॥

कार्यविशेषार्थं खल्लस्य प्रकारभेदमाह, खल्लयन्त्रमिति ।—अष्टमम् ॥ ७९ ॥

तत्र द्विविधयोः सामान्यलक्षणमाह, निरुद्धारौ इति ।—निरुद्धारौ उद्धारकाक्षे
प्रधा दंष्ट्रस्य कर्षोन्नयनादिकं भवति तत्र न भवति इति तादृशो, बीजत्वा-

अथ शोधनार्थम् अर्द्धचन्द्राकृतिखल्लनिर्देशः ।—

उत्सेधे स दशाङ्गुलः खलु कलातुल्याङ्गुलायामवान्
विस्तारेण दशाङ्गुलो मुनिमितैर्निम्नस्तथैवाङ्गुलैः ।
पात्यां द्वाङ्गुलविस्तरश्च मसृणोऽतीवार्द्धचन्द्रोपमो
चर्षो द्वादशकाङ्गुलश्च तदयं खल्लो मतः सिद्धये ॥ ८१ ॥

अस्मिन् पञ्चपलः सूतो मर्दनीयो विशुद्धये ।
तत्तदौचित्ययोगेन खल्लेष्वन्येषु योजयेत् ॥ ८२ ॥

अथ मर्दनार्थं वर्तुलखल्लनिर्देशः ।—

द्वादशाङ्गुलविस्तारः खल्लोऽतिमसृणोपलः ।
चतुरङ्गुलनिम्नश्च मध्येऽतिमसृणोक्ततः ॥ ८३ ॥
मर्दकश्चिपिटोऽधस्तात् सुग्राहश्च शिखोपरि ।
अयं हि वर्तुलः खल्लो मर्दनेऽतिसुखप्रदः ॥ ८४ ॥

वनतत्वरङ्गितौ समौ इत्यर्थः ; यद्वा—निबद्धारौ बान्तादिपरिशुन्धौ, बान्ताधाव
मर्दनकाले रज-उद्धोरणादिरूपम्, एतेन दृढमसृणौ समगावौ न तु उद्धतकर्षिकौ
इत्यर्थः समायाति इति । पुत्रिकया चर्षण्या इत्यर्थः । निबद्धारौ इत्यादिषु
खल्लौ इति विशेष्यपदम् ऊहनीयम् ; तेन च विविधेषु खल्लेषु द्विविधौ खल्लौ
एवभूतौ कार्यौ इत्याशयः । अथ द्विवचनम् “उत्सेधे” इत्यारभ्य “अति-
सुखप्रदः” इत्यन्तेन वक्ष्यमाणद्विविधखल्लबोधनार्थं, तृतीयस्य तु खौहमयत्वान् पृथक्
ग्रहणं भोज्यम् ॥ ८० ॥

निबद्धारौ इत्यादिसामान्यलक्षणयोगीकृत्योर्विधखल्लयोर्विशेषलक्षणे विवक्षुः प्रथमं
तावत् रसादिशोधनार्थमर्द्धचन्द्राकृतिखल्लप्रकारमाह. उत्सेधे इति ।—उत्सेधः पार्थत्य
औन्नत्यम् । कलेति ।—षोडशाङ्गुलदीर्घः । मुनिमितैः मत्तभिः । निम्नः गभीरः । पात्यां
चतुर्पार्श्वव्यतटवत्प्रदेशे । अर्द्धचन्द्रोपमः अर्द्धवृत्ताकारविशिष्टः । चर्षः शिलापुत्रः ।
सिद्धये रसकर्मनिर्वाहम् । प्रयोजनानुसारेण खल्लान्तरैऽपि रसः शोधनीय इति
वक्तुमाह. तत्तदिति १—तत्तदौचित्ययोगेन विशिष्टप्रयोजनानुसारेण ; पञ्चपलादधिक-
सूते मर्दनीये षडङ्गुलखल्लान्तरमपि व्यवहरिदित्यर्थः ॥ ८१॥८२ ॥

मर्दनार्थे द्वितीयं वर्तुलखल्लमाह,—द्वादशेति । मर्दक इति ।—पुत्रिका लघोभागे

अथ तप्तखल्लाये खल्लनिर्देशः ।—

लौहो नवाङ्गुलः खल्लो निम्नत्वे च षडङ्गुलः ।

मर्दकोऽष्टाङ्गुलश्चैव तप्तखल्लाभिधोऽप्ययम् ॥ ८५ ॥

अथ तप्तखल्लविधिः ।—

कृत्वा खल्लाकृतिं चुल्लीमङ्गारैः परिपूरिताम् ।

तस्यां निवेश्य तं खल्लं पार्श्वे भस्त्रिकया धमेत् ॥ ८६ ॥

तदन्तर्मर्दिता पिष्टिः क्षारैरस्त्रैश्च संयुता ।

प्रद्रवत्यतिवेगेन स्वेदिता नात्र संशयः ॥

कृतः कान्तायसा सोऽयं भवेत् कोटिगुणो रसः ॥ ८७ ॥

इति श्रीवैद्यपतिमिहिशुतस्य मूलोवांमटाचार्यस्य कृतो रसरत्नसमुच्चये

यन्त्रनिर्माणं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

त्रिपिटवद्विस्तीर्णो उपरिभागे च सुखेन यथा धारणीया भवति तथा कर्तव्यः । ८३।८४ ॥

तृतीयं तप्तखल्लाये खल्लमाह, लौह इति ।—लौहः लौहमय इत्यर्थः ॥ ८५ ॥

तप्तखल्लविधिमाह,—कृत्विति । तदन्तरिति ।—अङ्गारपूर्णं चुल्हापरि-स्थापितखल्ल-मध्ये क्षारास्त्रसंयोगेन मर्दितरसादिपिष्टिः इत्यर्थः । कान्तायसा कान्तलौहनिर्मित-तप्तखल्लेन इत्यर्थः ॥ ८६।८७ ॥

इति रसरत्नसमुच्चयबीधिव्यां नवमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ दशमोऽध्यायः ।

अथ मूषादिकथनम् ।—

अथ मूषायाः पर्यायाः ।—

मूषा हि कौञ्चिका प्रोक्ता कुमुदी करहाटिका ।

पाचनी वल्लिमित्रा च रसवादिभिरिष्यते ॥ १ ॥

अथ मूषाया निरुक्तिः ।—

मुष्णाति दोषान् मूषा या सा मूषेति निगद्यते ॥ २ ॥

अथ मूषाया उपादानम् ।—

उपादानं भवेत्तस्या मृत्तिका लोहमेव च ॥ ३ ॥

अथ मूषाप्रशंसा ।—

मूषामुखविनिष्क्रान्ता वरमेकाऽपि काकिणी ।

दुर्जनप्रणिपातेन धिग्लक्ष्मपि मानिनाम् ॥ ४ ॥

यन्त्रवत् मूषा-पुटादीनामपि रसकर्मणि योगिकत्वात् पुवांध्याये यन्त्रनिरूपणानन्तरं
मूषादिकं निरूपयितुं दशमाध्यायमारभते ; तत्रादौ तावत् मूषापर्यायमाह, मूषेति ।
—स्यष्टम् ॥ १ ॥

मूषाया निरुक्तिमाह, मुष्णातीति ।—मुष्णाति अपहरति, नाशयतीति यावत्,
दोषान् रसादिगतानादिदोषान् इत्यर्थः, दोषमोषणात् मूषा इति सारः ॥ २ ॥

मूषायाः सामान्योपादानमाह, उपादानमिति ।—सुगमम् ॥ ३ ॥

मूषासाध्यरसादिजीविनां प्रशंसनीयत्वमाह, मूषेति ।—मूषामुखविनिष्क्रान्ता
मूषापुटादिसिद्धरसादिलब्धा इत्यर्थः । काकिणी विंशतिकपर्दकः कपर्दकी वा,
“पञ्चमखकयोस्तुल्ये उदमानस्य काकिणी” इति रुद्रवचनात् “काकिणी पञ्चतुर्यांशं
मानदृष्टेऽपि दृश्यते । कण्ठलेखवराह्योः स्यादुन्मनसांशकैऽपि च ॥” इति मंदिनौ-
वचनात्, तथा “वराटकानां दशकषयं तत् सा काकिणी” इति लीलावत्युक्तेः ।
दुर्जनप्रणिपातेन निन्दितजनचित्तवृत्त्यनुसरणार्थं प्रशानादिद्वारा इत्यर्थः, लक्ष-
मिति शेषः ॥ ४ ॥

अथ सन्धिलेपस्य पर्यायाः ।—

मूषापिधानयोर्वन्धे बन्धनं सन्धिलेपनम् ।

अन्ध्रुणं रन्ध्रुणश्चैव संश्लिष्टं सन्धिवन्धनम् ॥ ५ ॥

अथ मूषोपयोगिगद्ग्याका ।—

मृत्तिका पाण्डुरस्थूला शर्करा शोणपाण्डुरा ।

चिराद्धानसद्वा सा हि मूषार्थमतिशस्यते ॥

तदभावे च वाल्मीकी कौलाली वा समीर्यते ॥ ६ ॥

अथ मूषोपयोगिद्रव्याणि ।—

या मृत्तिका दग्धतुषैः शणेन शिखितकैर्वा हयलहिना च ।

लौहेन दण्डेन च कुट्टिता सा साधारणा स्यात् खलु मूषिकार्थे ॥७॥

अथ मूषाया उपकरणान्तराणि ।—

श्वेताश्मानसुषा दग्धाः शिखित्राः शणखर्परे ।

लहिः किट्टं कृष्णमृत्स्ना संयोज्या मूषिकामृदा ॥८॥

सन्धिलेपपर्यायमाह, मूषापिधानयोरिति ।—मूषा च पिधानं मूषावरकश्च तयोः बन्धे संयोजने, बन्धनादिशब्दः प्रयोज्य इति शेषः ॥ ५ ॥

मूषार्थं प्रशस्तमृत्तिकामाह, मृत्तिकेति ।—पाण्डुरस्थूला पाण्डुरवर्णा स्थूला च, अथवा शोणपाण्डुरा रक्तपल्लुमिश्रवर्णा, चिराद्धानसद्वा दीर्घकालं व्याप्य अग्निसन्तापं प्राप्यापि अविदारणशीला, एवंविधा या शर्करा मृत्तिका कङ्कररूपा मृत्तिका । शर्करामृत्तिकाभावे यादृशमृत्तिकामाह, तदिति ।—वाल्मीकी कुमिश्रलोद्भवा मृत् “उद्माटी” इति वङ्गभाषा । कौलाली कुम्भकारमृदित्वर्थः ॥ ६ ॥

सामान्यमूषार्थम् उपपादानान्माह, येति ।—हयलहिना अश्वपुरीषेण ॥ ७ ॥

उपादानान्तराण्याह, श्वेताश्मान इति ।—श्वेताश्मानः श्वेतप्रकराः । खर्परं कपालखण्डः, दग्धमृत्तिका इति यावत् । “शणखर्परे” इत्यत्र “शणखर्पटे” इति पाठे—खर्पटं छिन्नवस्त्रम् । लहिः हयलहिः । किट्टं मण्डूरम् । कृष्णमृत्स्ना कृष्णवर्ण-मृत्तिका । मूषिकामृदा मूषार्थेप्राप्तमृत्तिकावा सहित्वर्थः ॥ ८ ॥

अथ वज्रमूषा ।—

मृदस्त्रिभागाः शणलद्भिभागौ भागश्च निर्दग्धतुषोपल्लादेः ।

किंवाद्देभागं परिखण्ड्य वज्र-मूषां विदध्यात् खलु सस्त्रपाते ॥८॥

अथ योगमूषा ।—

दग्धाङ्गारतुषोपेता मृत्स्ना वल्मीकमृत्तिका ।

तत्तद्विडसमायुक्ता तत्तद्विडविलेपिता ॥ १० ॥

तथा या विहिता मूषा योगमूर्पेति कथ्यते ।

अनया साधितः सूतो जायते गुणवत्तरः ॥ ११ ॥

अथ वज्रावणोपयोगिमूषा ।—

गारभूनागधौताभ्यां शणैर्दग्धतुषैरपि ।

समैः समा च मूषामृत्तमहिषोदुग्धमर्दिता ॥१२॥

कौशिका यन्त्रमात्रं हि बहुधा परिकीर्त्तिता ।

तया विरचिता मूषा वज्रावणकोचिता ॥ १३ ॥

वज्रमूषानामृ, मृद इति ।—मृदः पूर्वोक्तपृष्ठमृत्तिकायाः । शण-लद्भिभागौ शणश्च लद्देश प्रत्येकं भागद्वयम् । परिखण्ड्य चूर्णयित्वा ॥ ८ ॥

योगमूषामाह, दग्धेति ।—दग्धशब्दोऽत्र अङ्गारतुषाभ्यां प्रत्येकं सम्बध्यते । मृत्स्ना पाण्डुरस्थूलादिगुणोपेता शर्करामृत्तिकेत्यर्थः । तत्तद्विडसमायुक्ता सूतगारणाद्ये प्राङ्मुद्रितविडमिश्रिता । तत्तद्विडविलेपिता तेनैव विडेनालिप्ता । दग्धाङ्गाराद-विडन्तं सर्वमेतच्च सज्जोय मूषां विरचय्य विडेन लिप्ता यत्कोक्तव्यं मृत्तमोया-दिति ॥ १०।११ ॥

वज्रावणोपयोगिमूषामाह, गारेति ।—गारशब्दोऽत्र कोष्ठागारिकायंक्तः, “नामैकदेशेनापि नामसाकल्यवृत्त्यम्” इति न्यायान् ; कोष्ठागारिका मृत्तिका-विशेषः “कुमौरि पोकार माटी” इति भाषा । भूनागशब्देनापि तन्मृत्तिका याज्ञा ; एवञ्च गारभूनागधौताभ्यां धौतकोष्ठागारिका-किञ्चलुत्तमृत्तमान् । मूषामृत् पूर्वोक्तशर्करावाक्कोष्ठाकौलाख्यादीनामन्यतमा । गारादितुवान्तं सर्वे समं, मृत्तिका च सर्वैः समाना याज्ञा । कौशिकेति ।—यन्त्रमात्रे हि कौशिका संज्ञा वर्तते, सा हि बहुधा विविधप्रकारा परिकीर्त्तिता इत्यन्वयः ॥ १२।१३ ॥

अथ गारमूषा ।—

दुग्धघङ्गुणगाराष्ट-किष्टाङ्गारशणान्विता ।
 कृष्णमृद्धिः कृता मूषा गारमूषेत्युदाहृता ॥
 यामयुग्मपरिधानान्नासौ द्रवति वङ्गिना ॥ १४ ॥

अथ वरमूषा ।—

वज्राङ्गारतुषास्तुल्यास्तच्चतुर्गुणमृत्तिका ।
 गारा च मृत्तिकातुल्या सर्वैरेतैर्विनिर्मिता ॥
 वरमूषेति निर्दिष्टा याममग्निं सहेत सा ॥ १५ ॥

अथ वर्णमूषा ।—

पाषाणरहिता रक्ता रक्तवर्गानुमाधिता ।
 मृत्तया साधिता मूषा क्षितिखेचरलेपिता ॥
 वर्णमूषेति सा प्रोक्ता वर्णोत्कर्षे नियुज्यते ॥ १६ ॥

अथ रूप्यमूषा ।—

एवं हि श्वेतवर्गेण रूप्यमूषा समीरिता ॥ १७ ॥

गारमूषामाह, दुग्धेति ।—गारस्य घङ्गुणत्वं किष्टाङ्गारशणानाञ्च प्रत्येकमष्टगुणत्वं कृष्णमृदपेक्षया बोध्यम् । दुग्धेच्च मर्दनयोग्यम् ॥ १४ ॥

वरमूषामाह, वज्रेति ।—वज्रं तदाख्यलौहं, पूर्वोक्तसङ्कल्पा तत्किञ्च वा बोध्यम् ॥ १५ ॥

वर्णमूषामाह, पाषाणरहितेति ।—रक्ता रक्तवर्णा । रक्तवर्गानुमाधिता वक्ष्य-
 मानकुसुमादिमात्रिकान्तवर्गकायेन भाविता श्रुता वा । क्षितिखेचरलेपिता क्षितिश्च
 खेच क्षितिखे तव चरतः इति क्षितिखेचरौ भूमानमृत् काशीश्वरः ; यद्वा—
 क्षितिस्थः खेचरः काशीश्वरित्यर्थः । वर्णोत्कर्षे प्रशस्तवर्णतापादने, रक्तवर्णजनने
 इत्याशयः ॥ १६ ॥

रूप्यमूषामितिदिशति, एवमिति ।—एवं वर्णमूषाप्रक्रियानुसारिणेत्यर्थः । श्वेतवर्गेण
 वक्ष्यमाणतगरादिकन्दान्तवर्गेण । एवञ्च पाषाणरहिता श्वेता श्वेतवर्गानुमाधिता या
 मृत्तया साधिता क्षितिखेचरलेपिता मूषा रूप्यमूषेति निष्कर्षः ॥ १७ ॥

अथ विडमूषा ।—

तत्तद्देदमृदोद्भूता तत्तद्विडविलेपिता ।

देहलोहार्थयोगार्थं विडमूषेत्युदाहृता ॥ १८ ॥

अथ वज्रद्रावणोपयोगिमूषाकारम् ।—

गारभूनागध्रीताभ्यां तुषमृष्टशणेन च ।

समैः समा च मूषामृन्महिषौदुग्धमर्दिता ॥ १९ ॥

क्रौञ्चिका यन्त्रमात्रे हि बहुधा परिकीर्त्तिता ।

तथा विरचिता मूषा लिप्ता मत्कुणशीणितैः ॥ २० ॥

बालाब्दध्वनिमूलैश्च वज्रद्रावणक्रौञ्चिका ।

सहतेऽग्निं चतुर्यामं द्रवेण व्यधिता सतौ ॥ २१ ॥

अथ मूषाऽऽप्यायनम् ।—

द्रवे द्रवीभावमुखे मूषाया ध्यानयोगतः ।

क्षणमुद्धरणं यत्तन्मूषाऽऽप्यायनमुच्यते ॥ २२ ॥

विडमूषामाह, तत्तदिति ।—तत्तद्देदमृदोद्भूता शर्करादीनामन्यतममृदा रचिता इत्यर्थः । “तत्तद्देदमृदोद्भूता” इत्यत्र “तत्तद्विडमृदोद्भूता” इति पाठे—पूर्वोक्तविडमृदोद्भूता च उद्भूता निर्मिता । देहलोहार्थयोगार्थं देहस्य लोहवत् दार्ढ्यसम्पादनार्था ये योगाः तदर्थं तत्कर्मसम्पादनार्थमित्यर्थः ॥ १८ ॥

पूर्वोक्तवज्रद्रावणोपयोगिमूषायाः प्रकारान्तरमाह, गारिति ।—मत्कुणः “कार-पोका” इति ख्यातः क्रिमिविशेषः तस्य शोणितैः । अब्दध्वनिः वनतण्डुलीयकः “काटानटे” इति भाषा, बालाब्दध्वनिमूलैः नवोत्पन्नतण्डुलीयमूलैः ; यद्वा—बालः अश्वपुच्छकेशः तथा अब्दध्वनिमूलं तैः, लिप्ता इत्यनेनान्वयः । द्रवेण व्यधिता विज्ञा, स्पृष्टा इत्यर्थः, द्रवपूर्णा इत्याशयः ॥ १९—२१ ॥

मूषाऽऽप्यायनमाह, द्रवे इति ।—आश्रयते अनेनेति ध्यानमग्निः तद्रथोगतः अग्नि-संयोगात्, द्रवे द्रावणोपयोगिनि द्रव्ये, द्रवीभावमुखे द्रवीभवितुमारब्धं, मूषाया यत् अक्षमुद्धरणम् अग्रितः उत्तोलनम्, अवतारणमित्यर्थः, तत् आप्यायनं तर्पणं, स्नायित्वसम्पादनम् इत्यर्थः ॥ २२ ॥

अथ वृन्ताकमूषा ।—

वृन्ताकाकारमूषायां नालं द्वादशकाङ्गुलम् ।
धत्तूरपुष्पवच्चोर्ध्वं सुदृढं स्निग्धपुष्पवत् ॥ २३ ॥
अष्टाङ्गुलञ्च सच्छिद्रं सा स्याद्वृन्ताकमूषिका ।
अनया खर्परादीनां मृदूनां सत्त्वमाहरत् ॥ २४ ॥

अथ गोलनीमूषा ।—

मूषा या गोस्तनाकारा शिखायुक्तपिधानका ।
सत्त्वानां द्रावणे शुद्धौ मूषा सा गोस्तनी भवेत् ॥ २५ ॥

अथ मल्लमूषा ।—

निर्दिष्टा मल्लमूषा या मल्लद्वितयसम्पृष्टात् ।
पपेयादि-रसादोनां स्वेदनाय प्रकीर्त्तिता ॥ २६ ॥

अथ पक्कमूषा ।—

कुलालभाण्डरूपा या दृढा च परिपाचिता ।
पक्कमूषेति सा प्रोक्ता पोटल्यादिविपाचने ॥ २७ ॥

अथ गोलमूषा ।—

निर्वक्तगोलकाकारा पुटनद्रव्यगर्भिणी ।
गोलमूषेति सा प्रोक्ता सत्त्वरद्रवरोधिनी ॥ २८ ॥

वृन्ताकमूषामाह, वृन्ताकेति ।—वृन्ताकं वाचाङ्कः ; वाचाङ्कुलसदृशकारां मूषां कृत्वा तत्र द्वादशाङ्गुलदीर्घं नालं धीजयेत्, नालायभागश्च धत्तूरपुष्पवत् पुष्पवर्धो युग्मरूपावस्थितम् अष्टाङ्गुलं सच्छिद्रञ्च कुर्यात् ॥ २३।२४ ॥

गोलनीमूषामाह, मूषेति ।—सुगमम् ॥ २५ ॥

मल्लमूषामाह, निर्दिष्टेति ।—स्पष्टम् ॥ २६ ॥

पक्कमूषामाह, कुलालेति ।—घटकपालयोः पृथक् पृथक् निर्माचार्थं यः प्रतिकपः सः कुलालभाण्डाद्वेनोच्यते, तद्रूपा इत्यर्थः । पोटल्यादिविपाचने रत्नगर्भपोटल्यादि-पाके इत्यर्थः ॥ २७ ॥

गोलमूषामाह, निर्वक्तेति ।—मुखविरहितगोलाकारा इत्यर्थः । सत्त्वरद्रवरोधिनी

अथ महामूषा ।—

तले या कूर्पराकारा क्रमादुपरि विस्तेता ।
 स्थूलवृत्ताकवत् स्थूला महामूषित्यमौ स्मृता ॥
 सा चायोऽभ्रकमत्त्वाटेः पुटाय द्रावणाय च ॥ २८ ॥

अथ मण्डूकमूषा ।—

मण्डूकाकारमूषा या निम्नताऽऽयामविस्तरा ।
 षडङ्गुलप्रमाणेन मूषा मण्डूकसंज्ञका ॥
 भूमौ निखन्य तां मूषां दद्यात् पुटमथोपरि ॥ ३० ॥

अथ मुषलमूषा ।—

मूषा या चिपिट्वा मूले वर्तुलाऽष्टाङ्गुलीच्छ्रया ।
 मूषा सा मुषलाख्या स्याच्चक्रिवद्वरसे हिता ॥ ३१ ॥

अथ कोष्ठिकाप्रस्तावः ।—

सत्त्वानां पातनार्थाय पातितानां विशुद्धये ।
 कोष्ठिका विविधाकारास्तासां लक्षणमुच्यते ॥ ३२ ॥

अथ अक्षरकोष्ठी ।—

राजहस्तसमुत्सेधा तदर्द्धायामविस्तरा ।
 चतुरस्रा च कुड्येन वेष्टिता मृन्मयेन च ॥ ३३ ॥

द्रवपदार्थेष्वविचारिणी इत्यर्थः । मर्ज्यास्थितपुटगद्रव्या सम्यङ्निरुद्धाना गोला-
 कृतिमूषा गोलमूषा बोध्या ॥ २८ ॥

महामूषामाह, तले इति ।—कूर्पराकारा कूर्परः कफोष्णिः, भुजमध्यसन्धिरित्यर्थः
 तदाकारा ॥ २८ ॥

मण्डूकमूषामाह, मण्डूकेति ।—मण्डूकः मेकः तदाकारा । षडङ्गुलप्रमाणेन
 निम्नताऽऽयामविस्तरा षडङ्गुलप्रमाणमभिरतादैर्घ्यविस्तारयुक्ता ॥ ३० ॥

मुषलमूषामाह, मूषेति ।—वर्तुला मूलादूर्ध्वमिति बोध्यम् । चक्रिवद्वरसः
 स्त्रीरोगाधिकारीक शोषधविशेषः ॥ ३१ ॥

सत्त्वपातनाद्यर्थं कोष्ठिकां वर्तुं प्रतिजानीते, सत्त्वानामिति ।—स्यटम् ॥ ३२ ॥

एकभित्ती चरेद्द्वारं वितस्त्याभोगसंयुतम् ।
 द्वारं सार्धवितस्त्या च सम्मितं सुदृढं शुभम् ॥ ३४ ॥
 देहल्यधो विधातव्यं धमनाय यथोचितम् ।
 प्रादेशप्रमिता भित्तिर्नृत्तरङ्गस्य चोर्ध्वतः ॥ ३५ ॥
 द्वारञ्चोपरि कर्त्तव्यं प्रादेशप्रमितं खलु ।
 ततश्चेष्टकया रुद्धा द्वारसन्धिं विलिप्य च ॥ ३६ ॥
 शिखित्रैस्तां ममापूर्य्य धमेद्वस्त्रादयेन च ।
 शिखित्रान् धमनद्रव्यमूर्ध्वद्वारेण निक्षिपेत् ॥ ३७ ॥
 सत्त्वपातनगोलांश्च पञ्च पञ्च पुनः पुनः ।
 भवेदङ्गारकोष्ठोयं खराणां सत्त्वपातनी ॥ ३८ ॥

अथ पातालकोठी ।—

दृढभूमौ चरेद्द्वर्त्तं वितस्त्या सम्मितं शुभम् ।
 वर्त्तुलञ्चाथ तन्मध्ये गर्त्तमन्यं प्रकल्पयेत् ॥ ३९ ॥

अङ्गारकोष्ठिकालक्षणमाह, राजहस्येति ।—राजहस्यसमुत्प्रेषा हस्यव्योमता ।
 राजहस्य विस्तरव्याख्या गजपुटव्याख्यां द्रष्टव्या । चतुरस्रा चतुष्कोणा ।
 वितस्त्याभोगसंयुतं द्वादशाङ्गुलविक्षृतम् । द्वारं सार्धवितस्त्या च इत्यस्य देहल्यधः
 इत्यनेन सम्बन्धः । देहलो द्वारनिम्नं पिण्डिका । प्रादेशप्रमिता “अङ्गुष्ठस्य प्रदेशित्या
 ध्यातः प्रादेश उच्यते” इत्युक्तलक्षणा तर्जनीसहितविक्षृताङ्गुष्ठप्रमाणा । उत्तरङ्गस्य
 दारोर्द्व्यष्टादशः । हस्यव्योम्प्रेषं हस्यमितायामविक्षारं चतुष्कोणं समन्तात्
 खन्यथभित्तिवेष्टितञ्च चुञ्ज्याकारमेकं मार्त्तिकं यन्मं कृत्वा तस्य एकभित्ती वितस्ति-
 वित्तरं द्वारं द्वारपिण्डिकाधः षष्टादशाङ्गुलमानं द्वारान्तरञ्च कुर्यात् । दारोर्द्व्यभागे
 अङ्गुष्ठतर्ज्ज्यामैव्यवत् विस्तरां भित्तिं स्थापयित्वा तदुपरि तद्विस्तरं द्वारमन्यत्
 विदध्यात् ; ततः दृष्टकया द्वारसन्धिं रुद्धा विलिप्य च कोष्ठोन्मूलैः परिपूर्य्य द्वाभ्यां
 भस्त्राभ्यां धमेत् । भस्त्रीभूते च अङ्गारे पुनरपि अङ्गारं सत्त्वपातनगोलादिकञ्च पञ्च
 पञ्च कृत्वा ऊर्ध्वद्वारेण पुनः पुनः निक्षिपेत् । इयमङ्गारकोठी खरद्रव्याणां सत्त्वपातने
 शुभा क्रिया ॥ ३३—३८ ॥

पातालकोष्ठिकानाह, दृढभूमाविति ।—कठिनवृत्तिकार्या वितस्तिमानं वर्त्तुलं

चतुरङ्गलविस्तार-निस्त्रत्वेन समन्वितम् ।
 गर्त्ताक्षरणिपर्यन्तं तिर्यङ्गलसमन्वितम् ॥ ४० ॥
 किञ्चित् समुन्नतं वाङ्म-गर्त्ताभिमुखनिस्त्रगम् ।
 मृच्चक्री पञ्चरन्ध्राभ्यां गर्भगर्त्तादरे क्षिपेत् ॥ ४१ ॥
 आपूर्य्य कोकिलैः कोष्ठीं प्रधमेदेकभस्त्रया ।
 पातालकोष्ठिका ह्येषा मृदूनां सत्त्वपातनी ॥
 ध्यानसाध्यपदार्थानां नन्दिना परिकीर्त्तिता ॥ ४२ ॥

अथ गारकोष्ठो ।—

द्वादशाङ्गलनिस्त्रा या प्रादेशप्रमिता तथा ।
 चतुरङ्गलतश्चाङ्गं वलयेन समन्विता ॥ ४३ ॥
 भूरिच्छिद्रवतीं चक्रीं वलयोपरि निक्षिपेत् ।
 शिखित्रांस्तत्र निक्षिप्य प्रधमेदङ्गनालतः ॥
 गारकोष्ठोयमाख्याता मृष्टलोहविनाशिनी ॥ ४४ ॥

अथ वङ्गनालम् ।—

मूषामृद्धिर्विधातव्यमरत्नप्रमितं दृढम् ।
 अधोमुखञ्च तदक्ते नालं पञ्चाङ्गलं खलु ॥
 वङ्गनालमिदं प्रोक्तं दृढधानाय कीर्त्तितम् ॥ ४५ ॥

गर्भमेकं कृत्वा तन्मध्ये चतुरङ्गलविस्तारं चतुरङ्गलगभीरं गर्त्तात् भृशपथ्यन्तयात्रि-
 वक्राकृतिनालसंयुक्तम् ईषदुच्छितञ्च गर्भमन्यं कुर्यात् । ततः अभ्यन्तरगर्भमध्ये
 पञ्चरन्ध्रसंयुक्तां मृच्चक्रीं व्यापयित्वा अक्षरैः कोष्ठीं परिपूर्य्य च एकभस्त्रया प्रधमेत् ।
 मृद्व्याणां सत्त्वपातनार्थमियं पातालकोष्ठोति ज्ञेयमिति निष्कर्षः ॥ ४८—४२ ॥

गारकोष्ठोमाह, द्वादशेति ।—द्वादशाङ्गलगभीरा प्रादेशप्रमाणाविकारविशिष्टा
 कोष्ठी एषा कार्या, तस्या ऊर्ध्वे चतुरङ्गले वलयारमाखवात्मिकं दत्त्वा तदपरि
 वृष्टिद्रां चक्रीं विधाय अक्षरं निक्षिप्य च वङ्गनालेन प्रधमेत् इति । मृष्टलोह-
 विनाशिनी शोधितलोहमारिणीत्यर्थः ॥ ४३-४४ ॥

गारकोष्ठिकाया वङ्गनालमित्युक्तं, किन्तु वङ्गनालमित्याशंसायामाह, मूषामृद्धि-
 रिति ।—प्रकर्षादीनामन्यतमाभिः मूषोपयोगिसङ्घिः अरत्नप्रमितं दृढमेकं नालं कृत्वा

अथ सिद्धरसादीनां कीष्टी ।—

कीष्टी सिद्धरसादीनां विधानाय विधीयते ।

द्वादशाङ्गुलकोत्सेधा सा बुध्ने चतुरङ्गुला ।

तिथ्येक्षप्रथमनाऽऽस्था च मृदुद्रव्यविशोधनी ॥ ४६ ॥

[इति मूषाकीष्टिकायन्त्राणि] ।

अथ पुटानि ।—

अथ पुटस्य प्रयोजननिर्देशः ।—

रसादिद्रव्यपाकानां प्रमाणज्ञापनं पुटम् ।

नेष्टो न्यूनाधिकः पाकः सुपाकं हितमौषधम् ॥ ४७ ॥

अथ पुटस्य फलम् ।—

लीहादेरपुनर्भावो गुणाधिक्यं ततोऽग्रता ।

अनप्सु मज्जनं रेखा-पूर्णता पुटतो भवेत् ॥ ४८ ॥

पुटादग्राव्णो लघुत्वञ्च शीघ्रव्याप्तिश्च दीपनम् ।

जारितादपि सूतेन्द्राल्लीहानामधिको गुणः ॥ ४९ ॥

यथाऽऽत्मनि विशेदङ्गिर्वह्निस्तथा पुटयोगतः ।

चूर्णत्वाच्च गुणावाप्तिस्तथा लोहेषु निश्चितम् ॥ ५० ॥

तन्मुवि पञ्चाङ्गुलप्रमाणम् अधोमुखं भालमेकं योजयेत् ; दृढभागाय तत् बङ्गनालं
वेदितव्यम् ॥ ४५ ॥

सिद्धरसादिपाकार्यं कीष्टान्तरमाह, कीष्टीति ।—बुध्ने मूलभागे, अधोभागे
इत्यर्थः । तिथ्येगिति ।—तिथ्येक्षं बक्रभावेनावस्थितं प्रथमनार्यमाख्यं द्वारं
यस्याः सा ॥ ४६ ॥

मूषाकीष्टिकादिसाध्यद्रव्याणां पुटमायत्तसिद्धित्वात् मूषाविनिर्देशानन्तरं पुटम्
अभिधातुं तत्प्रयोजनादिहमाह, रसादीति ।—सुपक्वरसादिद्रव्यस्य पाकसिद्धिज्ञापक-
मित्यर्थः, पुटविशेषादेव रसादीनां सम्यक् पाकी जायते इति निष्कर्षः ॥ ४७ ॥

पुटस्य गव्यमाह, लीहादेरिति ।—ग्राव्णः प्रक्षरस्य, पद्मरागादेरित्यर्थः ।
अग्रता श्रेयता । अनप्सु मज्जनं न अप्सु मज्जनं वारितरत्वमित्यर्थः । रेखापूर्णता
“प्रकृत्युत्कर्षोऽप्युत्तमः” इत्याप्तुल्लेखविशिष्टता । शीघ्रव्याप्तिः सत्वरं सूक्ष्मकीर्तो-

अथ महापुटम् ।—

निम्नविस्तारतः कुण्डे द्विहस्तौ चतुरस्रके ।
वनोत्पलसहस्रेण पूरिते पुटनौषधम् ॥ ५१ ॥
क्रौञ्चाणां रुद्धं प्रयत्नेन पिष्टिकोपरि निक्षिपेत् ।
वनोत्पलसहस्राङ्गं क्रौञ्चिकोपरि विन्यसेत् ॥
वह्निं प्रज्वालयेत्तत्र महापुटमिदं स्मृतम् ॥ ५२ ॥

अथ गजपुटम् ।—

राजहस्तप्रमाणेन चतुरस्रञ्च निम्नकम् ।
पूर्णञ्चोपलसाठीभिः कण्ठावध्यथ विन्यसेत् ॥ ५३ ॥
विन्यसेत् कुमुदीं तत्र पुटनद्रव्यपूरिताम् ।
पूर्णच्छगणताऽर्द्धानि गिरिण्डानि विनिक्षिपेत् ॥
एतत् गजपुटं प्रोक्तं महागुणविधायकम् ॥ ५४ ॥

ऽनुसरणम् । यथेति ।—वाञ्छतः पुटे दत्तेऽपि मूषाव्यपुटनद्रव्ये यथा वज्रिविंशत्
वज्रिगुणाधानेन लघुत्वदोषनत्वादिकं जायते, तथा पुटयोगेन चूर्णत्वात् लोहैस्त्वपि
वज्रिगुणाधानेन गुणाधिक्यं स्यात् इत्यर्थः ॥ ४८—५० ॥

महापुटमाह, निम्नेति ।—निम्नविस्तारतः गभीरतायां विस्तारे च, द्विहस्ते
इत्यनेनान्वयः । चतुरस्रके चतुर्कोणाकारे । क्रौञ्चाणां मूषायाम् । पिष्टिकोपरि वनोत्पल-
सहस्रोपरि । वनोत्पलसहस्राङ्गं पञ्चशतवनोत्पलम् ॥ ५१।५२ ॥

गजपुटमाह, राजहस्तेति ।—राजहस्तः सपादहस्तः, हस्तयत्विंशत्यङ्गुलप्रमाणः
स सपादः, तेन विंशदङ्गुलप्रमाणहस्तौ राजहस्तः, स च गजहस्तस्येव नामान्तरः इति
बोध्यम् ; भाष्यप्रकाशोक्तगजपुटलक्षणे तत्समार्थकप्रयोगदर्शनात् ; तथा च,—“सपाद-
हस्तमानेन कुण्डं निधे तथाऽऽयत्वे । वनोत्पलसहस्रेण पूर्णे मध्ये विभारयेत् ॥ पुटन-
द्रव्यसंयुक्तां कोष्ठिकां मुद्रितां सुखे । अथाऽर्द्धानि करण्डानि अङ्गीत्युपरि निक्षिपेत् ॥
एतद्गजपुटं प्रोक्तं ख्यातं सर्वपुटोत्तमम् ॥” इति । गजहस्तस्यापि अर्थः तत्रैव यथा,
—“साधारणगराङ्गुल्या विंशदङ्गुलको गजः” इति । किञ्च सूतस्य बोधन-
क्रियायां रसेन्द्रसारसङ्ग्रहे यत्र “गजहस्तप्रमाणतः” इति पाठः, रसेन्द्रचिन्तासौ पुनः
तत्रैव “राजहस्तप्रमाणतः” इति पाठदर्शनात् इतीदं प्रकाशयितुं नासङ्गतमिति ।

अथ वाराहपुटम् ।—

इत्यञ्चारत्रिके कुण्डे पुटं वाराहमुच्यते ॥ ५५ ॥

अथ कुक्कुटपुटम् ।—

पुटं भूमितले यत्तद्वितस्तिद्वितयोच्छ्रयम् ।

तावच्च तलविस्तीर्णं तत् स्यात् कुक्कुटकं पुटम् ॥ ५६ ॥

अथ कपोतपुटम् ।—

यत् पुटं दीयते भूमावष्टमङ्कैर्वर्गोत्पलैः ।

बद्धा सूतार्कभस्माद्यै कपोतपुटमुच्यते ॥ ५७ ॥

अथ गोबरस्तूपम् ।—

गोष्ठान्तर्गोखुरक्षुम्भं शृङ्गं चूर्णितगोमयम् ।

गोवरं तत् समाट्टष्टं वरिष्ठं रसमाधने ॥ ५८ ॥

अथ गोबरपुटम् ।—

गोवरैर्वा तुषैर्वाऽपि पुटं यत्न प्रदीयते ।

तद्गोवरपुटं प्रोक्तं रसभस्मप्राप्तसङ्घे ॥ ५९ ॥

राजहस्तवज्राद्यै साधारण्यतुल्यैश्च कुलकहस्तापेक्षया षडङ्गुलाधिक्येन हस्तैश्च
ग्रहन्तात् बोध्यम् । राजहस्तप्रमाणेन तन्मूलकं चतुरस्रस्य इत्यन्वयः । कुमुदी
मुषाम् ॥ ५३।५४ ॥

वाराहपुटमाह, इत्यामिति ।—चरत्रिके विस्तृतकणिष्ठाङ्गुलिमुष्टिः चरत्रिः,
तत्प्रमाणे कुण्डे ॥ ५५ ॥

कुक्कुटपुटमाह, पुटमिति ।—वितस्तिद्वितयोच्छ्रयं हस्तप्रमाणीकृतम् । तावच्च
तलविस्तीर्णम् अर्धोभागेऽपि हस्तप्रमाणवित्तम् । एतच्च भूमेरुपरि एव कार्यं
न तु गर्ते स्नानत्वा ॥ ५६ ॥

कपोतपुटमाह यदिति ।—बद्धा मूषाया बद्धेत्यर्थः । सूतार्कभस्माद्यै रसभस्माद्यै
ताम्रभस्माद्यैश्च ॥ ५७ ॥

गोबरपुटं ववक्षुमादी गोबरस्तूपमाह, गोष्ठान्तरिति ।—स्यष्टम् ॥ ५८ ॥

गोवरैर्वा पुटमाह, गोवरैरात ।—एतच्च उच्छ्राव्यस्यै एव कार्यम् ; यदुक्तं
भाष्यपात्रे, —“उच्छ्राव्यस्यैत्येवं गोवरैर्दीयते पुटम् । तद्गोवरपुटं प्रोक्तं भिषग्भिः
सूतभस्मान् ॥” इति ॥ ५९ ॥

अथ भाण्डपुटम् ।—

स्थूलभाण्डे तुषापूरणे मध्ये मूषासमन्विते ।

वज्रिना विहिते पाके तद्भाण्डपुटमुच्यते ॥ ६० ॥

अथ बालुकापुटम् ।—

अधस्तादुपरिष्ठाच्च क्रीडिकाऽऽच्छाद्यते खलु ।

बालुकाभिः प्रतप्ताभियञ्च तद्बालुकापुटम् ॥ ६१ ॥

अथ भूधरपुटम् ।—

वज्रिमित्राः क्षितौ सम्यङ्निखन्याद्वाङ्गलादधः ।

उपरिष्ठात् पुटं यत्र पुटं तद्भूधराह्वयम् ॥ ६२ ॥

अथ लावकपुटम् ।—

ऊर्ध्वषोडशिकामूर्तेस्तुषैर्वा गोवरैः पुटम् ।

यत्र तल्लावकाख्यं स्यात् समुद्रद्रव्यमाधने ॥ ६३ ॥

भाण्डपुटमाह, स्थूलभाण्डे इति ।—तुषपूर्णवृद्धाकारभाण्डमध्यं शोधधूर्णां मूषां संस्थाप्य वज्रिं दत्त्वा भाण्डमुखं निरोधयेत् । यदुक्तं भावप्रकाशे,—“वृद्धभाण्डे तुषैः पूर्णे मध्ये मूषा विधारयेत् । लिङ्गाऽयिं मुद्रयेत् भाण्डं तद्भाण्डपुटमुच्यते ॥” इति ॥ ६० ॥

बालुकापुटमाह, अधस्तादिति ।—पुटेऽस्मिन् अधः उपरि च प्रतप्तबालुकयेव मूषाच्छादने कार्यम् ॥ ६१ ॥

भूधरपुटमाह, वज्रिमित्राः इति ।—वज्रिमित्राः मूषाः ; दीर्घकालं वज्रिना सहोपस्थानात् अल्पा वज्रिमित्रत्वं ज्ञातव्यम् । स्पष्टमन्यत् ॥ ६२ ॥

लावकपुटमाह, ऊर्ध्वेति ।—ऊर्ध्वषोडशिका षोडशिकोर्ध्वं, पल्लविकमित्यर्थः ; यथा—ऊर्ध्वषोडशिका कर्षपस्थां यत्र षोडशिकाया अपि उपरिवर्तिषोडशिका, पल्लविति यावत्, तावत्परिमितैः मूर्तैः पल्लवैः किञ्चिदधिकमूर्तैः पल्लवपरिमितमूर्तैर्वा सह तुषैः गोवरैर्वा यत्र पुटमित्यन्वयः । “ऊर्ध्वषोडशिकामूर्तैः” इत्यत्र “ऊर्ध्वषोडशिकामूर्तैः” इति पाठे—पल्लव किञ्चिदधिकपरिमाणैः पल्लवपरिमितैर्वा तुषैः गोवरैर्वा इत्यन्वयः । “ऊर्ध्व” इति व्यक्तपाठे तु—ऊर्ध्वमुपरिभागे यत्र पुटमिति योजनायम् ॥ ६३ ॥

अथ अनृक्तपुटमाने कर्तव्यनिर्देशः ।—

अनृक्तपुटमाने तु साध्यद्रव्यबलावलात् ।

पुटं विज्ञाय दातव्यमूहापोहविचक्षणैः ॥ ६४ ॥

अथ उपलपय्यांशः ।—

पिष्टकं कृगणं कृणामुत्पलञ्चोपलं तथा ।

गिरिण्डोपलसाठो च वराटो कृगणाभिधाः ॥ ६५ ॥

अथ अकृत्रिमकृत्रिमलोहानि ।—

सुवर्णं रजतं ताम्रं त्रपु सीमकमायसम् ।

षडेतानि च लोहानि कृत्रिमौ कांस्यपित्तलौ ॥ ६६ ॥

अथ षड्लवणानि ।—

लवणानि षड्च्यन्ते सामुद्रं सैन्धवं विडम् ।

सौवर्चलं रोमकञ्च चूलिकालवणं तथा ॥ ६७ ॥

अथ चारत्रयम् ।—

चारत्रयं समाख्यातं यवसर्जिकटङ्गणम् ॥ ६८ ॥

अनृक्तपुटं पुटविधिमाह, अनृक्तेति ।—अनृक्तपुटमाने कतिभिः उपलैः कति वा पुटं देयः इत्यादि परिमाणानुक्तौ इत्यर्थः ॥ ६४ ॥

“निघण्टुना विना वैद्यो विद्वान् व्याकरणं विना । अनभ्यासेन धान्दस्यो हास्यस्य भाजनम् ॥” इति आख्यातं निघण्टुज्ञानं विना वैद्यस्य सिद्धेरसम्भवात् विज्ञेयोपयोगिनः कार्यनिघण्टून् वक्तुमिच्छुरादौ उपलपय्यांशमाह, पिष्टकमिति ।—पिष्टकादिबराच्यन्तं सर्वं कृगणाभिधं करीषपय्यांशो बोध्यः ॥ ६५ ॥

लोहषट्कमटलोहमाह, सुवर्णमिति ।—षडेतानि लोहानि, विदुर्ज्ञानीति शेषः । चालन्तरमित्रखेन अस्त्रैश्च एतलमाह, कृत्रिमाविति ।—सुवर्चादीनि षट् प्राकृतानि, कांस्यपित्तलौ कृत्रिमौ मिश्रौ श्रेयो ॥ ६६ ॥

लवणषट्कमाह, लवणानीति ।—सामुद्रं “करकञ्च” इति ख्यातम् । रोमकं हमानदीर्घवं, शम्बर इति ख्यातम् । चूलिकालवणं नरसारः ॥ ६७ ॥

चारत्रयमाह, चारत्रयमिति ।—यवः यवचारः । सर्जिकः सर्जिकाचारः ॥ ६८ ॥

अथ चारपञ्चकम् ।—

पलाशमुष्ककक्षारौ यवक्षारः सुवर्चिका ।

तिलनालीङ्गवः क्षारः संयुक्तं चारपञ्चकम् ॥ ६८ ॥ *

अथ मधुरत्रयम् ।—

घृतं गुडो मात्तिकञ्च विज्ञेयं मधुरत्रयम् ॥ ७० ॥

अथ रसकर्माण सैलथोनिफलान् ।—

कङ्कणो-तुम्बिनो-घोषा-करीर-ओफलोद्भवम् ।

कटुवार्त्ताक-सिद्धार्थ-सोमराजो-विभीतजम् ॥ ७१ ॥

अतसाज महाकालो-निम्बजं तिलजं तथा ।

अपामार्गद्वेवदाली-दन्तौ-तुम्बुरुविग्रहात् ॥ ७२ ॥

अङ्गीलोन्मत्त-भस्मात-पलाशभ्यस्तथैव च ।

एतभ्यस्तैलमाढाय रसकर्माणं योजयेत् ॥ ७३ ॥

अथ वसावर्गः ।—

जम्बूक-मण्डूकवसा वसा कच्छपमश्ववा ।

कर्कटो शिशुमारो च गो-शूकर-नरोद्भवा ॥

अजाद्व-खर-मेषाणां महिषस्य वसा तथा ॥ ७४ ॥

चारपञ्चकमाह, पलाशेति ।—सुष्ककः घण्टापाटला । सुवर्चिका स्वर्जिका-
क्षारः ॥ ६८ ॥

मधुरत्रयमाह, घृतमिति ।—मात्तिकं मधु ॥ ७० ॥

रसकर्माधनोपयोगितैलथोनिफलान्याह, कङ्कणीति ।—कङ्कणी महाज्योति-
ष्मतीकृता ; “न्यात् कङ्कणी तदनु शैलमुता सुतेला” इति राजनिघण्टुतया अस्या-
सैलथोनिस्त्व बोध्यं तथा वीजञ्च यास्यमिति । “कङ्कणी” इति दन्त्यन्तपाठे तु—
प्रियङ्गुबीजमित्यर्थः । तुम्बिनी कटुतुम्बी सरलकाष्ठं वा । घोषा स्नानामग्न्याता ।
करीरः मरुजद्रुमविशेषः ; “करीर” इत्यत्र “करञ्ज” इति पाठान्तरम् । महाकालो
स्नानामग्न्याता, “माकाल” इति बङ्गभाषा । द्वेवदाली इति घोषकः । तुम्बुरुः
स्नानामग्न्यातवल्गुद्रव्यविशेषः, मैपालधन्याकमिति केचित् । अङ्गीलः अङ्गीटः,
“मौकीङ्ग” इति भाषा । उन्मत्तः धूसूरः ॥ ७१—७३ ॥

अथ मृगवर्गः ।—

मूत्राणि हस्ति-करभ-महिषी-खर-वाजिनाम् ।

*गोऽजावीनां स्त्रियः पुंसां पुष्पं वीजन्तु योजयेत् ॥ ७५ ॥

अथ पञ्चमाहिषम् ।—

माहिषास्य दधि क्षीरं साभिघारं शक्रद्रवः ।

तत् पञ्चमाहिषं ज्ञेयं—”

अथ कृगलपञ्चकम् ।—

“—तद्वक्त्रागलपञ्चकम् ॥ ७६ ॥

अथ अस्रवर्गः ।—

अस्त्रवेतस-जम्बोर-निम्बकं वीजपूरकम् ।

चाङ्गेरी चणकाम्लञ्च अस्त्रीकं कोल-टाडिमम् ॥ ७७ ॥

अम्बुष्टा तिलिङ्गीकञ्च नारङ्गं रमपत्रिका ।

करमदं तथा चान्यदस्त्रवर्गः प्रकीर्तितः ॥ ७८ ॥

येषां प्राणिनां वमा रसकर्मसु प्रयुक्ता तानाह, जम्बूकेति ।—कर्कटी कुलीरक-
स्त्री । शिशुमारी शिशुमारः जलजन्तुविशेषः “शृग्र” इति ख्यातः, तस्य स्त्री ॥ ७४ ॥

मूवाष्टकमाह, मूवाणीति ।—करभः उष्ट्रशवकः । मूवादिकन्तु स्त्रीजातीयाना-
मेव प्रयुक्तम्, यदुक्तं परिभाषाप्रदीपे—“स्त्रीणां मूवं गवां तीक्ष्णं न तु पुंसां
विधीयते । पितामहिकाः स्त्रियो यस्यात् सौम्यास्तु पुरुषा मताः ॥” इति ।
भाग्यद्वज-वसामूवादिवर्णनप्रसङ्गेन स्त्रीपुंसोरन्यदपि यद्वाच्यं तदाह, स्त्रिय इति ।—
स्त्रीणामार्चवं तथा पुंसां यक्रमपि रसकर्मणि याच्यम् ॥ ७५ ॥

* माहिषपञ्चकमाह, माहिषास्त्विति ।—माहिषास्य महिषीमूवं, तामां मूवस्येव
तीक्ष्णवान्, “स्त्रीणां मूवं गवां तीक्ष्णं” “स्त्रियस्तुष्यदे याच्याः” इत्यादि
परिभाषास्वरणात् । दधिक्षीरादयोऽपि महिष्या एव याच्याः । साभिघारं सघृतं,
दधि क्षीरमित्यनेन सन्त्यः । शक्रद्रवः महिषीविघारसः । कृगलपञ्चकमाह,
तद्वदिति ।—तद्वत् पञ्चमाहिषवत् ॥ ७६ ॥

अस्रवर्गमाह, अस्रवेतसिति ।—चाङ्गेरी चुक्रिषा, “चुकापाल” इति ख्याता ।
अस्त्रीकं तिलिङ्गीफलम् । अम्बुष्टा अम्बुलीषिका, “बामरुल” इति ख्यातम् ।
तिलिङ्गीकं महार्द्रकम् । नारङ्गं “कमलाक्षु” इति ख्यातः मधुरनिम्बकविशेषः ।

चणकाम्लश्च सर्वेषामेक एव प्रशस्यते ।

अम्लवेतसमेकं वा सर्वेषामुत्तमोत्तमम् ॥

रसादीनां विशुद्धार्थं द्रावणे जारणे हितम् ॥ ७९ ॥

अथ अम्लपञ्चकम् ।—

कील-दाडिम-वृक्षाम्ल-चुक्रिका-चुक्रिकारसः ।

पञ्चाम्लकं समुद्दिष्टं तच्चोक्तञ्चाम्लपञ्चकम् ॥ ८० ॥

अथ पञ्चमृत्तिका ।—

इष्टिका गैरिका लोणं भस्म वल्मीकमृत्तिका ।

रसप्रयोगकुशलैः कीर्त्तिताः पञ्च मृत्तिकाः ॥ ८१ ॥

अथ विषवर्गः ।—

शृङ्गौकं कालकूटञ्च वत्सनाभं सकृत्विमम् ।

पित्तञ्च विषवर्गोऽयं स वरः परिकीर्त्तितः ॥ ८२ ॥

रसकर्मणि शस्तोऽयं तद्भेदनविधावपि ।

अयुक्त्या सेवितश्चायं मारयत्येव निश्चितम् ॥ ८३ ॥

रसपत्रिका कपित्थाम्लम् । करमर्दं “करम्बा” इति ख्यातम्, “करमर्दम्” इत्यत्र “करवन्दम्” इति पाठोऽपि स एवार्थः ॥ ७७—७९ ॥

पञ्चाम्लमाह, कीलेति ।—वृक्षाम्लं महार्द्रकं तिलिही वा । “चुक्रिका” इत्यत्र “कीलदाडिमवृक्षाम्लचुक्रिकाचुक्रिकारसः । पञ्चाम्लको मुखालेपः सद्यस्मृणां नियच्छति ॥” इति अक्षरशृङ्गोक्तं “चुक्रिका” इति पाठान्तरं समीचीनम् ; चुक्रिकाशब्दस्य अम्लवाचकद्रव्यविशेषे प्रयोगादर्शनात् । चुक्रिका “चुक्रापाण्डु” इति तथा चुक्रिका “चामरुल” इति च ख्यातम् ॥ ८० ॥

पञ्चमृत्तिका आह, इतिकेति ।—लोणं खण्डम् । भस्म मृत्तिः ; “भस्म” इत्यत्र “धूमम्” इति क्वचित् पाठः ॥ ८१ ॥

विषवर्गमाह, शृङ्गौकमिति ।—शृङ्गौकं “यस्मिन् गोशृङ्गके बह्वे दुग्धं भवति लोहितम् । तत् शृङ्गौकमिति प्रोक्तं द्रव्यतत्त्वविशारदः ॥” इत्युक्तलक्षणविषभेदः, केचिददः “सिमूलचारः” (शैकी) इति वदन्ति । कालकूटं “देवासुररथे देवैर्हन्तव्यं पृथगालिनः । देवस्य हधिराज्यातसद्वरत्नसन्निभः । निर्यासः

अथ उपविषवर्गः ।—

लाङ्गलो विषमुष्टिश्च करवीरं जया तथा ।

नीलकः कनकाऽर्कश्च वर्गो ह्युपविषात्मकः ॥ ८४ ॥

अथ दुग्धवर्गः ।—

हस्त्यश्व-वनिता धेनुर्गर्दभौ ह्यगिकाऽविका ।

उष्ट्रिकोदुम्बराश्वत्थ-भानु-न्यग्रोध-तिल्वकम् ॥ ८५ ॥

दुग्धिका स्तुग्गणश्चैव तथैवोत्तमकण्टिका ।

एषां दुग्धेविनिर्दिष्टो दुग्धवर्गो रसादिषु ॥ ८६ ॥

कालकूटोऽस्य मुनिभिः परिकीर्तितः ॥ मोऽहिर्चवे शृङ्गवेरे कोङ्कणे मलये भवेत् ॥” इत्युक्तलक्षणम् । वत्सनाभं “मिन्द्वारसदृक्पथो वत्सनाभ्याङ्कितस्तथा । यत्पाशं न तरोर्वेदिवत्सनाभः स भाषितः ॥” इत्युक्तलक्षणविषयेदः “मिठा” “अस्त” इति ख्यातम्, एतन्नयं स्यात्वरम् । ज्ञातम् गर मयोगजविषमिति यावत् । “सक्तविमम्” इत्यत्र “च सक्तकम्” इति पाठान्तरं समीचीनम् ; तत्र सक्तकं “यद्गन्धः, सक्तकेनेव पूर्णमग्न्यः स सक्तकः” इत्युक्तलक्षणविषयेदः । पित्तं पित्तावपम्, एतन्न जङ्गमाशयं बोध्यम् ; यदुक्तं सुश्रुतेन — “दृष्टिनिष्ठासदंष्ट्रानखसूत्रपुण्ड्रिषगुक्तालाऽऽर्त्तवमुख-सन्दंशविशङ्कतगुर्दास्थ्यापत्तगुक्ताश्वानोत्त ।” तच्च पित्तं शक्तीमत्यन्तराजीवरको-मस्यादीना बोध्यम् । राजानपशूतो तु विषवर्गः, अन्यथा उक्तं, यथा—“शृङ्गकः कालकूटश्च मुल्लको वत्सनाभकः । सक्तकश्चात योमोऽयं भद्रापञ्चविषाभिधः ॥” इति । वरः श्रेष्ठः । तदिदम् । —तत् विषं भेदनविधौ विरेचनयोगे ॥ ८२।८३ ॥

उपविषानाह, लाङ्गलीति ।—जया वेलोक्ताविजया, भङ्गा इति यावत् । नीलकः भङ्गातकः । कनकः धसूरः जैपालो वा । गम्यान्तरे तु भिन्नविधमुपविषं पाठतं तद्वयथा,—“चर्कबोरं सुहोबोरं लाङ्गलो करवीरकः । गुञ्जाहिफिनधसूराः सप्तोप-विषजातयः ॥” इति ॥ ८४ ॥

दुग्धवर्गमाह, इतीति ।—हस्त्यश्ववनिता इतिमी अश्वी च ; यदा—इतिमी अश्विनो वनिता नारी चेत्यर्थः । अविका मेघो । भानुः चर्कः । तिल्वकं लोध्रः । दुग्धिका वीरिका “खिरुइ” इति ख्यातम् । स्तुक् सुहो तासां गणः बहुविधसुहोजातयः । उत्तमकण्टिका एरण्डविशेषः, “वागा भेरुडा” जामाल-गोटा” इति च भाषा, यथा—उत्तमकण्टिका वतसः चौरिहचत्वात् ; अश्वत्थको

अथ विङ्गवर्गः ।—

पारावतस्य चाषस्य कपीतस्य कलापिनः ।

गृध्रस्य कुक्कुटस्यापि विनिर्दिष्टो हि विङ्गणः ॥

शोधनं सर्वलोहानां पुटनास्त्रेपनात् खलु ॥ ८७ ॥

अथ रक्तवर्गः ।—

कुसुम्भं खदिरो लाक्षा मञ्जिष्ठा रक्तचन्दनम् ।

अक्षी च बभ्रुजोवश्च तथा कर्पूरगन्धिनी ॥

माक्षिकञ्चेति विज्ञेयो रक्तवर्गोऽतिरञ्जनः ॥ ८८ ॥

अथ पीतवर्गः ।—

किंशुकः कर्णिकारश्च हरिद्रादितयं तथा ।

पीतवर्गोऽयमादिष्टो रसरारजस्य कर्मणि ॥ ८९ ॥

वा, चरके क्षीरकथनप्रभावे सुहृत्कार्थ्या मङ्ग अस्मत्कस्य गृह्यात ; तथा च—
“अथापरे त्रयो वृक्षाः पृथक् ये फलमूलिभिः । सुहृत्कार्थमलकालेषामिदं कर्म
पृथक् पृथक् ॥ वमनेऽस्मत्कं विद्यात् सुहृत्क्षीरं विरेचने । क्षीरमर्कस्य विज्ञेयं वमने
सर्विरेचने ॥” इति तथा—“क्षीराणि वृक्षाश्च षड् ये वृष्टाः पयस्त्वचः ॥”
इति च ॥ ८५।८६ ॥

विङ्गणमाह, पारावतस्येति ।—पारावतः गृहकपीतः । चाषः पक्षिविशेषः,
स्वर्णचातकः नीलकण्ठा वा इति यावत् । कपीतः पारावतभेदः । कलापी मयूरः ।
एष तु गणः लोहशोधने प्रयुज्यते ॥ ८७ ॥

रक्तवर्गमाह, कुसुम्भमिति ।—कुसुम्भं स्नानामख्यातम् । अक्षी अक्षीकः,
रञ्जकवृक्षविशेषः इत्यर्थः, “आउअ” इति भाषा ; “अक्षी अ” इत्यत्र “अक्षीवम्”
इति पाठे—रक्तशोभाञ्जनमित्यर्थः । बभ्रुजोवः पुष्पविशेषः, “बाभ्रुलिफुल” इति
भाषा, स च मध्याह्ने विकसति पराह्ने नृथोदये च शुष्यति । कर्पूरगन्धिनी कर्पूरगन्ध-
हरिद्राविशेषः । माक्षिकं सुवर्णमाक्षिकम् । एष रक्तवर्गः पारदादीनां रञ्जने
प्रयोज्यः ॥ ८८ ॥

पीतवर्गमाह, किंशुक इति ।—किंशुकः पलाशः । कर्णिकारः क्षुद्राग्वधः
द्रुमोत्पन्नो वा, “कोलट् कन्वल” इति भाषा । हरिद्रादितयं हरिद्रा दाक्-
हरिद्रा च ॥ ८९ ॥

अथ श्वेतवर्गः ।—

तगरः कुटजः कुन्दो गुञ्जा जीवन्तिका तथा ।

सिताम्भोरुहकन्दश्च श्वेतवर्ग उदाहृतः ॥ ८० ॥

अथ कृष्णवर्गः ।—

कदलो कारवल्ली च त्रिफला नीलिका नलः ।

पङ्कः कासीमबालाम्बुं कृष्णवर्ग उदाहृतः ॥ ८१ ॥

अथ रक्तवर्गादीनां प्रयोजननिर्देशः ।—

रक्तवर्गादिवर्गेश्च द्रव्यं यज्जारणात्मकम् ।

भावनीयं प्रयत्नेन तादृश्यागमये खलु ॥ ८२ ॥

अथ शोधनीयगणः ।—

काचटङ्गुणशिप्राभिः शोधनीयो गणो मतः ॥ ८३ ॥

अथ लोहानां मलनाशनगणः ।—

सत्त्वानां बद्धसूतस्य लोहानां मलनाशनः ।

कापाली-कङ्कुण-ध्वंसी रसवादिभिरुच्यते ॥ ८४ ॥

श्वेतवर्गमाह, तगर इति ।—तगरः पुष्पविशेषः “टगर” इति भाषा । गुञ्जाऽव श्वेता ग्राह्या । जीवन्तिका खनामप्रासङ्गा ॥ ८० ॥

कृष्णवर्गमाह, कदलोति ।—कारवल्ली चुद्रकारवेत्तः “कोट उच्छे” इति भाषा । नीलिका नीलनी, “नील गाह्” इति भाषा । पङ्कः कर्दमः । बालाम्बु अचिर-जातासफलम् आसमञ्जा वा ॥ ८१ ॥

रक्तवर्गादीनां प्रयोजनमाह, रक्तोति ।—सुगमम् ॥ ८२ ॥

रसशोधकगणमाह, काचेति ।—काचः सृत्तिकाविशेषः, स च चाररसः उष्ण-वीर्यः अस्त्रनाष्टिकरश्च, विडाल्यलवणो वा । शिप्रा शृङ्गावशेषः इत्यर्थः ॥ ८३ ॥

नैर्मल्यसम्पादनवर्गमाह, सत्त्वानामिति ।—सत्त्वानां धातुसत्त्वानामित्यर्थः । कापाली पट्टिखा, “काँटा गड़काँउनि” इति भाषा, कङ्कुणः प्रियङ्गुः, “काँउनि-धान” इति प्रसिद्धः लवणधान्याविशेषो वा, ध्वंसी काचनदेशीयपार्वत्याचीड़फलम् । सत्त्वादीनां मलनाशनाथम् एभिः मर्दनं कार्यम् ॥ ८४ ॥

अथ लोहकाठिन्यनाशनो योगः ।—

महिषी मेघशृङ्गी च कलिङ्गो धववोजयुक् ।

शशास्थीनि च योगोऽयं लोहकाठिन्यनाशनः ॥ ८५ ॥

अथ द्रावणीयो गणः ।—

गुड-गुग्गुलु-गुञ्जाऽऽज्य-सारघैष्टङ्गणान्वितैः ।

दुर्द्रावाखिललोहादेर्द्रावणाय गणो मतः ॥ ८६ ॥

अथ चाराक्ल-विष-स्नेहानां कार्यम् ।—

क्षाराः सर्वे मलं हन्युरस्लं शोधनजारणम् ।

मान्यं विषाणि निघ्नान्ति स्नेग्धं स्नेहाः प्रकुर्वते ॥ ८७ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहशुक्लस्य सूनीवांश्मटाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये

मृषाकोष्ठिकापटाटिकथनं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

लोहानां मार्दवजननवर्गमाह, महिषीति ।—महिषी माहिषीकन्दाख्यमहाकन्द-
विशेषः, श्वेतालक इति यावत् । मेघशृङ्गी कर्कटशृङ्गी अजशृङ्गी वा । कलिङ्गः
इन्द्रयवः । धववोजयुक् धववोजभयुक्तः । एष योगः लोहानां काठिन्यविनाश-
पूर्वकं कीमलतासम्पादने समर्थः ॥ ८५ ॥

द्रावणवर्गमाह, गुडोत ।—सारघः माषिकम् । दुर्द्रावेति ।—दुःखेन कृच्छ्रेण
द्रावः द्रावणं येषां तथाभूतानाम् अखिललोहानां सर्वविधलोहानाम् ॥ ८६ ॥

उक्तक्षारादीनां कार्यमाह, क्षारा इति ।—मान्यं जडता धातुगतजात्या-
दिकं वा ॥ ८७ ॥

इति रसरत्नसमुच्चयबोधिन्यां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अथ एकादशोऽध्यायः ।

अथ रसशोधनादिकथनम् ।—

अथ मानपरिभाषा ।—

षट्त्वृत्त्यैकलिङ्गा स्यात् षड्लिङ्गा यूकमेव च ।
 षड्यूकास्तु रजःसंज्ञं कथितं तव सुव्रते ! ॥ १ ॥
 षड्रजः सर्षपः साक्षात् सिद्धार्थः स च कीर्तितः ।
 षट्सिद्धार्थं देवेशि ! यवस्त्वेकः प्रकीर्तितः ॥ २ ॥
 षड्यवैरेकगुञ्जा तु त्रिगुञ्जो वल्ल उच्यते ।
 षड्भिरेव तु गुञ्जाभिर्माष एकः प्रकीर्तितः ॥
 माषा द्वादश तोलः स्यादष्टौ तोलाः पलं भवेत् ॥ ३ ॥

अथ मानपरिभाषायां मतान्तरम् ।—

तुटिः स्यादणुभिः षड्भिस्तैर्लिङ्गा षड्भिरौरिता ।
 ताभिः षड्भिर्भवेद्यूकः षड्यूकास्तद्रजः स्मृतम् ॥ ४ ॥
 षड्रजः सर्षपः प्राक्तस्तैः षड्भियेव ईरितः ।
 एका गुञ्जा यवैः षड्भिर्निष्पावस्तु द्विगुञ्जकः ॥ ५ ॥
 स्याद्गुञ्जात्रितयं वल्लो द्वौ वल्लौ माष उच्यते ।
 द्वौ माषौ धरणं तं द्वे शाणं निष्ककला स्मृता ॥ ६ ॥

मूषाकोष्ठिकादिकमन्तरेण रसशोधनादिकार्थस्य असम्भवत्वात् तद्विवरणानन्तरं
 रसशोधनादिक विवरीतुमेकादशाध्यायमारभते, तत्र सर्वभेषजानां मानायत्तासङ्के-
 प्रथमं सङ्क्षेपं मानपरिभाषामाह, षट् त्वृत्त्येति ।—तुटिः वसरेणुः, षड्णव इति
 यावत्, षड्भूः परमाणुभिः तुटिः स च वसरेणुपरपर्यायः, यदुक्तं ब्रह्मवैवर्ते—
 “परमाणुद्वयेनाणुस्रमरेणुस्तु ते वयः” इति ; परमाणुषट्कात्मकं षड्णुकवयात्मकं
 रजः तुटिः ॥ १—३ ॥

अन्यविधा विस्मृतां परिभाषामाह, तुटिरिति ।—द्वौ वल्लौ षड्गुञ्जा इत्यर्थः ।

निष्कद्वयन्तु वटकः स च कोल इतीरितः ।
 स्यात् कोलत्रितयं तोलः कर्षो निष्कचतुष्टयम् ॥ ७ ॥
 उडम्बरं पाणितलं सुवर्णं कवलग्रहः ।
 अक्षं विडालपदकं शुक्तिः पाणितलद्वयम् ॥ ८ ॥
 शुक्तिद्वयं पलं केचिदन्ये शुक्तित्रयं विदुः ।
 तदेव कथितं मुष्टिः प्रकुञ्चो विल्वमित्यपि ॥ ९ ॥
 पलद्वयन्तु प्रसृतं तद्वयं कुडवोऽञ्जलिः ।
 कुडवौ मानिका तौ स्यात् प्रस्थो द्वे मानिके स्मृतः ॥ १० ॥
 प्रस्थद्वयं शुभं तौ द्वौ पात्रकं द्वयमाढकम् ।
 तैश्चतुर्भिर्घटोन्मान-नखनार्मणशूर्पकाः ॥ ११ ॥
 द्रोणस्य शब्दाः पर्यायाः पलानां शतकं तुला ।
 चत्वारिंशत्पलशत-तुला भारः प्रकीर्तितः ॥ १२ ॥
 रसार्णवादिशास्त्राणि निरोक्ष्य कथितं मया ।
 रसोपयोगि यत्किञ्चिद्विज्ञातं तत् प्रदर्शितम् ॥ १३ ॥

अथ पारदस्य संस्कारकथने प्रतिज्ञा ।—

अधुना रसराजस्य संस्कारान् सम्प्रचक्ष्महे ॥ १४ ॥

उडम्बरेत्यादि विडालपदकान्तः कर्षपय्याद्यो बोध्यः । शुक्तिरिति ।—पाणितलद्वयं कर्षद्वयं शुक्तिः । तदेव पलमेव ; मुख्यादिविल्वान्ताः पलपर्यायाः । तौ द्वौ पात्रकं द्वाभ्यां शुभाभ्यां पात्रकमित्यर्थः, द्वयमाढकञ्च तस्य नामान्तरम् । तैश्चतुर्भिः पात्रचतुष्टयैः घटादिशूर्पकान्ताः पञ्च द्रोणपर्यायाः । पलानां शतकं शतपलं तुला । चत्वारिंशदिति ।—पलशतात्मकतुलायाः चत्वारिंशत्पलया एको भारः स्यात् ; यद्यपि चरकादिसम्मतमागधमाने “भारः स्याद्विंशतिस्तुलाः” इति परिदृश्यते, तथाऽपि मानपरिभाषा एषा रसोपयोगिनौ इति आचार्येण स्वयमेवोक्तत्वात् तन्मान्तर-विरोधो न सन्नत्यः, एवमन्येऽपि विरोधाः समाधेयाः ॥ ४—१६ ॥

अथ रसस्य अष्टादशविधसंस्कारान् वर्तुं प्रतिगामीते, अधुनेति ।—
 स्मृतम् ॥ १४ ॥

अथ षष्ठादशसंस्काराणां नामानि ।—

स्यात् स्वेदनं तदनु मर्दनमूर्च्छने च

उत्थापनं पतनरोधनियामनानि ।

सन्दीपनं गगनभक्षणमानमत्र

सञ्चारणा तदनु गर्भगता द्रुतिश्च ॥ १५ ॥

वाह्या द्रुतिः सूतकजारणा स्याद्ग्रामस्तथा सारणकर्म पश्चात् ।

सङ्ग्रामणं वेधविधिः शरीरे योगस्तथाऽष्टादशधाऽत्र कर्म ॥ १६ ॥

अथ व्याधिनिशेषे रसप्रयोगनिषेधः ।—

न योज्यो मर्मणि क्लृप्ते न च क्षाराग्निदग्धयोः ॥ १७ ॥

अथ शुद्धमूर्च्छितरसयोगुणः ।—

शुद्धः समृद्धाग्निमहो मूर्च्छितो व्याधिनाशनः ॥ १८ ॥

अथ सतरसस्य गुणः ।—

निष्कम्पवेगस्तीव्राग्नावायुरारोग्यदो मृतः ॥ १९ ॥

अथ रसस्य नैमर्गिकदोषत्वमं तेषां कार्याणि च ।—

विषं वज्रिर्मलश्चेति दोषा नैमर्गिकास्त्वयः ।

रसे मरणसन्ताप-मूर्च्छानां हेतवः क्रमात् ॥ २० ॥

संस्काराणां नामानि विवृणोति, स्यादिति ।—स्वेदन-मर्दन-मूर्च्छन-उत्थापन-पतन-रोध-नियामन-सन्दीपन-गगनभक्षणमान-सञ्चारणा-गर्भद्रुति-वाह्यद्रुति-जारणा-ग्राम-सारण-सङ्ग्रामण-वेधविधि-योगाः इति षष्ठादशसंस्काराः । रसेन्द्रचित्तात्मनो तु षष्ठादशसंस्काराणां मञ्जाविधौ किञ्चित् परिवर्तनं दृश्यते, तद्वयथा—“स्वेदन-मर्दन-मूर्च्छनोत्थापनपतन-रोधननियामनदीपनानुवासनगगनादिग्रामप्रसाञ्चारणगर्भद्रुति-वाह्यद्रुतियोगजारणरञ्जनमारणक्रामणवेधभक्षणानि” इति ॥ १५॥१६ ॥

रस-याविषयमाह, नेति ।—सुगमम् ॥ १७ ॥

शोधितमूर्च्छितरस-योः गुणमाह, शुद्ध इति ।—समृद्धाग्निमहः शोधनविशेषश्च क्षिप्रगतः । तीव्राग्नावपि स्थिरः, अनुष्ठानशीलः इत्यर्थः ॥ १८ ॥

सतरस-स्य गुणमाह, निष्कम्पवेग इति ।—निष्कम्पवेगः निश्चलः, स्थिरः इत्यर्थः, तीव्राग्रो तीक्ष्णाग्रो, अपीति शेषः ॥ १९ ॥

रसस्य नैमर्गिकदोषान् तेषां कार्याणि चाह, विवृणोति ।—सुगमम् ॥ २० ॥

अथ रसस्य यौगिकदोषद्वयं तयोः कार्यम् ।—

यौगिकौ नागवङ्गौ द्वौ तौ जाड्याध्वानकुष्ठद्वौ ॥ २१ ॥

अथ रसस्य औपाधिकदोषाः ।—

औपाधिकाः पुनश्चान्ये कीर्त्तिताः सप्तकञ्चुकाः ।

भूमिजा गिरिजा वार्जाः— ॥ २२ ॥

अथ रसदोषाणां द्वादशत्वकथनम् ।—

“—ते च द्वौ नागवङ्गजौ ।

द्वादशैते रसे दोषाः प्रोक्ता रसविशारदैः ॥ २३ ॥

अथ सप्तकञ्चुकानां नामानि ।—

पप्टौ पाटनौ भेटौ द्रावी मलकारी तथा ।

अन्धकारी तथा ध्वाङ्गौ विज्ञेयाः सप्त कञ्चुकाः ॥ २४ ॥

अथ भूमिजादीनां कार्यम् ।—

भूमिजाः कुर्वन्त कुष्ठं गिरिजा जाड्यमेव च ।

वारिजा वातसङ्घातं दोषाख्यं नागवङ्गयोः ॥ २५ ॥

रसस्य यौगिकदोषौ तयोः कर्म चाह, यौगिकाविति ।—सुगमम् ॥ २१ ॥

औपाधिकदोषः ५, औपाधिका इति ।—औपाधिकाः भूम्यादिसम्पर्का-
दाहिताः, चाग्नेपिताः इत्यर्थः । दाजा वारिजाता इत्यर्थः । भूमिजा गिरिजा वार्जाः
इति अन्ये सप्त कञ्चुकाः दोषाः पुनः औपाधिकाः कीर्त्तिताः इत्यन्वयः ॥ २२ ॥

समासतः रसस्य द्वादश दोषानाह, ते चेति ।—ते पूर्वोक्ता विषे वाङ्मर्मलयेति
तयो नैसर्गिकदोषाः, तथा संज्ञौपाधिकदोषाः इति मिलित्वा द्वादश इत्यर्थः, नागवङ्गजौ
च द्वौ यौगिकौ दोषौ एते द्वादश रसदोषाः ॥ २३ ॥

औपाधिकाः सप्त कञ्चुका इत्युक्तं के ते इत्यपेक्षार्थं तान् विवृणोति,
पर्यटीति ।—पर्यव्यादि सप्त कञ्चुकानां संज्ञाः ; तत्र पर्यटीमदृशशेषकत्वात् पर्यटी ;
पर्यटी यथा शोषिणी यादृशी च, पर्यदस्य पर्यव्याख्यकञ्चुकोऽपि नरदेहे तस्मिन्ना-
जननी, विदारकत्वात् पाटनौ, मलभेदकत्वात् भेटिनी, शरीरधातूनां द्रवत्व-
सम्पादनान् द्रावी, दोषवर्धकत्वात् मलकारी, अन्धत्वजननात् अन्धकारी, ध्वाङ्गौ यथा
कर्कशस्वरो भवति तथा स्वरपाक्यजननात् ध्वाङ्गौ च ज्ञेयम् ॥ २४ ॥

भूमिजादिदोषवशाणां कार्यमाह, भूमिजा इति ।—भूमिजाः इत्यत्र कञ्चुका

अथ उपसंहारः ।—

तस्मात् सूतविधानार्थं सहायैर्निपुणैर्युतः ।

सर्वापस्करमादाय रसकर्म समारभेत् ॥ २६ ॥

अथ संस्कारार्थं सूतस्य परिमाणनिर्देशः ।—

हे सहस्रे पलानान्तु सहस्रं शतमेव वा ।

अष्टाविंशत्यलान्येव दश पञ्चैकमेव वा ॥ २७ ॥

पलार्द्धेनैव कर्त्तव्यः संस्कारः सूतकस्य च ।

सुदिने शुभनक्षत्रे रसशोधनमारभेत् ॥ २८ ॥

अथ संस्काराः ।—

अथ स्नेहनविधिः ।—

तूपणं लवणासुर्यौ चित्रकार्द्वकमूलकम् ।

चिन्ता सूतो मुहुः स्वेद्यः काञ्चिकेन दिनत्रयम् ॥ २९ ॥

इति शेषः । वारिजाः कञ्चुकाः नागवज्रयोः दोषाद्यं जाड्याभ्यामकुष्ठबहुलं वातसङ्घातं कुर्वते इत्यर्थः ॥ २५ ॥

उपसंहरति, तस्मादिति ।—उपस्कारम् उपकरणम् ॥ २६ ॥

संस्कारार्थं कियन्मानाः सूता यास्या इत्याह, हे इति ।—न्यष्टम् । एतेन इदं ज्ञातव्यं यत् हिमद्वसपलाधिकः पलार्द्धाद्भूनी वा रसः संस्कारार्थं न यास्याः इति । यथान्तरे तु औषधार्थं यावन्मात्रं प्रयोजनं, तावन्मात्रस्यापि यास्यत्वं दृश्यते, तथा च रमेन्द्रसारे—“शतं पञ्चाशतं वाऽपि पञ्चविंशद्विंशैव च । पञ्चैकं वा पलस्यैव पलार्द्धं कर्षमेव च ॥ कर्षांश्चूनी न कर्षन्त्यो रससंस्कार उत्तमः । प्रयोगेषु च सर्वेषु यथा लाभं प्रकल्पयेत् ॥” इति ॥ २७।२८ ॥

अथ उद्देशानुसारं संस्कारान् विचक्षुरादौ स्नेहनायं प्रथमसंस्कारमाह, तूपणमिति ।—लवणासुर्यौ स्नेहं राजिका च । मुहुः निरन्तरम् । तूपणादिकं काञ्चिके चिन्ता चतुराशतवस्त्रेण बद्धं पारदं तत्र निधाय दिनत्रयमविच्छेदेन दोषा-
यन्ते स्नेदयेदिति ॥ २९ ॥

अथ मर्दनविधिः ।—

गृहधूमेष्टिकाचूर्णं तथा दधि गुडान्वितम् ।
 लवणसुरिसंयुक्तं क्षिप्त्वा सूतं विमर्दयेत् ॥ ३० ॥
 षोडशांशन्तु तद्व्यं सूतमानान्नियोजयेत् ।
 सूतं क्षिप्त्वा समं तेन दिनानि त्रीणि मर्दयेत् ॥ ३१ ॥
 जीर्णाभ्रकं तथा बीजजीर्णसूतं तथैव च ।
 नैर्मल्यार्थं हि सूतस्य खल्ले धृत्वा तु मर्दयेत् ॥ ३२ ॥
 गृह्णाति निर्मलो रागान् ग्रासे ग्रासे विमर्दितः ।
 मर्दनाख्यं हि यत् कर्म तत् सूतगुणकृद्भवेत् ॥ ३३ ॥

अथ मूर्च्छनविधिः ।—

गृहकन्या मलं हन्यात्तिफला वङ्गिनाशनी ।
 चित्तमूलं विषं हन्ति तस्मादेभिः प्रयत्नतः ॥ ३४ ॥
 मिश्रितं सूतकं द्रव्यैः सप्तवाराणि मूर्च्छयेत् ।
 इत्थं सम्मूर्च्छितः सूतो दोषशून्यः प्रजायते ॥ ३५ ॥

अथ उत्थापनविधिः ।—

अस्माद्विरेकात् संशुद्धो रमः पात्यस्ततः परम् ।
 उद्धृतः कार्त्तिककाथात् पूतिदोषनिवृत्तये ॥ ३६ ॥

मर्दनमाह, गृहधूमेति ।—गृहधूमः अस्मान्धः “भुम्भ” इति “आन्धु” इति वा
 बहुभाषा । बीजजीर्णसूतं पूर्वोक्तम्बर्णादिकृष्टीकृतजावितरमम् । ग्रासे ग्रासे स्वर्णादीनां
 प्रतिपासे । अथमर्थः,—सूतात् षोडशांशं गृहधूमादि पत्र्येकं गृहीत्वा दिनवयं
 यावत् यथाकम् सूतेन सह मर्दयेत् । ततः गृहधूमादिभिर्मर्दनजनितमलापनीदनाद्यं
 जीर्णाभ्रकं बीजजीर्णसूतञ्च खल्ले संस्थाप्य पुनः घर्षयेत्, तेन सूतः निर्मलो सूत्रा
 रक्षितो जायते इति ॥ ३०—३३ ॥

मूर्च्छनमाह, गृहकन्येति ।—गृहकन्या कुमारी । मूर्च्छयेत् मिश्रयेदित्यर्थः ।
 गृहकन्यादिभिः द्रव्यैः पृथक् पृथक् पारदं मिश्रीकृत्य सप्त सप्तवारं मर्दयेत् ॥ ३४।३५ ॥

उत्थापनमाह, अस्मादिति ।—विरेकात् शोधनात्, दोषशोधकत्वेन गृहकन्यादयः
 एवाम् विरेकशब्दस्य लक्ष्यभूताः ज्ञेयाः । उक्तदिशा शुद्धं रसं पूतिदोषनिवारणार्थं

अथ पातनविधिः ।—

ताम्रेण पिष्टिकां कृत्वा पातयेद्दूर्ध्भाजने ।

वङ्गनागौ परित्यज्य शुद्धो भवति सूतकः ॥ ३७ ॥

अथ ऊर्ध्वपातनयोः सङ्गानिर्देशः ।—

शुल्बेन पातयेत् पिष्टिं त्रिधोर्ध्वं सप्तधा त्वधः ॥ ३८ ॥

अथ अक्षपातनविधिः ।—

त्रिफलाग्निशुशिखिभिलेवणासुरिसंयुतैः ।

नष्टपिष्टं रसं कृत्वा लेपयेच्चाूर्ध्वभाजने ॥

ततो दौसैरधःपातमुत्पलैस्तत्र कारयेत् ॥ ३९ ॥

अथ पातने प्रकारान्तराणि ।—

हरिद्राऽङ्कोक्षशम्पाक-कुमारोत्रिफलाऽग्निभिः ।

तण्डुलीयकवर्षाभू-र्हिङ्गमैन्धवमाक्षिकैः ॥ ४० ॥

पिष्टं रसं सलवणैः सर्पाद्यादिभिरव वा ।

पातयेद्यथा देवि ! ब्रह्मघ्नीयच्छोचनैः ॥ ४१ ॥

काञ्जिकादौ निश्चिद्य धौतीकृत्य च उच्यते, ततः पातनायन्त्रे पातयेच्च । काञ्जिकादौ धौतीकृत्य सङ्करणमेव उत्थापनं बोध्यम् ॥ ३६ ॥

ऊर्ध्वपातनमाह, ताम्रेणेति ।—पिष्टिकां चाक्षकां, पिष्टाकृतिं वा । ऊर्ध्वभाजने ऊर्ध्वपातनयन्त्रे ॥ ३७ ॥

गोधनार्धं रसस्य कतिवारम् ऊर्ध्वपातनं कतिवारं वा अक्षपातनं कार्यमित्य-
पेक्षायामाह, शुल्बेनेति ।—त्रिवारम् ऊर्ध्वं पातयेत्, सप्तवारश्चाधः पातयेत्
इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

अक्षपातनमाह, त्रिफलेति ।—शुक्ली चित्रकम् । नष्टपिष्टं रसं त्रिफलादिभिः
सह मर्दनेन पारदम् अपगतस्वरूपपिष्टाकारम् ॥ ३९ ॥

पातनान्तराण्याह, हरिद्रैरेति ।—अङ्गारः अङ्गीठः “काँकीङ्” इति भाषा ।
शम्पाकः चारम्बः । तण्डुलीयकः कालमारिवः “काँटानटे” इति भाषा । सर्पाक्षी
गन्धनक्षत्री, राक्षसजैः इत्यर्थः, तदादिभिः, सर्पाद्यादिषु “सर्पाक्षी क्षीरिणी
बन्धा” इत्यादिना वक्ष्यमाणा गणः । ब्रह्मघ्नी शुद्धकारवेक्षः, सक्षः वक्षतक्षः,

इत्थं ह्यधोर्द्ध्वापातेन पातितोऽसौ यदा भवेत् ।

तदा रसायने योग्यो भवेद्द्रव्यविशेषतः ॥ ४२ ॥

अथ प्रकारान्तरम् ।—

अथवा दीपकयन्त्रे निपातितः सर्वदोषनिर्मुक्तः ॥ ४३ ॥

अथ तिर्यक्पातनम् ।—

तिर्यक्पातनविधिना निपातितः सूतराजसु ।

श्लक्ष्णीकृतमभ्रदलं रसेन्द्रयुक्तं तथाऽऽरनालेन ॥ ४४ ॥

खल्ले दत्त्वा मृदितं यावत्तन्मृष्टपिष्टतामेति ।

कुर्यात्तिर्यक्पातनपातितसूतं क्रमेण दृढवर्जम् ॥ ४५ ॥

संस्नेहः पात्योऽसौ न पतति यावद्दृढश्चान्नौ ।

तदाऽसौ शुध्यते सूतः कर्मकारी भवेद्द्रुवम् ॥ ४६ ॥

अथ मर्दनादीनां गुणः ।—

मर्दनैर्मुक्तेनैः पातैर्मन्दः शान्तो भवेद्रसः ॥ ४७ ॥

न्ययोधवज्रः इति यावत्, अथ त्वक् यास्या, लोचनं जीरकम् । हरिद्रादिभिः
मालिकान्नैः द्रव्यैः अथवा ससैन्धवेः सर्पात्यादिभिरथवा व्रणघ्नादिभिः नष्टपिष्टं
रसम् ऊर्ध्वभाजनीदरे लिप्ता अधोभागे जलं संस्थाप्य भुव्यधः निखन्य च उपरिष्टात्
पुष्टं दद्यात् । इत्यनेति ।—तामेव पिष्टिकाभिराभ्य व्रणघ्नौयच्छलोचनैः इत्यन्-
यन्यनोक्तेन ऊर्ध्वपातनविधिना अधःपातनविधिना चेत्यर्थः । द्रव्यविशेषतः द्रव्यविशेष-
संयोगात् ॥ ४०—४२ ॥

पञ्चान्तरमाह, अथवेति ।—दीपकयन्त्रे प्रागुक्तदीपकायन्त्रे ॥ ४३ ॥

तिर्यक्पातनमाह, तिर्यक्पातनविधिमेति ।—तिर्यक्पातनविधिना निपातितः
सूतराजः सर्वदोषनिर्मुक्तो भवेदिति पूर्वोक्तान्वयः । तमेव विधिमाह, श्लक्ष्णीकृतमिति ।—
क्रमेण दृढवर्जं मृदुमध्यतीव्राग्निं, दक्षेति शेषः । अथमर्थः,—अभ्रदलं रसेन्द्र-
चारनालेन मृद खल्ले श्लक्ष्णं पिष्टा नष्टपिष्टं कुर्यात्, ततः एकस्मिन् घटे नष्टपिष्टो-
क्तं तं घटान्तरे जलञ्च संस्थाप्य रसघटगलाधश्चिद्रे नालमेकं संयोगयेत्, जलघट-
कुचिच्छिच्छिद्रे च नालायभागं निक्षिप्य मृदा उभयोर्मुखे बद्धा रसघटाधः मृदुमध्य-
तीव्रक्रमेण वज्रिज्वालां दद्यात् यावत् रसो जलघटान्तः न निशेत ; एवम् ऊर्ध्व-
तिर्यक्पातनक्रमेण शुद्धो रसः कर्मसु प्रयोज्यो भवेत् ॥ ४४—४६ ॥

अथ रोधनम् ।—

सृष्ट्याम्बुजैर्निरोधेन ततो मुखकरो रसः ।

स्वेदनादिवशात् सूतो वीर्यं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥ ४८ ॥

अथ नियामनम् ।—

नियम्योऽसौ ततः सम्यक् चपलत्वनिवृत्तये ।

कर्कोटी-फणिनेत्राभ्यां हृषिकाम्बुज-मार्कवैः ॥

समं कृत्वाऽऽरनालेन स्वेदयेच्च दिनत्रयम् ॥ ४९ ॥

अथ प्रकारान्तरम् ।—

मरिचैर्भूखगयुक्तैर्लेवणासुरिशिग्रटङ्कणोपेतैः ।

काञ्चिकयुक्तैश्च दनं ग्रामार्थी जायते स्वेदात् ॥ ५० ॥

मर्दनादीनां फलमाह, मर्दनेति ।—मर्दनादिक्रियाभिः मन्दः स दोषः रसः
घ्नान्तः दोषमुक्तः भवेत् ॥ ४७ ॥

रोधनमाह, सृष्ट्याम्बुजैरिति ।—स्वेदनादिवशात् आदिपदेन मर्दनमूर्च्छनपात-
नादीनां यदृष्टं, निर्वीर्यतां गत इति शेषः, सूतः सृष्ट्याम्बुजैः सर्पिः वृद्धिः,
अस्य बालकं, अः विषं “मान्द्यं विषाणि निघ्नन्ति” इत्युक्तेः विषस्य रसवीर्यजनकत्वात्,
तैः, निरोधेन रोधनकर्मणा, भाण्डमध्ये एभिः सह रसं लिप्ता दिनत्रयं भुष्यधः
स्वापनेन, अनुत्तमं वीर्यं प्राप्नोति, ततः रसः मुखकरः स्वर्णादिशाससमर्थः भवेत् ।
रसेन्द्रचिन्तामणौ इदं बोधनमात्रा उत्तमं, पाठश्च अन्यविधो दृश्यते यथा—“एवं
कदर्शितः सूतः षण्ढत्वमधिगच्छति । तन्मुक्तयेऽस्य कियते बोधनं कथ्यते हि तत् ॥
विश्वामित्रकपाले वा काचकूप्यामयापि वा । सृष्ट्याम्बुजं विनिश्चिप्य तत्र तन्मज्जना-
वधि ॥ पुरयेच्छिदिनं भूम्यां राजहंसप्रमाणतः । अनेन सूतराजोऽयं षण्ढमायं
विमुञ्चति ॥” इति । रसेन्द्रसारोऽपि एवमेव पाठः, केवलं “सृष्ट्याम्बुजम्” इत्यत्र
“सूते जले” तथा “राजहंस” इत्यत्र “गजहंस” इति पाठभेदः ॥ ४८ ॥

नियामनमाह, नियम्य इति ।—कर्कोटी कर्कोटकं “कर्कोराल” इति भाषा ।
फणिनेत्रं सर्पाक्षी, राक्षसाभेदः इति यावत् । हृषिकः श्वेतपुनर्गवा । अम्बुजः इज्जलः ।
मार्कवः मृगराजः । सुगममन्वत् ॥ ४९ ॥

मत्तान्तरमाह, मरिचैरिति ।—भूखगः सुवर्णमाखिकम् । आसुरिः राजिका ।
एतथा मरिचवशा रसः शाससमर्थोऽपि भवेत् ॥ ५० ॥

अथ दीपनम् ।—

त्रिचारसिन्धुखगभू-शिखिशिग्रराजी-

तौष्णान्नवेतसमुखैर्लवणोषणास्त्रैः ।

नेपालताम्रदलशोषितमारनाले

साम्नासवान्नपुटितं रसदोपनं तत् ॥ ५१ ॥

अथ प्रकारान्तरदीपनम् ।—

स्वेदयेदासवान्नेन वीर्यतेजःप्रवृद्धये ।

यथापयोगं स्वेद्यः स्यान्मूलिकानां रसेषु च ॥ ५२ ॥

अथ रसभावनादौ मूलिन्यः ।—

सर्पाक्षी क्षौरिणी बन्ध्या मन्ध्याक्षी शङ्खपुष्पिका ।

काकजङ्घा शिखिशिखा ब्रह्मदण्डग्रासुकर्णिका ॥ ५३ ॥

वर्षाभूः कम्बुकौ दूर्वा सैर्यकोत्पलाशम्बिकाः ।

शलावरी वज्रलता वज्रकन्दार्गिकर्णिका ॥ ५४ ॥

दीपनमाह, त्रिचारेति ।—खगभूः मूखग इत्यर्थः, राजी “राइ” इति ख्यातः सर्पभेदः, तौष्णं चर्वी, शिखी चित्रकः, अन्नवेतसमुखैः अन्नवेतसादिभिः अन्नद्रव्यैः; लवणोषणास्त्रैः त्रिचारादिभिः अन्नवेतसान्तरेर्लवणोषणास्त्रसर्वादिभ्यः सङ्घः, नेपालताम्रदलशोषितं नेपालदेशीयताम्रपत्रेण सङ्घं सम्मर्द्य नष्टपिष्टीकृतं रसम् आरनाले पचदिति शेषः, ततः साम्नासवान्नपुटितम् अन्नासवेन काञ्चिकेन, अन्नेन अन्नेनाम्रद्रव्येण च सङ्घं पुटितं पुटनं, काव्यमिति शेषः, तत् एतद्विधानं रसदीपनं रसस्य वीर्योद्दीपनं, ज्ञेयमिति शेषः ॥ ५१ ॥

दीपनान्तरमाह, स्वेदयेदिति ।—आसवान्नेन काञ्चिकेन । यथापयोगं यथा-
लाभम् । मूलिकानां बन्ध्यामसर्पाक्ष्यादीनाम् ॥ ५२ ॥

स्वेद्यद्रव्यमूलिकानां नामान्माह, सर्पाक्षीति ।—क्षौरिणी खनामसिङ्घा “खोरइ” इति वङ्गोच्चारः । बन्ध्या बन्ध्याकर्णिकी, “तित् कौक्रील्” इति भाषा । शिखिशिखा मयूरशिखा, “मयूरचुटी” इति भाषा, अपामार्गस्य वीजाधारदण्डो वा “वापांशौष” इति ख्यातः । ब्रह्मदण्डो भार्गो, “हानलदण्डि, वामलदण्डि”

ध्वेतार्कशिग्रुधत्तूर-सृगदूर्वारसाङ्गशः ।

रश्मा रक्ताभनिर्गुण्डो लज्जालुः सुरदालिका ॥ ५५ ॥

मण्डूकपर्णी पातालो चित्रकं श्रीषसुन्दरा ।

काकमाचो महाराष्ट्रो हरिद्रा तिलपर्णिका ॥ ५६ ॥

जाती जयन्तो श्रीदेवी भूकदम्बः कुसुमकः ।

कोशातकी नीरं कणा लाङ्गली कटुतुम्बिका ॥ ५७ ॥

चक्रमर्दोऽमृता कन्दः सूर्यावर्त्तपुङ्गिका ।

वाराही हस्तिशुण्डी च प्रायेण रसमूलकाः ॥ ५८ ॥

रसस्य भावने स्वेदे मूषालेपे च पूजिताः ।

इत्यष्टौ सूतसंस्काराः समा द्रव्ये रसायने ॥

कार्यास्ते प्रथमं शेषा नाक्ता द्रव्योपयोगिनः ॥ ५९ ॥

इति भाषया ख्याता वा । आखुर्कर्णी मूषिककर्णी । कम्बुकौ चयुगम्बा । सैय्यकः श्वेतभिण्टी । वज्रलता चण्डिसंहारः । वज्रकन्दः शर्कराकन्दालुकः । आयुर्कर्णिका औषधिविशेषः स च पावंतौय एव । सृगदूर्वा सृगप्रिया दूर्वा, सुकोमलदूर्वा इत्यर्थः । रसाङ्गशः औषधिविशेषः । लज्जालुः लज्जावती । सुरदालिका देवदाली, हस्ति-
घोषकः इति यावत् । पाताली पातालगरुडो, क्लिष्टिष्ट इति यावत् । श्रीषसुन्दरा “मिमा” इति भाषा । महाराष्ट्री जलपिप्पली । तिलपर्णिका “तिलीनि” इति ख्यातः शाकविशेषः, श्वेतचन्दनं वा । श्रीदेवी सुवचला तुलसी वा । कोशातकी घोषकः । नीरं बालकम् । इषुपुङ्गिका शरपुङ्गः । वाराही वाराहीकन्दः । रसमूलिकाः रससंस्कारार्थं मूलानि इत्यर्थः ; एभिः यथालाभं रसस्य भावना रसस्वेदनं रसपूर्णमूषालेपनञ्च कार्यम् । इति पूर्वोक्तद्वयाः, अष्टौ अष्टविधाः स्वेदनमर्दन-
मूर्च्छनोत्थापनपातनरोधननिशाननदीपनाख्याः सूतसंस्काराः द्रव्ये औषधिविशेषे रसायने च समाः तुल्याः, उक्ता इति शेषः, औषधार्थं रसायनार्थञ्च संस्कार एकविध इत्यर्थः, ते संस्काराः प्रथमम् आदौ कार्याः, यथा—प्रथमं श्रेष्ठाः, द्रव्यरसायनोपयोगिनिवन्तः ; शेषाः नगनभक्ष्यमानादयः संस्काराः द्रव्योप-
योगिनः केवलम् औषधोपयोगिनः, न तु रसायनोपयोगिन इत्यर्थः, अतः न उक्ताः ॥ ५९—५९ ॥

अथ रसबन्धनं वक्तुं प्रतिज्ञा ।—

पञ्चविंशतिसङ्ख्याकान् रसबन्धान् प्रचक्ष्महे ।

येन येन हि चाञ्चल्यं दुर्यहत्वञ्च नश्यति ॥

रसराजस्य सम्प्रोक्तो बन्धनार्थो हि वार्त्तिकैः ॥६०॥

अथ रसबन्धाः ।—

हठारोटौ तथाऽऽभासः क्रियाहीनश्च पिष्टिका ।

क्षारः खोटश्च पोटश्च कल्कबन्धश्च कज्जलिः ॥ ६१ ॥

सजोवश्चैव निर्जीवो निर्वीजश्च सवीजकः ।

मृङ्गला-द्रुतिबन्धौ च बालकश्च कुमारकः ॥ ६२ ॥

तरुणश्च तथा वृद्धो मूर्त्तिबद्धस्तथाऽपरः ।

जलबन्धोऽग्निबन्धश्च सुसंस्कृतकृताभिधः ॥

महाबन्धाभिधश्चेति पञ्चविंशतिरीरिताः ॥ ६३ ॥

अथ मतान्तरीयबन्धः ।—

केचिद्वदन्ति षड्विंशो जलूकाबन्धसंज्ञकः ।

स तावन्नेष्यते देहे स्तोषां द्रावेऽतिशय्यते ॥६४॥

अथ हठबन्धः ।—

हठो रसः स विज्ञेयः सम्यक् शुद्धिविवर्जितः ।

स सेवितो नृणां कुर्यात् मृत्युं वा व्याधिमुद्धतम् ॥ ६५ ॥

रसबन्धान् वक्तुं प्रतिजानीते, पञ्चविंशतीति ।—सुगमम् ॥ ६० ॥

बन्धनस्य पञ्चविंशतिभेदानाद्, हठारोटारिर्वाति ।—हठ आरोट-आभास-क्रियाहीन-
पिष्टिका-क्षार-खोट-पोट-कल्कबन्ध कज्जलि-सजोव-निर्जीव-निर्वीज सवीज-मृङ्गला-
द्रुति-बालक-कुमार-तरुण-वृद्ध-मूर्त्तिबद्ध-जलबन्ध-अग्निबन्ध-सुसंस्कृतकृत-महाबन्ध-
नामन्थाः पञ्चविंशतिबन्धभेदा बाध्याः ॥ ६१—६३ ॥

केवाञ्चन्यते जलूकाबन्धाख्यं षड्विंशतिं बन्धान्तरमाह, केचिदिति ।—स
जलूकाबन्धः देहे आरीरोगे न इष्यते, परन्तु स्तोषां द्रावे कामिनीद्रावणं, शोनि-
द्रावणे वधोक्तरणे वा इत्यर्थः, शक्यते ॥ ६४ ॥

अथ चारीटवन्धः ।—

सुशोधितो रसः सम्यगारोट इति कथ्यते ।

स सेवीकरणे श्रेष्ठः शनैर्व्याधिविनाशनः ॥ ६६ ॥

अथ आभासवन्धः ।—

पुटितो यो रसो याति योगं मुक्ता स्वभावताम् ।

भावितो धातुमूलाद्यैराभासो गुणवैकृतिः ॥ ६७ ॥

अथ क्रियाहीनवन्धः ।—

असंशोधितलोहाद्यैः साधितो यो रसोत्तमः ।

क्रियाहीनः स विज्ञेयो विक्रियां यात्यपथ्यतः ॥ ६८ ॥

अथ पिष्टिकावन्धः ।—

तीव्रातपे गाढतरावमर्दात् पिष्टी भवेत् सा नवनीतरूपा ।

स रसः पिष्टिकावन्धो दीपनः पाचनस्तराम् ॥ ६९ ॥

अथ चारवन्धः ।—

शङ्खशुक्तिवराटाद्यैर्योऽसौ संसाधितो रसः ।

चारवन्धः परं दीप्ति-पुष्टिकच्छूलनाशनः ॥ ७० ॥

तत्र प्रथमं दृढवन्धमाह, दृढ इति ।—सम्यक् शुद्धिविवर्जितः असम्यक्तया शोधितो रसः दृढवन्धो ज्ञेयः, तत्सेवने मृत्युः व्याधिर्वा जायते ॥ ६५ ॥

चारीटवन्धमाह, सुशोधित इति ।—सेवीकरणे देहस्य दाह्यसम्पादने, जरायु-शोधनद्वारा गर्भगणसामर्थ्यदाने वा इत्यर्थः ॥ ६६ ॥

आभासवन्धमाह, पुटित इति ।—धातुमूलाद्यैः प्रागुक्तवर्णादिधातुभिस्तथा सर्पा-ल्ल्यादिमूलिकाभिः भावितः पुटितश्च रसः गुणवैकृतेः द्रव्यान्तरसंयोगेन स्वाभाविक-गुणविपर्ययात् स्वभावतां स्वाभाविकगुणादिकं मुक्ता योगं योगवाहितां याति स आभासः, कथ्यते इति श्रेयः ॥ ६७ ॥

क्रियाहीनवन्धमाह, असंशोधितेति ।—अपथ्यतः अहितोपयोगात् ॥ ६८ ॥

पिष्टिकावन्धमाह, तीव्रातपे इति ।—गाढतरावमर्दात् द्रव्यान्तरस्य सह दृढ-मर्दनात् । पिष्टी पिष्टिकावन्धः ॥ ६९ ॥

चारवन्धमाह, शङ्खेति ।—संसाधितः मर्दनपुटनाविभिः सुसम्पादितः ।
अष्टमन्वत् ॥ ७० ॥

अथ खोटबन्धः ।—

बन्धो यः खोटतां याति भ्रातो भ्रातः क्षयं व्रजेत् ।

खोटबद्धः स विज्ञेयः शीघ्रं सर्वगदापहः ॥ ७१ ॥

अथ पोटबन्धलक्षणम् ।—

द्रुतकज्जलिका मोचा-पत्रके चिपिटौकता ।

स पोटः पर्पटी सैव बालाद्यखिलरोगनुत् ॥ ७२ ॥

अथ कल्कबन्धलक्षणम् ।—

स्वेदाद्यैः साधितः सूतः पङ्कत्वं समुपागतः ।

कल्कबद्धः स विज्ञेयो योगोक्तफलदायकः ॥ ७३ ॥

अथ कज्जलीबन्धलक्षणम् ।—

कज्जली रसगन्धोत्था सुश्लक्ष्णा कज्जलोपमा ।

तत्तद्व्योगेन संयुक्ता कज्जलीबन्ध उच्यते ॥ ७४ ॥

खोटबन्धमाह. बन्ध इति ।—खोटतां वञ्जित्योऽपि अनुद्धयनसमावतां, यदुक्तम् “अग्रिमध्ये यदा तिष्ठेत् खोटबद्धस्य लक्षणम्” इति । भ्रातो भ्रातः भस्त्रया पुनः पुनराभ्यापित इत्यर्थः, क्षयं व्रजेत् द्रव्यान्तरेण सह एकोभावात् अदर्शनतां गच्छेदित्यर्थः ॥ ७१ ॥

पोटबन्धमाह, द्रुतकज्जलिकेति ।—द्रुतकज्जलिका वञ्जिसलापेन ईषदाद्रौभूत-कज्जलीत्यर्थः । मोचापत्रके कदलीपत्रे । पर्पटीति तस्य संज्ञाऽन्तरम् । एतद्वन्धस्य विस्मृतप्रक्रिया तु चक्रदत्तीययङ्ग्यधिकारे रसपपटीप्रज्ञावे द्रष्टव्या ॥ ७२ ॥

कल्कबन्धमाह. स्वेदाद्यैरिति ।—स्वेदाद्यैः स्वेदबमर्दनाहर्द्रव्यैः सह स्वेदनमर्दनादिभिः इत्यर्थः, साधितः स्निग्धः मर्दितश्च इत्यर्थः. पङ्कत्वं पङ्कवत् पिण्डाकारतान् । योगोक्तफलदायकः यस्मिन् योगे स प्रयोज्यः तस्य फलोत्कर्षप्रद इत्यर्थः ; अथवा स्वेदनमर्दनाहं गृहीतकल्कद्रव्याणाम् अपयोगे यत् फलं, तत्फलप्रद इत्यर्थः ॥ ७३ ॥

कज्जलीबन्धमाह, कज्जलीति ।—सुश्लक्ष्णा चिह्निता । तत्तद्व्योगेन संयुक्ता रस-गन्धस्वीधकद्रव्यसंयोगेन युक्ता इत्यर्थः ॥ ७४ ॥

अथ सजीववन्धलक्षणम् ।—

भस्मीकृतो गच्छति वज्रयोगात्
रसः सजीवः स खलु प्रदिष्टः ।
संसेवितोऽसौ न करोति भस्म-
कार्यं जवादुव्याधिविनाशनञ्च ॥ ७५ ॥

अथ निर्जीववन्धलक्षणम् ।—

जीर्णाभ्रको वा परिजीर्णगन्धो
भस्मीकृतस्याखिललोहमौलिः ।
निर्जीविनामा हि स भस्मसूतो
निःशेषरागान् विनिहन्ति वेगात् ॥ ७६ ॥

अथ निर्वीजवन्धलक्षणम् ।—

रमस्तु पादांशसुवर्णजीर्णः पिष्टोक्तो गन्धकयोगतश्च ।
तुल्यांशगन्धैः पुटितः क्रमेण निर्वीजनामा सकलामयघ्नः ॥ ७७ ॥

सजीववन्धमाह, भस्मीकृत इति ।—यः रसः भस्मीकृतः सन् वज्रयोगात्
अग्निसम्पकीतः, गच्छति उड्डोनी भवति इत्यर्थः । भस्मकार्यं भस्मीभूतपारदोपयोगस्य
यत् फलम् । जवात् वेगात्, शीघ्रमित्यर्थः । उड्डयनसमर्थत्वादस्य सजीवत्वं
बोध्यम् ॥ ७५ ॥

निर्जीववन्धमाह, जीर्णाभ्रक इति ।—जीर्णाभ्रकः रासीकृताभ्र इत्यर्थः । परिजीर्ण-
गन्धः सत्यग्-रासितगन्धक इत्यर्थः । अखिलेति ।—अखिलानां सर्वेषां लाङ्गानां
स्वर्णादीनामित्यर्थः, मौलिः शिरोभूषणस्वरूपः, सर्वलोहोपयोगे ये गुणा भवन्ति,
तेभ्योऽप्यधिकगुणप्रद इत्यर्थः । वज्रयोगेऽपि निर्गमनासामर्थ्यात् अस्य निर्जीवत्वं
बोध्यम् ॥ ७६ ॥

निर्वीजवन्धमाह, रस इति ।—पादांशसुवर्णजीर्णः पादांशः चतुर्थांशः सुवर्णजीर्णः
स्वर्णमैत्र्यं यव तादृशः । गन्धकयोगतः तुल्यगन्धकसयोगात्, बद्धमात्रेण “तुल्यांशगन्धैः”
इत्यत्र तुल्यांश इति वाक्यबलात् अपवापि तुल्यांशत्वं ज्ञेयम् ; चतुर्थांशस्वर्णभस्मना
तुल्यगन्धकेन च पिष्टीकृतः रसः तुल्यगन्धकेन सप्तवारं पुटितः निर्वीजवन्धनामतां
हृति इति निष्कर्षः ॥ ७७ ॥

अथ सर्वाजबन्धनचणम् ।—

पिष्टीकृतैरभ्रकसखहेम-तारार्ककान्तैः परिजारितो यः ।

हतस्ततः षड्गुणगन्धकेन सर्वाजबद्धो विपुलप्रभावः ॥ ७८ ॥

अथ शृङ्खलाबन्धनचणम् ।—

वज्रादिनिहतः सूतो हतः सूतः समोऽपरः ।

शृङ्खलाबद्धसूतसु देहलोहविधायकः ॥

चित्रप्रभावां वेगेन व्याप्तिं जानाति शङ्करः ॥ ७९ ॥

अथ द्रुतिबन्धनचणम् ।—

युक्तोऽपि बाह्यद्रुतिभिश्च सूतो

बन्धं गतो वा भस्मितस्वरूपः ।

स राजिकापादमितो निहन्ति

दुःसाध्यरोगान् द्रुतिबद्धनामा ॥ ८० ॥

अथ बालकबन्धनचणम् ।—

समाभ्रजौर्णः शिवजस्तु बालः संसेवितो योगयुतो जवेन ।

रसायनां भाविगटापहृद्य भोपद्रवारिष्टगटान्नहन्ति ॥ ८१ ॥

सर्वाजबन्धनाह, पिष्टीकृतैरिति ।—पिष्टीकृतैः पेषणेन कृतपिण्डाकारैः ।
आदौ पिष्टीकृतैरभ्रसखादिभिः सह जारितः पश्चात् षड्गुणगन्धकेन सह मारितश्च
रसः सर्वाजबन्धनामा भवति ॥ ७८ ॥

शृङ्खलाबन्धनाह, वज्रादीति ।—वज्रादिनिहतः ह्योरकादिसङ्ख्येयमेव मारितः सूतः
तथा समः समपरिमितः अपरश्च हतः प्रकारान्तरेण मारितः सूतः शृङ्खलाबद्धसूतः,
उभयोर्मर्दनादिति शेषः । चित्रप्रभावाम् अलौकिकसामर्थ्या, वेगेन व्याप्तिं, शृङ्खलाबन्ध-
नसूतस्य देहे इति शेषः ॥ ७९ ॥

द्रुतिबन्धनाह, युक्त इति ।—बाह्यद्रुतिभिः रसस्य द्रवत्वसम्पादकक्रिया-
विशेषैः युक्तः अपि बन्धं गतः बन्धनतो प्राप्तः, वा अथवा भस्मितस्वरूपः भस्मी-
भूतः सूतः द्रुतिबद्धनामा श्रेयः । सः द्रुतिबद्धसूतः राजिका “राइ” इति ख्यातः
रक्तवर्णसर्वपविशेषः तस्याः पादमितः चतुर्भागपरिमितः ॥ ८० ॥

बालकबन्धनाह, समाधेति ।—समेन तुल्येन पेषेण सह जीर्णः जारितः शिवजः

अथ कुमारवन्धलक्षणम् ।—

हरोद्भवो यो द्विगुणाभ्रजीर्णः स स्यात् कुमारो मिततण्डुलोऽसौ ।
त्रिःसप्तरात्रैः खलु पापरोग-मङ्घातघातौ च रसायनञ्च ॥ ८२ ॥

अथ तरुणवन्धलक्षणम् ।—

चतुर्गुणव्योमकृताशनोऽसौ रसायनाग्रस्तृणाभिधानः ।
स सप्तरात्रात् सकलामयघ्नो रसायनो वीर्यबलप्रदाता ॥ ८३ ॥

अथ वृद्धवन्धलक्षणम् ।—

यस्याभ्रकः षड्गुणितो हि जीर्णः
प्राप्ताग्निमस्यः स हि वृद्धनामा ।
देहे च लोहे च नियोजनीयः
शिवादृते कोऽस्य गुणान् प्रवक्ति ? ॥ ८४ ॥

अथ मूर्तिवन्धलक्षणम् ।—

यो दिव्यमूलिकाभिश्च कृतोऽत्यग्निसहो रसः ।
विनाऽभ्रजारणात् स स्यान्मूर्तिवन्धो महारमः ॥ ८५ ॥
अयं हि जार्यमाणस्तु नाग्निना क्षीयते रसः ।
योजितः सर्वयोगेषु निरौपम्यफलप्रदः ॥ ८६ ॥

पारदः बालः बालकवन्धः । योगयुतः रसायनादियोगे प्रयुक्तः । भाविगदापङ्कः
अनागतव्याधिप्रतिषेधक इत्यर्थः ॥ ८१ ॥

कुमारवन्धमाह, हरोद्भव इति ।—हरोद्भवः पारदः । कुमारः कुमारवन्धः ।
मिततण्डुलः तण्डुलमानः । त्रिःसप्तरात्रैः एकविंशतिदिवसैः । पापेति ।—पाप-
रोगाणां कुष्ठमसूरिकादीनां सङ्घातं समूहं इति नाशयति इति तथोक्तः ॥ ८२ ॥

तरुणवन्धमाह, चतुर्गुणेति ।—चतुर्गुणव्यामकृताशनः चतुर्गुणाभ्रजीर्णः असौ रसः
रसायनाग्रः रसायनश्रेष्ठः ॥ ८३ ॥

वृद्धवन्धमाह, यस्येति ।—अभ्रकः षड्गुणितः जीर्णः षड्गुणाभ्रजीर्णः । प्राप्ताग्नि-
मस्यः अग्निसन्तापेऽपि अगुल्लङ्घनशीलत्वात् सखित्वं ज्ञेयम् । देहे शरीररोगे, तथा
लोहे लोहप्रयोगे च इत्यर्थः ॥ ८४ ॥

मूर्तिवन्धमाह, य इति ।—दिव्यमूलिकाभिः विभक्तपादसंभूतमण्डूकपर्ण्या-

अथ जलबन्धलक्षणम् ।—

शिलातीयमुखैस्तोयैर्बद्धोऽसौ जलबन्धवान् ।

स जरारोगमृत्युघ्नः कल्पोक्तफलदायकः ॥ ८७ ॥

अथ अग्निबन्धलक्षणम् ।—

केवलो योगयुक्तो वा धातः स्याद्गुटिकाकृतिः ।

अक्षीणश्चाग्निबद्धोऽसौ खेचरत्वादिकृत् स हि ॥ ८८ ॥

अथ महाबन्धलक्षणम् ।—

हेम्ना वा रजतेन वा सहचरो धातो ब्रजत्येकता-

मक्षोणो निविडो गुरुश्च गुटिकाकारोऽतिदीर्घोज्ज्वलः ।

चूर्णत्वं पटुवत् प्रयाति निहतो घृष्टो न मुञ्चेन्मलं

निर्वन्धो द्रवति क्षणात् स हि महाबद्धाभिधानो रसः ॥ ८९ ॥

दिभिरीषाधविशेषैः । अत्यग्निसङ्घः तोत्राग्रावपि स्थिरः इत्यर्थः । निरापस्यफलप्रदः
अतुलनीयसिद्धिसम्पादकः ॥ ८७ ॥

जलबन्धमाह, शिलेति ।—शिलातीयमुखैस्तोयैः कारकादिजलैः । कल्पोक्त-
फलदायकः रसकल्पोक्तफलदायक इत्यर्थः ॥ ८७ ॥

आग्निबन्धमाह, केवल इति ।—केवलः द्रव्यान्तरासंयुक्त इत्यर्थः । योगयुक्तः द्रव्या-
न्तरसंयुक्तः । धातः अग्नौ मूलमः । अक्षीणः अग्नितापेऽपि यथासाधारणः स्थितः, न तु
किञ्चिदप्यूनः । खेचरत्वादिकृत् मुखे धृतः नभोगतिनामध्यप्रदः इत्यर्थः । सङ्घेऽग्न्यस्य
“जलबन्धोऽग्निबन्धश्च सुसंस्कृतकृताभिधः” इत्यनेन आग्निबन्धमन्तरं महाबन्धाच्च
प्राक् सुसंस्कृतकृताख्यबन्धान्तरस्य समुद्भवा विद्यन्ते, विवरणयस्य तु तदुद्भवा-
दर्शनात् बन्धः सः लिपिकरप्रसादात् प्रसूदान्तराद्वा अदर्शनतां गत इति मन्ये ।
किञ्च सुसंस्कृतकृताभिधः इत्यस्य आग्निबन्धस्य विशेषणत्वमपि न युज्यते, तथात्वे
बन्धस्य अतुर्विशतिसङ्ख्याकत्वात् “पञ्चविंशतिसङ्ख्याकान् रसबन्धान् प्रपञ्चये” इति
प्रातश्चाद्यान्वापत्तेरिति ॥ ८८ ॥

महाबन्धमाह, हेम्नेति ।—एकतां ब्रजति स्वर्णरौप्याभ्यां सह मिश्रितो भवति ।
निविडः नोन्नतानतः, समानसर्वावयवः इत्यर्थः । गुटिकाकारः स्वर्णेन रौप्येण वा सह
चमनवशात् एकीभूय गुटिकाकारेण परिणत इत्यर्थः । अतिदीर्घोज्ज्वलः विष्कुरित-
प्रभाविमिष्टः सुचिरस्थायिप्रभासम्पन्नी वा । निहतः प्राप्ताघातः सन् पटुवत् लवणवत्

अथ सूतानां सङ्क्षिप्तमूर्च्छाकल्पः ।—

विष्णुकान्ता-शशि-लता-कुम्भी-कनकमूलकैः ।

विशाला-नागिनी-कन्द-व्याघ्रपादो-कुरुण्टकैः ॥ ८० ॥

वृश्चिकालीभशुण्डीभ्यां हंसपाद्या सहासुरैः ।

अप्रसूतगवां मूत्रैः पिष्टं वा कुलके पचेत् ॥ ८१ ॥

पक्वमेवं मृतेर्लोहैर्मर्दितं विपचेद्रसम् ।

यन्त्रेषु मूर्च्छा सूतानामिव कल्पः समासतः ॥ ८२ ॥

अथ जलूकावन्धलक्षणम् ।—

सूते गर्भनियोजितार्द्धकनके पादांशनागेऽथवा

पञ्चाङ्गुष्ठक-शाल्मली-कतमदा-श्लेष्मातवौजैस्तथा ।

नूतनत्वं प्रयाति । निर्वन्धः यथायथमसम्पादितवन्धनक्रियः चेत् चणान् द्रवति, अथा
इति शेषः ॥ ८८ ॥

रसस्य सङ्क्षिप्तमूर्च्छाकल्पमाह, विष्णुकान्तेति ।—विष्णुकान्ता अपराजिता ।
शशी कर्पूरः । लता लताकलूरिका ; यद्वा—शशिलता इत्येकपदं, तत्र श्वेत-
युग्मका इत्यर्थः । कुम्भी वारिपर्यायं “पाना” इति भाषा ; दन्तो वा । कनकं
धूसूरः । मूलकं स्वनामख्यातकन्दवर्णकः ; “मूलकैः” इत्यत्र “कूलकैः” इति पाठः—
पट्टलपत्रैरित्यर्थः । विशाला गोरक्षकर्कटो । नागिनी नागदन्ती । कन्दः शूरणम् ।
व्याघ्रपादो विकङ्कतः, “वेचि” इति भाषा । कुरुण्टकः पीतकिण्टो ; “कुरुण्टकैः”
इत्यत्र “कुतुम्बकैः” इति पाठः—द्रोणपुष्पोरसेः । वृश्चिकाली वृश्चिकपत्रो “बिच्छाटी” इति
ख्याता । भशुण्डी हस्तिगुण्डी । हंसपादो, गोघापदोलता । आसुर विडायलवणम् ।
एषां समस्तानां यथाप्राप्तानां वा मूलाद्यन्धतमाङ्गैः सह, अप्रसूतगवां मूत्रैर्वा
सह रसं पिष्ट्वा कुलके करोषाशु ; “वा कुलके” इत्यत्र “बालुकके” इति पाठः—
विष्णुकान्तादीनां मूलाद्यन्धतमाङ्गैः तथा अप्रसूतगवां मूत्रैः सह पिष्ट्वा बालुकायन्त्रे,
“कुक्कटे” इति पाठे—कुक्कटपुटे, अथर्वव पाठः साधौयस्त्वया प्रतिभाति ।
सुगममन्वत् ॥ ८०—८२ ॥

जलूकावन्धमाह, सूते इति ।—गर्भे अभ्यन्तरे नियोजितं स्थापितम् अर्द्धम्
अर्द्धभागः कनकं यत्र तथाविधे अथवा पादांशः चतुर्थांशः नागः सौसक्तं यत्र

तद्वत्तेजिनि-कोलकाख्यफलजैश्वर्यं तिलं पत्रकं
तप्ते खल्लतले निधाय मृदिते जाता जलूका वरा ॥ ८३ ॥

अथ क्रियाविशेषेण जलूकाया गुणविशेषः ।—

सैषा स्यात् कपिकच्छुरोमपटले चन्द्रावतीतैलके
चन्द्रे टङ्गणकामपिप्पलिजले स्निग्धा भवेत्तेजिनो ।
तप्ते खल्लतले विमर्दनविधयेन्द्रादलिर्या कृता
सा स्त्रीणां मददर्पनाशनकरी ख्याता जलूका वरा ॥ ८४ ॥

अथ जलूकायाः त्रिविधप्रमाणनिर्देशः ।—

बाल्ये चाष्टाङ्गुला योज्या यौवने च दशाङ्गुला ।
द्वादशैव प्रगल्भानां जलूका त्रिविधा मता ॥ ८५ ॥

तादृशे मूत्रे, तिलचूर्णे तथा तेजपत्रचूर्णञ्च दत्त्वा तप्तखल्ले निधाय पञ्चाङ्गुलादिभिः सह
मर्दनेन जलूकावन्धः भवेत् इत्यर्थः । तत्र पञ्चाङ्गुलः एरण्डमूलम् । कृतमदा
त्रैलोक्यविजया । श्लेष्मातवीजं भव्यफलबीजम् । तेजिनि मूर्वा । कोलकाख्यफलं वदर-
फलमञ्जा ॥ ८३ ॥

प्रक्रियाविशेषेण अस्या गुणविशेषमाह, सेषेति ।—सैषा जलूका, कपिकच्छ-
रोमपटले शूकशिल्पीफलगावश्चशुङ्गानिचये, तत्क्राथे इत्यर्थः, तेन पर्युषितजले
इत्यर्थो वा ; चन्द्रावती चन्द्रमालिका इति ख्यातः पुष्पविशेषः तस्याः तैलके
बीजोत्पत्तौ, एलाबीजोत्पत्तौ वा, चन्द्रे कर्पूरे, कर्पूरोदके, कामः दमनकः
“दीना” इति ख्यातः, टङ्गणकामाभ्यां सह पिप्पलीजले पिप्पलीक्राथे, स्निग्धा
पाचिता, तेजिनी तेजःसम्पन्ना, “सर्वे सान्तास्त्वदन्ताः” इति नियमानुसारेण अदन्त-
तेजशब्दात् प्राशस्ये इन् ; भवेत्, ततः तप्तखल्ले मर्दनं कृत्वा यन्मातृ यन्मयोनेन वलया-
कार-करणोपयोगिग्रन्थविशेषेण, या वलिः वलयः कृता, सा जलूका । मददर्पेति ।—
स्त्रीणां दर्पनाशनत्वञ्च मुखे बाहौ वा धारणात् बोध्यम् ॥ ८४ ॥

यथोभेदेन जलूकाया मानमाह, बाल्ये इति ।—बाल्ये इत्यस्य नात्यन्तबाला-
वस्थाग्रामित्यर्थो बोध्यः, अथवा बालाग्रामित्यर्थः करणोयः, अत्र पक्षे—द्वादशादूर्ध्वं
षोडशादूर्ध्वं इत्यर्थः । यौवने षोडशादूर्ध्वं विंशतोऽर्ध्वम् । प्रगल्भानां प्रौढानां,
विंशत ऊर्ध्वं पञ्चाशतोऽर्ध्वमित्यर्थः ॥ ८५ ॥

अथ जलूकायाः संस्कारविशेषः ।—

धृत्वा सूक्ष्ममुखे पात्रे मेघीचीरं प्रदापयेत् ।

स्थापयेदातपे तीव्रे वासराख्येकविंशतिः ॥ ८६ ॥

अथ अन्यविधां जलूकां वक्तुं प्रतिज्ञा ।—

द्वितीयाऽत्र मया प्रोक्ता जलूका द्रावणे हिता ।

पुरुषाणां स्थिता मूर्द्धि द्रावयेद्वोजमद्भुतम् ॥ ८७ ॥

अथ द्वितीयप्रकारजलूकावस्थः ।—

मुनिपत्ररसञ्चैव शास्त्रलोहन्तवारि च ।

जातीमूलस्य तांयञ्च शिंशपातोयसंयुतम् ॥ ८८ ॥

श्लेष्मातकफलञ्चैव त्रिफलाचूर्णमेव च ।

कोकिलाक्षस्य चूर्णञ्च पारदं मर्दयेद्बुधः ॥ ८९ ॥

जलूका जायते दिव्या रामाजनमनोहरा ।

सा यांज्या कामकाले तु कामयेत् कामिनी स्वयम् ॥ ९० ॥

जलूकायाः संस्कारावर्णवमाह, धृत्वेति ।—धृत्वा, जलूकावल्लयमिति शेषः । सूक्ष्ममुखे सङ्कीर्णमुखविशिष्टे । “सूक्ष्ममुखे पात्रे” इत्यत्र “सूक्ष्ममुखं पात्रम्” इति पाठान्तरे—जलूकावस्थे बलधोक्तस्य मृतस्य संयोगदर्शे पात्रं धृत्वा इत्यर्थः । मेघीदुग्धे एकविंशतिदिनानि तीव्रातपे स्थापनरूपसंस्कारविशेषेण जलूकावल्लयस्य गुणवर्द्धि-
कथित इति ॥ ८६ ॥

अन्यविधजलूकावस्थं वक्तुं प्रक्रमते, द्वितीयेति ।—द्रावणे कामिनीद्रावणे इत्यर्थः । मूर्द्धि स्थिता धृता इत्यर्थः । वीजं स्त्रीवीर्यम् । अद्भुततत्त्वं पुंमूर्द्धि स्थिता अपि स्त्रीवीजद्रावणात् बोध्यम् ॥ ८७ ॥

तमेव बन्धप्रकारमाह, मुनिपत्ररसमिति ।—मुनिपत्ररसम् अगस्त्यपत्ररसं, वक्त्रपत्ररसम् इत्यर्थः, दमनकपत्ररसं वा । शास्त्रलोहन्तवारि शास्त्रलोपुष्पस्य प्रसवस्थानरसम् । जातीमूलस्य तांयं मालतीलतामूलस्वरसम् । शिंशपातोय-
संयुतं “शिंश” इति ख्यातवृक्षमूलस्वरससंयुतम् । श्लेष्मातकफलं बहुवारफलम् । कोकिलाक्षस्य चूर्णञ्च पारदं मर्दयित्वा जलूकां कुर्यात् ॥ ८८—९० ॥

अथ जलूकान्तरम् ।—

त्रिफला-भृङ्ग-महोषध-मधु-सर्पिश्छागदुग्ध-गोमूत्रे ।

नागं समनिषिक्तं समरसजारितं जलूका स्यात् ॥ १०१ ॥

अथ प्रकारान्तरम् ।—

भानुस्वरदिनसङ्ख्याप्रमाणसूतं गृहीतदीनारम् ।

अङ्गोल-राजवृक्ष-कुमारीरमशोधनं कुर्यात् ॥ १०२ ॥

शशिरैखा-वरवर्णी-सकोकिलाक्षापामार्ग-कनकानाम् ।

चूर्णैः सहैकविंशतिदिनानि समर्दयेत् सन्यक् ॥ १०३ ॥

निशायाः काञ्चिकं यूषं दत्त्वा योनीं प्रवेशयेत् ।

बालमध्यमवृद्धासु योज्या विज्ञाय तत् क्रमात् ॥

नोरसानामपि नृणां योषा स्यात् सङ्गमोत्सुका ॥ १०४ ॥

जलूकान्तरमाह, विप्लविति ।—त्रिफलाकाण्डादौ पृथक् पृथक् सप्तवारं बङ्गि-
सन्तप्तं सीसकं निविच्य समरसेन सह जारितं कृत्वा पूर्ववत् जलूकां कुर्यात् ॥१०१॥

प्रकारान्तरमाह, भान्विति ।—भानुः द्वादश, स्वरः सप्त, दिनम् एकः, एतत्सङ्ख्या-
प्रमाणसूतं द्वादशादिवयं मिलित्वा विंशतिषडङ्गाप्रमाणरसं, विंशतिपलप्रमाणरस-
मित्यर्थः, रससंस्कारकर्मणि सर्वत्रैव पलाञ्छितं मानविधानदर्शनात् अत्रापि पलमान-
तैव युक्ता । गृहीतदीनारं कबलितकर्षद्वयमुवर्णम् । राजवृक्षः आरवधः । कुमारी
गृहकन्या । शशिरैखा सोमराज्ञौ गुडूषो वा । वरवर्णी गीरोचना हरिद्रा वा ।
कनकं धूसुरः । निशायाः हरिद्रायाः काञ्चिकं यूषं काञ्चिकेन सह कृतं यूष-
मित्यर्थः, स च यूषः मुद्गादिशमीधान्येन सह काप्यः, यूषयोनित्वात् मुद्गादीनाम् ; यद्वा
—निशायाः स्वरसं, काञ्चिकं तथा यूषं मुद्गादियूषम् । अथमर्थः,—यासीकृतचतु-
ष्कोलकमितस्त्र्यंशं विंशतिपलमानं सूतम् अङ्गोलादीनां स्वरसेन समर्दयं शोधनं कुर्यात्,
ततः तत्र शशिरैखादीनां चूर्णे युक्त्या किञ्चित् किञ्चित् दत्त्वा निशाकाञ्चिक-
यूषेण निशास्वरसादिभिः वा एकविंशतिदिनानि मर्दयित्वा च प्रयुञ्जीत ।
बालेति ।—अत्रापि पूर्ववत् बालाद्यवस्थामेदेन षष्ट-दश-द्वादशाकुलमाना योज्या
इति ॥ १०२—१०४ ॥

प्रकारान्तरम् ।—

रसभागचतुष्कञ्च वङ्गभागञ्च पञ्चमम् ।

सुरसारसंयुक्तं टङ्गणेन समन्वितम् ॥ १०५ ॥

त्रिदिनं मर्दयित्वा च गोलकञ्च रमोद्भवम् ।

लिङ्गाग्रे योनिनिक्षिप्तं यावदायुर्वशङ्करम् ॥ १०६ ॥

प्रकारान्तरम् ।—

कर्पूर-शूरण-सुभृङ्ग-सुमेघनादै-

नागं निषिच्य तु मिथो वलयेद्वयेन ।

लिङ्गस्थितेन वलयेन नितम्बिनीनां

स्वामी भवत्यनुदिनं स तु जीवहेतुः ॥ १०७ ॥

अथ योनिविद्रावणम् ।—

टङ्गणपिप्पलिकामा-शूरणकर्पूरमातुलुङ्गरसैः ।

कृत्वा स्वाङ्गलिलेपं यानि विद्रावयेत् स्त्रोथाम् ॥ १०८ ॥

प्रकारान्तरमाह, रसेति ।—पञ्चमं चतुर्थभागजैश्च पञ्चमी भागः, तेन रसस्य भागचतुष्टयं वङ्गस्य चैको भाग इत्यर्थः । सुरसा तुलसी । टङ्गणस्य च वङ्गभाग-समत्वं बाध्यम् ; तदाधिक्यस्य गोलककरणानुपयोगित्वात् । त्रिदिनं मर्दनञ्च सुरसारसेनेव कार्यम् । गोलकं वलयमित्यर्थः ॥ १०५।१०६ ॥

अन्यविधमाह, कर्पूरेति ।—सुभृङ्गं कौटादिभिरजग्धः नातिशाली नातिवृद्धः भृङ्गराज इत्यर्थः । सुमेघनादः प्रशस्ततण्डुलीयशकम् । अथ शूरणादीनां रसो वासः, एवञ्च कर्पूरोदकेन तथा शूरणादीनां पृथक् पृथक् रसेन नागं प्रतप्तद्वीभूत-सौमकं निषिच्य सप्तधा सिञ्चयित्वा रसेन सह निषः अन्योऽन्यं मिश्रयित्वा वलयेत् वलयं कुर्यादित्यर्थः ॥ १०७ ॥

योनिविद्रावणमाह, टङ्गणेति ।—कामा कामाक्षी, कामकामाक्षीत्यर्थः, “नामेक-देशेनापि सम्पूर्णनामग्रहणम्” इति न्यायात्, यथा रोहिणीयुक्ते कटुकारोहिणी आयाति तथा । “कामा” इत्यत्र “कामो” इति पाठे—वृषभक इत्यर्थः ; टङ्गणादीनां प्रत्येकं समभागं गृहीत्वा सम्यक्पेषणीपयोगिना मातुलुङ्गरसेन पिष्टा तेन चूर्णेन स्वाङ्गलिलेपः कार्य इति बोध्यम् ॥ १०८ ॥

अथ मदनवलयम् ।—

अग्न्यावर्त्तितनागे हरवीजं निक्षिपेत्ततो द्विगुणम् ।

मुनि-कनक-नाग-सर्पैर्दन्याऽथ सिच्याच्च तम्यध्यम् ॥ १०८ ॥

तन्नेन मर्दयित्वा गणेन मदनवलयं कृत्वा ।

रतिसमये वनितानां रतिगर्वविनाशनं कुरुते ॥ ११० ॥

प्रकारान्तरम् ।—

व्याघ्रीबृहतीफलरससूरण-कन्दञ्च चणकपत्रास्त्रम् ।

कपिकच्छुवच्चवल्ली-पिप्पलि-कामास्त्रिकाचूर्णम् ॥ १११ ॥

अग्न्यावर्त्तितनागं नववारं मर्दयेद्विमेर्द्रव्यैः ।

स्मरवलयं कृत्वेतद्वनितानां द्रावणं कुरुते ॥ ११२ ॥

अथ सूतमारणम् ।—

पलाशवीजं रक्तञ्च जम्बोरास्त्रेन सूतकम् ।

सजोवं मर्दितं यन्त्रे पाचितं स्त्रियतं ध्रुवम् ॥ ११३ ॥

मदनवलयमाह, अग्न्यावर्त्तितेति ।—मुनिः वक्रवृत्तः । कनकं धूपुरः । नागः नागवल्ली । सर्पः सर्पाद्यो “पानशिडलि” इति भाषा । दन्ती स्तनामप्रसिद्धा । तन्नेन गणेन तन्नेन, स च मयितोदश्चिच्छाच्छकाधोलभेदाच्चतुर्विधो बोध्यः । “तन्नेन” इत्यत्र “तन्नेन” इति तथा “तौच्छेन” इति च पाठान्तरम् । अग्निसन्तापेन द्रवीभूते सौसके द्विगुणं पारदं प्रक्षिप्य मुन्यादीनां रसे सरसं तं निक्षिपेत्, ततः उद्धृत्य तन्नेन गणेन सम्मर्दयित्वा वलयं कुर्यात् ॥ १०८।११० ॥

प्रकारान्तरमाह, व्याघ्रीति ।—व्याघ्रा कण्टकारिका । चणकपत्रास्त्रं चणकास्त्रं, “कोलार शाक” इति भाषा । कपिकच्छुः यूकाशम्बो, “चालकुशी” इति भाषा । वच्चवल्ली “हाड्योडा” इति भाषा । कामा काकमाचौत्यर्थः, “कामा” इत्यत्र “काम” इति पाठे—काशहृणम् इति बोध्यम् । अस्त्रिका तान्तिडी । द्रवीभूतं सौसकं कपिकच्छादीनां चूर्णञ्च व्याघ्रीबृहतीफलरसादिभिः सम्मर्दयित्वा विमर्दयित्वा गुडूच्या-मन्त्रादीनां रसे नवधा मर्दयित्वा वलयः कार्यः ॥ १११।११२ ॥

रसमारणमाह, पलाशवीजमिति ।—रक्तं कुडुमम् । सजोवम् अष्टवर्गोक्त-जीवकाख्यक्रलक्षुपविशेषसहितम् । यन्त्रे अन्त्यमूषादौ भस्त्रायन्त्रे वा । पलाशवीजादि-द्रव्यवयेण सह जम्बोरास्त्रेन मर्दितं पारदं पुष्टं कृत्वा पात्रात् भस्त्राग्री वा ध्रुवमात् भस्त्रीभवति ॥ ११३ ॥

प्रकारान्तरम् ।—

खरमञ्जरिवीजान्वितपुष्करवीजैः सुचूर्णितैः कल्कम् ।

कृत्वा सूतं पुटयेद्दृढमूषायां भवेद्भस्म ॥ ११४ ॥

प्रकारान्तरम् ।—

काकोडुम्बरिकाया दुग्धेन सुभावितो हिङ्गुः ।

मर्दनपुटेन विधिना सूतं भस्मीकरोत्येव ॥ ११५ ॥

प्रकारान्तरम् ।—

देवदालीं हरिकान्तामारनालेन पेययेत् ।

तद्भवैः मसधा सूतं कुर्यान्मर्दितमूर्च्छितम् ॥ ११६ ॥

तत् सूतं खर्परे दद्याद्दत्त्वा दत्त्वा तु तद्भवम् ।

चुल्लोपपरि पचेच्चाङ्गं भस्म स्यान्नवणोपमम् ॥ ११७ ॥

प्रकारान्तरम् ।—

अपामार्गस्य वीजानि तथैरण्डस्य चूर्णयेत् ।

तच्चूर्णं पारदे देयं मूषायामधरोत्तरम् ॥

रुद्धा लघुपुटेः पञ्चाच्चतुर्भिर्भस्मतां भयेत् ॥ ११८ ॥

प्रक्रियान्तरमाह, खरमञ्जरीति ।—खरमञ्जरीबीजम् अपामार्गबीजम् । पुष्करबीजं पद्मबीजम् । पद्मापामार्गबीजचूर्णेन सह कल्कोक्तं पारदं दृढमूषायां रुद्धा पुटयेत्, तेन भस्मीभवति ॥ ११४ ॥

साधनान्तरमाह, काकोडुम्बरिकाया इति ।—काकोडुम्बरिका कीठोडुम्बरः “डुमुर” इति भाषा । हिङ्गुम् उडुम्बरक्षीरेण मसधा भावयेत्, ततः तेन हिङ्गुना सह यथाविधि मर्दनपुटनाभ्यां सूतो भस्मीभवति ॥ ११५ ॥

प्रकारान्तरमाह, देवदालीमिति ।—देवदालीं हलिघोषकः । हरिकान्ता विष्णुकान्ता, नीलपुष्पापराजिता इति यावत् । एतद्भवम् आरनालेन सह पेययेत्, ततः तद्बोभूताभ्यां ताभ्यां सूतस्य सप्तवारं मर्दनमूर्च्छनादिकं कृत्वा खर्परोपरि चुल्लां वत् सूतं सप्याय च उक्तद्रवं तत्र पुनः पुनर्दत्त्वा दद्यां सप्याय च दिनं यावत् पुष्टेत्, एवं नवणोपमं भस्म जायते ॥ ११६।११७ ॥

अन्वविधमाह, अपामार्गस्येति ।—अधरोत्तरम् उपर्यधः । चतुर्भिः इत्यस्य लघु-पुटेरित्यनेनान्वयः ॥ ११८ ॥

प्रकारान्तरम् ।—

कटुतुम्बुद्भवे कन्दे गर्भे नारीपयःप्लुते ।

सप्तधा स्त्रियते सूतः खेदितो गोमयाग्निना ॥ ११८ ॥

प्रकारान्तरम् ।—

अङ्गोलस्य शिफावारि-पिष्टं खले विमर्दयेत् ।

सूतं गन्धकसन्तुल्यं दिनान्ते तं निरोधयेत् ॥

पुटयेद्भूधरे यन्त्रे दिनान्ते स मृतो भवेत् ॥ १२० ॥

अन्यविधम् ।—

वटक्षीरेण सूताभ्रौ मर्दयेत् प्रहरत्रयम् ।

पाचयेत्तेन काष्ठेन भस्मीभवति तद्रसः ॥ १२१ ॥

अथ रसभस्मसेवनाविधिः ।—

अथाऽऽतुरो रसाचार्यं साक्षाद्देवं महेश्वरम् ।

साधितञ्च रसं शृङ्ग-दन्तवेणादिधारितम् ॥ १२२ ॥

अर्चयित्वा यथाशक्ति देवगोब्राह्मणानपि ।

पर्णखण्डे धृतं सूतं जग्ध्वा स्यादनुपानतः ॥ १२३ ॥

अथ रससेवने पथ्यविधिः ।—

वृत्तसैन्धवधान्याक-जौरकार्दकसंस्कृतम् ।

तण्डुलीयकधान्याक-पटोलालम्बुषादिकम् ॥ १२४ ॥

मतान्तरमाह, कटुतुम्बुद्भवे इति ।—कटुतुम्बो तिक्तालावः, कटुतुम्बो उद्भवति
अस्मात् तादृगे कन्दे मूले, गर्भे मध्ये कटुतुम्बोमूलकल्कमध्ये इत्यर्थः ॥ ११८ ॥

विधानान्तरमाह, अङ्गोलस्येति ।—अङ्गोलः “धल बाँकीड” इति प्रसिद्धः ।
आदौ खले अङ्गीठमूलरसेन तुल्यगन्धकं पारदं दिनं यावत् विमर्दयेत्, ततो मूषायां
निक्षिप्य अतुर्यामं भूधरे पचेत् ॥ १२० ॥

अपरमाह, वटक्षीरेणेति ।—तेन काष्ठेन वटकाष्ठेन ॥ १२१ ॥

मृतरसस्य भक्षणविधिमाह, अथेति ।—रसाचार्यं पारदभस्मकर्तारं वेद्यम् । पर्ण-
खण्डे धृतं सूतमित्यादि ।—भस्मरसं पर्णखण्डमध्ये संस्थाप्य यथाव्याख्यनुपानयोगतः
भक्षयित्वा इत्यन्तावप्यसेवो स्यात् ॥ १२२।१२३ ॥

गोधूमजीर्णशाल्यन्नं गव्यं क्षीरं घृतं दधि ।

हंसोदकं मुद्गरसः पथ्यवर्गः समासतः ॥ १२५ ॥

अथ रससेवने अपथ्यानि ।—

बृहतीविल्वकुष्माण्डं वेवायं कारवेल्लकम् ।

माणं मसूरं निष्पार्वं कुलित्यं सर्षपं तिलम् ॥ १२६ ॥

लङ्घनीदत्तनस्त्रान-ताम्रचूडसुराऽऽसवान् ।

आनूपमांसं धान्याम्लं भोजनं कदलीदले ।

कांस्ये च गुरु विष्टम्भि तीक्ष्णोष्णञ्च भृशं त्यजेत् ॥ १२७ ॥

अथ देवीशास्त्रीक्त-ककारादिगणः ।—

कण्टारोफलकाञ्चिकञ्च कलमस्तैलं तथा राजिका

निम्बूकं कतकं कलिङ्गकफलं कुष्माण्डकं कर्कटौ ।

कारौकुक्कटकारवेल्लकफलं कर्कोटिकायाः फलं

वृन्ताकञ्च कपित्थकं खलु गणः प्राक्तः ककारादिकः ॥ १२८ ॥

देवीशास्त्रोदितः सोऽयं ककारादिगणो मतः ।

शास्त्रान्तरविनिर्दिष्टः कथ्यतेऽन्यप्रकारतः ॥ १२९ ॥

पथ्यवर्गमाह, घृतेति ।—घृतादिभिः संस्कृतं तण्डुलोद्यादिकं पथ्यं सेवेत । अथ
अलम्ब्या मूण्डिरी । हंसोदकं “दिवा सूर्याशुमन्त्रं निशि चन्द्राशुमन्त्रम् ।
कालेन पक्वमसलसगस्थेनाविधौकृतम् ॥ हंसोदकमिति ख्यातं शारदं विमलं शुचि ॥”
इत्युक्तलक्षणम् ॥ १२४।१२५ ॥

रसोपयोगे वर्जनौयान्याह, बृहतीति ।—कारवेल्लकं “करला उच्छे” इति
ख्यातम् । निष्पार्वं शिखि । लङ्घनम् उपवासः । दत्तं चूर्णादिना ग्राह्यघर्षणम् ।
ताम्रचूडः कुक्कुटः । कदलीपत्रे कांस्यपात्रे च भोजनं तथा गुर्वन्नादिकञ्च
त्यजेत् ॥ १२६।१२७ ॥

रसोपयोगे कुष्माण्डकारवेल्लानिरूपकादिद्रव्यवर्जनप्रसङ्गेन देवीशास्त्रीक्तं
ककारादिगणमाह, कण्टारोफलं कण्टारोफलम् । कलमः
शाबिनिशेषः, “कल्माधान” इति प्रसिद्धः ; “कलमः” इत्यथ “कमठः” इति पाठे
कलकुर्मः इत्यर्थः । तैलं कटुतैलं, वस्त्रमाषककारादिगणे कटुतैलयुक्तम् ।

अथ श्रीकृष्णदेवोक्त-ककारादिगणः ।—

कङ्कः कन्दुककोलकुक्कुटकल-क्रोडाः कुलत्थास्तथा
कण्टारो कटुतैलकृष्णगलकः कूर्मः कलायः कणा ।
कर्कारश्च कौटिल्लकश्च कतकं कर्कोटकं कर्कटी
काली काञ्चिकमेष कादिकगणः श्रीकृष्णदेवोदितः ॥ १३० ॥

अथ ककारादिनिषेधस्यापवादः ।—

यस्मिन् रसे च कण्ठाक्त्या ककारादिनिषेधितः ।
तत्र तत्र निषेध्यस्तु तदौचित्यमतोऽन्यतः ॥ १३१ ॥

अथ रसव्यापदि प्रतीकारः ।—

उद्गारे सति दध्यन्नं कृष्णमीनं सजीरकम् ।
अभ्यङ्गमनिलक्ष्मां तैलैर्नारायणादिभिः ॥ १३२ ॥

राजिका रक्तमधेपः । कतकं जलप्रसादनफलं, “निर्मली” इति प्रसिद्धम् ।
कलिङ्गकफलम् इन्द्रियः तरन्वुजो वा । कर्कटी “कौकुड” इति भाषा । कारो
कण्टकारीभेदः, “कारी” इत्यत्र “कौरी” इति पाठे—शुक्ली, शकजातीया
स्वीत्यर्थः, “केकी” इति पाठे—मथूर इत्यर्थः । कर्कोटिकायाः फलं “कौकरोल”
इति भाषा । तैलराजिकानिष्कृष्टलाकानां ककारादिकत्वाभावेऽपि वर्जनीयत्वान्
वर्जनीयद्वयप्रसङ्गेन ककारादिषु अन्तर्भावा बोध्यः ॥ १२८।१२९ ॥

श्रीकृष्णदेवोक्तं ककारादिगणमाह, कङ्कुरिति ।—कङ्कुः प्रसातिका “कौडनि”
इति प्रसिद्धः । कन्दुकं पूगफलम् । कोल वटफलम् । कलः कलकण्ठः, संसपारा-
वतादिरित्यर्थः । क्रोडाः वराहः । कृष्णगलकः कृष्णवर्णगडकमत्स्यः, “गडुड माळ” इति
भाषा, कुकुभपक्षी वा, “कको पक्षी” इति भाषा । कलायः वर्तुलकलायः, “मटर”
इति प्रसिद्धः । कणा पिप्पली, “कणा” इत्यत्र “कण्णी” इति पाठे—अश्वकण्ठता ।
कर्कारः कुष्माण्डभेदः “कखार” इति उत्कली प्रसिद्धः । कौटिल्लकः कारवेल्लकः ।
काली असितवेतं कृष्णजीरको वा । श्रीकृष्णदेवनामा कश्चित् भिषक् ॥ १३० ॥

ककारादिनिषेधस्यापवादविषयमाह, यस्मिन्निति ।—कण्ठोक्त्या कण्ठरवेण तेषां
नामयङ्गणेन । अन्यतः अन्यस्मिन् रसे । औचित्यम् उचितत्वात् न निषेध-
नित्यर्थः ॥ १३१ ॥

रसोपयोगी मावादिदीपात् कस्याश्चित् व्यापनौ सत्यां तत्प्रतीकारमाह, उद्गारे

अरती शीततोयेन मस्तकोपरि सेचनम् ।

दृष्टायां नारिकेलाम्बु मुह्ययूषं सशर्करम् ॥ १३३ ॥

अथ रससेवने उपचारविधिः ।—

द्राक्षाटाडिमखर्जूर-कटलीनां फलं भजेत् ।

रसवीर्यविवृद्धार्थं दधिचौरिक्षुशर्कराः ॥

शीतोपचारमन्यच्च—”

॥ १३४ ॥

अथ रसत्यागे उपचारविधिः ।—

“—रसत्यागविधौ पुनः ।

भक्षयेद्बृहतीविल्वं सकृत् साधारणो विधिः ॥ १३५ ॥

इति श्रीवैद्यपतिमिहगुप्तस्य सूनोर्वाग्मटाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये

रसशोधनबन्धनभस्मजलकादिनिरूपणं नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इति ।—कृष्णमीनं कृष्णदर्शनमत्यविशेषं शुद्धीमद्भूरादिकं, तच्च सजीरकं नीरक-
संस्कृतं कृत्वा दद्यादिति शेषः । अन्यत् स्यात् ॥ १३२।१३३ ॥

उपयुक्तरसस्य वीर्योत्कर्षार्थं क्रियाविशेषभाजं, द्राक्षेति ।—दध्यादिकं भक्षयेत्
उक्तातिरिक्तं शीतोपचारञ्च कुर्यात् ॥ १३४ ॥

रससेवनप्रयोजने सिद्धे त्यागकालिककर्मस्यभाजं, रसत्यागविधाविति ।—सकृत्
एकवारं बृहतीं विन्वच्च भक्षयेत् ; एतेन रसोपयोगफलं स्थिरं भवेत्, त्यागजन्या
काचित् व्यापत्तिः कालान्तरे फलापगमो वा न जायते इति बोध्यम् ।
साधारणो विधिः अतः परं यथेष्टाहाराचारः करणीयः ; यथा—साधारणविधिः
रससेवायाम् एषः सामान्यनियमः ॥ १३५ ॥

इति रसरत्नसमुच्चयबोधिन्याम् एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अथ द्वादशोऽध्यायः ।

अथ ज्वरचिकित्सनम् ।—

अथ चिकित्सनौघरोगाणां यथाक्रमं नामानि ।—

ज्वरस्य रक्तपित्तस्य कामस्य श्वासहिम्नयोः ।

वैस्वर्यस्य क्षयस्यापि तथाऽरोचप्रसेकयोः ॥ १ ॥

कुटिहृद्रोगयोश्चैव दृष्ट्यामद्योद्भवशंसाम् ।

उदावर्त्तातिसाराणां ग्रहण्यर्त्तिप्रवाहिणोः ॥ २ ॥

विस्त्र्या वक्त्रिमान्यस्य मूलकच्छाश्मरीकृजाम् ।

मेहस्य सोमरोगस्य पिडकानाञ्च विद्रधेः ॥ ३ ॥

वृद्धिगुल्मादिरोगाणां शूलानामुदरस्य च ।

पाण्डुशोफविसर्पाणां कुष्ठचितवनभस्वताम् ॥ ४ ॥

वातास्रस्याऽऽवृतानाञ्च बन्ध्यानां गर्भिणौकृजाम् ।

सूतिकाञ्चालरोगाणामुन्मादेऽपस्मृतावपि ॥ ५ ॥

नृतरोगे कर्णरोगे नासारोगाऽऽस्यरोगयोः ।

शिरःसञ्ज्ञातरार्गेषु व्रणे भग्ने भगन्दरे ॥ ६ ॥

सर्वेष्वेव रोगेषु उपयोगितया रसस्य प्राधान्यात् प्रथमं रसाध्यायं विद्वत्सु इदानीं
सर्वरोगेषु प्रथमोपपन्नत्वात् तथा जन्ममरणयोरवश्वत्वावित्तेन सर्वरोगेषु अन्यभिचार-
तया वर्त्तमानत्वेन च प्राधान्याच्च चादौ ज्वरचिकित्सितं वक्तुं द्वादशाध्यायमारभते,
तत्र च प्रस्तुतयथोक्तरीत्याणां नामनिर्देशानन्तरं यथाक्रमं चिकित्सितं वक्तुं प्रति-
जानीते, ज्वरस्येति ।—इति द्वादशिका । प्रमेक, प्रतिग्राह्यः । मद्योद्भवः मदाल्ययः ।
प्रवाहिनः प्रवाहिकायाः । पिडकानां प्रमेहपिडकानां । कुष्ठेति ।—चित्रः
कुष्ठविशेषः श्वेतकुष्ठं वा, नभस्वान् वायुः तेषां, कुष्ठादिरोगाणामित्यर्थः ; यद्वा—
चिदनभस्वता विविधवातरोगाणाम् ; “विवनभस्वताम्” इत्यत्र “स्त्रिवनभस्वताम्”
इति पाठात्करं समीचीनम् । आवृतानामित्यत्र वातानामिति शेषो बोध्यः,
दोषाच्छब्दवायूनामिति यावत् । भग्ने मप्ररोगे । गुल्मरोगे उपदृष्टादिगोपनीयरोगे

ग्रन्थ्यादौ क्षुद्ररोगेषु गुह्यरोगे विषेषु च ।

जरायास्त्वनपत्न्यानां बीजपोषणहेतवे ॥ ७ ॥

परिपाट्याऽनया सर्वं रोगाणां हि चिकित्सितम् ।

रसलोहविषैरत्र योगैर्वर्ज्ये यथाऽऽगमम् ॥ ८ ॥

अथ वातज्वरलक्षणम् ।—

रोमाच्चकम्पौ वदने मधुत्वमुज्जृम्भणं मस्तकतोददाहौ ।

वातज्वरस्थोक्तमिदं हि लक्ष्यं भुक्तोत्तरं स्याद्यदि शश्वदेव ॥ ९ ॥

गदभंगादिरीगे वा । जरायाः बाह्वक्षयः । अनपत्न्यानां पुत्रहीनाणां बीजपोषणहेतवे युक्तवद्वायं, चिकित्सितम् इति योज्यम् ; तत्र जरायाः चिकित्सितं रसायनौषधं, “यज्जरायाधिधिध्वंसि भेषजं तद्रसायनम्” इत्युक्तेः, तथा अनपत्न्यानां बीजपोषणार्थं चिकित्सितं बाजोकरौषधमिति ज्ञेयम् । परिपाट्या पर्यायक्रमेण, उद्देशानु-
शासिनीर्वाय्यान्क्रमणेत्यर्थः । रसलोहविषैः रसाश्च लोहाश्च विषाणि च यत्र तैः
नाट्यं योगैः रसादिनामिदं भेषजैः । यथाऽऽगमं यथाशास्त्रम् । क्वचित्—“योगैर्वर्ज्ये
यथाऽऽगमम्” इत्यनन्तरं “ज्वरतो हितमग्नीयात् यथा नाभ्यारुचिर्भवेत् । अन्न-
काले ह्यभुज्जानः क्षीयते स्मियतेऽथवा ॥ यावत् सूतं न शुद्धं न च सूतमथ नो
मूर्च्छितं गन्धवद् नो वर्जं मारितं वा न च गगनवधो नोपमृताय शङ्का ।
स्वणोश्च सर्वलोहं विषमपि न सूतं तैलपाकेऽनभिष्टः तावदेवः कृमिदो भवति
बभुभुजा मण्डले ग्राह्ययोग्यः ॥ अथ ज्वराणां लक्षणानि प्रतीकाराश्चोच्यन्ते”
इत्यधिकः पाठो दृश्यते ॥ १—८ ॥

अथ उद्देशानुसारेण ज्वरचिकित्सिते वक्तव्ये चिकित्सायां वातजादिभेदज्ञानस्य
विशिष्टापयोगित्वात् वातजादिलक्षणं विवक्षुराचार्यः वातविकाराणामसङ्केतयत्वात्
आयुक्तास्त्वाच्च दोषेषु वातस्यैव प्राधान्यात् आदौ वातज्वरलक्षणमाह, रोमाञ्चेति ।
—रोमाच्च रोमद्वर्षः । वदने मधुत्वं माधुर्यम् ; “वदने मधुत्वम्” इति पाठस्तु मुटाकर-
प्रसादज्ञ इति मन्ये, यतः वातः कषायरसः, तज्ज्वरकारि च मुख्यः कषायरसताया
एव सर्वदेव चरकादिषु समुल्लेखः दृश्यते, यतः अत्र “अमधुत्वम्” इत्येव पाठः साधुः ;
अमधुत्व माधुर्याभावः, मुख्यस्य विरसता इत्यर्थः, तथा च चरकनिदानस्थाने
वातज्वरलक्षणे,—“कषायशाल्वमास्यवैरस्यं वा” इति । सुश्रुतेऽपि उत्तरतन्त्रे
ज्वरप्रतिषेधे “शिरोऽङ्गावस्त्वक्वैरस्यम्” इति । लक्ष्यं चिक्रं, रूपमित्यर्थः ।

अथ पित्तज्वरलक्षणम् ।—

विरेकशोषास्यकटुत्वतीव्र-तापप्रलापभ्रममूर्च्छनानि ।

एतानि पित्तज्वरलक्षणानि वमिः सङ्ख्याङ्गविदाहिता च ॥ १० ॥

अथ कफज्वरलक्षणम् ।—

कामश्वासौ मुखे जाड्यं माधुर्यं बहुनिद्रता ।

प्रस्वेदः स्वल्पदाहश्च श्लेष्मजज्वरलक्षणम् ॥ ११ ॥

भुक्तोत्तरमिति ।—यदि शश्वत् नित्यं भुक्तोत्तरं भुक्तस्य भोजनस्य उत्तरम अनन्तर-
मित्यर्थः, भोजनपरिणामानन्तरमिति यावत् ; तस्यैव वातप्रकोपकत्वेन उक्तत्वात्,
तथा च—“बाधुर्बार्धिरागमे परिणते चाग्नेऽपराक्तेऽपि च” इति ; अग्ने परिणते
कीर्णे इत्यर्थः । यदि स्यात्, कोप इति शेषः ॥ ८ ॥

पित्तज्वरलक्षणमाह, विरेकेति ।—विरेकः विरेचनं, द्रवमलनिःसरणम् इति
यावत् । शोषः, मुखस्येति शेषः । आस्यकटुत्वं मुखस्य तित्कता, अथवा पित्तस्य कटुत्वात्
कटुरमत्वमपि भवितुमर्हति मुखस्य ; तथा च “कटुः स्यात् कटुतिक्तयोः” इति मेदिनी ।
तीव्रमन्तापः इत्यत्र देहस्य इति शेषो बोध्यः । प्रलापः अनन्तरकवाक्यप्रयोगः । भ्रमः
स्वदेहभ्रमणज्ञानम्, अथवा—भ्रमः पीतः शङ्कः इत्यादिवत् भ्रमज्ञानम् ; ननु
अशीतिवातविकारमध्ये पठितस्य भ्रमस्य पित्तविकारमध्ये यद्वयं कथं मङ्गच्छते
इति चेत् उच्यते—तस्य वातलिङ्गत्वेऽपि “रजःपित्तानिन्दाङ्गम्” इति उत्तरत्र
दर्शनात् पित्तस्यापि तत्र कर्म्मलोपलब्धेः सपित्तवातस्यैव तदुत्पादकत्वं बोध्यम्
इति । अङ्गविदाहिता अङ्गेषु विविशिषेण दाहः ॥ १० ॥

कफज्वरलक्षणमाह, कासेति ।—जाड्यं क्षमता, देहस्य लज्जिता इत्यर्थः ।
माधुर्यमित्यस्य मुखे इत्यनेनान्वयो बोध्यः ; अथवा—जाड्यमपि मुखे एव, कफस्य
अरुचिकारित्वात् भोजनविषये अक्षमता इत्यर्थः । प्रस्वेदः अत्यर्थं स्वेददर्शनं, किन्तु ज्वरे
प्रायशः स्वेदावरोधस्य एव अनुशासनदर्शनात् प्रस्वेद इत्यत्र अस्वेद इति पाठः
युक्ततया प्रतिभाति ; अथवा प्रस्वेदः प्रगतः स्वेदः तेन स्वेदाभाव इत्यर्थः, प्रशब्दस्य
प्रगतार्थकत्वम् अन्यत्रापि दृश्यते, यथा चक्रपाणिकृतसङ्ग्रहस्य अतीसारचिकित्सित-
व्याख्याने शिवदासः,—“कार्यज्ञानशून्यान्ते प्रदवं खपुभोजनम्” इत्यत्र “प्रदवं
प्रगतद्रवम्” ; विसरस्तु तत्रैव अनुसन्धेयः । स्वल्पदाहश्चेति ।—“गौरवं शीतमुत्कृष्टं”
इत्यादिशौक्ष्ण्यकफज्वरलक्षणे शीतदर्शनात् कफजे स्वल्पदाहः इति लक्षणं यद्यपि

अथ इन्द्रमन्त्रिपातज्वराणामातिदेशिकलक्षणम् ।—

मिश्रितं लक्षणं यत् द्वयोस्त्रिषु भवेच्च तत् ॥ १२ ॥

अथ रसायनानि । *—

अथ तैलोक्यसुन्दररसः ।—

विमर्दिताभ्यां रसगन्धकाभ्यां

नीरेण कुर्याद्विह गोलकं तम् ।

भाण्डे नवीने विनिवेश्य पश्चात्

तद्गोलकस्योपरि ताम्रपात्रम् ॥ १३ ॥

भाण्डं मूह्यं विनिरुध्य धीमान्दीपयेद्दीप्तकृशान्नाऽस्य ।

अधस्ततः सिध्यति पर्पटीयं नवज्वरारण्यकृशानुमेघः ॥ १४ ॥

विरुद्धतया प्रतिभाति तथाऽपि सर्वस्मिन्नेव ज्वरे पित्तव्याध्याभिचरितत्वात् कफजेऽपि भव्यटाङ्गः सम्भवत्येव इति न कार्यद्विरीधः ॥ ११ ॥

इन्द्रमन्त्रिपातज्वराणां लक्षणमतिदेशेनाह, मिश्रितमिति ।—यत् लक्षणं मिश्रितं वातादिदोषत्रयाणां पृथक् पृथक् यत्तल्लक्षणमुक्तं तत् लक्षणं संसृष्टं, द्वयोः इन्द्रजेषु, वातपित्त-वातश्लेष्म-पित्तश्लेष्मजेषु इत्यर्थः, त्रिषु विदोषजेषु, सन्निपातेषु इत्यर्थः, भवेत् ; इन्द्रजेषु द्वयोर्द्वयोर्दोषयोः पृथक् पृथक् यत्तल्लक्षणमुक्तं तदेव मिलितं भवेत् एवं त्रिदोषजेऽपि त्रयाणां दोषाणां पृथक् पृथक् यत्तल्लक्षणमुक्तं तन्मिलितं भवेदिति ॥ १२ ॥

तैलोक्यसुन्दररसे—नवज्वरारण्यकृशानुमेघः नवज्वर एव आरण्यकृशानुः टावानलः तस्य मेघः लक्षणया मेघनिसृतमिव, मेघस्य अनलप्रशमनशक्तेरदृष्टत्वात्, मेघनिसृतं वारि यथा अनलं निर्वापयति, अयं तैलोक्यसुन्दरीऽपि

* इदानीम उद्दिष्टानां व्याधीनां प्रशमनं वक्तुं प्रक्रीति, अथ रसायनानीति ।
—यद्यपि चरकादौ “यज्जराव्याधिविध्वंसि भेषजं तद्रसायनम्” इत्यनेन जराव्याधि-
विनाशनौषधानां रसायनसंज्ञा तथा “कायतन्त्रं रसायनतन्त्रम्” इत्यादिना ज्वरादि-
विकृतिविनाशकारात् रसायनाधिकारस्य पृथक्त्व परिदृश्यते, तथाऽपि “रसेन्द्रमिव
निःशेषं जराव्याधिविनाशनम्” “इतो हन्ति जराव्याधिम्” इत्याद्युक्त्या रसघटितानां
सर्वेषामेवौषधानां जराव्याधिविनाशनसामर्थ्यात् तेष्वपि रसायनसंज्ञा न दोषा-
वहा इति ।

विलिप्य पूर्वं रसनाच्च तालु-देशच्च मिन्धृङ्वजोरकारैः ।

वज्रोन्मिताञ्चाऽऽर्द्रकतोयमिश्रामेनां नियोज्य स्थगयेत् पटेन ॥ १५ ॥

घर्मोद्गमो यावदतः परञ्च तक्रौटनं पथ्यमिह प्रयोज्यम् ।

कुर्याद्दिनानां त्रितयं यदीत्यं ज्वरस्य शङ्काऽपि तदा भवेत् किम् ?

॥ १६ ॥

अथ त्रैलोक्यडम्बररमः ।—

सूतार्कगन्धचपला-जयपालतिक्ता

पथ्या त्रिवृच्च विषतिन्दुकजान् समांशान् ।

सम्भाव्य वज्रिपयसा मधुना त्रिवल्ल-

स्त्रैलोक्यडम्बररमोऽभिनवज्वरघ्नः ॥ १७ ॥

अथ मेघनाद रमः ।—

पाटांशकंसाररविः समांश-गन्धो विपक्वः स्वकषायपिष्टः ।

रसः क्रमाश्चापमितश्चलादि-ज्वरेषु नाम्ना किल मेघनादः ॥ १८ ॥

तथा नवज्वरं नाशयतीत्यर्थः । आदौ यथाविधि शुद्धरसगन्धकं कञ्जलीकृत्य कलेन सम्यग् च गोलकं कुर्यात्, ततः तद्गोलकं नूतनभाण्डे स्थापयित्वा केनचित्ताम्रपात्रेण आच्छादय च मन्त्रं लिख्य चूर्णापरि संस्थापयेत्, अथश्च अग्निं दत्त्वा मुहूर्तं (दृष्टद्वयं) पचेत्, ततः पर्यटिकाकारो भवेत् । अस्थिपथीगकाले च आर्द्रकरसेन सेन्धवज्जीरकै पिष्टा तेन जिह्वातालू आलिप्य आर्द्रकरसेनैव अस्य रक्तिद्वयं पीत्वा पश्चात् वस्त्रेणात्मान-सर्वगुण्डयेत् घर्मदर्शनं यावत् ; ततः तक्रौटनं पथ्यं कर्तव्यम्, एवं दिनद्वयेणैव ज्वरो नश्यति ॥ १५—१६ ॥

त्रैलोक्यडम्बररसे—अर्कः ताम्रं, चपला पिप्पली, तिक्ता कटुकी, विषतिन्दुक-जान् कुङ्गिलुबीजानि “कुञ्चिला” इति ख्यातान् । सम्भाव्य भावयित्वा, भावना च सप्तकलः देया । वज्रिपयसा खुट्टीबीरेण । त्रिवल्लः गुग्गापट्कपरिमितः ॥ १७ ॥

मेघनादरसे—पाटांशकंसाररविः पाटांशः रसभागोपेक्षया प्रत्येकं चतुर्थभागः, कंसं कांक्षम्, चारं पित्तलं, रविः ताम्रं यत्र तादृशः । समांशगन्धः रसेन तुल्यः गन्धकः । विपक्वः पुटे पक्वः । स्वकषायपिष्टः मेघनादस्य स्वरसेन क्वाथेन वा पिष्टः, मेघनादः रक्ततण्डुलीयकः । रसः पारदः । चलादिज्वरेषु वातादिज्वरेषु, “इहः शीतो लघुः सूक्ष्मरसोऽयं विशदः स्वरः” इत्युक्त्या चलस्य वातघर्मत्वाद्

अथ ज्वरगजहरिरसः ।—

दरदजलदयुक्तं शुद्धसूतञ्च गन्धं
प्रहरमथ सुपिष्टं वल्लयुग्मञ्च दद्यात् ।
ज्वरगजहरिरसञ्च शृङ्गवेरोदकेन
प्रथमजनितदाही क्षीरभक्तेन भोज्यः ॥ १६ ॥

अथ दौषिकारसः ।—

सन्तप्तसोमभागञ्च पारदं गन्धकं कणाम् ।
समभागं पृथक्कृत्य मेलयेच्च यथाविधि ॥ २० ॥
जम्बूोरस्य रसे सर्वे मर्दयेच्च दिनत्रयम् ।
मेघनादकुमार्योश्च रसे चापि दिनत्रयम् ॥ २१ ॥
दिनद्वयमजामूत्रे गवां मूत्रे दिनत्रयम् ।
भावयेच्च यथायोग्यं तस्मिन्नेतानि दापयेत् ॥ २२ ॥
सैन्धवं चित्रकं भागं सौवर्चलवर्णं तथा ।
तेन सम्मेलनं कृत्वा भावयेच्च पुनः पुनः ॥ २३ ॥

धर्मधर्मिणोश्चाभेदोपचारात् चलशब्देनात्र वातो गम्यते ; यद्वा—चलादिज्वरैषु
विषमज्वरादिषु, “यः स्यादनियतात् कालात् श्रौतीणाभ्यां तथैव च । वेगतश्चापि
विषमः ज्वरः स विषमः स्मृतः ॥” इति विषमज्वरलक्षणे कालस्यानियतत्वं चलत्वं
बोध्यम् । यत् रसेन्दुवारसङ्ग-रसेन्दुचिन्तामण्यादौ “भारं कांश्चिं सृतं ताम्रं त्रिभि-
स्तुल्यञ्च गन्धकम् । रसेन मेघनादस्य पिष्टा बद्धा पुटे पचेत् ॥” इत्यादिना मेघनाद-
रस उक्तः सरसयुक्तात् अस्त्राङ्गिन्न एव इति मन्तव्यम् ॥ १८ ॥

ज्वरगजहरिरसे—दरदं विह्वलम् । जलदम् अर्धं, न सुलकं, दरद-
सूतमिदसाहचर्याङ्गुरीधात् । वल्लयुग्मं चतुर्गुणमितम् । प्रथमेति ।—प्रथमं ज्वरादौ
जनितः उत्पादितः, दोषैरिति शेषः, यद्वा—जनितः इति स्वार्थे णिच्, तेन जात
इत्यर्थः, दाहः स अस्त्राङ्गोति दाहपूर्वज्वरीत्यर्थः । क्षीरभक्तेन सदुग्धाद्रेण करणेन
भोज्यः भोजनं कारयितव्य इत्यर्थः ॥ १९ ॥

दौषिकारसे—सन्तप्तसोमभागं सोमकमखानः भागमेकम् । कणां पिप्पलीम् ।
तत्र सौवर्कभागे । यथाविधि यथाकामम् । मेघनादः तण्डुलीयकः, कुमारी

अनेन विधिना सम्यक् सिद्धो भवति तद्रसः ।
 शर्कराघृतसंयुक्तं दद्याद्दल्लवयं रसम् ॥ २४ ॥
 गोधूमस्यौदनं पथ्यं माषसूपञ्च वास्तुकम् ।
 धात्रीफलसमायुक्तं सर्वज्वरविनाशनम् ॥
 दीपिकारस इत्येष तन्त्रज्ञैः परिकीर्तितः ॥ २५ ॥

अथ शीतभञ्जोरसः ।—

पारदं रसकं तालं तुल्यं गन्धकटङ्कणम् ।
 सर्वमेतत् समं शुद्धं कारवल्गुना द्ववैर्दिनम् ॥ २६ ॥
 मर्दयेत्तेन कल्केन ताम्रपात्रोदरं लिपेत् ।
 अङ्गुलाद्द्विमानेन तं पचेत् सिकताह्वये ॥ २७ ॥
 यन्त्रे यावत् स्फुटन्त्येवं व्रीहयस्तस्य पृष्ठतः ।
 ततः सुशीतलं ग्राह्यं ताम्रपात्रोदराद्भिषक् ॥ २८ ॥
 शीतभञ्जो रसो नाम चूर्णयेन्मरिचैः समम् ।
 माषैकं पर्णखण्डेन भक्षयेन्नाशयेज्ज्वरम् ॥
 त्रिदिनैर्विषमं तीव्रमेकद्वित्रिचतुर्थकम् ॥ २९ ॥

घृतकमारिका, अनयोः प्रत्येकस्वरसेन दिनवय भाज्यम् । सैन्धवमिति ।—सौमकादिकै
 जम्बीरादीनां रसेन यथाविधि भाषयित्वा पश्चात् सैन्धवादिकं मेलयित्वा च पुनः
 जम्बीरादिभिः यथोक्तविधानेन भावयेत् । गोधूमस्यौदनं गोधूमकृतभक्ष्यम् । धात्री-
 फलसमायुक्तम् आमलक्या संस्कृतम् ॥ २०—२५ ॥

शीतभञ्जोरसे—रसकं खर्परम् । तालं हरितालम् । लिपेदित्यत्र नुमोऽभावः
 शार्पकात्सो वा ; तेन लिप्योदयर्थः । अङ्गुलाद्द्विमानेन पादाङ्गुलि-
 प्रमाणोत्प्रेषवतः इत्यर्थः, कल्केन इत्यनेनान्वयः । सिकताह्वये बालुकामञ्जके ।
 पारदादिद्रव्यघट्टकं कारवल्गुरसेन दिनमेकं मर्दयेत् तावत् यावत् पिण्डतां गच्छेत्,
 ततः तत्कल्केन ताम्रपात्रस्य कम्पचित् अर्धन्तरदेशं पादाङ्गुलोत्प्रेषप्रमाणं यथा भवति
 तथा लिप्ता पावान्तरेणाच्छाद्य च सन्धिं लिप्ता तत्पात्रं बालुकाधत्तगं पचेत्, बालुकी-
 परि कतिचित् व्रीहोन् संस्थापयेच्च ; ततः पावाधत्तावज्ज्वाला देया, यावत्
 व्रीहयः न स्फुटन्ति, अनन्तरं स्वादुशीतलात् ताम्रपावादीषधमाश्रय्य चूर्णयेत् ;

अथ मृतजीवनरसः ।—

कुष्माण्डचूर्णतिलजैः प्रतिशुद्धतालं
गाढं विमर्द्य सुषवीसलिलेन तुल्यम् ।
सूतेन हिङ्गुलभुवा सिकताख्ययन्त्रे
गोलं विधाय परिहृतकपालमध्ये ॥ ३० ॥
पत्रेण तं दिनपतेरपिधाय रुद्धा
सन्धिं तयोर्गुडसुधाखटिकाशिवाभिः ।
वक्त्रौ पचेन्मृदुनि पात्राशिरःस्थशालि-
वैवर्त्यमात्रमवधिं प्रविधाय धीमान् ॥ ३१ ॥
वक्त्रं ततः सुरसमिश्रममृथ दद्यात्
मर्पिः सिता कणपयो मधु चानुपेयम् ।
जितुं ज्वरान् प्रविषमानिह वान्तिशान्धे
मौली सुशोतलजलस्य ददौत धाराम् ॥ ३२ ॥

अथाऽऽमयान्तं रसरराजमौलि-भूषामणिं तं मृतजीवनाख्यम् ।

सुधारसेनैव रसेन येन सञ्जीवनं स्यात् सहसाऽऽतुराणाम् ॥ ३३ ॥

ततः सरिचैः पर्यखण्डेन च सह माषैकमौषधं भक्षयेत् । ज्वरहारिणी मावा तु
मुञ्जादयमिता ॥ २६—२८ ॥

मृतजीवनरसे—कुष्माण्डचूर्णतिलजैः कुष्माण्डसलिलेन चूर्णोदकेन तिलतैलेन
च । “प्रतिशुद्ध” इत्यत्र “प्रविशुद्ध” इति पाठस्तु समीचीनः । सुषवीसलिलेन
कारवेन्नरसेन । सूतेन हिङ्गुलभुवा हिङ्गुलोत्पारदेन । परिहृतकपालमध्ये गीलाकार-
मृन्मूषामध्ये । दिनपतेः चर्कस्य । सुधा चूर्णम् । सुरसमिश्रं तुलसीपत्ररससहितम् ।
मौली शिरसि । आमयान्तम् आमयानाम् अन्तो यस्मात् तं रोगान्तकरम् । कुष्माण्ड-
खटिकादिभिः यथाविधि शोधितहरिताल हिङ्गुलोत्पारदश्च समपरिमितं गृहीत्वा
कारवेन्नरसेन गाढ विमर्द्य पिण्डाकारं कुर्यात् । ततः चर्कपत्रेषावेष्ट्य सुहृदमृन्मूषायां
संस्थाप्य च गुड-चूर्णं खटिका-हरीतकीचूर्णैर्मर्दितैः सन्धिं निबन्ध्यात् । ततः बालुका-
शल्कमध्ये मूषां तां संस्थाप्य पूर्ववत् बालुकापरि शालीन् निधाय मन्दवह्निना तावत्
पचेत् यावत् शालयो विवर्णा जायन्ते, ततः स्वाङ्गशीतं तं समुद्धृत्य सुगुप्तं स्थापयेत् ।

अथ शीतभस्मीरसः ।—

सूततालशिलासुखा मर्दयेत् कर्कटीरसे ।
ताम्रपात्रे विनिक्षिप्य तत् कल्म कज्जलीकृतम् ॥ ३४ ॥
विपचेत् बालुकायन्त्रे यथोक्तविधिना ततः ।
दद्यात्परिचूर्णेन माषमात्रं भिषग्वरः ॥ ३५ ॥
प्रपिवेदृणतोयस्य चुलुकं शीतकज्वरे ।
शीतभस्मी रसः सोऽयं शीतज्वरनिवारणः ॥ ३६ ॥

अथ ब्रह्मज्वरादुग्रः ।—

रसहिङ्गनजेपालैर्ब्रह्मा दन्त्यम्बुमर्दितैः ।
दिनार्द्धेन ज्वरं हन्याद्भस्मैकं सितया सह ॥ ३७ ॥

अथ महाज्वरादुग्रः ।—

शुद्धं सूतं विषं गन्धं धूर्त्तवौजं त्रिभिः समम् ।
चतुर्भिश्च समं व्योषं चूर्णीकृत्य निधापयेत् ॥ ३८ ॥
दन्तभाण्डेऽथवा शार्ङ्गे काष्ठे नैव कदाचन ।
वातश्लेष्मज्वरे देयं हन्त्रजे वा त्रिदोषजे ॥ ३९ ॥
रसेन शृङ्गवेरस्य जम्बोरस्याथवा पुनः ।
गुञ्जादयश्च जीर्णेऽस्मिन् दधिभक्तं प्रयोजयेत् ॥ ४० ॥

गुञ्जादयमितं तत्र तुलसीरसेन पोत्रा सारंपरादिकं सर्वमनुपपन्नमात्रया आलीढा
अश्वपानं कुर्यात् । श्लेष्मज्वरेण चेतुः शक्तिनांयेत तदा सुशीतलज्जलेन
मूर्द्धान्नमभिषिञ्चेत् ॥ ३०—३३ ॥

शीतभस्मीरसः—आशला मगःशिला । कर्कटी एषावः, “कर्कटी” इत्यत्र
“कर्कटी” इति पाठान्तरे—कर्कटी शुद्धशिली । चुलुकं गजपुत्रम् ॥ ३४—३६ ॥

ब्रह्मज्वरादुग्रः—ब्रह्मा भागब्रह्मा ; तेन रसस्य एका भागः हिङ्गुलस्य द्वौ,
लंपालस्य च वयो भागाः शार्ङ्गाः । दन्त्यम्बुमर्दितैः हन्त्रोमूलाकाचनं पिष्टे ।
यन्त्रान्तरेऽस्य हिङ्गुलैश्चरसज्ञा ज्ञातव्या ॥ ३७ ॥

महाज्वरादुग्रः—मिश्रितव्योषं सूतादिभिश्चतुर्भिः तुल्यं यावत्तम् । दन्तभाण्डे
हस्तिदन्तमिश्रितभाजने । शार्ङ्गं माहिषादिमृगजन्तुभाजने । वातश्लेष्मज्वरे वातज्वरे

एकद्वित्रिदिनैर्हन्त्याज्जरान् दोषक्रमेण तु ।

महाज्वराङ्कुशो नाम रसोऽयं शम्भुनोदितः ॥ ४१ ॥

अथ मृत्युञ्जयः ।—

तालं ताम्ररजो रसश्च गगनं गन्धश्च नेपालकं

दीनारप्रमितं तदर्द्धमुदितं टङ्कं शिला माक्षिकम् ।

दीनारद्वितयं विषस्य शिखिनः पिष्ट्वा रसैः पाचितो

यश्चिन्तामणिवज्जरौघाविजयी नाम्ना तु मृत्युञ्जयः ॥ ४२ ॥

अथ सर्वज्वरारिः ।—

तालं ताम्रमयोरजश्च चपला-तुल्याभ्रकं कान्तकं

नागं स्याच्च समांशकं सुमृदितं मूलञ्च पौनर्नवम् ।

भृङ्गोकासहरीपुनर्नवमहा-मन्दारपत्रोद्भवैः

कल्कं बालुकयन्त्रपाचितमिदं सर्वज्वरस्यान्तकृत् ॥ ४३ ॥

अथ चन्द्रसूर्यो नामरसः ।—

तुल्येन तुल्यः शिवजश्च गन्धी जम्बीरनोरेण विमर्दनीयः ।

दिनत्रयं मेलय तेन तुल्यं व्योषं ततः सिध्यति चन्द्रसूर्यः ॥ ४४ ॥

श्रेयस्करे च, न तु वातशफज्वरे, हृन्जस्य प्रथमुपादानात् । अस्मिन् औषधे ।
एकेति ।—एकदोषजमेकादिनेन, द्विदोषजं दिनद्वयेन, त्रिदोषजं त्रिदिनसमयेन
हन्त्यादित्यर्थः ॥ ३८—४१ ॥

मृत्युञ्जये—ताम्ररजः मारितताम्रचूर्णम् । गगनम् अन्नम् । नेपालकं नेपाली,
मनःशिला इत्यर्थः । दीनारप्रमितं शायमितम् । तदर्द्धं दीनारार्द्धं, माषद्वयमित्यर्थः ।
टङ्कं टङ्कणम् । शिला शिलाजतु ; “नेपालकम्” इत्यत्र “जैपालकम्” इति पाठे तु—
शिलया मनःशिला यास्या । माक्षिकं चातमाक्षिकम् । शिखिनः चिदकस्य । पाचितः
पटपकः । चिन्तामणिवत् चिन्तामणिरसवत् नारायणवत् वा ॥ ४२ ॥

सर्वज्वरारो—चपला पिप्पली । कान्तकं कान्तलोहः । नागं सीसकम् । पौनर्नवे
मूलं पुनर्नवामूलम् । भृङ्गो विजया । कासहरी काशमर्दः, कण्टकारी वा । पुनर्नवेत्यत्र
श्लेष्मन्त्यन्दीऽनुरोधात् । महा गौरवतण्डुला । मन्दारः पारिभद्रकः ॥ ४३ ॥

चन्द्रसूर्यस्य—शिवजः पारदः । तेन तुल्यादिप्रत्येकं तुल्यं व्योषं मिलितचिकटु-

वल्ली विजेतुं विषमावलम्बि दलेन देयो भुजगाख्यवल्ग्राः ।
 दुग्धं हितं स्यादिह शृङ्गविर-रसेन शैत्ये ह्यपसेवनीयः ॥४५॥
 तक्रं मगर्भज्वरशूलयोस्तु द्राक्षाम्बुना पथ्यमनन्तरीकृतम् ।
 रोधं वरायाः सलिलेन शूलं जम्बीरनीरेण वराजलेन ॥४६॥
 अपस्मृतावत्र नियोजनीयमभ्यञ्जनं निम्बपयोभवाभ्याम् ।
 घृतीदनं स्यादिह भोजनाय जम्बीरनीरेण निहन्ति गुल्मम् ॥४७॥
 हिङ्ग्वस्त्रिकानिम्बुरसेन देयं प्लीहोदरे स्यादिह तक्रभक्तः ।
 स्तम्भार्थमस्मिन् ससितं पयः स्याद्गुडो नियोज्यो वमनप्रशान्त्यै ॥४८॥

अथ विषप्रयोगाद्योर्ग्वानर्देशः ।—

अशीतिर्यस्य वर्षाणि वसुवर्षाणि यस्य वा ।
 विषं तस्य न दातव्यं दत्तं चेद्दोषकारकम् ॥ ४९ ॥

अथ समाप्रसादनां रसः ।—

मेघपारदवैगन्ध-विषय्योषपटूनि च ।
 जोरकहयमेतानि समभागानि कारयेत् ॥ ५० ॥
 सिन्दुवाररसेनापि लशुनस्य रसेन च ।
 अपामागेरसेनापि सप्तरात्रं विमर्दयेत् ॥ ५१ ॥
 तत् पक्वं बालुकायन्त्रे गुञ्जामात्रं प्रयोजयेत् ।
 सनागवल्लीमरिचं ततः शीताम्बु पाययेत् ॥५२॥

चूर्णम् । वल्लः रक्तिद्वयम् । विषमावलम्बि विषमाश्रितं, ज्वरमिति शेषः । भुजगाख्य-
 वल्ग्राः नागवल्ग्राः, ताम्बूलस्य इत्यर्थः । रोधं मलरोधम् । वरायाः सलिलेन
 विफलीदकेन । अपस्मृतौ अपकारे वराजलेन विफलायाः क्वाथेन शीतकषायेषु
 वा ओषधं पाययित्वा निम्बपयोभवाभ्यां निम्बपत्ररसघृताभ्याम् अभ्यञ्जनम् अभ्यङ्गः
 नियोजनीयम् । स्तम्भार्थं शूलक्षन्धनाय । गुड इति ।—ओषधसेवनेन वमने जाने
 तत्प्रशान्त्यै गुडः प्रयोज्यः ॥ ४४—४८ ॥

अशीतिरिति ।—वसुवर्षाणि अष्टौ वर्षाणि । एकोनाशीतिवर्षादूर्ध्वं नवमवर्षादवाक्
 च विषप्रयोगो न कर्त्तव्य इति निष्कर्षः । श्लोकीऽयं प्रसिद्धः इति कैचित् ॥ ४८ ॥

समाप्रसादनरसे—लेपः कृत्तकम् । वैगन्धः गन्धकम् । पटुं सैन्धवलवचम् ।

उमाप्रमादनो नाम रसः शीतज्वरापहः ।

चातुर्यिकं त्रिरात्रं वा नाशयेत् किमुतापरान् ? ॥५३॥

अथ ज्वराकुशरसः ।—

टङ्गुणं रसगन्धौ च समभागान् प्रकल्पयेत् ।

नेपालं द्विगुणं दृष्ट्वा मर्दयेत् खल्लमध्यतः ॥५४॥

श्लक्ष्णातां याति तदुद्यावत्तावत्तन्मर्दयेच्छनैः ।

सैन्धवं मरिचं शङ्खं चिञ्चाक्षारं समाचिकम् ॥५५॥

तुल्यमेतत्त्रयं कृत्वा निम्बुतोयेन मर्दयेत् ।

चणप्रमाणवटकान् भक्षयेच्च दिनत्रयम् ॥ ५६ ॥

एकाहिकं ह्यर्थाहिकञ्च त्रयाहिकञ्च चतुर्थकम् ।

सर्वज्वरविनाशाय ज्वराकुश इति स्मृतः ॥ ५७ ॥

अथ सर्वाङ्गमुन्दरचिन्तामणिरसः ।—

अभ्रकं गन्धकं सूतं तोलैकैकं पृथक् पृथक् ।

गृह्येत्वा विषतोलाहं तोलाहं तित्तिरीफलम् ॥ ५८ ॥

एतत् सर्वं समं कृत्वा मर्दयेत् खल्लमध्यतः ।

श्लक्ष्णातां याति तदुद्यावत्तावत् सन्मर्दयेच्छनैः ॥५९॥

विस्तारि परिणाहे च गर्तां कृत्वा षडङ्गलाम् ।

फणिवल्लीदलान्यन्तर्गर्तायां प्राक्षिपेन्नरः ॥ ६० ॥

सिन्दुवाररसेन निर्गुणोद्धरसेन । सप्तरात्रमिति प्रत्येकस्वरसेन सप्तवारम् । मरिच-
चूर्णनागवल्लीरसेन गुञ्जकप्रमाणम् औषधमुपयोग्य शीतलजलमनुपाययितव्यम्
इति ॥ ५०—५३ ॥

ज्वराकुशरसे—नेपालं ताम्रं, द्विगुणमित्येकभागमपेक्ष्य बोध्यम् । शङ्खं शङ्खभक्षम् ।
चिञ्चाक्षारं तित्तिरीक्षारम् । माचिकं स्वर्णमाचिकम् । तुल्यं प्रत्येकं टङ्गुणभागः ।
एतत् त्रयं टङ्गुणादिवयेणैकं, नेपालमेकं, सैन्धवादिपञ्चकैमेकमित्येतत्त्रयमित्यर्थः ।
निम्बुतोयेन जम्बीररसेन ॥ ५४—५७ ॥

सर्वाङ्गमुन्दरचिन्तामणिरसे—तित्तिरीफलं जैपालबौजम् ; “तित्तिरी” इत्यत्र
“तित्तिरी” “तित्तिरी” इति च पाठेऽपि—स एवायं । विस्तारि देख्यं ।

पर्णेषु सूतकल्कं तं गर्त्तायां स्थापयेद्दृढम् ।
 कल्कादुपरि तत् पर्णैर्गर्त्तावक्त्रं प्रपूरयेत् ॥ ६१ ॥
 गर्त्तायान्तु ततो देयं पुटमारण्यकोत्पलैः ।
 स्वाङ्गशीतलतां ज्ञात्वा समाकर्षेत्ततः परम् ॥ ६२ ॥
 सूतलिप्तदलैः सार्द्धं कल्कं खल्ले विमर्दयेत् ।
 तोलाद्धममृतं चिष्ट्वा तोलाद्धं तित्तिरीफलम् ॥ ६३ ॥
 स्थापयेत् खल्लितं कल्कं योजयेद्भक्षमात्रया ।
 शृङ्गबराभसा युक्तं तोक्ष्णचित्रकसैन्धवैः ॥ ६४ ॥
 सन्निपाते तथा वाते त्रिदोषे विषमज्वरे ।
 अग्निमान्ये ग्रहण्याञ्च तथा देयाऽतिसारिणि ॥ ६५ ॥
 भोजनं दधिभक्तञ्च रसेऽस्मिन् सम्ययोजयेत् ।
 व्याध्याधिक्यं यदा कुर्यादुदकं ढालयेत्ततः ॥ ६६ ॥
 एष योगवरः श्रोमान् प्राणिनां प्राणदायकः ।
 चिन्तामणिरिति ख्याता रसः सर्वाङ्गसुन्दरः ॥ ६७ ॥

परिणाहे वेष्टन्याम् । गर्तां गर्तम्, आबन्तगर्तशब्दोऽप्यस्तीति गम्यते
 प्रयोगदर्शनात् । फणिवल्लीदलानि ताम्बूलोपवाणि । अन्तर्गर्त्तायां गर्त्ताभ्यन्तरे ।
 पर्णेषु ताम्बूलोदलेषु, लिप्तमिति शेषः । सूतकल्कम् अभादिकृतमौषधपिण्डम् ।
 तोक्ष्णं मारचं चविका वा । अयं विधिः,—अभादिकं यद्योक्तमानं खड्गं
 तावद्दृढं मर्दयेत्, यावत् चिकुचतां गच्छति, ततः जलेन पर्णरसेन वा
 चूर्णे तदालोकां सान्द्रं पर्णेषु लिप्तेत् । उत्सेधविधाराभ्यां षडङ्गुलमितं गर्तमेकं
 कृत्वा तन्मध्ये पर्णदलानि कतिचित् निक्षिप्य तदुपरि भेषजकल्कलिपानि तानि
 स्थापयेत्, भृशं कति पर्णानि दत्त्वा गर्तमुखं प्रपूर्य बन्धकरीषैः पुटं
 दापयेत्, स्वाङ्गशीतलं समुद्धृत्य च सपर्णमेव तदौषधम् अमृताङ्गशीतलकेन
 केपालाङ्गशीतलकेन च खल्ले मर्दयित्वा स्थापयेत् । तस्माद्भ्रामानमौषधं तोक्ष्णादीनां
 प्रत्येकं रक्तिद्वयमितेन चूर्णेन पाट्टंकरसेन च दापयेत् । अनुपानं सदध्यन्नं
 कुर्यात् । प्रयोगेणानेन यदि व्याधिराधिक्यं भवति, तदा शिरसि उदके
 ढालयेत् ॥ ५८—६७ ॥

अथ लोकनाथगुटिका ।—

सूतेन्द्रं परिमयं पञ्चपटुभिः चारैस्त्रिभिस्तं ततः
 पिण्डे हिङ्गुमहौषधासुरिमये संखेद्य धान्यादके ।
 निर्गुण्डाम्बुहुताशमन्य-तिलपर्ण्यम्भत्तभृङ्गार्द्रकं
 कामातागिरिकर्णिकाप्लवदला-पञ्चाङ्गुलीत्येर्जलैः ॥ ६८ ॥
 सूतेन्द्रेण समैर्विमयं सहजैः पितैस्ततो भावयेत्
 दंष्ट्रिच्छाग-तुलायमत्स्यशिखिनां सा सन्निपातान् जयेत् ।
 विख्याता भुवि लोकनाथगुटिका मारौचमात्रा हिता
 स्यादस्याः सहितं दधीक्षुशकलं वीर्यं भवेच्छीतलम् ॥ ६९ ॥

अथ मूत्रिकाभरणौ रसः ।—

वज्रवैक्रान्तयोर्भस्म प्रत्येकं निष्कसम्मितम् ।
 शृङ्गोविषं हिनिष्कञ्च त्रिनिष्कं चूलिकापट् ॥ ७० ॥

लोकनाथगुटिकायां—पञ्चपटुभिः “सौवर्चलं संखेद्यच्च विजमौहिदमेव च ।
 आमुद्रेण सहेतानि पञ्चैव लवणानि च ॥” इत्युक्तेः पञ्चलवणैः । चारैस्त्रिभिः
 “स्वर्जिका दङ्गणञ्चैव यवचार उदाहृतः” इत्युक्तेः त्रिचारैः ; अत्र भागानुक्तात् लवण-
 चाराणां प्रत्येकं सूतेन्द्रममलं बोध्यम् । आमुरिराजिका । धान्योदके काष्ठीके । निर्गुण्डो
 मिन्दुवारः । अम्बु बालिकम् । हुताशमन्यः अग्निमन्यः । तिलपर्णी रक्तचन्दनम् ।
 लम्पतः धूम्रः । भृङ्गः भृङ्गराजः । कामाता काकमाचौ । गिरिकर्णिका अपरा-
 जिता । प्लवः कैवर्त्तमुल्लसकम् । दला ताम्बूलम् । पञ्चाङ्गुलः परण्डः । सहजैः
 स्वाभाविकैः अविकृतैः, पितैरित्यनेन संखेद्य, रोगादिभिर्भूतानां पित्तं विकृतं
 भवति, अथ तु अतद्विधैः । दंष्ट्री शूकरः । तुलायः मण्डिषः । शिखी मयूरः । मार्गोच-
 मात्रा मरिचप्रमाणा । सहितं हितसहितं, न त्वहितमहितमित्यर्थः ; “स-हितम्”
 इत्यत्र “ससितम्” इति पाठः साधुः, तत्र सशर्करमित्यर्थः । इक्षुशकलम् इक्षुखण्डम् ।
 अर्थमर्थः,—मिलितैः पञ्चपटुभिः चारवयैश्च मिलितैः तुल्यं रसं सप्तम्यं मूलकं विधाय
 हिङ्गुदिमये पिण्डे संस्थाप्य च दोलायन्ते काष्ठीकेन खेदयेत्, ततो दोलायन्नादुद्धृतं
 लदौषधं निर्गुण्डादीनां प्रत्येकं खरसैः क्वाथैर्वा यथायोग्यं रससमैर्विमयं पञ्चभिः
 पितैः यथाविधि भावयेत् ॥ ६८-६९ ॥

पञ्चनिष्कोऽग्निजारश्च सर्वमेकत्र मेलयेत् ।
 तावन्नस्मरसं यावन्मर्दयेद्दिवसत्रयम् ॥ ७१ ॥
 शार्ङ्गष्टादिकवर्गस्य क्षारनीरेण भावयेत् ।
 त्रयोविंशतिवाराणि विमर्द्य च विशोष्य च ॥ ७२ ॥
 ततो विमर्द्य दिवसं क्षिपेद्दन्तकरण्डके ।
 मृतमञ्जौवनाख्योऽयं सूचिकाभरणो रसः ॥ ७३ ॥
 सन्निपातेन तीव्रेण मुमूर्षोर्भूगतस्य च ।
 तालुनि प्रच्छयित्वाऽथ रसमेनं विनिक्षिपेत् ॥ ७४ ॥
 सूच्याऽतिसूक्ष्मया तोयाभिन्नयाऽतिप्रयत्नतः ।
 ततस्तैलेन तं लिप्त्वा निवाते सन्निवेशयेत् ॥ ७५ ॥
 ततोऽर्द्धप्रहरादूर्ध्वं मुक्तमूत्रपुरीषकम् ।
 लब्धसंज्ञं प्रतापाख्यं दोलयन्तं शिरो मुहुः ॥ ७६ ॥
 आयुष्यन्तं विजानौयादन्यथा चान्यथा खलु ।
 तप्तः शीताम्बुसम्पूर्णं कटाहे तं निवेशयेत् ॥ ७७ ॥
 तत्र चोत्कथितं तीयमपनोयापरं क्षिपेत् ।
 याचमानममुं पश्चात् पाययेत् ससितं पयः ॥ ७८ ॥
 दधि वा सितयोपेतं नारिकेलजलं तथा ।
 रश्माफलानि दद्याच्च स्त्रियते सोऽन्यथा खलु ॥ ७९ ॥

सूचिकाभरणरसः—वज्रं हीरकम् । वैकान्तं “वुष्णी” इति प्रसिद्धम् ।
 निष्कसम्मितं शायमानम् । शङ्खीविषं कन्दविषभेदः, तदभावे कालकूटः अमृताख्यं
 वा । चूलिकापटु चुल्लिकालवणं, गरसारः इत्यर्थः । अग्निजारः पश्चिमसागरीभूतः
 औषधविशेषः । तावत् तावन्मानं, मिलितानामेषां समानमित्यर्थः, भस्मरसं रस-
 सिन्दूरम् । शार्ङ्गष्टादिकेति ।—वर्त्यमाणस्य शार्ङ्गष्टादिकवर्गस्य भस्मीकृतस्य चतुर्गुणं
 षड्गुणं वा तोये एकविंशतिवारपरिसृतेन क्षारोदकेनेत्यर्थः । दन्तकरण्डके गजदन्त-
 निर्मितभाजने । तीयाभिन्नया जलसिक्तया । प्रतापाख्यं बलवन्तं, दोषवेगोदयात् शयनं
 परित्यज्य उद्गमनादिवेष्टावन्तम् । अन्यथा चान्यथा खलु प्रतापप्रदर्शनाद्यकरणे

लब्धसंज्ञं प्रभाषन्तं याचमानं फलादिकम् ।
 तस्मादाकृष्य तैलाक्तं तैलं पिष्ट्वाऽपनीय च ॥ ८० ॥
 लेपयेन्नल्यकर्पूरैरापादतलमस्तकम् ।
 इत्यादिशिशिरैर्द्रव्यैः सप्तरात्रमुपाचरेत् ॥ ८१ ॥
 कर्णाक्षिनासिकावक्त्रे क्षिपेत् पोताश्रयं मुहुः ।
 अष्टमेऽहनि सम्प्राप्ते ददुरौमूलजं रसम् ॥ ८२ ॥
 ससितं पाययेद्देगमवतारयितुं रसम् ।
 रसेऽवतारिते पश्चात् यथेष्टं भोजनं दधि ॥ ८३ ॥
 श्वासोच्छ्वासयुतञ्चान्यैर्मुक्तजीवनलक्षणैः ।
 कटाहं जलसम्पूर्णं निक्षिपेद्बोधलब्धये ॥ ८४ ॥
 लब्धबोधं तमाकृष्य पूर्ववत् समुपाचरेत् ।
 जीवित्वा यावदायुष्यं स्त्रियते तदनन्तरम् ॥ ८५ ॥
 सन्निपाते महाघोरे मज्जन्तं मृत्युसागरे ।
 उद्धरेत्तस्य धर्मस्य ब्रह्माऽप्यन्तं न विन्दति ॥ ८६ ॥
 सन्निपातमहामृत्यु-भयनिर्मुक्तमानवः ।
 अपि सर्वस्वदानेन प्राणाचार्यं प्रपूजयेत् ॥ ८७ ॥

गतायुषं विजानीयादित्यर्थः । उक्तवृत्तम आतुरस्य देहोपसम्पर्केण सन्तप्तम् ।
 अपरं शीतलं तीक्ष्णम् । अन्यथा शीतोपचाराद्यकरणे ससितदग्धाद्यप्रदाने च ।
 पिष्ट्वा गावमार्जन्वा उद्धृत्य ; “पिष्ट्वा” इत्यत्र “पिष्ट्वा” इति पाठे—पिष्ट्वा पिष्टिकया,
 तण्डुलादिचूर्णेन इत्यर्थः । पोताश्रयं जलमित्यर्थः । ददुरौमूलजं पुनर्नवामूलो-
 ल्यम् । वज्रादिकं यथोक्तमानं गृहीत्वा शार्ङ्गटादीनां चारोदकेन त्रयोविंशति-
 वारं विभाव्य विशोष्य च पुनरेकदिनं विमर्द्य गजदन्तमाजने स्थापयेत् । नमूर्ध्वोः
 सन्निपातिनः शिरालालं कूर्चकेनान्येन वा केनचित् प्रच्छन्नसाधनेन किञ्चित् प्रच्छदित्वा
 जलसम्पूर्णनातिमुच्येण सूचीवक्त्रेण रसमेनं गृहीत्वा च तत्र द्वापयेत् तैलेनाभ्यञ्ज-
 निषाते स्थापयेच्च । ततः प्रहराद्वांनन्तरं संज्ञां लब्ध्वा त्यक्तमूलपुगीषः सन्निपाती
 चेत् शिरश्चाक्षनादिकं कुप्यात् तदा तमायुष्यन्तं जानीयात् । ततः शीतलजलपूषं

अन्यथा नरके तावद्यावत् कल्पविकल्पना ।
इत्याज्ञा शाङ्करी ज्ञेया शम्भुना परिकीर्तिता ॥८८॥
प्रकाशा नेव कर्त्तव्या रसोत्तरणमूलिका ।
शास्त्रं विना प्रयच्छन्ते मन्दा वित्ताभिकाङ्क्षया ॥
गुरुप्रसादमासाद्य सन्निपाते प्रयुज्यताम् ॥८९॥

अथ शाङ्गष्टादिवर्गः ।—

शाङ्गष्टा च तथा व्याघ्री करीरस्तिलपर्णिका ।
इन्द्रवाक्पणिका मुस्ता हरिद्राऽङ्गोलमूलिका ॥९०॥
अपामार्गः कणा स्वर्णः कटुतुम्बी च तित्तिडी ।
शाङ्गष्टादिकवर्गोऽयं सन्निपातहरः परम् ॥ ९१ ॥

अथ सूचौमुखो रसः ।—

सूतं गन्धकतालकं मणिशिलां ताप्यं लवं तुल्यकं
जेपालं विषटङ्गणं मधुफलं कृत्वा समांशं दृढम् ।
कृत्वा कज्जलिकां विषोत्खणफणेः पित्तैश्च सम्भावयेत्
क्षिप्वा सीसककूपिके रसवरं सूचौमुखं नामतः ॥९२॥

कोष्ठके तम् अवगाहयेत्, यदा च तज्जलमुत्तमं भवेत् तदा तदपनीय पुनश्च
श्रीतलजलेन तत् कोष्ठं पूरयेत् । अनन्तरं बुभुक्षवे तस्यै सशर्करदुग्धादिकं दापयेत्,
अदत्तं च मृत्युर्भवितुमर्हति । ततः कोष्ठादवतार्य गावमार्जन्या तण्डुलपिष्टादिना
वा तेलमपनीय कर्पूरचन्दनादिभिः श्रीतलद्रव्यैः आपादमक्तकमनुलेपयेत्, एवं
समाहं यावत् । अष्टमेऽङ्गि श्रीतलजलेन कर्णादिकमभिषिच्य सशर्करं पुनर्नवामूलरसं
पाययेत्, एवमौषधसन्नापं प्रशाम्यति, पश्चात् प्रभूतं दधि भोजयेदिति ॥ ७०—८९ ॥

शाङ्गष्टादिवर्गनाह, शाङ्गष्टेति ।—शाङ्गष्टा काकमाषी काकजङ्गा वा ।
करीरः वंशाङ्कुरः । तिलपर्णिका रक्तचन्दनम् । इन्द्रवाक्पणिका गोरक्षकण्टी ।
अङ्गोलमूलिका अङ्गीठमूलम् । स्वर्णः धूसूरः । कटुतुम्बी तिक्तालावुः ॥९०।९१॥

सूचौमुखरसे—मणिशिलां मणःशिलां । ताप्यं स्वर्णमाचिकम् । लवं
जातीफलम् । मधुफलं वैकट्यम् । विषोत्खणफणेः तीक्ष्णविषस्य कृष्णसर्पस्य
पित्तैः ; पित्तेरिति बहुलं सप्तभावनाबोधनायै, सर्पपित्तानां खल्यतया समभिः

ब्रह्मदारविकीर्णलोहितलवे गुञ्जैकमात्रं ददेत्
 दत्त्वा सम्पुटबहुतन्द्रिकधनुर्वान्ते मशाखाहिमे ।
 कामं श्वासमरीचकं प्रलपनं कम्पञ्च ह्रिकातुरं
 मूकत्वं बधिरत्वमुन्मत्तमपस्मारं जयेत्तत्तत्तत्तत् ॥ ८३ ॥

अथ सन्निपातगजाङ्गशः ।—

रसगन्धकताम्राभ्रं लाङ्गलीवङ्गिरामठम् ।
 बन्ध्यापटीलनिर्गुण्डी-सुगन्धानिम्बपल्लवाः ॥ ८४ ॥
 पाठा चारत्रयं च्चेल-बोलधत्तूरतण्डुलैः ।
 शृङ्गीमधूकसारञ्च जम्बीराम्लेन मर्दयेत् ॥ ८५ ॥
 कुर्याद्वि निष्कमानेन वटिका सा नियच्छति ।
 संस्वेददाह्यभिन्ध्यामं सन्निपातगजाङ्गशः ॥ ८६ ॥

अथ चातुर्थिकद्वयो रसः ।—

ससारा वैष्णवीसेना अचला कादि कङ्कणा ।
 रागरुद्रोपमोपेता प्रौढामस्तकशालिनौ ॥ ८७ ॥

पित्तैः सप्तभावनायाः असङ्गतियेत् यावद्भिः पित्तैः सर्वमेकौभुतं सत् चार्द्रतां व्रजेत्
 तावत्सङ्काशैः सप्तवारं भावयेत् इति द्योतनार्थं वा । सौम्यकूपिके सौम्यकनिर्मित-
 भाजने ; एतच्च पात्रविशेषकथनं संस्कारार्थं बोध्यम् । ब्रह्मदारेति ।—ब्रह्मदारे
 ब्रह्मरन्ध्रे, ब्रह्मतालुनि इत्यर्थः, ब्रह्मदारत्वञ्चास्य—एतच्छिद्रेण निष्क्रमणे ओषध्य
 ब्रह्मप्राप्तिवशात् ; विकीर्णः सूक्ष्मेण व्यधनात् बहिर्निःसृतः लोहितलवः रक्त-
 बिन्दुः तस्मिन् सति मूत्रायसूचीविह्वलब्रह्मरन्ध्रात् रक्तविन्दो निःसृते सति गुञ्जामात्रं रस-
 भिन्नं दापयेत् । सम्पुटेति ।—सम्पुटबहुः बहुमुष्टिकः यः तन्द्रिकः तदाख्यसन्नि-
 पातभेदः, तत्सङ्घितः धनुर्वातः धनुस्तम्बः तस्मिन् बहुमुष्टिकतन्द्रिकसन्निपाते धनुर्वान्ते
 चेत्यर्थः । मशाखाहिमे इत्युपदेशेयसङ्घिते ॥ ८२।८३ ॥

सन्निपातगजाङ्गशः—लाङ्गली अयं कलिकारिका वा । बङ्गिः चित्रकः ।
 रामठं ह्रिङ्गु । बन्ध्या बन्ध्याकर्कटकी । सुगन्धा राक्षा । पल्लवशब्दः बन्ध्यादिभिः
 निम्बान्तेः प्रत्येकं सम्बध्यते । च्चेलं गरलम् । बोलः गन्धबोलः । तण्डुलः
 तण्डुलीयकः । शृङ्गी कर्कटशृङ्गी । मधूकसारः गुडपुष्पवत्सारः ॥ ८४—८६ ॥

त्रिभागं तालकं विन्द्यादेकभागन्तु पारदम् ।

तदर्द्धं गन्धकञ्चैव तदर्द्धन्तु मनःशिला ॥ ८८ ॥

कारवल्लीदलरसैर्मर्दयेत् प्रहरत्रयम् ।

पाचितो बालुकायन्त्रे चातुर्थिकनिवारणः ॥ ८९ ॥

अथ चातुर्थिकगजाङ्गुशः ।—

स्याद्रसेन समायुक्तो गन्धकः सुमनोहरः ।

ह्रियावलित्रिगुणितो निर्गुण्डीरसमर्दितः ॥ १०० ॥

सप्तवाराणि तद्योज्यमार्द्रकस्वरसेन तु ।

सन्ततादिज्वरं हन्याच्चातुर्थिकगजाङ्गुशः ॥ १०१ ॥

अथ द्वितीयसृज्यधरसः ।—

ताप्यतालकजिपाल-वत्सनाभमनःशिलाः ।

ताम्रगन्धकसूतञ्च मुषलीरसमर्दितः ॥

सृज्यञ्जय इति ख्यातः कुक्कुटोपुटपाचितः ॥ १०२ ॥

चातुर्थिकहररसे—मसारा सारः पारदः, सारत्वज्ञास्य शिववीर्यत्वात्, तस्मिन्निता पारदसंयुक्ता इत्यर्थः । वैष्णवीसेना हरितालः, विष्णुवीर्यत्वाच्चास्य वैष्णवीसेनत्वम् । अचला मनःशिला, अत्रापि लक्ष्मीवीर्यत्वम् मनःशिलाया अचलत्वे हेतुद्वयेभ्यः । कादि कारवल्लीरसः । कङ्कणा गन्धकः ; यस्मिन् केनचित् कादिकं कणा इति प्रदमेदन् कणाशब्देन पिप्पली इत्युक्तं तत्र मनोरसम् ; “त्रिभागम्” इत्यादिनोक्ते सारादीनां भागाववरणे पिप्पल्या अट्टलत्वात् गन्धकस्य च गङ्गणादिति । रागः ताम्रपाव, रुद्रोपमा बालुका च ताप्यामुपेता । प्रौढामलकशालिनी शालिम्फुटनमात्रम् इत्यर्थः । अथैषां भागयुक्तिमाह, विभागमिति ।—तालकं हरितालम् । ताल-कादिकं यद्योक्तमात्रं गृहीत्वा कारवल्लीपत्ररसेन प्रहरत्रयं विमर्दयेत्, ततः ताम्र-पात्रं संस्थाप्य रुद्रा च बालुकायन्त्रे पचेत्, बालुकोपरि कति त्रीन् संस्थापयेच्च, यावन्ते न स्फुटन्ति तत्रैव रसाऽयं पक्त्यः इति निष्कर्षः ॥ ८९—९६ ॥

चातुर्थिकगजाङ्गुशे—ह्रियावलिः हरितालं, स च रसभागापेक्षया त्रिगुणितः प्राञ्चः ॥ १००।१०१ ॥

द्वितीयसृज्यधरसे—ताप्यं सप्तमाचिकम् । जिपालं जिपालवीजम् ; “जिपाल”

वज्रहयं प्रयुञ्जीत यथेष्टं दधिभोजनम् ।

नवज्वरं सन्निपातं हन्यादेष महारसः ॥ १०३ ॥

अथ पञ्चवक्त्ररसः ।—

शुद्धं सूतं विषं गन्धं मरिचं टङ्कणं कणाम् ।

मर्दयेद्वृत्तजद्रावैर्दिनमेकन्तु शोषयेत् ॥ १०४ ॥

पञ्चवक्त्रो रसो नाम द्विगुञ्जः सन्निपातजित् ।

अर्कमूलकषायञ्च सत्रूपमनुपाययेत् ॥

दध्योदनं हितं तत्र जलयोगञ्च कारयेत् ॥ १०५ ॥

अथ सप्तवक्त्ररसः ।—

रसगन्धकतुल्यांशं धतूरफलजैर्द्रवैः ।

मर्दयेद्दिनमेकन्तु तत्तुल्यं त्रिकटुं क्षिपेत् ॥

उन्मत्ताख्यो रसो नाम्ना नस्ये स्यात् सन्निपातजित् ॥ १०६ ॥

अथ सान्निपातान्नरसः ।—

निस्त्वग्जपालजं वीजं दशनिष्कं प्रचूर्णयेत् ।

मरिचं पिप्पली सूतं प्रतिनिष्कं क्षिमिश्रयेत् ॥ १०७ ॥

भाव्यं जम्बीरजैर्द्रवैः समाहं तत् प्रयत्नतः ।

सन्निपातं निहन्त्याशु अञ्जने यः शिवः स्मृतः ॥ १०८ ॥

मदनफलं विडलवणं सर्षपाः प्रतिनिष्कद्वयम् ।

चूर्णयित्वा त्रिफलाक्वाथेन सटङ्कणं पिबेत् ॥ १०९ ॥

इत्यत्र “नेपाल” इति पाठे—नेपालं तासम्, अस्मिन् पक्षे तासस्य ही भागो यास्त्रो ।

वत्सनाभः विषम् । मुषली तासमूली । कुकुटोपुटपाचितः “पुटं भूमितले यत्तद्विहितवितथीत्ययम् । तावच्च तलविस्तीर्णं तत् स्यात् कुकुटं पुटम् ॥” इत्युक्तञ्चकपुटे पाचितः ॥ १०२।१०३ ॥

पञ्चवक्त्ररसे—धूर्तजद्रावैः धतूरपत्ररसैः । सत्रूपं त्रिकटुचूर्णसहितम् । जलयोगं कलसेकादिकम् ॥ १०४।१०५ ॥

उन्मत्तरसे—तत्तुल्यं त्रिकटुं अञ्जलीतुल्यं समुदितत्रिकटुचूर्णम् ॥ १०६ ॥

सान्निपातान्नरसे—सूतं रससिन्दूरम् । शिवः चारोग्यप्रद इत्यर्थः । जैपाल-

अथ नवमः ।—

कुष्ठपाण्डुज्वराजीर्ण-कामलाकण्ठरोगनुत् ।

नस्ये च गिरिकर्ण्य-वोजैकं शीतवारिणा ॥११०॥

अथ प्रतापलङ्घनः ।—

प्रत्येकं रसगन्धयोर्द्विपलयोः कृत्वा मर्सीं शुद्धयो-

रस्यां स्नेच्छुलुलायलोचनमनो-धात्रीप्रकुञ्चयम् ।

पथ्याया बदरत्रिकं त्रिकटु षट्शाणं वचा धर्मिणी

वेङ्काम्बोधरपत्रकद्विरद-किञ्चल्काश्वगन्धाह्वयम् ॥ १११ ॥

पिष्टैतत् समधूकसारमखिलं कर्षीन्मितं न्यस्य तत्

प्रोन्मर्द्यार्द्धकरञ्जकामृतयुतं मागस्तिकवृषणैः ।

भूधात्रीविजयासरित्पतिफलं ज्वालामुखौमार्कवैः

प्रत्येकं विदधौत निश्चलमतिः सप्त क्रमाद्भावनाः ॥ ११२ ॥

पित्तैरथो पञ्च विधाय पञ्चभिः करञ्जपत्रामृतधूपनं ततः ।

दत्त्वाऽऽर्द्रकस्य स्वरसेन तण्डुलाकृतिं विदध्याद्गुटिकां भिषग्वरः

॥ ११३ ॥

बीजादिभिराढावञ्जनं दत्त्वा पश्चात् सदनफलादिटङ्गणानानां चतुर्णां चूर्णं योग्यमात्रया
त्रिफलाकाशेन अनुपानं कुर्यात् ॥ १०७—१०८ ॥

नवमाष्ट, कुष्ठेति ।—गिरिकर्णो अपराजिता । केवलं शीतवारिपिष्टापराजिता
बीजनस्यं कुष्ठादिनाशनं भवेत् ॥११०॥

प्रतापलङ्घन—मर्सीं कज्जलीम् । अस्यां कज्जल्याम् । स्नेच्छं तासम् ।
लुलायलोचनं मद्दिषाद्युग्गुलुः । मनः जटामांशो । धात्री आमलकी ; मनो-
धात्रीत्येकपदं वा, तत्र मनोगुप्ता, मनःशिला इत्यर्थः, आम्रां प्रत्येकं पलद्वयम् ।
बदरत्रिकं कोलवयम् । त्रिकटु षट्शाणं त्रिकटुचूर्णे मिलितं कोलवयम् । धर्मिणी
रेणुका । वेङ्कं विडङ्गम् । अम्बोधरः मूलकम् । पत्रकं तेजपत्रम् । द्विरद-
किञ्चल्कः नागकेसरः । वचादयो मधूकसारान्ताः प्रत्येकं कर्षमिताः । अह्वेति ।
—करञ्जकः मत्तमालः, अस्य लवः । अमृतं तिषम । मागस्तिकवृषणैरित्यत्र
अगस्तिको वक्रपत्रम् । भूधात्री ताम्रलकी । विजया भङ्गा । सरित्पतिफलं

देयैका सन्निपाते प्रतिहतविषये मोहनेत्रप्रसुप्तोः
 स्याद्गुल्मे साजमोदा पवनविकृतिषु तूषणेन ग्रहण्याम् ।
 दातव्या जीरकेण द्विपतुरगन्तृणां प्राणसंरक्षणाय
 कारुण्याभ्योधिरेतं रसकसमरसं वैद्यनाथोऽभ्यधत्त ॥ ११४ ॥

अथ प्राणेश्वरः । —

गन्धकाभ्रसमः सूतो वाराहौरसमर्दितः ।
 पाचितो बालुकायन्त्रे त्रिफलाव्योषचित्तकैः ॥ ११५ ॥
 त्रिच्चारपञ्चलवण-हिङ्गुगुग्गुलीदीप्यकैः ।
 सजीरकैः सेन्द्र्यवैः पृथग्रससमैर्युतः ॥ ११६ ॥
 माषमात्रोऽनुपानेन द्विपलस्योष्णवारिणः ।
 अभित्यासानलभ्रश-ग्रहणीपाण्डुगुल्मिनाम् ॥ ११७ ॥
 कुर्यात् प्राणपरित्वाणमतः प्राणेश्वरः स्मृतः ।
 व्याधिवृद्धौ प्रयोगोऽस्य द्वौ वारौ वैद्यसम्मतः ॥ ११८ ॥

समुद्रफलम् इति नाम्ना ख्यातफलविशेषः ; योगेऽस्मिन् करञ्जकामृतमुषाभौविजया-
 सारत्पतिफलानां प्रत्येकं कर्षाद्वै ग्राह्यम् । ज्वालामुखी चित्तकः । मार्कवः सृङ्गराजः,
 सागलिकद्रव्येषु ज्वालामुखीमार्कवैः सम भावना विदधीत इति याज्ञनीयम् ।
 पित्तैरिति । — पञ्चभिः पित्तैः पञ्च भावनाः देयाः । करञ्जेत्यादौ करञ्ज, नक्तमालत्वक्
 पत्रं तत्रपत्रम् असृतं विषम एभिर्धूपनं कार्यं संस्कारार्थम् । तण्डुलाकृतिं तण्डुला-
 काराम् । प्रतिहतविषये रूपरमादौनाभिन्द्रियाद्यानां ग्रहणासामर्थ्ये । रसक-
 समरसम् असृतद्रव्यकारकम् । अथमर्थः, — सर्वे यथोक्तमानं गृहीत्वा सागलिक-
 तूषणे ज्वालामुखीमार्कवैः प्रत्येकं सम सम वारान् भावयित्वा पञ्चभिः
 पित्तैश्च पञ्च वारान् भावयेत् ; अनन्तरं गुणप्रकर्षाधानाद्ये करञ्जादिभिर्धूपनं
 कर्तव्यम् ॥ १११—११४ ॥

प्राणेश्वरः—मलितगन्धकाभ्रतुल्यः पारदः । वाराहो वाराहौकन्दः । दीप्यकं
 यमाने । वाराहौकन्दरसेन मर्दितं गन्धकादिवयं काचकुप्या संख्याय्य सृक्पट्याभ्यां
 लिप्ता च सिन्दूररसविधाना बालुकायन्त्रे पचेत् । ततोऽवतार्य वाह्निःसाय्य च
 त्रिफलादिभिः प्रत्येकं रससमै संयोज्य सुगतं स्थापयेत् । अस्मात् माषासृतं
 गृहीत्वा द्विपलानां वारिणा अभित्यासादौ दापयेत् ॥ ११५—११८ ॥

अथ मृतसञ्जीवनः ।—

रसायोव्याषकङ्कष्ठ-शिलातालाभ्रहिङ्गलान् ।
 कुम्भरग्निभृङ्गमारोष-तण्डुलीयकमाक्षिकान् ॥ ११८ ॥
 हस्तिशुण्डीयुतांस्तुल्यांस्तद्वैशिवगन्धकान् ।
 त्रयहमार्द्रांस्त्रिणा पिष्ट्वा कूपिस्थं बालुकाग्निना ॥ १२० ॥
 जयाजम्बीरनिर्गुण्डी-चाङ्गेरौवारि निक्षिपत् ।
 पक्त्वा चतुर्दशाहानि पिष्ट्वाऽऽर्द्राक्तं विशेषयेत् ॥ १२१ ॥
 मृतसञ्जीवनाख्योऽयं रसो वल्लभितोऽशितः ।
 द्राक् जयेदौषधं सन्निपातादौन् सकलान् गदान् ॥ १२२ ॥

अथ द्वितीयमृतसञ्जीवनः ।—

रसभागो भवेदेको गन्धको द्विगुणो मतः ।
 विषतालककङ्कष्ठ-शिलाहिङ्गललोहकम् ॥ १२३ ॥
 वाङ्मत्त्रिकटुभृङ्गाह्व-हेममाक्षिकमभ्रकम् ।
 हस्तिशुण्डी विषं कुम्भी तण्डुलीयकताम्रकौ ॥ १२४ ॥
 एषां प्रत्येकमेकैकं भागमादाय चूर्णयेत् ।
 आर्द्रकस्य द्रवेणैव मर्दयेच्च टिनत्रयम् ॥ १२५ ॥
 जम्बीरस्य रसो ग्राह्यः पलत्रयपरीक्षितः ।
 त्रिफलायाश्च निर्गुण्डाः प्रत्येकञ्च पलत्रयम् ॥ १२६ ॥

मृतसञ्जीवने—रसः पारदः । अयः लौहम् । कङ्कष्ठः स्वनामख्यातः । कुम्भी
 दन्ती, अस्याः धूर्ज यास्यम् । अयः चित्रकः । भृङ्गः भृङ्गराजः । नारीयः
 तण्डुलीयकः । तण्डुलीयकः विडङ्गम् । तद्वैशिवगन्धकान् तेषां मिलितरसादी-
 नाम् अर्द्धं शिवगन्धको मिलितटङ्गगन्धौ यव तान्, शिवोऽयं टङ्गणं, स च रसादीनां
 मिलितानां पादांशो ग्राह्यः, एवं गन्धकोऽपि ; यद्वा—शिवः पारदः गन्धकयः,
 अस्मिन् पक्षे—रसः रसाञ्जनम् । रसादिकं सर्वे यथानिर्देशं गृहीत्वा आर्द्रकरसेन
 दिनत्रयं सम्यग् काचकूप्या निधाय च बालुकायन्त्रे चतुर्दशदिनं पचेत् । ततः
 जयादिरसेन पिष्ट्वा भूयोऽप्यार्द्रकरसं दत्त्वा पातये शोषयेत् इति ॥ ११८—१२२ ॥

रसस्य पलमात्रन्तु चाङ्गेर्याः परिकीर्तितम् ।
 काचकूप्या विनिक्षिप्य यन्त्रे क्षिप्त्वा प्रयत्नवान् ॥ १२७ ॥
 उद्धृत्याऽऽर्द्रकनिर्यासैर्मर्दयित्वा विशोषयेत् ।
 मृतमञ्जीवनो नाम रसोऽयं विदितो भुवि ॥
 गुञ्जादयं ददोतास्य सन्निपातापनुत्तये ॥ १२८ ॥

अथ सन्निपातकृत्तरः ।—

वङ्गं नागञ्च सूतञ्च नेपालं गन्धकं तथा ।
 शुल्बं विषं समाग्नेन रसेनाऽऽर्द्रेण मर्दयेत् ॥ १२९ ॥
 पुनर्मर्दयन् निर्गुण्डाश्चाङ्गेर्या रसमर्दितः ।
 एकवल्लप्रयोगेण रसोऽयं सन्निपातनुत् ॥ १३० ॥

अथ नवज्वरारिः ।—

गन्धकञ्च रसं शुद्धं प्रत्येकं कर्षसम्मितम् ।
 एकत्र कज्जलीं कृत्वा ततः कुर्वीत गोलकम् ॥ १३१ ॥
 नवभाण्डे विनिक्षिप्य ताम्रपात्रेण गोपयेत् ।
 दृढं निरुध्य तत् पात्रमग्नावारोपयेत्ततः ॥ १३२ ॥
 ब्रौह्मिष्फुटनमात्रेण स्वाङ्गशीतं समुद्धरेत् ।
 नवज्वरं प्रयुञ्जीत रसं पर्पटिकाक्षयम् ॥ १३३ ॥
 आर्द्रकस्य रसेनैव त्रिवल्लं त्रिदिनं भिषक् ।
 ज्वरितं छादयेद्भाटं यावत् खेदः समुद्भवेत् ॥ १३४ ॥

द्वितीयमृतमञ्जीवने—भृङ्गाह्नः भृङ्गराजः । पलत्रयपरिचितः पलत्रयपरिमितः
 इत्यर्थः । विफलाद्याः क्वाथो यावत् । जम्बीरादीनां रसम् आर्द्रकरसमर्दितमौषधञ्च
 काचकूप्यां व्यापयेत् । यन्त्रे बालुकायन्त्रे । “यन्त्रे क्षिप्त्वा प्रयत्नवान्” इत्यत्र “स्वेदयेत्
 सप्तकद्वयम्” इति पाठे—सप्तकद्वयं चतुर्दशदिनानि स्वेदयेत् पचेत्, पाकस्य बालुका-
 यन्त्रे एव कर्षय्यः ॥ १२३—१२८ ॥

सन्निपातकृत्तरः—नागं मीषकम् । नेपालं मन्त्रशिला । शुल्बं ताम्रम् । समाग्नेन
 तुल्यमाग्नेन गृहीतमेतत् सर्वम् । आर्द्रेण रसेन आर्द्रकस्य रसेन ॥ १२९।१३० ॥

तक्रभक्तं भवेत् पथं ज्वरमुक्तस्य देहिनः ।

नवज्वरारिरित्येष रसः परमदुर्लभः ॥

घातज्वरे विशेषेण रसः साधारणोऽप्ययम् ॥ १३५ ॥

अथ जलमञ्जरीरसः ।—

टङ्कणं रसगन्धौ च मरिचानि समांशकम् ।

सर्वं जम्बीरनीरेण दिनानि त्रीणि मर्दयेत् ॥ १३६ ॥

संशोथ शर्करायुक्तं मत्स्यपित्तेन भावयेत् ।

भावितं तद्रसं सिद्धमाद्रकस्वरसैस्त्रयम् ॥ १३७ ॥

वज्रत्रयं प्रयुञ्जीत पानार्थं वारि शीतलम् ।

तक्रभक्तं भवेत् पथं वृन्ताकफलसंयुतम् ॥

सर्वान् नवज्वरान् हन्ति रसोऽयं जलमञ्जरी ॥ १३८ ॥

पित्तज्वरे ज्वरारिरप्यनुभूतः ।

अथ कान्तरसः ।—

कान्तलोहस्य पत्राणि कण्टवेध्यानि कारयेत् ।

ततः सम्प्रेथ तं कल्पां मर्दयेत्त्रिदिनं पुनः ॥ १३९ ॥

रसतुल्येन मत्स्यस्य पित्तेन पारंभावयेत् ।

सिद्धः कान्तरसो ह्येष प्रयोज्योऽभिनवज्वरे ॥

शृङ्गवेरानुपानेन मात्रया भिषगुत्तमैः ॥ १४० ॥

नवज्वरारो—गौरयेत् छादयेत् । त्रोटिष्कटनमावेण औषधस्यास्य पाकसिद्धि-
निर्देशात् अनुक्तत्वेऽपि बालकायन्त्रे एव पाकां श्रेयः । पर्पटिका इत्यस्यैव नामा-
न्तरम् ॥ १३१—१३५ ॥

जलमञ्जरीरस—शर्करा विषं, सा च सर्वसमा याज्ञा रसेन्द्रसारसंवादात्,
तत्रायमुद्रकमञ्जरीरस इति प्रसिद्धः । मत्स्यपित्तेन भावयेत् इत्यत्र समाह्वनिति शेषः ।
आद्रकस्वरसेन त्रयं वज्रत्रयं प्रयुञ्जीत इत्यन्वयः ॥ १३६—१३८ ॥

कान्तरस—रसतुल्येन समपरिमितेन रसेन उपलक्षितं तं कल्कमित्यर्थः ; एवञ्च
रसकान्तयोः समभागता बोध्या ॥ १३९।१४० ॥

अथ चन्द्रोदयः ।—

रमगन्धौ तथा वङ्गमञ्चकं समभागतः ।

मेलयित्वाऽथ वङ्गेन समं सूतं विमर्दयेत् ॥ १४१ ॥

तत्रैकोक्तस्य गन्धाभ्रे पेय्यं जम्बीरवारिणा ।

सामान्यं पुटमादद्यात् सप्तधा साधितं रसम् ॥ १४२ ॥

कुमार्यां चित्रकेणापि भावयित्वाऽथ सप्तधा ।

गुडेन जीरकेणापि ज्वरे जीर्णे प्रयोजयेत् ॥ १४३ ॥

कासे श्वासे कुमार्यां च त्रिफलाक्वाथयोगतः ।

उन्मादञ्च धनुर्वीतममृताक्वाथयोगतः ॥

इत्येवं रोगतापघ्नो रसश्चन्द्रोदयाह्वयः ॥ १४४ ॥

अथ कौर्ण्यचरारिः ।—

नागं वङ्गं रसं तास्त्रं गन्धकं टङ्कणं तथा ।

सूतं विषञ्च नेपालं हरितालं समं तथा ॥ १४५ ॥

वटक्षीरेण मर्दाथ सर्वं कुर्यान्, गोलकम् ।

तं गोलकं भाण्डमध्ये पाचयेद्दीपवह्निना ॥ १४६ ॥

तं गोलं शीतलं कृत्वा भृङ्गराजेन मर्दयेत् ।

आर्द्रकस्य रसेनापि मर्दयेच्च पुनः पुनः ॥ १४७ ॥

चणप्रमाणवटकान् रसेनाऽऽर्द्रस्य दापयेत् ।

गुञ्जाद्वयप्रमाणेन ज्वरं जीर्णं हरत्यसौ ॥ १४८ ॥

चन्द्रोदये—समभागतः इत्यत्र याह्यमिति शेषः । रसादीनां मिश्रणक्रममाह, मेलयित्वेति ।—आदौ वङ्गेन समं सूतं मेलयित्वा विमर्दयेदिति योजनीयम् । ततः गन्धाभ्रे मेलयित्वा जम्बीरवारिणा पेय्यमित्यन्वयः । ततः सप्तधा सप्तवारं सामान्यं पुटं लघुपुटम् आदद्यात्, प्रतिपुटमेव जम्बीररसेन पेय्यणं कार्यामिति । अनन्तरं पुटमादक्य तं रसं पुनः कुमार्यां चित्रके च प्रत्येकं सप्तधा भावयेत् । अमृताक्वाथेन आमलकक्वाथेन ॥ १४१—१४४ ॥

कौर्ण्यचरारौ—नागं सोसकम् । रसं रसाञ्जनम् । नेपालं सनःशिला । दीपवह्निना प्रदीप्तानलेनैव यथः । पुनः पुनः सप्तवारान् ॥ १४५—१४८ ॥

अथ नवज्वरमुगारिः ।—

हरश्च गन्धकश्चैव कुनटो च समं समम् ।
 मर्द्यं कर्कोटिकायाश्च रसेन विनियोजयेत् ॥ १४९ ॥
 नवज्वरमुगारिः स्याद्वल्लं शर्करया सह ।
 तण्डुलीयरसेनानुपानं शर्करयाऽपि वा ॥
 गुञ्जादयप्रमाणेन ज्वरान् हन्ति नवान् दृठात् ॥ १५० ॥
 इति श्रीवैद्यपतिनिर्दिष्टगुप्तस्य सूत्रार्वाग्न्याचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये
 ज्वरचिकित्सितं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः ।

अथ रक्तपित्तादिचिकित्सनम् ।—

रक्तपित्तस्य निदानसम्प्राप्ती ।—

कटुस्त्वतीक्ष्णलवणोष्णविदाहिरुक्षैः
 पित्तं प्रदुष्टमश्नैरतिसेवितैस्तैः ।
 सन्दूष्य रक्तममुनोभयमार्गवर्त्ति
 निर्यात्यसृक्स्थलयक्तत्प्लिहतोऽतिमात्रम् ॥ १ ॥

नवज्वरमुगारौ—हरः पारदः । कुनटो मनःशिला । कर्कोटिका कर्कोटकं,
 “कॉकरोल” इति भाषा ॥ १४९।१५० ॥

इति रसरत्नसमुच्चयेषोऽध्यायः ॥ १२ ॥

ज्वरे रक्तपित्ते च पित्तस्य अग्न्याभिरितित्वेनावस्थानात् तथा प्रचलज्वरसन्तापेन
 रक्तपित्तप्रवृत्तिदर्शनाच्च परस्परसन्तापसाधर्म्यात् ज्वरचिकित्सानन्तरं रक्तपित्तचिकित्सां
 वक्तुं त्रयोदशाध्यायमारभते ; तत्रादौ निदानं सम्प्राप्तिश्च तस्याह, कटुति ।—
 कटुादिभिरश्नैरतिसेवितैः प्रदुष्टं पित्तं रक्तं सन्दूष्य, तिष्ठतीति शेषः । अमुना

अथ पटोलादियोगः ।—

पटोलमायसं चूर्णं सूतेन्द्रं समचारितम् ।

लोहारिवर्गमङ्गुष्टं रक्तपित्तहरं परम् ॥ २ ॥

अथ रसेन्द्रयोगः ।—

हृषादलानां स्वरसस्य कर्षं रसेन्द्रगुञ्जामधुशर्करायुतम् ।

लिङ्गन् प्रभाते मनुजो निहन्त्याहःखाकरं दारुणरक्तपित्तम् ॥ ३ ॥

अथ ऊर्हपातितपारदादियोगः ।—

पारदं हिङ्गुलकञ्च ऊर्हयन्त्रेण मेनयेत् ।

कुक्कुटाण्डरसं भागं टङ्गणक्षारमेव च ॥ ४ ॥

गन्धकस्य तथा भागं घृतेन परिमर्दयेत् ।

मिश्रं रसं समादाय जीरतोयेन दापयेत् ॥ ५ ॥

पित्तेन सह इत्यर्थः । उभयमार्गवर्तिं नासाक्षिकर्णस्थकपोर्ध्वमार्गैर्भ्यः शैट्ठोनिगुद-
रुपाधोमार्गैर्भ्यश्च प्रवर्त्तनशीलं, रक्तमिति शेषः । असृगिति ।—रक्तबाहिःशिरा-
स्थानयक्ततृणीहाभ्याम् ॥ १ ॥

पटोलादियोगे—पटोलं पटोलपत्रम् । “पटोलम्” इत्यत्र “पल्लेकम्” इति
पाठान्तरं साधु । सूतेन्द्रं पारदभक्ष्यं, रसमिन्द्रमिति यावत् । समचारितं
तुल्यभागेन गृहीतम् । लोहारिवर्गमङ्गुष्टं लोहमारकगणकाद्येन मर्दितम् ; लोहारि-
वर्गश्च—“विफला विवृता दन्ती कटुकौ तालमूलिका । हृददारकहृषीरहृषपत्रक-
चिचकाः ॥ शृङ्गवेरविडङ्गौ च भृङ्गभङ्गातकौषधम् । दाडिमस्य च पुष्याणि शत-
पुष्पो पुनर्नवा ॥ कुठारक्लामकौ कन्दः तन्त्री मेकस्य पर्णिका । इक्षिकर्णपलाशश्च
कुलिशः कैशराजकः ॥ माषः खण्डितकर्णश्च गोत्रिङ्गा लोहमारकः । गिरि-
शान्तनकः प्रोक्तः विफलादिरयं गणः ॥” इति । यथा—लोहारिवर्गमङ्गुष्टं रक्त-
रोधकगणकाद्येन मर्दितं, स च हृषकापामार्गनौलोपलभ्यतावर्थादिकः । माषा
चास्य गुञ्जाचतुष्टयमिता ॥ २ ॥

रसेन्द्रयोगे—हृषादलानां वासापत्राणाम् । रसेन्द्रेति ।—रसेन्द्रगुञ्जा च मधु च
शर्करा च ताभिर्युतं हृषादलानां स्वरसस्य कर्षमित्यन्वयः । रसेन्द्रशब्देनावपि
रसमिन्द्रो वाच्यः ॥ ३ ॥

ऊर्हपातितपारदादियोगे—पारदं हिङ्गुलकञ्च समभागम् । ऊर्हयन्त्रेण ऊर्हपातन-

दिनानि त्रौणि माषञ्च ग्रहणीरक्तदोषजित् ।

ज्वरदाहविनाशञ्च रक्तपित्तविनाशनम् ॥ ६ ॥

अथ चन्द्रकलारसः । —

प्रत्येकं तोलमानेन सूतकं ताम्रभस्मकम् ।

दिनानि त्रौणि गुटिकां कृत्वा चाग्नौ विनिक्षिपेत् ॥ ७ ॥

ततः शुष्कं समादाय पुनरेव च मर्दयेत् ।

समस्तेः समगन्धैश्च कृत्वा कज्जलिकाञ्च तैः ॥ ८ ॥

मुस्ताटाडिमदूर्वाभिः केतकीस्तनवारिभिः ।

सहदेव्याः कुमार्याश्च पर्पटस्यापि वारिणा ॥ ९ ॥

रामशीतलिकातायैः शतावर्या रसेन च ।

भावयित्वा प्रयत्नेन दिवसे दिवसे पृथक् ॥ १० ॥

तिक्तं गुडूचिकासत्त्वं पर्पटोशीरमागधीः ।

शृङ्गाटं सारिवा चैषां समानं सूक्ष्मचूर्णकम् ॥ ११ ॥

द्राक्षादिककषायेण समधा परिभावयेत् ।

ततः पोताश्रयं क्षिप्त्वा वयः कार्याश्चणोपमाः ॥ १२ ॥

अयं चन्द्रकला नाम रसेन्द्रः परिकीर्तितः ।

सर्वपैत्तगदध्वंसी वातपित्तगदापहः ॥ १३ ॥

यन्त्रेण । कुकुटाण्डरसं कुकुटाण्डाभ्यन्तरस्थद्रवांशम् । जीरसीयेन जीरककाष्ठेन । चाटो पारदं हिङ्गुलञ्च समभागं गृहीत्वा ऊर्ध्वपातनयन्त्रेण पातयेत्, तेन एकीभूतं च तस्मिन् सङ्घिङ्गुलपारदे कुकुटाण्डरसादीनामैकैकभागं मेलयेत् । मात्रा च माषमाणा दातव्या ॥ ४—६ ॥

चन्द्रकलारसे—समगन्धैः सूतताम्राभ्यां तुल्यैः गन्धकैः । केतकीस्तनवारिभिः केतक्याः स्तनवत् प्रतीयमानस्य अंशविशेषस्य क्वाथैः केतकीजीरैर्वा । सहदेव्याः बलायाः । रामशीतलिका चारामशीतलिका दाक्षिणात्ये रामशालि इति प्रसिद्धः पत्रशाकविशेषः । तिक्तं पटोलपत्रम् । गुडूचीसत्त्वं गुडूचीसारः । मागधी पिप्पली । शृङ्गाटं “शिङ्गाड़ा” “पानिफल” इति वा ख्यातम् । द्राक्षादिककषायेण

अन्तर्वाह्यमहादाह-विध्वंसनमहाक्षमः ।

ग्रीष्मकाले शरत्काले विशेषेण प्रशस्यते ॥ १४ ॥

कुरुते नाग्निमान्यञ्च महातापज्वरं हरेत् ।

अमं मूर्च्छां हरत्याशु स्त्रीणां रक्तं महाश्रमम् ॥ १५ ॥

ऊर्ध्वाधोरक्तपित्तञ्च रक्तवान्तिं विशेषतः ।

मूलकच्छ्राणि सर्वाणि नाशयेन्नात्र संशयः ॥ १६ ॥

अथ पटोलकादियोगः ।—

सपटोलकहिङ्गूलः सचौद्रो रक्तपित्तनुत् ॥ १७ ॥

अथ नवनीतादियोगः ।—

नवनीतं मिता लाजा द्राक्षया सह भक्षयेत् ॥ १८ ॥

अथ शिरीषः ।—

मस्तके च घृतं दद्याद्रक्तपित्तहरं परम् ॥ १९ ॥

अथ द्राक्षादिकाधेनः ।—

द्राक्षावासायुतं काथं शर्कराभावितं पिबेत् ॥ २० ॥

“द्राक्षामधुकमधुकं गोधक्षाश्मथ्यमारिवाः । सुतामलकझीवेर-पद्मकेशरपद्मकम् ॥
सृणालचन्दनोश्नीर-नीलोत्पलपरुषकम् ॥” इति बाष्पटोलद्राक्षादिकाधेन । पीताग्रथं
जलम् । आदौ पारदं ताम्रं जलेन सम्यग् गोलकं कृत्वा अग्नौ किञ्चित्
प्रतापयेत्, तेन शुष्कीभूतं तमुद्धृत्य तुल्येन गन्धकेन सह कज्जलिका कुर्यात्,
ततः मुक्तादीनां पृथक् पृथक् यथायोग्यं स्वरसेन काथेन वा एकैकं दिनं
भावयेत्, ततः तिकादीनां प्रत्येकं मृतसमं चूर्णं तत्र मिश्रयित्वा
द्राक्षादिकाधेन सप्तधा भावयित्वा च किञ्चित् जलं दत्त्वा चणमात्रं घटीं
कुर्यात् ॥ ७—१६ ॥

पटोलकादियोगे—पटोलं पटोलपत्रचूर्णं हिङ्गुलुसमं सचौद्रं लिङ्गित्, केवलं
हिङ्गुलुसं सचौद्रेण पटोलपत्ररसेन पिबेत् ॥ १७ ॥

नवनीतादियोगे—सर्वं तुल्यम् ॥ १८ ॥

शिरीषे—घृतं पुराणं शतधीतं वा याज्यम् ॥ १९ ॥

द्राक्षादिकाधेन—शर्कराभावितं शर्कराप्रक्षेपयुक्तम् ; “शर्कराभावितं पिबेत्” इत्यत्र
“पिबेच्च शर्करान्वितम्” इति रसरत्नाक्षरीपाठान्तरम् ॥ २० ॥

अथ योगद्वयम् ।—

वासारसं सिताक्षौद्रैर्नाजान् वा शर्करासमान् ।
भक्षयन् रक्तपित्तार्तस्तृष्णादाहज्वरं जयेत् ॥ २१ ॥

अथ सितामृता ।—

धात्रीचूर्णं सितातुल्यं भक्षयेद्रक्तपित्तनुत् ॥ २२ ॥
[इति रक्तपित्तचिकित्सा] ।

अथ कासचिकित्सा ।—

अथ कासस्य निदानादिकम् ।—

दोषाः शोषमनोऽभितापकुपिताः कुर्वन्ति कासं ततः
पित्तं पूतिकफं प्रपीतनयनः पूयोपमं ष्ठीवति ।
शीतोष्णेच्छुरकारणेन बहुभुक्स्निग्धप्रसन्नाननः
पाश्चात्यल्पबलक्षयाकृतिरपि प्रादुर्भवत्यन्यथा ॥ २३ ॥

अथ अर्कादियोगः ।—

मार्कतीक्ष्णोऽभ्रकोऽगस्त्य-कासमर्दवरारसैः ।
मर्दितो वेतसास्त्रेण पिण्डितः कासनाशनः ॥ २४ ॥

अथ रजतयोगः ।—

तारे पिष्टशिलां क्षिप्वा हरितालाञ्चतुर्गुणाम् ।
वासागोक्षुरनाराभ्यां मर्दयेत् प्रहरद्वयम् ॥ २५ ॥

वासारसमित्यादियोगद्वये—धात्रीचूर्णम् आमलकचूर्णम् । “लाजान् वा शर्करासमान्” इत्यत्र “वामा वा शर्करासमा” इति रसरत्नाकरोक्तपाठान्तरम् ॥ २१ ॥

सितामृतायोगः—सर्वं स्पष्टम् ॥ २२ ॥

रक्तपित्ते कासोपद्रवो भवतीति रक्तपित्तान्तरं कासचिकित्सितं वक्तुं प्रक्रमन् आदौ तस्य निदानादिकं सङ्केपतः आह, दोषा इति ।—शोषः धातुक्षय इत्यर्थः । प्रपीतनयनः अतिपीताभवद्युः । शीतोष्णेच्छुरकारणेन शीतोष्णसेवनकारणाभावेऽपि शीतोष्णसेवनाभिन्नाषी ॥ २३ ॥

अर्कादियोगः—अर्कः ताम्रम् । तीक्ष्णः तीक्ष्णलौहम् । अगस्त्यः सुनिर्दहः । पिण्डितः वटीकृतः इत्यर्थः ॥ २४ ॥

प्रस्निन्नो बालुकायन्त्रे गुञ्जाद्वितयसन्धितः ।

कासं त्रिकटुनिर्गुण्डौ-मूलचूर्णयुतो हरत् ॥ २६ ॥

अथ रत्नकरण्डकरसः ।—

भूनागाभ्रकयोः सत्त्वं कान्तहेमाभ्ररूपकम् ।

मुक्ताफलानि रत्नानि ताप्यं वैक्रान्तमेव च ॥ २७ ॥

भस्मीकृतमिदं सर्वं पृथङ्नाशमितं मतम् ।

निष्कमात्रामितं शुद्धं राजावर्त्तरजस्तथा ॥ २८ ॥

एतत् सर्वं समं योज्यं मर्दयित्वाऽस्त्रवेतसैः ।

रुद्धा मूषोटरे कोष्ठ्यां धमेदाकाशदर्शनम् ॥ २९ ॥

शतवारं धमेदेवं मर्दयित्वाऽस्त्रवेतसैः ।

ततः सञ्चूर्णिते चाभ्रिन्मुक्ताभस्म द्विशाणकम् ॥ ३० ॥

मरिचं पञ्चशाणेयं क्षिप्त्वा सम्मर्दयत्नतः ।

रम्ये करण्डके क्षिप्त्वा स्थापयेत्तदनन्तरम् ॥ ३१ ॥

सोऽयं रत्नकरण्डको रसवरो मध्वाज्यसङ्ग्रामणो

हन्याच्छ्वासगदं ज्वरं ग्रहणिकां कासञ्च द्विधामयम् ।

शूलं शोषमहोदरं बहुविधं कुष्ठञ्च हन्याद्वदान्

बन्धो वृष्यकरः प्रदीपनतमः स्वस्थांचितो वेगवान् ॥ ३२ ॥

रत्नतयागे—तारे रोप्ये । पिष्टशिलां चूर्णमनःशिलाम् । अथ तारतालयोः समत्वं मनःशिलायाश्च ताखाद्यातुर्गुण्यं बोद्धव्यम् ॥ २५।२६ ॥

रत्नकरण्डकरसै—भूनागाभ्रकयोः सत्त्वं प्राक्प्रदर्शितविधिना याच्यम् । कान्तं कान्तलोहम् । रूपकं रोप्यम् । रत्नानि सरकतपद्मरागादीनि यथालाभं याच्याणि । ताप्यं स्वर्णमाचिकम् । अस्त्रवेतसैः अस्त्रवेतसकाष्ठैः । अथ बहु-
वचननिर्देशात् बहुकालो मर्दनं कार्यम् । कोष्ठ्यां कोष्ठिकायन्त्रे । आकाश-
दर्शनम् असदृशनं यावत्, यावत् कालं तन्मध्यस्थमभ्रकं किञ्चिदपि परिदृश्यमानं
भवेत् तावद्वमेदित्यर्थः । अथभागे सम्पूर्णतया तत्र मिलिते सति धमननिर्वास-
रिति बोध्यम् । पञ्चशाणेयं पञ्चशाणपरिमाणमित्यर्थः, पञ्चशाणशब्दात् स्वाधे-
योग्यः अनित्यः । रम्ये करण्डके मनीषभाजने । मध्वाज्यसङ्ग्रामणः मध्वाज्याभ्यां

अथ भूताङ्गशरसः ।—

शुद्धसूतस्य भागैकं भागैकं शुद्धगन्धकम् ।
भागत्रयं मृतं ताम्रं मरिचं पञ्चभागिकम् ॥ ३३ ॥
मृताभ्रस्य चतुर्भागं भागमेकं विषं क्षिपेत् ।
भूताङ्गशस्य भागैकं सर्वञ्चान्नेन मर्दयेत् ॥ ३४ ॥
यामं भूताङ्गशो नाम माषैकं वातकामजित् ।
अनुपानं लिहेत् क्षौद्रैर्विभीतकफलत्वचः ॥
पित्तकासारचिश्वासक्षयकासांश्च नाशयेत् ॥ ३५ ॥

अथ बोलबद्धरसः ।—

रसभस्म विषं तुल्यं गन्धकं द्विगुणं मतम् ।
बोलतालकवाङ्गीक-कर्कोटीमाक्षिकं निशा ॥ ३६ ॥
कण्टकारीयवत्तार-लाङ्गलीत्तारसैन्धवम् ।
मधुकसारं सञ्चूर्ण्य सप्ताहञ्चाऽऽर्द्रकद्रवैः ॥ ३७ ॥
गुटिकां बदराकारां श्लेष्मकासापनुत्तये ।
भक्षयेद्बोलबद्धोऽयं रसः सञ्चासपाण्डुजित् ॥ ३८ ॥

अथाग्निरसः ।—

रसगन्धकपिप्पल्यो हरीतक्यक्षवामकम् ।
षड्गुणं चूर्णं बल्लक्याथभावितम् ॥ ३९ ॥
एकविंशतिवाराणि शोषयित्वा विचूर्णयेत् ।
भक्षयेन्मधुना हन्ति कासमग्निरसो ह्ययम् ॥ ४० ॥

सङ्ग्रामणम् अथचारणं यस्य तथाभूतः, सधुप्रताप्या सेवित इत्यर्थः । द्विज्ञामय
द्विकारोऽयम् । स्वस्थोचितः सुप्यशरीरेऽपि प्रयोगार्हः ॥ २७—३२ ॥

भूताङ्गशरसे—भूताङ्गशः मौरसर्षपः । अन्नेन काष्ठिकेन ॥ ३३—३५ ॥

बोलबद्धरसे—रसभस्म रससिन्दूरम् । बोलः गन्धरसः । वाङ्गीकं द्विद्वि,
कर्कोटी कर्कोटकम् । निशा हरिद्रा । लाङ्गली “इशलाङ्गली” इति ख्याता ।
त्तारः चूलिकालवणम् । अथ बोल्लादीनां प्रत्येकमेको भागः यावत् ॥ ३६—३८ ॥

अथ भृङ्गराजयोगः ।—

भृङ्गराजस्य पत्रन्तु चूर्णितं मधुना सह ।

गोलकं धारयेद्वक्त्रे कासविष्टशान्तये ॥ ४१ ॥

अथ अर्कादियोगः ।—

अर्करण्डस्य पत्राणां रसं पीत्वा च कासजित् ॥ ४२ ॥

अथ कासघ्नधूमद्वयम् ।—

दन्तीमूलस्य धूमं वा निर्गुण्डा वा पिबेज्जयेत् ॥ ४३ ॥

अथ स्वयमग्निरसः ।—

त्रिकटु त्रिफला चैला जातीफललवङ्गकम् ।

एतेषां समभागानां समः पूर्व्वरसो भवेत् ॥ ४४ ॥

सञ्चूर्ण्यऽऽलोडयेत् क्षौद्रे भक्ष्यो निष्कद्वयं द्वयम् ।

स्वयमग्निरसो नाम्ना क्षयकासनिवृत्तनः ॥ ४५ ॥

अथ क्षयकासान्तक्री योगः ।—

इन्द्रवारुणिकामूलं भृङ्गीकृष्णातिलैः सह ।

भक्षयेत् क्षयकामार्त्तं निष्कमात्रं प्रशान्तये ॥ ४६ ॥

[इति कासचिकित्सा] ।

अग्निरसः—असं विभीतकम् । षडङ्गुलं चूर्णम् उत्तरोत्तरं भागवृद्धा
गृहीतं चूर्णषट्कं, तथा च रसस्य एकः गन्धकस्य द्वौ पिप्पल्याः त्रयः इरोतक्याः
चत्वारः अक्षय्य पञ्च वासकस्य च षड्भागाः ॥ ३९:४० ॥

भृङ्गराजयोगः—कासविष्टशान्तये कासस्य विष्टम्; कास्यता तच्छान्तये
शुष्ककामशान्तये इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

अर्कादियोगः—अर्कपत्रम् अर्को किञ्चित् प्रताप्य तदसौ रासः ॥ ४२ ॥

कासघ्नधूमः—दन्तीमूलचूर्णं शरावमस्युटस्ये निर्धूमाङ्गारं निषाय सञ्चिदशरावे-
षाच्छाद्य क्षिद्रमूले धूमनलिकाच्च दत्त्वा धूमः पातव्यः, चर्चित्व तत्त्वा वा पातव्यः
इति बोध्यम् । एवं निर्गुण्डा अपि । अग्नेदिप्यत कासमिति शेषः ॥ ४३ ॥

स्वयमग्निरसः—पूर्व्वरसः पूर्व्वोक्तः अग्निरसः, न च समः त्रिकटुदिभिस्तुल्यः, तथा
—अग्निरसो ज्वलिततरसादीनां अक्षुं मिलित्वा त्रिकटुदिसमानं त्रिकटुदेव

अथ श्वासचिकित्सा ।—

अथ श्वासस्य सम्प्राप्तिः ।—

श्लेष्मोपरुद्धगमनः पवनोऽतिदृष्टः

सन्दूषयन्ननु जलान्नवहास्य नाड्योः ।

आमाशयोद्धवमिमं विदधात्युरस्थः

श्वासश्च वक्रगमनो हि शरीरभाजाम् ॥ ४७ ॥

अथ ऊर्ध्वश्वासारिः ।—

इन्द्रवारुणिकामूलं देवदारु कटुत्रयम् ।

शर्करासहितं खादेदूर्ध्वश्वासप्रशान्तये ॥ ४८ ॥

अथ सूर्यावर्त्तरसः ।—

सूतार्धं गन्धकं मर्द्यं यामैकं कन्यकाद्वैः ।

द्वयोः समं ताम्रपत्रं पूर्वकल्केन लेपयेत् ॥ ४९ ॥

प्रत्येकं समभागं गृहीत्वा चौद्रेण मर्दयेत् ; एवञ्च त्रिकट्टादीनां प्रत्येकमेकैकभागः
अग्निमोक्षानां रसादीनां षण्मास प्रत्येकं सार्धैकभागी यावत् ॥ ४४ ४५ ॥

चयकासान्कयोगे—इन्द्रवारुणिका गोरजककटो । भृङ्गी अतिविषा । कृष्णा
पिप्पली । अत इन्द्रवारुणिकादीनां प्रत्येकं समभागः ॥ ४६ ॥

तुल्यनिदानत्वात् प्राणोदानदृष्टिसाधर्म्याच्च कामानन्तरं श्वासचिकित्सितं वक्तुं
चिकित्साया विशिष्टसम्प्राप्तिज्ञानमूलकत्वात् आदौ सम्प्राप्तिमाह, श्लेष्मति ।—

श्लेष्मोपरुद्धगमनः कफावृतमार्गः, अत एव अतिदृष्टः उरस्थः वक्षःश्रितः
पवनः प्राणवायुः, तस्य उरःस्थानत्वात् ; वक्रगमनः प्रतिलोमगामी ऊर्ध्वगामीत्यर्थः,
भवतीति शेषः, अन् पश्चात् जलान्नवहाः नाड्योः उदकवाहिन्यः अन्नवाहिन्यश्च शिराः
सन्दूषयन् श्वासं विदधाति । शरीरभाजां देहिनाम् इमं श्वासम् आमाशयोद्धवम्
आमाशयसमुद्भूतं, जानीयादिति शेषः ॥ ४७ ॥

ऊर्ध्वश्वासारियोगे—शर्करासहितं शर्कराप्रक्षेपयुक्तम् ; तेन च क्वाथेनायं योगो
बोध्यः ॥ ४८ ॥

सूर्यावर्त्तरसे—सूतः अर्द्धो यत्र तादृशं गन्धकं, तेन सूतस्य एको भागः
गन्धकस्य च भागद्वयम् ; अथवा—सूतार्धे सूतः अर्धे समांशः यत्र तादृशम् ; “अर्धं
समेऽंशके” इत्यनुरः ; तेन सूतगन्धकयोः समभागः, न तु सूतस्य अर्धं गन्धकं,

दिनेकं हृण्डिकायन्त्रे पक्वमादाय चूर्णयेत् ।

सूर्यावर्त्तरसो ह्येष द्विगुञ्जः श्वासजिह्वेत् ॥ ५० ॥

अथ सौगन्धिकयोगः ।—

गन्धकं मरिचं साज्यं पिबेच्छ्वासकफापहम् ॥ ५१ ॥

अथ शिलादिचूर्णम् ।—

शिला हिङ्गु विडङ्गश्च मरिचं कुष्ठमैन्धवम् ।

मध्वाज्याभ्यां लिहेत् कर्षं श्वासकासकफापहम् ॥ ५२ ॥

अथ सूतपञ्चकम् ।—

सूतः षोडश तत्समो दिनकरस्तस्यार्द्धभागो बलिः

मिन्धुस्तस्य समः सुसूक्ष्ममृदितः षट् पिप्पलीचूर्णितः ।

जम्बोरस्वरसेन मर्दितमिदं तप्तं सुपर्कं भवेत्

कासश्वासकगुल्मशूलजठरं पाण्डुं लिहन्नाशयेत् ॥ ५३ ॥

अथ श्वासारिवटकः ।—

साधारणन्तु वटकं वक्ष्यामि शृणु तत्त्वतः ।

पारदं गन्धकञ्चैव पलमेकं पृथक् पृथक् ॥ ५४ ॥

पलत्रयं त्रिकटुकं वङ्गमेकपलं क्षिपेत् ।

सर्वमेकत्र संयोज्य दिनानि त्रीणि मर्दयेत् ॥ ५५ ॥

तन्नालरसवादान्, तथा च रसेन्द्रसारसङ्ग्रहे—“गन्धकं सूतकं मर्त्यं यामैकं कन्धकाद्रवेः” इति । पूर्वकल्केन रसगन्धककल्केन । हृण्डिकायन्त्रे स्थालीयन्त्रे ; तल्लक्षणं यन्त्राध्याये अनुसन्धेयम् ॥ ४८।५० ॥

सौगन्धिकयोगे—साज्यं सष्टतम ॥ ५१ ॥

शिलादिचूर्णं—शिला शिलाजतु ॥ ५२ ॥

सूतपञ्चके—तत्समः सूतसमः दिनकरः तासम् । तस्यार्द्धभागो बलिः ; तस्य मिन्धुस्तत्समतासस्य अर्द्धभागः गन्धकः, तेन सूततासगन्धकानां प्रत्येकं समभागः ; यद्वा—“अर्द्धे समेऽंशके” इत्यमरवचनात् अर्द्धभागः समभागः । षट्पिप्पलीचूर्णितः पिप्पलीचूर्णस्य षड्भागः । तप्तम् अग्निसंयोगेन किञ्चिदुत्पलीकृतम् । सुपर्कं सुनिष्पन्नमित्यर्थः ॥ ५३ ॥

मूत्रेण च तथा त्रीणि दिनानि परिमर्दयेत् ।

अक्षप्रमाणवटकं छायाशुष्कान्तु कारयेत् ॥ ५६ ॥

नित्यमेकान्तु वटकं दिनानि त्रिंशदेव च ।

श्वासकासज्वरहरमग्निमान्यासचिप्रणुत् ॥ ५७ ॥

अथ भागीश्वरगुटिका ।—

रसभागो भवेदेको गन्धको द्विगुणो मतः ।

त्रिभागा पिप्पली ग्राह्या चतुर्भागा हरीतकी ॥ ५८ ॥

विभीतः पञ्चभागस्तु वासा षड्गुणिता भवेत् ।

भाङ्गी सप्तगुणा ग्राह्या सर्वं चूर्णं प्रकल्पयेत् ॥ ५९ ॥

बब्बलकाथमादाय भावयेदेकविंशतिः ।

विभीतकप्रमाणेन मधुना गुटिकां चरेत् ॥

एकैकां भक्षयेत् प्रातः श्वासकासनिवृत्तये ॥ ६० ॥

अथ नीलकण्ठः ।—

सूतं शूलं सुलोहं बालिममृतयुतं त्रिविकं रेणुकाब्दं

गण्डीरं केशराग्निं द्विगुणगुडयुतं मर्दयित्वा समस्तम् ।

कुर्व्यात् कोलास्थिमात्रान् सुरुचिरवटकान् भक्षयेत् प्राग्दिनादौ

पथ्याग्नी सर्वरोगान् हरति च नितरां नीलकण्ठाभिधानः ॥ ६१ ॥

अथ श्वासकासकरिकेशरी रसः ।—

तारताम्ररसपिष्टिकाशिला-गन्धतालसमभागिकं रसेः ।

आटरूपसुरमार्द्रसम्भवैर्मदेय प्रकुरु गोमूत्रं ततः ॥ ६२ ॥

श्वासारिवटकी—पलवयं विकटुकमिति मिलित्वा । मूत्रेण गोमूत्रेण ॥ ५४—५७ ॥

भागीश्वरगुटिकायां—भाङ्गी ब्रह्मशृङ्गिका ॥ ५८—६० ॥

नीलकण्ठे—शूलं ताम्रम् । सुलोहं काललोहम् । बालिं गन्धकम् । अमृतं विषम् । त्रिविकं चिकटु विफला विमदयेति विकटवयम् । गण्डीरं शमठम् । केशराग्निं नागकेशरं चिकटश्च । द्विगुणगुडयुतमिति एकभागापेक्षया द्विगुणो गुडः ॥ ६१ ॥

श्वासकासकरिकेशरीरसे—तारं रौप्यम् । रसपिष्टिका “अर्कोऽनुलयात् रस-
ताप्यगन्धात्” इत्यादिना अष्टमाध्याये उक्ताः पारिभाषिकरसविशेषः । शिला

मृत्स्नया च परिवेष्ट्य गोलकं यामयुग्ममथ भूधरे पचेत् ।
 गन्धकेन कुरु तत्समं ततश्चाऽऽटरुषकटुकैश्च भावयेत् ॥ ६३ ॥
 श्वासकासकरिकेशरो रसो वल्लभस्य परिसेवयेद्बुधः ॥ ६४ ॥

अथ सूर्यरसः ।—

रसगन्धकताम्राभ्रं कणाशुशुषणं समम् ।

भूतमेकं विषञ्चैकं सूर्यः कासादिनाशनः ॥ ६५ ॥

[इति श्वासचिकित्सा] ।

अथ हिक्काचिकित्सा ।—

अथ भागीश्वररसः ।—

रसगन्धकधान्याभ्र-तालताप्योपलं क्रमात् ।

भागवद् वचाकुष्ठ-हरिद्राक्षारचितकैः ॥ ६६ ॥

सपाठालाङ्गलीव्योष-सैन्धवाक्षविषैः समम् ।

भावितं भृङ्गनीरेण हिक्कावैस्वर्यकासनुत् ॥ ६७ ॥

अथ कज्जलयोगः ।—

पक्वताम्रे रसः पिष्टो बलिना हिक्षिणां हितः ॥ ६८ ॥

सनःशिला । आटरुषः वासकः । सुरमा तुलसी । “गन्धकेन” इत्येव “गोलकेन” इति पाठे—तदयत्न गोलकेन समं तुल्यं गोलाकारमित्यर्थः । तारादिकं समभागम् आटरुषादीनां रमेर्मर्दयित्वा गोलकं कारयेत्, ततस्तत्त मूषायां संस्थाप्य सत्तिकया परिवेष्ट्य च भूधरे यत्ने प्रहरद्वयं पचेत्, ततश्च बद्धिर्निःस्राव्य गन्धकेन एकभागेन समं मिश्रयित्वा वासारसेन त्रिकटुकाद्येन च समकृत्य भावयेत् ॥ ६२—६४ ॥

सूर्यरसे—ऊषणं भरिचम् । मृतं मुक्तकम् । विषम् अमृतम् । सूर्यः सूर्योऽस इत्यर्थः ॥ ६५ ॥

तुल्यनिदानचिकित्सितत्वात् श्वासानन्तरं हिक्काचिकित्सितं विवक्ष्य भागीश्वररस-
 नाह, रसिति ।—उपलं शिला, सनःशिलेति यावत् । रसादीन्युपलान्ता-
 न्यसरोत्तरम्, एकैकभागवद्भाषायां । वचादीनां प्रत्येकमेकभागतुल्यता ।
 अचं सौवर्जलम् ; सैन्धवसाहचर्यात् ॥ ६६।६७ ॥

कज्जलयोगे—पक्वतामे नेपालदेशजताम्रपात्रे ; शीघ्रत्वघ्नघातक्षमत्वादिगुण-
 युक्त्वात् तस्य पक्वत्वं बोद्धव्यम् । बलिना गन्धकेन । हिक्षिणां हिक्किणाम् ॥ ६८ ॥

अथ शिलापुत्रसः ।—

चूर्णं पाठेन्द्रवारुण्योर्भाण्डे दत्त्वाऽथ कूनटीम् ।
तत्पृष्ठे शुद्धसूतन्तु कुनट्यंशं प्रदापयेत् ॥ ६८ ॥
सूताङ्गं कुनटीचूर्णं तस्याङ्गं पूर्वमूलिका ।
चूर्णं दत्त्वा पचेच्चूल्यां यामाष्टं सृदुवङ्किना ॥
शिलापूतो रसो नाम हन्ति द्विकां त्रिगुञ्जकः ॥ ७० ॥

अथ रास्नादिचौरसः ।—

क्वाथं रास्नाबृहत्पुष्प-बलादुग्धैश्च पाययेत् ॥ ७१ ॥

अथ द्विकान्नधूमः ।—

द्विकान्नं पाययेद्धूमं पत्रैः शिखिनिशोद्धवैः ॥ ७२ ॥

[इति द्विकाचिकित्सा] ।

अथ कासश्वासद्विक्रास्वरभेदचिकित्सा ।—

अथ पर्पटीरसः ।—

रसं द्विगुणगन्धेन मर्दयित्वा सभृङ्गकम् ।
लोहपात्रे घृताभ्यक्ते द्रावितं बदराग्निना ॥ ७३ ॥
ऊर्द्धाधो गोमयं दत्त्वा कदल्याः कोमले दले ।
स्निग्धे पटे ह्यथोदर्या पर्पटाकारतां नयेत् ॥ ७४ ॥
लोहपात्रे विनिक्षिप्ता लोहपर्पटिका भवेत् ।
ताम्रपात्रे विनिक्षिप्ता ताम्रपर्पटिका भवेत् ॥ ७५ ॥

शिलापुत्रसः—कुनटी मनःशिला । पूर्वमूलिका पाठेन्द्रवारुण्योर्मूलम् । भाण्डमध्ये पाठेन्द्रवारुण्योर्मूलचूर्णे सूतमसं संस्थाप्य तदुपरि मनःशिलाचूर्णे तत्समं दापयेत्, ततश्च मनःशिलासमं शुद्धसूतं तदुपरि बिम्बस्य सूताङ्गेन मनःशिलाचूर्णेन कृदयित्वा च पाठादि-चूर्णे कुनट्यङ्गं दत्त्वा भाण्डमुखं निरुध्य च सृदुग्निना दिनमेकं साधयेत् ॥ ६८।७० ॥

रास्नादिचौरः—अग्निः चिवकः । क्षीरपाकयोगोऽयम् ; तेन रास्नादीनां बलान्तानां निहित्वा दुग्धादृष्टमांशं गृहीत्वा क्षीरपाकविधिना पक्ता च पाययेत् इति ॥ ७१ ॥

द्विकान्नधूमे—शिखी चिवकः । निशा हरिद्रा ॥ ७२ ॥

पर्पटीरसे—सभृङ्गकं भृङ्गराजरससहितम् । बदराग्निना बदरकाष्ठाकारेण ।

विषपादञ्च युञ्जीत तत्साध्येष्वामयेषु च ।

सुरसाया जयन्त्याश्च कन्यकाटकरूपयोः ॥ ७६ ॥

त्रिफलाया मुनेर्भाङ्गी मुण्डास्तिकटुचित्रयोः ।

भृङ्गराजस्य वङ्गेश प्रत्यहं द्रवभावितम् ॥ ७७ ॥

आर्द्रकस्य रसेनापि सप्तधा भावयेत् पुनः ।

अङ्गारैः स्वेदयेद्दीपत् पर्पटीरसमुत्तमम् ॥ ७८ ॥

गुञ्जाष्टकं ददीतास्य ताम्बूलीपत्रसंयुतम् ।

पिप्पलीदशकैः क्वाथं निर्गुण्डाश्चानुपाययेत् ॥ ७९ ॥

त्रिकण्टकस्य मूलानि शुण्ठीं सङ्गृह्य निक्षिपेत् ।

अजाक्षोरे सनीराई यावत् क्षीरं विपाचयेत् ॥ ८० ॥

तत् क्षीरं पाययेद्वात्री मकरां भोजनेऽपि च ।

कुष्माण्डं वर्जयेच्चिञ्चं वृन्ताकं कर्कटोमपि ॥ ८१ ॥

आरनालञ्च तैलञ्च संसर्गञ्च विवर्जयेत् ।

मामत्रयञ्च सेवेत कामश्वासनिवृत्तये ॥ ८२ ॥

म हिङ्गुजोरकव्योषैः शमयेत् ग्रहणीं रसः ।

दशमूलान्भसा वात-ज्वरं त्रिकटुना कफम् ॥ ८३ ॥

ज्वरं मधुकसारिण पञ्चकोलेन सर्वजम् ।

यक्ष्माणं मधुपिप्पल्या गोमूत्रेण गुदाङ्कुरान् ॥ ८४ ॥

शूनमेरुण्डतैलेन पाण्डुरोषं सगुग्गुलुः ।

कुष्ठानि भृङ्गभक्ष्मात-वाकुचीपञ्चनिम्बकैः ॥ ८५ ॥

धत्तूरबीजसंयोगात् महोन्मादविनाशनी ।

अपस्मारं निहन्त्याशु व्योषनिम्बुदलैः सह ॥ ८६ ॥

विषपादं दातव्यपर्पटीमात्रामपेक्ष्य विषस्य पादांशम् । तत्साध्येषु आमयेषु

विषमाज्येषु रोगेषु । सुरसायाः तुलस्याः । मुनेः वकपुष्पस्य । मुण्डाः मुण्डियाः ।

वङ्गैः भक्ष्मातकस्य । त्रिकण्टकस्य गोक्षुरकस्य । पञ्चकोलेन सर्वजं पञ्चकोल-

क्वाथानुपानेन विदीपजं ज्वरं शमयेत् । गुदाङ्कुरान् अशंसि । वाकुची सोम-

स्तनम्वयशिशूनान्तु नितरां पर्पटी हिता ।

पथ्याक्षचूर्णादिवशात् व्याधीश्चान्यान् मुदुस्तरान् ॥ ८७ ॥

सजातीफलशीतोदं योजयेत् पर्पटीरमम् ।

पित्ताजीर्णे शिरश्चास्य शीततोयेन सेचयेत् ॥ ८८ ॥

अथ कफरोगे क्रियासूत्रम् ।—

मस्यं निष्ठीवनं धूमं तीक्ष्णं वमनरेचनम् ।

अन्नं रुक्षाल्पतीक्ष्णोष्णं कटुतिक्तकषायकम् ॥

चिरकालस्थितं मद्यं योजयेत् कफरोगिणे ॥ ८९ ॥

अथ मन्थानभैरवः ।—

मृतसूतं मृतं ताम्रं हिङ्गु पुष्करमूलकम् ।

सैन्धवं गन्धकं तालं कटुकं चूर्णयेत् समान् ॥ ९० ॥

राजी । पञ्चनिम्बकोः निम्बस्य त्वक्पत्रपृष्ठाफलमूलरूपपञ्चभिर्भङ्गैः । कान्तस्य शिशूनां क्षन्धपत्रालानाम् । सजातीफलशीतोदं जातीफलस्य शीतकषायेण सह । अथमर्थः,—दिगुणगन्धेन सह रसं सम्यक् कञ्जलीं कुर्यात्, ततो भङ्गराजरेण मर्दयित्वा वाटरवङ्गिस्थे घृताक्ते लौहपात्रे तां निधाय द्रावयेत् । कदलीपत्रस्य कर्तमधय आर्द्रगोमयपिण्डं संस्थाप्य पिण्डोपरि घृताक्तं वसनखण्डं दापयेत्, ततो द्रवीभूता तां बस्त्रापरि पातयित्वा लौहद्व्यां संपौष्य पर्पटाकारता नयेत् । विषसाध्येषु ज्वरातीसारादिषु पर्पटीभागमपेक्ष्य पादकविषेण संयोज्य, अन्यत्र च केवलासैव तां सुरसादिभिर्कैकदिनम् आर्द्रकस्वरसेन च सप्ताहं भावयित्वा निर्धमा-
ज्जाराग्रौ किञ्चित् प्रताप्य च स्थापयेत् । कासे श्वासे च पर्णेन सह पाथयित्वा सर्पिण्यलौदशकायाः निर्गुण्डाः मिलित्वा कर्षमाणयाः काथमनुपाययेत् । रात्रौ च द्विकण्टकमूलगुण्ठीकल्काभ्याम् चर्द्धिकमजाक्षीरं क्षीरशेषं पक्त्वा पिप्पलीचूर्णं प्रक्षिप्य पाथयेत्, एवं भोजनकालेऽपि । कुभाण्डादिकञ्च निरामयं यावत् वर्जयेत् । ताम्रभाजने पक्त्वा ताम्रद्व्यां च पीडिता इयमेव ताम्रपर्पटिका भवेत् ॥ ७३—८८ ॥

कफरोगे क्रियासूत्रमाह, नस्यमिति ।—चिरकालस्थितं मद्यं पुरातनं मरा-
सवादिकं, “पुराणाः स्युर्मुषैर्युक्ता आसवा घातवो रसाः” इत्युक्तेः पुरातनस्यैव तस्य गुणवत्त्वात् ॥ ८९ ॥

मन्थानभैरवरसे—मृतसूतं रससिन्दूरम् । कटुकं त्रिकटु । पुष्करमूलाभादे सर्वत्र

देवदालीपुनर्मव्योर्निर्गुण्डीमघनाटयोः ।

तिक्तकोशातकीद्रावेदिनैकं मर्दयेद्दृढम् ॥ ८१ ॥

माषमात्रं लिहेत् क्षौद्रे रसं मत्थानभैरवम् ।

कफरोगप्रशान्त्यर्थे निम्बकाथं पिबेदनु ॥ ८२ ॥

अथ गन्धपाषाणयोगः ।—

कर्षेकं गन्धकं शुद्धं घृतेक्षोणीदकैः पिबेत् ।

कफं हन्ति—”

अथ कफे भेषजविशेषनिर्देशः ।—

“—अथवा क्षौद्रेः पञ्चवक्तरसः खलु ॥ ८३ ॥

अथ विश्वादिबटिका ।—

विश्वादित्रिक-निर्गतद्रवनिशा-कीरप्रियोत्थं दलं

नीलग्रीवगलालयं सुरपतेस्तार्त्तयिनेवाभिधम् ।

विद्वत्पञ्चवती क्षमिप्रतिभटं निर्गुण्डिकावारिणा

तुल्यांशाश्चणकप्रमाणवटिकाः सखासकासापहाः ॥ ८४ ॥

[इति कासश्वासहिक्कास्वरभेदचिकित्सा] ।

इति श्रीवैद्यपतिभिर्द्वयस्य मनीषांश्चैव आचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये रक्तपित्त-

कामश्वासहिक्कावैस्वर्यचिकित्सितं नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

कुष्ठं याज्यम् । देवदाली इक्षुघोषकः । मेघनाटः तण्डुलीयः । तिक्तकोशातकी

तिक्तवीषा । देवदाल्यादीनां रसेन एकैकदिनं मर्दनं कार्यम् ॥ ८०-८२ ॥

गन्धपाषाणयोगे—घृतेक्षोण्दकाभ्यां शुद्धगन्धकर्षे पिबेत् । कफरोगे भेषजविशेषं निर्दिशति, अथवेति ।—पञ्चवक्तरसः ज्वराधिकारोक्तः शास्त्रः ॥ ८३ ॥

विश्वादिबटिकायां—विश्वादित्रिकं त्रिकटु । निर्गतद्रवनिशा निर्गतद्रवा उत्स्वेदनेन द्रवांशपरिष्कीना हरिद्रा । कीरप्रियोत्थं दलं कीरप्रियः कीरेष्टः निम्बवृक्ष इत्यर्थः, तत्पत्रम् । नीलेति ।—नीलग्रीवस्य नीलकण्ठस्य हरस्य गले कण्ठदेशे आलयो यस्य तादृशं विषमिवर्णः । सुरपतेरिति ।—सुरपतेः हरस्य, तृतीयनेत्रसाङ्गचर्यात् सुरपतिशब्दस्यान्ये हरार्थता एव बोद्धव्या, तार्त्तयिनेनं ललाटस्थतृतीयचक्षुरेव अभिधा यस्य तं वज्रमित्यर्थः, चिबकमिति यावत् । विद्वति ।—विद्वता वैद्यानां

अथ चतुर्दशोऽध्यायः ।

अथ राजयक्षादिचिकित्सनम् ।

अथ राजयक्षलक्षणम् ।—

अग्निमान्द्यं ज्वरं शैत्यं वान्तिः शोणितपूययोः ।

सत्त्वहानिश्च दीर्घत्वं रोगराजस्य लक्षणम् ॥ १ ॥

अथ कनकमुन्दरः ।—

रसस्य तुल्यभागेन हेमभस्म प्रकल्पयेत् ।

तालकं गन्धकं तुल्यं मात्तिकं रसकं शिलाम् ॥ २ ॥

रससाम्येन युञ्जीत तुल्यं भस्मोक्तं न्यसेत् ।

वज्रौ भस्मोक्तश्चैव मयूरकसुतुल्यकम् ॥ ३ ॥

किञ्चिद्वृङ्कणकं दत्त्वा मार्जारस्य विशा युतम् ।

प्रथमं पुटयेद्दध्ना द्वितीयं मधुना सह ॥ ४ ॥

पुत्रः समुहः अथ चक्षीति मा विद्वत्पुत्रवती वासा तस्या वैद्यमावृत्वात् । किमि-
प्रतिभटं किमिशतं, विडङ्गमित्यर्थः ॥ ६४ ॥

इति रसरवसमुच्चयबोधिन्यां तथोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

यक्षरूपेषु कासस्वरभेदरक्तागमादिदर्शनात् रक्तपित्तेऽपि तत्तल्लक्षणसङ्गावेन
उभयोः साम्यात् तथा द्रुपश्चरितरक्तपित्तात् यक्षोत्पत्तिमन्वावनया च रक्तपित्तादि-
चिकित्सितानन्तरं राजयक्षादिचिकित्सितं बह्वं चतुर्दशाध्यायमारभते ; तत्रादौ
यक्षणी लक्षणमाह, अग्निमान्द्यमिति ।—सत्त्वहानिः स्वभावत्रिपर्ययः । रोगराजस्य
राजयक्षयः । कश्चित् एतच्छ्लोकानन्तरं “पञ्चामृतसः । रसस्य भस्मना युक्तं लोहं
क्षणाभकं मृतम् । शिलाजतृक्केशोरं समभागश्च कल्पयेत् ॥ एष पञ्चामृतो नाम
रोगराजनिहन्तः । पिप्पलीमधुसर्पिर्भिः प्रयोज्यो भिषगा हुतम् ॥” इत्यधिकः
पाठः ॥ १ ॥

कनकमुन्दरे—“रसस्य तुल्यभागेन” इत्यत्र “रसस्य तुल्यभागेन” इति रसेन्द्रसारे
पाठः । रसकं खर्परम् । शिलां मनःशिलाम् । रससाम्येन युञ्जीत इति छेदः,
तेन तालकादीनां प्रत्येकं रससमत्वम् । तुल्यादीनां विशेषशोधनमाह, तुल्यं

तालकं शोधयेदये कुष्माण्डक्षीरपाचनात् ।

तैले पचेत्ततः सम्यक् चूर्णं वा परिशोधयेत् ॥ ५ ॥

गन्धकं शोधयेद्गन्धं रसकं नरवारिणा ।

मात्तिकं सिन्धुमंयुक्तं वीजपूररसे पचेत् ॥ ६ ॥

जयन्तीद्रवसम्पिष्टां शिलां तत्रैव पाचयेत् ।

एकीकृत्य ततः सर्वमर्कक्षीरेण मर्दयेत् ॥ ७ ॥

जयन्तीभृङ्गराजाभ्यां वामापाठाकृशानुभिः ।

अगस्तिनाङ्गुलीभ्याञ्च प्रत्येकं दिवसं शनैः ॥ ८ ॥

ततस्तु गोलकं बद्ध्वा पचेत् पूर्ववदाहृतः ।

चूर्णयित्वा ततः सम्यक् भावयेदाट्टकाब्जना ॥ ९ ॥

सप्तधा व्योषनिर्यासै रसः कनकसुन्दरः ।

गुञ्जाद्वयं त्रयं वाऽस्य राजयक्ष्मापनुत्तये ॥ १० ॥

मधुना पिप्पलीभिश्च मरिचैर्वा घृतान्वितैः ।

लेहयेद्गोगिणं वैद्यो वयोबलविशेषवित् ॥ ११ ॥

जयपालरजोभिर्वा शुण्ठ्या गन्धघृताक्तया ।

दटौत शूलिर्न प्राज्ञा गुल्मिने च विशेषतः ॥ १२ ॥

कादिवर्ज्यं चरेत् पथ्यं हृद्यं बल्यञ्च पूर्ववत् ।

सन्निपाते दटौतैर्नमार्द्रकद्रवसंयुतम् ॥

गुडूचीत्रिफलाक्तायैः संस्कृतो गुग्गुलुर्वरः ॥ १३ ॥

प्रसिद्धमिति ।—मयूरकसुतलकं मयूरवीर्याभं तुल्यकम् । मार्जारस्य विशा
विडालपुरीषेण, मयूरवीर्याभं तुल्यं तुल्येन विडालपुरीषेण टङ्कणपादेन च सह
मिश्रयित्वा दध्ना सह सम्प्रथं प्रथमपटं दद्यात्, ततः पुनश्च ताभ्यां सह सत्रोय मधुना
सम्प्रथं द्वितीयपटं दद्यात् । हरितालशोधनमाह, तालकमिति ।—कुष्माण्डक्षीर-
पाचनात् कुष्माण्डसलिले पाकात् ; “क्षीरक्षीरान्धुशम्बरम्” इत्यमरः । तैले तिल-
तैले । चूर्णं चूर्णोदके, वा-शब्दोऽव अथर्थे, चूर्णोदकेऽपीत्यर्थः ; तालकं
कुष्माण्डसलिलादिषु दीलायन्ते यामं पाचयेत् । नरवारिणा नरमूत्रेण खर्परं
सप्ताहं त्रिदिनं वा भावयित्वा याज्यम् । तत्रैव जयन्तीद्रवे एव । कृशानुः

अथ राजसृगाङ्गः ।—

रसभस्म त्रयो भागा भागैकं हेमभस्मकम् ।
 मृतताम्रस्य भागैकं शिलागन्धकतालकम् ॥ १४ ॥
 प्रतिभागद्वयं शुद्धमेकीकृत्य विचूर्णयेत् ।
 वराटान् पूरयेत्तेन अजाक्षीरेण टङ्कणम् ॥ १५ ॥
 पिष्ट्वा तेन मुखं रुद्ध्वा मृद्भाण्डे तान्निरोधयेत् ।
 शुद्धं गजपुटे पञ्चाञ्चूर्णयेत् स्वाङ्गशीतलम् ॥ १६ ॥
 रसो राजसृगाङ्गोऽयं चतुर्गुणः क्षयापहः ।
 दशपिप्पलिकाक्षौद्रैर्मरिचैकोनविंशतिः ॥
 सप्तैर्दापयेद्वाऽथ रोगराजप्रशान्तये ॥ १७ ॥

अथ शङ्खेश्वरः ।—

शङ्खस्य वलयाभिष्कं चतुर्निष्कं वराटकम् ।
 निष्काङ्गं नीलतुल्यस्य सर्वतुल्यन्तु गन्धकम् ॥ १८ ॥
 गन्धतुल्यं मृतं नागं नागतुल्यं मृतं रसम् ।
 टङ्कणं मृततुल्यं स्यान्मये पाच्यं मृगाङ्गवत् ॥
 राजयक्ष्महरः सोऽयं नाम्ना शङ्खेश्वरो मतः ॥ १९ ॥

चिबुकः । अगतिः वकप्रपङ्कजः, तस्य पत्रं याज्ञम । लाङ्गुली “ईशलाङ्गुली” इति
 ख्याता । गुडुचीति ।—गुडुचीविफलाकाशे दीलायन्ते शुद्धः गुग्गुलुरस्मिन् प्रयोगे
 द्रितः ॥ २—१२ ॥

राजसृगाङ्गः—रसभस्म रससिन्दूरम् ॥ १४—१७ ॥

शङ्खेश्वरः—शङ्खस्य वलयात् वलयाकारशङ्कात् शङ्खस्य मुखदेशादित्यर्थः,
 तस्य आवर्तमयत्वेन वलयाकारतया परिदृश्यमानत्वात् ; “अकिर सुटी”
 इति भाषा । निष्कं शाण्डः । नीलतुल्यस्य मयूरकण्ठाभतुल्यस्य । टङ्कणं
 मृततुल्यं मृतरसतुल्यमित्यर्थः ; “मृततुल्यम्” इत्ययं “रसतुल्यम्”
 इति पाठकल्पना साध्या । गन्धकानिटङ्कणालानां चतुर्णां समभागो
 षोडशः ॥ १८।१९ ॥

अथ मृगाङ्गपोटनी ।—

शङ्खनाभि गवां क्षीरैः पेषयेन्निष्कषोडश ।
तेन मूषा प्रकर्त्तव्या तन्मध्ये भस्मसूतकम् ॥ २० ॥
निष्काङ्गं गन्धकाक्षीणि चूर्णीकृत्य विनिक्षिपेत् ।
रुद्ध्वा तद्दृष्टयेदस्त्रे मृत्तिकां लेपयेद्दहिः ॥ २१ ॥
शीघ्रं गजपुटे पच्यान्मूषया सह चूर्णयेत् ।
गुञ्जैकमनुपानेन क्षयं हन्ति मृगाङ्गवत् ॥ २२ ॥

अथ मातुलङ्गादियोगः ।—

मातुलङ्गस्य मूलानि लाजचूर्णं ससैन्धवम् ।
पिप्पलीमधुना युक्तं खादेद्द्वान्तिप्रशान्तये ॥ २३ ॥

अथ रजन्त्यादियोगः ।—

रजनीशङ्खपूगञ्च निष्कैकं वान्तिनाशनम् ॥ २४ ॥

अथ सौभाग्ययोगः ।—

निष्काङ्गं टङ्गणं वाऽथ काकमाचीद्रवैः पिबेत् ॥ २५ ॥

अथ सुगन्धादियोगः ।—

सुगन्धां वा पिबेत् खादेत् सर्ववान्तिप्रशान्तये ॥ २६ ॥

मृगाङ्गपोटन्या—निष्कषोडश अष्टतोलकम् । गन्धकात् दोषि निष्काणि ।
मूषया सह चूर्णयेदिति शङ्खनाभिर्कृतमूषया सहेव औषधं चूर्णयेत् । मृगाङ्गवदनु-
पानेन इति राजन्त्याङ्गस्य यदनपानमुक्तं, तेनैवानुपानेन ॥ २०—२२ ॥

यन्मणि कासवेगेन वान्तिर्भायते रक्तवान्तिश्च भवेत्, अतः तत्प्रशमनायै
कतिपयान् योगान् उपदिदिच्छुरादौ मातुलङ्गादियोगमाह, मातुलङ्गस्येति ।—
मातुलङ्गमूलानां चूर्णे पत्येकं समभागं गृहीत्वा मधुना सह लिङ्घ्यात् ॥ २३ ॥

रजन्त्यादियोग—रजनी हरिद्रा । शङ्खं शङ्खभण्ड । पूगं गुवाकः, रजन्त्यादितयाणां
सिलित्वा निष्कैकम् ॥ २४ ॥

सौभाग्ययोगः—शब्दः पूर्वयोगापेक्षया बोध्यः ॥ २५ ॥

सुगन्धादियोगः—सुगन्धा सुगन्धतत्त्वसौभेदः । पिबेत् खादेत् इति सुगन्धाया
रसं पिबेत् पत्यं वा खादेत् ॥ २६ ॥

अथ रक्तवान्तिहरौ योगः ।—

अलक्तकरसं क्षौट्रे रक्तवान्तिहरं पिबेत् ॥ २७ ॥

अथ मृगाङ्गपोटलीरसः ।—

दिनिष्कं भस्मसूतस्य निष्कैकं स्वर्णभस्मकम् ।
शुद्धगन्धकनिष्कौ द्वौ चूर्णित्वा चित्रकद्रवैः ॥ २८ ॥
द्वियामान्ते विशोष्याथ तेन पूर्या वराटिकाः ।
वराटान् मृन्मये भाण्डे रुद्ध्वा गजपुटे पचेत् ॥ २९ ॥
स्त्राङ्गशीतं विचूर्ण्यथ पोटलीं हेमगर्भिताम् ।
मृगाङ्गवच्चतुर्गुञ्जं भक्षितं राजयक्ष्मनुत् ॥ ३० ॥

अथ यक्ष्माणि औषधविशेषसंज्ञोपदेशः ।—

स्वयमग्निरसं खादेत्त्रिनिष्कं राजयक्ष्मनुत् ॥ ३१ ॥

अथ पञ्चामृतरसः ।—

भस्म सूताभ्रलोहानां शिलाजतु विषं समम् ।
गुडूचौत्रिफलाक्वाथैः संस्कृतं गुग्गुलुं तथा ॥ ३२ ॥
मृतं नेपालताम्रञ्च सूतस्थाने नियोजयेत् ।
एकोक्त्य द्विगुञ्जं तद्वक्ष्येद्राजयक्ष्मनुत् ॥
पञ्चामृतरसो नाम ह्यनुपानञ्च पूर्ववत् ॥ ३३ ॥

रक्तवान्तिहरयोगे—अलक्तकरसं लाक्षाद्रवम् ॥ २७ ॥

मृगाङ्गपोटलीरसे—सर्वे सुगमम् ॥ २८—३० ॥

यक्ष्माणि—अधिकारान्तराक्तमौषधविशेषमुपदिशति, स्वयमिति ।—स्वयमग्निरसः
कासाधिकारोक्तः । त्रिनिष्कमिति पूर्वशुगीयमात्रा, आधुनिकी तु माषकं माषकद्वयं
वा ॥ ३१ ॥

पञ्चामृतरसे—नेपालताम्रं सूतस्थाने नियोजयेदित्यत्र इति केचिददन्तीति
शेषः ॥ ३२।३३ ॥

अथ जयन्तीयोगः ।—

हरेत् क्षीराजगन्धाभ्यां जयन्ती वा क्षयापहा ॥ ३४ ॥

अथ लोकनाथरसः ।—

तुल्यं पारदगन्धकं त्रिकटुकं ताभ्यां रजः कम्बुजं
तैस्तुल्यञ्च भवेत् कपर्दमसितं स्यात् पारदाटङ्कणम् ।

पाटांशं सकलैः समानमरिचं लिङ्घ्यात् क्रमात् साज्यकं
यावन्निष्कमितं भवेत् प्रतिदिनं मासात् क्षयः शाम्यति ॥ ३५ ॥

अथ लोकेश्वररसः ।—

रसस्य भस्मना हेम पाटांशेन प्रकल्पयेत् ।

गन्धकं द्विगुणं दत्त्वा मर्दयेच्चित्रकाम्बुना ॥ ३६ ॥

चराचरास्ये सम्पूर्य्य टङ्कणेन निरुध्य च ।

भाण्डे चूर्णप्रलिप्तेऽथ क्षिप्त्वा रुन्धीत मृत्सूया ॥ ३७ ॥

शोषयित्वा पुटेर्ज्जितेऽरत्निमात्रेऽपराह्वके ।

स्वाङ्गशीतलमुद्गत्य चूर्णयित्वाऽथ विन्यसेत् ॥ ३८ ॥

एष लोकेश्वरो नाम पुष्टिवीर्य्यविवर्द्धनः ।

गुञ्जाचतुष्टयञ्चाऽऽज्यं मरिचैश्च समन्वितम् ॥ ३९ ॥

जयन्तीयोगे—जयन्तीपदरसम् अजगन्धाचूर्णेन दग्धेन च सन्धिस्थं पाययेत् ।
क्षयापहा जयन्ती क्षीराजगन्धाभ्यां हरेत्, जयमिति शेषः ॥ ३४ ॥

लोकनाथरसे—तुल्यं पारदगन्धकं त्रिकटुकमिति पारदगन्धकयोः मिलित-
त्रिकटुश्च समभागः । ताभ्यामिति—समाहारद्वन्द्वेन पारदगन्धकमित्यस्य एकत्वात्
ताभ्यामिति द्विवचनेन मिलितरसगन्धकत्रिकटुभ्यामित्यर्थो बोध्यः । ताभ्यामित्यनन्तरं
तुल्यमिति शेषः, कम्बुजं रजः इत्यनेनान्वयः । कम्बुजं रजः शङ्खभक्ष । तैस्तुल्यं
पारदाद-शङ्खान्तैस्तुल्यं कपर्दमसितं वराटिकाभक्ष । पाटांशमित्यस्य पारदात्
टङ्कप्रमित्यनेन सूच्यते । सकलैः पारदादिटङ्कणान्तैः सकलैः । यावदिति ।—
अपादरत्निकामारभ्य प्रतिदिनं तावन्मात्रेण वर्द्धयित्वा मासेन निष्कमितं स्वादेन
इति । अस्य पदवी यथा—पारद मा १, गन्धक मा १, त्रिकटुचूर्णं मिलित मा ४,
शङ्खभक्ष मा ८, वराटिकाभक्ष मा १६, टङ्कण र ५, मरिच कर्षं २ र ५ इति ॥ ३५ ॥

लोकेश्वररसे—पाटांशेन रसभक्षभागमपेक्ष्य चतुर्थांशेन उपकृष्टितं हेम इति

खादेत् परमया भक्त्या लोकेशे सर्वदर्शिनि ।
 अङ्गकार्ष्येऽग्निमान्द्ये च कासहिके रमो ह्ययम् ॥ ४० ॥
 मरिचैर्घृतमयुक्तैः प्रदातव्यो दिनत्रयम् ।
 लवणं वजयेत्तत्र साज्यं सदधि भोजनम् ॥ ४१ ॥
 एकविंशद्दिनं यावन्मरिचं सष्टतं पिबेत् ।
 पथ्यं मृगाङ्गवद्देयं शयीतोत्तानपादतः ॥ ४२ ॥
 घमने सम्प्रवृत्ते तु गुडूचीद्रवमाहरेत् ।
 मधुना पाययेत् सार्द्धं दग्धवृन्ताकमाशयेत् ॥ ४३ ॥
 स्नानं शीतलतीर्थेन मूर्द्ध्नि धारां विनिक्षिपेत् ।
 जाते श्लेष्मविकारे तु कटलोफलमाहरेत् ॥ ४४ ॥
 भृष्टा तन्मरिचेः सार्द्धं भाजयेत् श्लेष्मनुत्तये ।
 आर्द्रकं मधुमिश्रं वा गुडाद्रकमथापि वा ॥ ४५ ॥
 भृष्टा कुस्तुम्बरीमाषान् निसृषांश्चूर्णयेत्ततः ।
 शर्कराघृतमिश्रं तद्दृढीतारुचिशान्तये ॥ ४६ ॥
 भृष्टा कुस्तुम्बरीं सम्यक् घृतं शर्करया पिबेत् ।
 एलां मरिचमयुक्तां यावद्दान्तिः प्रशाम्यति ॥ ४७ ॥
 अजमोदं विडङ्गञ्च पिष्ट्वा तत्रेण पाययेत् ।
 क्लमिकोपप्रशान्त्यर्थं काथं वातघ्नमुस्तयोः ॥ ४८ ॥
 संस्कृत्य दुग्धिकां वङ्गी विरेकं च प्रयोजयेत् ।
 ईषङ्गष्टा जयाचूर्णं मधुना खादयेन्निशि ॥ ४९ ॥

शोचनीयम् । चराचराख्ये कपटं कमुखे । चरन्निमाने निर्गतकनिष्ठाः कुलिक-
 मृष्टिपरिमिते गते, वाराहपटे इत्यर्थः । रसेन्द्रसारसङ्ग्रहे तु गजपटे इत्युक्तम् ।
 शयीतोत्तानपादतः पादावुत्तानीकृत्य शयीत । घमने इति—रसस्यास्य भेदनात्
 यदि घमनं जायते तदा समधु गुडूचीरसं पाययेत् दग्धवृन्तां कृत्वा भोजयेत् ।
 घमननिवारणार्थं शीतकिश्या यदि श्लेष्माविकारी जायते तदा किं कर्तव्यमित्याह,
 जाते इति ।—कटलोफलम् अपक्वकटलोफलम् । औषधसेवनेन श्लेष्मवृद्धा ना

अङ्गतोदे घृतेनाङ्गं मर्दयित्वाण्वारिणा ।

स्नापयेद्गोगिणं वैद्या लोकनाथञ्च संस्मरेत् ॥ ५० ॥

अथ वैद्यनाथरसः ।—

शङ्खस्य वलयं निष्कं चतुर्निष्कं वराटिकाः ।

कर्षांशं नीलतुल्यञ्च तालं गन्धाश्मटङ्गणम् ॥ ५१ ॥

तुल्यं नागं रसञ्चाङ्गं निष्कांशं पूर्ववत् पुटेत् ।

वराटचूर्णं मण्डूरकल्पितालेपने पचेत् ॥ ५२ ॥

अस्याङ्गमाषं मरिचाङ्गमाषं ताम्बूलवल्लीरसभावितञ्च ।

तत्पत्रलिप्तं मधुनाऽवलिच्छाद्वैयङ्गवीनेन घृतेन वाऽपि ॥ ५३ ॥

नाडौमार्गे निर्गतं चाल्पमल्पं पथ्यं भोज्यं लोकनाथापदिष्टम् ।

यामे यामे चैवमामण्डलान्तात् मिदं सद्यः शाषजिद्वैद्यनाथः ॥ ५४ ॥

यद्यवचिजायने, तदा किं कर्त्तव्यमित्याह, भवेति।—कस्तुम्बरी धन्याक, सा च भाषमिता गाह्या। पनरपि वसनशालये योगान्तरमाह,—भवेति। क्रिम्यपदवी दृश्यते चेत् तदा कर्त्तव्यमाह, अजमीदमिति।—अजमीदं वनयमानौ। वातघ्नः परण्डमूलम्। अतोमारापदवे कर्त्तव्यमाह, संकल्येति।—दुग्धका क्षीरका, “सिक्क” इति वङ्गीयैराख्याता, ता वङ्गी संस्कृत्य कार्यायित्वा इत्यर्थः। अयाचूर्णं वलीक्यावजयापवचूर्णम्। अङ्गमर्दं कार्यमाह, अङ्गतोदे इति।—अङ्गतोदे अमपाश्वोदित्युल ॥ ३६—५० ॥

वैद्यनाथरसे—शङ्खस्य वलयः शङ्खस्य मुखदेशः, तस्य आवर्त्तमयत्वेन वलयाकारतया परिदृश्यमानान्, “शॉखिर मटो” इति वङ्गदेशे प्रसिद्धम्। वराटिकाः “पीताभा गच्छिलाः पृष्ठ” इत्यादिभिरुक्तलक्षणाः कपटभेदाः, “गॅट कडि” “घॅंषि काड” इति वा वङ्गदेशप्रसिद्धाः। नीलतुल्यं मयूरपीवाभं तुल्यमित्यर्थः। नीलतुल्यादीनां चतुर्णां प्रत्येकं कर्षमाणम्। तुल्यं खपरोतुल्यम्। तुल्यादीनां रसानानात्म्याणां प्रत्येकम् अङ्गे शङ्खवलयभागापेक्षया अर्द्धमित्यर्थः। “तुल्यं नागम्” इत्यत्र “तुल्यभागम्” इति पाठः—रसम् अङ्गे तुल्यभागं कर्षार्द्धमित्यर्थः। वराटचूर्णं वराटकालक्षणादितरकपर्दचूर्णे, निष्कांशं निष्कचतुर्थभागं, माषमाषमिति यावत्। मण्डूरैति।—मण्डूरस्य कल्पितम् चालेपनं यत्र तांछन्, भाजने इति शेषः, मूषामध्ये क्षीयव संश्राप्य चूर्णतमण्डूरपट्टेन चालेपयत्। वैयङ्गवीनेन क्षौ गोदाङ्गोद्वेन,

अथ लोकनाथः ।—

अध्यर्द्धनिष्कौ रसतुल्यभागौ पृथक् पृथगन्धकटङ्ककर्षम् ।
 शङ्खस्य कर्षे सृतताम्रतो द्वौ वराटिकानां नव सम्पुटस्थान् ॥ ५५ ॥
 पक्वा पचेदर्कदलद्रवाद्वान् भूयोऽर्द्धभागेन करीषकाणाम् ।
 अस्यार्द्धपादं मरिचार्द्धभागं गन्धाश्मनिष्कञ्च घृतेन लिह्यात् ॥ ५६ ॥
 अग्नोयात् पूर्ववत् पथ्यं वासराख्येकविंशतिः ।
 लोकनाथो रसो नाम्ना रोगराजनिकृन्तनः ॥ ५७ ॥

अथ प्राणनाथः ।—

अयोरजो विंशतिनिष्कमानं विभावितं भृङ्गरसादकेन ।
 धत्तूरभार्ङ्गिर्त्रिफलारसाद्धं तुल्यांशताप्यं विपचेत् पुटेषु ॥ ५८ ॥
 सूतञ्च निष्कं समभागतुल्यं गन्धोपलौ द्वौ चतुरो वराटान् ।
 पक्वा पुटाग्नौ समलोहचूर्णान् पचेत्तथा पूर्वरसेन मिश्रान् ॥ ५९ ॥

सदास्केनेत्यर्थः । आमण्डलान्तादित्यत्र मण्डलशब्दो अष्टचत्वारिंशद्दिनवाचो “संख्याप्य मण्डलं पञ्चादकं निष्काशयेत्ततः” इत्यर्काचार्यकाम्यायां मण्डलशब्देन तावत्पञ्चादक-
 दिनग्रहणात् । एव सिद्धस्य अस्य चूर्णस्य माषाङ्गे मरिचचूर्णस्य च माषाङ्ग-
 संकीकृत्य पर्णपत्ररसेन भर्तयित्वा तस्मैव पत्रे लिप्त्वा च मधुना देयङ्गवीनेन घृतेन
 वा अष्टचत्वारिंशद्दिनं यावत् लिह्यात् । प्रतिप्रहरञ्च लोको लोको लोकेत्यत्रोपदिष्टं
 पथ्यं कार्यम् ; लोकनाथशब्देनात्र लोकेश्वरी बोध्यः, लोकनाथे पथ्यविधेर-
 दृष्टत्वान् ॥ ५१—५४ ॥

लोकनाथे—अध्यर्द्धनिष्कौ सार्द्धं ग्राह्यौ । सृतताम्रतो द्वौ सृतताम्रस्य कर्षद्वयम् ।
 वराटिकानाञ्च नव इत्यत्र कर्षाणि इति शेषः । करीषकाणाम् अर्द्धभागेनेति प्रथम-
 पुटापेक्षया अर्द्धभागः । अस्य सिद्धस्य औषधस्य । अर्द्धपाद पादाङ्गे, समुदितौषधान्
 अष्टमांशमिति यावत् । मरिचार्द्धभागमिति षोडशमांशं मरिचचूर्णम् । रसादि-
 वराटिकानान् औषधजातान् अर्कपत्रान्पिष्टान् पुटे पक्वा स्वादुशीतान् बहिष्कृत्य
 पुनरपि अर्कपत्ररसपिष्टान् कृत्वा प्रथमपुटमपेक्ष्य अर्द्धपुटे पचेत् इति ॥ ५५—५७ ॥

प्राणनाथे—भृङ्गरसादकेन षोडशशरावभितभृङ्गराजरसेन । धत्तूरिति ।—धूलू-
 रादीनां रसः भृङ्गराजरसादङ्गो यावत् इति । पूर्वरसेन भृङ्गादीनां रसेन । सप्त दश

चूर्णेऽस्मिन् मरिचाः सप्त तुल्यटङ्कणयोर्दश ।

संस्तृजेत्तत् पृथङ्निष्कान् प्राणनाथाह्वयोदितः ॥ ६० ॥

अर्द्धपादो रसाङ्गव्यः केवलाद्राजयाक्ष्माभिः ।

शोषोदरार्शग्रहणी-ज्वरगुल्माद्यपद्रुतैः ॥ ६१ ॥

अथ वज्ररसः । —

कषे खर्परसत्त्वस्य षण्मासे ह्येन विद्रुते ।

षण्निष्कंसूतं गन्धाश्मन्यष्टनिष्के प्रवेशितम् ॥ ६२ ॥

प्रबालमुक्ताफलयोश्चूर्णं हेममसांगयोः ।

क्रमाद्द्वित्रिचतुर्निष्कं मृतायः सोमभास्करम् ॥ ६३ ॥

चाङ्गैर्यस्त्रेन यामांस्त्रीन् मार्दितं चूर्णितं पृथक् ।

ह्रीं निष्को नीलवटक-व्योमायस्कान्ततालकात् ॥ ६४ ॥

अङ्गीलकङ्कणीवोज-तुल्येभ्यश्चतुरः पृथक् ।

अष्टौ च टङ्कणक्षाराहराटानाञ्च विंशतिः ॥ ६५ ॥

महाजम्बोरनीरस्य प्रस्थद्वन्द्वेन शेषयेत् ।

एतदष्टशरावस्थं शङ्खं स्वार्थास्तुषस्य च ॥ ६६ ॥

करोषभारे च पचेदथ माषद्वयं ततः ।

एतावन्नन्धकात् पादं मरिचाद्भावितादर्प ॥ ६७ ॥

इत्यनयोः निष्कानित्यनेनान्वयः, तेन मरिचस्य सप्त निष्कान् तुल्यटङ्कणयोर्निमित्तयोर्दश निष्कानित्यर्थः । रसात् मृतात् । अर्द्धपादः पादाङ्गः, निष्कमानात् मृतात् अष्टमाशः, माषाङ्गमिति यावत् । प्राणनाथो भक्त्य इत्यन्वयः । आदौ लौहचूर्णे मांसिकञ्च शोडशशरावमितेन भृङ्गराजरसेन अष्टशरावमितेन च धूसुरादीनां रसेन भाषायित्वा पुटे पचेत् । ततो निष्काशः सूतादिकं यथोक्तमानं तत्र दत्त्वा पुनश्च पुटे पचेत् । ततश्च पुनरपि औषधं निःसार्य सर्वतुल्यं लौहचूर्णे मिश्रयित्वा पुनोक्तद्वयेन सम्यग्यं च पुटायो पुनः पचेत् । ततो निष्काशः मरिचादिचूर्णे यथोक्तमानं दत्त्वा मिश्रयित्वा च यथोक्तमानेन भक्षयेदिति ॥ ५८—६१ ॥

वज्ररसे—विद्रुते गाहितस्वर्णे, स्वर्णसत्त्वे इत्यर्थः ; विद्रुते ह्येन खर्परसत्त्वस्य कषे

मधुनाऽऽलोडितं लिङ्घात्ताम्बूलीपत्रलेपितम् ।

गतेऽस्य घटिकामात्रे प्रतियामञ्च पथ्यभुक् ॥ ६८ ॥

नो चेदुद्दीपितो वक्त्रिः क्षणाद्वातून् पचत्यतः ।

दिनमेकं निषेव्यैनं त्याज्यान्यामण्डलात्त्यजेत् ॥ ६९ ॥

ततः परं यथेष्टाशौ द्वादशाब्दं सुखी भवेत् ।

एकमेकं दिनं भुक्त्वा वर्षे वर्षे महारसम् ॥ ७० ॥

वर्षादौ च त्यजेत्त्याज्यं द्वादशाब्दं जरां जयेत् ।

एष वज्ररसो नाम क्षयपर्वतभेदनः ॥ ७१ ॥

अथ महावीरः ।—

निष्कौ द्वौ तुल्यभागस्य रसादेकं सुसंस्कृतात् ।

निष्कं विषस्य द्वौ तीक्ष्णात् कषांश गन्धमौक्तिकात् ॥ ७२ ॥

अग्निपर्णीहरिलता-भृङ्गार्द्रसुरमारमैः ।

मर्दितं लाङ्गलीकन्द-प्रलिप्ते सम्पुटे पचेत् ॥ ७३ ॥

गन्धाश्मनि च षण्णिष्कभूतं प्रवेष्टितं कृत्वा इत्यन्वयः । भास्करं ताम्रम् । चाङ्गेय्येन
अम्बूलीकरीसेन । नीलवटकः “नीलवडी” इति प्रसिद्धः । व्योम अभम् ।
अङ्गोष्ठः “भाङ्गोष्ठ” इति ख्यातः, कङ्कणी तृणधान्यविशेषः, तथोर्वीजम् । चतुरः
अष्टौ विंशतिः इत्येतेषु निष्कानिति शेषः । महाजम्बीरनीरस्य वृद्धजम्बीररसस्य ।
एतदष्टशरावप्यम् अष्टमङ्गाके शरादपादे अवस्थितमेतच्छूर्णम् । तुषस्य खार्था
अष्टाविंशत्यधिकशतशरावेण । करीषभारे द्विसहस्रपलमाने आरण्यगोमये । ततः
शौषधान् माषद्वयम् । गन्धकात् एतावत् माषद्वयमित्यर्थः । मावितात्
संस्कृतात् कौटायमचित्तात् मरिचात् पादं माषद्वयमपेत्य अगुर्थं, तेन च
मरिचस्य माषार्धं यावत् । दिनमेकमिति ।—रसमिममेकं दिनं सेविता अष्टा-
चत्वारिंशद्दिनं यावत् अपथ्यानि परिहरित्, अष्टचत्वारिंशद्दिनानन्तरं यथोप्पता-
हारविहारौ स्यात्, एवं द्वादशवर्षं व्याप्य नीरुक् तिष्ठेत् । प्रतिवर्षादौ च एक-
दिनमात्रं सेविता पूर्वकल्पेन निषिद्धाहारं त्यजेत्, तेन च द्वादशवर्षं व्याप्य जरा
आकामितुं न शक्नुयात् ॥ ६९—७१ ॥

महावीरे—तीक्ष्णात् तीक्ष्णलौहात्, द्वौ निष्कौ । गन्धमौक्तिकात् गन्धकात्
मौक्तिकाश्च, कषांशमिति प्रत्येकम् । अग्निपर्णी “आगिया” इति लोके । हरिलता

अर्द्धपादञ्च पोटल्याः काकिन्यौ द्वे विषस्य च ।
 लिहेन्मरिचचूर्णञ्च मधुना पोटलीसमम् ॥ ७४ ॥
 क्षयग्रहणतीसार-वर्जितैर्बल्यकामिनाम् ।
 पाण्डुगुल्मवतां श्रेष्ठो महावीरो हितो रसः ॥ ७५ ॥
 अतिस्थूलस्य पूयासृक्कफानुद्धमतः क्षये ।
 न योजयेत् क्षीररमान् विरुद्धोपक्रमत्वतः ॥ ७६ ॥

अथ पञ्चासत्तपर्पटी ।—

सुवर्णं रजतं ताम्रं सत्त्वाभ्रं कान्तलोहकम् ।
 क्रमवृद्धमिदं सर्वं शाणेयो नागवङ्गकौ ॥ ७७ ॥
 द्रावयित्वैकतः सर्वं रेतयित्वा ततश्चरेत् ।
 पृथक् पलमितं गन्धं शिलालं विनिधाय च ॥ ७८ ॥
 सर्वं खल्ले विनिक्षिप्य मर्दयेदम्बुवर्गतः ।
 ताप्यं नीलाञ्जनं तालं शिलागन्धञ्च चूर्णितम् ॥ ७९ ॥
 दत्त्वा दत्त्वा पुटेत्तावदुयावद्दिशतिवारकम् ।
 लोहाद्दिगुणसूतेन ततो द्विगुणगन्धतः ॥ ८० ॥
 विधाय कज्जलीं श्लक्ष्णां क्षिप्त्वा तां लोहपात्रके ।
 द्रावयेद्ददराङ्गारैर्मृदुभिश्चाथ निक्षिपेत् ॥ ८१ ॥
 हेमादिपञ्चलोहानां भस्म चाथ विलोडयेत् ।
 अथ तत् कदलीपत्रे गोमयस्थे विनिक्षिपेत् ॥ ८२ ॥
 पत्रेणान्येन सञ्छाद्य चिपिटीं कुरु यत्नतः ।
 तस्योपरि क्षिपेत् सद्यो गोमयं स्तोकमेव च ॥ ८३ ॥

ब्राह्मी । सुरसा तुलसी । अर्द्धपादमिति काकिन्यौदशपेचया पाठाहमित्यर्थः ।
 पोटलीति अस्य योगस्य संज्ञान्तरं, तेन औषधस्यास्य सार्द्धसंप्रपञ्चतृथं
 ग्राह्यम् । काकिन्यौ द्वे रक्तिकावयम् । एतदौषधसेव्यकाले दुग्धं मांसरसञ्च
 परित्यजेत् ॥ ७२—७६ ॥

पञ्चासत्तपर्पट्यां — सत्त्वाभ्रम् अथ वृद्धमित्यर्थः । क्रमवृद्धमिति सुवर्णादिलोहानां-

स्ततः शीतां समाहृत्य पटचूर्णं विधाय च ।
 निक्षिपेद्दूर्घदण्डायां पलिकायां ततः परम् ॥ ८४ ॥
 पूर्ववद्वदराङ्गारैर्मृदुभिर्द्रावयेच्छनैः ।
 तुल्याऽऽलकशिलागन्धं पलाहं विषभावितम् ॥ ८५ ॥
 पूर्वपर्पटिकातुल्यं तस्मादल्पं मुहुर्महुः ।
 जारयेत् पलिकामध्ये यथा दह्येन्न पर्पटौ ॥ ८६ ॥
 पलिकेति विनिर्दिष्टा स्नेहक्षेपणयन्त्रिका ।
 जोर्णं तालाटिके चूर्णं पटचूर्णं विधीयताम् ॥ ८७ ॥
 पूतीकरञ्जषट्कोल-व्याघ्रीशौभाञ्जनाङ्घ्रिभिः ।
 एतैः पञ्चपलैः काथं षोडशंशवशेषितम् ॥ ८८ ॥
 तेन काथेन संस्वेद्य शोषयेत् समधा हि ताम् ।
 विषतिन्दुफलोद्भूतै रमैर्निर्गुण्डिकारसैः ॥ ८९ ॥
 विभाव्य पलिकामध्ये क्षिप्त्वा बदरवज्जिना ।
 इषत् प्रस्वेदनं कृत्वा स्थापयेदतियत्नतः ॥ ९० ॥
 उक्ता भैरवनाथेन स्यात् पञ्चामृतपर्पटी ।
 व्योषाज्यसङ्घिता लोढा गुञ्जावीजेन समिता ॥ ९१ ॥
 सर्वलक्षणसम्पूर्णं विनिश्चिन्ति क्षयामयम् ।
 खासं कामं विसूचीञ्च प्रमेहमुदरामयम् ॥ ९२ ॥
 अरोचकञ्च दुःसाध्यं प्रमेकं कृदिहृद्भवम् ।
 अधिकं गुदरोगञ्च शूलकुष्ठान्यशेषतः ॥ ९३ ॥
 वातज्वरञ्च विड्बन्धं ग्रहणीं कफजान् गदान् ।
 एकद्वन्द्वत्रिदोषोत्थान् रोगानन्यान् महागदान् ॥ ९४ ॥

द्रव्यपञ्चकम् उत्तरोत्तरम् एकैकभागद्वयम् । शालेयो शालभागिकौ । रेतयित्वा
 आलोडयित्वेत्यर्थः । ताप्य भाविकम् । हेमादिपञ्चबीजानां सुवर्णादिकान्तलोडानानां
 पश्चानामित्यर्थः । ऊर्ध्वदण्डायां पलिकायां "पला" इति प्रसिद्धे भाष्यात् तैलाद्युत्सेप-
 णार्थश्चलविशेषः । का तावत् पलिक्ता इति वक्तुमाह, पलिकेतीति । —स्नेहक्षेप-

अग्निमान्द्यं विशेषेण रसोऽयं परमो मतः ।

एवं समूह्य दातव्यो रसोऽयं भिषगुत्तमैः ॥ ८५ ॥

तत्तद्गोगहरैर्योगैस्तत्तद्गोगानुपानतः ।

क्षयादिमर्वरोगघ्नी स्यात् पञ्चामृतपर्पटी ॥ ८६ ॥

तिलसर्पपवित्वास्त्र-कारवेत्तकुसुमकम् ।

त्यजेत् पारावतं मांसं हन्ताकं कुक्कुटं तथा ॥ ८७ ॥

अथ गन्धकपिण्यादियोगः ।—

युक्तं गन्धकपिण्याऽयस्तालकं गन्धमाक्षिकम् ।

युक्त्या तद्भस्मतां नीतं तृणाच्छर्दिनिवारणम् ॥ ८८ ॥

यन्त्रिका तैलाद्युत्प्रेषणाद्यन्त्रविशेषः । पटचूर्णं वस्त्रगलितचूर्णम् । तुल्येति ।—
विषभावितं विषमिश्रितमित्यर्थः. आलकशिलागन्धं पलाङ्गमिति मिलित्वा पलाङ्ग-
मित्यर्थः, तेन चतुर्णां प्रत्येकं कोलभागः । पूतीकरञ्जः नाटाकरञ्जः । षट्कोलं
षड्रूषणम् । पञ्चालैरिति मिलित्वा । औषधसेवनकाले वर्जनीयाद्याह,—तिलेति । अथ
पक्षी यथा—ओषितसुवर्णं तो १, ओषितरौप्यं तो २, ओषितताम्रं तो ३, अश्वसत्त्वं तो
४, ओषितमाग्निकान्तौहं तो ५. मीमं तो ॥, वडं तो ॥, सर्वमग्नौ टावयित्वा
आलोड्य च तत्र शुद्धगन्धकमनःशिलाहरितालानां प्रत्येकं पलमानं पल्लिष्य खल्ले मंथ्याय
च चक्षुर्वर्गसेन मर्दयेत् । ततो मूषायां संस्थाप्य ऊर्ध्वाधः ताप्यादिचूर्णम् अनुरूपं दत्त्वा
पटेत्, एवं विंशतिवारं कुर्यात् । ततः सुवर्णादिलोहभागमपेत्य द्विगुणमतेन सूता
द्विगुणगन्धकेन च कज्जलौ विधाय लोहपात्रे वादराङ्गारैर्द्रवयित्वा च पूर्वोक्तसुवर्णादीनां
भस्म तत्र पल्लिष्य रसपर्पटीवत् कुर्यात् । अनन्तरं शीतोभूतां तां चूर्णयित्वा वस्त्रेण
गालयेत् । ततः ऊर्ध्वं उच्छायां पल्लिकायां निक्षिप्य पूर्ववत् बदराङ्गारैः द्रवीकृत्य च तत्र
हरितालादिविषान्तं द्रव्यचतुष्टयं प्रत्येकं कोलमानं सुकुम्भं द्रव्यमलं दत्त्वा पूर्ववत्
पर्पटिकां कुर्यात् । ततः पुनरपि शीतां तां विचूर्ण्य वस्त्रेण गालयित्वा च पूति-
करङ्गादीनां पञ्चपल्लानां चत्वारिंशत्पल्लयोजकवितानां षोडशांशावशिष्टेन कण्ठेन तथा
विषतिन्दुकफलरसेन निगुच्छीरसेन च प्रत्येकं समवा भावयेत् । पुनरपि तां पल्लिकायां
निक्षिप्य वादरवज्जिना द्रव्यं प्रक्षेप्य सुगुप्तं स्थापयेत् ॥ ७७-८७ ॥

गन्धकपिण्यादियोगे—गन्धकपिण्या “खल्ले विमर्दं गन्धेन दुग्धेन सह
पारदम्” इत्याद्युक्तपिष्टीभूतगन्धकेन । गन्धमाक्षिकं गन्धकं माक्षिकञ्च ॥ ८८ ॥

अथ पित्तार्शौलक्षणम् ।—

रुधिरस्त्राविण्स्त्रोषां पित्तजाः परिकीर्त्तिताः ॥ २ ॥

अथ वातार्शौलक्षणम् ।—

वातजा निःसङ्गीत्याना उदावर्त्तं प्रकुर्वते ॥ ३ ॥

अथ श्लेष्मार्शौलक्षणम् ।—

श्लयथुं श्लेष्मजाः कुर्युः—”

अथ त्रिदोषजार्शौलक्षणम् ।—

“—सर्वं कुर्युस्त्रिदोषजाः ॥ ४ ॥

अथ अशःकुठारः ।—

शुद्धमूतं पलेकन्तु द्विपलं शुद्धगन्धकम् ।

मृतं ताम्रं मृतं लोहं प्रत्येकन्तु पलत्रयम् ॥ ५ ॥

तृषणं लाङ्गली दन्ती पौलुकं चित्रकं तथा ।

प्रत्येकं द्विपलं योज्यं यवचारश्च टङ्गणम् ॥ ६ ॥

उभौ पञ्चपलौ योज्यौ सैन्धवं पलपञ्चकम् ।

द्वात्रिंशत्पलगोमूतं सङ्गृहीक्षीरञ्च तत्समम् ॥ ७ ॥

मृदग्निना पचेत् स्यात्वा सर्वं यावत् सुपिण्डितम् ।

माषद्वयं सदा खादेद्रसो ह्यशःकुठारकः ॥

तत्क्रेण दाडिमाम्भाभिः पक्वकन्देन वाऽथ तत् ॥ ८ ॥

पित्तार्शमां लक्षणमाह, रुधिरस्त्राविण् इति ।—पित्तार्शःसु रक्तस्त्रावस्तु पित्तस्य विशेषेण रक्तदृषकत्वादिति ॥ २ ॥

वातार्शौलक्षणमाह, वातजा इति ।—निःसङ्गीत्यानाः कठिनमलाः ॥ ३ ॥

श्लेष्मार्शमां सन्निपातार्शमाश्च लक्षणमाह, श्लयथुमिति ।—सर्वं वातजादीनां त्रयाणां मिश्रितलक्षणमित्यर्थः ॥ ४ ॥

अशःकुठारे—पौलुकस्य औत्तरापथिकः फलविशेषः, “शाखरीट्” इति श्लोके । पक्वकन्देन पुटपक्वशौरभरसेन ॥ ५—८ ॥

अथ वचादिभोदकः ।—

वचाहिङ्गुविडङ्गानि सैन्धवं जीरणागरम् ।
भरिचं पिप्पली कुष्ठं पथ्या वङ्गाजमोदकम् ॥ ८ ॥
क्रमात्तरगुणं चूर्णं सर्वेषां द्विगुणं गुडम् ।
कर्षश्चोष्णजलेनानुपिवेदाताशंसां जये ॥ १० ॥

अथ तीक्ष्णसुखा रसः ।—

मृतसूताभ्रहेमाक-तोष्णीमुण्डं सगन्धकम् ।
मण्डूरं मार्क्षिकं तुल्यं मद्यं कन्याद्रवेदिनम् ॥ ११ ॥
अम्यमूषागतं पाच्यं त्रिदिनं तुषवङ्किना ।
चूर्णितं सितया माषं खादेत् पित्तार्शसां जये ॥ १२ ॥

अथ लोहाष्टकम् ।—

मृतं लोहश्चेन्द्रयवं शुण्ठी भङ्गातचित्रकम् ।
विल्वमज्जाविडङ्गानि पथ्या तुल्यं विचूर्णयेत् ॥
सर्वतुल्यं गुडं योज्यं कर्षं भुक्त्वाऽर्शसां जयेत् ॥ १३ ॥

अथ श्लेष्माशंसि औषधविशेषनिर्देशः ।—

श्लेष्माशंसः प्रशान्त्यर्थं देयमानन्दभैरवम् ।
मृतताम्रेण सन्तुल्यं देयं गुञ्जात्रयं हि तत् ॥ १४ ॥

वचादिभोदके—वङ्गः शिवकः । क्रमात्तरगुणमुत्तरोत्तरमेकैकभागवृद्धम् ॥ ८ ॥ १० ॥
तीक्ष्णसुखरसे—तोष्णं तीक्ष्णलौघम् । मुण्डं मुण्डलौघं, बोलनामा सुगन्धिद्रव्य-
विशेषो वा । क्वचिदतदनन्तरं—“भङ्गातकं तिलं पथ्याचूर्णं गुडसमायुतम् । मोदकं
भक्षयेन्मासात् पित्तरक्तार्शसां जयेत् ॥” इत्यधिकः पाठः ॥ ११ ॥ १२ ॥

लोहाष्टके—विल्वमज्जा विल्वपेषिका ॥ १३ ॥

श्लेष्माशंसि अधिकारान्तरीक्तमौषधविशेषमुपदिशति, श्लेष्माशंस इति ।—चानन्द-
भैरवः वल्लभाचार्यतिसारचिकित्सोक्तः, अथ गुञ्जात्रयं मृततामसं गुञ्जाशयं
निजाशुषानेन प्रयोज्यम् ॥ १४ ॥

अथ सर्वलोकाश्रयो रसः ।—

शुद्धं सूतं पलं गन्धं गन्धाङ्गं तालताप्यकम् ।
 अमृतं रसकञ्चैव तालकाङ्गविभागिकम् ॥ १५ ॥
 एतेषां कज्जलीं कुर्याद्ददं सम्राट् वासरम् ।
 त्रिदिनं मदेयेच्चाथ दत्त्वा निम्बुजलं खलु ॥ १६ ॥
 वटीकृत्य विशोष्याथ काचकूप्यां निधापयेत् ।
 निष्कतुल्यार्कपत्रेण पिधायाऽऽस्यं प्रयत्नतः ॥ १७ ॥
 सार्द्धाङ्गुलमितोत्सेधं मृत्स्नया तां विलेप्य च ।
 ततो भाण्डद्वयीयांशे सिकतापरिपूरितं ॥ १८ ॥
 निधाय सिकतामूर्द्धि सिकताभिः प्रपूरयेत् ।
 रुद्धाऽऽस्यं तदधो वर्द्धिं ज्वालयेत् सार्द्धवासरम् ॥ १९ ॥
 स्वाङ्गशीतलितं काच-घटादाकृष्य तं रसम् ।
 पटचूर्णं विधायाथ ताम्रमभ्रं पलद्वयम् ॥ २० ॥
 पलाङ्गममृतञ्चैव मरिचञ्च चतुष्पलम् ।
 एकीकृत्य क्षिपेत् सर्वं नारिकेलकरण्डके ॥ २१ ॥
 साज्यो गुञ्जादिमानो हरति रसवरः सर्वलोकाश्रयोऽयं
 वातश्लेष्मात्यरोगान् गुदजनितगदं शोषपाण्डुमयञ्च ।
 यक्ष्माणं वातशूलं ज्वरमपि निखिलं वर्द्धमान्यञ्च गुल्मं
 तत्तद्गोघ्नयोगैः सकलगदचयं दीपनं तत्क्षणेन ॥ २२ ॥

अथ अशीघ्रः वटकः ।—

अशीघ्रं वटकं वक्ष्ये पुत्रक ! शृणु भद्रक ! ।

पिप्पली पिप्पलीमूलं वनशूरणचित्तकम् ॥ २३ ॥

सर्वलोकाश्रयरसः—गन्धमपि पलं शास्त्रम् । गन्धाङ्गं तालताप्यकमिति सार्द्धक-
 हरितालयोः मिलित्वा गन्धकाङ्गलम् । रसकं खर्परम् ; अमृतरसकयोः प्रत्येकं
 तालाङ्गमानता ज्ञेया । निष्कतुल्यार्कपत्रेण शाण्डमितताम्रपत्रेण । मृत्स्नया
 मृत्तिकया । तां काचकूपीम् । नारिकेलकरण्डके नारिकेलकपाले, एतच्च गुण-
 विशेषाधानार्थं बोद्धव्यम् ॥ १५—२२ ॥

मरिचं कण्टकारी च रक्तपुष्पी समांशका ।
 पलमेकं पृथक् सर्वं श्लक्ष्णं दृषटि पेषयेत् ॥ २४ ॥
 गजाजपशुमूत्रेषु शुभे भाण्डे विनिक्षिपेत् ।
 मृदग्निना पचेत् सर्वं चूर्णशेषं यथा भवेत् ॥ २५ ॥
 लाणत्रयञ्च तत्रैव पलमेकन्तु निक्षिपेत् ।
 अक्षप्रमाणवटकान् कुर्यादिवं पृथक् पृथक् ॥ २६ ॥
 त्रिंशद्दिनानि मतिमानर्शोघ्नं दीपनं परम् ।
 घृततक्रसमायुक्तं भोजनं सम्प्रदापयेत् ॥ २७ ॥

अथ अर्शोघ्नौ वटिका ।—

गन्धकं तारताम्रञ्च कृत्वा चैकत्र पिष्टिकाम् ।
 तत्समञ्चाभ्रक तोक्ष्णं गन्धकं पञ्चमांशकम् ॥ २८ ॥
 विषञ्च षोडशांशेन द्वौ भागौ सूतकस्य च ।
 एकोक्तस्य प्रयत्नेन जम्बीरद्रवमर्दितम् ॥ २९ ॥
 भाजने मृन्मये स्थाप्य वराक्षायेन भावयेत् ।
 दशमूलशतावर्याः क्वाथे पाच्यः क्रमेण हि ॥ ३० ॥
 अथात्तार्यं प्रयत्नेन वटिकां कारयेद्बुधः ।
 गुञ्जात्रयप्रमाणेन गुदव्याधिञ्च शूलनुत् ॥ ३१ ॥

अथ मूलकुठारः ।—

वरनागं तथा व्योम-सत्त्वं शुल्बञ्च तीक्ष्णकम् ।
 सर्वमकत्र विद्राव्य क्षिप्त्वाऽऽलञ्चात्पलम्पकम् ॥ ३२ ॥

अर्शोघ्नवटिके—रक्तपुष्पी रक्ताकमूलम्, अर्शोघ्नलृत्वात् । गजाजपशुमूत्रेषु गजा-
 जादीनां पशूनां मूत्रेषु, अष्टविधमूत्रेषु इत्यर्थः । लोषणयं खण्डनार्थं, विडसैस्त्व-
 सौवर्चलभेदात् । पलमेकमिति प्रत्येकम् ॥ २३—२७ ॥

अर्शोघ्नोवटिकायां—तत्सममिति गन्धकादीनां वशात् समम् । तीक्ष्णं तीक्ष्ण-
 लौहमपि अभ्यसमम् । पञ्चमांशकमिति प्रथमभागापेक्षया पञ्चमो भागः, एवं
 षोडशांशोऽपि । सूतस्य द्वौ भागौ इति प्रथमगन्धकभागापेक्षया बोध्यौ ।
 वराक्षायेन विफलाक्षायेन । भावयेत् इति समाह्वम् ॥ २८—३१ ॥

चालयेदनिग्रं यावत्तालकं त्रिगुणं खलु ।
 ततस्तेन विमर्द्याथ पिष्टीं कुर्याद्रसेन हि ॥ ३३ ॥
 ततो भस्मातकौष्ठञ्च-मूलान्तःस्थां खनेच्च ताम् ।
 मासादाकृष्य तां पिष्टिं गव्यदुग्धे विनिक्षिपेत् ॥ ३४ ॥
 ततो भस्मातकौतेलं हृतं पातालयन्त्रतः ।
 आयसे भाजने स्निग्धे पिष्टिकां तां निवेश्य च ॥ ३५ ॥
 प्रस्थमात्रं हि तत्तैलं जारयेदतियत्नतः ।
 तत्तैलभावितैगन्धैः पुटित्वा भस्मतां व्रजेत् ॥ ३६ ॥
 ततः कार्त्तिकमासाद्य-कौरण्टदलजै रमैः ।
 रसं सम्यग्य सम्यग्य घर्मे संस्थाप्य मारयेत् ॥ ३७ ॥
 तद्भस्म मेलयेत् पूर्व-भस्मना समभागिकम् ।
 वनशूरणनिर्गुण्डो महाराष्ट्रोभकण्टिका ॥ ३८ ॥
 वज्रवल्ली शिखी चैषां रमैः पिष्ट्वा विशोषयेत् ।
 त्रिवारं मार्कवद्रावैर्द्रावयित्वा विशोषयेत् ॥
 चूर्णीकृत्य प्रयत्नेन क्षिपेत् कापि करण्डके ॥ ३९ ॥
 मोऽयं मूलकुठारको रसवरो दीप्याग्निवेत्नोत्तमा-
 मयुक्तः मष्टतश्च वल्लतुलितः मंसेवितो नाशयेत् ।

मूलकुठारे—वरनागं “तौल्लं नीलाञ्जनोपेतम्” इत्यादिना अष्टसाध्याधिकं सोस-
 कम् । व्योमसत्त्वं मूलपातनविधिना गृहीतमथसत्त्वम् । शुल्वं ताम्रम् । क्षिपेति ।—
 आलं हरितालम् ; अल्पार्थं हरितालं क्षिपेत् निरन्तरं चालयेच्च । किञ्चन्यान्
 हरितालं तत्र क्षेत्रव्यमित्याह, यावदिति ।—त्रिगुणमिति एकभागपैक्षया त्रैगुण्यम् ।
 तत् इति ।—सर्वतुल्येन पारदेन सह त्रिमर्द्यं पिष्टिकां कुर्यात् । जारयेदिति
 भस्मातकतेलमध्ये तावत् स्थापयेत्, यावता सा पिष्टिका कोर्णीभवति । तत्तैलभाविताः
 भस्मातकतैलभाविताः । कौरण्टदलजैः पीतपुष्पभिगुण्टीपत्रजैः । घर्मे आतपे ।
 महाराष्ट्रो गलापिप्पली “कौण्डा” इति लोके । इभः नागकेशरः । कण्टिका
 क्षतिवला । “इभकण्टिका” इत्यत्र “इभकर्षिका” इति पाठः—हरिकर्षिका
 क्षतिवर्धवत् पत्रविशष्टः कन्दशाकविशेषः, मोरचकर्षटो वा । वज्रवल्ली अस्त्रि-

अशोऽनननासिकाक्षिगुदजान्यत्यग्रपीडानि च
ब्रोज्ञानं ग्रहणीञ्च गुल्मयुक्तौ मान्यञ्च कुष्ठामयान् ॥ ४० ॥

अथ महादयप्रत्ययसारः ।—

रसग्रस्तसमुद्गर्ण-गन्धकस्य पलत्रयम् ।

मृतसूताभ्रताम्रायः कर्षं कर्षं पृथक् पृथक् ॥ ४१ ॥

पलं हिङ्गुलचूर्णस्य माक्षिकस्य पलत्रयम् ।

पलं कम्पिलकस्यापि विषस्यार्द्धपलं तथा ॥ ४२ ॥

सप्ताहं मर्दयेत् सर्वं दत्त्वा चूर्णोदकं मुहुः ।

ततस्तद्गोलकं कृत्वा सप्ताहञ्चाऽऽतपे क्षिपेत् ॥ ४३ ॥

गुडचूर्णं शिलाचूर्णं लिम्बेटङ्गलिकाघनम् ।

त्रिपलं गन्धकं दत्त्वा क्रौञ्चामथ च गोलकम् ॥ ४४ ॥

संहारः । शिखी चिकनः । दीप्यं यमानिका । वेङ्गं दिङ्गुम् । मृतमा
विफला आमलकी वा । अस्य क्रमो यथा—नागादिकं सर्वं द्रावयित्वा उक्तमानं
क्षिप्त्वा क्षिप्त्वा हरितालं तत्र प्रक्षिपन् प्रक्षिपन् दद्यात् चालयेत्, ततः अत्रमात्रं
सर्वतल्यपारदेन सह मर्दयित्वा पिष्टिकां कुर्यात् । अनन्तरं भङ्गातकतकमुल-
काङ्गं खान्त्वा तन्मूलान्तः तां पिष्टिकां मांसं स्थापयेत्, मासादूर्ध्वं पिष्टिकां तामाकृष्य
गन्धदुग्धमध्ये निक्षिपेत्, मासानन्तरञ्च पातालयन्त्रनिःसारणे भङ्गातकतैले लोह-
पात्रध्ये प्रथमिति यावत् जीर्णोभावात् तां पिष्टिकां न्यसेत् । अनन्तरं जीर्णोभूतां
तां पिष्टिं भङ्गातकतैलभाविनेन गन्धकेन मर्दयित्वा पुटेन भस्मताञ्च नयेत् ।
अनन्तरं कार्ष्णिकमासशक्तिगुणैः पारदं पुनः पुनः सम्यग्यं वा भक्ष्योभावात्
आतपे रचेत् । अथ एतत् रसभक्ष्यं पूर्वोक्तभस्मना तुल्यभागेन मिश्रयित्वा वन्य-
शूरणादिरसैः एकैकवारं मर्दयित्वा शोषयेत्, भङ्गराजरसेन च एवं विधा भावयेत्
शोषयेच्च ॥ ३२—४० ॥

महादयप्रत्ययसारे—रसग्रस्तसमुद्गर्णगन्धकस्य आदौ रसेन यस्तस्य मूर्च्छनकर्मणा
कवचित्तस्य पश्चात् समुद्गर्णस्य उत्थापनकर्मणा उद्यानस्य गन्धकस्य ; तादृशञ्च
गन्धकः ऊर्ध्वपातनायत्वेण कञ्चल्याः पातनात् रसे ऊर्ध्वग्रे यः अंशः अधोलिङ्गति
श्च एवेति । मृतसूतः रससिन्दूरम् । गुडचूर्णं गुडं चूर्णञ्च, चूर्णे सुधा । शिलाचूर्णं

गोलकस्थोपरिष्ठाच्च क्षिपेत्तालपलत्रयम् ।

संक्षुब्धातिप्रयत्नेन दद्याद्भजपुटं खलु ॥ ४५ ॥

स्वाङ्गशीतलमाहृत्य गोलकं लेपनैः सह ।

विचूर्ण्य सप्तवारं हि विषातिन्दुफलोद्भवैः ॥ ४६ ॥

द्रवैरधाऽऽतपे शुष्कं क्षिपेद्रम्ये करण्डके ।

त्रिंशदंशेन वैक्रान्त-भस्म तस्मिन् विनिर्निक्षिपेत् ॥ ४७ ॥

अयं हि नन्दीश्वरसम्प्रदिष्टो रसो विशिष्टः खलु रोगहन्ता ।

निःशेषरोगेष्वहत्प्रतापो महोदयप्रत्ययसारनामा ॥ ४८ ॥

हन्यात् सर्वगुदामयान् क्षयगदं कुष्ठञ्च मन्दाग्नितां

शूलाध्मानगदं कफं श्वसनतामुष्मादकापस्मृती ।

सर्वा वातरुजो महाज्वरगदानानाप्रकारांस्तथा

वातश्लेष्मभवं महामयचयं दृष्टग्रहस्थामयम् ॥ ४९ ॥

अथ कनकमुन्दरः ।—

स्याद्रसं धीतमाक्षीकं कान्ताभ्रं नागहाटकम् ।

पृथ्वीभटेन सन्तुल्यं सर्वतुल्यञ्च गन्धकम् ॥ ५० ॥

दत्त्वा विद्याधरे यन्त्रे पुटेदारण्यकोत्पलैः ।

स्वाङ्गशीतलमुद्धृत्य तूषणेन विमिश्रयेत् ॥ ५१ ॥

अर्शोव्याधौ कटीशूले चक्षुःशूले च दारुणे ।

सन्निपाते क्षये श्वासे कासे मन्दानले ज्वरे ॥ ५२ ॥

कर्णशूले शिरःशूले दन्तशूले प्रयोजयेत् ।

पौनसे प्लौङ्गि हृच्छूले ग्रन्थिवाते च दारुणे ॥ ५३ ॥

मनःशिलाचूर्णम् । लिम्पेदिति ।—एतच्चयं सम्यग् तैः चङ्गलिमात्रोक्तेषु यथा तथा गोलकं लिम्पेदित्यर्थः । कौश्यां मूषाशाम् । विषातिन्दुफलं “कुंषिला” इति स्यात् । त्रिंशदंशेन इति समुदितमेवजापेक्षया बोद्धव्यम् ॥ ४१—४९ ॥

कनकमुन्दरः—धीतमाक्षिकं रौप्यं सुवर्णमाक्षिकञ्च, रौप्यमाक्षिकमित्यर्थः वा । कान्ताभ्रं कान्तलोहम् अथवा । नागहाटकं सोसकं सुवर्णञ्च । पृथ्वीभटेन मृदारिचं,

एकाङ्गे वा धनुर्वाते कम्पेवाते च मूर्च्छिते ।
ज्वरांश्च विषमान् सर्वान् हन्ति रोगाननेकधा ॥ ५४ ॥
सेवितः पथ्ययोगेन रसः कनकसुन्दरः ।
गुञ्जामात्रं ददौतास्य यथायुक्तानुपानतः ॥ ५५ ॥
घृतेन संयुतो वात मधुना पौष्टिके ज्वरे ।
पिप्पल्या श्लेष्मिके देयः पित्तोद्भूत सचन्दनः ॥ ५६ ॥
तन्नेन श्लेष्मवातोत्थे वातपित्ते घृताम्बितः ।
श्लेष्मपित्ते चाऽऽर्द्रकेण निर्गुण्डा सान्निपातिके ॥ ५७ ॥
फलत्रयेण शूलेषु विषमेषु ज्वरेष्वथ ।
आर्द्रकेणायवा दद्याद्द्विज्जिमान्ये विशेषतः ॥ ५८ ॥
अमिष्यन्दे शिरःशूले गायत्रीबोलसंयुतम् ।
पक्षिमांसममायुक्तं कफवाते च मूर्च्छिते ॥ ५९ ॥
एकाङ्गे च धनुर्वाते क्षीरयुक्तञ्च पीनसे ।
पाण्डुरोगे क्षये कासे मरिचाज्यैश्च कामले ॥ ६० ॥
अजमोटाविडङ्गैश्च नाभिशूलेऽग्निमान्द्यार्जित् ।
रूक्षज्वरेऽरुचौ देयः कटलोफलसंयुतः ॥
बालेनार्द्रकटीशूले भाषितं नागबोधिना ॥ ६१ ॥

अथ अर्केशः ।—

नागं पारदगन्धकं त्रिलवणं वार्यर्कजं मेलये-
दकैकञ्च पलं पलं त्रयमतः पञ्च क्रमान्मर्दयेत् ।

वराहबैद्यर्थः, कीलमानेन इति यावत् ; रसादिहाटकानां सर्वे तोलकमानमित्यर्थः ।
द्रुष्यतेनेति मिलितविकटुषूरेण सर्वसुख्येनेत्यर्थः । पौष्टिके ज्वरे मधुना दद्यात् । पित्तो-
द्भूते प्रहङ्गपित्ते अर्वाक्यन् रोगे चन्दनेन सह देयः । गायत्री खदिरः । बोलः
स्नानामख्यातः बणिग्द्रव्यविशेषः । कफवाते च मूर्च्छिते प्रहङ्गकफवाते
इत्यर्थः ॥ ५०—६१ ॥

अर्केश—त्रिलवणं सैन्धवं खौबर्चलं विषञ्च । वार्यर्कजं वारिजम् अर्केशः,

सर्वं तद्विवसत्रयं तदनु तद्वत्त्वा पुटं भावनाः
 कुप्यात् सत्रिफलाग्निवेतसरसैः पञ्चाधिका विंशतिः ॥ ६२ ॥
 पञ्चेतत् क्रमशस्ततो गुडभवेदंतोऽस्य वल्लो जलै-
 र्हन्यशीस्यखिलानि शूरणघृतैस्तस्यान्नमस्मिन् हितम् ।
 अर्केशः परिवर्ज्यतामिति मुनिः श्रौवासुदेवोऽवदत्
 कुभाण्डीफलमाषपायमसतिव्यायाममर्कातपम् ॥ ६३ ॥

अथ तीक्ष्णमुखः ।—

रसेन्द्रहेमार्कविडालगोला-सुरायसं लोहमलाभ्रगन्धाः ।
 ताप्यञ्च कन्यारसमर्दितोऽयं पक्वः पुटेत्तोक्ष्यमुखोऽर्शसां स्यात् ॥ ६४ ॥

अथार्शःकुठारः ।—

श्रेष्ठादन्यग्नियुग्मत्रिकटुकहलिनीपोलुकुम्भं विपर्कं
 प्रस्थे मूत्रस्य सस्नुक्पयमि रसपलं हे पले गन्धकस्य ।
 लोहस्य त्रीणि ताम्बात् कुडवमथ रजःक्षारयोश्चापि पञ्च
 क्षिप्वा स्यात्प्रां पचेत्तु ज्वलति दहनतश्चूर्णमर्शःकुठारः ॥ ६५ ॥

तत्र वारिकं शङ्खम् अर्कजं तुल्यं, तस्य ताम्रसम्भवत्वात्, तथा च —“तुल्यं ताम्रोपधातुर्हि
 किञ्चिन्नामेव तद्विवेत्” इति । एकैकमिति ।—नागादीनां त्रयाणां प्रत्येकं पलं पलम् ;
 अतः पञ्चोऽन्यानि पञ्च लवणवयश्चतुर्त्यानि प्रत्येकं पलवयमितानि याव्यानि ।
 कुप्यादिति ।—त्रिफलयो व्यसया भाव्या, न तु मिलितया । वेतसः अस्त्रवेतसः ।
 गुडभवेजलैः गुडोदकेः ॥ ६२।६३ ॥

द्वितीयतीक्ष्णमुखे—रसेन्द्रः रसमिन्दूरः, तथा च रसरत्नाकरः,—“मृत्तमृत्त-
 हेमार्क” इति । रसेन्द्रसारसङ्कुट्टेऽपि—“मृत्तमृत्तार्कहेमार्कम्” इति । विडालं
 हरिताक्षम् । गोला मनःशिला । सुरायसं तीक्ष्णलोहम् । रसेन्द्रादयः ताप्यान्ताः
 धर्मे समानाः । पुटेत् इति अन्वमूषायां पुटेत्, तथा च रसेन्द्रसारसङ्कुट्टे—
 “अन्वमूषागतं सर्वं ततः पाच्यं दृढाग्निना” इति । रसरत्नाकरेऽप्युक्तम्,—
 “अन्वमूषागतं पश्चात् त्रिदिनानु तुषाग्निना” इति ॥ ६४ ॥

अर्शःकुठारे—श्रेष्ठा मेदा, अर्शोदरत्वात् । अग्नियुग्मं चित्रकमूलं भस्मातकास्थि-
 च । हलिनी लाङ्गलिनी । कुम्भं विडत् । प्रस्थे इति सुषाक्षीरसहिते गोमूत्र-

अथ त्रैलोक्यतिलकः ।—

वज्रकृष्णाभ्रजं सत्त्वं शोधितं काचटङ्गणम् ।
 रेतयित्वा रजः कृत्वा भ्रजयित्वा घृतेन तत् ॥ ६६ ॥
 अष्टांशसस्यकोपेतं पुटेदारवयं ततः ।
 त्रिवारं नृपवर्त्तेन लुङ्गस्वरसयोगिना ॥ ६७ ॥
 चतुर्वारञ्च वर्षाभू-वामामत्स्याक्षिकारसैः ।
 गुग्गुलुत्रिफलाकाथैस्त्रिंशद्वाराणि यत्नतः ॥ ६८ ॥
 तुल्यांशरसगन्धोत्थ-कज्जल्याऽष्टांशभागया ।
 पुटेत् पञ्चाशतं वारान्मर्दयेच्च पुटे पुटे ॥ ६९ ॥
 शोधितं रेतितं कान्तसत्त्वञ्च घृतमर्दितम् ।
 पुटेदष्टांशदरदैः संयुतं लकुचाम्बुना ॥ ७० ॥
 दशवारं तथा सन्यक् तारं शुद्धं मनोज्ञया ।
 तथा विंशतिवाराणि बलिना मौनदृष्टसैः ॥ ७१ ॥
 दशवाराणि ताप्येन कृष्णगोघृतयोगिना ।
 उभयं समभागं तत् पुटेन्निर्गुण्डिकारसैः ॥ ७२ ॥
 रसगन्धोत्थकज्जल्या दशवारं पुटेत् पुनः ।
 तस्मिन्नष्टांशभागेन क्षिपेद्द्वैकान्तभस्मकम् ॥ ७३ ॥

प्रश्ने : अथ सुहृच्चौरस्यापि साक्षा प्रश्रुतिता याज्ञा “दाविंशत्यलंगोमूत्रं सुहृच्चौरञ्च तत्समम्” इति रसरवाकरसंवादात्, सस्यूपयसि इति सहार्थबलाच्च । तास्मात् रजः कृडवम् इति योजनीयम् । चारयोः यवचारटङ्गणचारयोः “यवचारञ्च टङ्गणम् । उभे पञ्चपले योज्ये” इति रसरवाकरसंवादात् ॥ ६५ ॥

त्रैलोक्यतिलके—वज्रकृष्णाभ्रजं सत्त्वं बद्धाऽऽप्यकृष्णवर्षाभ्रसत्त्वं, सत्त्वपातर्त्तविधिय प्रागेव प्रदर्शितः । काचटङ्गणं काचाप्यलवणं टङ्गणञ्च । रेतयित्वा मिश्रयित्वा इत्यर्थः । शोधिताभ्रसत्त्वपूर्णं काचपूर्णं टङ्गणपूर्णञ्च पञ्चव सन्मर्दय इति समुदितार्थः । सन्यक्तं तुल्यकविशेषः । अष्टांशमिति अभ्रसत्त्वापेक्षया बोध्यम् । नृपवर्त्तेन राजा-वर्त्तेन । लुङ्गस्वरसयोगिना नागलुङ्गरसयुक्तेन । मत्स्याक्षिका शालिञ्चः । “चतुर्वारञ्च वर्षाभूवामामत्स्याक्षिकारसैः” इत्यञ्च “चतुर्वारञ्च ताप्येन वातारिक्केद्योगिता ।

राजावर्त्तकलांशेन समभागेन पर्पटी ।
 तत् सर्वं परिमर्द्याथ भावयित्वाऽऽर्द्रकाम्बुना ॥ ७४ ॥
 गुडूच्याः स्वरसेनापि भूकदम्बरसेन वा ।
 भङ्गराजरसेनापि चित्रमूलरसेन च ॥ ७५ ॥
 व्योषगञ्जाकिनीकन्दैर्भूयोऽप्यार्द्रवेण च ।
 पटचूर्णमतः कृत्वा क्षिपेच्छुद्धकरण्डके ॥ ७६ ॥
 तैलौक्वतिलकः सोऽयं ख्यातः सर्वरसोत्तमः ।
 सर्वव्याधिहरः श्रीमान् शम्भुना परिकीर्तितः ॥ ७७ ॥
 उटावर्त्तञ्च विड्बन्धं व्यथाञ्च जठरोद्भवाम् ।
 लाहलं मन्दबुद्धित्वं शूलित्वमपि बन्ध्यताम् ॥ ७८ ॥
 सूतिरोगानशेषांश्च शूलं नानाविधं तथा ।
 पारणामाख्यशूलञ्च तथा भिन्द्यात् समुत्कटम् ॥ ७९ ॥
 रक्तगुल्मञ्च नारीणां रजःशूलञ्च दुःसहम् ।
 अनुपानञ्च पथ्यञ्च तत्तद्रोगानुरूपतः ॥ ८० ॥

अथ अर्शोहरयोगः ।—

कुसुभमृदुपत्राणि काञ्चिकेनैव पाचयेत् ।
 शाकवद्भक्षयेन्नित्यमर्शोरोगप्रशान्तये ॥ ८१ ॥

दशवारञ्च वर्षाभुवासामस्याधिकारमैः” इति कश्चित् पाठः । तारं रौप्यम् ।
 अनोक्ता मनःशिला । बलिना गन्धकेन । मीनटक् मत्स्याची । समभागेन इति
 तारकान्तसत्त्वयोः समभागेन । पर्पटी पटुपर्पटी । गञ्जा संविदा “गंजा” इति
 ख्याता । किनी वृद्धतीमेदः । कन्दः शूरणः । स्त्रीहलं दुष्टरक्तज-
 व्याधिम् । कश्चिदेतदनन्तरं—“कान्तवेकान्तपुलाभरसगन्धकप्रक्षणा । सैषा
 बलिमुटे धार्या सद्यक्चोरेण सोषया ॥ शूरणं क्वासमर्दन्तु त्रिगुवात्ताक-
 वास्तकम् । सुपक्वं योजयेज्ज्वाकं पथ्यं गोधूमतण्डुलैः ॥” इत्यधिकः
 पाठः ॥ ६६—८०

अर्शोहरयोगी—कुसुभमृदुपत्राणि कुसुभस्य कोमलपत्राणि ॥ ८१ ॥

अथ देवदास्यादिलेपः ।—

देवदास्याश्च बीजानि सैन्धवेन सुचूर्णितः ।

आरनालेन लेपोऽयं मूलरोगनिक्कन्तनः ॥ ८२ ॥

अथार्शःकुठारलेपः ।—

काञ्चनीकुसुमं चूर्णं शङ्खचूर्णं मनःशिलाम् ।

गजपिप्पलिकातोयैर्लेपो ह्यर्शःकुठारकः ॥ ८३ ॥

अथ अर्शोघ्नशौचः ।—

देवदास्याः कषायेण ह्यर्शोघ्नं शौचमाचरेत् ।

गुदनिःसरणञ्चाथ शान्तिमायाति नान्यथा ॥ ८४ ॥

अथ दुर्नामहरलेपः ।—

आरनालेन सम्पिष्टा सवीजा कटुतुम्बिका ।

सगुडा हन्ति लेपेन दुर्नामानि समूलतः ॥ ८५ ॥

अथ अर्शोघ्नी वर्त्तिका ।—

पीलुतेलेन संलिप्ता वर्त्तिका गुदमध्यगा ।

घातयत्यर्शसां शीघ्रं सकलां वेदनां क्वचित् ॥ ८६ ॥

अथ अर्कचोरादिलेपः ।—

अर्कचोरां स्नुहीकाण्डं कटुकालावुपतप्तम् ।

करञ्चं छागमूत्रेण लेपः स्राव्यर्शसां हितः ॥ ८७ ॥

देवदास्यादिलेपे—देवदाली इति घोषकः । मूलरोगनिक्कन्तनः अर्शोरोगविनाशनः,
मूलवृद्धगादमूलत्वात् ॥ ८२ ॥

अर्शःकुठारलेपे—काञ्चनीकुसुमं हरिद्रापुष्पम् ॥ ८३ ॥

अर्शोघ्नशौचे—देवदास्याः कषायेण शङ्खपरिभाषया अर्शेणैव कषायेत्यर्थः ॥ ८४ ॥

दुर्नामहरलेपे—सवीजा कटुतुम्बिका बीजसहितकटुतुम्बीशस्यम् ॥ ८५ ॥

अर्शोघ्नवर्त्तिका—वर्त्तिका घोषाफलादिकृतवर्त्तिका ॥ ८६ ॥

अर्कचोरादिलेपे—“स्नुहीकाण्डम्” इत्यत्र “स्नुहीचोरा” इति चरकादि-

सम्मतः पाठः ॥ ८७ ॥

अथ शिशुमूलादिलेपः ।—

शिशुमूलार्कजैः पत्रैर्लेपनं हितमर्शसाम् ॥ ८८ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनोर्वामनाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये

अर्शोऽधिकारी नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

अथ षोडशोऽध्यायः ।

अथोदावर्त्तादिकिक्लितनम् ।—

अथोदावर्त्तनिदानम् ।—

रूक्षैः कोद्रवजीर्णमुन्नचणकैः क्रुद्धोऽनिलोऽधो वहन्

रुद्धा वर्त्म मलं विशोष्य कुरुते विण्मूत्रसङ्गं ततः ।

हृत्पृष्ठीदरवस्तिमस्तकरुजः सखासकासं ज्वरं

गच्छन्नूर्ध्वमसौ हि नूनमनिशं कोपादुदावर्त्तयेत् ॥ १ ॥

अथोदावर्त्तद्वयं घृतम् ।—

कङ्कुष्ठहिङ्गुसिन्धूत्य-त्रिवृद्धन्तीवचाभयाः ।

चित्रकस्य तु मूलञ्च कल्कोक्त्य पचेद्घृतम् ॥ २ ॥

चतुर्गुणे गवां क्षीरे युक्तं क्षुक्क्षीरमात्रया ।

उदावर्त्तीदरानाहान् हन्ति पानेन सर्वथा ॥ ३ ॥

शिशुमूलादिलेपे—शिशुपत्रं मूलकपत्रमर्कपत्रच्छेत्त्यर्थः ॥ ८८ ॥

इति रसरत्नसमुच्चयेषोडशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

संज्ञविषयतादिलक्षणसाधन्यां अर्शसामानन्तरम् उदावर्त्तादिकिक्लितं वर्त्म षोडशाध्यायमारभते ; तत्राहो उदावर्त्तस्य निदानादिकमाह, रक्षैरिति ।—वर्त्म मलवाहितोऽसौ । उदावर्त्तयेत् कर्हमानयेत्, मलादिकमित्यर्थः ॥ १ ॥

उदावर्त्तद्वयं घृते—युक्तं क्षुक्क्षीरमात्रया इति कोष्ठादिकं त्रिविध्यं अशुक्लपुः मात्रया क्षुक्क्षीरं प्रक्षिप्य ॥ १२ ॥

अथोत्तिसारचिकित्सा ।—

अथोत्तिसारनिदानम् ।—

अत्यम्बुपानतिलपिष्ट-विरुद्धरूक्ष-
शुष्कामिषाध्यशन-बहुमलयहाद्यैः ।
क्रुद्धोऽनिलोऽतिसरणाय च कल्पतेऽग्निं
हत्वा मलं शिथिलयन्नपि तोयधातून् ॥ ४ ॥

अथ दर्दुररसः ।—

सुश्लक्ष्णतीक्ष्णचूर्णन्तु रसेन्द्रसमभागिकम् ।
काञ्चनाररसैर्घृष्टं सर्वातीसारनाशनम् ॥ ५ ॥

अथ द्वितीयदर्दुररसः ।—

पिष्टः समेन तीक्ष्णेन काञ्चनाराम्बुमर्दितः ।
धुटपक्वोऽतिसारघ्नः सूतोऽयं दर्दुराह्वयः ॥ ६ ॥

अथाऽऽनन्दभैरवः ।—

हिङ्गुलं वत्सनाभञ्च मरिचं ठङ्गणं कणा ।
मर्दयेत् समभागञ्च रसो ह्यानन्दभैरवः ॥ ७ ॥
गुञ्जैकां वाऽर्द्धगुञ्जां वा बलं ज्ञात्वा प्रदापयेत् ।
मधुना लेहयेच्चानु कुटजस्य फलं त्वचम् ॥ ८ ॥
चूर्णितं कर्षमात्रन्तु त्रिदोषोत्तिसारजित् ।
दध्यन्नं दापयेत् पथ्यं गवाज्यं तक्रमेव वा ॥
पिपासायां जलं शीतं विजया च हिता निशि ॥ ९ ॥

अतीसारपूर्वरूपे विट्सक्नी भवति, अतः उदावर्तानन्तरम् अतीसारचिकित्सितं
विवक्षुः प्राक् तस्य निदानादिकमाह, अत्यम्बुपानेति ।—विरुद्धम् अङ्कुरितधान्यम् ।
अध्यशनं “भुक्तं पूर्वाग्रशेषे तु पुनरध्यशनं मतम्” इत्युक्तलक्षणकम् । मलयहः
पुत्रीषवेगविधारणम् । अतिसरणाय अतीसाराय । तोयधातून् स्नेदमूवादीन् ॥ ४ ॥

दर्दुररसे—रसेन्द्रसमभागिकं रससिन्दूरतुल्यम् । काञ्चनाररसेः रक्तकाञ्चन-
पुष्पद्रव्यैः ॥ ५ ॥

द्वितीयदर्दुररसे—सूत इत्यस्य समेन तीक्ष्णेन पिष्ट इत्यनेनाश्वयः । पूर्वः
दर्दुरः अवाकनिश्चयः द्वितीयः पाकनिश्चय इत्यभयोर्भेदः ॥ ६ ॥

अथ सुधासाररसः ।—

पृथक् पलिकगन्धाश्म-सूतसञ्जातकज्जलीम् ।
 प्रद्राव्य निक्षिपेत् व्योम पलैकं गतचन्द्रिकम् ॥ १० ॥
 काष्ठेनाऽऽलोढ्य तत् सर्वं क्षिपेत् कुटजपत्रके ।
 पुनः सञ्चूर्ण्य यत्नेन भावयेत्तदनन्तरम् ॥ ११ ॥
 बालतिन्दुफलद्रावैः क्षीरकौडुम्बरैस्तथा ।
 अरलुत्वप्रसैद्यापि दुग्धिनीस्वरसैस्तथा ॥ १२ ॥
 पुटपक्षस्य बालस्य दाडिमस्य रसैः शुभैः ।
 कृष्णकाम्बोजिकामूल-रसैः कुटजवल्कजैः ॥ १३ ॥
 तुल्यांशविश्वगाम्बारी-चूर्णं द्विपलिकं क्षिपेत् ।
 मुस्तावत्सकटोप्याग्नि-मोचसारं सजीरकम् ॥ १४ ॥
 वत्सनाभञ्च कर्षांशं प्रत्येकं तत्र निक्षिपेत् ।
 विचूर्ण्य भावयेद्भूयः शुण्ठीकाथेन सप्तधा ॥ १५ ॥
 इत्थं सिद्धो रसः पिष्टः करण्डे दिनिवेशयेत् ।
 सुधासार इति ख्यातः सुधारससमद्युतिः ॥ १६ ॥
 दीपनः पाचनो ग्राही हृद्यो रुचिकरस्तथा ।
 दोषत्रयातिसारश्च दुर्जयं भेषजान्तरैः ॥ १७ ॥
 आमश्चैवाऽऽमरक्तञ्च ज्वरातीसारमेव च ।

आनन्दभैरवे—वत्सनाभं विषम् । विजया भङ्गा ॥ ७—८ ॥

सुधासारे—गन्धाश्म गन्धकम् । गतचन्द्रिकं व्योम निश्चन्द्रमसम् । क्षीर-
 कौडुम्बरैः राजादनफलरसैः लडुम्बरफलरसैश्च । अरलुः श्यीनाकः । दुग्धिनी
 स्वकभख्याता “छीट खिचड”, इति वक्त्रभाषा । कृष्णकाम्बोजिकामूलरसैः कृष्णः
 करमर्दः अस्य फलं, तथा काम्बोजिका रक्तगुग्गा चक्षा मूलं तथो रसैः ।
 गाम्बारी कण्टकारी । वत्सकः इन्द्रियवः । दीप्यं यमानिका । अग्निः पित्तकः ।
 मोचसारः मोचरसः । वत्सनाभं विषम् । “दुर्जयं भेषजान्तरैः” इत्यनन्तरं
 कश्चित्—“प्रवाहिकाश्च निर्वाही विन्विशौ गुदशूलकम्” इत्यधिकः पाठो विद्यते ।

सातिसारां विसृचीञ्च प्रतिबध्नाति तत्क्षणात् ॥

मान्यम्मानव्यतिक्रान्तिरिव पुण्यफलोदयम् ॥ १८ ॥

अथ रसोत्तमः ।—

पिष्टविश्वाम्बुकल्केन विधाय खलु चक्रिकाम् ।

निक्षिपेत् स्वेदनीयन्त्रे पक्ताऽर्द्धघटिकावधि ॥ १९ ॥

आकृत्य तज्जलैरेव सम्प्रमर्द्याहरेद्रसम् ।

सुधामाररसं तत्र क्षिप्त्वा धान्यकसम्मितम् ॥ २० ॥

पूर्वोदितेषु रोगेषु प्रददीत भिषग्वरः ।

शोतक्रेणाजटघ्ना वा पथ्यं देयं हितं मितम् ॥ २१ ॥

बालरश्माफलं गुर्वी-फलं विस्वफलं तथा ।

आम्रपेषौ च मधुकं वृन्ताकञ्च प्रशस्यते ॥ २२ ॥

सर्वातिसारं ग्रहणीञ्च द्विक्वां मन्दाग्निमानाहमरोचकञ्च ।

निहन्ति सद्यो विहितामपाके द्वित्रिप्रयोगेण रसोत्तमोऽयम् ॥ २३ ॥

अथ स्वेदनीयन्त्रलक्षणम् ।—

साम्बुस्थालीमुखावहे वस्त्रे पाक्यं निधाय च ।

पिधाय पच्यते यत्र स्वेदनीयन्त्रमुच्यते ॥ २४ ॥

इदमेव तिन्दुकयन्त्रम् ।

मान्येति ।—मान्यस्य मान्यव्यतिक्रान्तिः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः । अस्यार्थः,—रसपप्यटो-
प्रस्तुतक्रमेण कञ्जलीं विद्राव्य तत्र अश्वकञ्च पचिष्य काष्ठदण्डेनालीडयेत्, एकोभूतञ्च
तत् सर्वं कुटजपत्रके ढालयित्वा पर्पटिकाकारं कुर्यात् । ततः सञ्चर्य भावनादिकं
दद्यादिति ॥ १०—१८ ॥

रसोत्तमे—अर्द्धघटिकावधि दण्डं यावत् । तज्जलैः यन्त्रस्थजलैः । पूर्वोदि-
तेषु रोगेषु सुधामारोक्तारोगेषु । गुर्वीफलं गुवाकफलं, तच्च बालमेव याच्यम् ।
अयमर्थः,—विश्वाम्बे समपरिमिते पिष्टा चक्रिकां कुर्व्यात्, ततः तां स्वेदनीयन्त्रे दण्ड-
मेकं पक्ता स्थालीमुखादानीय च यन्त्रस्थैरेव जलैः सम्पेषयेत्, वस्त्रगालिते च तांस्मन्
जले पूर्वोक्तं सुधामाररसं धान्यप्रमाणं मिश्रयित्वा प्रयुञ्जीत इति ॥ १९—२३ ॥

अल्पमेधस्तृणवार्धिकां सृष्टुर्दोषनार्थमुक्तमपि स्वेदनीयन्त्रलक्षणं पुनराह,
साम्बुस्थालीति ।—व्याख्यातपूर्वम् । तिन्दुकयन्त्रमित्यस्य नामाकारम् ॥ २४ ॥

अथ लोकेश्वरः ।—

द्वौ भागौ गन्धकस्याष्टौ शुद्धचूर्णस्य योजयेत् ।
 एकमेव रसस्यांशमर्कक्षीरेण मर्दयेत् ॥ २५ ॥
 चित्रकस्य द्रवेषैवं शोषयित्वा पुनः पुनः ।
 एकोक्तस्य रसेनाथ क्षारं दत्त्वा तदर्द्धकम् ॥ २६ ॥
 अर्कक्षीरेण कुर्वीत गोलकानथ शोषयेत् ।
 निरुध्य चूर्णलिप्तेऽथ भाण्डे दद्यात् पुटं ततः ॥ २७ ॥
 लोकेश्वररसो ह्येष ग्रहणीरोगकृन्तनः ।
 गुञ्जाचतुष्टयश्चास्य मरीचाज्यसमन्वितम् ॥
 ददीत दधिभक्तञ्च पथ्यं लोकेश्वरे तथा ॥ २८ ॥

अथ लोकनाथः ।—

मृतपारदभागैकं चत्वारः शुद्धगन्धकात् ।
 यामञ्च मर्दयेत् खल्ले तेन पूर्या वराटकाः ॥ २९ ॥
 टङ्कणन्तु गवां क्षीरेः पिष्ट्वा तेन मुखं लिपेत् ।
 वराटानां प्रयत्नेन रुद्धा भाण्डे पुटे यचेत् ॥ ३० ॥
 स्वाङ्गशोतं समुद्धृत्य ततश्चूर्ण्य वराटकाः ।
 लोकनाथरसो नाम्ना क्षौद्रेर्गुञ्जाचतुष्टयम् ॥ ३१ ॥
 नागरातिविषामुस्ता-देवदारुचान्वितम् ।
 कषायमनुपानं स्याद्वातातीसारनाशनः ॥ ३२ ॥

अथ प्रशिष्कतैलम् ।—

प्रशिष्कं तिलतैलस्य निष्कं जम्बीरजं रसम् ।

लोकेश्वरे—अर्कक्षीरेण मर्दयेत् इत्यत्र सप्तवारमिति शेषः । चित्रकस्य द्रवेषापि
 एवं सप्तवारं मर्दयेत् । ततः पुनः पुनः शोषयित्वा रसेन द्रवेष एकोक्तस्य च
 सप्तवारान् भागान् दत्त्वा शोषयेत् । तदर्द्धकं निमित्तौषधार्द्धभागम् ॥ २५—२८ ॥

लोकनाथे—सर्वं सुगन्धम् ॥ २९—३२ ॥

लवणं पञ्चगुञ्जश्च अङ्गुल्या मर्दयेत् दृढम् ॥

आमवातातिसारघ्नं लिहेत् पथ्यञ्च पूर्ववत् ॥ ३३ ॥

अथ नागसुन्दरः ।—

नागभस्मरसव्योम-गन्धैरर्द्धपलोन्मितैः ।

कुर्वीत कज्जलीं श्लक्ष्णां प्रक्षिपेत्तदनन्तरम् ॥ ३४ ॥

द्विपलोन्मित्रालायां द्रुतायां परिमिश्रिताम् ।

भृष्टैर्यक्षाक्षसिन्धूत्य-वचाव्योषद्विजीरकैः ॥ ३५ ॥

सपथ्याविजयादीप्यैस्तुल्यांशैरवचूर्णितैः ।

मेलयेत् प्राक्तनं कल्कं भावयेत्तदनन्तरम् ॥ ३६ ॥

महानिम्बत्वचासारैः काम्बोजीमूलजद्रवैः ।

रसैर्नागबलायाश्च गुडूच्याश्च त्रिधा त्रिधा ॥

ततश्च गुटिका कार्या वदरास्थिप्रमाणतः ॥ ३७ ॥

हृन्त्यादेव हि नागसुन्दररसो वल्लोन्मितः सेवितो

नानातीसरणामयं गुदपरिभ्रंशं तथा विम्बिशिम् ॥ ३८ ॥

षष्पिक्तैले—षष्पिक्तं तोलकमयम् ॥ ३३ ॥

नागसुन्दरे—द्विपलोन्मित्रालायां द्रुतायां द्रवोभूतपलत्रयमितसर्ज्जरसे ।
यजः न्ययोधः । अचः विभीतकः । विजया भङ्गा । दीप्यं यमानिका ।
प्राक्तनं कल्कं नागादिभिः कृतां कज्जलीम् । महानिम्बः पर्वतनिम्बः तस्य त्वचा-
सारैः वल्कलरसैः । काम्बोजीमूलजद्रवैः माषपर्णोमूलरसैः, सङ्ग्राहितात्
काम्बोजीशब्देनात्र माषपर्णो एव याच्या । विम्बिशिं प्रवाहिकाम् । एवं कार्यं—
नागादिभिः कज्जलीं कृत्वा द्रवोभूतसर्ज्जरसे तां प्रक्षिप्य मिश्रयेत् । अनन्तरं
सृक्कटाद्दे यक्षादिकमौषधजंयित्वा चूर्णीकृत्य च द्विपलोन्मितं तच्चूर्णं सर्जरसमिश्रितेन
नागादिना मेलयेत् महानिम्बरसादिभिः प्रत्येकं बारमयं भावयेच्च । “गुदपरिभ्रंशं
तथा विम्बिशिम्” इत्यनन्तरं कथितं—“दुर्गमयङ्गणोविकारगुदजान् ये चापि
मृलीग्नवाः । सर्वे ते बिलयं प्रयान्ति मगुजे श्रीशङ्खुनीतं पुरा ॥” इत्यधिकः
पाठः ॥ ३४—३८ ॥

अथ ग्रहणीचिकित्सा ।—

अथ ग्रहणीलक्षणम् ।—

मलं सङ्गृह्य सङ्गृह्य कदाचिद्यदि रेचयेत् ।

अरुचिः श्वयथुर्मान्द्यं ग्रहणीरोगलक्षणम् ॥ ३९ ॥

अथ ग्रहणीवज्रकपाटः ।—

मृतसूताभ्रकं गन्धं यवक्षारं मटङ्गणम् ।

वचा जया समं सर्वं जयन्तीभृङ्गजद्रवैः ॥ ४० ॥

सजम्बीरैस्त्राहं मर्द्यं शोषयेत्तच्च गोलकम् ।

मन्दवङ्गी शनैः स्वेद्यं यामार्द्धं लोहपात्रके ॥ ४१ ॥

रसमास्ये प्रतिविषा देया मोचरसस्तथा ।

भावयेद्विजयाद्रावैः शोर्षं पेथ्यञ्च मसधा ॥

रसो वज्रकपाटोऽयं निष्कार्द्धं मधुना लिहेत् ॥ ४२ ॥

वङ्गिशुण्ठी विडं विल्वं लवणं पेथयेत् समम् ।

पिवेदुग्गन्धमासा चानु वातोत्थां ग्रहणीं जयेत् ॥ ४३ ॥

अथ अप्रिकुमारः ।—

दग्धां कपर्दिकां पिष्ट्वा तृषणं टङ्गणं विषम् ।

गन्धकं शुद्धसूतञ्च तुल्यं जम्बीरजैर्द्रवैः ॥ ४४ ॥

मर्दयेद्भक्षयेन्माषं मरिचाज्यं लिहेदनु ।

निहन्ति ग्रहणीरोगं पथ्यं तक्रौदनं हितम् ॥ ४५ ॥

द्रवनिःसरणसाधन्यात् अन्योऽन्यसम्भवत्वाच्च अतोसारानन्तरं ग्रहणीचिकित्सात्
विषसुरादौ तज्जघनमाह, मलमिति ।—मलमित्यादौ दोष इति कर्त्तृपदसध्या-
हरणोपम । सङ्गृह्य संख्य । मान्द्यं मन्दाप्रिता ॥ ३९ ॥

ग्रहणीवज्रकपाटे—जया त्रैलोक्यविजया । भृङ्गजद्रवैः भृङ्गवाजरसेः । जयन्त्यादीनां
प्रत्येकं द्रवेष एकैकं दिनं मर्दयेत् । लोहपात्रके शरावाच्छादितमुखे लोहभाजने ;
उक्तञ्च रसेन्द्रचित्तामणौ—“लोहपात्रे शरावच्च दत्त्वोपरि विमर्दयेत्” इति । प्रतिविषा
अतिविषा ॥ ४०—४३ ॥

अप्रिकुमारे—सर्वं स्पष्टम् ॥ ४४:४५ ॥

अथ शस्त्रकादिचूर्णम् ।—

दग्धशस्त्रकसिन्धूत्वं तुल्यं क्षौद्रेण लेहयेत् ।

निष्कैकैकं निहन्त्याशु ग्रहणीरोगमुत्कटम् ॥ ४६ ॥

अथ कनकसुन्दरः ।—

हिङ्गुलं मरिचं गन्धं पिप्पली टङ्गणं विषम् ।

कनकस्य च बीजानि समांशं विजयाद्वैः ॥ ४७ ॥

मर्दयेद्याममात्रन्तु चणमात्रं वटीकृतम् ।

भक्षयेद्ग्रहणीं हन्ति रसः कनकसुन्दरः ॥ ४८ ॥

अग्निमान्द्यं ज्वरं तीव्रमतिसारञ्च नाशयेत् ।

दध्यन्नं दापयेत् पथ्यं गव्याजं तक्रमेव वा ॥ ४९ ॥

अथ यक्षणीकपाटः ।—

रसाभ्रगन्धाः क्रमहृद्दभागा जयारसेन त्रिदिनं विमर्द्याः ।

गद्याणकाह्वं मधुना समेतं ददौत पथ्यं दधिभक्तकञ्च ॥ ५० ॥

सौवर्चलं जीरकयुग्मधान्य-जयायवानीकणनागरञ्च ।

कपित्थसारिण समं प्रगृह्य ददौत चूर्णं निशि तीव्रपित्ते ॥ ५१ ॥

गद्याणमात्रं मधुखण्डयुक्तं तक्रेण युक्तं त्वरुचिप्रशान्त्यै ।

वातप्रधाने च कफप्रधाने रात्रौ कषायं कुटजस्य दद्यात् ॥ ५२ ॥

क्षशान्वजाजौद्वयमाक्षिकेण कटुत्रयेणापि युतं त्वनुष्णम् ।

चाङ्गेरिकाजीरकयुग्मधान्यं दुग्धेन्दुशकाय ददौत दध्ना ॥ ५३ ॥

शस्त्रकादिचूर्णम्—दग्धशस्त्रक शस्त्रकमुखभस्म ॥ ४६ ॥

कनकसुन्दरः—कनकस्य बीजानि धूसरबीजानि ॥ ४७—४८ ॥

यक्षणीकपाटे—गद्याणकाह्वं माषद्वयम् । कपित्थसारिण कपित्थमज्जना ।

तीव्रपित्ते पित्ताधिके यक्षणीरोगे सौवर्चलादिचूर्णं कपित्थफलमध्यतुल्यं गृहीत्वा

रात्रौ रसस्यास्य अनुपातं दद्यात् । गद्याणमात्रम् इत्यत्र भेषजमिति जह्नोयम् ।

वातप्रधाने इति छेदः ; तेन च वातप्रधाने चरुचिप्रशान्त्यै गद्याणमात्रं भेषजं

मध्नादिभिः संयोज्य देयम् । क्षशानुः चित्रकः । कफाधिके क्षशान्वादियुतम्

त्रैपदुषं कुटजकषायमनुपाययेत् । चाङ्गेरी चक्रलोमिका ॥ ५०—५३ ॥

अथ चण्डसङ्ग्रहगदैककपाटः ।—

हिङ्गुलोत्थितमहेश्वरबीजं पाततन्त्रविधिना हरणीयम् ।
गन्धटङ्कणमृताभ्रकतुल्यं कोकिलालमथ चाऽऽयसखल्ले ॥ ५४ ॥
मर्दनीयमभिधारणयुक्ते धूमहीनदहनोपरिसंस्थे ।
यावदेष जलशोषणदक्षो जीरकार्द्रकयुतेन स वल्लः ॥ ५५ ॥
सङ्ग्रहज्वरमतिमृतिगुल्मानर्शसाञ्च विनिहन्ति समूहम् ।
धासुदेवकथितो रसराजखण्डसङ्ग्रहगदैककपाटः ॥ ५६ ॥

अथ लघुसिद्धाभ्रकः ।—

समांशं रसगन्धाभ्र-दरदञ्च विशोधितम् ।
लोहखल्ले विनिक्षिप्य गंवाज्येन समन्वितम् ॥ ५७ ॥
मर्दकेनापि लोहेन मर्दयेद्विवसद्वयम् ।
द्रोणीचुल्लगां न्यसेत् खल्लं साङ्गारायां प्रयत्नतः ॥ ५८ ॥
इति सिद्धो रसेन्द्रोऽयं लघुसिद्धाभ्रको मतः ।
वल्लतुल्यो रसो जीर-वारिणा सहितः प्रगे ॥ ५९ ॥
धीतो हरति वेगेन ग्रंहणीमतिदुर्हराम् ।
अतिसारं मन्त्राघोरं सातिसारं ज्वरं तथा ॥ ६० ॥
पाचनो दीपनो हृद्यो गात्रे लाघवकारकः ।
नागार्जुनन कथितः सद्यः प्रत्ययकारकः ॥ ६१ ॥

चण्डसङ्ग्रहगदैककपाटे—हिङ्गुलोत्थितमहेश्वरबीजं हिङ्गुलालपरसम् । पाततन्त्र-
विधिना ऊर्ध्वपातनयन्त्रेण । आयसखल्ले लोहखल्ले । अभिधारणयुक्ते अभि-
समन्तात् धार्यते अनेन इति अभिधारणं दण्डविशेषः तदयुक्ते मर्दनीयुक्ते इत्यर्थः ।
यावदेष इति—अङ्गारोपरिस्थापनात् यावत् जलादिकं सर्वमेव शुष्यति तावत्
अवतार्य जीरकादिभिः सह दातव्यः । सङ्ग्रहः सङ्ग्रहयङ्गणी । अतिमृति-
रतीसारः । चण्डेति ।—चण्डः प्रबलः यः सङ्ग्रहगदः सङ्ग्रहयङ्गणीरोगः तस्य
एकः मुख्यः कपाटः कपाटतुल्यः ॥ ५४—५६ ॥

लघुसिद्धाभ्रके—दरदः हिङ्गुलः । मर्दकेन मर्दनसाधनेन दण्डेन इत्यर्थः ।
“द्विवसद्वयम्” इत्यत्र “द्विवसद्वयम्” इति पाठान्तरम् । द्रोणीचुल्लगां द्रोणी शल-

अथ सर्वांगीयवटो ।—

रसं प्रलभितं तुल्यं शुद्धनागेन संयुतम् ।
 द्रावयित्वाऽऽयसे पात्रे सतैस्ते निक्षिपेत् क्षितौ ॥ ६२ ॥
 ततो द्रुते विनिक्षिप्य गन्धके तत् विलोष्य च ।
 पुनरायसपात्रे तत् क्षिप्त्वा प्रद्राव्य निक्षिपेत् ॥ ६३ ॥
 तत्तुल्यं जारयेत्तालं पुनः सञ्चूर्ण्य पूर्ववत् ।
 तत्तुल्यां जारयेत् सम्यक्कुनटीं परिशोधिताम् ॥ ६४ ॥
 तत्तुल्यं चूर्णिते तस्मिन् क्षिपेन्नागं निरुत्यकम् ।
 तावदेव कृतं ताप्यं सर्वमन्यच्च तत्समम् ॥ ६५ ॥
 तीक्ष्णायः खर्परं व्योम हिङ्गुलञ्च शिलाजतु ।
 मृथक्कषांशमानेन घट्कोलं कट्फलं मिषीम् ॥ ६६ ॥
 दीप्यकञ्च चतुर्जातं रेणुकोशोरवेक्षकम् ।
 तुम्बुरुं भार्ङ्गिकां रास्नां कङ्कोलं चोरपुष्करम् ॥ ६७ ॥
 रिङ्गणीं चिरतित्तञ्च वीजान्युन्नतकस्य च ।
 पलद्वयञ्च लाङ्गल्याः सर्वेषां द्वादशांशकम् ॥ ६८ ॥
 वत्सनाभं सितं भूरि विनिक्षिप्य ततः परम् ।
 त्रिफलानां दशाङ्गुलीणां कषायेण ततः परम् ॥ ६९ ॥
 जयन्यार्द्रकवासानां मार्कवस्य रसैस्तथा ।
 भावयित्वा च कर्त्तव्या वटकाखणकोन्मिताः ॥ ७० ॥

क्षेत्रे जलसिञ्चनार्थं क्लृप्तनिर्मिताश्चारविशेषः, तदाङ्गारायां चुङ्ग्याम् । साङ्गारायां निर्धूमाङ्गारपूर्यायाम् । जीरवारिण्या जीरककायेन । प्रगे प्रभाते ॥ ५७—६१ ॥

सर्वांगीयवट्यां—द्रुते गलिते । तत्तुल्यं रसतुल्यं, पलमिदमिति यावत् । कालं हरितालम् । कुनटीं सतःशिलाम् । ताप्यं स्पर्शमाश्लिष्यम् । घट्कोलं तडूषणम् । मिषी सधुरिका । वेक्षकं विद्वज्जम् । तुम्बुरुं स्तनामख्यातम् । भार्ङ्गिका भार्गी । चोरपुष्करं चोरः चोरकः सन्धिपर्ण इत्यर्थः, पुष्करं कुष्ठम् ; चोरपुष्करं चोरपुष्पीति केचित्, तस्मात्ते तु चोरपुष्पिका इति पाठः ब्राह्मः । रिङ्गणी

एकैका वटिका सेव्या कुर्यात्तीव्रतरां क्षुधाम् ।

रुचिश्च सर्वतो वङ्गिं सेव्यं स्वादु च शीतलम् ॥ ७१ ॥

सामाञ्च ग्रहणीं सदाऽङ्गुतुदनं शोषोत्कटं पाण्डुता-

मार्तिं वातकफत्रिदोषजनितं शूलञ्च गुल्मामयम् ।

ह्रिकाऽऽध्मानविसूचिकाञ्च कसनं श्वासाग्निसां विद्रधिं

सर्वारोग्यवटी क्षणाद्विजयते रोगांस्तथाऽन्यानपि ॥ ७२ ॥

अथ ग्रहणीगजकेशरी । —

रसगन्धकयोः कृत्वा कज्जलीं तुल्यभागयोः ।

द्रावयित्वाऽऽयसे पात्रे रसतुल्यं विनिक्षिपेत् ॥ ७३ ॥

चराचरभवं भस्म तत्र माक्षिकसम्भवम् ।

गन्धपाषाणसहितं पात्रे लोहमये क्षिपेत् ॥ ७४ ॥

तत् काष्ठेन विलोढ्याथ निक्षिपेत् कदलीदले ।

तत आच्छाद्य सञ्चर्ण्य निधायाऽऽयसभाजने ॥ ७५ ॥

अक्षमात्रं क्षिपेद्भस्म तत्र माक्षिकसम्भवम् ।

सम्यङ्द्विचन्द्रतां नोतं व्योमभस्म पलोन्मिमतम् ॥ ७६ ॥

मुहपर्णी मुक्ता वा । चिरतित्तं किराततित्तकम् । सत्यतकस्य धुनूरस्य । सितं रजतम् । मूरि सुवर्णम् । एतद्द्वयमपि शोधितं वत्सनाभसमञ्च याज्याम् । दशाङ्गुलीणां दशमूलानाम् । अयमर्थः,—शुद्धरसं शुद्धसीसकञ्च प्रत्येकं पलमानं गृहीत्वा तैल-लिमोदरं लोहपात्रे द्रावयित्वा अनन्तरं भूमौ निक्षिपेत् । तत्रः शीतोभूतं तं भूमेरुतोऽथ रससमी द्रुते गन्धके क्षिप्वा आलोप्य च सगन्धकं तं पूर्ववत् तैलक्षिते लोहपात्रे द्रवीकृत्य पुनर्भूमौ निक्षिपेत् । एवम् आलादिकं शिलाजलत्नं सर्वमेव पूर्ववत् पृथक् पृथक् द्रावयित्वा भूमौ निक्षिपेत् । अनन्तरमेकीभूते तस्मिन् षट्-कोलादीनां पञ्चविंशतिद्रव्याणां प्रत्येकं कर्षं लाङ्गल्याञ्च पलद्वयं चूर्णं मिश्रयेत् । अनन्तरं स्वर्णां हादशांशकं वत्सनाभं सुवर्णं रौप्यञ्च पृथक् पृथक् दत्त्वा विफणादिभिः षड्भिः प्रत्येकं समधा भावयेदिति ॥ ६२—७२ ॥

ग्रहणीगजकेशरिणि—रसगन्धकयोः मानेऽनुक्तेऽपि पूर्वयोगात् पलमानत्वं

विषं विषाञ्च गन्धारीं मोचसारं सजौरकम् ।
 सर्वं समांशकं कृत्वा रसे चाष्टांशतः क्षिपेत् ॥ ७७ ॥
 सर्वमेतन्मर्दयित्वा भावयेदतियत्नतः ।
 जयन्त्या च महाराष्ट्रा गजाङ्गिन्याऽश्वगन्धया ॥ ७८ ॥
 पञ्चकोलकषायैश्च कुर्यात्सूणं ततः परम् ।
 इति सिद्धो रसः सोऽयं ग्रहणीगजकेशरी ॥ ७९ ॥
 नामतो नन्दिना प्रोक्तः कर्मतश्च सुधानिधिः ।
 वल्लेन प्रमितश्चायं रसः शुण्ठ्या घृताक्तया ॥ ८० ॥
 सेवितो ग्रहणीं हन्ति सत्सङ्ग इव विग्रहम् ।
 पथ्यमत्र प्रदातव्यं स्रग्पाज्यं दधितक्रयुक् ॥ ८१ ॥
 हितं मितञ्च विशदं लघु ग्राहि रुचिप्रदम् ।
 पाचनो दीपनोऽत्यर्थमामघ्नी रुचिकारकः ॥ ८२ ॥
 तत्तदौषधयोगेन सर्वातोसारनाशनः ।
 बध्नन्नपि मलं शीघ्रं नाऽऽभ्यानं कुरुते नृणाम् ॥ ८३ ॥

प्रत्येकशो बीजव्यम् । चराचरभवं भक्ष्यं कपटकभक्ष्यम् । आच्छाद्य इति
 गोमयगर्भेण कदलीदलान्तरेण रसपर्पटीवत् निषीदित्यर्थः । विषा अतिविषा ।
 गन्धारी दुरालभा । मोचसारं शाकलीवेष्टकम् । भावयेदित्यस्य जयन्त्या इत्यारम्भं
 पञ्चकोलकषायैः इत्यन्तेन सूच्यते । सर्वमिति ।—विषादिकं द्रव्यपञ्चकं प्रत्येकं
 समांशं गृहीत्वा व्योमभक्ष्यान्तात् मिलितरसात् अष्टांशमानेन रसे क्षिपेत् इत्यर्थः ।
 ततश्च रसादीनां प्रत्येकं पलमानेन कर्षाधिकपलषट्कमानं विषादीनाञ्च प्रत्येकं
 सार्द्धकर्षद्वयमानेन यद्व्यात् रसमानात् अष्टांशं कोलाधिकपलद्वयमानं भवति ।
 महाराष्ट्री लक्षपिप्पली । गजाङ्गिनी गजाङ्गः गजचिह्नं शुण्ठारूपमस्यामकीति
 सा श्रीहस्तिनी, “इतिशुण्डा” इति वङ्गभाषा । “गजाङ्गिनी” इत्यत्र
 “गज्जा कन्या” इति पाठे—गज्जा विजया, कन्या कुमारिका, “घृतकुमारी” इति
 वङ्गभाषा ; पक्षेऽस्मिन्—गज्या कन्यया अश्वगन्धया च भावयेत् । तत्तदौषधयोगेन
 तत्तदौषधनाशकानुपानयोगेन ॥ ७३—८३ ॥

अथ शीघ्रप्रभावः ।—

पारदं गन्धकं व्यीम तीक्ष्णं तालं मनःशिला ।
 सौवीरमञ्जनं शुद्धं विमलञ्च समांशकम् ॥ ८४ ॥
 एभिः कज्जलिकां कृत्वा स्खल्यतैलेन भर्जयेत् ।
 ग्रन्थिकं जीरकं चित्रं दीप्यकं मुस्तकं विषम् ॥ ८५ ॥
 बालास्रं बालविल्वञ्च मोचसारं समांशकम् ।
 विचूर्ण्य पूर्ववत् कल्कं तदर्द्धेन विनिक्षिपेत् ॥ ८६ ॥
 पुनर्विमर्दयेद्यन्नादेकरूपं भवेद्यथा ।
 भावयेत् सप्त वाराणि पञ्चकीलकषायतः ॥ ८७ ॥
 अरलुत्वग्रसेनापि दश वाराणि भावयेत् ।
 अनेन क्रमयोगेन रसो निष्पद्यते ह्ययम् ॥ ८८ ॥
 अग्नौ विश्ववनाम्बुना स हि रसः शीघ्रप्रभावाभिधो
 निष्कार्द्वप्रमिती महाग्रहणिकारोगेऽतिसारामये ।
 आक्षान्ते ग्रहणीभवे रुचिहते वाते च मन्दानले
 मुक्ते चापि मले पुनश्चलमलाशङ्कासु हिकासु च ॥ ८९ ॥

शीघ्रप्रभावे—तीक्ष्णं तीक्ष्णलौहम् । सौवीरमञ्जनं स्त्रीतोऽञ्जनम् । विमलं
 शीप्यमाश्लिकम् । ग्रन्थिकं पिप्पलीमूलम् । दीप्यकं यमाणी । बालास्रं तरुणास्रं,
 तस्य फलास्थिमञ्जा यादवः । मोचसारं मोचरसः । पूर्ववत् ग्रहणीगज-
 केशरोवत् । तदर्द्धेन पारदादीनां मिलितानामर्द्धेन, ततश्च ग्रन्थिकादीनां
 प्रत्येकं व्यवहारिकमानेन अवहत्याधिकारक्तिचतुष्टयसमत्वंतं माषकचयं (१० आना,
 ३ रति, २ यव) भवतीति बोध्यम् । अरलुत्वक् श्लीनाकवल्कलम् । विश्व-
 वनाम्बुना शुद्धीमुखयोः क्वाथेन । रुचिहते अरुचौ । पारदादिकं सर्वमेकत्र
 मर्दयित्वा क्षिप्तितैलेन सप्ताक् भर्जयेत्, ततः ग्रन्थिकादीनां प्रत्येकं समांशानां
 चूर्णे मिलित्वा पारदादीनां सर्वेषामर्द्धभागं तत्र दत्त्वा साटं विमर्दयेत्,
 अनन्तरं पञ्चकीलकाद्येन क्षेप्तं श्लीनाकत्वग्रसेन च दश भावना दद्यादिति
 निष्कर्षः ॥ ८४—८९ ॥

अथ पोटली ।—

कपर्दतुल्यं रसमन्धकल्कं लोहं मृतं टङ्गणकञ्च तुल्यम् ।
जयारसेनैकदिनं विमर्द्य चूर्णेन समिप्य पुटेत् भाण्डे ॥८०॥
ददौत तां पोटलिकाञ्च दोष-त्रयप्रधानग्रहणीनिवृत्त्यै ॥८१॥

अथ वज्रिज्वाला वटी ।—

नष्टपिष्टौ चतुर्माषौ प्रत्येकं रसगन्धकौ ।
अभ्रकं माषमानञ्च मातुलुङ्गाम्भमर्दितम् ॥ ८२ ॥
शोधितं सप्तधा चैव द्विमाषं त्रूषणं पृथक् ।
त्रिशूली भृङ्गचाङ्गेरी सातला तीक्ष्णपर्णिका ॥ ८३ ॥
श्वेतापराजिता कन्या मत्स्याची ग्रीष्मसुन्दरा ।
करिणी कर्णमोटी च रुदन्ती चित्रकाट्रकात् ॥ ८४ ॥
धुस्तूरकाकमाचीभ्यां सुषल्याञ्च पृथग्यसैः ।
मर्दितं द्विपलैः कुर्याद्दटिका माषसम्मिता ॥ ८५ ॥
ग्रहण्यां पर्णखण्डेन व्योषयुक्ता निषेविता ।
अरुचिं राजयक्ष्माणं मन्दाग्निं सूतिकागदान् ॥
शमयेद्दटिका नाम्ना वज्रिज्वालेति गीयते ॥ ८६ ॥

पोटल्यां—रसमन्धकल्कं कज्जली । जयारभ्येनाय विजया इत्यने यष्टी-
कृन्तेत्वात्, न तु जयनी । चूर्णेन चूर्णदिकेन । “चूर्णेन समिप्य” इत्यत्र “चूर्णेन
शेवेथ्य” इति रसेन्द्रसारसङ्ग्रहधृतपाठः, तच्च—ऊर्ध्वो गङ्गशुक्त्यादिकृतं चूर्णं दत्त्वा
मध्ये शोधयं संख्याय पुटेत् । तत्र चास्य “यष्टीकपर्दपोटली” इति संज्ञा ॥८०॥८१॥

वज्रिज्वालायां—नष्टपिष्टौ इति पूर्वोक्तप्रकारेण नवनीतादिभिः सह मर्दित-
पिष्टीकृतौ । अथकनिति ।—सप्तधा मातुलुङ्गाम्भमर्दितं शोधितं माषमानमथकनिति
योगनीयम् । त्रिशूलीशब्देनाय त्रिवलिङ्गी इष्टा, तस्य पद्मरसेन ; यस्त—
त्रिशूली शिवः धुस्तूर इति यावत् । सातला चर्मवशा, “षेण्टकील” इति
प्रसिद्धम् । तीक्ष्णपर्णिका रक्तेशुः । कन्या कुमारी । मत्स्याची शालिचः ।
ग्रीष्मसुन्दरा “मिसा” इति प्रसिद्धम् । करिणी श्रीहस्तिनी, “हस्तिशुङ्गा” इति
अस्याः । कर्णमोटी चम्बुरः, अथ त्वक् यावत् । रुदन्ती क्षणमप्यमशुप-

अथ वज्रधरः ।—

रसगन्धकताम्बाभ्रं क्षारांस्त्रौन् वरुणो वृषम् ।
 अपामार्गस्य च क्षारं लवणं द्विदिमाषकम् ॥ ८७ ॥
 चाङ्गेर्या हस्तिशुण्ड्याश्च रसैः पिष्टं पचेत् पुटे ।
 भक्षयित्वा ततो गुच्छां ग्रहणां काञ्जिकं पिबेत् ॥ ८८ ॥
 पक्लिशुले च कासे च मन्दाग्नावाद्र्दकद्रवम् ।
 अम्लपित्ते च धारोष्णं क्षीरं वज्रधरो ह्ययम् ॥ ८९ ॥

अथ ग्रहणीकपाटः ।—

रसेन्द्रगन्धातिविषाऽभयाभ्रं
 क्षारद्वयं मोचरसो वचा च ।
 जया च जम्बोररसेन पिष्टं
 पिण्डीकृतं स्याद्ग्रहणीकपाटः ॥ १०० ॥
 तस्यार्द्धमार्धं मधुना प्रभाते
 शम्बूकभस्माज्यमधूनि लिङ्घ्यात् ।
 सक्षीरिणीजीरकमाणिमन्य-
 तीक्ष्णानि चादौ दधिभोजनञ्च ॥ १०१ ॥

अथ मुक्तादिचूर्णम् ।—

मुक्तावत्सकपाठाग्नि-व्योषप्रतिविषाविषम् ।
 घातकीमोचनिर्याससूतास्थि ग्रहणीहरम् ॥ १०२ ॥

विशेषः, तल्लक्षणं यथा राजनिघण्टौ—“वणपत्रसमं पत्रं क्षुपश्चैव तथाविधः ।
 श्वेतिरे जलविन्दूनास्त्वनोति रुदन्तिका ॥” इति । मुखौ तालमूली ॥ ८२—८६ ॥

वज्रधरे—क्षारांस्त्रौन् “स्वर्जिका टक्कणश्चैव यवक्षार उदाहृतः” इत्युक्तक्षार-
 वयम् । वरुणः स्वर्गनामस्यातः । वृषं वासकम् । लवणं सैन्धवम् ॥ ८७—८९ ॥

ग्रहणीकपाटे—क्षारद्वयमिति सर्जिकाक्षारयवक्षाररूपम् । जया विजया ।
 जम्बोरिणी जीरिका । माषिमन्यं सैन्धवम् । तीक्ष्णानि तीक्ष्णवीर्यद्रव्याणि सर्वपान्
 वा । आदाविति ।—आदौ षोडशसेवनात् प्राक् दधिभोजनं कर्तव्यम् ॥ १००।१०१ ॥

मुक्तादिचूर्णे—मृतास्थि आकास्थिमज्जा । कर्षं कूर्शोक्त्य उपवीज्यम् ॥ १०२ ॥

अथाजीर्णचिकित्सा ।—

अथ अजीर्णलक्षणम् ।—

विरेको जठरे शूली वमनञ्च मुहुर्मुहुः ।

हस्तपादादिमङ्कोचः सर्वाजीर्णस्य लक्षणम् ॥ १०३ ॥

अथाजीर्णकण्टकः ।—

शुद्धसूतं विषं गन्धं सर्वं समविचूर्णितम् ।

मरिचं सर्वतुल्यांशं कण्टकार्याः फलद्रवैः ॥ १०४ ॥

मर्दयेद्भावेत् सर्वमेकविंशतिवारकम् ।

वटीं गुञ्जात्रयं खादेत् सर्वाजीर्णप्रशान्तये ॥ १०५ ॥

अजीर्णकण्टकः सोऽयं रसो हन्ति विसूचिकाम् ।

वारिणा तिलपर्ण्युत्थ-मूलं पिष्ट्वा पिबेदनु ॥ १०६ ॥

अथ विध्वंसनामा रसः ।—

विमर्द्य गन्धोपलटङ्गणेन

सम्भाव्य वारानथ सप्त जात्याः ।

तोयैः फलानामथ चैव सिद्धो

विध्वंसनामा शमनो विसूच्याः ॥ १०७ ॥

अमुष्य गुञ्जा नव दापनीया

हन्तुं विसूचीं सितया समेताः ।

तक्रौदनं स्यादिह भोजनाय

पथ्यञ्च शाकं किल वास्तुकस्य ॥ १०८ ॥

गृहणीविकृत्या अजीर्णः सम्भवतीति गृहण्यनन्तरमजीर्णचिकित्सितं विवक्षुरादौ
तस्य लक्षणमाह, विरेक इति ।—अष्टम् ॥ १०३ ॥

अजीर्णकण्टके—तिलपर्ण्युत्थमूलं तिलपर्णी रक्तचन्दनं, तिलोनोति प्रसिद्धः
शाकभेदो वा, तस्या मूलम् ॥ १०४—१०६ ॥

विध्वंसनाग्नि रसे—गन्धोपलः गन्धकः । जात्याः फलानां जातीफलानां तोयैः
क्षौद्यैः सप्तवारान् सम्भाव्य द्रव्यनवयुक्तिः ॥ १०७।१०८ ॥

अथ बृहद्विधं सनामा रसः ।—

रसगन्धटङ्गभसितं समांशकं
परिमर्द्य जातिफलसप्तभावितम् ।
सितयोपयुज्य नवरक्तिकोन्मितं
मथितान्नभुग्विजयते विसूचिकाम् ॥ १०८ ॥

अथाधिकुमारः ।—

हंसपादीरसैः सिद्धं रसगन्धकयोः पलम् ।
कोलञ्च विसृष्टं बालुकायन्त्रपाचितम् ॥ ११० ॥
शाणं विषस्यार्द्धपलं मरिचस्य विमिश्रयेत् ।
दीपजोऽग्निकुमारोऽयं ग्रहस्याश्च विशेषतः ॥ १११ ॥
स वातश्लेष्मजान् रोगान् क्षणादेवापकर्षति ।
सन्निपातज्वरस्तास-क्षयकासांश्च नाशयेत् ॥ ११२ ॥

अथ बड़वाग्निरसः ।—

टङ्गणं मरिचं तुल्यं पृथक्कृतं भवेत् ।
सुन्दरं द्वादशं निष्कं त्रिंशन्निष्कमयोमलम् ॥ ११३ ॥
कान्तं पद्मरसे छट्टं पुटपक्वं वरारसे ।
मार्कवस्वरसे छट्टं सप्तक्षत्वस्त्वयोमलम् ॥ ११४ ॥

बृहद्विधं सनामि रसे—टङ्गभसितं शोधितटङ्गणम् । मथितान्नभुक् मथितेन सहृतजेहेन निर्जलेन च तक्षेत्, “मथितन्वसरोदकम्” इति वचनात् ; सह अन्नभुक् तक्रौदनादि ॥ १०८ ॥

अधिकुमारे—हंसपादी गोषापदी, “गोहालिया” इति ख्यातम् । रसगन्धकयो-
रिति मिश्रितयोः पलमानं बोध्यम् । अयमर्थः,—अथाविधिग्रहयोः रसगन्धकयोः पलं
पटोत्ता हंसपादीरसैः मर्दयेत्, तदनु कोलमानं विषचूर्णं तेन सह मिश्रयित्वा
पटोरिकायां संस्थाप्य च बालुकायन्त्रे यामचतुष्टयं पचेत् । स्वाङ्गशीतञ्च तत् समुद्धृत्य
श्यामजलेन विषेण मरिचस्य आर्द्धपलेन योजयेदिति ॥ ११०—११२ ॥

बड़वाग्निरसै—सुन्दरं कान्तं कान्तौहमिषयः । द्वादशं निष्कं क्षययम् ।

धूर्णान्येतानि संयोज्य स्थापयेच्छुद्धभाजने ।
 शुद्धदेहो नरस्तस्य पानं यद्भोजनोत्तरम् ॥ ११५ ॥
 अद्यात् पथं ततः स्वल्पं ततस्ताम्बूलभागभवेत् ।
 उदराग्निर्नरस्यास्य बड़वाग्निसमी भवेत् ॥
 बहुनाऽत्र किमुक्तेन रसायनमयं नृणाम् ॥ ११६ ॥

अथ वराटीलक्षणम् ।—

पीतवर्णा गुरुस्निग्धा पृष्ठतो ग्रन्थिलाऽमला ।
 चराचरेति सा प्रोक्ता वराटी नन्दिना खलु ॥ ११७ ॥

अथ श्रेष्ठमध्यमाधमवराटिकाया लक्षणम् ।—

सार्द्धनिष्कमिता श्रेष्ठा मध्यमा निष्कमानिका ।
 पादोननिष्कमाना च कनिष्ठाऽत्र वराटिका ॥ ११८ ॥

अथ वराटलक्षणम् ।—

निष्फलाश्च ततो न्यूनाः पुंवराटाश्च पित्तलाः ।
 दत्त्वा दत्त्वा गुणान् भूयो विकारान् कुर्वते हि ते ॥ ११९ ॥

विंशतिष्वं पञ्चदशतीलकम् । अथोमलं मण्डूरम् । कान्तं कान्तलौहम् । पद्मरसे
 पद्मपथस्वरसे । मार्कवरसे भृङ्गराजरसे । मारितपुटितकान्तलौहचूर्णे पद्मपथ-
 स्वरसेन त्रिफलाक्वाथेन च प्रत्येकं सप्तवारं मर्दयित्वा पुटपाकेन साधयेत् । मण्डूर-
 मपि शोधितं भृङ्गस्वरसेन सम्मर्दय पुटपाकं कुर्यात् । अनन्तरं टङ्गणादिकं सर्वं
 यथोक्तमानं गृहीत्वा एकीकृत्य स्थापयेत् । औत्तरभक्तिकमस्य प्रयोगः कर्त्तव्यः । प्रयोग-
 काले हितमितभोजिना च भाष्यम् ; अनन्तरं ताम्बूलसेवी च स्यात् ॥ ११३—११६ ॥

वक्ष्यमाणवैज्ञानरपोटल्यां वराटिकायाः शङ्खोपदेशात् वराटीवराटभेदेन
 द्विविधयोः वराटीलक्षणमाह, पीतवर्णेति ।—सुगमम् ॥ ११७ ॥

सत्तमादिभेदेन त्रिविधाया वराटिकाया लक्षणमाह, सार्द्धेति ।—सार्द्धनिष्कमिता
 षण्माषका । पादोननिष्कमाना माषतयमिता ॥ ११८ ॥

वराटलक्षणमाह, निष्फला इति ।—ततो न्यूनाः वराटीमानात् स्वल्पमानाः
 पुंवराटाः वराट इति संज्ञाविशिष्टाः न तु वराटिकाः ; ते निष्फलाः न्यूनत्वात्

अथ वैश्वानरपोटली ।—

शुद्धौ सूतबली चराचररजः कर्षाशतः कज्जलीं
 कृत्वा गोपयसा विमर्द्य दिवसं कृत्वा च मूषोदरे ।
 सिद्धा कुम्भिपुटे स्वतश्च शिशिरा पिष्टा करण्डे स्थिता
 स्याद्वैश्वानरपोटलीति कथिता तीव्राग्निदीप्तिप्रदा ॥१२०॥
 एकोनविंशतेशूर्णेर्मरिचानां घृतान्वितैः ।
 देयेयं वल्लमानेन वयोवल्लमवेक्ष्य ताम् ॥ १२१ ॥
 गिलेहलविशुद्धार्थं दधिभक्तमनुत्तमम् ।
 कवल्लत्रयमानेन दुर्गन्धोद्धारशान्तये ॥ १२२ ॥
 मध्यन्दिने ततो भोज्यं घृततक्रोपदंशयुक् ।
 रात्रौ च पयसा माद्वं यद्वा रोगानुसारतः ॥ १२३ ॥
 विदाहि विदलं भूरि-लवणं तैलपाचितम् ।
 विल्वञ्च कारवेल्लञ्च वृन्ताकं काञ्चिकं त्यजेत् ॥१२४॥
 इयं हि पोटली प्रोक्ता सिंहलेन भक्ष्येभृता ।
 मन्दाग्निप्रभवाशेष-रोगसङ्घातघातिनी ॥ १२५ ॥
 सिंहलस्यापि निर्दिष्टा भैरवानन्दयोगिना ।
 लोकनाथोक्तपोटल्या उपचारा इह स्मृताः ॥
 पोटल्यो दीपनाः स्निग्धा मन्दाग्नी नितरां हिताः ॥१२६॥

स्वल्पगुणाः तथा पित्ताश्च, यतः गुणान् दत्त्वा दत्त्वाऽपि मृयः पुनरपि विकारान्
 कुर्वन्ते स्वल्पगुणवत्त्वात् न स्यादियुगभागी भवन्तीत्यर्थः ॥ ११८ ॥

वैश्वानरपोटल्यां—सूतबली रसगन्धकौ । चराचररजः शोधितवराटीभक्ष्य । कुम्भि-
 पुटस्तु गूळपुट इति प्रसिद्धः । स्वतश्च शिशिरा स्वाङ्गशीता । करण्डे भाजने । गिले-
 हिति ।—चौषधसेवनजनितमुखविकृतिनाशनाथे तथा दुर्गन्धोद्धारनाशनाथे च दधिभक्तं
 कवल्लचयं भोक्तव्यम् । घृततक्रोपदंशयुक् घृततक्रे एव उपदंशौ व्यञ्जने, भोजनीयकरये
 नित्यर्थः, यद्वा—उपदंशौ चक्षुषे “चाट्” इति प्रसिद्धं, तदयुक् तदयुक्तमित्यर्थः ।
 रोगानुसारतः व्याधेरवस्थां विविच्य भोज्यं कल्पनीयमित्यर्थः ॥ १२०—१२६ ॥

अथ बडवामुखी गुटिका ।—

शुल्वायोघनभस्म वेङ्गहलिनी-व्योषाम्बुनिम्बच्छदैः
संयुक्तेश्च हरिद्रया समलवैः सार्द्धं सशुभ्रामृतैः ।
भृङ्गाभ्योविषतिन्दुकार्द्रकरमैः सम्पिथ गुञ्जामिता
मंशुष्का बडवामुखीति गुटिका नाम्नीदिता तारया ॥ १२७ ॥
क्षिप्रं क्षुत्परिबोधिनी खलु मता सर्वामयध्वंसिनी
श्लेष्मव्याधिविधूननी कसनहृच्छासापहा शूलनुत् ।
क्षुब्धैषम्यहरा च गुल्मशमनी मूलार्तिमूलङ्गषा
शोफव्याधिहराऽत्र किं बहुगिरा सर्वामयोत्सादनी ॥ १२८ ॥

अथ कल्यादनामा रसः ।—

द्विपलं गन्धकं शुद्धं द्रावयित्वा विनित्तिपेत् ।
पारदं पलमानेन मृतशुल्वायसं पुनः ॥ १२९ ॥
तोलमानेन सङ्क्षिप्य पञ्चाङ्गुलदले क्षिपेत् ।
ततो विचूर्ण्य यत्नेन निक्षिप्याऽऽयसभाजने ॥ १३० ॥
चुम्बगां निवेश्य यत्नेन ज्वालयेन्मृदुवाङ्मना ।
पात्रमात्रं हि जम्बीर-रसं सन्यक् विजारयेत् ॥ १३१ ॥
सञ्चूर्ण्य पञ्चकोलायैः कषायेः सान्त्वितसैः ।
भावनाः खलु कर्तव्याः पञ्चाशत्प्रमितास्ततः ॥ १३२ ॥

बडवामुख्यां—शुल्वं तावम् । वेङ्गं विडङ्गम् । हलिनी लाङ्गली । अम्बु
बालकम् । निम्बच्छदं निम्बपत्रम् । समलवैः समीचीनैः । सशुभ्रामृतैः शुभ्रा
सेम्बलवणम् अमृतं विषं ताव्यां सङ्घटितैः । भृङ्गः भृङ्गराजः । अभ्यो बालकम् । विष-
तिन्दुकः “कुञ्चिला” इति प्रसिद्धः । मूलार्तिमूलङ्गषा मूलार्तैः अर्शोव्याधेः मूलङ्गषा
मूलनाशिनी ॥ १२७।१२८ ॥

कल्यादरसे—“मृतशुल्वायसं पुनः तोलमानेन” इत्यत्र “शुल्वायसी चार्द्धपल-
प्रमाणे” तथा “पात्रमात्रं हि जम्बीररसम्” इत्यत्र “जम्बीरजं पञ्जरसं पलाणां शतम्”
इति रसेन्दुसारसङ्गृहीतः पाठः । पञ्चाङ्गुलदले एरण्डपत्रे । पात्रमात्रम् आढक-
जानम् । विजारयेत् विशेषयैदित्यर्थः । सञ्चूर्ण्येत्यादि ।—पञ्चकोलाकवेतसयोः

भृष्टटङ्गणचूर्णेन तुल्येन सह मलयेत् ।

तदष्टं कणलवणं सर्वतुल्यं मरीचकम् ॥ १३३ ॥

सप्तधा भावयेत् पञ्चाक्षणकचारवारिणा ।

ततः संशोष्य सम्प्रेष्य कूपिकाजठरे क्षिपेत् ॥ १३४ ॥

अत्यर्थं गुरुमांसानि गुरुभोज्यान्यनकशः ।

भुक्त्वा च कण्ठपर्यन्तं चतुर्वल्लमितं रसम् ॥ १३५ ॥

पटुस्त्रतक्रसहितं पिवेत्तदनुपानतः ।

१ क्षिप्रं तज्जीर्यते भुक्तं जायते दीपनं पुनः ॥ १३६ ॥

रसः क्रव्यादनामाऽयं प्रोक्तो मन्यानभैरवैः ।

सिंहलक्षौणिपालस्य भूरिमांसप्रियस्य च ॥

दिष्टो ग्रामं समासाद्य भैरवानन्दयोगिना ॥ १३७ ॥

कुर्वाद्दीपनमुद्धतञ्च पचनं दुष्टामसंशोषणं

तुन्दस्थौल्यनिवर्हणं गरुडरं मूलार्तिशूलापहम् ।

गुल्मप्लीहविनाशनं ग्रहणिकाविध्वंसनं स्रंसनं

वातग्रन्थिमहोदरापहरणं क्रव्यादनामा रसः ॥ १३८ ॥

प्रत्येकं क्वाथैः पञ्चाशशङ्का देयाः ; तथा च रसेन्द्रसारसङ्ग्रहे—“सुपचकोलीहव-
वारिपुरैः । सवेतसास्त्रैः शतमत्र योज्यम्” इति । अत्र शतमिति प्रत्येकक्वाथेन
पञ्चाशत् पञ्चाशत् क्त्वा बोद्धव्यम् । कणलवणं विड्मलवणम् । अणकचारवारिणा
अणकचूर्णं दग्ध्वा तद्गन्धकतचारीदकेन । “अणकचारवारिणा” इत्यत्र “अणकान्न-
केन” इति रसेन्द्रसारसङ्ग्रहे तथा “अणकपुष्परसेन” इति रसकौमुद्याच्च पाठः ।
विपलं गन्धकम् अग्नौ द्रव्योक्त्य पलप्रमाणं शुद्धपारदं तथा स्रंसं ताम्रं स्रंसं लौहञ्च
प्रत्येकं तोलकमितं तत्र प्रक्षिप्य एरण्डपत्रे पातयित्वा पर्पटिकाकारं कुर्यात् ।
ततो विचूर्ण्य लौहभाजने संख्याप्य आढकमाणं जम्बीररसं दत्त्वा सदुर्वाङ्गना
पाचयेत् । रसे सम्यक् शुक्ले अवतार्य पुनः सञ्चूर्ण्य अस्त्रवेतसपचकोलयोः क्वाथैः
प्रत्येकं पञ्चाशत् भावनाः दापयेत् । ततः सर्वतुल्यं टङ्गणं टङ्गणार्द्धं कणलवणं
गरुडच गन्धकादिभिः सर्वैः तुल्यं तत्र दत्त्वा अणकचारीदकेन सप्तवारान् भाषयित्वा
च सुष्कीकुर्यात्, ततः सञ्चूर्ण्य काचकुण्डां स्थापयेदिति ॥ १२८—१३८ ॥

अथ राजशेखरवटी ।—

भागोऽनृतरसस्यैको वत्सनाभांशकद्वयम् ।
 रसतुल्यं शिवाचूर्णं गन्धकं द्रुषणं तथा ॥ १३८ ॥
 विचूर्ण्यातिप्रयत्नेन भावयेत् सप्तवारकम् ।
 ताम्बूलीपत्रतोयेन स्वर्णधुस्तूरजद्रवैः ॥
 पिष्ट्वा चणमिताः कुर्याच्छायाशुष्कास्तु गोलिकाः ॥ १४० ॥
 उष्णाभ्युत्तराजशेखरवटी मन्दाग्निनिर्नाशिनी
 नानाकारमहाज्वरार्तिशमनी निःशेषमूलापहा ।
 पाण्डुव्याधिमहोदरार्तिशमनी शूलान्तकत् पाचनी
 शोफघ्नी पवनार्तिनाशनपटुः श्लेष्मामयध्वंसिनी ॥ १४१ ॥

अथ द्वितीयाधिक्रमः ।—

शुद्धं सूतं विषं गन्धं विचारं पटुपञ्चकम् ।
 दशकं तुल्यतुल्यांशं भर्जिता विजया नवा ॥ १४२ ॥
 दशानां तुल्यभागा च तस्याहं शिग्रुमूलकम् ।
 तत् सर्वं विजयाद्रावैः शिग्रुचित्रकभृङ्गजैः ॥ १४३ ॥
 द्रावैर्दिनत्रयं मर्द्यं रुद्ध्वा भाण्डे पचेत्तप्तु ।
 दीपाग्निना तु यामैकं शुष्कं यावत् समुद्धरेत् ॥ १४४ ॥

राजशेखरे—वत्सनाभः विषम । शिवाचूर्णं हरीतकीचूर्णम् । द्रुषणं तथेति
 चूर्णचूर्णं प्रत्येकं रससमम् । स्वर्णधुस्तूरजद्रवैः पीतपुष्पधुस्तूरमूलरसेः ॥ १३८—१४१ ॥

अधिक्रमारे—“शुद्धं सूतं विषं गन्धम्” इत्यत्र “विषम्” इति प्राप्तादिकः पाठः.
 “दशकं तुल्यतुल्यांशम्” “दशानां तुल्यभागा च” इत्याद्युत्तरवचनविरोधात्, विषेण
 सह गणनया सूतादीनामेकादशत्वप्रसङ्गाच्च । यत् केनचित् “शुद्धं सूतं विषं गन्धं विचारं
 पटुपञ्चकम्” इति पाठं प्रकल्प्य दशसङ्ख्यावत्त्वं समञ्जसीकृतं, तदपि न समीचीनं.
 “शुद्धसूतं सूतं गन्धं विचारं पटुपञ्चकम्” इति रसरत्नाकरवचनविरोधात् । विचारं
 “आरव्यं दृक्पञ्च चारव्यमुदाहृतम्” इत्युक्तप्रपम् । पटुपञ्चकं पञ्चसप्तवयम् । तस्याहं
 तस्य सर्वतुल्यस्य भृष्टविजयाचूर्णस्य अर्द्धम् । दीपाग्निना दीपशिखया ; “दीपाग्निना”

ममधा चाऽऽद्रकद्रावैर्भावयेच्चूर्णयेद्विषक् ।
दीपकोऽग्निकुमारोऽयं निष्कैकं मधुना लिहैत् ॥
प्रतिकर्षं गुडं शुण्ठी अनुपानञ्च दीपनम् ॥ १४५ ॥

अथामृतवटी ।—

कुष्ठगन्धविषव्योम-त्रिफलापारदेः समैः ।
भृङ्गास्त्रिमर्दितैर्मूत्र-मानाऽमृतवटी शुभा ॥
अजोर्णश्लेष्मवातघ्नी दीपनी रुचिवर्द्धनी ॥ १४६ ॥

अथ राक्षसनामा रसः ।—

ताम्रं पारदगन्धकौ त्रिकटुकं तीक्ष्णञ्च सौवर्चलं
खल्ले मर्यं दृढं विधाय सिकताकुम्भेऽष्टयामं ततः ।
स्त्रिभ्रं तस्य च रक्तशाकिनिभवं क्षारं समं मेलयेत्
सर्वं भावितमातुलुङ्गजरसैर्नाम्ना रसो राक्षसः ॥ १४७ ॥
मन्दाग्नी सततं ददीत मुनये प्रातः पुरा शङ्करः
मथ्येऽस्मै च्यवनाय मन्दहुतभुग्वर्याय नष्टौजसे ।
तेनादाय समस्तलोकगुरवे सूर्याय नस्मै नमो
मर्त्यानामपि चास्य दानसमये गुञ्जाष्टकं वर्जयेत् ॥ १४८ ॥

इत्यत्र “दीपाग्निना” तथा “आद्रकद्रावैर्भावयेच्चूर्णयेत् विषक्” इत्यत्र “आद्रकद्रावे-
यिवकैर्भावयेद्विषक्” इति रसरत्नाकरे पाठद्वयम् । प्रतिकर्षमिति गुडशुण्ठीः प्रत्येकं
कर्षमानमनुपानं कार्यम् ॥ १४२—१४५ ॥

अमृतवट्यां—व्योम अभयम् ; “व्योम” इत्यत्र “व्योष” इति रसेन्द्रचिन्तामणिधृत-
पाठः । समैः समभागैः ॥ १४६ ॥

राक्षसनाम्न रसे—तीक्ष्णं तीक्ष्णलौहम् । सिकताकुम्भे बालुकापूर्णभाण्डे । तस्य
ताम्रादिसर्वचूर्णस्य, सममित्यनेन अवयवः ; समं तुल्यम् । रक्तशाकिनी रक्त-
पुनर्नवा । वर्जयेत् त्यजेत्, दापयेदित्यर्थः, मर्त्येभ्यः अष्टगुञ्जापरिमितम् एतस्य
दापयेदिति ॥ १४७-१४८ ॥

अथ जीवनावस्था रसः ।—

रसगन्धी सिन्धुकणाटङ्गणमभयाऽग्निहियावलीकतकफलम् ।

क्रमशोत्तरश्च विचूर्णितया बृहतीरसमयुतभावनया ॥१४८॥

आर्द्रकहिङ्गपुनर्नवपुतिच्छिन्नरसैः क्रमशस्तु भावनया ।

तस्य कलांशविशेष विमिश्रं तद्रसमानं मानवधिया ॥१५०॥

सर्वमजीर्णं कफमारुतपाण्डुशोफहृल्लोमककामलाशूलम् ।

नाशयते हृदराग्निकरोऽयं दोषनञ्च जीवननामरसेन्द्रः ॥१५१॥

अथ बडवानलः ।—

शुक्लं तालकगन्धकौ जलनिधेः फेनोऽग्निगर्भाशयः

कान्तायो लवणानि हेमपवयो नीलाञ्जनं तुल्यकम् ।

भागो ह्लादशकी रसस्य तु दिनं वज्रास्त्वष्टृष्टं शनैः

सिद्धोऽयं बडवानलो यजपुटे रोगानशेषान् जयेत् ॥१५२॥

जीवनरस—अग्निः रसः । हियावली द्रव्यान्तरं स्वनामप्रसिद्धा । “हियावली” इत्यत्र “हियावली” इति पाठः समीचीनः, राजनिघण्टो हिमावलीति भास-
दर्शनम्, हियावन्याश्च कीरयन् दो कवाधुल्लेखाभावादिभिः कतकफलं जल-
भासादनफलम् । क्रमशोत्तरं भागविलम्बम् । पुति नाटाकरश्च । छिन्नं गुडूची । तस्य
तिनितरसगन्धादिचूर्णमुदाहृत्य, कलांशविशेषं पाण्डुशोफहृल्लोमक-
कामलाशूलं ।—मानवधिया मनुष्यबुद्धिः, युक्तनुसारिणेत्यर्थः, तद्रसमानं पीतारसस्य
परिमाणं, योज्यगतिः शेषः, रौप्यमस्मिन्प्रणालनं सिद्धस्यास्य रसस्य योग्यमात्रा
प्रयोज्या इत्यर्थः । “तद्रसमानं मानवधिया” इत्यत्र “तद्रसमावसमानवटी या”
इति पाठः—तस्य रसस्य मावसमाना वटी काव्या, या वटी, सर्वमजीर्णं नाशयते
इत्याद्यन्तर्याम्यः ॥ १४८—१५१ ॥

बडवानलः—जलनिधेः फेनः समुदफेनः । अग्निगर्भाशयः अग्निः गर्भाशये यस्य सः
शरीर इत्यर्थः, अस्य वक्त्रं यात्रम् । लवणानीति पश्चान्ना लवणानां मिलितानामेकी
भागः । हेम स्वर्णम् । पवय, हीरकाणि । भागो ह्लादशकी रसस्य इति रसभाग-
ह्लादश, शुद्धादीनामकार्द्रमात्रा रसेण सह ह्लादशमाशय, तेन रसस्य एकभागसमता
इत्यर्थः । वज्रास्त्वष्टृष्टं च उक्ताकथमस्ति । “वज्रास्त्वष्टृष्टम्” इत्यत्र “वज्रास्त्वष्टृष्टम्”
इति पाठः—वज्रास्त्वष्टृष्टोपतरसः ॥ १५२ ॥

अथाग्निजननी वटी ।—

कणनागरगन्धकपारदकं गरलं मरिचं समभागयुतम् ।

लकुचस्य रसेक्षणकप्रमिता गुटिका जनयत्यचिरादनलम् ॥१५३॥

अथ सर्वरोगान्तका वटी ।—

शुद्धसूतं विषं गन्धमजमोदं फलत्रयम् ।

मर्जिच्छारं यवक्षारं वज्रिमैन्धवजोरकम् ॥१५४॥

मौवर्चलं विडङ्गानि सामुद्रं वृषणं समम् ।

विषमुष्टिः सर्वतुल्या जम्बीरान्तेन मर्दितम् ॥१५५॥

मरिचाभां वटीं खादेद्वज्रिमान्यप्रशान्तये ।

पथ्या शुण्ठी गुडञ्चानु पलाङ्गं भक्षयेत् सदा ॥

अग्निमान्ये वटी ख्याता सर्वरोगकुलान्तका ॥१५६॥

अथापिकरम् ।—

मृतं ताम्रं कणातुल्यं चूर्णं क्षौद्रविमिश्रितम् ।

निष्पाङ्गं भक्षयेन्नित्यं नष्टवज्रिप्रदीप्तये ॥ १५७ ॥

आर्द्रकस्वरसं क्षौद्रं पलमात्रं पिबेदनु ।

यथेष्टं घृतमांसाशौ शक्नो भवति पावकः ॥ १५८ ॥

इति श्रीवैद्यपतिमिहगुप्तस्य मूलावांमटाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये उदावर्त्तान्ति-

सारगङ्गणोविस्फीवज्रिमान्यचिकित्सितं नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अग्निजनन्या—लकुचः उटुः ॥ १५३ ॥

सर्वरोगान्तकायाम्—अजमोदं चैवयमानी । वज्रिः चित्रकः । सामुद्रं “करकच” इति प्रसिद्धम् । सूतादीनां वृषणान्तानां प्रत्येकं समभागः । विषमुष्टिः “कुंषिका” इति प्रसिद्धं, सा च सर्वचूर्णसमाना । रसेन्द्रसारे योगोऽयम् अपितुण्डोति नाम्ना ख्यातम् ॥ १५४—१५६ ॥

आपिकरे—चूर्णे चूर्णीकृतं मृत ताम्रम् ॥ १५७।१५८ ॥

इति रसरत्नसमुच्चयबोधिण्यां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अथ सप्तदशोऽध्यायः ।

अथ मूत्रकृच्छ्राश्मर्यादिचिकित्सनम् ।—

अथाश्मरीनिदानम् ।—

केटौ कुक्षिप्रदेशे च शूलं प्रथमतो भवेत् ।

पश्चाद्रीधौ ज्वलन्मूत्रमश्मरीरोगलक्षणम् ॥ १ ॥

अथाश्मरीमूत्रकृच्छ्रचिकित्सा ।—

अथ पाषाणभेदी रसः ।—

रसं द्विगुणागन्धेन मर्दयित्वा प्रयत्नतः ।

वसुः पुनर्नवा वासा श्वेता ग्राह्या प्रयत्नतः ॥ २ ॥

मूत्रशुक्रादिवेगधारणजादुदावर्त्तात् अश्मरीमूत्रकृच्छ्रादिकं जायते, अतः उदावर्त्ता-
धानन्तरं मूत्रकृच्छ्रादीनां चिकित्सितं विवर्णिवुः सप्तदशाध्यायप्रारम्भे अश्मरी-
निदानमाह, कटाविति ।—रीध इत्यत्र मूत्रस्येति शेषः । ज्वलन्मूत्रमिति मूत्रत्याग-
काले लिङ्गस्तीतसि दाहो भवति । कुक्षिप्रदेशेऽङ्गुलीकाननरं—“मोतापितृजदोषण
अथवा मूत्ररोधनात् । अपथ्यादभिचाराच्च जायते चाश्मरीरोगः ॥ मूत्राविष्टौ च
नितरौ सुरतं क्रियते यदि । मूत्रेण सङ्घतं शुक्रं च्यवते गर्भसन्धौ ॥ यत्र यस्य
च देहस्य तत्र तस्य च जायते । मूत्रं मूत्रस्य संस्थाने करोति बन्धनं शुभ्र ॥
शोऽप्यसाध्यो मूत्रगदो बाह्ये दृढति मानुषम् । तारुण्येऽप्यपचारिण जायते मूत्र-
शर्करा ॥ विपरीतरतेनापि उत्तानपुरुषेण वा । शुक्रं प्रच्यवते तस्य स्त्री शुक्रञ्च
प्रमुञ्चति ॥ पुनश्च मेहनस्यञ्च ततो वातेन शोषितम् । दृढदन्तं प्रपद्येत मूत्रहारं
प्रकथ्य च ॥ तेन मूत्रनिरुद्धत्वं जायते तीव्रवेदना । अण्डसन्धौ स्थिता याति
शर्करा शस्तसाध्यताम् ॥ अथवा चतुरा नारी मेधुनं विदधाति च ! तत्पौच्छेन
भवेत् सौख्यं स्त्रीणां योनिविमर्दनम् ॥ अथ मूत्रदीपाकुशो रसः । अशकं पारदं
रक्तं लोहं वङ्गं त्रिलाजतु । समभागानि चैतानि वसुनौरेर्धिमर्दयेत् ॥ त्रिदिग्धं
मुषलीतोयेऽस्त्रिकण्टकरसेन च । मूत्रदीपाकुशस्य बल्लयुक्तं प्रदापयेत् ॥ वात
कुण्डलिकाऽऽनाहमूत्रसङ्काशमरीगदान् । वातोत्पन्नान् जयेद्दोषान् बज्रसन्दीपनः
प्रः ॥ शैबलिहानाशालानात् मूत्रदीपाकुशो रसः ॥” इत्यधिकः पाठः ॥१॥

तद्वैर्भाविदेनं प्रत्येकन्तु दिनत्रयम् ।

पक्वं मूषागतं शुष्कं खेदयेज्जलयन्त्रतः ॥ ३ ॥

पाषाणभेदी नामायं नियुज्जीतास्य वज्रयुक् ।

गोपालकर्कटीदुग्धं भूम्यामलकमूलिका ॥

कुलत्पक्वाथतोयेन पिष्ट्वा तदनुपाययेत् ॥ ४ ॥

अथ गोक्षुरप्रयोगः ।—

गोक्षुरस्य कषायञ्च सष्टतं पाययेन्निशि ॥ ५ ॥

अथ पाण्डुरादिप्रयोगः ।—

पाण्डुरफलमूलञ्च भूम्यामलकमूलिका ।

वंशस्य पेटकार्याश्च मूलं पिष्ट्वा जलं पिबेत् ॥ ६ ॥

अथ शुक्लपिण्याकादिप्रयोगः ।—

शुक्लपिण्याकपिच्छिलीचूर्णमुष्णो न वारिणा ।

पिबन् विमुच्यते रोगात्सूत्रकच्छात् सुदाकृणात् ॥ ७ ॥

अथ मूयकृन्तनकी रसः ।—

शतावरीरसे पिष्ट्वा तुल्यसूतार्कपिष्टिका ।

पाचिता कटुतैलेन सूत्रकच्छे प्रशस्यते ॥ ८ ॥

पाषाणभेदीरसे—वभूः वमुदृष्टः “वकफल्ग” इति प्रसिद्धं, तस्य पत्रं ग्राह्यम् । श्वेता श्वेतापराजिता । जलयन्त्रतः दोषायन्त्रतः, “खेदयेद्दोषायां दिनैकं तं विचूर्णयेत्” इति रसरत्नाकरदर्शनात् । वज्रयुक् वज्रवत् । गोपालकर्कटीदुग्धं गोपालकर्कटी आरव्यकर्कटीविशेषः, “कुन्दशकी” “कहुडा” इति वा प्रसिद्धं, गोरक्षकर्कटी वा, तस्या दुग्धं क्षीरम् । औषधसेवनानन्तरं कुलत्पक्वाथेन भूम्यामलकमूलं गोपालकर्कटीक्षीरञ्च पिष्ट्वा अनुपायं कुर्यात् ॥ २—४ ॥

गोक्षुरप्रयोगे—सुतं प्रचेष्ट्यम् ॥ ५ ॥

पाण्डुरादिप्रयोगे—पाण्डुरफलमूलं पाण्डुरः धवः तस्य फलं मूलञ्च । पेटकारी ज्योतिष्मती “टेपारी” इति भाषा ॥ ६ ॥

शुक्लपिण्याकादिप्रयोगे—शुक्लपिण्याकपिच्छिलीचूर्णे शुक्लपिण्याकः शुक्लतिलकश्च, पिच्छिली अतसी, “मसिना” “तिसि” इति लोके, तयोः चूर्णम् ॥ ७ ॥

मूयकृन्तनकरसे—तुल्यपारदतामसश्च शतावरीरसेन पिष्ट्वा पिष्टिकां कुर्यात्, ततः

अथ द्वितीयपाषाणभेदी रसः ।—

रसेन सितवर्षाभा रसं द्विगुणगन्धकम् ।
 वृष्टं पचेत्स मूपायां द्वौ माषौ तस्य भक्षयेत् ॥८॥
 पातालकर्कटीमूलं कुलत्थोदैः पिवेदनु ।
 गोकण्टकसदाभद्रा-मूलकाथं पिवेच्चिणि ॥
 अयं पाषाणभिक्षाम्ना रसः पाषाणभेदकः ॥९॥

अथ गोक्षुरादिचूर्णम् ।—

गोक्षुरवोजसमुत्थं चूर्णमविक्षीरसमायुक्तम् ।
 रसवरमिश्रं पिवतश्चूर्णीभूत्वाऽश्मरी पतति ॥ ११ ॥

अथ त्रिविक्रमः ।—

ऋतताम्रमजाक्षीरैः पाच्यं तुल्यं गते द्रवे ।
 तत्ताम्रं शुद्धसूतञ्च गन्धकञ्च समं समम् ॥१२॥
 निर्गुण्डयत्यद्रवैर्मर्द्यं दिनं तद्गोलमभ्युयेत् ।
 यामैकं बालुकायन्त्रे पाच्यं योज्यं द्विगुञ्जकम् ॥१३॥

कटुतेले यामं पक्का चूर्णीकृत्य च गुञ्जाचतुष्टयं प्रयोजयेत् । रसेन्द्रसारे अर्कस्थाने
 “तालकम्” इति पाठः ; किञ्च उक्तग्रन्थे रसरत्नाकरे च अस्य मावासनपानञ्च
 उक्तवान्, तद्वयथा—“मूवकच्छालकयास्य क्षौद्रेर्गुञ्जाचतुष्टयम् ।...। तुलसी तिलपिण्याकं
 विलेमूलं तुषाण्णुना । कर्पेकं वाऽनुपानेन सुरया वा सुवर्चलं ॥” इति ॥ ८ ॥

द्वितीयपाषाणभेदिरसे—सितवर्षाभाः श्वेतपुनर्नवायाः । पातालकर्कटीमूलम्
 इन्द्रवारुणीमूलम् । गोकण्टकः गोक्षुरीबीजम् । सदाभद्रा गाभारी । अस्यौषधस्य
 उपयोगसमये निशि गोकण्टकादिरयं योगः पातव्यः । रसेन्द्रसारे “पाषाणवज्रकः” इति
 ख्यातस्यास्य मुषरयन्त्रे पाकः पाकानन्तरं गुडेन मर्दनञ्च विहितम् इति । “सदाभद्रा”
 इत्यत्र “शुभा भद्रा” इति रसरत्नाकरोक्तपाठे—शुभा वंशरीचना भद्रा गाभारी ॥९॥

गोक्षुरादिचूर्णं—अविक्षीरसमायुक्तं मेघोदुग्धसहितम् । रसवरमिश्रमित्यत्र रसः
 कुसुमरसः, मधु इत्यर्थः, चक्रसङ्ग्रह-रसरत्नाकरसंवादात्, यदुक्तं—“चिकण्टकस्य
 बीजानां चूर्णे माक्षिकसंयुतम् । अविक्षीरेण सप्ताहं पिवेदश्मरीनाशनम् ॥” इति ।
 एवञ्च उत्कृष्टमाक्षिकसंयुक्तमित्यर्थः, रसवरः रससिन्दूरो वा ॥ ११ ॥

वीजपूरस्य मूलन्तु सजलञ्चानुपाययेत् ।

रसस्त्रिविक्रमो नाम्ना मासैकेनाश्मरीप्रणुत् ॥१४॥

अथानन्दभैरवी वटी ।—

तिलापामार्गकाण्डञ्च कारवेल्ग्रा यवस्य च ।

पलाशकाष्ठसंयुक्तं सर्वं तुल्यं दहेत् पुटे ॥ १५ ॥

तन्निष्कैकमजामूत्रैर्वटीञ्चानन्दभैरवीम् ।

पाययेदश्मरीं हन्ति सप्तरात्रान्न संशयः ॥१६॥

अथ अश्मरीहरयोगः ।—

पाण्डुरं फलिकामूलं जलेनैवाश्मरीहरम् ॥ १७ ॥

अथ यवचारप्रयोगः ।—

मधुना च यवचारं लीढं स्यादश्मरीहरम् ॥ १८ ॥

अथ लघुलोकेश्वरः ।—

मृतसूतस्य भागैकं चत्वारः शुद्धगन्धकात् ।

पिष्ट्वा वराटिकास्तेन रसपाटञ्च टङ्कणम् ॥ १९ ॥

क्षीरैः पिष्ट्वा मुखं रुद्ध्वा तासां ताश्चान्ध्रयेत् पुटेत् ।

स्वाङ्गशीतं विचूर्ण्य लघुलोकेश्वरो रसः ॥२०॥

चतुर्गुञ्जा रसश्चायं भरिचैकोनविंशतिः ।

जातीमूलपल्लेकन्तु अजाक्षीरेण पेषयेत् ॥

शर्कराभावितञ्चानु पीत्वा कृच्छ्रहरं भ्रुवम् ॥ २१ ॥

विचक्रमे—मृतताम्रमजाक्षीरेण तुल्यभागं गृहीत्वा तावत् पचेत् यावत् क्षीरं न श्लथति । अन्ध्रयेत् इत्यादित्यर्थः । वीजपूरस्य मूलं मातुलुङ्गमूलम् ॥१२—१४॥

आनन्दभैरवीवटिकायां—कारवेल्ग्री-यवयोरपि काण्डं यावत् ॥ १५।१६ ॥

अश्मरीहरयोगे—पाण्डुरं धवन् । फलिकामूलं फलिका अश्वत्थविशेषः “पलाश-पिपुल” इति प्रसिद्धं, तस्या मूलम् । “पाण्डुरफलिकामूलम्” इति समक्षपाठे—पाण्डुरफलिका स्वनामख्यातलघुविशेषः, “पोटरफलम्” इति प्रसिद्धम् ॥ १७ ॥

यवचारप्रयोगे—यवचारस्य भावा भावमिता यावत् ॥ १८ ॥

लघुलोकेश्वरे—तेन सूतगन्धककल्केन वराटिकाः, पूर्या इति शेषः । तासां

अथ विदार्यादि कषायः ।—

विदारीं गोलुरं यष्टिं कसेरुञ्च समं पचेत् ।
तं कषायं पिबेत् क्षौद्रं रसमस्त्रयुतं तथा ॥
भूवक्त्रच्छहरं ख्यातं सप्ताहात् पित्तसम्भवम् ॥२२॥

अथ चारप्रयोगः ।—

तिलापामार्गकदली-पलाशयवकाण्डकान् ।
दग्धा तद्वस्त्र तोयेन वस्त्रपूतञ्च कारयेत् ॥२३॥
तं पचेत्तोयशोपान्तं ततश्चूर्णं द्विगुञ्जकम् ।
दापयेदविमूत्रेण शर्कराकृच्छ्रद्वयेत् ॥२४॥

अथ हारिद्रप्रयोगः ।—

हरिद्रागुडकर्षकश्चारनालेन वा पिबेत् ॥२५॥

वराटिक्कानाम् । ताः वराटिकाः । अन्वयेत् मूषायां रुन्ध्यात् । जातीमूलपल्लवकमित्यत्र
जाती आमलकी, रसरत्नाकरे “धात्रीमूलफलैः कल्कम्” इति पाठदर्शनात् ; यद्यपि
तत्र पाठभेदः, तथापि सादृश्यात् भूवक्त्रच्छहरत्वाच्च जातीशब्देन धात्री एव
ग्राह्या, तस्या मूलस्य पल्लवकम् । रसेन्द्रसारे तु “जातीमूलफलैर्धृक्कम्” इति
पाठान्तरम् । शर्कराभावितं शर्करामिश्रितम् । अतुर्गुञ्जामितोऽयं रसः एकीन-
विंशतिभिः मरिचैः सह सेव्यः, पश्चात् जातीमूलपल्लवककल्कम् अजाक्षीरपिष्टं
शर्करायुतं पिबेदिति । रसरत्नाकरे तु छतेर्मरिचैश्च योगोऽयं दातव्य इति पठितम् ।
केचित्तु—“अजाक्षीरेण सह औषधं पीत्वा पश्चात् सशर्करम् अजाक्षीरं पेयम्
इत्यर्थः” इति व्याचक्षते ॥ १८—२१ ॥

विदार्यादिकषाये—यष्टिं यष्टिमधु । कसेरु “केयूर” इति प्रसिद्धम् । रस-
मस्त्रयुतं रससिन्दूरविमिश्रम् ॥ २२ ॥

चारप्रयोगे—तिलादिकाण्डान् मन्थीकृत्य तत् चारं षड्गुणतोये एकविंशतिवारं
वस्त्रपरिरुतं कृत्वा चारपाकविधिना जलशोधनं यावत् पचेदिति । अविमूत्रेण
क्षौद्रमूत्रेण । शर्कराकृच्छ्रदत् शर्कराजभूवक्त्रच्छराशनम् ॥ २३-२४ ॥

हारिद्रप्रयोगे—हरिद्रागुडयोर्निमित्तयोः कर्षमानता वाद्व्या । वा-शब्दोऽय-
पूर्वयोगापेक्षया, तेन च तिलादिचारं हरिद्रागुडं वा शर्कराकृच्छ्रद्वयैः ॥२५॥

अथ शैवयोगः ।—

बन्ध्याकर्कोटकीकन्दं भक्ष्यं क्षौद्रमितायुतम् ।

अश्वरीं हन्ति नो चित्रं कर्षमात्रं शिवोदितम् ॥ २६ ॥

अथ प्रमेहनिदानम् ।—

शोषस्तापोऽङ्गकार्श्यञ्च बहुमूत्रत्वमेव च ।

अस्त्रास्थ्यं सर्वगात्रेषु मूत्रमेहस्य लक्षणम् ॥ २७ ॥

अथ प्रमेहचिकित्सा ।—

अथ वक्त्रेश्वरी रमः ।—

रसस्य भस्मना तुल्यं वङ्गभस्म समाहरेत् ।

भधुना लेहयेत् प्राञ्चो वातमेहप्रशान्तये ॥ २८ ॥

मुक्तामलकयूषेण पथ्यं देयं सतक्रकम् ।

तिलपिण्डीञ्च तक्रेण पक्वा दद्यान्न हिङ्गुकम् ॥

घृतं बहु न दद्याच्च तिलतैलेन भोजयेत् ॥ २९ ॥

अथ गुडमार्कण्डो ।—

मार्कण्डोचूर्णमादाय सगुडं खादयेन्निशि ॥ ३० ॥

शैवयोगे—बन्ध्याकर्कोटकी तित्तकर्कोटकी, “तित्-कर्कोडी” “तित्-कर्कोली” इति वा भाषा ॥ २६ ॥

बलिविकृतिसाधस्यात् अश्वर्येनन्तरं प्रमेहचिकित्सितं विवक्षुरादौ तस्य निदान-
माह, शोष इति ।—सुगमम् ॥ २७ ॥

वक्त्रेश्वरे—वातमेहप्रशान्तये इत्यस्य मेहेषु अतिकर्षणात् कुपितवातानुबन्धयुक्तमेह-
शान्तये इत्यर्थः, न तु स्वकारणकुपितवातमेहशान्तये, तस्य असाध्यत्वात् ; यदुक्तं चरके
—“या वातमेहान् प्रति पूर्वमुक्ता वातोल्लेखानां विहिता क्रिया सा । वायुर्हि मेहेष्वति-
कर्षितानां कुप्यत्यसाध्यान् प्रति नास्ति चिन्ता ॥” इति । रसेन्द्रसारसङ्ग्रहे इक्षुमेहे
अस्य साधद्वयं प्रयोज्यमिति पठितम् । वक्त्रेश्वररससंवनकाले उपचारविशेषमाह,
मुक्तेति ।—तिलपिण्डी तिलपिष्टम् । न हिङ्गुकम् अत्यङ्गुसंयुतम् ; गजव-
हृषदर्थवाची । “दद्यादङ्गुकम्” इति पाठेऽपि स एवायं । घृतं बहु न
दद्याच्च इत्यनेन अल्पमितं घृतं दद्यादित्यवगम्यते ॥ २८।२९ ॥

गुडमार्कण्डो—मार्कण्डो कर्कोटकम् ॥ ३० ॥

अथ तास्ययोगः । —

तास्त्रेण तुर्यभागेण कुर्वीत रसपिटिकाम् ।
गोक्षरस्य द्रवे चैव निक्षिपेत् सप्तकद्वयम् ॥ ३१ ॥
निम्बमध्ये विनिक्षिप्य स्वेदयेत् कार्त्तिकेऽहनि ।
निम्बन्तरे विनिक्षिप्य वक्त्रे मन्थारयेन्निशि ॥ ३२ ॥

अथ रक्तमेहे वक्त्रप्रयोगः । —

रक्तमेहेऽपि भस्त्रैव वङ्गस्य मधुना चरेत् ॥ ३३ ॥

अथ शुक्लमेहे वङ्गप्रयोगः । —

शुक्लमेहप्रशान्त्यर्थं हरिद्राचूर्णसंयुतम् ॥ ३४ ॥

अथ मधुमेहे वङ्गप्रयोगः । —

मधुमेहापनुत्त्यर्थं समालार्जुनचूर्णकम् ।
वङ्गभस्मसमायुक्तं खादयेच्छर्करान्वितम् ॥ ३५ ॥

अथ शाल्मलीप्रयोगः । —

शाल्मलीद्रुतिमादाय प्राययेन्मधुना सह ॥ ३६ ॥

अथ रक्तमेहे बोलवद्धरसस्य प्रयोगोपदेशः । —

बोलवद्धं रसं जग्ध्वा रक्तमेहाद्धिमुच्यते ।
बीजकस्य कषायश्च पिबेदनु सञ्चालकम् ॥ ३७ ॥

तास्ययोगे—पाटिकेन तास्येण सह रसस्य पिटिका कृत्वा अग्नौ प्रताप्य प्रताप्य चतुर्दशवारं गोक्षरकाये निक्षिपेत्, ततो निम्बमध्ये संस्थाप्य दिवा कार्त्तिकेन दोलायन्त्ये स्वेदयेत्, रात्रौ च निम्बकात् तां पिटिकां बहिष्कृत्य निम्बकाक्षरे संस्थाप्य च सुखं धारयेत् इति ॥ ३१।३२ ॥

रक्तमेहे वङ्गप्रयोगे—सर्वे स्पष्टम् ॥ ३३ ॥

शुक्लमेहे वङ्गप्रयोगे ।—हरिद्राचूर्णसंयुतं वङ्गभस्म मधुना चरेत् इति पूर्ववर्णयोग-
नीयम् । शुक्लमेहः पिटमेहः ॥ ३४ ॥

मधुमेहे वङ्गप्रयोगे—समालार्जुनचूर्णकमित्यत्र माला भूस्यामलकौ ॥ ३५ ॥

शाल्मलीप्रयोगे—शाल्मलीद्रुतिं शाल्मलीमूलरसम् ॥ ३६ ॥

रक्तमेहे अधिकारात्तरोक्तबोलवद्धरसस्य प्रयोगमुपदिशति, बोलवद्धमिति । —

अथ श्लेष्मातकक्षाथः ।—

श्लेष्मातमूलजक्षाथं सघृतं निशि पाययेत् ॥ ३८ ॥

अथ कुष्माण्डस्वरसप्रयोगः ।—

कुष्माण्डस्य रसं वेक्ष्ण-खण्डयुक्तन्तु पाययेत् ॥ ३९ ॥

अथ स्त्रीणां रक्तस्रावे तौवरयोगः ।—

स्त्रियं वा रुधिरस्रावामामदुग्धेन पाययेत् ।

तुवरीमूलमुद्धृतं सम्यक् शर्करयाऽन्वितम् ॥ ४० ॥

अथ चन्द्रप्रभा गुटिका ।—

बीलं जातिफलं मधूकयुगलं सारं तथा खादिरं

कर्पूरामलकी-मटी-बहुसुता-घोण्टाक्षमार-स्थिराः ।

कामीसं भवबीज-दाडिम-सह्य सर्वं समं कल्पितं

प्रत्येकं दधिदुग्धलाङ्गुलिरसैस्तुम्बस्य मुद्गस्य च ॥ ४१ ॥

रसेन भावितं तस्य गुटिका सम्प्रकल्पिता ।

जयेच्चन्द्रप्रभा नाम तौत्रान् मेहादिकान् गदान् ॥ ४२ ॥

बीलबद्धं रसं कासाधिकारोक्तम् । बीजकस्य असमस्य । सबीलकं गन्धबीलसूत्रं प्रलेप-
युक्तम् ; बीलबद्धरसं जम्बूा सबीलकं बीजककाथमनुपानं कुर्यात् ॥ ३७ ॥

श्लेष्मातकक्षाथे—श्लेष्मातमूलजक्षाथं बहुवारमूलकाथम् । अयमपि योगः रक्तमेहं
प्रयोज्यः ॥ ३८ ॥

कुष्माण्डस्वरसप्रयोगे—वेक्ष्णखण्डयुक्तं विडङ्गशर्कराभ्यां युक्तं विडङ्गतण्डुलयुक्तं वा ।
अयमपि रक्तमेहे ॥ ३९ ॥

तौवरयोगे—रुधिरस्रावां क्षुत रुधिरां, 'रक्तमेहवर्ती' प्रदरव्याधिमतौ वा ।
तुवरीमूलमुद्धृतं घृष्टमाढकीमूलम् ; रक्तमेहात्तां प्रदररोगात्तां वा अपक्वदुग्धेन
आढकीमूलं घृष्टां सशर्करं पाययेदिति योज्यम् ॥ ४० ॥

चन्द्रप्रभायां—मधूकयुगलं मधूकं गुडपुष्पं, "नडुया" इति ख्यातम् ; तच्च
जलजस्रालजमेदात् विविधम् । बहुसुता शतावरी । घोण्टा चारण्यबद्धं पूगफलं
वा । अक्षसारः अक्षवेतसः । स्थिरा शालपर्णी । भवबीजं शिवलिङ्गीबीजं

अथ प्रमेहजसिंहः ।—

चाण्डालीराक्षसोपुष्प-रसमध्वाज्यटङ्कणम् ।
रसं समांशोपरसं समं हेन्ना विमर्दितम् ॥४३॥
समांशं पूतिलोहं वा मूषायां विपचेत् क्रमात् ।
प्रमेहजसिंहोऽयं रसः क्षौद्रैर्हिमाषकम् ॥४४॥

अथ मन्त्रविद्या गुटिका ।—

मर्दितं किंशुकरसैः कान्तनागाभ्रपारदम् ।
कषायैः खिन्ननाकुल्या बालुकायन्त्रपाचितम् ॥४५॥
राजावर्त्तशिलाधातु-ताप्यमण्डूरमाक्षिकैः ।
तुल्यवैक्रान्तकासीसैः समैः सर्वैरिमैः समम् ॥४६॥
आधारो कृष्णमूला तु कपिल्यश्रावणी हिमम् ।
नारिकेलस्य मूलानां मुस्ताचन्दनसारयोः ॥ ४७ ॥

बहुवारभीजं वा । सहा माषपर्णौ । लाङ्गुली कलिकारिका । तुम्बस्य तित्तालाव्याः ;
एषां प्रत्येकं रसेन सप्त सप्त वारान् भावना दातव्या ॥ ४१।४२ ॥

प्रमेहजसिंह—चाण्डाली लिङ्गिनी. “पञ्चगुरिधा” इति ख्यातं, तस्या बीजं,
राक्षसोपुष्प राक्षसी चण्डा तस्याः पुष्पम्, एतयोः रसः । रसं रससिन्दूरम् ।
समांशोपरसं तुल्याभकम् ; अत्र रसोपरसशब्दाभ्यां रससिन्दूराभे यादौ,
“पारदाभकयोर्भक्त्य” इति रसरत्नाकरदर्शनात् । रसरत्नाकरे “समं हेन्ना” इति
पाठो न दृश्यते, दृश्यते च “मृतलोहाष्टकं समम्” इति पाठः । पूतिलोहं “पूतिलोहं
द्वितयमुदितं नागवक्त्राभिधानम्” इत्युक्त्वा नागं वङ्गुकेत्यर्थः । पूतिलोहं वा
इत्यत्र वा-शब्दः समांशोपरसमित्यपेक्षया बोध्यः, समांशोपरसं समांशं पूतिलोहं वा ।
योगोऽयं गणपटे पक्तव्यः शुक्रमेहे च प्रयोज्यः । रसरत्नाकरे अस्यानुपालमप्युक्तं यथा—
“लिङ्गेशानुपिबेतकैर्निष्कैकं टङ्कणं सहा” इति । तत्रास्य “मेहहिरदसिंहः” इति
नाम ॥ ४३।४४ ॥

मन्त्रविद्यागुटिकायां—किंशुकरसैः प्रजाशपुष्पसरसैः । क्रान्तं कान्तलोहम् ।
/ वागः सीसकम् । खिन्ननाकुल्याः क्षयितराक्षायाः । शिलाधातुः सुवर्णैरिकम् ।
ताप्यं खर्षमाचिकम् । नाचिकं रौप्यमाचिकम् । आधारौ देशान्तरे प्रसिद्धौ ।

काकजम्बूपसूनानां रसैः सह विमर्दयेत् ।

गुटिकां भक्षयेत्तस्य माषहितयसन्निताम् ॥४८॥

धात्रीरसञ्चानुपिवेत्ताकुलोचूर्णमात्रया ।

रात्रौ धात्रीरसो देयो महाविद्या प्रमेहजित् ॥ ४९ ॥

अथ बहुभाषितप्रमेहकारिः ।—

घोर्यं पुरारिर्वनिमलसंज्ञं जम्बीरनीरेण विमर्द्य भस्म ।

रमार्द्धभागेन ददौत शुक्लं सर्वं ततो गोपयना विमर्द्य ॥५०॥

खर्जूरभक्ष्यणिङ्कहंसपाटी-द्वालेण भस्त्वेन गुडचिकायाः ।

मांमौञ्जिवाकर्कटकचटणी-बीजेस्तदोदयैः मलिनैर्विभाव्य ॥५१॥

ततो रसः सिध्यति वल्लभस्य शुक्लप्रमेहे सति शास्त्रलोनाम् ।

मूलाखुना वा कुसुमाखुना वा दद्यात् पयोभक्तकमत्र योज्यम् ॥५२॥

क्षौद्रेण दुर्नाम्नि तथाऽश्मरीषु गवां पयोभिर्निश्चिलप्रमेहे ॥५३॥

कणामूला कणशरिवाः । आरणी मुण्डिरी । हिमस उशोरम । काकजम्बूपसूनानां भूमिजम्बूपपाणाम् । अथै कसः,—कालादिचतुष्टय किंशकरमेन नाकुलोक्षपायेण च सदर्शिता मुवाया संश्राप्य च शालकायले पचेत्, स्वाङ्गशीतस तं समुद्रुष्य प्राजावर्त्तादिचूर्णे प्रत्येकं कालादिमम तत्र मिश्रयित्वा आधार्ण्याटीना प्रत्येकं रसेन दिग्भक्तं विमर्द्य च माषदधनिता गुटिका कुर्यात् । औषधसंयवानन्तर रात्रौ चूर्ण-माषमामलकौरसेनानुपिवेत् रात्रौ च केवलं धात्रीरसं पिवेदिति ॥ ४५—४९ ॥

बहुभाषितप्रमेहकारौ—पुरारिर्वी पारटम् । बलितस्तमंज्ञं नवनीताख्यं गन्धकम्, “चामलासा गन्धक” इति प्रसिद्धम् । “चस्तमंज्ञम्” इत्यत्र “चभस्तमं” इति पाठे—अभ्यर्थको भागः शास्त्रः । भस्म इत्यस्य शुक्लमित्यनेन सन्त्यस्यः । गोपयसा गन्धदुधेन । सत्यणिङ्कः “इत्रो रसो नः सत्यङ्गी घनः किञ्चिद्वान्वितः । सन्दं यत् सत्यने तस्मात् तन्मत्यङ्गो निगद्यत ॥” इत्युक्तलक्षणकं फाणितं “मात गुड” इति भाषा ; “कस्तुत्व कान्दम् । जमपाटी गोधापटी “गोयालिता” इति ख्यातम् । कर्कटः कर्कोटकं “कोकरोल” इति भाषा । रुच्यं कतकफलम् । खर्जूरपाटीनां यथाधीयं रसेन क्राष्टेन वा प्रत्येकं सप्त भावना देया इति । कुसुमाखुना इत्यादि । शास्त्रलोनामित्यनेनैव सन्त्यस्यः । पयोभक्तकं वारितस्तमम् ॥ ५०—५३ ॥

अथ उनाशब्धः ।—

रसाभ्रकौ तुल्यसमानभागौ जम्बीरनौरेस्त्रिदिनं विमर्य ।
 कुर्वीत मूषां कुहरे निवेश्य वज्जी ततस्तस्य पुटानि सप्त ॥५४॥
 बीजाह्वमुष्काक्षयुगैश्चतस्रः स्यर्भावना हे ककुभा त्रिवारम् ।
 यष्टीसिताकेतकजीररश्मा-खर्जूरिकाजातिदलैः प्रतिस्वम् ॥५५॥
 एवं हि सिद्धस्य रसस्य वज्जी मधुप्रयुक्तः सहसा शिशूनाम् ।
 सन्तापशोषौ बलहीनताञ्च तृषाञ्च वासासलिलैः प्रमेहान् ॥५६॥
 निवर्त्तयेद्दासरसप्तकेन दुग्धोदनं स्यादिह भोजनाय ।
 नौरेण बल्लूनवप्रवालान्निषेय्य तैः शर्करया समन्वितैः ॥५७॥
 सर्वप्रमेहान् विनिहन्ति दत्तो दिनत्रयं विंशतिवत्सरस्य ।
 अन्नं ससर्पिः ससितं प्रयोज्यं दिनानि सप्त त्रिगुणानि चात्र ॥५८॥
 वरामधुभ्यां सहितस्य यस्य पञ्चाधिका वत्सरविंशतिः स्यात् ।
 हैयङ्गवोनेन गवाञ्च पथ्यं त्रिःसप्तसङ्ख्यानि दिनानि कार्यम् ॥५९॥
 प्रस्त्रिन्नगोधूमरसेन हन्ति स त्रिंशदब्दस्य दिनत्रयेण ।
 अन्नं ससर्पिः सगुडं हि देयं मध्विन्नखण्डैस्त्रिदिनं विधातुम् ॥६०॥

उनाशब्धौ—मूषां कुर्वीत मूषावहं कुर्यादित्यर्थः । कुहरे मर्त्तं । बीजाह्वः
 मातृगुहः तस्य मूलम् । मुष्कः मुष्कं, घण्टापाटला ; “मुष्क” इत्यत्र
 “मुक्त” इति पाठान्तरम् । अचयुगः अचयुगं, विभीतकवौजं रुद्राक्षबीजञ्च ;
 यद्वा—अचः विभीतकवौजं, युगम् ऋद्धिनामौषधम् । चतस्रः इति पष्ठां
 चतुर्णां पृथक् पृथक् छायेन एकैकवारं भावना दातव्या । ककुभा अर्जुनत्वचा
 ते, भावने दातव्ये इति योज्यम् । सिता दूर्वा । जातिदलैः जातिपत्रैः ।
 प्रतिस्वं स्वं स्मिति वाक्येन प्रत्येकमित्यर्थः, त्रिवारमित्यनेन योज्यम् ।
 नौरेवेति ।—बल्लूनवपञ्चवान् बल्लोत्रस्य कोमलपत्राणि ; पादौ बल्लूनकोमल-
 पत्राणि जलेन निषेय्य पश्चात् शर्करायुक्ते तत्पत्ररसे सह दिनत्रयं दत्तः
 इत्यन्वयः । विंशतिवत्सरस्य विंशतिवर्षवयस्कस्य पुंसः इत्यर्थः, विंशतिवत्सरोत्थि-
 तान् प्रमेहानिति वा अर्थः ; एवं पञ्चविंशतिवर्षादावपि बीज्यम् । दिनानि सप्त
 त्रिगुणानि एकविंशतिदिनानीत्यर्थः, अन्नं प्रयोज्यमित्यनेनान्वयः । वरा निकृष्टा ।

अङ्गानि सम्यग्विनिदाघसङ्ग-गतानि खानि स्फुटनं ददौत ।

चिञ्चागुडाभ्यां युतमन्नमस्मिन् द्राक्षादिनीरेण विमिश्रितः सन् ॥ ६१ ॥

दिनत्रयं लङ्घनजं विशोषं विनाशयेद्गोस्तनिकासिताभ्याम् ॥ ६२ ॥

पथ्यं देयमुमाशब्धौ वासुदेवेन निर्मिते ।

पातुं जगन्ति कृपया मेहध्वान्तविवस्वति ॥ ६३ ॥

अथ नागसूतयोगः ।—

नागं कपालमध्ये क्षिप्वा चार्म्मं विशोधयेत् क्रमशः ।

चिञ्चाकवचक्षारं स्वल्पं स्वल्पं विकीर्य कुन्तलेन ॥ ६४ ॥

भागं पारदसौप्तं पृष्ट्वा पृष्ट्वा विचूर्णितं सम्यक् ।

तिलमानमादिमधुना तरवटबीजेन मिश्रितं क्रमशः ॥

मेहगणार्त्तिविनाशं मपिटकं कुष्ठमनिलञ्च ॥ ६५ ॥

हैयङ्गबीजेन सद्यःकृतेन घृतेन । मन्त्रिन्नगोधूमरसेन गोधूमकायेन । मन्त्रित्यादि ।—
विनिदाघसङ्गतानि प्रवलयीभूतोऽङ्गानि अङ्गानि तथा खानि स्रोतांसि
च सम्यक् विधातुं स्वप्यानि कर्तुमित्यर्थः, तथा स्फुटनं दोषरुद्धस्रोतसां विकासनं,
विधातुमिति शेषः, मन्त्रिच्छुखण्डैः विदिनं ददौत इत्यन्वयः । चिञ्चा तिलिङ्गी ।
अस्मिन् एतदौषधसंवनकाले । द्राक्षादिनीरेण इत्यत्र आदिपदेन खर्जूरपदवकाशोनां
यद्वयम् ; द्राक्षादिकाशेन विमिश्रितः, एष शोथ इति शेषः, दिनत्रयं दत्तः सन्
लङ्घनजं विशोषं विनाशयेदित्यन्वयः । वासुदेवेन कृपया जगन्ति पातुं निर्मिते
मेहध्वान्तविवस्वति मेहरोगतिमिरनाशनसूर्यस्वरूपे उमाशब्धौ तदाख्ये अस्मिन्
योगे गोकनिकासिताभ्यां पथ्यं देयमिति ॥ ६४—६५ ॥

नागसूतयोगे—कपालमध्ये खर्परमध्ये । चिञ्चाकवचक्षारं चिञ्चा तिलिङ्गी,
कवचः भूर्जत्वक् तथोः क्षारं, तिलिङ्गोत्प्लूतं क्षारं वा । कुन्तलेन दर्व्याः इत्यर्थः ।
पारदसौप्तं पारदेन सह सौप्तकं, कथितप्रक्रियया भक्ष्यभूतं सौप्तकं पारदश्च भागं
समभागं गृहीत्वा कुन्तलेन सम्यक् पृष्ट्वा पृष्ट्वा विचूर्णितमित्यन्वयः कार्यः ; अत्र
खर्परमध्ये पारददानोक्त्यभावेऽपि “भागं पारदसौप्तं कुन्तलेन पृष्ट्वा पृष्ट्वा विचूर्णितं
सम्यक्” इति वाक्यवशात् नागभक्ष्यकाले पारदमपि तत्क्षमं खर्परे देयम् इति
ज्ञेयम् । तिलमानम् एवं-सिद्धसौषधस्य तिलप्रमाणम् । आदिमधुना पुराण-
प्रमाणम् इत्यर्थः ; तिलमानमादि तिलमानप्रभृति, तिलप्रमाणमारभ्येत्यर्थो वा ।

अथ कान्तादिगुडिका ।—

कान्ताभ्रमण्डूरहरीतकौनां विचूर्णितानां क्रमशः शरांशम् ।

रसेन भूतांशमथो दशांशं द्वाविंशदष्टोत्तरमुत्तमायाः ॥६६॥

अन्नं मृदित्वा गुडिकां विधाय तन्नेन पोतं तलपोटकस्य ।

वीजञ्च तेषां द्विगुणं प्रकल्प्य मेहामयानाशु जयेत् प्रमेही ॥६७॥

अथ कासीसादिमोदकम् ।—

कासीसं कृष्णनागं क्षितिधररुधिरं नीलमभ्रं सुकान्तं

हेमाङ्गं भूमिसारं सलिलरिपुदलं मेहतिथ्यारिवोजम् ।

गोरिखा चारिमेदः क्षितिरुहसहितं श्वेतगुञ्जाद्विवीजं

कापित्थासृग्विमिश्रं क्षितिफलसहितं रोहिणी चाक्षमिश्रम् ॥६८॥

सर्वं सम्पिष्ट्य तोये करिविजयंभुवा मोदकानक्षमात्रान्

कुर्व्यात्तन्नेन देयं क्षपयति निखिलं मूत्ररोगं त्विरात्रात् ।

तरवटरीजं बाहुल्याद्युपविशेषस्य बीजम् । क्रमशः क्रमवर्द्धितमित्यर्थः । सपिटकं पिडकासहितम् ॥ ६४६३ ॥

कान्तादिगुडिकायां—कान्तादीनां क्रमशः शरांशं पञ्चांशं, रसेन इत्यत्र मितमंश-
मिति शेषः, षडंशमित्यर्थः, भूतांशं पञ्चभागम् ; एवं कान्तचूर्णस्य पञ्च भागाः अभस्य
षड्भागः मण्डूरस्य पञ्च भागाः हरीतक्याश्च दश भागाः यास्त्राः । द्वाविंशदिति ।—
उत्तमायाः विफलायाः, मेहहन्त्रत्वात् उत्तमाशयेनात्र विफला एव यास्त्रा ;
द्वाविंशदष्टोत्तरं चत्वारिंशत् भागाः । तलपोटकस्य तथासां प्रसिद्धस्य । तेषां
समुदितकान्तादिचूर्णानाम् ॥ ६४६७ ॥

कासीसादिमोदके—कृष्णनागं कृष्ण नीलाभ्रं तेन सह नागं सौवकम् ।
क्षितिधररुधिरं गैरिकम् । नीलमभ्रं कृष्णाभ्रम् । सुकान्तं कान्तलौहम् । हेमाङ्गं
अल्पकं तस्य त्वक् । भूमिसारम् आस्रोता क्षतिमुक्तकलता वा । सलिलरिपुदलं
कुम्भिकपत्रं “पाना” इति भाषा । मेहतिथ्यारिवोजं मेहः अज्जीरः “पेयारा” इति
प्रसिद्धं, तिथ्यः आमलकम्, अरिः खदिरविशेषः तेषां बीजम् । गोरिखा
“बीजी” इति प्रसिद्धम् । चारिमेदः बिट्खदिरः । क्षितिरुहसहितं श्वेतगुञ्जा-
द्विवीजं सपननालं श्वेतगुञ्जाया मूलं बीजम् । कापित्थासृक् क्षपित्थफलमन्ना ।
क्षितिफलसहितं भूमिजम्बूसहितम् । रोहिणी कटुका । अक्षमिश्रं विभीतकयुतम् ।

सप्ताहात् कल्पनाशं तृषमतिबहुलां हन्ति पक्षाद्विधत्ते
मासात् सर्वाङ्गवृद्धिं मुनिभिरभिहितो मेहिनां गुह्ययोगः ॥६८॥

अथ भीमपराक्रमः ।—

तुल्याभ्यां रसगन्धाभ्यां कृत्वा कज्जलिकां त्राहम् ।
द्रावयित्वाऽऽयसे पात्रे मृदुना बदराग्निना ॥७०॥
निरुत्यमष्टमांशेन सीसभस्म विनिर्दिष्टपेत् ।
सन्मिश्रं कदलीपत्रे निक्षिप्य तदनन्तरम् ॥७१॥
आकृष्य परिपिष्ट्वाऽथ सीसभस्मप्रमाणतः ।
कान्ताभ्रमस्त्वयोर्भस्म राजावर्त्तकभस्म च ॥७२॥
परिशुद्धञ्च गोमूत्रे शिलाघातं निधाय च ।
खले निक्षिप्य तत् सर्वं यत्नेन परिमर्दयेत् ॥७३॥
तुल्यगुञ्जाकुलीबीज-चूर्णकल्कोत्थवारिणा ।
कतकाङ्गिकषायेण निम्बपत्ररसेन च ॥७४॥
ततः संशोष्य सञ्चूर्ण्य चिम्बा लोहस्य भाजने ।
त्रिफलानां कषायेण सप्तधा परिभावयेत् ॥७५॥

करिविजयभुवा करिविजयः नागदमनाख्यः क्षुपः शिबलिक्री लता वा तदुवा
तदुत्पत्तेन । अथ काशीशादीनां करिविजयानां सर्वेषां समभागः ; किञ्च
शर्कराया उल्लेखाभावेऽपि मोदकपट्टसामर्थ्यात् सर्वचूर्णात् द्विगुणशर्करया मोदकः
कल्पनीयः । कल्पनाशं कल्पते अनेन इति व्युत्पत्त्या कल्पः मनः, समो-
विकार इत्यर्थः, तस्य नाशं लिङ्गनाशमिति वा ; “कल्कनाशम्” इति पाठे—पुरीष-
सङ्गृहमित्यर्थः ॥ ६८।६९ ॥

भीमपराक्रमे—निरुत्यं सम्यक् कृतम् । अष्टमांशेन इति कज्जलीभूतयोः रस-
गन्धयोरपेक्षया । शिलाघातं शिलाजतु । अथ कान्तादिशिलानां अतुषां प्रत्येकं
सीसवीर्यं बोद्धव्यम् । तुल्येति ।—आकुलीबीजं देशान्तरे प्रसिद्धम् ; कीकिलार्ज-
बीजमिति केचित् ; तुल्ययोः गुञ्जाकुलीबीजयोः चूर्णे एव कल्को, “अत्यन्तशुद्धं यद्वयं
सुपिष्टं बलशालितम् । तत् स्वाशुष्यं रजः क्षोदस्तन्मात्रा कर्षसंश्रिता” इत्युक्त्या
चूर्णत्वापि कल्ककपलात्, न तु “द्रव्यमाद्रे शिलापिष्टम्” इत्यादिरूपः ; तदुत्थवारिणा

आकुलीवीजवर्वूर-निर्यासौ भृष्टचूर्णितौ ।
 समौ रससमौ कृत्वा रसेन सह मर्दयेत् ॥ ७६ ॥
 इति सिद्धरसः सोऽयं भवेद्भीमपराक्रमः ।
 नामतः सर्वमेहघ्नो दृष्टप्रत्ययकारकः ॥ ७७ ॥
 वल्लद्वयमिता ग्राह्यो जलैः पर्युषितैः सह ।
 पथ्यं मेहोचितं देयं वर्ज्यं सर्वं विवर्जयेत् ॥ ७८ ॥

अथ सञ्जीवनः ।—

पलमात्रं रसं शुद्धं वरनागसमन्वितम् ।
 निक्षिप्य पातनायन्त्रे त्रिंशद्वाराणि पातयेत् ॥ ७९ ॥
 समाहरेद्रसं सम्यक् पातनायन्त्रके मृतम् ।
 मृते रसे क्षिपेत्तुल्यं भूपालावर्तभस्मकम् ॥ ८० ॥
 निरुत्य तपुभस्मापि निक्षिपेदष्टमांशतः ।
 ततो निम्बदलद्रावैस्त्रिंशद्वारं हि भावयेत् ॥
 ततः संशोष्य सञ्चूर्ण्य क्षिपेद्दरकरण्डके ॥ ८१ ॥
 सञ्जीवनोऽयं खलु वल्लमानो निशाकुलोचूर्णयुतः सतक्रः ।
 निहन्ति सर्वानपि मेहरोगान्मृणां नितान्तं कुरुते क्षुधाञ्च ॥ ८२ ॥

अथ मेहमर्दनः ।—

शुद्धसीसोद्भवं भस्म निर्व्यूढं व्योम्नि ममधा ।
 ततो विचूर्ण्य तन्मध्ये कान्तभस्म समं क्षिपेत् ॥ ८३ ॥

चूर्णालोडितजलेन । कतकं जलप्रसादनफलं तस्य अङ्गिकाषायेण मूलकायेन ।
 वर्वूरनिर्यासः बञ्जीलनिर्यासः । समौ रससमौ इति उभयोः मिलित्वा रससमौ
 इत्यर्थः । पर्युषितैः निशोषितैः ॥ ७९—७८ ॥

सञ्जीवने—रसनागयोः मिलित्वा पलमात्रम् । वरनागसमन्वितम् अष्टमाध्यायीक-
 लक्षणाक्रान्तनागविशेषसहितम् । पातनायन्त्रे “अष्टाङ्गुलपरिणाहम्” इत्यादिना
 नवमाध्यायीके । तुल्यं मृतरससमानम् । भूपालावर्तभस्मकं राजावर्तभस्म ।
 तपुभस्म वङ्गभस्म । अष्टमांशतः इति मृतरसापेक्षया बोध्यम् । दरकरण्डके उत्तम-
 भागने ॥ ७९—८२ ॥

गोमूत्रकशिलाधातु-द्रव्येण परिमर्दयेत् ।
 शोषयित्वा विचूर्ण्य चिपेन्नागकरण्डके ॥८४॥
 मेहमर्दननामाऽयं दिष्टो भालुकिना खलु ।
 गुञ्जाद्वयमितो देयो निम्बामलकसंयुतः ॥८५॥
 निहन्ति सकलान् मेहान् सर्वोपद्रवसंयुतान् ।
 तत्तद्गोहृरैर्द्रव्यैः सर्वरोगनिवर्हणः ॥
 रोगानुरूपं दातव्यं पथ्यमत्र यथोचितम् ॥ ८६ ॥

अथ रामबाणरसः ।—

व्रणणा निहतं तारं स्त्रणं नागहतं तथा ।
 मृतसूतं तयोस्तुल्यं मर्दयेद्दिवसत्रयम् ॥८७॥
 आकुलीमूलजैः क्वाथैः शोषयित्वा मुहुर्मुहुः ।
 ताप्यवैक्रान्तराडूर्त्त-भस्म सर्वसमं चिपेत् ॥८८॥
 विमर्द्य बलिना सर्वं षोढा तुषपुटैः पचेत् ।
 आकुलीबीजबर्बूर-क्वाथितैर्भावयेच्चिधा ॥८९॥

मेहमर्दने—निर्व्यूढं निश्चितं, मिश्रितमित्यर्थः । व्योम्नि अस्त्रे । सप्तधा इति पदं
 भस्म इत्यनेन सम्बध्यते, ततश्च सप्तकालः कृतं शुद्धसौसीकं भस्म इत्यन्वयः ; शुद्धसौसकं
 सप्तवारान् भस्मीकृत्य अस्त्रेण सह मिश्रयित्वा इत्यर्थः । गोमूत्रकशिलाधातुद्रव्येण
 गोमूत्रगन्धिशिलाजतुक्वाथेन । नागकरण्डके सौसकभाजने, हस्तिदन्तनिर्मितभाजने
 वा । दिष्टः उपदिष्टः ॥ ८३—८६ ॥

रामबाणरसे—व्रणणा निहतं तारं वज्रेण सह मारितं रौप्यम् । नामहतं
 स्त्रणं सौसकेन सह पुटितं स्त्रणम् । मृतसूतं रसमिन्दूरम् । ताप्यं स्त्रणं भाषि-
 कम् । राडूर्त्तः राजावर्त्तः । सर्वसमं तारादीनां द्रव्याणां तुल्यं मिलित-
 ताप्यादिवयम् ; तेन तारस्त्रणयोः प्रत्येकं माषषट्कं रसमिन्दूरस्य सार्द्धं तोलकं
 ताप्यादीनाञ्च प्रत्येकं तोलकभागम् इति । बलिना गन्धकेन, मृतसूततुल्येन इत्यर्थः,
 सह इति शेषः । षोढा षड्वारान् । तुषपुटेः तुषकृतैः पुटैः, “गोवरैर्वा तुषैर्वापि पुटं
 यत्र प्रदीयते । तद्गोवरपुटं भोक्तुं रसभक्ष्यप्रसिद्धये ॥” इति-लक्षणे तुषपुटस्य विशेषत्वेन
 यद्वक्ष्यामावेऽपि तुषैर्वापि इति वा-शब्दप्रयोगसामर्थ्यात् यत्र गोवरैश्च पुटं दीयते तत्र

तं रसं परिचूर्ण्य स्थापयेत् कूपिकोदरे ।
गुडूचीसत्त्वसंयुक्तो वल्लतुल्यो रसस्त्वयम् ॥८०॥
निहन्ति सकलं मेहं मोहं ध्यात इवैश्वरः ।
बाणवद्रामचन्द्रस्य सज्जनस्येव भाषितम् ॥
न याति जातु मेहित्वं रामबाणो रसोत्तमः ॥ ८१ ॥

अथ राजसृगाहः ।—

सुवर्णं रजतं कान्तं ताम्रं त्रयं ससीसकम् ।
भस्मोक्तत्वा च तत् सर्वं क्रमवृद्ध्या कृतांशकम् ॥८२॥
व्योमसत्त्वभवं भस्म सर्वैस्तुल्यं प्रकल्पयेत् ।
कज्जलीं सूतराजस्य सर्वैरेतैः समांशिकाम् ॥८३॥
प्रद्राव्य लोहभस्माथ पूर्वभस्म विनिक्षिपेत् ।
काष्ठेनाऽऽलीढ्य तत् सर्वं सद्रवं हि समाहरेत् ॥८४॥

गोबरयोगात् गोवरपुटं, यत्र च तुषेण पुटं दीयते तत्र तुषयोगात् तुषपट्टमिति मन्तव्यम् । गुडूचीसत्त्वं गुडूचीसारम् । मोहमिति ।—ध्यातः चिन्तितः स्मृतः ईश्वरः मोहमिव, ईश्वरध्यानेन यथा मोहो नश्यति, तथा रसोऽयं सकलं मेहं निहन्ति । “मोहध्वान्तमिवेश्वरः” इति पाठे—ईश्वरः शङ्करः मोहध्वान्तमिव अज्ञानान्धकारं यथा निहन्ति तथा इत्यर्थः ; “ज्ञानमिच्छेत् शङ्करात्” इति वचनेन शङ्करस्य ज्ञानप्रदत्वात् अज्ञानान्धकारनाशकत्वं बोद्धव्यम् । बाणवदिति ।—रामचन्द्रस्य बाणो यथा महावीर्यः सज्जनस्य भाषितं वचनं यथा नासत्यं तथा महावीर्यः सत्यप्रयोगश्च अयं रसोत्तमः रामबाणः, सेवितश्चेदिति शेषः, तदा स जनः जातु मेहित्वं न याति मेहरोगं न प्राप्नोति ॥ ८०—८१ ॥

राजसृगाहे—क्रमवृद्ध्या कृतांशकम् उत्तरोत्तरं भागवृद्धियुतम्, एवञ्च सुवर्णस्य एकः रजतस्य द्वौ कान्तस्य त्रयः इत्यादिरीत्या इत्यर्थः । व्योमिति ।—अथसत्त्वभस्मनः एक-विंशतिभागा यान्त्राः । कज्जलीं सूतराजस्य इत्यत्र गन्धकस्य उल्लेखाभावेऽपि कज्जलीपद-प्रयोगसामर्थ्यात् तुल्याभ्यां रसगन्धाभ्यां कृता कज्जलीति मन्तव्यम् । सर्वैरेतैः सुवर्णादि-व्योमभस्मान्तैः सर्वैः, तेन कज्जल्याः द्वाचत्वारिंशद्भागा बोद्धव्याः । अथमर्थः,—रसपप्टी-विधानेन चादौ कज्जलीं द्रवीकृत्य तत्र पूर्वं लोहभस्म निक्षिप्य काष्ठदण्डेन किञ्चिदा-लीकृत्य, अनन्तरं सुवर्णादीनां भस्म तत्र दत्त्वा द्रवीभूतमेव तत् सर्वं पुनरपि काष्ठ-

ततो विचूर्ण्य तत् सर्वं सप्तवारं विभावयेत् ।
 आकुलीवीजसम्भूत-क्वाथलेहेन यत्नतः ॥८५॥
 रुद्धं तन्मल्लमूषायां सर्वं संस्वेदयेच्छनैः ।
 इति सिद्धो रसेन्द्रोऽयं चूर्णितः पटगालितः ॥८६॥
 कान्तपात्रस्थिते रात्रौ जलेस्त्रिफलसंयुतेः ।
 वल्लद्वयमितः प्रातर्दातव्यो मेहरोगिणाम् ॥८७॥
 मृगचारिमुनीन्द्रेण मेहव्यूहविनाशनः ।
 निर्दिष्टोऽयं रसो राज-मृगाङ्ग इति कीर्तितः ॥८८॥
 दीपनः पाचनो वृष्यो ग्रहणीपाण्डनाशनः ।
 तापघ्नो रुचिकृत् सर्व-रोगघ्नो योगसंयुतः ॥८९॥

अथ मेहहरः ।—

राजावर्त्तस्य रत्नस्य भस्म गन्धकसाधितम् ।
 हतञ्च भस्मना तेन घनसत्त्वञ्च कान्तकम् ॥१००॥
 निहतं तेन सूतञ्च तत्तन्मारणकैः सह ।
 सत्त्वतुल्येन सूतेन तावता गन्धकेन च ॥१०१॥

इष्टेनालोद्य च कदलीपत्रोपरि सप्तात्य पर्पटीविधिना पचेत्, ततो विचूर्ण्य विभावयेदिति । आकुलीत्यत्र क्वाथलेहेन लेहीभूतन क्वाथेन रसक्रियादपेक्षेत्यर्थः । मल्लमूषायां “निर्दिष्टा मल्लमूषा या मल्लवितथसम्पुटात् । पर्पट्यादिरसादीनां स्वेदनाय प्रकीर्तिता ॥” इत्युक्तलक्षणं शरावद्वयकृते मूषाविशेषे शनैः संस्वेदयेत् मृदुवर्जिना पाचयेत् ॥ ८२—८९ ॥

मेहहरः—राजावर्त्तस्य भस्म इति गन्धकेन सह पिष्टः सारितश्च राजावर्त्त इत्यर्थः । तेन भस्मना राजावर्त्तभस्मना । तेन अभसत्त्वभस्मना कान्तभस्मना च । तत्तन्मारणकैः पूर्वोक्तैरसमारणकैः । सत्त्वतुल्येन अभसत्त्वतुल्येन । तावता तत्परिमितेन । पञ्चादकमितेः अत्वारिंशच्छरावपरिमितेः । अयमर्थः,—चादौ गन्धकेन सह राजावर्त्तं भस्मीकुर्यात्, ततः भस्मीभूतेन तेनैव राजावर्त्तेन समम् अभसत्त्वं कान्तलोड्य पृथक् पृथक् मर्दयित्वा भस्मीकृत्य च स्थापयेत् । अथ तेनैव अभसत्त्वभस्मना लोड्यभस्मना यथाप्राप्तेन रसमारणकद्रव्यगणेन च पारदं सम्यग्यं भस्मीभूतं कुर्यात् । ततः उत्तरीत्या चतं सूतम्

कज्जल्या कतया सार्द्धं पूर्वभस्मं नियोजयेत् ।
 त्रिदिनं मर्दयित्वा तु मूषायां विनिरुध्य च ॥१०२॥
 पञ्चादकमितैः शालि-तुषैश्च पुटमाचरेत् ।
 स्वाङ्गशीतं समाहृत्य भावयेत्तदनन्तरम् ॥१०३॥
 आकुलीमूलबर्बर-वोजगुञ्जाजटोद्भवैः ।
 कषायैरष्टवाराणि पटचूर्णं विधाय तत् ॥१०४॥
 विनिक्षिपेत् करण्डान्ते यत्नेन स्थापयेत्ततः ।
 तत्तन्मेहहरैर्द्रव्यैः संयुक्तो रसरुडयम् ॥१०५॥
 निहन्ति सकलान् रोगान् दुरात्मोपकृतीरिव ।
 अयं हि सर्वरोगघ्नो भेषजेषु प्रशस्यते ॥१०६॥
 धार्मिकेष्विव सर्वेषु दयावानिव मानवः ।
 रसोऽयं नन्दिना दिष्टः प्रकृष्टो मेहहारिषु ॥ १०७ ॥

अथोदयभास्करः ।—

पारदं भागमेकन्तु गन्धकं टङ्कणं तथा ।
 अभ्रकं लोहमेवन्तु भागमेकं पृथक् पृथक् ॥१०८॥
 शिलाधातुस्तथा भागमस्त्वैतसभागकम् ।
 कटफलं भागमेकन्तु वङ्गेन सह योजयेत् ॥१०९॥
 रमञ्च पञ्चमूत्रेण दिनानि त्रीणि मर्दयेत् ।
 सर्वमेकत्र संयोज्य जम्बीररससंयुतम् ॥११०॥

अथमस्तुतुल्यं गृहीत्वा समेन गन्धकेन कज्जलीं कुर्यात् ; अनन्तरं तथाकृतं
 राजावर्णादीनां भक्ष्यं प्रत्येकं समभागं कज्जल्या सह दिवसत्रयसममयं मूषावर्द्ध-
 कत्वा च तुषपुटे पथेत् ; स्वाङ्गशीतञ्च तं गृहीत्वा आकुलीमूलादीनां प्रत्येकं
 क्वाथेन चष्टी वारान् भावयेत्, ततः संशोष्य सञ्चूर्ण्य च वस्त्रपूतं कल्पा
 स्थापयेदिति ॥ १००—१०७ ॥

उदयभास्करे—वङ्गेन इत्यत्र भागैकेन इति शेषः । पारदादीनां मिश्रणक्रम-
 माह, रक्षति ।—पञ्चमूत्रेण “गवानजानां नेषीषां महिषीषाञ्च मिश्रितम् ।

मर्दयेद्दिनचत्वारि खल्लके बुद्धिमान् भिषक् ।
 भूषिकालेपनं कुर्यात् मांसौगोक्षरसंयुतम् ॥१११॥
 मर्दयेच्च यथायोग्यं दिनानामेकविंशतिः ।
 पुटमध्ये परिस्थाप्य कुक्कुटोमात्रके दहैत् ॥११२॥
 शीतलं तं समादाय भावयेच्च यथाक्रमम् ।
 कुमारोचितकव्याष-जातीफलह्रियावलीम् ॥११३॥
 विषमुष्टिं नखञ्चाम्ल-वेतसं परिमर्दयेत् ।
 शोषं कृत्वा यथायोग्यं दिनमेकं पृथक् पृथक् ॥११४॥
 तं सिद्धं वल्लमात्रन्तु दापयेत् बुद्धिमान् भिषक् ।
 मेहस्य मधुना युक्तः प्रयोज्यो भिषजां वरैः ॥११५॥
 शर्करार्द्रकसंयुक्तं रक्तपित्ते प्रयोजयेत् ।
 त्रिंशद्दिनानि दातव्यः शूले च त्रिफलाजलैः ॥११६॥
 मधुना चातिसारस्य श्वासकासस्य शर्करा ।
 क्षीरेण चाग्निमान्द्यस्य तैलकार्ज्जकसंयुतः ॥
 सिद्धनाथेन सम्प्रोक्तो नाम्ना हृदयभास्करः ॥११७॥

मूत्रेण गर्दभीषाच्च तन्मृतं मूत्रपञ्चकम् ॥” इत्युक्तेन मूत्रपञ्चकेन । कुक्कुटोमात्रके
 पुटमध्ये “पुटं भूमितले यत तत् वितस्तिवितथोक्त्यम् । तावच्च तलविस्तीर्णे
 तत् स्यात् कुक्कुटं पुटम् ॥” इत्युक्तलक्षणे कुटुपुटे । ह्रियावलीम् अम्ल-
 वेतसञ्च इत्यनयोः इत्वा इति शेषः ; “ह्रियावलीम्” इत्यत्र “ह्रिमावलीम्” इति
 पाठः साधुः, तच्च प्रागेव प्रदर्शितम् । शर्करार्द्रकसंयुक्तं शर्करापानीयमिश्रितमित्यर्थः,
 नात्र आर्द्रकशब्देन आर्द्रकशृङ्गवरैः अभिहितः, रक्तपित्तविरोधित्वात् । श्वासकासस्य
 क्षीरेण सह शर्करा, अनुपानं दातव्यमिति योजनीयम् । अथं क्रमः,—रसं दिवसत्रयं
 पञ्चमूत्रेण मर्दयित्वा प्रक्षाल्य च गन्धकेन सह कज्जलीं कुर्यात्, ततः टङ्गणादिकं
 तत्र मेलयित्वा जम्बीररसेन दिनचतुष्टयं मर्दयेत्, अनन्तरं मांसौगीक्षुरक्ताद्येन
 एकविंशतिदिनानि शनैर्मर्दयित्वा तेनैवपेन मूवीदरमालिष्य कुक्कुटपुटे पचेत्,
 ततः स्वाद्यशीतं समुद्धृत्य कुमार्यादीनां पृथक् पृथक् रसैः क्रावैर्वा एकमेकं दिनं
 मर्दयित्वा वल्लमानां वटीं कुर्यात् ॥ १०८—११७ ॥

अथ मेहकुठारः ।—

पिप्पला कार्पासतक्री रसधरणदृशा तुल्यनामं कपित्था-
न्निर्यासं पञ्चनिष्कं निहितशतजलारातिवोजञ्च पश्चात् ।
कृत्वा पिण्डानि तेन प्रतिदिनमथ तत् पिण्डमेकं कपित्था-
न्निर्यासं पादनिष्कं मथितमधुयुतं मेहजालं कणद्धि ॥११८॥

अथ हिमांशुः ।—

रसस्य कर्षमादाय खल्ले निक्षिप्य बुद्धिमान् ।
रक्तागस्त्यप्रसूनस्य स्वरसेन विमर्दयेत् ॥११९॥
सप्तवारं तथा साधु श्वेतदूर्वारसेन च ।
निष्कद्वयं टङ्कणञ्च कर्षं खादिरसारतः ॥१२०॥
कर्पूरं रसतुल्यञ्च सर्वमेकत्र मर्दयेत् ।
यावच्चिक्कणतां याति युक्त्या चन्दनवारिणा ॥१२१॥
हरेणुमात्रान् वटकांश्छायायां परिशोषितान् ।
प्रातः प्रातश्च सेवेत मध्याह्ने च विशेषतः ॥१२२॥
निशायाञ्च विशेषेण सेवनीयाः प्रयत्नतः ।
एतद्धि मेहनुद्ध्यं मुखशोषहरं परम् ॥
सोमरोगहरं सर्व-पिटिकानाशनं परम् ॥१२३॥

मेहकुठारः—कार्पासतक्री कार्पासेन सहितं तक्रं तस्मिन्, कार्पासपुष्पस्वरसे तक्रे
श्लेथ्यः । रसधरणदृशा धरणं श्राव्यः पलदशमांशो वा, रसस्य धरणदृशा धरणतयेण ।
कपित्थान्निर्यासं कपित्थमज्जा, तस्य पञ्चनिष्कमितं यावत् । निहितेति ।—निहितं
निक्षिप्तं शतं शतगुणकं जलारातिवोजं जलारातिवोजं, जलयोरैक्यात् अजडावोज-
मित्यर्थः, शतसङ्काकं कपिकच्छुबोजम् आमलकं वा, रसायनत्वेन मेहनाशित्वेन च
जात्रापह्लादिति ; यद्वा—जलारातिः कुम्भीकः “पात्रा” इति भाषा, तस्य वोजम् ।
पादनिष्कं निष्कचतुर्धाशं, पादनिष्कं तन्निष्कमेकम् इत्यन्वयः । कार्पासान्निर्यासस्यापि
पादनिष्कलं बोद्धव्यम् । मथितमधुयुतं सततमधुसंयुतम् ॥ ११८ ॥

हिमांशुः—रक्तागस्त्यप्रसूनस्य रक्तवर्णवकपुष्पस्य । चन्दनवारिणा घृष्टचन्दनाः

अथ वसन्तकुसुमाकरः ।—

दिभागी हिमभूतेश गगनञ्चापि तत्समम् ।
 लोहस्य च त्रयो भागाश्चत्वारो रसभस्मनः ॥१२४॥
 वङ्गभस्म त्रिभागं स्यात् सर्वमेकत्र कारयेत् ।
 प्रबालं मौक्तिकञ्चैव रससाम्येन योजयेत् ॥१२५॥
 भावना गन्धदुग्धेन इक्ष्वामारसेन च ।
 हरिद्रावारिजेनैव मोचाकन्दरसेन च ॥१२६॥
 शतपत्ररसेनैव मालत्याः कुसुमेन च ।
 उशीरद्वयनीरेण सप्त सप्त च सङ्ख्याया ॥१२७॥
 पश्चात् मृगमदा भाव्यं सुसिद्धी रसराड् भवेत् ।
 कुसुमाकरविख्यातो वसन्तपदपूर्वकः ॥१२८॥
 गुञ्जामात्रं ददीतास्य मधुना सर्वमेहजित् ।
 क्षयकासतृषाश्वास-रक्तपित्तविषार्तिजित् ॥
 सिताचन्दनसंयुक्तश्चास्त्रपित्तादिरोगमुत् ॥१२९॥

अथ मेहहरः ।—

पारदभस्मशिलाजतुकण्ठा-लोहमलत्रिफलाकुलिवीजम् ।
 ताप्यनिशारजकीपलकान्त-व्योषरजः खपुरश्च कपित्थात् ॥१३०॥

खोडितोदकेन चन्दनचूर्णमिश्रितोदकेन वा चन्दनकायेन वा । हरिणुमात्रान् कलाय-
 मानान् ॥ ११९—१२३ ॥

वसन्तकुसुमाकरे—हिमभूतेः स्वरूपभस्मनः । गगनम् अभम् । रसभस्मनः रस-
 सिन्दूरस्य । रससाम्येन रससिन्दूरतुल्येन । हरिद्रावारिजेनैव हरिद्रारसेन तथा
 बारिजेन रसेन बालककायेन । मोचाकन्दरसेन कदलीमूलरसेन । शतपत्ररसेन
 पञ्चपुष्परसेन । उशीरद्वयनीरेण उशीरद्वयं सत्यव्रह्मव्रतमेदात् द्विविधं वीरणमूलं
 तन्नरीरेण तरकायेन ॥ १२४—१२८ ॥

मेहहरे—कण्ठा कण्ठगौरवम् । रजकः रज्जुकः कम्पितकः इत्यर्थः । उपलं
 मन्तःशिला । कान्तः कान्तलौहम् ; उपलकान्त इति समस्तपदं वा, तथात्वे कान्त-
 पादाश्च इत्यर्थः । खपुरः गुवाकः, अस्य उच्यते मलकं याज्यं, मेहहरत्वात् ।

सर्वमिदं परिचूर्ण्य समांशं भावितभृङ्गरसं दिवसादौ ।

विंशतिवारमिदं मधुलेहं विंशतिमेहहरं हरिदृष्टम् ॥१३१॥

अथ मेहारिः ।—

सूतं बाहुमितं बलिं शशिमितं सम्यग् तत् कज्जलीं

कृत्वा कण्टहारण्यतीयसङ्घितां सम्यग् घस्य पुनः ।

कूप्यामभ्रककालिकां सुपिष्टितां मृत्स्नांशुकैः सप्तभिः

संवेष्ट्य त्रिदिनं विशोष्य खवणापूर्णं क्षिपेद्वाण्डके ॥१३२॥

दग्धा यामचतुष्टये तु शशिरां भिप्त्वा च तां कूपिकां

तं सूतं हिलवं खवञ्च गगनं लोहं लवं मर्दयेत् ।

मिहो वल्लमितः मिता च मधुना वत्सादनीमत्त्वतो

नो चेत् चौद्रकणायुतश्च तरसा सर्वप्रमेहान् जयेत् ॥१३३॥

रोगाधीश्वरपाण्डुकामलहरिद्राभत्वपित्ताद्भवान्

सर्वांश्च प्रदरामयान् विजयते मेहारिनामा रसः ॥१३४॥

कपित्वात् इत्यत्र मज्जा इति शेषः । भावितभृङ्गरसं भावितः भृङ्गरसो यत्र तत्, प्रदामित्यस्य विशेषणम् ; विंशतिवारमित्यस्य भावितभृङ्गरसमित्यनेन सम्बन्धः । दिवसादौ इति पदं मधुलेहमित्यनेन सम्बध्यते ; मधुलेहं मधुना लिङ्गन् लिङ्गित्यर्थः । “हरिदृष्टम्” इत्यत्र “परिदृष्टम्” इति युक्तः पाठः । “हरिदृष्टम्” इति पाठे— हरेण उपदिष्टमित्यर्थः ॥ १३०।१३१ ॥

मेहारौ—बाहुमितं भागद्वयमित्यर्थः । शशिमितम् एकभागम् । कण्टहारण्य- तीयसङ्घितां कण्टधुन्तूरसङ्घिताम् । घस्यं दिनम् । अभ्रककालिकां कण्ठाभ्रखण्डम् । मृत्स्नांशुकैः सप्तभिः सप्तभिः सङ्घितवस्त्रखण्डैः । यामचतुष्टये चतुष्पङ्कशाभ्यन्तरे । तं सूतम् उत्तमप्रकारेण भक्ष्यभूतं सूतं हिलवं खवः चतुर्थोऽंशः तद्वयम्, उत्तमप्रकारेण भक्ष्य- सूतस्य अर्द्धमित्यर्थः । खवञ्च गगनं सूताचतुर्थीशम् अभ्रकम् । वल्लमितः रत्नवयमितो रसः । वत्सादनीमत्त्वतः गुडूचीशर्करातः गुडूचीरसतो वा । कज्जलीं कण्टधुन्तूर- पत्रसेन एकदिनं मर्दयित्वा कूपिकायां संस्थाप्य च कण्ठाभ्रखण्डेन कूपिकामुखं कृत्वा, ततः सप्तभिः सङ्घितवस्त्रखण्डैः कूपिकां तां संवेष्ट्य त्रिदिनम् आतपे शोषयित्वा च खवण्ययन्ते चतुःपङ्कं पचेत् । ततः स्वाद्वशीतां तां कूपिकां भङ्क्ता

अथ मेहवद्धरसः ।—

भस्मसूतं सूतं कान्तं मुण्डभस्म शिलाजतु ।
ताप्यं शुद्धं शिला व्योषं त्रिफलाऽङ्गोलबीजकम् ॥ १३५॥
कपित्थरजनीचूर्णं समं सम्भाव्य भृङ्गिणा ।
त्रिंशद्द्वारं विशोष्याथ मधुयुक्तं लिहेत् सदा ॥ १३६॥
निष्कमात्रं हरेन्मेहान् मेहवद्धो रसो महान् ।
महानिम्बस्य बीजानि षण्निष्कं पेषितानि तु ॥ १३७॥
पलतण्डुलतोयेन घृतनिष्कद्वयेन च ।
एकीकृत्य पिबेच्चानु हन्ति मेहं चिरन्तनम् ॥ १३८॥

अथ हरिशङ्करसः ।—

सूतं सूताभ्रकं तुल्यं धात्रीफलनिजद्रवैः ।
सप्ताहं भावयेत् खल्ले रसोऽयं हरिशङ्करः ॥ १३९॥
माषमेकां वटीं खाटेन्नीलमेहप्रशान्तये ।
पूर्वयोगानुपानं स्यादसाध्यं साधयेत् क्षणात् ॥ १४० ॥

इति श्रीवैद्यपतिमिहगुप्तस्य स्तोत्रात्मिकाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये मुक्ताञ्जलिप्रसारी-
मेहसंमरीचपिटिकाचिकित्सितं नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

भक्षीभूतरसस्य भागवयं गगनस्य लोहस्य च एकैकभागं मिश्रयित्वा सिद्धात् रसात्
रक्तिवयं सितादिभिः सह भक्षणीयम् ॥ १३२—१३४ ॥

मेहवद्धरसे—सूतं कान्तं कान्तलोहभस्म । मुण्डभस्म मुण्डलोहभस्म । रसेन्द्रसारे
—“सूतं कान्तं मुण्डभस्म” इत्यत्र “सूतं कान्तलोहभस्म” इति पाठान्तरम् ।
रसरत्नाकरे “मुण्डभस्म” इत्यत्र “तीक्ष्णभस्म” इति पाठः । अङ्गोलबीजकम्
अङ्गोलबीजम् । “अङ्गोलबीजकम्” इत्यत्र “विल्वजीरकम्” इति रसेन्द्रसारसङ्ग्रहे
पाठः । भृङ्गिणा भृङ्गराजसेन । रसेन्द्रसारे मेहवद्धाख्योऽयम् ॥ १३५—१३८ ॥

हरिशङ्करसे—धात्रीफलनिजद्रवैः आमलकखरसेः । “धात्रीफलनिजद्रवैः” इत्यत्र
“धात्रीफलनिजद्रवैः” इति रसेन्द्रसारोक्तः पाठः । पूर्वयोगानुपानं “महानिम्बस्य”
इत्यादिना मेहवद्धोक्तमनुपानम् ॥ १३९।१४० ॥

इति रसरत्नसमुच्चयबोधिन्यां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

अथाष्टादंशोऽध्यायः ।

अथ विद्वध्यादिचिकित्सनम् ।—

अथ विद्वधेर्निदानं सम्प्राप्तिश्च ।—

अन्नैरध्वंषितोऽणुशुष्कपरुषैरन्यैरसृग्दूषणै-

र्वक्त्रैर्वा शयनादिभिस्तनुभृतामन्तर्वह्निर्वोत्थितः ।

मेदस्त्वक्पलकण्डूरास्थिरुधिरं गाढं प्रदूष्य कृतो

वृत्तः स्यादथवायतोऽधिकरुजः शोथस्त्वसौ विद्वधिः ॥ १ ॥

अथ विद्वधिचिकित्सा ।—

अथ सर्वेश्वरपर्वटी ।—

रसोपरसलोहानि कार्षिकाणि पृथक् पृथक् ।

तेषु लोहानि सर्वाणि पाषाणाः कठिनास्तथा ॥ २ ॥

प्रमेहोपेक्षया पिडका जायते, विद्वधेश्च पिडकासामान्यात् दशविधपिडकाऽनर्गता-
त्वाद्वा प्रमेहानन्तरं विद्वध्यादिचिकित्सितं विवर्षिषुः अष्टादशाध्यायमारभते, तत्र
औषधप्रयोगस्य व्याधिनिर्णयपेक्षितत्वात् आदौ विद्वधेर्निदानं सम्प्राप्तिश्चाह, अन्नै-
रिति ।—अध्वंषितोऽणुशुष्कपरुषैः पथ्युषितैः उष्णवीर्यैः उष्णस्पर्शैश्च तथा शुष्कैः परुषैः
कठिनैश्च अन्नैः, तथा असृग्दूषणैः रक्तदूषकैः अन्यैः अग्न्यधिः भोज्यैः, तथा वक्त्रैः
कुटिलैः, उन्मादचैरित्यर्थः, विषमैरिति यावत्, शयनादिभिः शयनासनस्थानादिभिः
कुपितेन दोषेणेति शेषः, तनुभृतां देहिनां मेदस्त्वक्पल मांसं कण्डूरा स्तूयशिरा
अस्थि रुधिरश्च गाढम् अग्न्यर्थे प्रदूष्य अन्तः देहाभ्यन्तरे मुदवसिस्तुखादिदेशे, बहिः
क्षचित् नात्रप्रदेशे वा सल्लितः सत्यापित इत्यर्थः, वृत्तः अथवा आगतः दीर्घाकारः
अधिकरुजः अतिक्रमशब्दः यः शोथः स्यात्, कृतः दोषेणैव जनितः इत्यर्थः, असौ
शोथः विद्वधिः ॥ १ ॥

सर्वेश्वरपर्वट्यां—रसशब्देन रसनहारसयोः तथा उपरसशब्देन च उपरस-
साधारणरसयोः यद्वचनम् ; ततश्च रसः पारदः, तथा “अभवेज्जान्त-माचोक्त-विमला-
ऽद्रिज-सख्यवन् । अपलो रसकचेति ज्ञात्वाऽष्टौ सङ्गृह्यन्ते रसान् ॥” इत्यष्टनहारसाय,
तथा उपरसाः “मन्वाग्र्य नैरि-काशीश-काशी-ताल-त्रिशाऽञ्जनम् । कङ्कुष्ठचेत्युप-

घनसत्त्वञ्च तत् सर्वं भस्मीकृत्य प्रयोजयेत् ।
 रत्नानि वल्लतुल्यानि भस्मीकृत्य च सर्वशः ॥३॥
 एभ्यश्चतुर्गुणः सूतो गन्धस्तस्माच्चतुर्गुणः ।
 कृत्वा कज्जलिकां ताभ्यां क्षिपेत्तोदस्य भाजने ॥४॥
 प्रद्राव्य बदराङ्गारैर्निक्षिपेत्तदनन्तरम् ।
 रसोपरसलोहानां रत्नानामपि सर्वशः ॥५॥
 चूर्णं भस्म च निक्षिप्य काष्ठेनाऽऽलोष्य मेजयेत् ।
 ततश्च षोडशंशेन मिश्रयित्वाऽरुणं विषम् ॥६॥
 गोमयोपरि निक्षिप्य निक्षिपेत् कदलीदले ।
 पत्रेणान्येन रश्मायाः समाच्छाद्य प्रयत्नतः ॥७॥
 कराभ्यां क्षिपिटीकृत्य क्षिपेदुपरि गोमयम् ।
 ततः शीतं समाकृत्य चूर्णयित्वा च पर्पटीम् ॥८॥
 विनिक्षिपेत् करण्डान्तः सम्पूज्य रसभेषजम् ।
 सर्वेश्वराभिधानेयं पर्पटी परिकीर्तिता ॥९॥
 सर्वलोकहितार्थाय नन्दिनेयं प्रकीर्तिता ।
 रक्तियुक्तसमानेयं मरिचार्द्रसमन्विता ॥१०॥

रसाद्याष्टौ पारदकर्मणि ॥” इत्यष्टौ तथा “कम्पिज्ञश्च परो गौरी-पाषाणो नरसारकः ।
 कपर्दो वज्रगारश्च गिरिमिन्दूरद्विजुलौ ॥ सद्धारण्यमित्यष्टौ साधारणरसाः स्मृताः ।
 रससिद्धिकराः प्रोक्ता नागार्जुनपरःसरेः ॥” इत्यष्टौ साधारणरसाश्च, तथा लोहानि
 “ग्रहं लोहं कनकरजतम्” इत्यादिना पञ्चमाध्यायीकृतानि स्वर्ण-रौप्य-ताम्र-कान्त-मुष्ट-
 तीक्ष्ण-नाग-वक्त्र-कांक्ष-पित्तल वत्सलोहाख्यानि पृथक् पृथक् कार्ष्णिकाणि, साक्षाच्च
 इति शेषः । तेषु रसोपरसलोहेषु मध्ये सर्वाणि लोहानि, तथा काठिनाः
 पाषाणाः रसोपरसयोर्मध्ये ये पाषाणाकाराः दृढाः माक्षिकादयः, तथा अथमत्त्वञ्च
 सर्वे भस्मीकृत्य प्रयोजयेत्, एतेन रसोपरसयोः ये सद्वयः तान् संशोध्य चूर्णीकृत्यैव
 प्रयोजयेत्, न तु भस्मीकृत्येति मत्तव्यम् ; अयमेवायं : “चूर्णं भस्म च निक्षिप्य”
 इत्यादिना स्फुटोक्तः आचार्येणोपरिष्ठात् । रत्नानि “वैक्रान्तः सूर्यकालश्च”
 इत्यादिना चतुर्धाध्यायीकानि । एभ्यः रसादिसमुदायेभ्यः । गन्धस्तस्माच्चतुर्गुणः

विद्रवौ षट्प्रकारे स्याद्देया बर्धसु सप्तसु ।
 क्षयरोगेषु सर्वेषु पाण्डुरोगे विशेषतः ॥११॥
 अहणीरोमभेदेषु गुल्मेष्वष्टविधेषु च ।
 मूनरोगेष्वशेषेषु ग्लीहार्थं यक्ष्णदामये ॥१२॥
 प्रमेहे सोमरोगे च प्रदरे जठराक्षिषु ।
 विशेषेण च मन्दाग्नी सर्वेष्ववर्त्तकेषु च ॥१३॥
 अनुक्तेष्वपि रोगेषु तत्तदौचित्ययोगतः ।
 रसोऽयं खलु दातव्यः शिवतुल्यपराक्रमः ॥१४॥
 यद्यद्व्यमसात्मं हि जनानामुपजायते ।
 तत् सर्वं सात्मायामाति रसस्यास्य निषेवणात् ॥१५॥
 पीतं हालाहलं तोयं पर्वताग्रे वरोद्धतम् ।
 सलिलं तैलतत्तुल्यं तज्जलं स्यात् सुधोपमम् ॥
 दुःसाध्यो विद्रभिर्मासाच्छान्तिमाप्नोति निश्चितम् ॥ १६ ॥

सूताञ्जनुर्गुणो गन्धकः । अरुणं विषमं वह्निर्गन्धं दारुमीषं वा । रक्तियुक्तसमाना रक्तमाना
 इयं पर्यटी । बर्धसु सप्तसु सप्तविधेषु हृदिरोगेषु ; बर्धशब्देनाव हृदिरोग एवाभिप्रेतः
 न तु ब्रध्नाः, तस्य सप्तविधत्वादर्शनात् इत्येव सप्तविधत्वादिति । गुल्मेषु अष्टविधेषु
 वातपित्तकफहृत्सन्निपातरक्तजेषु अष्टविधेषु गुल्मेषु । आवर्त्तकेषु पुनः प्रत्यावर्त्तन-
 शीलेषु, ये रोगाः एकवारं प्रशान्ताः पुनः प्रत्यावर्त्तन्ते ते आवर्त्तकाः ज्ञेयाः ।
 पीतमिति ।—वरोद्धतं सुतीव्रं हालाहलं गरलमपि पीतं, चेदिति शेषः, तत् पर्वताग्रे
 यत् तोयं निर्भरीदकं तत्तुल्यं, भवेदिति शेषः, अस्मिन् औषधे सेविते असात्मा
 सुतीव्रं हालाहलं पीतमपि तत् निर्भरीदकवत् सात्मानदीषच्च सम्पद्यते इत्यर्थः ।
 तथा तैलतत्तुल्यं तैलवर्णं विषण्मिथ्यः, यत् सलिलं तज्जलमपि सुधोपमं सुधावत्
 गुणकारि स्यात्, असौषधस्य सेवनात् असात्मान् अतीवविह्वलं जलमपि पीतम्
 अमृतवत् सात्मानदीषच्च सम्पद्यते इत्यर्थः । कश्चिदेतच्छ्लोकानन्तरं “भुक्ता अपि च
 पाषाणा जीर्यन्ते क्षणमावतः । नेतस्मिन्नियतः कापि विहाराराहारकर्मणि ॥ लोक-
 नाशरसोऽप्यव चोद्रेग्नुञ्चावतुष्टवम् । पाठामूलक कर्षकं पिबेत्तच्छलवारिणा ॥”
 इत्यधिकः पाठो दृश्यते ॥ १-१६ ॥

अथ वरुणकषायः ।—

वरुणावल्कलकाथे हिङ्गुकासीससैन्धवम् ।

शिलाजतुसमायुक्तमसाध्यं विद्रधिं जयेत् ॥ १७॥

अथ शोभाञ्जनादिकावः ।—

काथं शिग्रुवचाश्वत्थं हिङ्गुसैन्धवचूर्णितैः ।

संयुक्तं पाययेच्छान्धै विद्रधीरोगपीडितम् ॥ १८॥

अथ सर्वाभयहरी रसः ।—

हरिद्राकन्दमङ्गोल-तण्डुलं गन्धकं गुडम् ।

मूलानि च महाभर्याः पृथगर्द्धपलान्वितम् ॥ १९॥

तुल्यञ्च पञ्चपलिकं नारीस्तन्येन पेयितम् ।

लिप्तं नालान्ध्रमूषासु धमनात् सत्त्वमाहरेत् ॥ २०॥

शस्तं चारं रसेष्वेतत् पीटल्या पचनादनु ।

घृतेनाऽऽवर्त्तिते तस्मिन्निष्कद्वितयसम्मिते ॥ २१॥

वरुणकषाये—वरुणावल्कलकाथे वरुणत्वक्काथे ; प्रयोगदर्शनात् वरुणशब्दः आदत्तोऽप्यस्तीति मन्तव्यम् ; यदा—वरुणस्य आवल्कलम् वा सम्यक् पुष्टं घनमित्यर्थः, वल्कलम् । हिङ्गुादीनामथ प्रत्तेपः धीष्यः ; तेन हिङ्गु र २ सैन्धव र ६ काशीश्च र २ शिलाजतु र ६ षड देय इत्याहुर्हृदाः । योगोऽयमाभ्यन्तरविद्रधौ प्रयोज्यः ॥ १७ ॥

शोभाञ्जनादिकाथे—शिग्रुवचाश्वत्थं शिग्रुवचाश्वत्थकृतमित्यर्थः । “शिग्रुवचाश्वत्थम्” इत्यत्र “शिग्रुलचोत्थञ्च” इति पाठान्तरम् ॥ १८ ॥

सर्वाभयहररसे—अङ्गोलतण्डुलम् अङ्गोलमूलं विडङ्गतण्डुलश्चेत्यर्थः ; अङ्गोलबीज-मित्यर्थो वा । मूलानि च महाभर्याः “महाभरी” इति प्रसिद्धायाः वचाया मूलानि । नालान्ध्रमूषासु नालयुक्तासु गोक्षमाकारासु अन्ध्रमूषासु, तद्वत्तद्वत् “मूषा या गो-क्षमाकारा” इत्यादिना दशमाध्याये प्रदर्शितम् । अस्तिमिति ।—एतत् चारं हरिद्राकन्दादीनां चारं रसेषु रसकर्मसु शक्तं प्रशस्तम् । एवं सत्त्वसङ्गद्विधिसुक्ता अभ्यन्तरकषण्यमाह, पीटल्या इति ।—पीटल्या मूषया इति यावत्, पचनादनु पाक्वा-मन्तरं निष्कद्वितयसंमिते तीक्ष्णपरिमिते तथा घृतेनावर्त्तिते तस्मिन् सत्त्वे

प्रवेशितं निष्करसं महाजम्बीरनीरतः ।

अम्लपिष्टं शरावान्तर्लिप्तं मृदस्त्रमुद्रितम् ॥२२॥

अधरोत्तरदत्तानां भ्रष्टानामादृके स्थितम् ।

बालुकानां तथाभूतैः खारीपरिमितैस्तुषैः ॥२३॥

पक्वं शीतं कृतं क्षुण्णमष्टौ निष्काणि खर्परात् ।

चत्वारि सुरभि स्थूल-घनवर्तुलनीरुजाम् ॥२४॥

पीताभानां सगर्भत्वाद्वराटानाञ्च षोडश ।

अम्लस्य सार्द्धप्रस्थेन श्लक्ष्णपिष्टानि पात्रयोः ॥२५॥

जम्बीरमूलिकाकल्केनान्तर्लिप्तानि लिप्तयोः ।

पचेच्छृण्वकरीषाणामर्द्धभारेण यत्नतः ॥२६॥

क्षणावर्णोऽनुपक्वाऽसौ सुपक्वः शङ्खपाण्डुरः ।

निष्करसं निष्कमानं पारटं प्रवेशितं मिश्रितं, क्वेति शेषः. महाजम्बीरनीरतः. महाजम्बीररसात् अम्लपिष्टं शरावान्तर्लिप्तं तथा मृदस्त्रमुद्रितं मृत्तिप्रवस्तवेष्टितं, तत् सत्त्वं भ्रष्टानां स्थालीमध्ये निक्षिप्तानाम् अधरोत्तरदत्तानां शरावस्य कर्द्धाधोदत्तानां बालुकानामादृके आदृकपरिमितायां बालुकायां स्थितं रचितं कृत्वा तथाभूतैः स्थाल्या अधरोत्तरदत्तैरित्यर्थः. खारीपरिमितैः द्वादशशरावाधिकैः शरावशतपञ्चमितैः तुषैः पक्वं शीतं कृतं शीतोभूतं क्षुण्णं चूर्णीकृतं तद्देवजं, तथा खर्परात् अष्टौ निष्काणि, सुरभि गन्धकं चत्वारि, निष्काणीति शेषः. अम्लस्य सार्द्धप्रस्थेन श्लक्ष्णपिष्टानि, क्वेति शेषः. सगर्भत्वात् मध्ये औषधपूरणार्थं रन्ध्रवत्त्वात् स्थूलघनवर्तुलनीरुजां स्थूलानां घनानां मांसलानां वर्तुलानां गोलानां नीरुजाम् अखण्डितानां पीताभानां वराटानां षोडश, गृहीत्वा इति शेषः. अन्तर्लिप्तानि वराटोदरप्रवेशितानि तानि हरिद्राकन्दसत्त्वादिसुरभ्यन्तानि औषधानि जम्बीरमूलिकाकल्केन लिप्तयोः पात्रयोः पिष्टजम्बीरमूलेन लिप्तोदरयोः शरावयोः, स्थापितानि कृत्वा इति शेषः, लिप्तयोः पात्रयोः बहुसन्धिकयोः पात्रयोः, स्थितानीति शेषः, पात्रमध्ये औषधं संस्थाप्य सन्धिं निरुध्य च; “सुरभिस्थूलघनवर्तुलनीरुजाम्” इति समकपाठे—नीरुक् कुष्ठं, सुरभिस्थूलघनवर्तुलकुष्ठानां चत्वारि निष्काणीत्यर्थः. गुणकरीषाणाम् अर्द्ध-भारेण सहस्रपलेन, “पलानां द्विसहस्रञ्च भार एकः प्रकीर्तितः” इति लक्षणात्,

काचशङ्खमये यात्रे धारणीयः सुरक्षितः ॥

पटचूर्णवशात् सर्वाणामयान् विनियच्छति ॥२७॥

अथ वृद्धिचिकित्सा ।—

अथ दार्वीप्रयोगः ।—

चूर्णं दारुहरिद्राया गवां मूत्रैस्त्रिनिष्ककम् ।

चित्रं चिरोत्थितां हन्ति अन्तर्वृद्धिं न संशयः ॥२८॥

अथ वातारिरसस्य प्रयोगोपदेशः ।—

रसो वातारिनामा यः सोऽत्र देयः पिबेदनु ।

एरण्डतैलकर्षिकं गवां क्षीरं पलद्वयम् ॥

अण्डवृद्धिहरं ख्यातं मासमात्रान्न संशयः ॥ २९ ॥

अथ वातारिः ।—

रसभागो भवेद्वेको द्विगुणो गन्धको मतः ।

त्रिभागा त्रिफला ग्राह्या चतुर्भागश्च चित्रकः ॥३०॥

गुग्गुलुः पञ्चभागः स्यादेरण्डस्त्रेहमर्दितः ।

क्षिप्त्वाऽत्र पूर्वकं चूर्णं पुनस्तेनैव मर्दयेत् ॥३१॥

गुटिकां कर्षमात्रान्तु भक्षयेत् प्रातरेव हि ।

नागरैरण्डमूलानां क्वाथं तदनु पाययेत् ॥३२॥

यद्वतः पचत् । असौ भस्मीभूतः रसः कृष्णवर्णश्चेत् अनुपकः ह्रीनपकः “अनु ह्रीने सहास्रं अ” इति विश्ववचनादनुशब्दोऽव ह्रीनार्धकः । सुपकश्चेत् शङ्खपाण्डुरः, भवेदिति शेषः ॥ १९—२७ ॥

शोथत्वसामान्यात् विद्वद्भ्यस्तर्ह्य वृद्धिचिकित्सितं विवृण्वन् आदौ अन्तर्वृद्धिनाशने दार्वीप्रयोगमाह, चूर्णमिति ।—गुग्गुमम् ॥ २८ ॥

वातारिरसस्य अनुपातं निर्दिशति, रस इति ।—अथ अन्तर्वृद्धिरीमे वातारिनामा धी रसः वक्ष्यमाणः स देवः । एरण्डेति ।—गोक्षीरे एरण्डतैलं प्रक्षिप्य पिबेत् ॥ २९ ॥

प्राक् वातारिरस इत्युक्तं, तमेव वातारिरसमाह, रसभाग इति ।—त्रिभागा त्रिफला इति मिलितायास्त्रिफलायाः भागद्वयं, तेन प्रत्येकं रससमी भागः । अत्र एरण्ड-स्त्रेहमर्दिते गुग्गुली । पूर्वकं चूर्णे रसादि चित्रकान्तचूर्णम् । तेनैव एरण्डस्त्रेहमेव ।

अभ्यज्यैरण्डतैलेन स्वेदयेत् पृष्ठदेशकम् ।

विरिके तेन सञ्जाते स्निग्धमुष्णञ्च भोजयेत् ॥३३॥

वातारिमंजको ह्येषः रसो निर्वातसेवितः ।

मासेन सुखयत्येव ब्रह्मचर्यपुरःसरः ॥

विजयागुटिकां रात्रौ स्वल्पमात्राञ्च भक्षयेत् ॥३४॥

अथ तैलाद्रंशप्रयोगः ।—

कर्षिकं तिलतैलान्तु पलैकञ्चाऽऽद्रंशकद्रवम् ।

यः पिबेत् प्रातरुत्थाय तस्यान्ववृद्धिर्हृद्वेत् ॥३५॥

अथ अन्ववृद्धौ पानीयतैलम् ।—

गोमूत्रैरण्डतैलञ्च छागमांसरसं तथा ।

त्रिफलाक्ताथतुल्यांशं तैलशेषं विपाचयेत् ॥

तत्तैलान्तु पिबेत् कर्षमन्ववृद्धिप्रशान्तये ॥ ३६ ॥

अथ अन्ववृद्धौ पानीयतैलान्तरं घृतञ्च ।—

दध्यानलमदिरा-मातुलुङ्गरसैः समैः ।

ताम्रचूडरसैस्तुल्यं तैलं वा घृतमेव वा ॥

स्नेहशेषं पचेत् सर्वं तत् पिबेदन्ववृद्धिजित् ॥ ३७ ॥

निर्वातसेवितः प्रवातरहिते देशे अवस्थितः । ब्रह्मचर्यपुरःसरः उपस्थसंयमपूर्वकः । विजयागुटिकां पितृविजयया कृतां गुडिकाम् । पञ्चभागं विशोधितं गग्गुलुमादौ एरण्डतैलेन मर्दयित्वा पश्चात् तत्र रसादिकं मिश्रयित्वा पुनः एरण्डतैलेन मर्दयेत् ॥ ३०—३४ ॥

तैलाद्रंशप्रयोगे—अन्ववृद्धिद्वत्, योगोऽयमिति शेषः ॥३५॥

अन्ववृद्धौ पानीयतैले—त्रिफलाक्ताथतुल्यांशं त्रिफलाक्ताथः तुल्यांशः समो यत्र तादृशम् एरण्डतैलम्, एतेन एरण्डतैलादीनां त्रयाणां तुल्यत्वं गोमूत्रस्य च चातुर्गुण्ये बोद्धव्यम् ॥ ३६ ॥

अन्ववृद्धिद्वत्पानीयतैलघृतयोः—समैः समपरिमितैः दध्नादिभिः । ताम्रचूडरसैः कुकुटमांसरसैः । अक्षतकानिदम् ॥ ३७ ॥

अथ अन्तर्हृदौ मांसरसः ।—

अन्तर्हृदिहरः पाने मयूरान्तित्तिराद्रसः ॥ ३८ ॥

अथ अन्तर्हृदौ द्वितीयमांसरसः ।—

वार्त्ताकं कुक्कुटं पक्षा तद्रसं पानभोजने ।

योजयेदन्तर्हृद्वार्त्तं शममाप्नोति नान्यथा ॥ ३९ ॥

अथ गुन्धपूर्वरूपम् ।—

उद्गारबाहुल्यपूरोषबन्ध-हृत्पथसमत्वान्त्विकूजनानि ।

आटोपमाधानमपक्तिशक्तिरासन्नगुल्मस्य वदन्ति चिह्नम् ॥ ४० ॥

अथ गुल्मचिकित्सा ।—

अथ गन्धकादिपोटलीरसः ।—

गन्धकं तालकं ताप्यं शिलाह्वं पिप्पलीकृतम् ।

कषाये भावयेत् सुद्ध्याः क्षीरे सूत्रे च सप्तशः ॥ ४१ ॥

निष्कार्द्वमस्याः पोटल्याः स्यादर्द्धं साज्यमाक्षिकम् ।

प्रयोज्यं सयुक्तप्लीङ्गि पञ्चकोलपशालिना ॥ ४२ ॥

अन्तर्हृदिहरमांसरसे—मयूरान्तित्तिरयोः मिलितयो रसः पक्त्व्यः ॥ ३८ ॥

अन्तर्हृदिहरे द्वितीयमांसरसे—वार्त्ताकं तित्तिरम् । अत्रापि वार्त्ताककुक्कुटयोः मिलितयो रसः ज्ञेयः ॥ ३९ ॥

अथ बाधोरव्यभिचरितत्वसाधन्यात् हृद्वानन्तरं गुन्धचिकित्सितं विषचुरादौ तस्य पूर्ववरूपमाह, उद्गारेति ।—हृत्पथः सौहित्यं गतस्येव अनन्नाकाङ्क्षा । अन्तर्हृदौ कर्मस्व-सानर्थम् । आटोपं सन्नजमुदरचोभं तल्लतलं वा, न तु गुडगुल्फाभ्जनिः, “अन्तर्हृद्विकूजनानि” इत्यनेनैव तस्य गतार्थत्वात् ॥ ४० ॥

गन्धकादिपोटल्यां—मूवे गोमूवे, “मूवे गोमूवमादेयम्” इति परिभाषावलात् । सप्तशः पिप्पलीकषायादिना प्रत्येकं सप्तवारान् । स्यादर्द्धमिति ।—वृत्तमधुनीः मिलित्वा पोटलीमानादर्द्धं यावन् । पञ्चकोलप-शालिना पञ्चकोलकायपायिना ; “पञ्चकोलपशालिना” इत्यत्र “पञ्चकोलपशालिना” इति पाठे—पञ्चमितपञ्चकोलकाय-आदिनेत्यर्थः ॥ ४१-४२ ॥

अथ गन्धकादिपोटल्याः प्रयोगान्तरम् ।—

वर्षाभूः कारवी शौण्डी सूची वचफलासनम् ।

तिलाक्षियुगमाबाणा-निशाकर्कभूसूरिका ॥४३॥

रक्तागस्थेन्दुरेखाब्द-नीलज्योतिरयो मृतम् ।

वल्कलं बहुवल्लर्याः कृष्णः काम्बोजिकाफलम् ॥४४॥

गवाक्षीरजनीकृष्णा-निम्बवेल्लकठिल्लकम् ।

मानिकांशं पृथक् क्षुप्तं तुल्यं भूशर्करा घृतम् ॥४५॥

त्रिफलाबीजतैलेन भावितं कर्षसम्भितम् ।

प्राञ्चे घृतेन मध्याङ्गे गुडेन मधुना निशि ॥४६॥

पादं पादार्द्धमात्रं वा पोटल्याश्च रजो भवेत् ।

हैयङ्गवीनशाख्यन्न-कृष्णगोक्षीरवर्त्तिनः ॥४७॥

गन्धकादिपोटल्याः प्रयोगान्तरे—कारवी कृष्णगोक्षीरकम् । शौण्डी पिप्पली । सूची कुशः । वचः वचा । फलं त्रिफला । असनं स्वनामव्यातम् ; “फलासनम्” इत्यत्र “किलासनम्” इति पाठे—किलः किलपादिका, चूटलज्जालुलता इत्यर्थः । तिलाक्षि तिलनेत्रं, तिलनालमूलमित्यर्थः । युगः ऋद्धिः, तटभावे बला याद्या । माबाणा शरपुष्पाभेदः ; “तिलाक्षियुगमाबाणा” इत्यत्र “तिलाक्षिहवुषाबाणा” इति पाठान्तरम् । निशा हरिद्रा । कर्कभूः आरण्यावदरम् । सूरिका राजिका । रक्तागस्थः रक्तवकः । इन्दुरेखा सोमराजो । अब्दः मुलकम् । नीलज्योतिः रसाञ्जनम् ; नीलः नीलीह्वः, ज्योतिः शिवक इत्यर्थो वा । अयो मृतं मृतलौहम् । वल्कलं बहु-
वल्लर्याः शोभाञ्जनलकम् । कृष्णं मरिचम् । काम्बोजिकाफलं गुञ्जाबीजम् ; “कृष्ण-
काम्बोजिकाफलम्” इति समस्तपाठे—कृष्णवर्णगुञ्जाफलम् । गवाक्षी गोरक्षकर्कटी ।
रजनी दावी । कृष्णा गान्धारी पिप्पली वा । वेल्लं विडङ्गम् । कठिल्लकं पुनर्नवा ।
मानिकांशं शरावमितम् । भूशर्करा इक्षुविकारणा शर्करा, न तु पुष्परसादिभ्यो जाता
शर्करा इति विशेषणं ज्ञापनार्थं भूपदीपादानं बोद्धव्यम् ; शर्करकन्द्याः आञ्जक-
विशेषः इत्यर्थो वा । अत्र शर्कराघृतयोर्मिलितयोः सर्वेष्वसमानत्वं बोद्धव्यम् ।
त्रिफलाबीजतैलेन त्रिफलाबीजभवतैलेन । भावितमिति सप्ताहम् । पादमिति ।—
वर्षाभादियोगस्य कर्षमात्रापेक्षया पादं पादार्द्धमात्रं वा पोटल्या रजः गन्धकादि-
पोटलीचूर्णम् ; योगमिश्रं कर्षमाणं पोटल्याः माषत्रयेण माषचतुष्टयेण वा सह पिबेत् ।

एवं वर्षत्रयं कुर्यात् स्याद्वलीपलितोज्झितः ।
प्रत्यहं मण्डलं खादेत् पथं त्यक्त्वा ततः परम् ॥
इष्टाहारविहारी च सहस्रायुर्भवेद्भुवम् ॥४८॥

अथ वज्रेश्वरः ।—

भस्मसूतं वज्रभस्म पलैकैकं प्रकल्पयेत् ।
गन्धकं मृतताम्रञ्च प्रत्येकञ्च पलं पलम् ॥४९॥
अर्कक्षीरैर्दिनं मद्यं सर्वं तत् गोलकोक्तम् ।
कृष्ण तद्गुधरे पथ्यात् पुटैकेन समुडरेत् ॥५०॥
एष वज्रेश्वरो नाम ग्रीहगुल्मोदरापहः ।
घृतैर्गुल्माहयं लेह्यं निष्कं श्वेतपुनर्नवा ॥
गवां मूत्रैः पिबेच्चानु रजनीं वा गवां जलेः ॥ ५१ ॥

अथ देवदालीपञ्चाङ्गचूर्णम् ।—

पञ्चाङ्गदेवदाल्यास्तु चूर्णकर्षं शिवास्त्रना ।
मासमात्रं पिबेद्यस्तु ग्लोहा तस्य करोति किम् ? ॥५२॥

अथ तक्रासवः ।—

लवणं रजनी राजी प्रत्येकं पलपञ्चकम् ।
चूर्णितं निक्षिपेद्गण्डे शततक्रपलान्विते ॥५३॥

द्वैयङ्गबोमं सद्योजातं घृतम् ; द्वैयङ्गवादिना वर्तते जीवति इति तस्य द्वैयङ्गवादि-
सेविनः इत्यर्थः । प्रत्यहमिति वर्षत्रयमित्यनेन सम्बध्यते ; एवञ्च वर्षत्रयं यावत् प्रतिदिनं
खादेदित्यर्थः । मण्डलं खादेत् पथं मण्डलम् अष्टचत्वारिंशद्दिनं यावत् पथ्य खादेत्
पथ्यमुक्त्वा ततः परम् अष्टचत्वारिंशद्दिनानन्तरं, त्यक्त्वा, पथ्यमिति शेषः, इष्टाहार-
विहारी भवेत् यथाकामाहारविहारं कुर्यादित्यर्थः ॥ ४३—४८ ॥

वज्रेश्वर—गवां जलेः गोमूत्रैः ॥ ४९—५१ ॥

देवदालीपञ्चाङ्गचूर्णं—देवदाली इक्षिषीषकं तक्षाः पञ्चाङ्गं पत्रपुष्पफलमूल-
लघूपमम् । शिवास्त्रना हरीतकीकायेन ॥ ५२ ॥

तक्रासवे—लवणं सैन्धवम् । राजी राजिका, “राशसविषा” इति

त्रिदिनं मुद्रितं रक्षेत् पश्चात् पञ्चपलं सदा ।

पीत्वा विनाशयेत् श्लैहं त्रिःसप्ताहान्न संशयः ॥ ५४ ॥

अथ परण्डचारम् ।—

समूलपत्रमेरण्डं रुद्धा भाण्डे पुटे पचेत् ।

तत्कर्षं पलगोमूत्रैः पीतं श्लैहविनाशनम् ॥ ५५ ॥

अथ शरपुङ्खादियोगः ।—

शरपुङ्खार्कयोर्मूलं चिरं दन्तैश्च चर्वितम् ।

मिलितं नाशयेत् श्लैहं यवागूपानमाचरेत् ॥ ५६ ॥

अथ वज्रचारप्रयोगोपदेशः ।—

वज्रचारन्तु कर्षिकं भक्ष्यं श्लैहविनाशनम् ॥ ५७ ॥

अथ काञ्चनीप्रयोगः ।—

काञ्चनीमूलचूर्णन्तु निष्कमात्रं सदा पिबेत् ।

सुरया काञ्चिकैर्वाऽथ हन्ति श्लैहं चिरन्तनम् ॥ ५८ ॥

अथ श्लैहं रक्तमोक्षणोपदेशः ।—

श्लोहानां पृष्ठदेशे तु रक्तस्रावश्च कारयेत् ।

अर्कक्षीरं ससिन्धूत्वं क्षिपेत्तत्र रुजापहम् ॥ ५९ ॥

ख्यातम् । शततक्रपलान्विते शतपलतक्रान्विते । श्लैहमिति अकारान्तश्लैहशब्दस्य रूपम् ॥ ५१।५४ ॥

एरण्डचारे—तत्कर्षम् एरण्डचारकर्षम् ॥ ५५ ॥

शरपुङ्खादियोगे—शरपुङ्खार्कमूलं दन्तैः चर्वित्वा मिलितं न तु जलादिना कसकौकृत्य ॥ ५६ ॥

वज्रचारप्रयोगोपदेशे—वज्रचारम् उदरचिकित्सिते वक्ष्यमाणम् ॥ ५७ ॥

काञ्चनीप्रयोगे—काञ्चनीमूलचूर्णं स्वर्णक्षीरौमूलचूर्णं हरिद्राकन्दचूर्णं वा ॥ ५८ ॥

श्लैहं रक्तमोक्षणस्य कसंख्यतामाह, श्लोहानामिति ।—श्लोहानां श्लैहरोगणा-
मित्यर्थः, श्लैहः अलि एषामिति अर्थः आदिभ्यः अच्; “श्लैहानाम” इति
पाठान्तरेऽपि स एवार्थः । तत्र रक्तस्रावणार्थम् उत्पादिते ग्रन्थे । रुजापहं
रूपवेदनापहम् ॥ ५९ ॥

अथ शिखिवाङ्मवः ।—

मारितं सूतताम्राभ्रं गन्धकं माक्षिकं समम् ।
मर्दयित्वाऽऽर्द्रकद्रावैर्यवचारयुतैर्दिनम् ॥ ६० ॥
त्रिगुञ्जं भक्षयेन्नित्यं नागवल्लीदलेन च ।
वातगुल्महरः ख्यातो रसोऽयं शिखिवाङ्मवः ॥ ६१ ॥
विडङ्गं दाडिमं हिङ्गुं सैन्धवैलासुवर्चलम् ।
मातुलुङ्गरसैः पिष्ट्वा कर्षिकं सुरया सह ॥
वातगुल्महरं देयमनुपानं सुखावहम् ॥ ६२ ॥

अथ दीप्तामरः ।—

शुद्धं सूतं समं गन्धं सूतांशं सूतताम्रकम् ।
शाकवृक्षोत्पञ्चाङ्ग-द्रवैर्मथ्यं दिनत्रयम् ॥ ६३ ॥
दिनं सर्पाक्षिजैर्द्रावै रूक्षा गजपुटे पचेत् ।
पञ्चधा भूधरे चाथ चूर्णं जैपालतुल्यकम् ॥ ६४ ॥
दिगुञ्जं भक्षयेच्चाऽऽज्यैः पित्तगुल्मप्रशान्तये ।
द्राक्षाहरीतकीकाथमनुपानं प्रकल्पयेत् ॥
रसो दीप्तामरो नाम पित्तगुल्मं नियच्छति ॥ ६५ ॥

शिखिवाङ्मवे—मर्दयित्वाऽऽर्द्रकद्रावैर्यवचारयुतैर्दिनमित्यस्य चार्द्रकरसेन यवचारो-
टकेन च एकैकं दिनं मर्दयित्वा इत्यर्थः ; “यवचारयुतैः” इत्यत्र “यवचारयुतम्” इति
पाठे—यवचारयुतं सूतताम्राभ्रमिति योजनीयम् । “चार्द्रकद्रावैः” इत्यत्र “चित्रकद्रावैः”
इति रसरत्नाकरे पाठः । अस्यानुपानमाह, विडङ्गमिति ।—सुवर्चलं सौवर्चलवर्णम्
चादित्यभक्ता वा । रसिन्द्रमारेऽस्य “वड्वागल” इति संज्ञा दृश्यते ॥ ६०—६२ ॥

दीप्तामरे—सूतांशं सूतभागं, तेन वयाणामपि समभागता ज्ञातव्या । शाकैति ।—
शाकः मरुजद्रमविशेषः, “शेगुन” इति भाषा, तस्य पञ्चाङ्गद्रवैः त्वक्पत्रपुष्पफलमृष-
वभैः । सर्पाक्षी गन्धनाकुली, रास्त्राभेदः । भूधरे भूधरयन्त्रे । चूर्णं जैपालतुल्यकमिति
शोधितजयपालकीलचूर्णं प्रकीर्यधतुल्यम् । रसरत्नाकरेऽस्य “सङ्ग्रामरः” इति
संज्ञा ५६९—६५॥

अथ विद्याधरः ।—

गन्धकं तालकं तार्यं मृतताम्रं मनःशिलाम् ।
शुद्धं सूतञ्च तुल्यांशं मर्दयेद्भावयेद्दिनम् ॥ ६६ ॥
पिप्पल्यास्तु कषायेण भावयेत् सुग्भवेन च ।
निष्काष्ठं भक्षयेत् क्षौद्रैर्गुल्मं घ्नोहं विनाशयेत् ॥
रसो विद्याधरो नाम गोमूत्रञ्च पिबेदनु ॥ ६७ ॥

अथ व्योषादिचूर्णम् ।—

तिलकाथो गुडञ्चाऽऽज्यं व्योषभार्गीरजोऽन्वितम् ।
धानं रक्तभवे गुल्मे नष्टे पुष्पे तु योषितः ॥ ६८ ॥

अथ देवदावादिचूर्णम् ।—

देवदारु कणा भार्गी शुण्ठी करञ्जवल्कलम् ।
चूर्णं तिलानां काथेन रक्तगुल्महरं भवेत् ॥ ६९ ॥

अथ रक्तोदरकुठारः ।—

पारदं शिखितुल्यञ्च जैपालं पिप्पली समम् ।
आरग्वधफलाञ्जना वज्रीदुग्धेन भावयेत् ॥ ७० ॥
सूक्ष्ममात्रां वटीं खादेत् स्त्रीणां हन्याज्जलोदरम् ।
चिञ्चाफलरसञ्चानु पथ्यं दध्योदनं हितम् ॥
रक्तोदरं हरेत् सैव कठिनं रेचयेदनु ॥ ७१ ॥

विद्याधरे—“मृतताम्रम्” इत्यत्र “स्वर्णम्” इति तथा “गोमूत्रम्” इत्यत्र
“गोदुग्धम्” इति च रसेन्द्रसारसङ्ग्रहे पाठान्तरम् । श्लोकीन्तरेऽयं श्लोकः ॥ ६६।६७ ॥

व्योषादिचूर्णं—गुडादिकं प्रक्षेपविधया योज्यम् । “गुडञ्चाज्यं व्योषभार्गीरजो-
ऽन्वितम्” इत्यत्र “गुडव्योषदिङ्गुभार्गीर्युतो भवेत्” इति चक्रसङ्ग्रहोक्तपाठान्तरम् ॥ ६८ ॥

देवदावादिचूर्णं—सर्वे स्पष्टम् ॥ ६९ ॥

रक्तोदरकुठारे—शिखितुल्यं मयूरयोषाभं तुल्यम् । “जैपालं पिप्पली समम्”
इत्यत्र “जैपालं गन्धकं समम्” इति रसरत्नाकरे पाठः । वज्रीदुग्धेन सुहृदीचरेण ।
“सूक्ष्ममात्रां वटीं खादेत् स्त्रीणां हन्यात् जलोदरम्” इत्यत्र “धात्रीफलरसेः खादेत्
स्त्रीणां रक्तोदरं हरेत्” इति रसरत्नाकरोक्तः पाठः युक्तः, “स्त्रीणां हन्यात् जलोदरम्”

अथ वैश्वानररसः ।—

विष्णुकान्ता च जैपालं लाङ्गली सुरदारिका ।

यवचिञ्चाऽम्बुसारेण तासां द्विगुणगन्धकम् ॥७२॥

पक्षं विमर्दितं सूतं स्वेदयेन्मृदुनाऽग्निना ।

गुल्मे गुञ्जात्रयश्चास्य सोष्णाम्बुघृतसैन्धवम् ॥७३॥

वातजे कफजे लिङ्घान्मध्वार्द्रकसमन्वितम् ।

ससितामाक्षिकं पैत्ते सोऽयं वैश्वानरो रसः ॥ ७४ ॥

अथ अग्निकुमारः ।—

नेपालवैगन्धरसत्रयाणां फलत्रयस्यापि कटुत्रयस्य ।

मूत्रे गवां षोडशभागमाने भागान्नवैकत्र दिनत्रयञ्च ॥७५॥

विमर्द्य तेषां बदरप्रमाणां बद्ध्वा वटीमुष्णजलानुपानात् ।

एकत्र युक्ता सहसा निहन्ति सा रेचयित्वा मलजालमादौ ॥७६॥

गुल्मं यकृत् पाण्डुविबन्धशूलं मान्यं ज्वरश्चाथ जलोदरञ्च ।

अग्नेः कुमारः सहसा निहन्त्यादुद्दीपितो दीप इवाश्वकारम् ॥७७॥

इत्यस्य असङ्गतत्वात् । रक्तोदरं रक्तगुल्मम् इति यावत् । सा एव सा वटी एव । कठिनमिति रक्तोदरमित्यस्य विशेषणम् । रेचयेदनु इति वटीभक्षणत् पश्चात् रक्तं स्त्रावयेत् इत्यर्थः । “रेचयेदनु” इत्यत्र “लेपनेन तु” इति रसरत्नाकरोक्तपाठः सुगमः युक्तश्च । रसेन्द्रसारसङ्ग्रहे अस्य “उदरारिरसः” रसरत्नाकरे च “नाराचको रसः” इति संज्ञा ॥ ७०-७१ ॥

वैश्वानररसे—विष्णुकान्ता अपराजिता । सुरदारिका सृङ्गा । “सुरदारिका” इत्यत्र “सुरदालिका” इति पाठे—देवदालिका, पीतघोषक इत्यर्थः । यवचिञ्चाऽम्बुसारेण यवचिञ्चा क्षिरिणी अस्याः अम्बुसारेण क्वाचोदकेनेत्यर्थः ; यवचिञ्चा क्षीरिणी अम्बु बालकं तयोः सारेण क्वाचेन इत्यर्थो वा, मर्दयेदिति शेषः । तासां विष्णुकान्तादीनां सुरदारिकान्तानां मिलितानामित्यर्थः । सूतमपि गन्धकतुल्यं यावन्मयी अयमर्थः,—विष्णुकान्तादीनां विगुणेन गन्धकेन समं पारदं गृहीत्वा कज्जलीं कुर्व्यात्, ततः चूर्णसमूहं तत्र निक्षिप्य यवचिञ्चाक्वाचेन पक्षं विमर्द्य च लघुपुटे पचेत् । वातजे इति सोष्णाम्बुघृतसैन्धवमित्यनेन सम्बध्यते ॥ ७२—७४ ॥

अग्निकुमारे—नेपालं तावम् । वैगन्धः गन्धकः । षोडशभागमाने इत्येक-

अथ सर्वाङ्गसुन्दरः प्राणेश्वरो रसः ।—

शुद्धमभ्रं रसं गन्धं मेलयित्वा समांशकम् ।
 तालमूलीरसैर्मद्यं कल्कं सम्पादयेच्छुभम् ॥७८॥
 तत् कल्कं कूपिकामध्ये कृत्वा वक्त्रं निरुन्धयेत् ।
 खटिन्या मुखमाच्छाद्य सदा खर्परसंज्ञया ॥७९॥
 कूपिकां लेपयेत् सर्वां शोषयेदातपे खरे ।
 कूपिकां भूगतायाश्च कृत्वा तां पुटयेत्ततः ॥८०॥
 कूपिकां मर्दयेत् कृत्स्नां खटिन्या सह संयुताम् ।
 त्रिभिः चारैस्तु तच्चूर्णं पञ्चभिर्लवणैस्तथा ॥८१॥
 त्रूषणं त्रिफला हिङ्गु पुरमिन्द्रयवास्तथा ।
 गुञ्जाकिनी तथा चित्रमजमोदा यमानिका ॥८२॥
 एतानि समभागानि समादाय विचूर्णयेत् ।
 योजयेत् सह सूतेन ततः सिध्यति सूतकः ॥८३॥
 सिद्धसूतस्य चूर्णेन माषं सर्वरुजापहम् ।
 भक्षयेत् प्रातरुत्थाय रसः सर्वाङ्गसुन्दरः ॥८४॥
 उष्णोदकानुपानन्तु पाययेच्चलुकद्वयम् ।
 भक्षयेदेकवारन्तु द्विवारं न कथञ्चन ॥८५॥

भागापेक्षया षोडशगुणमूत्रे । भागान् नव इति नेपात्तादीनां कटुवयान्तानां नवानां
 प्रत्येकमेकैकभाग इत्यर्थः ॥ ७५—७७ ॥

सर्वाङ्गसुन्दरप्राणेश्वरे—नृदा खर्परसंज्ञया कङ्करश्चक्रिकाया मधुस्थाल्यादिचूर्णेन
 वा । “कूपिकां भूगतायाश्च कृत्वा तां पुटयेत्ततः” इत्यत्र “कूपिकां भूगतां कृत्वा तां
 सम्यक् पुटयेत्ततः” इति पाठकल्पना समीचीना । पुरम् अगुरु गुग्गुलुर्वा । गुञ्जाकिनी
 गुञ्जा, तस्याः फलं याञ्जम् । अजमोदा यमानी, अन्तःपरिमार्जकत्वात् ; बहिः-
 परिमार्जने तु अजमोदायाम् चारण्ययमानी गृह्यते इति ब्रह्मवैद्याः ; तथा
 च—“अन्तःसम्मार्जने प्राणोऽजमोदा च यमानिका । बहिःसम्मार्जने श्रेया
 आजमोदाऽजमोदिका ॥” इति ; एवञ्च यमान्याः भागद्वयम् । सिद्धसूतस्य
 सम्यक् पक्वस्य अस्स रसस्य इत्यर्थः । चूर्णेन त्रिवारं त्रिवारं विचूर्णेन सह, सिद्धसूतस्य

दिनमध्ये वारमेकं दातव्यो भिषजा रसः ।
 शीतोदकं सकृद्देयं दृढभावेऽप्यहर्निशम् ॥८६॥
 भोजने वर्जयेत्तत्र शाकान् द्विदलं तथा ।
 तैलाभ्यङ्गं ब्रह्मचर्यं वर्जयेच्छुयनं दिवा ॥८७॥
 हितं तत् सेवयेत् पथ्यमहितञ्च विवर्जयेत् ।
 अनेनैव प्रकारेण योजयेत् प्रतिवासरम् ॥८८॥
 यस्त्वचेतनतां याति सान्निपाती कथञ्चन ।
 तस्य नातिप्रयोक्तव्यो रसो यत्नाद्भिषग्वरैः ॥८९॥
 देवाग्निऋषिविप्रांश्च कुमारोयोगिनीगणान् ।
 पूजायत्वा यथाशक्त्या सेव्यः प्राणेश्वरो रसः ॥९०॥
 गुल्मञ्चाष्टविधं वातं शूलञ्च परिणामजम् ।
 सान्निपातज्वरञ्चैव प्लोहानमपकर्षति ॥९१॥
 कामला पाण्डुरोगञ्च मन्दाग्निं ग्रहणो तथा ।
 शिववत् सेवितो हन्ति रसः प्राणेश्वरस्त्वयम् ॥९२॥

अथ गुल्मनाशनः ।—

गन्धकं रसतुल्यञ्च द्विभागं सैन्धवस्य च ।
 त्रिभागं टङ्कणं प्रोक्तं चतुर्भागञ्च तुल्यकम् ॥९३॥

इति योजना । “चूर्णेन” इत्यत्र “पर्णेन” इति पाठः साधुः । साधं साधकमानम् ।
 चूर्णोदकानुपानमिति भक्षयेदित्यनेन सम्बध्यते, न तु पाययेदित्यनेन, तस्य च
 तुलुकद्वयमित्यनेन सम्बन्धः । कियन्मानमुष्णोदकमनुपिनेदित्याकाङ्क्षायामाह, पाययेत्
 तुलुकद्वयमिति ।—तुलुकद्वयं गच्छुषद्वयम् । शीतोदकमित्यादौ अहर्निशं सकृद्देय-
 मिति योजना कार्या, दिवारादिमध्ये एकवारं शीतलजलमवश्यमेव दातव्यमित्यर्थः ।
 ब्रह्मचर्यम् उपस्थनिग्रहं, प्रायेण सर्वत्रैव रागे तस्य विहितत्वेऽपि योगप्रभावात्
 तस्य वर्जनीयता ज्ञातव्या । पथ्यं पादाहारं, मितमित्यर्थः, “पादाहारं पथ्यमाहुः”
 इति राजनिघण्टुस्मरणात् ; यद्वितं तत्, पथ्यं सेवयेत् हितमपि न त्वमितं
 सेवेतित्यर्थः । नातिप्रयोक्तव्यः अल्पमात्रया देय इत्यर्थः ; यथा—नातिप्रयोक्तव्यः
 अनतिपिरेषेव प्रयोक्तव्यः इत्यर्थः ॥ ७८—९२ ॥

पञ्चमन्तु वराटं स्यात् षड्भागं शङ्खमेव च ।

वर्जितमूलकषायेण चिरविल्वरसेन च ॥८४॥

आर्द्रकस्य रसेनात्र प्रत्येकन्तु पुटत्रयम् ।

तत्समं मारिचं चूर्णं शाणाङ्गं भक्षयेन्नरः ॥

पञ्चगुल्लं चयं श्वामं मन्दाग्निश्चाशु नाशयेत् ॥ ८५ ॥

अथ शूलचिकित्सा ।—

अथ अग्निमुखः ।—

मृतसूताभ्रकं ताम्रं गन्धकञ्चास्त्ववेतसम् ।

विषं फलत्रयं तुल्यं सर्वं मर्द्यं दिनावधि ॥८६॥

विषमुष्टिर्जया वासा विजया रक्तशालिनी ।

बृहती च महाराष्ट्री धुस्तूरः पद्मपत्रकः ॥८७॥

नागवल्ली शमी जम्बू भाव्यमेभिर्द्रवैस्त्वहम् ।

समांशं पञ्चलवणं दत्त्वाऽऽद्वेकरसेन च ॥८८॥

गुल्लानाशने—चिरविल्वरसेन करञ्जत्रयसेन । प्रत्येकन्तु पुटत्रयमिति प्रत्येकद्रव्येण एकैकदिनं मर्दयित्वा पुटो दातव्यः एवं दिनत्रयं कार्यम् । तत्सममिति ।—
तेन सिङ्गेनौषधेन समं तुल्यं मरिचचूर्णे गृहीत्वा मिश्रयेत्, ततः अस्य शाणाङ्गं भक्षयेदित्यर्थः ॥ ८५—८५ ॥

कुक्षिगतान्तिंसाधर्म्यात् गुल्लानन्तरं शूलचिकित्सितं विवरीतुं प्रक्रमते ; तथाग्निमुखे
—विषमुष्टिः कुपोजः, “कुचिला” इति ख्यातम् । जया जयन्ती । रक्तशालिनी
रक्ततण्डुलीयकः रक्तपुनर्नवा वा । महाराष्ट्री जलपिप्पली । भाव्यमेभिर्द्रवैस्त्वाहमिति
विषमुष्ट्यादीनां प्रत्येकं क्राघेन स्वरसेन वा दिनत्रयं भावना दातव्या इत्यर्थः ।
“विषमुष्टिः” इत्यादि “जम्बू” इत्यन्तस्थले रसेन्द्रसारसङ्गृहे “कल्कभुजगवल्ली-
कण्टकारोजयाङ्गः । कमलसलिलवासा-मुष्टिवज्राम्बुपूरैः ॥ अरुणसदृशपाकैर्मातुङ्गैश्च
योज्यः” इति तथा रसरत्नाकरे “विषमुष्टितिका वासा विजया रक्तशालिनी ।
बृहती च महाराष्ट्री धुस्तूरं पद्मपत्रकम् ॥ अस्यावस्थानृता जम्बुगन्धं नीलीत्पलद्रवैः”
इति पाठः । समांशमिति ।—भावनानन्तरं मिश्रितपञ्चलवणं सर्वचूर्णसमं दत्त्वा

दिनं पेष्यं ततः कुर्याद्दटिकाक्षणमात्रकाः ।

भक्षयेद्वातशूलार्तः सोऽयमग्निमुखो रसः ॥८८॥

हरीतकी प्रतिविषा हिङ्गु सौवर्चलं वचा ।

कलिङ्गेन्द्रयवासुत्थं पाययेदुष्णवारिणा ॥

कर्षेकमनुपानं स्याद्वातशूलहरं परम् ॥१००॥

अथ चारप्रयोगः ।—

चिञ्चाक्षारं जलैः पीतं शूलं शान्तिमवाप्नुयात् ॥ १०१ ॥

अथ त्रिनेत्रः ।—

खण्डितं हारिणं शृङ्गं स्वर्णं शुल्बं मृतं रसम् ।

दिनैकञ्चाऽऽर्दकद्रावैर्मद्यं रुद्ध्वा पचेत् पुटे ॥१०२॥

त्रिनेत्राख्यो रसः सोऽयं माषं मध्वाज्यकैर्लिहेत् ।

मैन्धवं जीरकं हिङ्गु मध्वाज्याभ्यां लिहेदनु ॥

पक्तिशूलहरं ख्यातं मासमात्रात् संशयः ॥१०३॥

अथ सौभाग्ययोगः ।—

टङ्गणं मूर्च्छितं सूतं यवक्षारं समं ममम् ।

चूर्णितं भक्षयेन्माषं मधुना पक्तिशूलनुत् ॥

जम्बूमांसाज्ययोर्यूषमनुपानं पिबेत् सदा ॥१०४॥

दिनं यावत् चार्दकरसेन मर्दयेत् इति । प्रतिविषा अतिविषा । अग्निमुखरसस्य अनुपानत्वेन कल्पनीयोऽयं योगः ॥ ८६—१०० ॥

चारप्रयोगे—चिञ्चाक्षारं तिलिङ्गीत्वकृतं चारम् ॥ १०१ ॥

त्रिनेत्रे—खण्डितं मृटितम्, अणुकृतमित्यर्थः ; “खण्डितम्” इत्यत्र “टङ्गणम्” इति रसेन्द्रसारसङ्गृहे रसरत्नाकरे च पाठः । मृतं रसं रससिन्दूरः । “शुल्बम्” इत्यत्र “गन्धः” इति रसेन्द्रसारसङ्गृहे तथा “शृङ्गम्” इति च रसरत्नाकरे पाठः । रसेन्द्रेऽस्य “विगुणाख्यो रसः” इति संज्ञानाम् ॥ १०२।१०३ ॥

सौभाग्ययोगे—मूर्च्छितं सूतं रससिन्दूरः । जम्बूमांसाज्ययोः यूषं शगाल-
आंशुष्णानामांशवीः रसम् । अजाया इदमिति आन्यं ज्ञानमांसम् ॥ १०४ ॥

अथ चिन्तामणिः ।—

सूतेन गन्धं द्विगुणं विमर्द्य कोरण्टनिम्बूत्थरसैर्दिनं तत् ।
चिञ्चाङ्गवच्छिन्निरसेन चैकं दिनञ्च गोलं रविसम्पुटस्थम् ॥१०५॥
लिप्ता सदा शुष्णमतीव कृत्वा सामुद्रयन्त्रेण पुटं ददीत ।
उद्धृत्य शीतं रसपादभागं प्रक्षिप्य गन्धं विपचेन्मनाक् च ॥ १०६॥
विषञ्च दत्त्वा रसपादभागं लोहस्य पात्रे तु कृशानुतोयैः ।
रसस्तु चिन्तामणिरेष उक्तो वातारितैलेन समाक्षिकेण ॥१०७॥
वस्त्रेण मानं प्रददीत चाम्पू तैलञ्च शीतं परिवर्जयेच्च ॥१०८॥
हन्ति गुल्मं महाभ्रानं तूनीं प्रतितुनीमपि ॥१०९॥

अथ गुलकेशरी ।—

शुद्धं सूतं द्विधा गन्धं यामैकं मर्दयेद्दृढम् ।
द्वयोस्तुल्यं शुद्धताम्रं सम्पुटे तन्निरोधयेत् ॥११०॥
ऊर्द्धाधो लवणं दत्त्वा मृद्गाण्डे धारयेद्विषक् ।
रुद्धा गजपुटे पाच्यं स्वाङ्गशीतं समुद्धरेत् ॥१११॥
सम्पुटं चूर्णयेत् सूक्ष्मं पर्णखण्डे द्विगुञ्जकम् ।
भक्षयेत् सर्वशूलार्तो हिङ्गु शुण्ठी च जीरकम् ॥११२॥
वचामरिचसञ्चूर्णं कर्षमुष्णजलैः पिबेत् ।
असाध्यं नाशयेच्छूलं रसः स्याच्छूलकेशरी ॥११३॥

चिन्तामणौ—कोरण्टनिम्बूत्थरसैः कोरण्टः बदरं, कोरण्टरसेन निम्बुकरसेन च । चिञ्चाङ्गवच्छिन्निरसेन तिलिङ्गीलवसेन । रविसम्पुटस्थं ताम्रपादनिहितम् । सामुद्रयन्त्रेण यन्त्रविशेषश्च, तदशक्यं लवण्यकेश्यापि पाकमर्दयन् रसः, तत्र ताम्रपादान्तः रसादिकं संख्याप्य पुटनीपदेशात् । कृशानुतोयैः मनाक् विपचेत् इति सम्बन्धः, कृशानुतोयैः चिमककायैः । तूनीप्रतितूनी वातव्याधि-
कथिते । प्रतितुनीमित्यत्र ऋक्संह्यान्दसः ॥ १०५—१०८ ॥

गुलकेशरिणि—सम्पुटे इति ताम्रसम्पुटे, पूर्वयोगसंवादात् । अत्र हिङ्गुदिक्-
मनुष्येयम् ॥ ११०—११३ ॥

अथ बन्धादिचारः ।—

बन्ध्यानाङ्गलिकामूलं शङ्खन्तु द्विगुणं तयोः ।

त्रयाणां भावयेच्छृणुं त्रयं जम्बीरजटवैः ॥११४॥

कङ्का गजपुटे पश्चात् तत् क्षारं मरिचैर्घृतैः ।

कर्षमात्रं पिबेच्छूलो तत्क्षणात् सुखमाप्नुयात् ॥११५॥

अथ स्तोत्रापनः ।—

अभ्यं ताम्रं तथा लोहं प्रत्येकं संस्कृतं पलम् ।

सर्वमेतत् समाहृत्य गृह्णीयात् कुशलो भिषक् ॥११६॥

आज्ये पलद्वादशके दुग्धे तत्स्वरसङ्काके ।

पक्का तत्र क्षिपेच्छृणुं सुपूतं घनतन्तुना ॥११७॥

विडङ्गत्रिफलावङ्गि-त्रिकटूनां तथैव च ।

पिष्ट्वा पलोन्मितानितान् यथा सम्मिश्रतां नयेत् ॥११८॥

ततः पिष्ट्वा शुभे भाण्डे स्थापयेत्तद्विचक्षणः ।

आत्मनः शोभने चाङ्गि पूजयित्वा गुरुं रविम् ॥११९॥

बन्धादिचारः—बन्धा बन्धाकर्कोटिकौ, तस्याः मूलम् ॥ ११४।११५ ॥

स्तोत्रापने—संस्कृतं मारणपुटनादिभिः कृतसंस्कारम् । “अभ्यं ताम्रं तथा लोहम्” इत्यत्र रसेन्द्रचिन्तामणिरसरत्नाकरजङ्गाम् “अभ्यं ताम्रं रसं लोहम्” इति पठित्वा योगव्याख्य चतुःसमलोहम् इति संज्ञा कृता । रसेन्द्रसारव्याख्याकारस्तु “अभ्यं ताम्रं रसं गन्धं लोहं प्रत्येकशः पलम्” इति रामसेनघृतपाठनङ्गीकृत्य तत्कृतं व्याख्यानमेव “अप्रतिविर्द्धं परमतमनुमतमेव” इति न्यायात् स्वीकृतवान्, तत्र खलु एषा व्याख्या यत् “अन्धादिगन्धानां निक्षिप्तानां चतुर्णां द्रव्याणां तुल्यं लोहं गृह्णाति, अतश्चास्य चतुःसमलोहमिति संज्ञा इति वदति” इति । एतत्तु न मनोरमं, यत्तु प्रत्येकशः पलम् इति अन्यस्थितेन प्रत्येकशः इति पठेन पञ्चानामेव पलमानता स्वीकर्त्तव्या, न तु लोहस्य सर्वतुल्यमानता इति । दुग्धे तत्स्वरसङ्काके तच्छब्दसङ्का-माने, पलद्वादशमाने इत्यर्थः ; “दुग्धे तत्स्वरसङ्काके” इति रसेन्द्रसारसङ्का-रसेन्द्र-चिन्तामणिचंवादात्, “दुग्धेऽपि घृतसङ्काके” इति रसरत्नाकरदर्शनाच्च । घनतन्तुना क्लृप्तयेष । पलोन्मितानिति विडङ्गादीनां निक्षिप्त्वा पलमानत्वं द्रव्यप्रधाननिर्देशात्

घृतेन मधुना मद्यैः पाययेन्नाषकादिकम् ।
 अष्टौ माषान् क्रमिणैव वर्जयेत्तत् समाहितः ॥१२०॥
 अनुपानञ्च दुग्धेन नारिकेलोदकेन वा ।
 जीर्णे शर्करशाल्यन्न-मुद्गमांसरसादयः ॥१२१॥
 रसपानाविरुद्धानि द्रव्याण्यन्यानि योजयेत् ।
 हृच्छूलं पार्श्वशूलञ्च आमवातं कटिग्रहम् ॥१२२॥
 गुल्मशूलं शिरःशूलं यक्ष्मप्लीहानशेषतः ।
 अग्निमान्द्यं क्षयं कुष्ठं कामं श्वासं विचर्चिकाम् ॥
 अश्मरीं मूत्रकृच्छ्रञ्च योगेनानेन साधयेत् ॥१२३॥

अथ चारतासम् ।—

रसेन ताम्रस्य दलानि लिप्त्वा गन्धेन ताम्रं द्विगुणेन पश्चात् ।
 वस्त्रेण बद्ध्वाऽथ समुद्रजेन चारत्रयेणापि च वेष्टयित्वा ॥१२४॥
 मृदा च संलिप्य पुटं ददौत दलानि ताम्रस्य विचूर्णयेत् ।
 धुस्तूरचित्रार्द्र-कटुत्रयेश्च विमर्दयेत्तत् त्रिदिनप्रमाणम् ॥१२५॥
 कलाप्रमाणेन विषञ्च दत्त्वा वल्लं ददौतास्य च वातशूले ॥१२६॥

“विडङ्गादीनामष्टाणां मिलित्वा पलमानत्वम्” इति त्रिविक्रमसंवादाच्च । आत्मनः
 शोभने चाङ्गि स्वस्य शोभनचन्द्रतारादिसमन्विते दिवसे । पाययेदिति ।—प्रथमेऽङ्गि
 नापमितं मद्ययित्वा क्रमशः भावावृद्धिं कृत्वा अष्टौ माषकान् यावत् वर्जयेत् ।
 “शर्करशाल्यन्न” इत्यत्र “लीहितशाल्यन्न” इति रसेन्द्रसारसङ्ग-रसरवाकरावौ
 पाठान्तरम् । रसपानाविरुद्धानि रसप्रयोगे अनिविद्धानि ॥१२६—१२३॥

चारतासे—समुद्रजेन सामुद्रजवस्त्रेण । चारत्रयेण स्वर्जितायावयुःकटुत्रयेण ।
 कलाप्रमाणेन ताम्रापेक्षया षोडशंशेन । आदौ द्विगुणेन गन्धेन पारद कज्जलीकृत्वा
 पश्चात् तथा सूततन्त्र्यानि ताम्रपवाणि लिप्येत् । तानि च ताम्रदलानि समुद्रजादिकानि
 आलिप्य वस्त्रखण्डेन बध्नीयात्, ततस्तदुपरि मृदा आलिप्य पुटेत् ; अथ तानि ताम्र-
 दलानि विचूर्ण्य धुस्तूरादीनां प्रत्येकद्वयेण त्रिदिनं मर्दयित्वा तत्र ताम्रषोडशंशं विषं
 निश्चयेदिति ॥ १२४—१२६ ॥

अथ शूलान्तकः ।—

भस्मसूतस्य खस्यापि पलमेकं पृथक् पृथक् ।
ताम्रभस्मपले तु द्वे गन्धकस्य पलत्रयम् ॥१२७॥
हरितालस्य कर्षांशं विमलं हेममाक्षिकम् ।
पलाईं हलिनीकन्दं नागवङ्गौ पलाईकौ ॥१२८॥
चतुष्पलन्तु त्रिवृतमेतत् सर्वं विचूर्णयेत् ।
भूधात्रीस्वरसेनैव भावयेत् सप्तधा भिषक् ॥१२९॥
तथा दन्तीरसैर्वस्त्रं दद्यादाट्टकवारिणा ।
तेन कोष्ठे विशुद्धे तु दधिभक्तन्तु भोजयेत् ॥
हरेच्छूलानि सर्वाणि रमः शूलान्तको मतः ॥१३०॥

अथ द्वितीयोऽग्निमुखः ।—

पारदं माक्षिकं ताम्रं कणाभ्रं गन्धकत्रयम् ।
माणिमयं विषं हिङ्ग त्वग्निशाकम्बकाञ्चनान् ॥१३१॥
रक्तमारीषनिर्गुण्डी-महाराष्ट्राटरूपकम् ।
जयाजयन्तीनिर्व्यामैस्तथा च विषतिन्दुकान् ॥१३२॥
मर्दितं कुक्कुटपटे पचेदग्निमुखाह्वयः ।
अष्टगुञ्जामितः सोऽयं प्रयोज्यः साज्यनागरः ॥
हिङ्गसौवर्चलोष्णाश्व-युतो वा गुल्मशूलजित् ॥१३३॥

शूलान्तके—भस्मसूतस्य पलमिन्दूरस्य । खस्य अश्वमखनः । विमलं रौप्यमाक्षिकं,
विमल-हेममाक्षिकयोरपि प्रत्येकं कर्षांशः यावत् । हलिनीकन्दं लाङ्गलीमूलम् ।
नागवङ्गौ पलाईकौ इति प्रत्येकम् । भूधात्री ताम्रलकी ॥ १२७—१३० ॥

द्वितीयोऽग्निमुखे—गन्धकत्रयं गन्धकस्य तयो भागा इत्यर्थः ; श्वेतरक्तपीतभेदेन
त्रिविधगन्धकमित्यर्था वा । “गन्धकत्रयम्” इत्यत्र “गन्धकं समम्” इति पाठः युक्तः,
समानानुत्प्रेतस्यदृश्ययोगान्तरदर्शनात् । माणिमयं सैन्धवम् । अग्निः चित्रकः शाकम्बः
शूरणविशेषः काञ्चनः धसूरः तान् । “त्वग्निशाकम्बकाञ्चनान्” इत्यत्र “त्वग्निशाकम्ब-
काञ्चनान्” इति पाठकल्पना साधीयसीत्यर्था च । “त्वग्निशाकम्बकाञ्चनान्”
इति कस्यचित् पाठः । रक्तमारीषः रक्ततण्डुलीयः । महाराष्ट्री जलपिप्पली । जया
विजया । विषतिन्दुकान् कुचेलकान् । पारदादीनां विषतिन्दुकालानां प्रत्येकमेकी

अथ द्वितीयविनेत्रः । —

रसताम्रगन्धकानां त्रिगुणोत्तरवर्द्धितांशानाम् ।
 अस्त्रेण मर्दितानां पुटपक्वानां निषेवितं भस्म ॥१३४॥
 गुञ्जाप्रमाणमार्द्रक-सिन्धूत्यचूर्णसंयुक्तम् ।
 एरण्डतैलमाक्षिकमथ वा पटुद्विङ्गुजीरकोपेतम् ॥१३५॥
 शमयति शूलमशेषं तत्तद्रसभावितं बहुशः ।
 उपचूर्णैरनुपानैस्तैस्तैः सहितं कफानिलात्तिहरम् ॥१३६॥
 एतच्च हरिणशृङ्ग-मृतकाञ्चनटङ्गणोपेतम् ।
 सघृतमधु पक्तिशूलं शमयति शूलं त्रिनेत्ररसः ॥१३७॥

अथ उदयभास्करः । —

तोलतुल्यं रसं शुद्धं गन्धकं तच्चतुर्गुणम् ।
 विधाय कज्जलीं श्लक्ष्णां तती निम्बुकवारिणा ॥१३८॥
 कल्कं कुर्वीत संखले यावद्यामचतुष्टयम् ।
 द्वितोलमथ ताम्रस्य तनुपत्राणि सर्वशः ॥१३९॥
 कल्केन तेन निम्बूक-रसेनाप्लाव्य खल्लके ।
 स्थापयेदातपे तीव्रे पिण्डीकृत्य ततः परम् ॥१४०॥
 मूषामध्ये निरुध्याथ कुक्कुटाख्यैस्त्रिभिः पुटैः ।
 पचेच्चक्षुषां विनिक्षिप्य चुल्लीपरिमितोपलैः ॥१४१॥

भागः, गन्धकस्य च भागवयम् एकच सप्तम्यं जयाजयन्त्योः रसेन एकेकादिनं मर्दयित्वा कुक्कुटपुटे पचेत् ॥ १३९—१३९ ॥

द्वितीयविनेत्रे—त्रिगुणोत्तरवर्द्धितांशानाम् उत्तरोत्तरत्रिगुणवर्द्धितानाम् : तेन रसस्य एको भागः ताम्रस्य भागवयं गन्धकस्य च नव भागा याव्याः । अस्त्रेण काञ्चिकेन । पटु खवणं, शूलहरत्वात् सौवर्चलमेवात्र याव्याम् । तत्तदिति ।—कफवातनाशन-द्रव्याणां रसैः सप्तवारं भावितं रसादिभ्यः सुचूर्णिततत्तद्व्यानुपानैः सह प्रयुक्तं कफवातजगदापहं भवेत् । एतत् विनेत्रम् । पक्तिशूलं परिणामशूलम् ॥१३४—१३७॥

उदयभास्करे—कल्कमिति ।—यावद्यामचतुष्टयं प्रहरचतुष्टयं यावत् निम्बुक-रसेन मर्दयित्वा कल्कं कुर्वीत् । तेन कल्केन निम्बुक-रसपिष्टकज्जलीकल्केन ।

तत आकृष्य सम्यग्य करण्डे तं विनिक्षिपेत् ।
 रसोऽयं सर्वरोगघ्नो नृणामुदयभास्करः ॥१४२॥
 हन्ति शूलानि सर्वाणि तमांसीव दिवाकरः ।
 पर्णखण्डिकया सार्द्धं देयश्चेत्यपरे जगुः ॥
 पथ्यं रोगोचितं देयं रसस्यानुचितं त्यजेत् ॥१४३॥

अथ शूलगजकेशरी ।—

पलप्रमाणसूतेन बलिना द्विगुणेन च ।
 शुद्धत्रिपलतालेन कृत्वा कज्जलिकां त्रयहम् ॥१४४॥
 पलमानेन कर्तव्यः शुद्धताम्रस्य सम्पुटः ।
 पिधानपात्रसङ्गृहस्त-तलपात्रास्यवान् खलु ॥१४५॥
 कज्जलीं सम्पुटस्यान्तर्निदध्यात्तदनन्तरम् ।
 अधस्तादुपरिष्ठाञ्च सम्पुटस्य क्षिपेत् खलु ॥१४६॥
 आकण्ठं पटुचूर्णं तं पिधाय च निरुध्य च ।
 विशोष्य गजसज्जेन पुटेन पुटयेत्ततः ॥१४७॥
 पटुचूर्णं विधायाथ सिन्धुमध्ये विनिक्षिपेत् ।
 पथ्याऽऽर्द्धकरसोपेतो वल्लमानेन सेवितः ॥
 रसो निःशेषशूलघ्नः स्याच्छूलगजकेशरी ॥ १४८ ॥

कुलीपरिमितोपलैः यावता उपलेन कुली प्ररिपूर्णा भवेत्, तावता उपलेन पचंदित्यर्थः ॥ १४८—१४९ ॥

शूलगजकेशरिणि—बलिना गन्धकेन । पिधानेति ।—पिधानपात्रेण आच्छादन-
 पात्रेण, सङ्गृहं संयुक्तमित्यर्थः, तलपात्रम् अधःस्थभाजनम्, आधारभूतपात्रमित्यर्थः,
 यस्य तत्, तच्च तत् आश्रयवशेति विग्रहः, आश्रयवान् मुखवान्, उपारं कृद्रविशिष्ट-
 सम्पुट इत्यर्थः; पलमानतामेव एवं सम्पुटं कुर्यात्, यस्य उपरि द्वारं स्यात् इति ।
 गजसज्जेन पुटेन गजपुटेन । पटुचूर्णं वस्त्रपूरं चूर्णमित्यर्थः; “पटुचूर्णम्” इति
 प्राठे—अर्घ्याचूर्णमित्यर्थः । सिन्धुमध्ये सैन्धवाभ्यन्तरे, तच्च शतशतार्धे कर्तव्यम् ।
 अथ विधिः,—सुतादिवयं कज्जलीकृत्य सच्छिद्रतामपुटाभ्यन्तरे निधाय च तच्छिद्रं
 निरुद्ध्वात्, ततः शूलानां तं पुटं निधाय पुटस्य उपर्यधः लवणं निदध्यात्, अथ

अथ द्वितीयचारताम्रम् ।—

पलमितमृतशुल्बं तन्मितं गन्धचूर्णं
वसुमितपलमानं तन्निडीचारचूर्णम् ।
त्रयमिदमभिदिष्टं चारताम्राख्यमेत-
द्वरति सकलशूलं पीतमुष्णोदकेन ॥ १४८ ॥

अथ ताम्राष्टकम् ।—

हिङ्गु व्योषं मधुकरुचकं तन्निडीचारताम्रं
सर्वश्वेतन्मृणमृदितं पीतमुष्णोदकेन ।
क्षिप्रं शूलं क्षपयति वृणां तीव्रपीडासमेतं
ध्वान्तं भानोरिव समुदयः साधु ताम्राष्टकं हि ॥ १५० ॥

अथ वडवानलशुटिका ।—

तालं ताप्यं कनककुण्टी-कान्तगन्धार्कसूते-
स्तुत्यांश्चैस्तेरुणमधुरं दीप्यकं सर्वतुल्यम् ।

शरावेष स्त्रालीमुखं पिपाय सहस्त्रेषालिष्य च गजपटे दद्यात् । अनन्तरं स्वाङ्गशीतं
तमुद्धृत्य ताम्रपुटसहितमौषधं चूर्णयित्वा कूपिकायां संस्थाप्य च सैन्धवचूर्णमध्ये
स्थापयेदिति ॥ १४४—१४८ ॥

द्वितीयचारताम्रे—वसुमितपलमानम् अष्टपलमानम् । तन्निडीचारचूर्णं तन्निडी-
त्वक्चारम् ॥ १४८ ॥

ताम्राष्टके—मधुकरुचकं मधुकेन यष्टिमधुना सह रुचकं सोवर्षलक्षवणम् ।
मृणमृदितं श्लक्ष्णपिष्टम् । ध्वान्तमिति ।—भानोः सूर्यस्य समुदयः प्रकाशः ध्वान्तं
तिनिरमिवेति योजना ॥ १५० ॥

वडवानलशुटिकायां—कुण्टी मनःशिला । तुल्यांश्चैरिति कनकादिभिः
सम्बध्यते । अथ ताक्षताप्ययोः पृथङ्निर्देशोऽपि कनकाद्यैकमानसमता बोद्धव्या
विशेषानिर्देशात् । तेः कनकादिभिः सूताम्नैः, न तु ताक्षादिभिः, ताक्षताप्ययो-
रसमासनिर्देशात्, अरुचमधुरं, तुल्यमिति शेषः ; अरुचम् अरुचमूला विव्रन,
मधुरं मधुरिका, अरुचैव सह मधुरमिति विवक्षितः ; तेन च अरुचमधुरयोर्मिलितयोः
कनकादितुल्यता । दीप्यकं सर्वतुल्यमिति ताक्षादिमपुराणानां चूर्णाणां तुल्यं

एतैः सर्वैस्त्रिकटु च समं कज्जलीकृत्य सर्वं
 हिङ्गुभोभिर्मुनिमितदिनैर्भावयेत् ममकत्वः ॥१५१॥
 जयन्त्याः काकमाच्याश्च निर्गुण्डास्याऽऽर्द्रकस्य च ।
 स्वरमैर्भावयेत् पिष्ट्वा सकृदेव दिने दिने ॥
 कर्तव्या मरिचैस्तुल्याम्बुजायाश्च गोमिकाः ॥१५२॥
 हन्येषा बडवानलाख्यगुटिका संसेवितोष्णाम्बुना
 सर्वं शूलगदं क्षामिञ्च सकलं वैषम्यवृत्तिं क्षुधः ।
 मन्दाग्निं ग्रहणीगदं श्वयथुरुक्पाण्डुञ्च गुल्मार्शसौ
 वातश्लेष्मगदं तथोदररुजं श्वासञ्च कासं ज्वरम् ॥१५३॥

अथ अग्रिकुमारः ।—

रसगन्धकयोः कृत्वा कज्जलीं तुल्यभागयोः ।
 पादांशममृतं दत्त्वा शुक्तिभस्म कलांशकम् ॥१५४॥
 हंसपादीरसैः सम्यक्पदयित्वा दिनत्रयम् ।
 स्थूलगोलं ततः कृत्वा परिशील्य खरातपे ॥१५५॥
 निरुध्य बालुकायन्त्रे क्रमपुष्टेन वज्जिना ।
 पचेदकमहारात्रं स्रुतः शीतं विचूर्ण्य च ॥१५६॥
 तुल्यांशममृतं दत्त्वा मर्दयेदार्द्रकद्रवैः ।
 विलिप्य स्थालिकामध्ये ततोऽन्यस्थालिकीदरे ॥१५७॥
 पलार्द्धममृतं क्षिप्त्वा रसस्थालीञ्च तन्मुखे ।
 न्युजां दत्त्वा दृढं कृत्वा चुक्ष्यामारोप्य यत्नतः ॥१५८॥

यमानीचूर्णम् । एतैः सर्वैः त्रिकटु च सममिति मिलितत्रिकटुचूर्णं सर्वचूर्ण-
 समानम् । कज्जलीकृत्य इत्यत्र कज्जलीशब्दः सुष्ठु मर्दनलोपलक्षणं, कज्जली यथा
 दृढं मर्दयित्वा क्रियते, तथा सम्यग्य इत्यर्थः, अथवा—योगेऽस्मिन् सूतगन्धकसङ्गात्
 कज्जलीकृत्येति पदम् । हिङ्गुभोभिः हिङ्गुनः शीतकषायैः फाष्टकषायैर्वा ।
 मुनिमितदिनैः सप्तभिर्दिनैः ॥ १५१—१५९ ॥

अग्रिकुमारः—पादांशममृतमिति कज्जलीभागसमेष्वत्र विषस्य तुल्योऽंशम् । एवं

यामं प्रज्वालयेदग्निं विचूर्ण्य तदनन्तरम् ।
 करण्डके विनिक्षिप्य स्थापयेदतियत्नतः ॥
 रसो ह्यग्निकुमाराख्यो दिष्टो मन्यानभैरवैः ॥१५८॥
 हन्यादत्यग्निमान्यं ज्वरहरमखिलं वातजातं क्षयात्तिं
 शोफाख्यं पाण्डुरोगं कफजनितगटान् प्लौहगुल्मं गुदात्तिम् ।
 सर्वाङ्गीणश्च शूलं जठरेभवक्वजं खञ्जतां पङ्कजत्वं
 सर्वांश्चासाध्यरोगान् हरिरिव दुरितं रक्तगुल्मं बधूनाम् ॥१६०॥

अथ शम्बूकादिलोहम् ।—

शम्बूकं चूषणं पञ्च लवणानि मृतायसम् ।
 समांशं पेषयेन्मूत्रैः कृष्णाजस्य दिनावधि ॥
 भक्षयेत् कर्षमाचन्तु परिणामाख्यशूलनुत् ॥१६१॥

अथेन्द्रवारुणिकादिचूर्णम् ।—

इन्द्रवारुणिकामूलं कटुत्रयसमायुतम् ।
 पिवेदुष्णाम्बुना हन्ति शूलमत्यन्तदुःसहम् ॥१६२॥

अथ भूदार्वादियोगः ।—

भूदारुवटमूलञ्च शूलजित् सोष्णवारिणा ॥१६३॥

अथ सद्यःशूलहरयोगः ।—

सद्योभवं हरेच्छूलं लवणं वाऽऽरनालकैः ॥१६४॥

कलाशकमपि कज्जलीभागापेक्षया षोडशांशम् । हंसपादौ मण्डूकपर्णी । कमपुट्टेन
 कनकवर्हितेन । रसस्यालोम् औषधलिप्तमाख्यम् । न्युजाम् अघोमुखीम् ॥१५४—१६०॥

शम्बूकादिलोहं—शम्बूकं शम्बूकमक्ष । कृष्णाजस्य कृष्णवर्णं आगस्य । “कृष्णा-
 कस्य” इत्यत्र “कृष्णाजायाः” इत्येव युक्तः पाठः, गोऽनादौना स्त्रीषामेव मूलस्य
 यङ्गानुशासनात् ॥ १६१ ॥

इन्द्रवारुणिकादिचूर्णं—इन्द्रवारुणिकादीनां चतुर्णां समत्वम् ॥ १६२ ॥

भूदार्वादियोगे—भूदारु काष्ठदारु, देवदारुभेद इति यावत्, “भूदारु” इत्यत्र
 “भूदार” इति पाठे—भूदारः भूमिस्फोटः भुवं दारयति इति विग्रहे भूच्छन्नाक
 इत्यर्थः ॥ १६३ ॥

सद्यःशूलहरयोगे—लवणं सेत्तव्यं सौवर्ण्यं वा ॥ १६४ ॥

अथ सद्यःशूलहरयोगद्वयम् ।—

घृतेन सैन्धवं वाऽथ उष्णतोयैः सुवर्चलम् ॥ १६५॥

अथ चारवटी ।—

अमृतं हेमभस्माथ शङ्खं चिञ्चा सुभास्करम् ।

क्रमाद्दिगुणितं कृत्वा तत्तुल्यञ्च कटुत्रिकम् ॥ १६६॥

तुलसी भृङ्गराजश्च मातुलुङ्गार्द्रकद्रवैः ।

भावितं बहुशस्पर्णं रजो वा गुलिकाऽपि वा ॥ १६७॥

गुञ्जामात्रन्तु सेवेत गुल्माष्टीलां विनाशयेत् ।

मन्दाग्निं ग्रहणीमर्शी शूलरोगमरोचकम् ॥

एषा चारवटी नाम कृशदेहेषु युज्यते ॥ १६८॥

सद्यःशूलहरयोगद्वये—घृतेन इत्यादिना एकः उष्णतोयैरित्यादिना च द्वितीयो योगः । कृषिदेतच्छ्रीकान्तारं नागं बद्धं सुतामं दरदमनःशिला तुल्य-
ताप्याभ्रगन्धं भस्म स्पर्णेन तुल्यं रसकमपि रजिचीरघृष्टं सुगोलम् । कृत्वा पक्त्वा च
यन्त्रे लवणविरचिते भावयेदार्द्रकाभिर्वारान् सप्त दिवसं समधुमगधया योजितः
सेवनीयः ॥ कार्त्तुं शूलेऽग्निमान्यो विविधसमुचितैरौषधैः सन्निपाते हृद्भोगे गल-
मेहे कफपवनभवे सर्ववातज्वरेऽपि । देधो युक्त्या रसेन्द्रस्त्रिभुवनविदितो भोगि-
लोके प्रसिद्धो नागानां बल्लभो यो गरगदगलना-रक्तपित्तप्रहृन्ता ॥ इति नागबल्लभो
रसः । अथ द्वितीयः,—नागं सुवर्णं रसभस्म ताम्रं सारं शिलाहिकूलमाक्षिकञ्च ।
घनं सुगन्धं मृतहेम खर्परं सर्वं समं खल्लतले विघृष्टम् ॥ अर्केण ताम्रेण विधाय
गोलं मृत्स्थान्युकेः सप्तमितैः सुधर्मैः । भाण्डे विभागलवणोपरि सन्निवेश्य सम्पूर्णयेच्च
लवणेन निरुध्य यवात् ॥ सिद्धं भवेत् भातमितैस्तु यामकैःसुखीपरिस्थं मृदुमध्य-
तीव्रकैः । शीतं समानाद्य विचूर्ण्य समधा चण्डागुप्तशोषितशङ्खवैरकैः । नाग-
बल्लभरसो दिवसको मागधीमधुयुतश्च सर्वजित् ॥ इति द्वितीयो नागबल्लभरसः ।
इत्यधिकः पाठो दृश्यते ॥ १६५ ॥

चारवट्या—चिञ्चा तिनिङ्गीलम्भम् । सुभास्करं प्रशस्तताम्रं, तच्च नारितपुटितं
यास्यम् । तत्तुल्यञ्च कटुत्रिकं सर्वचूर्णसमानं त्रिकटुचूर्णं यास्यम् । भावितं
बहुशस्पर्णमिति गुलसादीनां प्रत्येकद्रवेषु सप्तवारान् भावितम् ॥ १६६—१६८॥

अथ कार्श्यचिकित्सा ।—

अथामृतार्णवः ।—

रसभक्ष्यं त्रयो भागा भागैकं हेमभक्ष्यकम् ।
सर्वांशममृतासत्त्वं सितामध्वाज्यमिश्रितम् ॥१६८॥
दिनैकं मर्दयेत् खल्ले माषैकं भक्षयेत् सदा ।
कृशानां कुरुते पुष्टिं रसोऽयममृतार्णवः ॥
अश्वगन्धापलार्द्धञ्च गवां क्षीरैः पिबेदनु ॥१७०॥

अथ पूर्णचन्द्रः ।—

मृतसूताभ्रलोहं वै शिलाजतु विडङ्गकम् ।
ताप्यं क्षौद्रं घृतं तुल्यमेकीकृत्य विमर्दयेत् ॥१७१॥
पूर्णचन्द्ररसो नाम्ना माषैकं भक्षयेत् सदा ।
शाल्मलीपुष्पचूर्णञ्च क्षौद्रैः कर्षं पिबेदनु ॥१७२॥
दुर्बलो बलमाप्नोति मासैकेन यथा शशौ ।
कृशानां बृंहणं देयं सर्वं पानान्नभेषजम् ॥
निद्रा चैव दिवा रात्रौ ह्यागमांसाशनं तथा ॥१७३॥

अथ स्थौल्यचिकित्सा ।—

अथ वङ्गवापिसुखः ।—

शुद्धसूतं मृतं ताम्रं तालं बोलं समं समम् ।
अर्कक्षीरैर्दिनं मय्यं क्षौद्रैर्लेह्यं द्विगुञ्जकम् ॥१७४॥

इक्षान्नपानादिनिदानसाधर्म्यात् वातजन्यत्वसाधर्म्याञ्च शूलानन्तरं कार्श्य-
चिकित्सितमाह । तत्र अमृतार्णवे—सर्वांशममृतासत्त्वं अमृतासत्त्वं गुडूचीसारः,
तस्य च चत्वारो भागाः ॥ १६८/१७० ॥

पूर्णचन्द्रे—मृतसूतः रससिन्दूरः । ताप्यं सुवर्णमाचिकम् । बृंहणं पुष्टि-
जननम् ॥ १७१—१७३ ॥

कार्श्यप्रतिशोगिलात् तथा “स्थौल्यकार्श्ये वरं कार्श्यम्” इत्यत्र “स्थौल्यः

बड्वाग्निमुखी नाम स्थौल्यं तुन्दं नियच्छति ।

पलं क्षौद्रं पलं तोयमनुपानं पिबेत् सदा ॥१७५॥

अथ स्थौल्ये पूर्वकृत्यनिर्देशः ।—

तत्राऽऽदौ पञ्चकर्माणि लङ्घनाद्यैरुपाचरेत् ॥१७६॥

अथ सध्वार्द्रकप्रयोगः ।—

ध्वार्द्रकं मधुना खादेन्मेदोऽनिलकफान् जयेत् ॥१७७॥

अथ अपिकुमारः ।—

शन्धकेन द्विकर्षेण शुद्धसूतेन तावता ।

विधाय कज्जलीं सूक्ष्मामेकवासरमर्दनात् ॥१७८॥

कर्षमात्रं विषं दत्त्वा मर्दयित्वा दृढं पुनः ।

हंसपाटीरसैस्तेर्वा स्तोकं स्तोकं मुहुर्मुहुः ॥१७९॥

कुड्बार्द्धमितैः पञ्चाङ्गोलं कृत्वा विशोष्य च ।

काचकूप्यां विनिक्षिप्य शुल्बं नाडीं विधाय च ॥१८०॥

देवीशास्त्रे पुनः प्रोक्तं विषं कर्षञ्चिच्छर्णितम् ।

ऊर्द्धाधो गोलकानां हि काचकूप्यां विनिक्षिपेत् ॥१८१॥

पदीपाटानाञ्च काश्यान्तरं स्थौल्यचिकित्सितमुच्यते । तत्र बड्वाग्निमुखे—बोलं गन्धरसः । तुन्दं स्थूलीदरताम् ॥ १७४।१७५ ॥

स्थौल्यचिकित्सायां प्रथमकृत्यमुपदिशति, तचेति ।—पञ्चकर्माणि वसनविरेचनादीनि, कुर्यादिति शेषः । लङ्घनाद्यैरित्यत्रादिपदेन विरक्त्यादीनां परिग्रहः ॥१७६॥

सध्वार्द्रकप्रयोगे—सर्वं स्पष्टम् ॥ १७७ ॥

अपिकुमारः—मृत्पां श्लक्ष्णमित्यर्थः । हंसपाटीति ।—कुड्बार्द्धमितैः पलद्वयप्रमाणैः हंसपाटीरसैः मण्डूकपर्णीरसैः ; कुड्बार्द्धमितं रसं कृत्स्नमेव युगपद्दत्त्वा मर्दयेत्, अथवा मुहुर्मुहुः स्तोकं स्तोकं दत्त्वा मर्दयेदित्यर्थः । शुल्बे नाडीं विधाय च नाडीं कूपिकाया नालं, नालवत् ऊर्द्धाधोतांशविशेषमित्यर्थः, शुल्बे तासपत्रे विधाय स्थापयित्वा, कूपिकाया मुखं तासपत्रेणाच्छाद्य इत्यर्थः । एवं स्वतन्त्रमभिधातुं इदानीं देवीशास्त्रोक्तमतं दर्शयितुमाह, देवीति ।—देवीशास्त्रे पावंतीप्रोक्ततन्त्रे । कसमते सविषमेव कज्जलीगोलकं काचकूप्यां स्थापयेत्, देवीशास्त्रे तु मर्दनकाशी

निक्षिपेत् कज्जलीं मध्ये यतश्चाग्रं प्रजायते ।
 ततश्च द्वाङ्गुलीत्सेध-मृदा कूपीं विलिप्यताम् ॥१८२॥
 विशोष्य बालुकायन्त्रे यन्त्रवर्गप्रकाशिते ।
 अधोमुखीं घटीं क्षिप्वा क्षिपेदुपरि बालुकाम् ॥१८३॥
 निरुध्य भाण्डवक्त्रञ्च चुल्लग्रामारोप्य यत्नतः ।
 वर्द्धं प्रज्वालयेत् साह्रं दिनं क्रमविवर्द्धितम् ॥१८४॥
 स्वाङ्गुशीतलमाकृत्य सह तान्त्रेण मर्दयेत् ।
 पलाहं मरिचं सूक्ष्मं कर्षाहं वत्सनाभकम् ॥१८५॥
 विनिक्षिप्य विमर्द्याथ क्षिपेद्रम्यकरण्डके ।
 नन्दिना तु समुद्दिष्टं रमतुल्यं मरीचकम् ॥
 वत्सनाभन्तु कर्षांशं मिश्रयेत् विचूर्ण्य तत् ॥१८६॥
 निर्दिष्टोऽग्निकुमारको रसवरो देव्या तथा नन्दिना
 सेव्यो वैद्ययशःप्रभूतफलदद्याऽऽनाहविध्वंसनः ।
 सद्यः पाचनदीपनो रुचिकरः शीघ्रं तथाऽष्टीलिकां
 सामाञ्च ग्रहणीं हरेत् कफरुजः कण्ठामयध्वंसनः ॥१८७॥
 बल्यो भोजनतोयभक्ष्यसुखदः श्रेष्ठो रसानां प्रभु-
 र्मन्दार्गिं कफवातजं क्षयगदं निःशेषशूलामयान् ।
 श्वासं कासगदं तथा गुदरुजं स्थूलैश्च पाण्डुं तथा
 शोफं वातगदं तथा खलु रतौतुल्योऽर्द्धपर्णान्वितः ॥१८८॥

कज्जल्या सह विषचूर्णकर्षमदत्त्वा केवलरसगन्धककृतकज्जलीगोलेकस्य ऊर्ध्वार्धः
 तत् दत्त्वा कूप्यां स्थापयेदिति । अग्रं गुणोत्कर्षम् । यन्त्रवर्गप्रकाशिते यन्त्रा-
 ध्यायोक्ते । अधोमुखीं घटीं क्षिप्वा बालुकायन्त्रस्य कूपिकाया मुखोपरि स्तब्ध-
 घटमेकमधोमुखं दत्त्वा, कूपिकामुखं घटान्तरेणाच्छाद्य इत्यर्थः । साह्रंमित्यस्य
 दिनमित्यनेनान्वयः, साह्रं दिनमित्यर्थः । क्रमविवर्द्धितं मृदुमध्यतीक्ष्णक्रमेण
 विवर्द्धितम् । सह तास्यैव कूपिकामुखस्य तास्यपत्रेण सह । मरिचवत्सनाभमिश्रणे
 नन्दिमतमाह,—नन्दिनेति । रतौति ।—रक्तिमितः रसः ताम्बूलदन्ताह्वेन सहितः

कण्ठ्या सितयाऽऽर्ज्येन दातव्योऽसौ महारसः ।

प्रत्यङ्गीलादिरोगेषु जलकूर्मगदेषु च ॥१८८॥

नान्दिना तु पुनः प्रोक्तस्तत्तद्रोगहरौषधेः ।

निहन्ति सकलान् रोगान् दुष्पत्नौव मनोरथान् ॥१८९॥

रसजनितविदाहं शीततोयाभिषेको

मलयजघनसारालेपनं मन्दवातः ।

तरुणदधि सिताक्तं नारिकेलौफलाभ्यो

मधुरशिशिरपानं शीतमन्यच्च शस्तम् ॥१९०॥

सौभाग्यं मेघनादाङ्गि-सितामधुकचन्दनम् ।

तुषोदकेन दातव्यं सर्वस्मिन् रसवैकते ॥१९१॥

क्षीर्यां तृण्णासु दातव्यं कपित्थं वा सिताऽन्वितम् ।

कुमारोशीतलेपश्च सर्वाङ्गीणः प्रशस्यते ॥१९२॥

क्षीरं मधुसितापीतं क्षायो वाऽमृतबन्धुकः ।

उपचारा अमी सर्वे प्रशस्ता रसतापिनाम् ॥१९३॥

रसस्याग्निकुमारस्य प्रभावं वेत्ति तत्त्वतः ।

गिरिजा नन्दिकेशो वा यदा नारायणः प्रभुः ॥१९४॥

इत्यर्थः । प्रत्यङ्गीला वातव्याधिनिर्दिष्टा । जलकूर्मगदेषु जमटोष्यरोगेषु । रस-
प्यापत्तो प्रतीकारमाह, रसेति ।—रसजनितविदाहं एतदौषधसेवनात् दाहसन्तापा-
दिकं जायते चेत् तदा इत्यर्थः । मलयजः श्वेतचन्दनं घनसारः कर्पूरः । तरुणदधि
सप्तरात्रपर्युषितं दधि, “सप्तरात्रव्यतीते तु दधि तरुणमुच्यते” इति लक्षणात् ।
सौभाग्यं टङ्गणम् । मेघनादाङ्गि रक्ततण्डुलीयमूकम् । तुषोदकेन सप्तपत्रवृक्ष-
काङ्गकेन । रसवैकते रससेवनमातविदाहादिषु । कुमारोशीतलेपः घृतकुमार्याः
शीतलप्रलेपः । क्षायो वाऽमृतबन्धुकः अमृता गुडूची, हृन्तोऽनुरोधादन
अस्यः ; “अमृतवपटोक्तम्” इत्यादावपि गुडूच्यर्थकः अमृतशब्दी दृश्यते ;
बन्धुकः बन्धुजीवाख्यः, तौ सः यत्र क्षाये सः अमृताबन्धुवृक्षतक्षात्
इत्यर्थः ॥ १९०—१९४ ॥

अथास्त्रपित्तनिदानम् ।—

अम्नोद्गारवमी हस्त-पादद्वक्त्रक्षिदाहता ।

अस्त्रपित्ते मुखं तिक्तं भवेच्छूलमरोचकम् ॥१८६॥

अथ अस्त्रपित्तचिकित्सा ।—

अथास्त्रपित्तोपचाराः ।—

अस्त्रपित्ते तु वमनं तदन्ते मृदुरेचनम् ।

ऊर्ध्वगं वमनैर्हृन्त्यादधोगं रेचनैर्जयेत् ॥

तिक्तभूयिष्ठमाहारं पानञ्चापि प्रकल्पयेत् ॥१८७॥

अथ वमनयोगः ।—

अस्त्रपित्ते च वमनं पटोलारिष्टवारिभिः ॥१८८॥

अथ विरेचनयोगः ।—

विरेचनं त्रिवृच्चूर्णं मधुधात्रीफलैर्भवेत् ॥१८९॥

अथ लीलाविलासः ।—

शुद्धसूतं शुद्धगन्धं मृतं ताम्राभ्ररौप्यकम् ।

तुल्यांशं मर्दयेद्यामं रुद्ध्वा लघुपुटे पचेत् ॥२००॥

अक्षधात्रीहरीतक्याः क्रमवृद्ध्या विपाचयेत् ।

जलीनाष्टगुणेनैव ग्राह्यमष्टावशेषितम् ॥२०१॥

तृषामीहस्रप्रस्फेदाटिलचणैः स्थौल्यास्त्रपित्तयोः लक्षणसाधन्यात् स्थौल्यचिकित्सा-
नन्तरम् अस्त्रपित्तचिकित्सां विवक्षुरादौ तल्लक्षणमाह, अम्नोद्गार इति ।—सुगमम् ॥१८६॥

अस्त्रपित्तस्य क्रियासूत्रमाह, अस्त्रेति ।—तदन्ते वमनान्ते । ऊर्ध्वगमिति ।—
ऊर्ध्वगस्य कफसंसृष्टत्वात् तत्र कफहरं वमनं विहितम् । अधोगमिति ।—अधोगस्य
वातसंसृष्टत्वेऽपि विरेकावधानं योगवाहस्य वायोः पित्तप्रशमनेनैव प्रशमाभिप्रायात्,
विरेचनञ्चाद्यं पित्तहरेषु ॥ १८७ ॥

“ऊर्ध्वगम्” इत्यादिना वमनविरेचनयोः विधानमुक्त्वा आदौ वमनयोगमाह,
अस्त्रपित्ते इति ।—सुगमम् ॥ १८८ ॥

विरेचनयोगमाह, विरेचनमिति ।—त्रिवृच्चूर्णस्य माषकत्रयं माषकचतुर्थं वा
प्रयोज्यम् । धात्रीफलेः आमलकस्वरसैः तत्काथैर्वा ॥१८९॥

लीलाविलासे—अस्त्रेति ।—क्रमवृद्ध्या उत्तरीणरभातवृद्ध्या अक्षधात्रीहरीतक्याः,
भागमिति शेषः, अष्टगुणेन जलीन विपाचयेदिति योजना । अस्त्रादीनाञ्च “माष्यद्रव्य-

अनेन भावयेत् सर्वं पूर्वं सूतं पुनः पुनः ।

पञ्चविंशतिवारंश्च तावद्भिर्भृङ्गजैर्द्रवैः ॥२०२॥

शृङ्गं तच्चूर्णितं खादेत् पञ्चगुञ्जं मधुप्लुतम् ।

रसो लीलाविलासोऽयमम्लपित्तं नियच्छति ॥२०३॥

अथ कुष्माण्डखण्डम् ।—

कुष्माण्डस्य रसस्य सत्पलशतं तुल्यं गवां क्षीरकं

धात्रीचूर्णपलाष्टकं लघु पचेद्यावत् क्षतं पिण्डितम् ।

धात्रीतुल्यमितं पलार्द्धममृतं तल्लेहकं लेहयेत्

ख्यातं कुष्माण्डखण्डं क्षपयति नितरामम्लपित्तं न चान्यत् ॥२०४॥

अथ ताम्रदतिः ।—

पलं नेपालशुल्बस्य पत्राणि सूतनृनि च ।

कृत्वा कण्टकवेध्यानि कारयेत्तदनन्तरम् ॥२०५॥

कर्पूरकं द्विगुणं ग्राह्यं क्रमात् सूतकगन्धयोः ।

मर्दितव्यं शिलाखल्ले रमेर्दन्तशठस्य वै ॥२०६॥

तत् कल्कं पङ्कवत् कृत्वा तेन पर्णानि सर्वशः ।

लेपयित्वा शिलाखल्ले स्थापयेदातपे खरे ॥२०७॥

समं क्वाथम्” इत्यादिपरिभाषानुसारेण सूतादिभिः पञ्चभिः सह समभागता ज्ञातव्या ।

पूर्वं सूतं लघुपुटे पकं सूतादिकम् । पुनः पुनः पञ्चविंशतिवारमित्यर्थः, अनन्तरोक्त-
भृङ्गजद्रवेषु पञ्चविंशतिवारं भावनादर्शनात् । तावद्भिर्भृङ्गजैर्द्रवैः यावद्भिः त्रिफला-
क्वाथैः भावना कृता तावत्परिमितैः भृङ्गराजरसैरित्यर्थः ॥ २००—२०३ ॥

कुष्माण्डखण्डे—सत्पलशतं यथाविधि गृहीतं पलशतमित्यर्थः, एतेन “स्विन्न-
पीडितकुष्माण्डात्” इत्यादिना तन्त्रान्तरोक्तं रसग्रहणविधानमुक्तं भवति । तुल्यं
कुष्माण्डरसतुल्यम् । लघु पचेत् सृद्वज्जिना पचेत् ; यद्वा—सृदुपाकं कुप्योत न
तु खरमित्यर्थः । धात्रीतुल्यमितं धात्रीतुल्या सिता यत्र रसपलशते तदिति विशङ्कं
सितायाः पलाष्टकमित्यर्थः । अमृतम् अमृता, गुडूचीत्यर्थः । गुडूच्यर्धक-
स्यामृताशब्दस्य अकारान्तप्रयोगोऽपि दृश्यते तच्च प्रागेव प्रदर्शितम् । न चान्यत्
अन्यत् अल्पेतिशब्दः, न च नैव, भवतीति शेषः ॥ २०४ ॥

ताम्रदुतौ—नेपालशुल्बस्य नेपालदेशजताम्रस्य । कर्पूरकमिति ।—सूतस्य कर्पूरं

यामैकेन समुद्धृत्य द्रवीभवति नान्यथा ।
 त्रान्तिं विरेचनं कृत्वा शुद्धकायो यथाविधि ॥२०८॥
 पूजयित्वा सुरान् वैद्यान् विप्रान् हेमाम्बरादिभिः ।
 तां द्रुतिं मधुसर्पिर्भ्यां रक्तिकामाषकादिभिः ॥२०९॥
 लौढा तत्र पिबेत्तक्रं धान्याम्लकमथापि वा ।
 जीर्णं सायं समग्रीयाच्छास्यन्तु पुरातनम् ॥२१०॥
 सेव्यमानं निहन्त्येतदम्लपित्तं सुदारुणम् ।
 कासं क्षयं तथा शोषमर्शांसि ग्रहणीं तथा ॥२११॥
 कामलां पाण्डुरोगञ्च कुष्ठान्येकादशैव च ।
 रक्तपित्तं सखालित्यं शूलक्षैवोदराणि च ॥२१२॥
 वातरोगं प्रतिश्रायं विद्रधिं विषमज्वरम् ।
 सतताभ्यासयोगेन बलीपलितवर्जितः ॥२१३॥
 ताम्रवत् कुरुते देहं सर्वव्याधिविवर्जितम् ।
 जीवेद्वर्षशतं सायं द्वितीय इव भास्करः ॥२१४॥

अथ पित्तरोगचिकित्सा ।—

अथ पित्तान्नकरसः ।—

मृतसूताभ्रमुण्डार्क-तीक्ष्णमाक्षिकतालकम् ।
 गन्धकञ्च भवेत्तुल्यं यष्टीद्राक्षामृताद्रवैः ॥२१५॥
 जलमण्डपिकावासा-द्रावैः क्षीरविदारिजैः ।
 दिनैकं मर्दयेत् खल्ले सिताक्षौद्रयुता वटी ॥२१६॥

गन्धकस्य च कर्षद्वयम् । दन्तशठस्य चाङ्ग्रेय्याः । पर्णानि कण्टकवेष्ट्यानि ताक्ष-
 यमाणि । रक्तिकामाषकादिभिः दोषवन्नादिकं विविच्य रक्ततो माषकपर्यन्तमादौ
 सेवेत इत्यर्थः । जीवेत् वर्षशतं सायं शतवर्षाधिकं जीवेदित्यर्थः, तेन पञ्च-
 दिनाधिकसर्विभ्रतिवर्षशतं जीवेदिति निष्कर्षः ; यदुक्तं वराहमिह्यायुर्निर्णयके,—“सप्ताः
 षष्टिर्हिमुषा मनुजकरिणां पञ्च च विधाः” इति ॥२०५—२१४॥

अन्धपित्तस्य विद्रग्धपित्तजन्मत्वेन निर्देशात् तदनन्तरं पित्तजानामन्वेषां रोगाणां
 चिकित्सितमुच्यते । तत्र पित्तान्नकरसः—मुखं मुखबोद्धम् । तीक्ष्णं तीक्ष्णबोद्धम् ।

निष्कमात्रं निहन्त्याशु पित्तं पित्तज्वरं क्षयम् ।
 दाहं दृष्ट्वा भ्रमं शोषं वेगात् पित्तान्तकी रसः ॥२१७॥
 सिताक्षीरं पिबेच्चानु यष्टीं सिताऽन्वितां जलैः ।
 पिबेद्वा पित्तशान्त्यर्थं शीततोयेन चन्दनम् ॥२१८॥

अथ दशसारम् ।—

यष्टी द्राक्षा फलं धात्रा एलाचन्दनबालकम् ।
 मधूकपुष्पं खर्जूरं दाडिमं पेषयेत् समम् ॥२१९॥
 सर्वतुल्या सिता योज्या पलाङ्गं भक्षयेत् सदा ।
 दशसारमिदं ख्यातं सर्वपित्तविकारजित् ॥
 मेहदृष्ट्वाऽरतोऽथैव दाहं मूर्च्छां ज्वरं जयेत् ॥२२०॥

इति थावेद्यपतिसिद्धगुप्तस्य सूनीर्वाम्भटाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये विटपिठवि-

गुप्तयकृत्प्रीहशुलकार्यप्यौल्याशीलाप्रत्यशीलाजलकुर्मरसवेकतानाह्वान-

पित्त-पित्तचिकित्सानामाष्टादशीऽध्यायः ॥ १८ ॥

अमृता आमलकी गुडूची वा । जलमण्डपिका वारिपर्णी, “पाना” इति लोके ।
 “जलमण्डपिकावामाद्रावेः” इत्यत्र “धात्रीशतावरोद्रावेः” इति रसरत्नाकरे पाठः ।
 क्षीरविदारोजेः भूमिकृष्णारसैः । पिबेद्वा इत्यत्र अन्नु इति शेषः, पित्तान्तक-
 रससेवनानन्तरं शीततोयेन चन्दनमनुपिबेदित्यर्थः । रसरत्नाकरे रसोऽयं वात-
 पित्तान्तकरस इति नाम्ना पठितः । रसेन्द्रसारसङ्ग्रहे वातव्याज्जगगनादिवटिकया
 मण्ड अथ्य सर्वथा साम्यं दृश्यते, केवलं तालकामृताद्रवयोरुपेक्षयोः तच्चाभावः
 इति ॥२१५—२१८ ॥

दशसारे—फलं धात्राः आमलकी । रसेन्द्रसारसङ्ग्रहे “यष्टी.....बालकम्”
 इत्यत्र “यष्टिं धात्रीं बलां द्राक्षामेलां चन्दनबालुकम्” इति पाठः । कश्चिदेत-
 स्क्लोकानन्तरं “इममक्षयमसतारमृतकं मौक्तिकञ्च विषगन्धकं कुश । पिषाटार्द्रक-
 र्मुनेन पेषयेच्छोषयेच्च परिपेषयेन्मृदु ॥ भाजने च लवणीदरे क्षिपेदङ्गुलिमितयमायते
 तथा ॥” इत्यधिकपाठः ॥ २१९।२२० ॥

इति रसरत्नसमुच्चयबोधिन्याम् अष्टादशीऽध्यायः ॥ १८ ॥

अथैकोनविंशोऽध्यायः ।

अथोदरादिकिस्सनम् ।—

अथ जलोदरलक्षणम् ।—

उदरं सजलं यस्य सटोषं बलिवर्जितम् ।

श्वयथुः पादयोः शोफः स्याज्जलोदरलक्षणम् ॥ १ ॥

अथ वातोदरलक्षणम् ।—

उदरं वातसम्पूर्णं सव्यथञ्च कशाङ्गता ।

मृदुमुहुः श्वमित्येव तत् वार्तादरलक्षणम् ॥ २ ॥

अथात उदरपाण्डुशोफकामलाकुम्भकामलाहलीमकचिकित्सा ।—

अथ जीमूतकादिगुडिका ।—

जीमूतलोहरसगन्ध-शिलालताम्र-

व्योषाग्निकुष्ठमुषली-विषदोष्यचूर्णम् ।

निम्बकनौरलुलितं गुटिकोक्तं तत्

भुक्तं निशामु मधुना सकलोदरघ्नम् ॥ ३ ॥

शोथत्वसामान्यात् कुक्षिगतरीगसामान्याच्च विद्रव्याद्यनन्तरम् उदरादिकिस्सितं विवर्णितं; एकोनविंशोऽध्यायमारभते; तत्रादौ जलोदरलक्षणमाह, उदरमिति ।— सटोषं दोषो मलं वातादिषु तत्सहितं, विवर्णितं दुष्टवातादिलक्षणसमन्वितचेत्यर्थः । बलिवर्जितं बलिः उदररेखावयुं विवर्ण्यति स्यात् तद्वर्णितम् । श्वयथुः शोथः सर्वाङ्गे एव, अथ श्वयथुश्चेमेव सर्वाङ्गशोथे लक्ष्ये पुनः पादयोः शोफः इति यद्वर्णं पादयोर्विशेषेण शोफवत्त्वावबोधनायम् ॥ १ ॥

वातोदरलक्षणमाह, उदरं वातसम्पूर्णमिति ।—सुगमम् ॥ २ ॥

जीमूतकादिगुडिकार्या—जीमूतम् अथम् । शिला शिलान्तु । जालं हरि-
जालम् । मुषली तालमूली । दोष्यं यमानी ॥ ३ ॥

अथ विनोदविद्याधरः ।—

रसेन्द्रबलिटङ्कणैः सजयपालवीजैः समैः

रसः सुमृदितो भवेत् खलु विनोदविद्याधरः ।

पयागुडयुतो हरेत् सकलरेचनीयामयान्

ज्वरश्च जठरामयान् गुदगदं सशूलं नृणाम् ॥४॥

सम्यग्विरेचनाभावे मुहक्काथं पिबेदनु ।

भेदाधिक्ये पिबेत्तक्रं बर्बूराणां त्वचो रसम् ॥ ५ ॥

अथ दन्तिवीजादिरसः ।—

अष्टौ निसुषदन्तिवीजमपि चेच्छृणुग्रास्त्रयो गन्धकात्

द्वौ च द्वौ मरिचस्य टङ्कणरसञ्चैकैकभागं पृथक् ।

गुञ्जामात्रमिदं सुरेचनकरं देयञ्च शीताम्बुना

शोफं गुल्मजलोदरं प्रशमयेत् धीहामयञ्च परम् ॥ ६ ॥

अथ मलुञ्जयः ।—

द्विचारं त्रूषणं पञ्च-लवणं शतपुष्पिकाम् ।

समभागमिदं सर्वं पटचूर्णं समाचरेत् ॥७॥

तत्समौ रसगन्धौ च कृत्वा कज्जलिकां शुभाम् ।

सर्वमेकत्र सम्मोह्य मर्दयेत् दिवसत्रयम् ॥८॥

विनोदविद्याधरे—रसः नरसारः, शोषादिहृन्मृत्वात, स च सर्वद्रव्यतुल्यः । सकलरेचनीयामयान् विरेचनसाध्यरोगान् । गुदगदम् अशरीरिणम् । बर्बूराणां त्वचः बर्बूराणवल्कलस्य ॥ ४।५ ॥

दन्तिवीजादिरसे—अष्टौ इत्यत्र भागा इति शेषः, एवं चयः द्वौ इत्यादिष्वपि । दन्तीवीजादिकं सर्वं यद्योक्तमानं चूर्णं कुर्यात्, गुञ्जामात्रम् इदं चूर्णमपि शीताम्बुना द्विषं भवेत् चेत्, तदा तत् सुरेचनकरं भवेत् इति “अपि चेत्” इत्यस्यार्थः ; जय-पाणवीजसंयुक्तः योमस्तु विरेचक एव, दन्तीवीजसंयुक्तयोनीऽपि विरेचनकरः इत्यपि-शब्दस्याशयः ॥ ६ ॥

मलुञ्जये—द्विचारं सर्जिवाचारं यवचारञ्च । पटचूर्णं वस्त्रपूतचूर्णम् ; “पट-चूर्णम्” इत्यत्र “पटचूर्णम्” इति पाठे—सूत्रचूर्णमित्यर्थः । तत्समौ रसगन्धौ च इति

अयं मृत्यञ्जयो नान्ना रसः शीघ्रफलप्रदः ।
 कथितो मर्यादायैव सन्निपातहरः परम् ॥८॥
 सन्निपाते प्रयोक्तव्यः रक्तिकापञ्चमात्रिकः ।
 चित्रकार्दकसिन्धूत्य-कटुभिर्वा समन्वितः ॥९॥
 पीततोयं त्रिदोषार्त्तं निर्वर्ति वासयेत्ततः ।
 पथ्यं दध्योदनं देयं याचमानाय नान्यथा ॥
 गुणो न जायते यस्य तस्य देयो रसः पुनः ॥१०॥
 ज्वरान्नादातगदं तथा कफगदं मन्दानलत्वं ज्वरं
 शूलं सर्वमहामयान् जठरजां पीडां यकृत् पाण्डुताम् ।
 शीघ्रं गुल्मरुजं तथा ग्रहणिकां प्लीहामयं विड्युष्यं
 क्षान्तिं गुल्मकृतां सकासमभितः श्वासञ्च हिक्कामपि ॥११॥

अथ उदरे विरेचनविधिः ।—

आदौ सर्वोदराणाञ्च देयमुक्तं विरेचनम् ।
 गोमूत्रैर्वाऽथ गोक्षीरैर्योज्यमेरण्डतैलकम् ॥
 कर्षमात्रं प्रयत्नेन शुद्धे देयो रसः पुनः ॥१२॥

अथ वलोक्यमुन्दरः ।—

शुद्धसूतं तथा गन्धं मृताभ्रं सैन्धवं विषम् ।
 कृष्णजोरं विडङ्गञ्च गुडूचीमस्त्वचित्रकम् ॥१३॥

मिलित्वा सर्वचूर्णसमौ रसगन्धकौ । कटुभिर्वा इत्यत्र वा-शब्देन रक्तिकापञ्चमात्रिकः
 रसः केवलमपि प्रयोक्तव्यः इत्यर्थः प्रतीयते । पीततोयम औषधसिक्कानन्तरं जलं पाय-
 यित्वेत्यर्थः । याचमानाय नान्यथा भोजनं याचमानाय दध्योदनं देयम्, अन्यथा
 अयाचमानाय न देयमित्यर्थः ॥ ७—१२ ॥

उदरिणे रसप्रयोगात् प्राक् उपक्रमं निर्दिशति, आदाविति ।—कर्षमात्रमिति
 एरण्डतैलकमित्यनेन सम्बध्यते । शुद्धे देयो रसः पुनः विरेचनेन शुद्धकोष्ठे पुनः
 जननारं मृत्यञ्जयरसादिः उदरहरो रसो देयः इत्यर्थः ॥ ११ ॥

वैलीक्यमुन्दर—तथा गन्धमिति सूतगुल्मं गन्धमित्यर्थः । “तथा गन्धम्”

एला चैव यवचारं प्रत्येकं स्याद्रसार्जकम् ।
 दिनं निर्गुण्डिकाद्रावैर्वीजपूररसैर्दिनम् ॥१५॥
 मर्दयेच्छोषयेत् सोऽयं रसस्त्रेलोक्यसुन्दरः ।
 गुञ्जाद्वयं घृतैर्लेह्यो वातोदरकुलान्तकः ॥१६॥
 पलमेकं चित्तमूलं द्विर्गोमूत्रैश्चतुर्जलैः ।
 पाच्यं यावद्भवेत् कल्कं घृतं कल्कञ्च योजयेत् ॥१७॥
 वल्लैकञ्च यवचारं क्षिप्त्वा पक्त्वाऽवतारयेत् ।
 तत् कर्षकं पिबेच्चानु स्निग्धमुष्णञ्च भोजयेत् ॥१८॥

अथ महावज्रः ।—

चतुः सूतस्य गन्धोऽष्टौ रजनी त्रिफला शिवा ।
 प्रत्येकञ्च द्विभागं स्यात्तृणजोरकदन्तिकाः ॥१९॥
 प्रत्येकमष्टभागं स्यादेकौकृत्य विचूर्णयेत् ।
 जयन्तीसूक्ष्मपयोभृङ्ग-वज्रिवातारितैलकैः ॥२०॥

इत्यत्र “द्विधा गन्धम्” इति रसेन्द्रसारसङ्ग्रह-रसरत्नाकरादौ पाठः ; “मृताभम्”
 इत्यत्र रसेन्द्रसारे “तामाभम्” इति पाठः । अन्धादियवचारान्तं सर्वं रसार्जकम् ।
 “एला” इत्यत्र रसरत्नाकरे “वचा” रसेन्द्रसारसङ्ग्रहे च “उग्रगन्धा”
 तथा “प्रत्येकं स्याद्रसार्जकम्” इत्यत्र “प्रत्येकं कर्षमावकम्” इति पाठान्तरम् ।
 एतस्योपध्वस्य अनुपानमाह, पलमेकमिति ।—चित्तकमूलपलकल्केन द्विगुण-
 गोमूत्रेण चतुर्गुणजलेन च घृतात् प्रस्थो विपक्त्यः, अवतार्य च वल्लमानं यवचारं
 प्रक्षिप्य स्थापयेदिति प्रचारः ; अथवा—सङ्गुणं चित्तकमूलपलं पलद्वयगोमूत्रेण
 चतुःपलजलेन च द्रव्यञ्च यावत् पचेत् । ततः तत् कल्कं चतुर्गुणघृतेन घृताच्चतुर्गुणेन
 जलेन च पक्त्वा आसन्नपाके वल्लमितं यवचारं तत्र प्रक्षिप्य अवतारयेत् इति ।
 “वल्लैकम्” इत्यत्र “पलैकम्” इति रसरत्नाकरे पाठः ॥ १४—१८ ॥

महावज्रो—शिवा हरीतकी तस्याश्च चत्वारो भागाः ; त्रिफलायाः प्रत्येकं
 भागद्वयविधानात् । “शिवा” इत्यत्र “शिला” इति रसरत्नाकर-रसेन्द्रसारसङ्ग्रहघृतः
 पाठः । “प्रत्येकञ्च द्विभागं स्यात्” इत्यनन्तरं “द्विद्वज्रैः पाण्डित्यकम् । प्रत्येकञ्च
 द्विभागं स्यात्” इत्यधिकः पाठः रसेन्द्रचिन्तामणि-रसेन्द्रसारसङ्ग्रहे रसरत्नाकरादिषु

प्रत्येकेन क्रमाद्भाव्यं मसवारं पृथक् पृथक् ।
महावज्जिरसो नाम निष्कमुष्णजलैः पिबेत् ॥२१॥
विरेचनं भवेत्तेन तक्रभक्तं ससैन्धवम् ।
दिनान्ते भोजयेत् पथ्यं वर्जयेत् शीतलं जलम् ॥
नाभ्युत्तरे जलस्रावं कुर्याद्वन्ति जलोदरम् ॥२२॥

अथ गुडनागरप्रयोगः ।—

सर्वोदरहरं योज्यं गुडनागरयोः पलम् ॥२३॥

अथ वज्रचारः ।—

सामुद्रं सैन्धवं काचं यवक्षारं सुवर्चलम् ।
टङ्कणं सर्जिकाक्षारं तुल्यं चूर्णं विभावयेत् ॥२४॥
अर्कक्षीरैः स्नुहीक्षीरैरातपे शोषयेत्तद्वहम् ।
अर्कपत्रं स्लिपेत्तेन रुद्ध्वा चान्तः पुटे पचेत् ॥२५॥
तत् क्षारं चूर्णयित्वाऽथ त्रूषणं त्रिफलारजः ।
जीरकं रजनौवज्जि-चव्यकं स्यात् समं समम् ॥२६॥
क्षारमेव तदर्धेच्च एकीकृत्य प्रयोजयेत् ।
अग्निमान्द्येष्वजीर्णेषु भक्ष्यं निष्कद्वयं द्वयम् ॥२७॥
वाताधिके जलैः कोष्णैर्घृतैः पित्ताधिके हितम् ।
कफे गोमूत्रसंयुक्तमारनालैस्त्रिदोषजे ॥२८॥
वज्रक्षारमिदं सिद्धं स्वयं प्रोक्तं पिनाकिना ।
सर्वोदरेषु गुल्मेषु शोफशूलेषु योजयेत् ॥२९॥

दृश्यते । त्रूषणस्यापि प्रत्येकं भागाष्टकम् । सुकपयः स्नुहीक्षीरम् । रुद्धं रुद्धराजः ।
वज्जिः चित्रकः । वातारितेलम् एरण्डतेलम् । नाभ्युत्तरे जलस्रावं कुर्यात् नामि-
रधोदेशे त्रीदिसुखेन शस्त्रेण जलं स्रावयेदित्यर्थः । रसरत्नाकरेऽयं वज्रवीर्यरसः इति
प्रसिद्धम् ॥ १८—२२ ॥

गुडनागरप्रयोगे—गुडनागरयोः मिलित्वा पलमानलम् ॥ २३ ॥

वज्रक्षारि—काचः लवणविशेषः “काच लवण” इति ख्यातम् । अर्कपत्रं

अथ खदिरादियोगः ।—

खदिरं देवदारुञ्च कर्षं गोमूत्रतः पिबेत् ।

उदरं पाण्डुरोगञ्च हन्ति शूलञ्च म्लीहकम् ॥ १० ॥

अथ पिप्पलीप्रयोगः ।—

दिनैकं पिप्पलीचूर्णं सुहीचीरेण भावयेत् ।

निष्कं जलोदरं हन्ति महिषीमूत्रतः पिबेत् ॥ ११ ॥

अथ वैश्वानरः ।—

रसगन्धकताम्राणि शिलाजित् कान्तलीहकम् ।

त्रिकटु चित्रकं कुष्ठं निर्गुण्डी मुषली विषम् ॥ १२ ॥

अजमोदश्च सर्वेषां ह्यौ ह्यौ भागौ प्रकल्पयेत् ।

चूर्णीकृत्य ततः सर्वं निम्बकाशेन भावयेत् ॥ १३ ॥

एकविंशत्प्रकारेण भृङ्गराजेन समधा ।

मधुना गुटिकां शुष्कां रजन्यान्तु प्रदापयेत् ॥

वैश्वानराभिधो योगो जलोदरविशोषणः ॥ १४ ॥

सुतगतासपत्रम् । चारं पूर्वोक्तं सामुद्रादिकल्कनिर्माकपत्रचारम् । तदहंमिति तेषां चूर्णानामर्हं, तेन सर्वचूर्णात् अर्हं चारमिति निष्कर्षः ॥ २४ — २८ ॥

खदिरादियोगे—खदिरस्य सारः यात्यः “सारः स्यात् खदिरादीनाम्” इति षचनान् ॥ १० ॥

पिप्पलीप्रयोगे—महिषीमूत्रतः पिबेत् महिषीमूत्रेण सह सुहीचीरभाजितां पिप्पलीं पिबेत् ॥ ११ ॥

वैश्वानरे—रसादीनां लौहान्तानां प्रत्येकं समता, त्रिकट्वादीनाञ्च प्रत्येकं भाग-
इयम् ; तथा च रसरत्नाकरे—“शुद्धसुतं समं गन्धं सृताकायः शिलाजित् । रसमानं
प्रदातव्यं रसस्य द्विगुणं विषम् । त्रिकटु चित्रकं कुष्ठं निर्गुण्डी मुषलीरजः । अजमोदा
विषांशेत् प्रत्येकञ्च प्रकल्पयेत् ॥” इति । “विषांशिन” इत्यत्र “दशांशिन” इति मुद्रित-
रसरत्नाकरपाठस्तु लिपिकरप्रमादविजृम्भितः, एतत्तत्संवादात् रसेन्द्रसारसङ्ग्रह-
संवादाच्च । रसेन्द्रसारसङ्ग्रहे तु “विषा गन्धम्” इति पाठः । “कुष्ठम्” इत्यत्र “वीरा”
इति तत्प्रोक्तपाठस्तु न मनोरमः, सर्वतन्त्राख्यरसात् । निम्बकाशेन निम्बपञ्चाङ्ग-

अथ सूर्यप्रभा गुटिका ।—

भार्गीवङ्गिजयायुगाभ्रकदली पाठा वचा रोचना

चर्च्य पत्रकचित्कं त्रिकटुकं क्षारद्वयं गन्धकम् ।

त्रायत्तोहरबीजकेसरिविषहृन् नवङ्गं कणा

कुष्ठं शङ्खफलं फलत्रययुतं फेनः समुद्रादपि ॥३५॥

ब्राह्मी बीजं लताबीजं बालविल्वं विरूढकम् ।

लवणानि तथा पञ्च जात्यादिकुसुमाष्टकम् ॥३६॥

वातारितैलेनैतेषां कल्पिता भिषजां वरैः ।

एषा सूर्यप्रभा नाम गुटिकाऽग्निप्रदीपनी ॥३७॥

अथ उदयमार्त्तण्डरसः ।—

पलोन्मितस्य शुल्बस्य सूक्ष्मपत्राणि कारयेत् ।

तत्समं गन्धकं दत्त्वा खल्ले सर्वं विमर्दयेत् ॥३८॥

जम्बीररससंयुक्तं दिनं घर्मे निधापयेत् ।

ततः शुल्बे द्रवोभूते रसकर्षं नियोजयेत् ॥३९॥

तत् सिद्धमुदरे योज्यं शोफे चैव भगन्दरे ।

नाम्ना तूदयमार्त्तण्ड-रस एष प्रकीर्त्तितः ॥४०॥

काथेन इत्यर्थः, “पञ्चाङ्गनिम्बकाथेन” इति रसरत्नाकरदर्शनात् । रसेन्द्रसारसङ्ग्रहे तु “निम्बपञ्चाङ्गलकाथेः” इति पाठः । श्लेष्मोदरे चायं योगः प्रयोज्यः । मात्रा च वदरास्थि-
माना । वैश्वानरी वटीति नामान्तरमस्य रसेन्द्रे रसरत्नाकरे च दृश्यते ॥३२—३४॥

सूर्यप्रभायां—वङ्गिः भङ्गातकः । जयायुगः जयन्ती इरीतकी च । कदली
रन्भा, तस्मा मूलम् । चायन्ती त्रायमाणा, “बला जुमुर” इति ख्यातम् । हरबीजं
पारदम् । केसरी रक्तशोभाजनः । विषहृन् विषहृयं, सर्पविषं मौलिविषञ्चैत्यर्थः ।
शङ्खफलं शङ्खकीबीजम् । फेनः समुद्रादपीति समुद्रफेन इत्यर्थः । बीजं पुष्कर-
मूलम् । ब्राह्मीबीजमित्येकपदं वा, ब्राह्मीशाकबीजम् । लताबीजं लताकसूरी-
बीजम् । विरूढकम् चक्षुरितधान्यम् । जात्यादिकुसुमाष्टकं “जातो यथो राजवङ्गी
उदययो विद्या मता । चम्पकी नागचम्पस्य वकुलस्य कदम्बकः ॥” इत्युक्ताष्टपुष्पम् ।
भाग्यादीनां जात्यादिकुसुमाष्टकानामां सर्वेषां तुल्यमानता ॥ ३५—३७ ॥

उदयमार्त्तण्डरसे—सर्वे सुगन्धम् ॥ ३८—४० ॥

अथ पाण्डुरोगस्य सङ्क्षिप्तलक्षणम् ।—

विवर्णता शरीरे स्याच्छुध्यथः काश्यमेव हि ।

सत्त्वहानिरथाऽऽलस्यं पाण्डुरोगस्य लक्षणम् ॥४१॥

अथ पाण्डुरोगचिकित्सा ।—

अथ हंसमण्डुरः ।—

मण्डूरं मर्दयेच्छुष्कं गोमूत्रेऽष्टगुणे पचेत् ।

वृषणं त्रिफलां मुस्तां विडङ्गं चव्यचित्तकौ ॥४२॥

दार्वीं ग्रन्थीं देवदारुं तुल्यं तुल्यं विचूर्णयेत् ।

घृतं मण्डूरतुल्यञ्च पाकान्ते मिश्रयेत्ततः ॥४३॥

भक्षयेत् कर्षमात्रञ्च जीर्णान्ते तक्रभोजनम् ।

पाण्डुरोगं हलीमञ्च ऊरुस्तम्भञ्च कामलाम् ॥

अशांसि हन्ति नो चित्तं हंसमण्डूरकाङ्क्षयम् ॥४४॥

अथ कालविश्वंमनः ।—

शुद्धसूतं हेम तारं ताम्रं तुल्यञ्च मर्दयेत् ।

जम्बीरनीरसंयुक्तमातपे मर्दयेद्दिनम् ॥४५॥

सर्वतुल्यं पुनः सूतं क्षिप्वा पिष्टं प्रकल्पयेत् ।

धुस्तूरफलमध्ये तु दोलायन्त्वे त्र्यहं पचेत् ॥४६॥

उदरवत् पाण्डुरोगोऽपि शोथः तथा पीताभल भवति इति उदरानन्तरं पाण्डु-
रोगचिकित्सा । तदादौ तल्लक्षणमाह, विवर्णतेति ।—सत्त्वहानिः बलहानिः ॥४१॥

हंसमण्डुरः—दार्वीं दारुहरिद्राम् । ग्रन्थीं पिप्पलीमूलम् । वृषणादीनां
देवदारुनां मिलितानां मण्डूरतुल्यता, रसरत्नाकरसंवादात् ; तथा च—“वृषणं
त्रिफलां मुक्तां विडङ्गं चव्यचित्तकम् । दार्वीं ग्रन्थीं देवदारुं तुल्यं सर्वं विचूर्णयेत् ॥
घृतं मण्डूरतुल्यञ्च पाककाले विमिश्रयेत् ॥” इति । तत्र च “घृतम्” इत्यत्र
“चूर्णम्” तथा “पाकान्ते” इत्यत्र “पाककाले” इति पाठान्तरम्, एवञ्च तत्र घृतस्य
अशुक्लत्वेऽपि सर्वत्र मण्डूरयोगे घृतं विना पाकासिद्धेः उत्तमैस्त्रिभिश्च घृतमित्य-
विरोधः । पाककाले इति पाकालसमये चासन्नपाके इति व्याख्यानात् तुल्यार्थता
धीह्वया । जीर्णान्ते सेवितौषधपरिपाकान्ते इत्यर्थः । रसेन्द्रसारसङ्गृहे अयं
“वृषणादिमण्डूरम्” इति ख्यातं, परन्तु तत्र ग्रन्थो उल्लेखो नास्ति इति ॥४१—४४॥

धुस्तूरोत्थद्रवैरेव यन्त्रं पूर्य्य पुनः पुनः ।

आदाय बन्धयेदस्त्र इष्टिकायन्त्रं पचेत् ॥४७॥

जम्बीरैर्गन्धकं पिष्ट्वा अधश्चोर्ध्वं च दापयेत् ।

तुल्यं पुनः पुनर्दयं रुद्धा लघुपुटे पचेत् ॥४८॥

षड्गुणे गन्धके जीर्णे तत्तुल्यं मृतलोहकम् ।

दत्त्वा मर्द्यं दिनैकञ्च कण्टकार्या द्रवैर्दिनम् ॥४९॥

रुद्धाऽथ करिषाग्निस्थ-कपोताख्यपुटे पचेत् ।

पुनर्मर्द्यं पुनः पाच्यं त्रिवारं पूर्वजैर्द्रवैः ॥५०॥

सहस्रत्यरमैस्तदक्षिधाऽऽमर्द्यं पुटेक्षिधा ।

वज्रार्कनक्तमालानां पृथग्द्रवैर्दिधा द्विधा ॥५१॥

मर्द्यं रुद्धा पुटेत्तद्वह्नांशं वत्सनाभकम् ।

दत्त्वा तस्मिन् विचूर्ण्यथ गुञ्जामात्रं प्रयोजयेत् ॥५२॥

कालविध्वंसनो नाम रमः पाण्डुमयापङ्कः ।

अभयाऽथ गवां मूत्रैः पिष्ट्वा चानु प्रदापयेत् ॥५३॥

कालविध्वंसने—तारं रौप्यम् । इष्टिकायन्त्रं “विषाय वर्णुलं गर्तम्” इत्यादिना नवमाध्याये प्रदर्शितयन्त्रमध्यगतम् । “षड्गुणे” इत्यत्र “शतधा” इति रसरत्नाकरे पाठः । तत्तुल्यम् औषधतुल्यम् । पूर्वजैः द्रवैः कण्टकारीद्रवैः । वज्रैति ।—वज्रः चक्रकः । अर्कः “आकन्द” इति प्रसिद्धम् । नक्तमालः “उदकरकरञ्ज” इति प्रसिद्धम् । अयमर्थः,—सूतादिचतुष्टयं जम्बीररसेन दिनमेकं मर्दयित्वा आतपे मलाक् संशोष्य च पुनः सर्वतुल्येन रसेन सम्मर्द्यं पिष्ट्वां कुर्यात् । ततः निर्बीजीकृतधुसूरफलमध्ये रुद्धा द्वाहं धुसूरपत्ररसेन दोलायन्त्रे पचेत्, यष्कीभूते पूर्वरसे पुनः पुनः रसो दातव्यः । चतुर्थेऽहनि धुसूरफलादौषधपिष्ट्वां गृहीत्वा वस्त्रे बद्धा च इष्टिकायन्त्रे पचेत् । अनन्तरं पिष्टतुल्यं गन्धकं जम्बीर-रसमर्दितम् ऊर्ध्वमधश्च दत्त्वा मृत्कपटादिना आलिप्य च लघुपुटे पचेत्, एवं षड्वारान् कुर्यात् । ततः लोहं तुल्यमाणमौषधेन मिश्रयित्वा कण्टकारीरसेन दिनमेकं मर्दयेत्, रुद्धा च कपोतपुटे गीमयाग्निना पुनः पचेत्, एवं वारमधुं

अथ पञ्चाननः ।—

मृतं कान्तं सुवर्णञ्च शुल्लताराभ्रभस्मकम् ।
 पृथगक्षमितं सर्वं पटचूर्णं कृतं मुहुः ॥५४॥
 रसगन्धककज्जल्या तुल्यया सह मर्दितम् ।
 सार्द्धद्विपलमानेन ताप्यचूर्णेन मर्दयेत् ॥५५॥
 द्विपलं मूषिकामध्ये विनिक्षिप्यालचूर्णकम् ।
 ततस्तु कज्जलीं क्षिप्वा मनोह्रां तावतीं क्षिपेत् ॥५६॥
 ततो निरुध्य यत्नेन परिशोष्य पुटेन्निशि ।
 पुटेन गजसंज्ञेन स्वतः शीतं विचूर्णयेत् ॥५७॥
 चतुर्गुणेन गन्धेन निर्मितां रसकज्जलीम् ।
 क्षिप्वा पूर्व्वरसे लुङ्गवारिणा परिमर्दयेत् ॥५८॥
 पचेत् क्रोड़पुटेनैव दशवारमतः परम् ।
 एवं तालककज्जल्या दशवारं पुटेत्ततः ॥५९॥
 ततश्च मृतवैक्रान्त-भस्मना च कलांशतः ।
 ततो विचूर्ण्य यत्नेन करण्डान्तर्विनिक्षिपेत् ॥६०॥

कुर्यात् । अथ बृहतीरसेन चिबारं मर्दयेत् पुटेन । पुनः वज्रादीनां पृथक् पृथक् रसेन हो हो वारी मर्दयित्वा विस्त्रिः पचेत् । अग्न्यन्तरं दशमांशं विषं दत्त्वा विचूर्ण्य च स्थापयेदिति ॥ ५५—५३ ॥

पञ्चानने—पटचूर्णं वस्त्रपूतं चूर्णम् । रसगन्धककज्जल्या तुल्यया कान्तादि-सर्वचूर्णतुल्यया कज्जल्या इत्यर्थः, तेन च रसगन्धकयोः प्रत्येकं सार्द्धकर्षद्वयम् । मूषिकामध्ये मूषामध्ये । पालचूर्णकं हरितालचूर्णम् । कज्जलीमिति कान्तादिताप्यान्तैः कृतां कज्जलीमित्यर्थः । मूर्च्छितरसगन्धकयोरेव कज्जलीसंज्ञायां रुदित्वेऽपि अत्र कज्जल्या सह कान्तादीनां मिश्रणेन कण्ठवर्णभावात् कज्जलत्वं बोद्धव्यम् । मनोह्रां मनःशुभ्रलाम् । तावतीं द्विपलमित्यर्थः । पूर्व्वरसे पुटपाकेन निष्पन्ने औषधे । लङ्गवारिणा मातुलुङ्गरसेन । क्रोड़पुटेन “शूलं चारुजिके” इत्यादिना दशमाध्यायोक्तवराहपुटेन । तालककज्जल्या तालकयुतया कज्जल्या, सा च सुमभाग्योः कज्जलीतालकयोः मिश्रणेन ज्ञायां । कलांशतः षोडशमिना ।

अयं पञ्चाननो नाम देवराजेन कीर्तितः ।

श्रेष्ठः सर्वरसेन्द्रेषु महारससमो गुणैः ॥६१॥

पथ्याशूरणशुण्ठीभिः सष्टताभिर्निषेवितः ।

सर्वान् पाण्डुगदान् हन्ति कृतघ्न इव सत्कृतिम् ॥६२॥

यक्ष्माणं जठरं हलीमकरजं वातार्तिविड्बन्धनं

कुष्ठञ्च ग्रहणीं ज्वरातिसरणं खामञ्च कासार्वधौ ।

श्लेष्मव्याधिमशेषतो गलगदान् दुर्नाम मन्दाग्नितां

मेहं गुल्मरुजञ्च किं बहुगिरा हन्याद्ददांश्चापरान् ॥६३॥

सेव्यमाने रसे चास्मिन् विल्वमेकञ्च वर्जयेत् ।

स्वस्थः सर्वं समश्रीयाद्गदो पथ्यं गदापहम् ॥६४॥

अथ आरोग्यसागरः ।—

एकैकपलगन्धाश्म-रससम्भवकज्जलीम् ।

तस्या मध्ये द्विपलिकं ताप्यं तालं पलोन्मितम् ॥६५॥

पलमात्रं मनोज्ञाञ्च पलमभ्रकभस्मकम् ।

सुखस्पर्शस्य कर्षञ्च निक्षिप्य परिमर्द्य च ॥६६॥

मूषामध्ये विनिक्षिप्य पिनडान्तर्मूर्खी ततः ।

पत्रेण शुद्धताम्रस्य निर्मलेन त्रिकर्षिणा ॥६७॥

सत्कृतिं श्रीमन्नं कर्म, उपकारमित्यर्थः । अवायं विधिः—मुचूर्णितं कान्तादिपञ्चकं प्रत्येकमक्षमाणं गृहीत्वा पञ्चकर्षमितया कज्जल्या सार्द्धद्विपलिन आश्लिष्य चूर्णेन च सह मर्दयेत् । ततो मूषाया द्विपलं हरितालचूर्णे तदुपरि औषधं तदुपरि च पलद्वयं मनःशिलाचूर्णे दत्त्वा स्रवस्त्रेणालिप्य आपते गोषयित्वा च निशि गजपटे पचेत् । स्नाद्गन्धोत्तमादाय चूर्णयित्वा च चतुर्गुणगन्धककृतया कज्जल्या औषधतुल्यया सह मातुलुङ्गरसेन मर्दयेत्, ततः पुनर्मूषायां संस्थाप्य बराहपुटेन पचेत् ; एवं दशवारान् कुर्यात् । ततः तालककज्जल्या अपि औषधतुल्यया मिश्रयित्वा मातुलुङ्गरसेन मर्दयेत् बराहपुटेन पचेत् ; एवं दशवारान् कुर्यात् । ततः कान्तादिताप्यान्तानां निक्षिप्तानां षोडशश्रेण वैकान्तभस्मना सह मर्दयित्वा स्थापयेत् इति ॥ ५४—६४ ॥

आरोग्यसागरे—सुखस्पर्शस्य सुभगस्य, दृढस्पर्शेत्यर्थः । पिनडम् आबद्धम्

मूषां मृद्धिः सवस्त्राभिः परिरुध्य यथा दृढम् ।

परिशोथ गिरण्डैश्च पुटेत् गजपुटेन हि ॥६८॥

स्वाङ्गशीतं समुद्धृत्य खोटीभूतं विचूर्णयेत् ।

गन्धतालशिलाचूर्णैः सहितं खल्लचूर्णकम् ॥६९॥

पुटेत् क्रोडपुटे चैव दशवारं ततः परम् ।

क्षिपेद्द्विशतिभागेन वैक्रान्तं भस्मतां गतम् ॥७०॥

विमर्द्य गालितं कृत्वा क्षिपेत् रौप्यकरण्डके ।

आरोग्यमागरो नाम रमोऽतिगुणवत्तरः ॥७१॥

हृन्त्यात् पाण्डुमरोचकं गुदगदं वातश्च पित्तं कफं

गुल्माध्मानकशोफरोगमथ च श्वासं शिरोऽग्निं वमिम् ।

अत्यर्थानलमन्दतां गुरुमुदावर्त्तं विचित्रज्वरान्

रोगानप्यपरान् रतिद्वयमितः सूतौ मरीचाज्यवान् ॥७२॥

अथ पाण्डुघनाभिलरसः ।—

ताम्रभस्म रसभस्म गन्धकं वत्सनाभमथ तुल्यभागतः ।

अन्तर्मुखम अथःस्थमूषाया उपरिभागमित्यर्थः, यस्याः ता, मूषामित्यस्य विशेषणम् ।
त्रिकर्षिणा कर्षवथमितेन, कर्षवथमितेन निर्मलेन ताम्रपत्रेण आधारमूषायाः मुख-
माच्छाद्य तदुपरि आवरणश्च दत्त्वा मृदस्त्रादिभिर्मूषां लिम्पेत इति निष्कर्षः । गिरण्डैः
आरग्यगोमयैः । खोटीभूतं गन्धाश्मादिद्रव्यजातमकौभ्रय कठिनोभूतमित्यर्थः । गन्धेति ।
—शिला मनःशिला ; गन्धादयः प्रत्येकं रसभागाः यास्याः । खल्लचूर्णकं खल्ले चूर्णं
कृत्यत्यर्थः । सूतौ सृष्टिकारोगे, प्रसवकाले इत्यर्थो वा, प्रसवे क्रेशः चेत् तदा मरीचाज्य-
वान् घृतमरिचाभ्यां रतिद्वयमितः अथ रसः प्रयोक्तव्यः । अथ विधिः,—गन्धादिकं
गुथीकृतमानं मर्दयित्वा मूषायां संस्थापयेत्, ततः ताम्रपत्रेण मूषासुखं वेष्टयित्वा
मूषान्तरेणाच्छाद्य च सूक्तपुटेन लेपयेत् । अथ आतपे भञ्जीष्य गजपुटे दद्यात् । ततः
स्वाङ्गशीतं समुद्धृत्य रसमानैः गन्धादिभिः सह खल्ले चूर्णयित्वा वराहाख्यपुटे पचेत्,
पवं दशवारान् कुर्यात् । ततः औषधात् विंशत्यंशेन वैक्रान्तभस्मना विमर्द्य वस्त्रपूतञ्च
कृत्वा रौप्यभाजने स्थापयेत् । पाण्डुादिरोगे रतिद्वयमानं तत् यथाव्याध्यनुपास्तेन
प्रायश्चित् । सूतिचारोगे तु मरिचाज्याभ्यां दापयेदिति ॥६४—७२॥

वङ्गितोयपरिमर्दितं पचेत् यामपादमथ मन्दवङ्गिना ॥७३॥

एत्तिकायुगलमानतो भवेच्छाफपाण्डुवनपङ्कशोषणः ॥७४॥

अथ पाण्डुहारिहरीतकी । —

कोरण्टी मृङ्गराजश्च शतावरिपुनर्नवौ ।

एते सप्तपला ग्राह्याः प्रत्येकं सूक्ष्मचूर्णिताः ॥७५॥

एतत्क्राथे पचेत् सम्यक् हरीतक्याः शतत्रयम् ।

षष्ठ्याऽधिकं ततः शुष्कं गन्धदुग्धेन पाचयेत् ॥७६॥

शोषयित्वा शनैर्हृत्वा वटिकाभिः प्रपूरयेत् ।

रसस्य त्रिपलं दत्त्वा गन्धके त्रिपलात्मके ॥७७॥

पक्त्वाऽथ पातयेत् पत्रे चूर्णयित्वा ततः पुनः ।

शुद्धचोमत्वमादाय शुष्कं सत्त्वं पलाष्टकम् ॥७८॥

चूर्णयित्वा ततः सर्वं मधुना गुटिकाः किरत् ।

तासु सूत्रे समाबद्धा मधुभाण्डे विनिक्षिपेत् ॥

एकैका भक्षयेन्नित्यं शुष्कपाण्डुविनाशिनीम् ॥७९॥

पाण्डुवनानिलरसे — वङ्गितोयपरिमर्दितं चित्रकमूलक्रोधमर्दितम् । यामपादं प्रहरस्य चतुर्थोऽंशपरिमितकालम् । शोफेति । — शोफपाण्डुः समोथपाण्डुः, वनपङ्कः गाढकर्दम इव, तस्य शोषणः ॥ ७३।७४ ॥

पाण्डुहारिहरीतक्यां—कोरण्टः सितपुष्पा भिण्टी, तस्याशमिति कोरण्टः कोरण्टमूलमित्यर्थः । कोरण्टमिति भवितुमुचितत्वेऽपि यत् कोरण्ट इति पुल्लिङ्गनिर्देशः कृतः तत् लिङ्गसंज्ञिमिति लिङ्गे अनादरात् ; एवं पला इत्यत्रापि । हृत्वा पादृत्य इत्यर्थः । वटिकाभिः शुष्कीभूताभ्यां क्राथदुग्धाभ्यां कृताभिरित्यर्थः । प्रपूरयेत्, हरीतकीरिति शेषः । पक्त्वा रसपर्पटीवत् पक्त्वर्थः । पत्रे कदली-पत्रे, गोमयोपरि विन्यस्ते इति शेषः । किरत् मिश्रयेदित्यर्थः । शुष्कपाण्डुविनाशिनीं चिरीत्यत्रत्वात् खरीभूतपाण्डुनाशिनीमित्यर्थः । कोरण्टादीनां प्रत्येकं सप्तपलानि चूर्णानि अष्टमुषतोये पक्त्वा पादावशेषे तस्मिन् हरीतकीनां निरस्यां षष्ठ्यधिकं शतवयं पचेत्, शुष्कीभूते च द्रवे क्राथतुल्येन गन्धदुग्धेन पुनः पचेत् पादुग्ध-जीवात्, ततः अनीभूतं तं समाहृत्य खत्वा वटिकाः कृत्वा हरीतक्यनः ताः

अथ पित्तपाण्डुरिगुटिका ।—

रसस्य भागाश्चत्वारो लोहस्य द्वौ प्रकीर्तितौ ।
वर्ज्जमुस्ताविडङ्गानां त्रिकटुत्रिफलस्य च ॥८०॥
भागास्त्वनैकशो ग्राह्याः कुटजस्य तथाऽपरः ।
चूर्णयित्वा ततः सर्वं मधुना गुटिकाः किरित् ॥
एकैकां भक्षयेत् प्रातः पित्तपाण्डुपनुत्तये ॥८१॥

अथ त्रैलोक्यसुन्दरः ।—

रसगन्धकलोहाभ्र-गुडूचीसत्त्वसूकरः ।
त्रिफलाशिशुसूलानि भृङ्गसारेण भावयेत् ॥८२॥
त्रैलोक्यसुन्दरः सोऽयं सष्टतत्त्वौद्रशर्करः ।
मृगाङ्गवत् पथ्यभुजः पाण्डुशोफं नियच्छति ॥८३॥

अथ पाण्डुशोफे विनेदरसस्य प्रयोगविधिः ।—

युतः किञ्चिद्धतत्त्वौद्र-गुडितित्तिरिगुग्गुलैः ।
त्रिनेत्राख्यो रसो योज्यः शोफे तोयानुपानतः ॥८४॥

प्रप्रयेत् । ततः विपलरसगन्धयोः कज्जलीं कृत्वा रसपट्टीवत् पाकं कुर्यात् ।
अनन्तरं विचूर्णितया अष्टपलैश्च युक्तगुडूचीसारेण मधुना च सह मर्दितया
तथा पर्यव्या ताः हरीतकीः लिप्ता सूत्रेण बद्धा च मधुभाण्डे निक्षिप्य स्थापयेत्
इति ॥ ७५—७८ ॥

पित्तपाण्डुरिगुटिकायां—रसस्य रससिन्दूरस्य । भागास्त्वनैकशः वर्ज्जमादीनां
प्रत्येकं द्वौ द्वौ भागौ इत्यर्थः, लोहभागसाहचर्यात् । कुटजस्य तथाऽपरः हावेव
भागावित्यर्थः । गुटिकाः किरित् कुर्यादित्यर्थः ॥ ८०।८१ ॥

त्रैलोक्यसुन्दर—सूकरः गन्धपर्वः । भृङ्गसारेण भृङ्गराजद्रवेण । मृगाङ्गवत्
पथ्यभुजः मृगाङ्गरसे यानि पथ्यान्मुक्तानि, तद्वत् पथ्यभुजो जनस्येत्यर्थः ॥ ८२।८३ ॥

अनुपानविशेषश्च विनेदरसस्यापि पाण्डुशोफे प्रयोज्यतामाह, युत इति ।—
तित्तिरिः जेपालबीजम् । त्रिनेत्राख्यो रसः गुलाधिकारोक्तः । शोफे पाण्डुशोफे ।
गुलाधिकारोक्तं विनेदरसं युक्त्या क्षिप्त्वा घृतादिभिः सह सेवित्वा तोयानुपानं
कुर्यात् इति ॥ ८४ ॥

अथ विजया गुटिका ।—

पलत्रयं हरीतक्याश्चित्रकस्य पलत्रयम् ।

एलात्वक्पत्रमुस्तानां भागोऽर्द्धपलिको मतः ॥८५॥

रेणुकार्द्धपलं प्रोक्तं तदङ्गं नागकेशरम् ।

व्योषश्च पिप्पलीमूलं विषश्च पलमात्रकम् ॥८६॥

रसः पलो महागन्धः सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ।

पुरातने गुडे पक्के तुलार्द्धं तद्विनिक्षिपेत् ॥८७॥

हिमस्पर्शन्तु गृह्णीयात् पृतेनाक्ता करं बुधः ।

षट्परास्थिप्रमाणेन विजया गुटिका मता ॥

निशायां खादयेदेनां शोफपाण्डुविनाशनीम् ॥८८॥

अथ टङ्गणादियोगः ।—

टङ्गणं मेघनादञ्च भक्षयेद्विषशान्तये ॥८९॥

अथ जयपालरसः ।—

रसं गन्धं मृतं ताम्रं जयपालश्च गुग्गुलुम् ।

समांशमाज्यमंयुक्तां गुटिकां कारयेन्मिताम् ॥

एकैकां खादयेद्द्वेयः शोफपाण्डुपनुत्तये ॥९०॥

अथ देवदालीपचाक्रप्रयोगः ।—

देवदाल्यास्तु पञ्चाङ्गं चूर्णं क्षीरैश्च वा जलैः ।

निष्कमात्रं पिबेन्नित्यं मासात् पाण्डुगदापहम् ॥९१॥

विजयागुटिकायां—भागोऽर्द्धपलिक इति प्रत्येकमर्द्धपलमानमित्यर्थः । तदङ्गं नागकेशरं कर्षमाणं नागकेशरम् । पलमात्रकमिति प्रत्येकं, व्योषादीनां पृथङ्निर्देशात् । महागन्धः नवनीताङ्गगन्धकः । विनिक्षिपेदित्यत्र चासन्नपाके इति शेषः ॥८५—८८॥

टङ्गणादियोगे—मेघनादं तच्छुषीयमूलम् । विषशान्तये शत्रुप्रयुक्तगरदोषशान्तये इत्यर्थः, तस्य च पाण्डुशोथोदरादिहेतुत्वात् ॥ ८९ ॥

जयपालरसे—मितां वयोवलाद्यनुकूपां मात्रामित्यर्थः । प्रयोगेऽस्मिन् शीतलजल-मस्रश्च वर्जनीयं, रसेन्द्रचिन्तामणि-रसेन्द्रसारसङ्गुहसंवादात् । तत्र तत्र चास्य पाण्डु-सुदनरस इति संज्ञा ॥ ९० ॥

अथ कामलालचक्षुः ।—

दग्धमांसरुधिरास्रपित्ततः कामला भ्रमदृषाविदाहिनी ।

पीतनेत्रमलवत्पेक्षया शोफयुग्भवति कुम्भकामला ॥८२॥

अथ अपामार्गादियोगः ।—

अपामार्गं शमीमूलं पिष्ट्वा तक्रेण पाययेत् ।

कामलां श्वयथुं पाण्डुं कर्षमात्रं नियच्छति ॥८३॥

अथ पञ्चास्यरसः ।—

तीक्ष्णमाक्षिककान्ताभ्र-शुक्लसूतकतानकम् ।

देवदालोरसैः पिष्टुं बालुकायन्त्रमूर्च्छितम् ॥८४॥

अमृतोत्पलकङ्कार-कन्दद्राक्षासमन्वितम् ।

पिष्टुं यक्ष्यभ्रसा क्षौद्र-सिताभ्यां कामलाप्रणुत् ॥८५॥

देवदालीपञ्चाङ्गप्रयोगे—देवदाल्याः पीतघोषायाः पञ्चाङ्गं त्वक्पत्रपुष्पमूलफल-
रूपम् । क्षीरेण वा जलेरिति व्यत्ययेन च बहुत्वम् ॥ ८१ ॥

पाण्डुतोऽपि कामला जायते इति पाण्डुमन्त्रं कामलाचिकित्सिते वक्तव्ये पूर्वं
तस्याः लक्षणमाह, दग्धेति ।—दग्धात् पाण्डुरोगावस्थायामत्यर्थपित्तकरद्रव्यसेवनात्
वर्द्धितपित्तेन दृष्टादित्यर्थः, मांसरुधिरास्रपित्ततः मांसात् रुधिरात् दृष्टात् केवलरक्तात्
तथा अस्रपित्ततः दृष्टात् सपित्तात् रक्तादित्यर्थः । उपेक्षयेति कामलोपेक्षया कुम्भ-
कामला भवति, सा च शोफयुक् शोथसमन्विता । कुम्भः कोष्ठः, अन्तर्हिदृशधर्मात्,
तद्गता कामला कुम्भकामला कोष्ठानयेत्यर्थः ॥ ८२ ॥

अपामार्गादियोगे—सर्वे सुगमम् ॥ ८३ ॥

पञ्चास्यरसे—तीक्ष्णं तीक्ष्णलौहम् । कान्तं कान्तलौहम् । बालुकायन्त्रमूर्च्छितं
बालुकायन्त्रे पक्कमित्यर्थः, स च पाकः दिवसत्रयं कार्यः ; तथा च रसरत्नाकरे—
“पाचयेत् बालुकायन्त्रे विदिनान्ते समुद्धरेत्” इति । अमृता गुडुची धात्री वा, कङ्कारं
कोकनदम्, उत्पलकङ्कारयोः कन्दः ; यद्वा—कन्दः कर्तृणम् । अथ अमृतादीनां मिलित्वा
पलमानता, रसरत्नाकरसंवादात् ; यद्यपि तत्र “अमृतोत्पलकङ्कारकन्दद्राक्षासम-
न्वितम्” इत्यत्र “अमृतोत्पलकन्दातिबलाक्षेपलं युतम्” इति पाठभेदः, तथाऽपि
अन्वाङ्गसामान्यात् पलमानता ज्ञातव्या । बालुकायन्त्रे पक्कनीषधसुदृढ्यं अमृतादिभिः
संयोज्य च द्वाष्टिमधुकायेन पिष्टा क्षौद्रशर्कराभ्यामुपयोक्तव्यमित्याशयः ॥ ८४, ८५ ॥

अथ त्रियोगिः ।—

ताम्रस्य तुर्यभागेण रसेनोत्प्लुत्य लेपयेत् ।
 निम्बद्रावेण संयोज्य सूर्यतापे विनिक्षिपेत् ॥८६॥
 ऊर्द्धाधो गन्धकं दत्त्वा पाचयेदतियत्नतः ।
 मत्स्याक्षीमभितो दत्त्वा मृत्स्नया मन्निरुध्य च ॥८७॥
 यामद्वयन्तु पक्वञ्च स्वाङ्गशीतं समुद्धरेत् ।
 गुञ्जामात्रं दटोतास्य साभयं गुडमंयुतम् ।
 त्रियोन्याख्यो रसो ह्येष शोफपाण्डुपनोदनः ॥८८॥

अथ मुक्तादिचूर्णम् ।—

मुस्तामृताचित्रकयष्टिपिप्पली-विडङ्गशुण्ठौत्रिफलैर्यथोत्तरम् ।
 चूर्णं सहायोरजसा च संयुतं समाक्षिकं पाण्डुगदापहं परम् ॥८९॥

अथ कामेश्वरः ।—

पलं मृतं पलं गन्धं वज्री पथ्या त्रयं त्रयम् ।
 मुस्तैलापत्रकाणाञ्च प्रति सार्द्धपलं क्षिपेत् ॥९०॥

त्रियोगौ—तुर्यभागेण चतुर्थांशेन रसेन ; रसशब्देनात्र रसगन्धकयोः कञ्जनौ विवक्षिता, केवलरसेन लेपासम्भवात् ; ताम्रस्य, पदानीति शेषः, लेपयेत्, ततः निम्बद्रावेण उत्प्लुत्य चाप्लुत्येत्यर्थः, सूर्यतापे संयोज्य स्थापयित्वा, संशोध्य इत्यर्थः, विनिक्षिपेत्, मूषायामिति शेषः । मत्स्याक्षीं हिलमोचिकां काकमाचीं वा । चतुर्थांशकज्जलिकया ताम्रस्य पदानीं आलिप्य जम्बीररसेनाप्लुत्य च आतपे शोषयेत् ; ततो मूषायां संस्थाप्य ऊर्द्धाधो गन्धकं समन्तात् चुष्टां मत्स्याक्षीञ्च दत्त्वा मृत्स्नपट्टे-नालिप्य च गजपुटे यामद्वयं पचेत्, अथ स्वाङ्गशीतमादाय गुडामयाभ्यां गुञ्जामात्रमौषधं दद्यादिति । त्रीणि रसगन्धकतासाणि योनयः उपादानकारणान्यस्य इति त्रियोगिः ॥ ८६—८८ ॥

मुक्तादिचूर्णे—यथोत्तरं चूर्णमिति उत्तरोत्तरभागवद्धं चूर्णम् । सहायोरजसा च संयुतं सर्वचूर्णतुल्यं लौहचूर्णमित्यर्थः, “सर्वांश्च मृतलौहकम्” इति रसरत्नाकर-दर्शनात् ; तत्र च “यथोत्तरम्” इत्यत्र “समम्” इति पाठः “लौहामृतम्” इति संज्ञा च दृश्यते ॥ ८९ ॥

कामेश्वरे—वज्री कुङ्की, तस्याः शीरं वाञ्छम् । त्रयं त्रयमित्यस्य वज्रीपथ्ययोः प्रत्येकं

द्रूषणं पिप्पलीमूलं विषञ्चैव पलं पलम् ।

नागकेशरकर्षेकं रेणुकार्द्धपलं तथा ॥१०१॥

पुरातनगुडेनैव तुलार्द्धेन विपाचयेत् ।

मर्दयेत् कन्यकाद्रावैर्यामैकान्ते घृतेन च ॥१०२॥

गुटिकां बदराभान्तु कारयेद्भक्षयेन्निशि ।

शोफपाण्डुहरः सोऽयं रसः कामेश्वरः स्वयम् ॥१०३॥

अथ पाण्डुघनानिलरसः ।—

ताम्रभस्म रमभस्म गन्धकं वत्सनाभमथ तुल्यभागतः ।

वङ्गिनोयपरिमर्दितं पचेद्यामपाटमथ मन्दवङ्गिना ॥१०४॥

रक्तिकादितयमानतोऽनिलान् शोफपाण्डुघनपङ्कशोषणः ॥१०५॥

पलत्रयमित्यर्थः । “तच्ची पथा तयं त्रयम्” इत्यत्र “पथाच्चित्रकयोः पलम्” इति रसेन्द्र-
सारसङ्गहे पाठः । द्रूषणमिति ।—द्रूषणस्य प्रत्येकं पलमनता । कन्यकाटावैः
कुमारौरभैः । यामैकान्ते कन्यकाटावैः प्रहरं मर्दयित्वा तदन्ते इत्यर्थः । “रेणुकार्द्धपलं
तथा” इत्यत्र “एरण्डस्य पलं तथा” इति तथा “तुलार्द्धेन विपाचयेत्...घृतेन च” इत्यत्र
“तुल्येनैव विमिश्रयेत् । मर्दयेत् कन्यकाटवैर्यामैकं वा घृतान्विताम्” (“भावयेच्च
घृतान्विताम्”) इति रसेन्द्रसारसङ्गहे-रसरत्नाकरयोः पाठान्तरम् । गुड-
पाकाभिज्ञो भिषक् सपाटशरावषट्कं गुडमादाय किञ्चित् कालं दत्त्वा
पचेत्, घनीभूते च तद्धिन् वासन्नपाके सूतादिकं दत्त्वा अवतारयेत् । अनन्तरं
कुमारौरसेन यामं मर्दयित्वा तदन्ते घृतेन सह बदरास्थिनिभां बटों कुर्ध्यात्
इति ॥ १००—१०५ ॥

ताम्रभस्मेति ।—पाण्डुघनानिलरसनामाऽयं प्रागेव (७३.७४) श्लोके व्याख्यातः ।
पुनरुक्तोऽयम् ; अथवा—वक्ष्यमाणकंसादिपञ्चकेन सह प्रयुक्तोऽयं हृत्सीमकट्टत्
भवतीति ज्ञापनार्थमस्य पुनरुक्तेर्यो न दोषाय इति मन्तव्यम् । अहिन् पक्षे कंसादि-
पञ्चकेन सह एक एवायं योगः, तथा च कंसेन घृतेन कांस्थेन शिलया
मनःशिलया च सहितः पिष्टः मर्दितः रसः अनिलरसः पाचितः पुनः
पुटपाकेन पक्वः इताभ्यां तीक्ष्णताभ्यां लोहताम्रभस्मभ्यां युतः हृत्सीमकं
हृत्ति ॥ १०४।१०५ ॥

अथ कंसादिपञ्चकम् ।—

कंसेन पिष्टः शिलया सहितः पाचितो रसः ।

हृताभ्यां तीक्ष्णताम्राभ्यां युतो हन्ति हलीमकम् ॥१०६॥

अथ सिन्दूरभूषणः ।—

शुद्धसूतञ्च सिन्दूरं पलैकैकं विमर्दयेत् ।

वामारसेन यामैकं तेन कुर्याच्च चक्रिकाम् ॥१०७॥

सुपक्वां कारयेन्मषामुत्तानां द्वादशाङ्गुलाम् ।

तन्मध्ये गन्धकं शुद्धं क्षिपेत् पलचतुष्टयम् ॥१०८॥

पूर्वाक्तां चक्रिकां कृत्वा तत् क्षिप्त्वा प्रपुटेक्ष्व ।

जौर्णं गन्धे समुद्धृत्य चक्रिकां तां विचूर्णयेत् ॥१०९॥

चूर्णाद्दशगुणं योज्यं मृतलोहञ्च मर्दयेत् ।

लशुनेन दशांशेन चणमात्रा वटीः किरित् ॥११०॥

वातपाण्डुरहरः सिद्धो रसः सिन्दूरभूषणः ।

पिबेच्चानु ह्यपामार्गस्यैरण्डस्य च मूलिकाम् ॥

तक्रैः पिष्ट्वाऽथ कर्षिकं हन्ति पाण्डुं सकामलम् ॥१११॥

इति श्रीवैद्यपतिभिर्दशगुणस्य मृगोर्णमृगट्याचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये उदरपाण्डु-

शीफकामलाकुम्भकामलाहलीमकचिकित्सितं नामैकोनविंशोऽध्यायः ॥१२॥

कंसादिपञ्चके—रसः पारदः, एतत्तु अस्य स्वतन्त्रयोगत्वे एव बोध्यम् । अन्यत् पूर्वयोगे व्याख्यातमिति ॥ १०६ ॥

सिन्दूरभूषणे—सिन्दूरं प्रसिद्धम् । “सुपक्वाम्” इत्यत्र “अपक्वाम्” इति रस-
रक्षाकरोक्तः पाठः । उत्तानाम् उत्तमां विस्तृतां वा । जौर्णं भस्मीभूते ॥१०७—१११॥

इति रसरत्नसमुच्चयबोधिन्याम् एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

अथ विंशोऽध्यायः ।

अथ विसर्पादिचिकित्सनम् ।—

अथ विसर्पकृत्स्नितचिकित्सा ।—

अथ कालाग्रिरुदरसः ।—

कान्तगन्धकतीक्ष्णाभ्र-विषताप्यममन्वितः ।

बन्ध्याकर्कोटिकाकन्दे पक्वः सूता विसर्पजित् ॥१॥

अथ एरण्डबीजादि तैलम् ।—

एरण्डतुम्बिनीनिम्ब-बाकुचीचक्रमर्दकम् ।

तिक्तकाशातकोबीजमङ्गोलश्चबुजीजकम् ॥२॥

शोधितत्वसामान्यात् रक्तदाहसामान्याच्च उदराद्यनन्तरं विसर्पादिचिकित्सितं वक्तुं विंशाध्यायभारभनं । तत्र कालाग्रिरुदरस—बन्ध्याकर्कोटिकाकन्दे बन्ध्याकर्कोटिकौ तित्तकर्कोटिकौ, “तित् काँडो” “तित् काँक्वोल” इति लोके; तस्याः कन्दे कन्दोत्यक्त्वे इत्यर्थः । पक्व इति भूधराख्यपुटे पक्वः, तस्मान्तरेषु तथा दर्शनात् । अत्रायं विधिः,—आदौ रसगन्धकयोः कज्जलीं कृत्वा कान्तादिकं तत्र दत्त्वा च सम्यग्दयेत्, ततः बन्ध्याकर्कोटिकाकन्दकल्कोदरे संस्थाप्य सृदा चालिष्य, च भूधर-पुटे दिनैकं पक्त्वा उचितानुपानेन प्रयुञ्ज्यादिति । रसेन्द्रसारसङ्गहादिषु चायं किञ्चित् वैषम्येण पठितः; तथा च “सूताभ्रकान्तलोहानां भस्म गन्धकमात्रिकम् । बन्ध्याकर्कोटिकाद्रावैस्तुभ्य मयं दिनावधि ॥ बन्ध्याकर्कोटिकाकन्दे क्षिप्वा लिप्त्वा सृदा वह्निः । भूधराख्ये पुटे पश्चाद्दिनैकं तद्विपाचयेत् ॥ दशमांशं विषं योज्यं साधनावनु भवेत् । रसः कालाग्रिरुद्रोऽयं दशाहेन विसर्पनुत् ॥ पिप्पलीमधु-संयुक्तभैरुपानं प्रकल्पयेत् ॥” इति । प्रचारस्तु इत्यमेव ॥ १ ॥

एरण्डबीजादितैले—तुम्बिनी कटुतुम्बी । बाकुची सोमराशी । तित्तकोशातकी तित्तबीजकः । बीजमिति पदम् एरण्डादिभिः कोशातक्यन्तैः सर्वैः सन्ध्यते । मङ्गोलः मङ्गीठः, तस्य बीजम् । चबुः सुद्रबुबुः, “बेच्चो” इति प्रसिद्धः

गोमूत्रदधिदुग्धैस्तु भावयेत्तिलजेन च ।

मूत्रेणाजाप्रसूतेन तैलं पातालयन्त्रजम् ॥

विसर्पं नाशयत्याशु श्वेतकुष्ठञ्च तत्क्षणात् ॥ ३ ॥

अथ द्वितीयैरण्डबीजादि तैलम् ।—

एरण्डतुम्बीकटुविम्बचक्र-मर्दोत्थबीजानि च सोमराजी ।

अङ्गोलबीजानि समानि कृत्वा पातालयन्त्रेण सुतैलमेषाम् ॥ ४ ॥

प्रगृह्य तेनाथ विमर्दयौत विसर्पकादीनि कृतं प्रयान्ति ॥ ५ ॥

अथ गलत्कुष्ठलक्षणम् ।—

पादयोः श्वयथुस्तोदो गलन्त्यङ्गलयो यदि ।

नासिकास्वरयोर्भङ्गो गलत्कुष्ठस्य लक्षणम् ॥ ६ ॥

अथ कुष्ठेषु क्रियासूत्रम् ।—

सर्वेषां कुष्ठिनामादौ पञ्चकर्माणि कारयेत् ।

पक्षे पक्षे च वमनं मासि मासि विरेचनम् ॥ ७ ॥

ज्ञाकविशेषः तस्याः बीजकम् । तिलजेन तिलतैलेन तिलकायेन वा । मूत्रेणाजा-
प्रसूतेन कागीमूत्रेण । पातालयन्त्रजं पातालयन्त्रे निष्काशितम् । “तत्क्षणात्”
इत्यत्र “सक्षणात्” इति पाठान्तरम् । कल्पना चास्य एवंविधा—सनाक् चुम्बम्
एरण्डादीनां बीजं प्रत्येकं तुल्यांशं गृहीत्वा गोमूत्रादिभिः समं सप्तवारान् भावयेत् ।
ततो भुम्यधोनिहितस्नेहभावितस्थालीमुखे बहुक्किद्रां स्थालीमन्यां संस्थाप्य तन्मध्ये
शोधधं निदध्यात्, ततः शरावेण स्थालीमुखमाच्छाद्य मृदस्त्रादिना सन्धिं निरुध्य
च लपरिष्ठात् पुटं दद्यात् । एवञ्च अग्निमन्तापेन तस्मादौषधात् तैलं निःसृत्य
अधःस्थाल्यां निपतेदिति ॥ २।३ ॥

द्वितीयैरण्डबीजादितैले—तुम्बीकटु कटुतुम्बी, रोहिणीकटुका इत्यादिवत् पर-
तिपातः ; यद्वा—कटु इति पृथक् पदं, रात्रिका इत्यर्थः । विम्बम् ओष्ठोपमाफलम् ;
“विम्ब” इत्यत्र “निम्ब” इति पाठान्तरम् । विमर्दयौत इति मञ्जजनप्रयोगात्
मासाधु मन्तव्यम् । “कृतम्” इति “सुतैलम्” इत्यनेन सम्बध्यते ; पातालयन्त्रेण
कृतं विहितं, निःसारितमित्यर्थः । तैलनिष्कासनप्रकारस्तु पूर्ववदेष ॥ ४।५ ॥

तुल्यदोषदूष्यत्वात् रक्तदृष्टिसाधर्म्याच्च विसर्पाभन्तरं कुष्ठचिकित्सितं विवचुरादौ
गुलत्कुष्ठलक्षणमाह, पादयोरिति ।—गलन्ति प्रतीतिः ॥ ६ ॥

षष्ठे मासि शिरामोक्षो नस्यं सप्तदिनान्तरे ।

इदं चिरस्थिते कार्यं कुष्ठे स्वल्पेऽल्पशः क्रिया ॥८॥

अथ वातकुष्ठारिः ।—

विपचेद्भक्षकमध्ये घनपिष्टीं शुल्बपिष्टीं वा ।

सङ्कोच्य कोलकोऽयं शमयति वातोत्थकुष्ठानि ॥९॥

अथ पित्तकुष्ठारिः ।—

कामलाऽभ्रकसङ्कोचौ घृतगन्धकपाचितः ।

व्योषाग्निवेत्तत्वङ्मस्ता-व्याधिघातविषैः समः ॥१०॥

त्रिगुणः प्राणदो रेणुः पञ्चाशन्मृतकाञ्चनः ।

बदरास्थिमितो मूत्रेणाजेन गुटिकीकृतः ।

नाशनः पित्तकुष्ठानामेकविंशतिवासरात् ॥११॥

क्रियासूचसाह, सर्वेषामिति ।—पञ्चकर्माणि वमनावरेचनाप्लापनान्वासनशिरो-
विरेचनरूपाणि । शिरामोक्षः दुष्टरक्तसावणार्थं कार्यः । इदमिति ।—चिरस्थिते
दोषकालीत्यग्ने अत एव बहुदोषे इत्यर्थः, इदं एव पचे वमनमित्यादिरूपम् ।
यदुक्ते चरकैष—“बहुदोषः संशोध्यः कुष्ठौ बहुशोऽनुरक्षता प्राणान्” इति ।
स्वल्पं अल्पदोषे क्षुद्रे च कुष्ठे अल्पशः क्रिया मासान्ते मासद्वयान्ते वा पूर्वोक्ता
क्रिया कार्या ॥ ७८ ॥

वातकुष्ठारौ—घनपिष्टीं मारकवर्गद्रवेष पिष्टं पिण्डोक्तमभ्रमित्यर्थः, शुल्बपिष्टीं
वा पूर्वोक्तप्रकारेण सिद्धं ताम्रपिण्डं इत्यर्थः, गन्धकमध्ये विपचेत् मूषाधाम् अथः
गन्धकं संस्थाप्य तदपरि औषधं निधाय पुनर्गन्धकं दत्त्वा च गजपुटे पचेत् । सङ्कोच्य
दग्ध्वा इत्यर्थः, दग्धस्य अवयवसङ्कोचात् ; सङ्कोच्य इति वातोत्थकुष्ठानि इत्यनेन
सम्बध्यते वा, वातोत्थकुष्ठानि सङ्कोच्य अल्लोक्त्येत्यर्थः । कोलकोऽयं कोलकात्यः
अयं योगः, कोलप्रमाणः अयं योगः इति वा ॥ ९ ॥

पित्तकुष्ठारौ—कामलाभ्रकम् अभ्रकविशेषः, मरुदेशजमभ्रं वा ; केचित्तु
कामलाभ्रकशब्देन पीताम्बं गृह्णन्ति ; तस्य सङ्कोचः भक्ष इत्यर्थः । व्याधिघातः
आरग्वधः । प्राणदो रेणुः जीवकचूर्णम् ; यद्वा—प्राणदः जीवकः, रेणुः रेणुकः,
स च व्योषादीनामेकभागसमुः । “पञ्चाशत्” इत्यत्र “पञ्चांशम्” इति पाठान्तरम् ।
घृतगन्धकाभ्यां पुटितस्य कामलाभ्रकस्य भक्ष समैः व्योषादिभिः त्रिगुणप्राणशब्देन

अथ श्लेषकुष्ठारिः ।—

कनकाभ्रकसङ्कोचस्तैलगन्धकपाचितः ।

विषव्योषाब्दवेक्षत्वक् तुल्यस्त्रिगुणचित्तकः ॥

गुञ्जामानोऽजमूत्रेण पिण्डितः श्लेषकुष्ठनुत् ॥१२॥

अथ विदोषकुष्ठारिः ।—

तीक्ष्णाभ्रहेमसङ्कोचस्तैलगन्धकपाचितः ।

तानताप्यविशालाग्नि-बोलपाठाजटाविषैः ॥१३॥

शृङ्गोटङ्गणयष्ट्याह्व-सिन्धुवारैः समन्वितः ।

रसेन शृङ्गवेरस्य बद्धो बटरसन्निभः ॥

क्षयाविशोषितः कुष्ठं निहन्त्यात् सन्निपातजम् ॥१४॥

अथ विजयवटिका ।—

रेणुका पिप्पलीमूलं बाकुची विषतिन्दुकम् ।

अश्वगन्धा पलाशास्थि व्योषादिनवकं वचा ॥१५॥

विशाला गन्धकं कुष्ठं सविषं रसभस्म च ।

गुडेन गुटिकां कुर्यात् समेन मधुमिश्रिताम् ॥१६॥

पञ्चाशद्भागस्वर्णभक्षणं च संयोज्य चाजमूत्रेण पेषयेत्, ततः कीलास्त्रिमानां गुडिकां विधाय प्रयोजयेदिति ॥ १०।११ ॥

कफकुष्ठारौ—कनकाभ्रकयोः सुवर्णाभयोः सङ्कोचः । केचित्तु कनकाभ्रक-
शब्देन रक्षाभं गृह्णन्ति । कल्पना तु पूर्ववदेव कार्या ॥१२॥

विदोषकुष्ठारौ—तीक्ष्णं तीक्ष्णलोहम् ; केचित्तु तीक्ष्णाभ्रशब्देन कृष्णवर्णवज्राभं
गृह्णन्ति । विशाला इन्द्रवारुणी । अग्निः भस्मातः, कुष्ठहरत्वात् । बोलः गन्धरसः,
गन्धबोल इति ख्यातः बणिगृद्रव्यविशेषः । जटा जटामासो, पाठाजटा इत्येकपदं
वा, तत्र पाठामूलमित्यर्थः ॥ १३।१४ ॥

विजयवटिकायां—रेणुका कौन्ती । बाकुची सोमराजी । विषतिन्दुकं
विषमुष्टिः, “कुचिला” इति ख्यातम् । पलाशास्थि पलाशवोजम् । व्योषादिनवकं
त्रिकटुत्रिफलातिमदात्मकं त्रिकटयमित्यर्थः । समेन सर्वचूर्णं तुल्येनेत्यर्थः, न त्वेकभाग-
समेन, “गुडेन गुटिकां कुर्यात्” इत्युक्त्वा एकभागतुल्यस्य गुडस्य गुटिकाकरः

तां भक्षयेत् सितासर्पिः-क्षीरशाल्यन्नभाग्भवेत् ।

जलौदनं वा भुञ्जानो ब्रह्मचर्यपरायणः ॥ १७ ॥

खादेत्तापे सिताधान्य-सर्पिर्नागबलारजः ।

वटिका विजयाख्येयं सप्तकुष्ठान्नियच्छति ॥ १८ ॥

अथ सर्वेश्वरः ।—

पालिकं ताम्रगन्धाभ्रं कर्षांशं लोहपारदम् ।

स्नृग्यर्कक्षीरवातारि-जम्बोरोशीरवारिभिः ॥ १९ ॥

मर्दितं बालुकायन्त्रे स्वेदयेत् दिवसत्रयम् ।

कर्षं कणाया निष्कञ्च विषस्यास्मिन् विनिक्षिपेत् ॥

एष सर्वेश्वरः सद्यो गुञ्जामात्रः प्रसुप्तिजित् ॥ २० ॥

अथ सुप्तिकुष्ठदलनो रसः ।—

गन्धो रसश्च कटुतैलशृतो मृतोऽर्की

व्योषाग्निवेक्षविषमेघभयावचाभिः ।

ज्वालामुखीरसविमर्दितमाक्षिकाढ्यः

पिण्डोक्ततः शमयति स्थिरसुप्तकुष्ठम् ॥ २१ ॥

आनुपपत्तेः । जलौदनं जलधौतमन्नम् । “जलौदनम्” इत्यत्र “यवौदनम्” इति पाठः समीचीनः । तापे औषधसेवनजनितोष्मायाम् । नागबला गोरक्षतण्डुला । धान्यनागबलाचूर्णं शर्कराघृताभ्यामालीढ्य लिङ्गात् । सप्तकुष्ठान् सप्तमहाकुष्ठा-
नौत्थर्यः ॥ १५—१८ ॥

सर्वेश्वरः—पालिकमिति ताम्रादीनां त्रयाणां प्रत्येकं पलमानता । एवं लोहपारदयोरपि प्रत्येकं कर्षाशता । वातारिः एरण्डमूत्रम् । प्रसुप्तिजित् सुप्तिकुष्ठनाशनः ॥ १९।२० ॥

सुप्तिकुष्ठदलनरसे—कटुतैलशृतः कटुतैलपक्वः सार्धपतैले शोधितः इत्यर्थः, कर्क इत्यस्य विशेषणम् ; ताम्रपत्राणि अग्नौ प्रताप्य कटुतैले निविष्टेत्, एवञ्च कटुतैलशृतः अर्को निश्चयम् । अपिः चितकः भस्मासक्तो वा । वेजं विडङ्गम् । शीघ्रः मुक्तकम् । तथा अमया इत्यर्थः, “नासेकदेशयङ्गणेन नामसमुदाययङ्गम्”

अथ प्रतापलङ्घेश्वरः ।—

विपादिकाग्नौ रसगन्धटङ्गणं सताम्रकुष्ठायसंपिप्पलीरजः ।

विमर्दितं काञ्चनपत्रवारिणा प्रतापलङ्घेश्वरसञ्ज्ञितो रसः ॥ २२ ॥

अथ किटिमारितलम् ।—

स्रग्ध्याः कुडवं पयसः प्रस्थं दुग्धस्थं नारिकेलस्थं ।

गन्धकनिशयोः कर्षं पारदकर्षञ्च साधु संयोज्यम् ॥ २३ ॥

खरतरकिरणातापात् पक्कं तैलं विलेपितं प्राज्ञैः ।

कुष्ठकिटिमेऽपहन्ति प्रबलञ्च समीरणं हन्यात् ॥ २४ ॥

अथ मिथे गन्धपाषाणलेपः ।—

मर्दितो मूलकक्षारस्त्राऽऽर्द्रकस्य च वारिणा ।

शमयेद्गन्धपाषाणः पिष्टः मिथं विलेपनात् ॥ २५ ॥

इति न्यायात् । “विषमेघभया” इत्यत्र “विषमेघभया” इति पाठे—भेदौ चम्बवेतसः ।

व्यालामुखी लाङ्गली, तस्याः रसः । पिण्डीकृतः गुडीकृत इत्यर्थः ॥ २१ ॥

प्रतापलङ्घेश्वर—काञ्चनपत्रवारिणा धुसूरपत्ररसेन ; तथा च रसरत्नाकरे—भक्ष्य-
सूतार्कलोहानां कृत्वा गन्धकटङ्गणम् । कुष्ठतुल्यकतुल्यांशं मये धुसूरजेर्द्रवैः ॥ द्विभेकं
तद्वटौ कुर्यात् माषमात्रञ्च भक्षयेत् । रसो लङ्घेश्वरो नाम्ना प्रसृतमण्डलपणत् ॥
गन्धकं त्रिफलाचूषं निर्विषौ गुग्गुलुं समम् । लिङ्गैर्दरुल्लेखेन कर्षकमग्न-
यानकम् ॥” इति । तद्वार्यं “लङ्घेश्वररसः” इति ख्यातम् ॥ २२ ॥

किटिमारितैले—गन्धकनिशयोः प्रत्येकं कर्षः । खरतरकिरणातापात् खरतर-
किरणः सूर्यः तस्य आतापात् सम्यक् तापात् । तैलं साधपं, कुष्ठहितत्वात् ;
तैलञ्चात्र प्रस्थमितं वाञ्छन्, “अनिर्दिष्टप्रमाणाणां खेदानां प्रस्थ इत्यने” इति
परिभाषावलात् । अथ पदौ—कटुतैलं १ प्र० सुङ्गीचौरं ४ प्र० नारिकेलचौरं
१ प्र० निशगन्धकपारदानां प्र० १ क० चाद्रवचयात् रौद्रकलापे स्थापनीयम्
इति ॥ २३।२४ ॥

गन्धपाषाणलेपे—वारिणा इति पदं मूलकक्षारस्य आर्द्रकस्य च इत्युभय-
स्यापि सम्बध्यते ; मूलकमजकृतक्षारोदकेन आर्द्रकस्तरसेन च । गन्धपाषाणः
गन्धकः ॥ २५ ॥

अथ सिञ्चे वराटिकालेपः ।—

वराटपिष्टी जम्बीरनीरार्द्रा वाऽऽतपे धृता ॥ २६ ॥

अथ दद्रुकृष्टे मयूरचारादिलेपः ।—

मयूरमोक्षकक्षारं मेघशृङ्गैरसो रसः ।

त्रिक्षारदिनिशाव्योष-शुल्वं लेपेन दद्रुजित् ॥ २७ ॥

अथ चर्मकृष्टे पर्पटीरसप्रयोगविधिः ।—

चतुर्थांशेन ताम्रस्य भस्मना मत्तुकेन च ।

कृतावापो हरेत् कुष्ठं चर्मस्थं पर्पटीरसः ॥ २८ ॥

अथ चर्मकृष्टे मेघनादाद्युद्वर्तनम् ।—

मेघनादामृतानीली-गदाः कृष्णतिला मधु ।

अश्वमेधामृतञ्चैतैर्युक्ता गन्धककज्जली ॥

उद्वर्तनेन षण्मासाद्गजचर्मविनाशनी ॥ २९ ॥

अथ शताक्षि रसादिषट्कम् ।—

रसगन्धकताप्यार्क-शिलाजत्वक्नवेतमम् ।

अष्टमांशगुडं साज्य-माक्षिकं स्याच्छतरुषि ॥ ३० ॥

वराटिकालेपे—जम्बीरनीरार्द्रां जम्बीररससिक्ता वराटपिष्टी वराटकचूर्णम्
आतपे धृता, विलेपनात् सिद्धं शमयेत् इति पूर्वेष्वन्वयः । अथ वा-शब्दः
पूर्वयोगापेक्षया ॥ २६ ॥

मयूरचारादिलेपे—मयूरः अपामार्गः मोक्षकः घण्टापाटला तयोः चारम् ।
रसः रसभक्ष ॥ २७ ॥

पर्पटीरसप्रयोगविधौ—पर्पटीरसापेक्षया ताम्रभस्मनः चतुर्थांशता, एवं सक्तु-
कस्यापि । सक्तुकः विषभेदः, यवसक्तुको वा । कृतावापः कृतप्रक्षेपः मिश्रित इत्यर्थः ।
पर्पटीरसः “रसं द्विगुणगन्धेन” इत्यादिना रक्तपित्तादिविचक्षितोक्तः । यथोक्त-
मानताम्रभस्मादिना मिश्रितः पर्पटीरसः चर्मकृष्टे प्रयुज्यते इत्यर्थः ॥ २८ ॥

मेघनादाद्युद्वर्तने—मेघनादः स्वल्पमारिषः । अमृता गुडूची । नीली नील-
वुक्ता । गदः कुष्ठम् । अश्वमेधः करवीरः । अमृतं विषम् । गन्धककज्जली
द्विगुणगन्धककृता कज्जलीत्यर्थः । गजचर्मविनाशनी चर्मस्थकुष्ठविनाशनी ॥ २९ ॥

रसादिषट्के—अष्टमांशगुडमिति मिलितरसादिचूर्णापेक्षया बोध्यम् । साज्य-

अथ कुष्ठविधूनी रसः ।—

हैममाक्षिकगन्धश्ल-तीक्ष्णकान्ताभ्रकं समम् ।

द्विगुणं हरवौर्यञ्च दशमांशञ्च सक्तुकम् ॥३१॥

मञ्जिष्ठादिकषायेण बालुकायन्त्रपाचितम् ।

क्षणावर्णकसङ्काशमिदं भस्मैव कुष्ठजित् ॥ ३२ ॥

अथ मञ्जिष्ठादिगणः ।—

मञ्जिष्ठाघनदारुकुष्ठखट्विर-श्लेष्ठावचाबाकुची

पाठापर्पटराजवृक्षकटुका-यष्ट्याह्वमूर्वानिशा ।

दायन्तीकिटिमारवेत्तवृषकं निम्बामृतावत्सकं

काकोली सदुरालभा च परमं कुष्ठक्षयघ्ना गणः ॥३३॥

अथ मिष्ठाडुम्बरयोः कङ्गुणीतैलम् ।—

आरग्वधरसो गुञ्जा-बाकुचौगन्धकं त्रयैः ।

सरसैः कङ्गुणीतैलं जयेत् मिधमुडुम्बरम् ॥३४॥

अथ पामारि तैलम् ।—

विपक्वा कटुतेलेन पामाह्वन्त्यपिष्टिका ॥३५॥

माक्षिकं थावङ्गामाज्यमाक्षिकाभ्यां मर्दनाहता जायते, तावन्मानमाज्यमाक्षिक-
मित्यर्थः । शतारूषि तदाख्यकुष्ठविशेषे । भक्षणाविधया धीज्योऽयम् ॥३०॥

कुष्ठविधूनीरसे—दशमांशश्च सक्तुकमिति एकभागापेक्षया दशमांशता ।
सक्तुकं विषभेदः घवशक्तः वा । मञ्जिष्ठादिकषायेण मञ्जिष्ठाघनेत्यादिना वक्ष्यमाण-
कषायेण । क्षणावर्णकसङ्काशं क्षणावर्णमित्यर्थः । अयमपि भक्षणाविधया
प्रयोज्यः ॥३१।३२॥

मञ्जिष्ठादिगणे—श्लेष्ठा विपक्वा । राजवृक्षः आरग्वधः । दायन्ती दायमाणा ।
किटिः वाराहीकन्दः । मारः धुसूरः । वेत्तः विडङ्गः । वत्सकः इन्द्रियवः ॥३३॥

कङ्गुणीतैले—आरग्वधरसः आरग्वधमूलकायः, स च जेहचतुर्गुणः । गुञ्जा-
बाकुचौगन्धकरसानां चतुर्णां कलकः खेडपादिकः । कङ्गुणी तृणधान्यविशेषः,
तस्य तैलं, तच्च प्रस्थम् । उडुम्बरं कुष्ठविशेषम् ॥ ३४ ॥

पामारितैले—विपक्वा आदित्यकिरणपक्वा इत्यर्थः ; तथा च सिद्धयोगे—“पिबति
सकटुतैलं गन्धपाषाणचूर्णे रविक्षिरसुतप्तं पामलो यः पलाहम् । त्रिदिन-

अथ तालेश्वरः ।—

हरितालपले द्वे द्वे द्रव्णणे रसगन्धयोः ।
 कुर्कुटीपत्रसारेण पिष्टं ताम्रमयोरजः ॥३६॥
 पञ्चशो मर्दितं धात्री-कुर्कुटीरसमाक्षिकैः ।
 वर्षाभूचितपत्राढ्यं मूषागर्भं निवेशितम् ॥३७॥
 पाचितं भूधरे संख्यं पर्णखण्डेन भक्षयेत् ।
 ह्रिङ्गजम्बीरवातारि-तैलेः पवनपीडितैः ॥३८॥
 माधूकमारमिन्धुत्य-वचाव्योषैर्हृतौजसि ।
 शोफे भक्ताम्बुना कुष्ठे घृतेन पयसाऽथवा ॥३९॥
 धारोष्णोनाऽऽर्द्रकस्यास्तु कामलायां रमेन च ।
 रसस्तालेश्वराख्योऽयं सर्वकुष्ठहरः परम् ॥४०॥

तदनुमिक्तः जीरभोजी च शीघ्रं भवति कणकदोषा कामयुक्तो मनुष्यः ॥”
 इति । गन्धपिष्टिका गन्धपाषाणचूर्णम् । त्रिभिर्मर्दिनैः पलाङ्गे पातव्यमिति
 केचित् ; व्यवहारस्तु शोधितगन्धकचूर्णस्य माषकचतुष्टयं कटुतैलस्य च कर्षं एकं
 इति । एतेन गावं स्रक्षयित्वा प्रभुतदुग्धपायी भवेत् निवातातपे च तिष्ठेदित्युप-
 देशः ॥ ३५ ॥

तालेश्वरे—द्वे द्रव्णणे रसगन्धयोरिति मिलित्वा । द्रव्णं कोलः ; एवञ्च रस-
 गन्धयोः प्रत्येकं तैलैकं यावन्म । कुर्कुटीपत्रसारेण कुर्कुटी कुकुन्दरः, “कुक्कुशमा”
 इति प्रसिद्धं, तस्याः पत्ररसेन । ताम्राथोरजसोरपि रसगन्धसाहचर्यात् द्वे द्रव्णणे ।
 पञ्चशः पञ्च पञ्च वारान् । वर्षाभूचितपत्राढ्यं वर्षाभूः पुनर्नवा, चित्रः चित्रकः
 एरण्डो वा, तत्पत्राढ्यं पत्रबहुलम् । पवनपीडितैः वातरोगिभिः । “पवन-
 पीडितैः” इत्यत्र “पवनपीडिते” इति पाठः समीचीनः । आर्द्रकस्यास्तु इत्यत्र
 अस्तु क्रियापदं, कामलायामार्द्रकरसेन प्रयुक्तो भवतु इत्यर्थः । हरितालपलद्वयं
 रसगन्धकयोः तथा कुर्कुटीपत्ररसेन पिष्टयोः सारितयोश्च ताम्राथोरजसोः प्रत्येकं
 कषाडैः धात्र्यादिभिः पञ्च पञ्च वारान् साधयित्वा गोलकं कुप्यात्, ततः
 प्रभुतवर्षाभूचितपत्राढ्यां तमावेक्ष्य मूषायां निक्षेप्य च भूधरपुटे पचेदिति
 निष्कर्षः ॥ ३६—४० ॥

अथ महातालेश्वरः ।—

तालताप्यशिलाटङ्क-रसेन्द्रलवणं समम् ।
 तालकाङ्गिगुणं ताम्रं मृतं तद्वच्च गन्धकम् ॥४१॥
 अम्लेन पञ्चशः पिष्टं जम्बीरस्य पुटे पचेत् ।
 मदनेन वमिं कुर्याद्विरिकं पथ्ययाऽपि च ॥४२॥
 श्लोहचूर्णस्य चत्वारो भागाः सिद्धरसस्य षट् ।
 अष्टौ नेपालताम्रस्य गन्धकेन हृतस्य च ॥४३॥
 जम्बीराम्लेन तत् सर्वं मर्दितं पुटपाचितम् ।
 एकत्रिंशांशगरलं माषद्वितयसन्मितम् ॥४४॥
 शुद्धः संशोधनं कुर्वन् मध्ये मध्ये च भक्षयेत् ।
 सन्निपाते मधूकेन व्योषेण पवने हितः ॥४५॥
 ग्रहणीकामलापाण्डु-गुल्माशांसि हलीमकम् ।
 क्षयञ्च शमयत्येष महातालेश्वरो रसः ॥४६॥

महातालेश्वरः—शिला मजःशिला । लवणं सेन्धवम् । तद्वत् ताम्रवदित्यर्थः । पुटे पचेत् भूधराख्यपुटे षड्वारं पचेत्, प्रतिपुटावसरे जम्बीरद्रवैर्मर्दयेच्च, रसरत्नाकर-
 संवादात् । मदनेन मदनफलभक्षणेन । कुर्यात्, कुर्वीति शेषः । एवं विरेकं पथ्यया इत्यादिपि धीजनीयम् । मदनेन इत्यादियस्यः समानतत्वेषु न दृश्यते, न सुष्ठु सङ्गच्छते चायमत्र, औषधप्रस्तुतप्रकरणे प्रसङ्गान्तरापातात् ; “मध्ये मध्ये च भक्षयेत्” इत्यनन्तरस्य निवेशः युक्तः । सिद्धरसस्य तालताप्येत्यादिना निष्पन्नस्य औषधस्य । “अष्टौ नेपालताम्रस्य” इत्यत्र “द्विपलं मारितं ताम्रम्” इति तथा “एकत्रिंशांश-
 गरलम्” इत्यत्र “त्रिंशदंशं विषञ्चास्य” इति च रसरत्नाकरे पाठः । शुद्धः स्नेहा-
 द्विभिः कृतदीपानुलोमनः । “शुद्धः” इत्यत्र “स्निग्धः” इति पाठकल्पना साधीयसी । संशोधनं कुर्वन् मदनादिना वमनादिभिरात्मानं शोधयन्नित्यर्थः ; अथवा—आदौ शुद्धः सन् मध्ये मध्ये संशोधनं कुर्वन् औषधसेवकस्य मध्ये मध्ये आत्मानं वमना-
 द्विभिः पुनः शोधयन्नित्यर्थः । अत्र मध्याज्याभ्यां बाकुबीचूर्णकबांगुपानं तन्तान्तर-
 विहितमनुसृतव्यम् । तथा च रसरत्नाकरे—“तालं ताप्यं शिला मृतं शुद्धं सेन्धव-
 टङ्कणम् । समांशं चूर्णयेत् खल्ले सूताङ्गिगुणगन्धकम् ॥ गन्धतुल्यं मृतं ताम्रं जम्बीर-

अथ सर्वकुष्ठान्तकसैलम् ।—

क्षणाभ्रकं बलिवसां नीलज्योतीरसं रसम् ।

कङ्कणीनिम्बकार्पास-तैलञ्चायमि मर्दयेत् ॥

तज्जयेत् सर्वकुष्ठानि बहिरन्तश्च सेवितम् ॥४७॥

अथ कुष्ठविध्वंसनो लेपः ।—

रमतङ्कणगन्धार्क-पिप्पलीकुष्ठचन्दनम् ।

कुष्ठविध्वंसनो लेपो मातुलुङ्गास्त्र्मर्दितः ॥४८॥

अथ ककमन्दरः ।—

समतलकनकोत्थ-ज्योमसत्त्वोत्थपिष्टीं

द्विगुणरसमसिनां गोलमध्ये विपाच्य ।

दिनपञ्च च । मये षड्भिः पटैः पाच्यं भूषरे सम्पटोदरे ॥ पटे पटे द्रवैर्मयं
सर्वमेतच्च षट्पलम् । द्विपलं मारितं तासं लोहभक्त्य चतुःपलम् ॥ जम्बीरास्त्रेन
ततः सर्वे दिनं मये पटेक्ष्व । त्रिंशदंशं विषद्यास्य क्षिप्यं सर्वे विचूर्णयेत् ॥
सहिषाज्येन मन्मथश्च निष्काडे पण्डरीकनन । मध्याह्नेः बाकुषौच्यं कर्षमातं
निहृदय ॥ सर्वान् कुष्ठान निहन्त्याश्च सप्तातालेधरो रसः ॥” इति । ताम्रादिकं
यद्योक्तमात्रं जम्बीरास्त्रेन पञ्चवारान् मर्दयित्वा भूषरपटे पचेत्, एवं षड्वारान्
कुर्यात् । ततः पञ्चौषधस्य षड्भागान् लोहस्य चतुरः तासस्य चाष्टौ एकौक्षस्य
जम्बीरास्त्रेन दिनं मर्दयित्वा लघुपटे पुनः पचेत् । स्वाङ्गशीतमादाय विचूर्ण्य च
सिद्धौषधात् एकत्रिंशंशेन विषेण सद्य मर्दयित्वा स्थापयेत् । ततः सिग्धतनु-
दर्शः शोधनेनात्मानं शोधयन् माषद्वयमितं यद्योक्तानुपानेन खादेत्, मध्ये मध्ये
संशोधनं कुर्याच्च इति ॥ ४१—४६ ॥

सर्वकुष्ठान्तकसैलम्—बलिवसा गन्धकः, तथा चोक्तं प्राक् तृतीयाध्याये—“बलिना
सेवितः पूर्वं प्रभूतबलहेतवे । बासुकिं कर्षितकस्य तन्मुखज्वालाया द्रुता ॥ वसा
गन्धकगन्धाद्या सर्वतो निःसृता तनीः । गन्धकत्वञ्च सम्प्राप्ता गन्धोऽभूत् सविषः श्रुतः ॥
तस्माद्वाल्वसेत्युक्तो गन्धकोऽतिमनोहरः ॥” इति । नीलज्योतीरसं तुल्यकं, कुष्ठ-
चरत्वात् । रसं पारदम् । अयसि लोहभाजने । बहिरन्तस्य सेवितं लेपाभ्यङ्गादि-
विषया बहिःप्रयोगेण पानविषया च अन्तःप्रयोगेण व्यवहृतम् ॥ ४७ ॥

कुष्ठविध्वंसनलेपे—रसादीनां सर्वेषां समभागता ॥ ४८ ॥

त्रिकट्दहनवैल्लेखनाभाङ्गभागै-

रससमनवशृङ्गौ-दारुयुक्तैः समस्तैः ॥४८॥

अजसलिलविपिष्टैर्गुञ्जया तुल्यगोलः

कुपितकफसमुत्थं हन्ति कुष्ठं गरिष्ठम् ।

तदपरमथ वात-श्लेष्मजत्वग्विकारं

गुदगदमपि सर्वं वङ्गिमान्द्यं सुनिन्द्यम् ॥५०॥

तुष्टेन शम्भना दिष्टः सोऽयं कनकसुन्दरः ।

त्वग्विकारविनाशाय कुबेराय महात्मने ॥५१॥

अथ हरिवलाङ्गुशः ।—

घनभवमृतसत्त्वं कान्तलोहार्कभस्मं

त्रिगुणरससमेतं तुल्यगन्धेन युक्तम् ।

समतुलकृतमेभिष्टङ्कणं ताप्यचूर्णं

हरिदलमथ बोलं खण्डसंज्ञं मनोज्ञम् ॥५२॥

कनकसुन्दरः—स्वर्णपिष्टभस्मत्वपिष्टयोः समभागता । द्विगुणरससमेतामिति एक-
भागापेक्षया रसस्य द्वेगुण्यं बोद्धव्यम् । गोलमध्ये गोलमूषामध्ये । दहनः चित्तः
भस्मातको वा । वत्सनाभाङ्गभागैः वत्सनाभः चर्द्धभागो यत्र तादृशैरिति त्रिकटुः
दहनवैल्लेखित्यस्य विशेषणम् ; तेन त्रिकटुादीनां प्रत्येकमेकभागः वत्सनाभस्य चार्द्ध-
भाग इति । रसेति ।—रससमा रसभागा नवा प्रत्यया शृङ्गी स्यावरविषभेदः, दारु
दारुमूषाख्यं विषञ्च तदयुक्तैः, अत्र च शृङ्गिदारुणोः मिलित्वा रससाम्यं बोद्धव्यम् ।
अजसलिलविपिष्टैः क्लाममूषपिष्टैः । अयमर्थः,—स्वर्णपिष्टभस्मत्वपिष्टयोरेकभागं
द्विभागपारदसन्मिश्रं गोलमूषायां पक्त्वा स्वाङ्गशीतलमादाय च त्रिकटुादीनामेकैकभागेन
वत्सनाभस्य चार्द्धभागेन शृङ्गिदारुणोश्च मिलित्वा भागद्वयेन सङ्घ पचेत्, ततः तदौषधं
क्लाममूषेण पिष्टा गुञ्जामानां बटीं कृत्वा च स्यापवेदिति ॥४८—५१॥

हरिवलाङ्गुशः—घनभवमृतसत्त्वं सारिताभसत्त्वम्, अत्र घनसत्त्वादीनां त्रयाणां
तुल्यता । त्रिगुणरससमेतमिति घनसत्त्वापेक्षया रसस्य द्वेगुण्यम् । तुल्यगन्धेन
सर्वतुल्येन गन्धकेनेत्यर्थः । समेति ।—घनादिभिर्गन्धानैः सर्वैस्तुल्यं टङ्कणं
ताप्यञ्च ॥ ५२ ॥

अथ त्रिपुरान्तकः ।—

रसममृतमथापि शृङ्गवेरं विडुङ्गं
मधुरदहनपाठा-सिन्धुवारश्च बन्ध्या ।
त्रिफलकनकबीजं ऋद्धिहृद्वीं निशे हे
कृगलसलिलपिष्टं सर्वमेतेन जाता ॥५३॥
सुलघ्नबदरबीज-स्थूलगोली नराणां
हरति पवनपित्त-श्लेष्मसञ्जातकुष्ठम् ॥५४॥

उक्तस्त्रिपुरया पूर्वं रसोऽयं त्रिपुरान्तकः ।

सर्वदोषोत्थकुष्ठघ्नः क्षपानिघ्नमनस्कथा ॥५५॥

अथ विश्वहितः ।—

रसेन्द्रलिप्तताम्रस्य पत्रं गन्धकमारितम् ।
तत्ताम्रं पलमात्रं हि पलमात्रं हि यावज्जम् ॥५६॥
पलं चूर्णितशुद्धालं मर्दयेत्तु दिनत्रयम् ।
इति सिद्धो रसः प्रोक्तो नाम्ना विश्वहितो हितः ॥
वज्राभ्यां तुलितः सेव्यो मरीचघृतसंयुतः ॥५७॥

त्रिपुरान्तके—रसं रसभक्ष्यं । असृतं विषम् । मधुरः मधुरिका काकीली वा । दहनः चितकः भङ्गातकी वा । सिन्धुवारः निर्गुच्छी । बन्ध्या बन्ध्या-ककोटकी । कनकबीजं धुलूरबीजम् । ऋद्धिहृद्वी खनामख्याते, तदप्राप्तौ बला-महाबली याच्ये ; यदुक्तं परिभाषायाम्—“ऋद्धाभावे बला देया वृद्धाभावे महाबला” इति । निशे हे हरिद्रा दाहहरिद्रा च । कृगलसलिलपिष्टं कृगलमूत्रपिष्टम् । सुलघ्निति ।—सुलघ्नबदरः क्लृप्तबीजः, “मेटोकुल” इति भाषा, तस्य बीजवत् अस्त्वित् स्थूला गोली गुड़िका । त्रिपुरया देव्या दुर्गेया । क्षपानिघ्नमनस्कथा दयाद्रंक्षितया ॥ ५३—५५ ॥

विश्वहिते—रसेन्द्रलिप्तताम्रस्य पत्रमित्यत्र रसेन्द्रशब्देन रसगन्धकयोः कज्जली अभिप्रिया, केवलरसेन्द्रेण लेपनासम्भवात् ; अथवा रसेन्द्रलिप्तताम्रस्य पारदेन सह अर्दितताम्रश्लेषः । गन्धकमारितम् कर्षाधी गन्धकं दत्त्वा पुटितम् इत्यर्थः । यावज्जं व्याचक्षम् । आलं हरिताम्रम् ॥ ५६।५७ ॥

अथ निर्गुण्टादिप्रलेपः ।—

निर्गुण्टौतैलमध्वान्य-कुमारीशाल्मलीरसः ।

यवो गन्धकपिष्टश्च लेपः कुष्ठक्षयापहः ॥ ५८ ॥

अथ कुष्ठराक्षसः ।—

महानिम्बस्य सारेण मर्दितां गन्धपिष्टिकाम् ।

अमृताबाकुचीकान्ता-त्रिफलाचूर्णसंयुताम् ॥ ५९ ॥

भक्षयेदायसे न्यस्तां कुष्ठे पाणितलोन्मिताम् ।

सा कुर्याल्लेपनात् कान्तिं षण्मासाद्बुद्धिमायुषः ॥ ६० ॥

अथ व्योषादि गुडिका ।—

पालिकं व्योषसूताग्नि-गन्धकं सफलत्रयम् ।

काकोडुम्बरिकाक्षीरेर्मर्दितं गुटिकौकृतम् ॥

माषप्रमाणं सक्षौद्रं कुष्ठार्शःश्वासकासजित् ॥ ६१ ॥

अथ कुष्ठकुठाररसः ।—

रसस्य कर्षः कर्षो द्वौ गन्धकात् कज्जलं तयोः ।

तिलपर्णलिमुण्डीनां स्वरसेः कृतभावनम् ॥ ६२ ॥

कर्षः कर्षो वचाधात्री-कणातीक्ष्णकमिच्छिदाम् ।

शाणं विषस्य कर्षार्धं जीरकस्य सितस्य च ॥ ६३ ॥

निर्गुण्टादिप्रलेपः—तैलं कटुतैलम् । कुष्ठक्षयापहः कुष्ठे यः क्षयः कौण्डगति-
क्षयनासाभक्तादिरूपः इत्यर्थः, तमपहन्ति इति तथाभूतः ॥ ५८ ॥

कुष्ठराक्षसः—महानिम्बस्य सारेण पर्वतनिम्बत्वयसेन । बाकुची सोमराजी ।
कान्ता प्रियङ्गुः । आयसे न्यस्तां लौहपात्रे स्थापितां, लौहकटाहदो विन्धस्व
निम्बरसेन मर्दितामित्यर्थः । पाणितलोन्मितां कर्षप्रमाणां । सा अमृतादिचूर्णसंयुता
गन्धकपिष्टिका । बहिरन्तरभयघैव प्रयोज्याऽयम् ॥ ५९।६० ॥

व्योषादिगुडिकायां—पालिकं प्रत्येकं पलमात्रम् । काकोडुम्बरिकाक्षीरेः
काकोडुम्बरत्वङ्मुतक्षीरेरित्यर्थः ॥ ६१ ॥

कुष्ठकुठारे—तिलपर्णो रक्तचन्दनम्, अलिः अरिः, रक्तयोरभेदात् खदिरविशेष
इत्यर्थः, मुण्डी मुखरी तासाम् । तीक्ष्णं राजिका लौहं वा । किमिच्छिन्

प्रलाहं मृतताम्रस्य तथा शुण्ठ्याश्च मर्दितम् ।

भृङ्गाभ्रांसि घटे स्निग्धे पचेच्चणकसन्निताः ॥६४॥

वटिकाः कुष्ठविश्वान्नि-त्रिफलासैन्धवान्विताः ।

कुर्यात् कुष्ठकुठाराख्यो रसोऽयं सर्वकुष्ठजित् ॥ ६५ ॥

अथ गुञ्जाद्युदत्तनम् ।—

गुञ्जाचित्रकशङ्खचूर्णैरजनी भस्मातकं लाङ्गली

स्रक्क्षीरोत्तमकन्यका घनरवा धूमोद्गमः सूतकः ।

गोमूत्रैर्द्विगजं विडङ्गमरिचं सक्षीद्रवारीजलं

पामादद्रविचर्चिकाकिटिमजित् कण्डूघ्नमुदत्तनात् ॥६६॥

अथ वज्रशेखरः ।—

विष्णुक्रान्ता घनरसः सर्पाक्षी शङ्खपुष्पिका ।

गोजिह्वा क्षीरिणी नीली ब्रह्मवृक्षो रुदन्तिका ॥६७॥

निचुलः काकमाची च रसैरेषां विमर्दितम् ।

पक्वं तुषकरीषाग्नी रसाद्द्विगुणगन्धकम् ॥६८॥

विडङ्गम् । तथा पक्वार्द्धमित्यर्थः । विश्वं शुण्ठी । अयमर्थः,—रसगन्धयोः कञ्जलीं कृत्वा तिलपर्ण्यादिस्वरसेः प्रत्येकं सप्तवारान् भावयेत् । अनन्तरं वचादिचूर्णं यथोक्तमात्रं तत्र दत्त्वा विमर्दयेत् । ततः घृतभावितायां स्थाल्यां भृङ्गराजस्वरसेन चूर्णादष्टगुणेन सङ्घौषधं तत् पाचनीभावात् पचेत् । ततः अवतार्य युक्त्या किञ्चित् किञ्चित् कुष्ठादि-चूर्णानि दत्त्वा मर्दयेत् । अणुकमिताश्च वटीं कृत्वा स्थापयेदिति ॥ ६२—६५ ॥

गुञ्जाद्युदत्तने—उत्तमकन्यका उत्तमा मनःशिला, कन्यका घृतकुमारी । घनरवा घनध्वनिः, सुलकमित्यर्थः, मेघनाद इति वा, तण्डुलीय इत्यर्थः । धूमोद्गमः वज्रधार इति मालवे प्रसिद्धः चारविंशः, गृहधूमो वा । सूतकः पारदः भस्म-सूत इत्यर्थः । पङ्कजं पद्ममर्दः । द्वारीजलं जलविंशः, लवणविंशो वा खारी तस्या जलम् । उदत्तनात् घर्षणात् मर्दनादित्यर्थः ॥ ६६ ॥

वज्रशेखर—विष्णुक्रान्ता अपराजिता । घनरसः मूषां बालकं वा । सर्पाक्षी गन्धनाकुली, राखाविशेष इत्यर्थः । ब्रह्मवृक्षः बकपुष्पवृक्षः, कुष्ठरत्नात्, तस्य मूलत्वक् । रुदन्तिका—“अणुपद्मसं पतं क्षुपक्षेत्रं तथाकम् । शिशिरे क्षणः

पर्यंटीरसवत् पक्वं खसस्त्वेनारुणेन च ।
 पृथक् गन्धकतुल्येन ताप्येन च रसाङ्गिण्या ॥६८॥
 कृतावापं गता मुण्डी-हस्तिकर्णमृतालिकाः ।
 मूर्वाविदार्याश्च रसेर्मर्दितं घृतमिश्रितम् ॥७०॥
 कषाये दशमूलस्य विपक्वं लेहतां गतम् ।
 रसतुल्यत्रिजाताग्नि-व्योषयष्ट्याह्वसंयुतम् ॥७१॥
 स्निग्धभाण्डगतं कुष्ठौ चयी च कृतशोधनः ।
 मञ्जिष्ठादिकषायस्य कृत्वा मासं निषेवणम् ॥
 माषप्रमाणं सेवेत रसोऽयं वज्रशेखरः ॥७२॥

अथ कुष्ठविद्रावणतैलम् ।—

द्वात्रिंशत्पलबाकुचीशृतजलद्रोणाङ्गिशेषे चतु-
 विंशत्या दनुजस्य कान्तरसयोर्निष्कैः पृथक् पञ्चभिः ।
 ताम्बूलोरसमर्दितैस्त्रिलभवप्रस्थं शृतं चिकणे
 पाके सत्यवतार्य कल्कसहितं धान्ये द्विपचं क्षिपेत् ॥७३॥

विन्दूनास्त्रवतीति इदम्लिका ॥ इत्युक्तलक्षणः स्वर्णमप्रसिद्धः क्षुपविशेषः ।
 निचुलः इज्जलः “इजल” इति ख्यातम् । खसस्त्वेन अभसस्त्वेन । अरुणेन
 सिन्दूरेण । आलिका वृश्चिकपर्णी । मञ्जिष्ठादिकषायस्य पूर्वोक्तमञ्जिष्ठादिगण-
 कृतकषायस्य निषेवणं कृत्वा माषप्रमाणं सेवेत इत्यन्वयः । अन्वयः,—द्विगुण-
 गन्धकं पारदं विष्णुकान्तादीनां रसेन पृथक् पृथक् मर्दयित्वा तृणकरीषायां पर्यंटी-
 रसवत् पाचयेत् । ततः विचूर्ण्य पृथक् पृथक् गन्धकतुल्यम् अभसत्त्वम् अरुणञ्च तथा
 रसपादिकं मालिकभञ्ज्य च तत्र दत्त्वा मुण्ड्यादीनां रसेन पृथक् पृथक् मर्दयेत् ।
 अथ मर्दितं तत् घृतमिश्रितं कृत्वा चतुर्गुणे दशमूलकषाये यावत् लेहीभूतं पचेत् ।
 अनन्तरं त्रिजातादिचूर्णं पृथक् रसतुल्यं तत्र दत्त्वा आलोड्य च स्निग्धे भाण्डे
 ख्यापयेदिति ॥६७—७२॥

कुष्ठविद्रावणतैले—द्वात्रिंशत्पलमानायाः द्वात्रिंशत्पलमानायाः सोमराज्याः,
 भृताय पाकाय कलद्रोणे द्रोणपरिमिते जले, अङ्गुशेषे पादावशेषे सति । दनुजस्य
 ऋन्धकस्य चतुर्विंशत्या निष्कैः । कान्तरसयोः खोदपारदयोः । तिलभवप्रस्थं

तत् चीरान्नाशिना पीतं लिप्तं कुष्ठकुलान्तकम् ।

श्वितं दाहजमश्वेतं रूपमूलञ्च लुम्पति ॥७४॥

अथ दद्रुकुष्ठविद्रावणरसः ।—

रसगन्धकताप्याभ्र-कान्तकृष्णाभ्रभस्मकम् ।

हिङ्गुलं मधुकं कुष्ठं सर्वं समविभागिकम् ॥७५॥

अश्वत्थवेतसतोयेन त्रिदिनं परिमर्दयेत् ।

विशोथ्याऽऽज्यमधुभ्याञ्च मृदित्वा त्रिदिनं पुनः ॥७६॥

दत्त्वा जीर्णं गुडं तुल्यं कोलास्थिप्रमिता वटोः ॥

क्वायाशुष्काः प्रकुर्वीत शम्भोरग्रे च पूजयेत् ॥७७॥

इयं हि पञ्चाङ्गकृताभिधाना नागार्जुनोक्ता गुटिका च नूनम् ।

सर्वाणि कुष्ठानि विचार्चकाञ्च दद्रूणि विद्रावयति क्षणेन ॥७८॥

तिलतैलप्रस्थम् । श्वितं, दीपनमिति शेषः, दाहजम् अग्निदग्धजं, श्वितमिति शेषः ।
अश्वेतम् अरुणं तासवर्णं वा किलालं, रक्तमांसगतं श्वितमित्यर्थः ; तथा च वाग्भटः,
—“कुष्ठैकसम्भवं श्वितं किलालं दाहजं भवेत् । निर्दिष्टतपरिस्रावि विधातृद्वय-
संशयम् ॥ वातात् रुचाराणं पिप्पलात् तासं कमलपत्रवत् । सदाहं रोमविध्वंसि-
कफात् श्वेतं घनं गुह्यं । सकण्डूरं क्रमात् रक्त-मांसमेदःसु चार्दयेत् ॥” इति ।
अरकेश्यायुक्तं—“दीपे रक्ताश्विते रक्तां तासं सांससमाश्रिते । श्वेतं मेदःश्रिते
श्वितं गुह्यं तस्रोत्तरात्तरम् ॥” इति । अथ अश्वेतश्वेतं अरुणं तासवर्णञ्च श्वितं
अत्यन्ते । रूपमूलं रूपस्य रजतस्य, रजतवर्णश्वितस्येत्यर्थः, मूलम् । अथमर्थः,—
द्राविशयलवाकुर्वी अलद्रागे निष्क्रान्त्य पादावशेषे षोडशशरावे अवतार्य वस्त्रपूतं
कुर्यात् । ततः तैलप्रस्थे तं क्वाञ्च गन्धकादीनां कल्कञ्च ताम्बूलोरसमर्दितं यथा-
मानं दत्त्वा बिपचत् । सत्यक् पाके सति अवतार्य सकल्कमेव तत्तैलं धान्य-
राशी तासं बाधत् स्थापयेत् । मासानन्तरम् उद्धृत्य उपयुक्तमानेन पिबेत् क्षिप्तोश्च
तेन कुष्ठश्विदादिकम् इति ॥ ७१-७४ ॥

दद्रुकुष्ठविद्रावणे—अथस्य भागद्वयं यात्यम् । कान्तं कान्तलोहम् । दत्त्वा
जीर्णं गुडं तुल्यमिति सर्वचूर्णतुल्यः पुराणगुडो बोद्धव्यः, “चूर्णं चूर्णमसौ देशो मोदके
विशुणो गुह्यः” इति परिभाषास्मरणात् । पञ्चाङ्गकृताभिधाना पञ्चाङ्गकृता गुटिका
व्यपराख्या ॥ ७५—७८ ॥

अथ माणिक्यतिलकः ।—

रसगन्धकताप्याल-कान्ततौक्ष्णाभ्रभस्मकम् ।
 हिङ्गुलं मधुकं कुष्ठं सर्वं समविभागिकम् ॥७९॥
 शतमूलोनिजद्रावैर्मञ्जिष्ठादिकषायतः ।
 त्रिदिनं त्रिदिनं सम्यक् परिमर्द्य विशीष्य च ॥८०॥
 ततस्तु पक्वमूषायां सन्निरुध्यातियत्नतः ।
 प्रक्षिप्य बालुकायन्त्रे प्रपुटेत् दिवसद्वयम् ॥८१॥
 माणिक्यतिलको नाम रसां नासत्यकौर्त्तितः ।
 एष कुष्ठं हरत्याशु सन्निव्रमिव हृदयधाम् ॥८२॥

अथ परहितः ।—

श्वेतः पाठा जटा श्वेता श्वेता चैव पुनर्नवा ।
 पिष्ट्वा जलेन तत्कल्कैः प्रकुर्व्यान्नालमूषिकाम् ॥८३॥
 स्थालीमध्ये च तां क्षिप्वा क्षिपेत् संशोधितं रसम् ।
 क्षिपेदुपरि सम्प्रेष्य द्वाञ्जलिप्रमितं पटु ॥८४॥
 पिधानं तन्मुखे दत्त्वा सन्निरुध्यातियत्नतः ।
 अधस्ताज्ज्वालयेद्वाङ्गं पिधान्यामम्बु निक्षिपेत् ॥८५॥
 यामञ्जितयपर्थ्यन्तं जातेऽथ शिशिरे ततः ।
 क्रोडकेभ्यः समाकृष्य मृतं पारदमाहरेत् ॥
 न चेदेतावता भस्म पुनरेव पुटेद्रसम् ॥८६॥

माणिक्यतिलके—कान्ततौक्ष्णाभ्रभस्मकं कान्ततौक्ष्णाभ्रभस्म तौक्ष्णाभ्रभस्म अश्व-
 भस्म च । नासत्यकौर्त्तितः अश्विनोकुमारवयकथितः ॥ ७९—८२ ॥

परहिते—श्वेतः श्वेतार्कः । पाठा स्खनामप्याता । जटा जटामांसी ;
 श्वेतपाठाजटेति समलपदत्वे श्वेतपाठाया मूलमित्यर्थः । श्वेता श्वेतापराजिता ।
 नालमूषिकां नालयुक्तां मूषिकां, इन्ताकमूषिकामित्यर्थः ; सा च “इन्ताकाकार-
 मूषायाम्” इत्यादिना १०माध्याये उक्ता । “नालमूषिकाम्” इत्यत्र “मञ्ज-
 मूषिकाम्” इति पाठान्तरम् । द्वाञ्जलीति ।—कुङ्कुमवर्णमानं सैन्धवखण्डमित्यर्थः ।

तद्वस्त्रातिविषं विषं क्षमिहरं व्योषोत्तमा गन्धजं
चूर्णं द्वादशहाटकं खलु गुडो द्वाविंशदंशोन्मिश्रितः ।
तत् सर्वं परिचूर्णितं प्रतिदिनं वल्लैश्चतुर्भिर्मितं
चेत्यं हन्ति समस्तरोगनिवहं नागं गरुत्मानिव ॥८७॥

विशेषात् सर्वकुष्ठघ्नो रसोऽयं परिकीर्तितः ।

ख्यातः परहितो नाम्ना भानुना भूरिभानुना ॥ ८८ ॥

अथ तालकेश्वरः ।—

वीर्यं पुरारैरिह नागतुल्यं भागद्वयञ्चाप्यथ तालकस्य ।
शुद्धेन नागेन रसो विशुद्धो विमर्दनीयो हरितामिकश्च ॥८९॥
मूत्रं गवां षोडशभागमानं निधाय भाण्डेऽथ पिधाय तस्मिन् ।
दीपाग्निना तत् परिशील्य सर्वं मूत्रं ततस्तालकशुद्धता स्यात् ॥९०॥
ततस्तु जम्बोररसेन सर्वं विमर्दनीयं त्रिदिनं त्रिवारम् ।
भावं कुमार्याः सलिलेन भृङ्ग-वज्राहकन्देन च वारयुग्मम् ॥९१॥

क्रोडकेशे वराहलोमनि । क्षमिहर विहङ्गम् । उत्तमा विफला मन शिला
वा । गन्धज गन्धकजातं, चूर्णमित्यनेनान्वयः । द्वादशहाटकं द्वादशसुवर्णं, द्वादश-
कर्षमित्यर्थः, तत् पृथगेव बोध्यं, परिचूर्णितमिति बह्व्यसाद्यवाक्यस्वरसात्,
मिलित्वा द्वादशहाटकत्वे गुडभागस्य द्विगुणादध्याधिकत्वेन चूर्णमित्यतिसम्भावना-
भावात् इति । द्वाविंशदंशोन्मिश्रितं द्वाविंशहाटकोन्मिश्रितः, यथा—द्वादश हाटकमिति
पृथक् पदं, हाटक स्वर्णे द्वादश द्वादशसङ्कापूरणं, रसभस्मादि गन्धानाम्नि एकादश
द्रव्याणि द्वादश च स्वर्णमित्यर्थः, अस्मिन् पक्षेऽपि—भस्मादीनां प्रत्येकमेको भागः गुडस्य
च द्वाविंशत भागा इति । भानुना भूरिभानुना प्रभृततेजसा भानुनाम्ना ॥ ८९—८८ ॥

तालकेश्वरे—वीर्यं पुरारैः पारदः । नागतुल्यं सौसकसमम्, तेन शुद्धो
रसः सौसक तुल्यो यावत् । रसेन्द्रचिन्तामणौ रसेन्द्रसारसङ्गृहे च नागस्य
रसाहुता तालकस्य च रसतुल्यत्वं पठितं, तद्वयथा—“नागस्य भस्म श्राव्येकं तीलेकं
पारदस्य च । (रसेन्द्रसारसङ्गृहे “पारदस्य” इत्यत्र “गन्धकस्य” इति पाठः)
द्विनिष्कं शुद्धतालकस्य” इति । षोडशभागमानमिति सर्वद्रव्यापेक्षया षोडश-
गुणमित्यर्थः, तथा च रसेन्द्रचिन्तामणौ रसेन्द्रसारसङ्गृहे च—“विपक्षेण षोडशगुणे.”
इति । दीपाग्निना दीपवज्रिना । विवारमिति कुमार्याः सलिलेनैवनेन सलिलेनैवने ॥

कुष्ठे ददोतास्य रसस्य वज्र-तयं रसैराद्रकजैर्विजेतुम् ।
 शाखासु पक्त्वमथो सुषुप्तिं स्तम्भाच्च मन्यास्यथ मण्डलानि ॥८२॥
 गवां पयः शर्करया समेतं स्तम्भातिरेके सति सन्निवृज्यम् ।
 श्रीङ्गस्वरं हन्ति सितामधुभ्यां कृष्णञ्च कुष्ठं त्रिफलारसेन ॥८३॥
 गुडार्द्रकाभ्यां गजचर्मसिन्धु-विचर्चिकास्फोटविमर्षदटून् ।
 निहन्ति पाण्डुं विविधां विपादीं सरक्तपित्तां कटुकीमिताभ्याम् ॥८४॥
 रोगेषु सर्वेष्वपि वासराणि त्रिसप्तसङ्ख्यानि रसः प्रदेयः ।
 रसप्रयोगावमितौ सुषुप्त्यां काथं पिबेच्छिन्नरुहासनोत्थम् ॥८५॥
 मासद्वयं मुद्गघृतान्वितान्नं पथ्यं ततो दुःस्वरभेषजान्ते ।
 अङ्गानि पञ्चापि पलोन्मितानि दद्यादरिष्टस्य तथाऽऽदकीनाम् ॥८६॥
 काथेन युक्तं सघृतौदनञ्च पथ्याय कृष्णेऽप्यथ कृष्णवर्णे ।
 रसावसाने सितया समेतां पादोन्मितामामलकीं प्रदद्यात् ॥८७॥

वज्राहकन्देन सुहीकन्दरसेन वज्रगूरणकन्दरसेन वा । शाखासु हस्तयोः पादयोश्च,
 हस्तपादाङ्गुलीषु इत्यर्थः, पक्त्वं सतभावम् । सुषुप्तिं स्थानीभिश्चताम् । स्तम्भातिरेके
 विवस्वातिग्रन्थे । “स्तम्भातिरेके” इत्यत्र “स्तम्भाय रेके” इति पाठे—रेके विरेके सति,
 स्तम्भाय मलस्तम्भायेत्यर्थः । “सितामधुभ्याम्” इत्यत्र “शिवामधुभ्याम्” इति रसेन्द्र-
 विनामयो रसेन्द्रमारमङ्गुष्ठं च पाठान्तरम् । कृष्णञ्च कुष्ठमिति कापालकुष्ठं किटिम-
 कुष्ठं वा । “कृष्णम्” इत्यत्र “कटुस्त्रं” “कटुम्” इति पाठद्वयं सुगमम् । गजचर्मं
 हस्तिचर्मवत् घनचर्मयुतं कुष्ठं चर्मकुष्ठमित्यर्थः । रसप्रयोगेत्यादि—सुषुप्तां
 सुप्तिकुष्ठे रसप्रयोगावमितौ रसप्रयोगानन्तरमित्यर्थः, क्षिप्ररुहासनोत्थं क्षिप्ररुहा गुडची
 आमनं स्वनामख्यात तदुत्थं काथं पिबेत् अनपिषेदित्यर्थः ; अथवा—रसप्रयोगावमिता-
 वपि सुषुप्तां विद्यमानायां क्षिप्ररुहासनोत्थं काथं पिबेदिति । मासद्वयमिति
 काथं पिबेदित्यनेन सम्बध्यते । दुःस्वरभेषजान्ते दुःस्वरे लुङ्गस्वरकुष्ठे भेषजान्ते
 श्रीषधसेवनानन्तरम् अरिष्टस्य निम्बस्य पञ्चापि अङ्गानि पत्रपुष्पत्वक्फलमूलात्मकानि
 पलोन्मितानि दद्यात्, तथा पथ्याय आदकीनां काथेन युक्तं सघृतौदनञ्च दद्यात् ;
 यद्वा—अरिष्टादकीः पञ्चाङ्गानि पृथक् पलोन्मितानि गृहीत्वा तत्काथेन ओदनं पक्वा
 सघृतं तदेदनं पथ्याय योज्यम् इति । कृष्णे कापालकुष्ठे किटिमकुष्ठे वा, “कृष्णारण-

अन्नं समुद्रं सृष्टं नियोज्यं मासद्वयं स्यादथवा विचित्रम् ।
 रसप्रयोगावसितौ प्रयुञ्ज्यादङ्गानि पञ्च स्रवनिःसृतानि ॥८८॥
 पादोन्मितानीह च मासयुग्मं पथ्याय दुग्धौदनमाददीत ।
 स्यात्तालकेशाख्यरसप्रयोगे तक्रञ्च मांसञ्च विवर्जनीयम् ॥८९॥

अथ खगेश्वरः ।—

पलेन प्रमितः सूतः पलेन प्रमिता वसा ।
 खगः पलमितः सर्वं मर्दयेदर्जुनद्रवैः ॥ १०० ॥
 गोलौकृत्य विशोष्याथ गोलं कूप्यां निरुध्य च ।
 ततस्तां सुदृढे भाण्डे मूषां क्षिप्त्वा निरुध्य च ॥ १०१ ॥
 पचेत् सार्द्धादनं पश्चात् स्वाङ्गशोतं विचूर्णयेत् ।
 खगेश्वरो रसो वल्ल-प्रमितः कुटजान्वितः ॥ १०२ ॥
 श्वेतकुष्ठं निहन्त्याशु श्वासकामगदानपि ।
 सृष्टः पित्तजं कुष्ठं मधुना मेहमेव च ॥
 पथ्यं टोषानुरूपेण बुद्धेन मुनिनोदितम् ॥ १०३ ॥

कपालाभं यद्रूपं परुषं तन् । कापालं तोदयन् तत् कुष्ठं विषमं स्मृतम् ॥” तथा
 “श्यावं क्षिण्यस्त्र्यंशं परुषं कटिमं स्मृतम्” इत्यनेन कापालकटिमयोः कृष्णता
 चरकादिभिः प्रदर्शिता । अथ कृष्णवर्णं कृष्णरोगे रक्तस्य कृष्णवर्णभावात् अङ्ग-
 कार्थम् । कृष्णोऽपीत्यादि यत्तु विचित्रमित्यन्तेन सम्बध्यते । पादोन्मितामामलकौ-
 निक्षिंरसापेक्षया चतुर्थभागप्रमिताम् । मासद्वयमिति ।—मासद्वयं यावत् अथवा
 विचित्रं यावता कालेन कृष्णवर्णता नश्येत् तावत्कालपर्यन्तमित्यर्थः, ससिताम्
 आमलकौ दद्यात्, समुद्रं सृष्टमप्रञ्च नियोज्यमिति सम्बन्धः । रसप्रयोगावसितौ
 इत्यत्र सर्वेष्वेव कुष्ठेषु इति शेषः । अङ्गानौति ।—स्रवनिःसृतानि स्रवः स्रवतोया,
 रुदन्तीति प्रसिद्धम् ; स्रवन्ती वा, सुष्ठुरीति प्रसिद्धं, तन्निःसृतानि पञ्चाङ्गानि
 पचपुष्पफलमूलत्वयुपाणि । पादोन्मितामौति रसापेक्षया बोध्यम् । रसेन्दुसारं त्वस्य
 राजभौलेश्वर इति संज्ञा ॥ ८८—८९ ॥

खगेश्वरे—वसा बलिवसा, गन्धक इत्यर्थः । खगः नाभिकं रसाञ्जनं वा ।
 कुटजान्वितः कुटजस्य त्वयसेन फलरसेन वा युक्तः, फल-त्वयोरुभयोरेव कुष्ठहरत्वात्
 अत्र यौगिकत्वं बोध्यम् ॥ १००—१०३ ॥

अथ कुष्ठनाशनः ।—

सूतभस्म द्विनिष्कं स्यादन्धकश्च चतुष्पलम् ।
 माषं चतुष्पलं चित्रं चतुर्विंशत् पलं भवेत् ॥१०४॥
 बाकुचीवीजचूर्णं स्याद्वादशघ्नं मरीचकम् ।
 सर्वमेकत्र संयोज्य निष्कद्वितयसन्मितम् ॥
 मधुना लेहयेत् प्रातः सर्वकुष्ठविनाशनम् ॥१०५॥

अथाऽऽरोग्यवर्द्धनी गुटिका ।—

रसगन्धकलोहाम्न-शुक्लभस्म समांशकम् ।
 त्रिफला द्विगुणा प्रोक्ता त्रिगुणश्च शिलाजतु ॥१०६॥
 चतुर्गुणं पुरं शुङ्गं चित्रमूलञ्च तत्समम् ।
 तिक्ता सर्वममा ज्ञेया सर्वं मञ्जुष्यं यत्नतः ॥१०७॥
 निम्बहृत्तदलाभोभिर्मर्दयेत् द्विदिनावधि ।
 ततश्च वटिका कार्या राजकोलफलोपमा ॥१०८॥
 मण्डलं सेविता सैषा हन्ति कुष्ठान्यशेषतः ।
 घातपित्तकफोद्भूतान् ज्वरान्नानाप्रकारजान् ॥१०९॥
 देया पञ्चदिने जाते ज्वरे रोगे वटो शुभा ।
 पाचनी दीपनी पथ्या हृद्या मेदोविनाशिनी ॥११०॥
 मलशुद्धिकरी नित्यं दुर्घर्षक्षुत्प्रवर्त्तिनी ।
 बहुनाऽत्र किमुक्तेन सर्वरोगेषु शस्यते ॥१११॥

कुष्ठनाशने—चित्रं चित्रकमूलम् । द्वादशघ्नं मरीचकं द्वादशान् द्वादशभागान्
 हन्ति इति व्युत्पत्त्या द्वादशपलानि इत्यर्थः, चतुर्विंशत्पलबाकुचीभानापेक्षया
 मरीचं द्वादशभागहीनं, तेन च द्वादशपलानि मरिचस्येति निष्कर्षः ; “द्वादशघ्नम्”
 इत्यत्र “द्वादशान्तम्” इति पाठः—द्वादश द्वादशपलानौत्वर्थः, अन्तम् अन्तिमं
 मरीचकम् अन्तस्थितस्य मरिचस्य द्वादशपलानौत्वर्थः । अत्र “द्वादशान्तम्” इति
 पाठो युज्यते ॥ १०४।१०५ ॥

आरोग्यवर्द्धनी—त्रिफला द्विगुणा इति त्रिफलायाः प्रत्येकं भागद्वयम् ।

आरोग्यवर्द्धनी नाम्ना गुटिकेयं प्रकीर्त्तिता ।

सर्वरोगप्रशमनी श्रीनागार्जुनयोगिना ॥ ११२ ॥

अथ नारायणः ।—

रसभस्म समानेन गन्धकेन समन्वितम् ।

तुल्यभागपुरीषेतं तुल्यत्रिफलाऽन्वितम् ॥ ११३ ॥

वातारितैलमयुक्तं सेवितञ्च पलोन्नितम् ।

भासेन नाशयेत् कुष्ठं दुःसाध्यमपि देहिनाम् ॥ ११४ ॥

जयं भगन्दरं शूलं मूलं गुल्मञ्च पाण्डिताम् ।

ग्रहणोच्च महाघोरां मन्दाग्निमपि दुस्तरम् ॥ ११५ ॥

एवंविधान् मद्भारोगान् विनिहन्ति न संशयः ।

श्लेष्मरोगान् हरेत् सर्वान् रसो नारायणाभिधः ॥ ११६ ॥

अथ मेदिनीसाररसः ।—

पलत्रयं सृतं लोहं सृतं शुल्बं पलत्रयम् ।

भृङ्गराजाम्बुगोमूत्र-त्रिफलाक्वथितैः पृथक् ॥ ११७ ॥

पुटेक्षिवारं यत्नेन ततस्तस्मिन् विनिक्षिपेत् ।

अत्यम्लकाञ्जिकं पश्चात् पचेद्दशमचतुष्टयम् ॥ ११८ ॥

ततश्च तुल्यगन्धेन पुटानां विंशतिं पचेत् ।

पलमात्रं सृतं सूतं रुद्रांशमसृतं तथा ॥ ११९ ॥

पुनं गुग्गुलुम् । तत्समं गुग्गुलुमसम् । तिक्ता कटुकी सर्वसमा सर्वचूर्णतुल्या ।

राजकोलफलोपमा हृद्बद्धरतुल्या ॥ १०६—११२ ॥

नारायणे—रसभस्म इति विशेष्यपदम् । रसभस्मादीनां सर्वेषां तुल्यभागता । मूलम् अशोषि । अत्र “विनिहन्ति न संशयः” इत्यमरं क्वचित् “भगन्दरत्रयञ्चापि त्रयञ्चापि विशेषतः । घण्टासेन जरा मृत्युं पलितं बलितं हरेत् ॥” इत्यधिकः पाठः ॥ ११३—११६ ॥

मेदिनीसाररस—रुद्रांशम् एकादशभागम् । लोहं ताक्षश्च भृङ्गस्वरसादिना पृथक् पृथक् मर्दयित्वा वारत्रयं गजपुटे पचेत् । ततः पुटितनौषधमादाय अत्यम्ल-काञ्जिकेन सह दशमचतुष्टयं पक्त्वा सर्वतुल्येन गन्धेन सह पुनः सम्यग्यं च गजपुटे विंशतिवारान् पचेत्, प्रतिपुटं गन्धकेन सह आच्छिद्यञ्च । ततः पुटादौषधमादाय

कटत्रयं समं सर्वैः पिष्ट्वा सम्यक् विधारयेत् ।
 रमोऽयं मेदिनीसारो नन्दिना परिकीर्तितः ॥१२०॥
 सेविता वल्लमानेन घृतत्रिकटुकान्वितः ।
 हन्ति कुष्ठानि सर्वाणि श्लेष्माणि विविधानि च ॥१२१॥
 गुल्मं प्लीहामयं हिक्कां शूलरोगं क्षयं तथा ।
 उदावर्तं महावातं कफं मन्दानलं तथा ॥१२२॥
 गलग्रहं मदोन्मादं कर्णदन्तामयं तथा ।
 सर्वाधिकं विषं घोरं व्रणं लूताभगन्दरम् ॥
 विद्रधिञ्चान्त्वहृदिञ्च शिरस्तोदञ्च नाशयेत् ॥१२३॥

वल्लमानेन पारदेन एकादशपलेन विषेण त्रिकटुना च सर्वतुल्येन सह मिश्रयित्वा
 व्यापयेदिति । महावातं मेदःकफाहतवातव्याधिम् । मदोन्मादं मदेन सह उन्मादम्
 अप्रवृत्तकण्ठोन्मादो मद “स चापवृत्तकण्ठो मदसंज्ञा विभातं च” इति मृशुत-
 सवादात् । लूताम कर्णनाभम्, कर्णनाभविषमित्यर्थः । लूताया ऐतिह्यं मृशुते
 यथा—“विश्वामित्रो नृपवरः कदाचिद्विषममम् । ब्रह्मिष्ठं कोपयामास तत्वाऽऽग्रम-
 पदं किल ॥ कुपितस्य मुनेस्तस्य ललाटात् स्वेदावन्दवः । अपतन् दर्शनादेव-
 मधस्तातोऽस्त्वर्चसः ॥ लूने दृष्टे महर्षीणां धेनुर्धं सम्भृतेऽपि च ।
 ततो जातास्त्विमा घोरा नानारूपा महाविषा ॥ अपकाराश्च वसन्ते
 नृपसाधनवाहने । यस्माद्भूतं दृष्टं प्राप्ता मुनेः प्रस्वेदावन्दवः ॥ तस्मात्प्राप्तास्तु
 भाष्यन्ते सङ्ख्यायां ताश्च बोद्धव्यः ॥.....॥ त्रिमण्डला तथा चैता कपिला पीतिका
 (पीतका) तथा । चाल (लाला) मूतविषा रक्ता कसना (कटिना)
 चाटनी क्षृता ॥ सौवर्चिका लालवर्णां कालिन्येषी (क) पदो तथा ।
 कृष्णाग्निवर्णां (कृष्णा) कालावर्णा (काला) च) मालागुणा (रज्ज) एतौ क्षृता
 (मता) ॥” इति । अत्र मधुकोवः,—“इति किल श्रुतिः, विन्धामित्रो नरपतिः
 कामधेनोर्वैवात्कारपरियद्वेष मुनिसत्तमं ब्रह्मिष्ठं कोपयात्कार । कुपितेन तेन
 अनाज्वलमधश्चोपानलस्रस्रलितं तद्धूलज्वलग्नमिव निरवहनपटलं खोचनद्वयं
 वक्षता भगवान् रविरवलीकृतः । ततस्तस्य भृकुटिकुटिलीकृतो भयङ्करो ललाटतट-
 प्रस्फन्दी स्वेदविन्दूत्करः प्रचखततः प्रत्यावृत्तलूनद्वेषे धेनुर्धमुपातो निपतितो लूता-
 ऽभूदिति” इति ॥ ११७—१२३ ॥

अथ जन्तुघ्नी गटिका ।—

सूतगन्धो समो ताभ्यां मण्डूरं सप्तमांशतः ।
 विधाय कज्जलीमाखु-कण्ठी सम्मर्दयेद्द्वयम् ॥१२४॥
 ततो मण्डूरमानेन क्षुद्रदीप्यं विनित्तिपेत् ।
 आरुष्करकषायेण दिनमेकं विमर्दयेत् ॥१२५॥
 ब्रह्मबीजं समुद्रस्य फलं जातोफलं तथा ।
 विषतिन्दुकबीजञ्च ताप्यं सर्वं समांशकम् ॥१२६॥
 विडङ्गं सममेतेश्च सूक्ष्मचूर्णं प्रकल्पयेत् ।
 रसतुल्यं द्रितं चूर्णं रसेन सह मेलयेत् ॥१२७॥
 वासा च निम्बत्वग्वंशो वेल्लव्योषाम्बुदं तथा ।
 एषां क्वाथेन सप्ताहं त्र्यहं मूर्वाऽऽदके रसे ॥१२८॥
 भावयित्वा चणप्रायाः कर्तव्या वटिकाः शुभाः ।
 अश्वनिम्बादिजक्वाथे प्रदत्तैका वटी शुभा ॥१२९॥
 पातयेज्जठराज्जन्तून् सर्वदेहगदान् हरेत् ।
 कुष्ठजन्तून्निहन्त्याशु द्वित्रिवारप्रयोगतः ॥१३०॥

जन्तुघ्नीगटिकायां—ताभ्यां मण्डूरं सप्तमांशतः मिलितसूतगन्धयोः सप्तमभागेकभागं मण्डूरचूर्णम् । आखुकण्ठाः, मूषिकपण्ठाः, रसेनेति शेषः । क्षुद्रदीप्यं क्षुद्रयमानौम् अजमोदानित्यर्थः । आरुष्करकषायेण भस्मातककायेण । ब्रह्मबीजं पलाश-बीजम् । समुद्रस्य फलं “समुद्रफल” इति प्रसिद्धम् । ब्रह्मबीजादीनां ताप्यान्तानां सर्वेषां रससमानता । विडङ्गञ्च ब्रह्मबीजादीनां मिलितचूर्णानां समम् । द्रितं चूर्णं द्रितकं ब्रह्मबीजादीनां चूर्णमित्यर्थः । वंशः वंशनेली । मूर्वाऽदके रसे मूर्वां “सूचमुखी” इति प्रसिद्धम्, आदकः “परहर” इति प्रसिद्धं, तदुल्लेखे रसे । अश्वेति । —अश्वनिम्बः “खी” डानिम” इति प्रसिद्धं, तस्य आदि मूलं तज्जक्वाथे मूलत्वक्-क्वाथै इत्यर्थः । जन्तून् क्रिमौन् । सर्वदेहगदान् सर्वांश्च शरीररोगानित्यर्थः । “सर्वदेहगतान्” इति पाठे—सर्वदेहगतान् सर्वस्मिन्नेव शरीरे सप्तातान् । कुष्ठजन्तून् कुष्ठजनकक्रिमौन् केशादादीनित्यर्थः, यदुक्तं वाग्भटे—“केशादा रोमविध्वंसा रोमहीपा कुक्षुम्बराः । षट् ते कुष्ठैककर्मायः सहस्रो रसमातरः ॥” इति ॥ १२४—१३० ॥

अथ धन्वन्तरिः ।—

सूतगन्धार्कसौभाग्य-कङ्कुष्ठं रक्तचन्दनम् ।
 कणा चैतानि तुल्यानि मर्दयेत्सुङ्गवारिणा ॥१३१॥
 एकाहमथ संशोथ स्थापयेदतियत्नतः ।
 रसो निःशेषकुष्ठघ्नो धन्वन्तरिरिति स्मृतः ॥१३२॥
 निर्दिष्टः शम्भुना सर्व-रोगभीतिविनाशनः ।
 पथ्याघृतयुतो वायुं सिन्धुविश्वान्वितोऽपि वा ॥१३३॥

अथ वज्रधारः ।—

वज्रसूताभ्रहेम्नाञ्च भस्म योज्यं समं समम् ।
 सर्वांशं तालकं तुल्यं शिग्रधुस्तूरजद्रवैः ॥१३४॥
 मर्द्यं सुहृत्कर्कजैः क्षीरैर्दिनैकञ्चाथ भावयेत् ।
 सप्ताहं बाकुचीतैलेस्तन्माषैकान्तु भक्षयेत् ॥
 वज्रधारो रसः ख्यातः सर्वकुष्ठनिघ्नन्तनः ॥१३५॥

अथ सर्वकुष्ठाङ्गुशः ।—

मुषलीबाकुचीबीजं निर्गुण्डोमूलतुल्यकम् ।
 मध्वाज्याभ्यां लिहेत् कर्षमनु स्यात् सर्वकुष्ठनुत् ॥१३६॥

धन्वन्तरी—सौभाग्यं टङ्गणम् । कङ्कुष्ठं स्वनामज्यातं, तदभावे श्वर्णक्षीरो यास्या ।
 सुङ्गवारिणा मातुलङ्गरसेन । पथ्येति ।—घृतहरीतकीभ्यां गुण्डीसेन्धवाभ्यां वा
 युतः धन्वन्तरिरसः वायुं, इत्यादिति शेषः ॥ १३१—१३३ ॥

वज्रधारे—वज्रं हीरकम् । सुहृत्कर्कजैः क्षीरैः सुहृत्क्षीरैः शर्कराक्षीरैश्च ।
 भावयेदित्यस्य बाकुचीतैलेः सप्ताहमित्यनेन सम्बन्धः ॥ १३४।१३५ ॥

सर्वकुष्ठाङ्गुशे—मुषली तालमूली, मुषलीबाकुचीबीजं निखिला निर्गुण्डी-
 मूलतुल्यम् ; “मुषलीबाकुचीबीजनिर्गुण्डीमूलमेव च” इति पाठे—मुषल्यादितयाणां
 समत्वम् । अमु इति वज्रधारसेवनात् पश्चात् लिहेदित्यर्थः ; अथवा—अमु-शब्दोऽव-
 सङ्गार्थे, मुषल्यादित्यर्थे कर्षे मध्वाज्याभ्याममु सङ्ग लिहेत् ; यद्वा—अमु समकाल-
 मेव, लेहनसमकालमेव इत्यर्थः, सर्वकुष्ठनुत् स्यात् । “मुषलीचूर्णम्” इति
 ब्राह्मणरमस्य ॥ १३६ ॥

अथ द्वितीयमहातालेश्वरः ।—

तालं ताप्यं शिला सूतं शुद्धं सैन्धवटङ्कणम् ।
 समांशं चूर्णयेत् खल्वे सूताद्विगुणगन्धकम् ॥१३७॥
 गन्धतुल्यं मृतं ताम्रं जम्बीरैर्दिनपञ्चकम् ।
 मर्द्यं षड्भिः पुटैः पाच्यं भूधरे सम्पुटोदरे ॥१३८॥
 पुटे पुटे द्रवैर्मर्द्यं सर्वमेतत् षट्पलम् ।
 द्विपलं मारितं ताम्रं लोहभस्म चतुष्पलम् ॥१३९॥
 जम्बीरास्त्रेन तत् सर्वं दिनं मर्द्यं पुटेऽष्टम् ।
 त्रिंशदन्तं पुटश्चास्य क्षिप्त्वा सर्वं विचूर्णयेत् ॥१४०॥
 महिष्याज्येन समिश्रं निष्काढं भक्षयेत् सदा ।
 मध्वाज्यैर्बाकुचीचूर्णं कर्षमात्रं लिहेदनु ॥
 सर्वकुष्ठं निहन्त्याशु महातालेश्वरो रसः ॥१४१॥

अथ द्वितीयकुष्ठकुठारः ।—

सूतभस्मसमं गन्धं मृतायस्ताम्रगुग्गुलुः ।
 त्रिफला विषशुण्ठी च चित्रकश्च शिलाजतु ॥१४२॥
 प्रत्येकं चूर्णितं कुर्यात् प्रत्येकं निष्कषोडश ।
 चतुःषष्टि करञ्जस्य बीजचूर्णं प्रकल्पयेत् ॥१४३॥

द्वितीयमहातालेश्वरे—सर्वमेतत् षट्पलं पुटपक्वस्यैतस्य रसस्य पलषट्कम् ।
 मर्द्यमित्यादि ।—जम्बीररसेन दिनपञ्चकं मर्दयित्वा मूषायां संस्थाप्य च भूधरयन्त्रे
 पचेत्, ततो निष्कास्य पुनः जम्बीररसेन दिनपञ्चकं मर्दयित्वा पूर्ववत् पचेत्,
 एवं षड्वारान् कुर्यात् । त्रिंशदिति ।—जम्बीरास्त्रेन दिनं मर्दयित्वा लघुपुटे
 पचेत्, एवं त्रिंशत्पुटे दद्यादित्यर्थः । “त्रिंशदन्तं पुटश्चास्य” इत्यत्र “त्रिंशदंशं
 विषश्चास्य” इति रसरत्नाकरादिपाठः समीचीनः । योगोऽयं प्रायेणानुरूपः
 पूर्वोक्तमहातालेश्वरस्य ॥ १३७—१४१ ॥

द्वितीयकुष्ठकुठारे—“विषशुण्ठी” इत्यत्र “मृद्वानिष्कः” इति रसेन्द्रचिन्तामणि-
 रसेन्द्रसारमङ्गलधृतपाठः । रसरत्नाकरे तु “विषमुष्टिः” इति पाठः । “प्रत्येकं
 चूर्णितम्” इत्यत्र “इत्येतच्चूर्णितम्” इति पाठान्तरम् । चतुःषष्टि इत्यत्र निष्कानिषि

चतुःषष्टि मृतं ताम्रं मध्वाज्याभ्यां विलोडयेत् ।

स्निग्धभाण्डगतं खादेद्विनिष्कं सर्वकुष्ठजित् ॥१४४॥

रसः कुष्ठकुठारोऽयं गलत्कुष्ठनिकृन्तनः ।

पथ्यं त्रिमधुरैर्दद्यात्तदभावे गुडौदनम् ॥१४५॥

पातालगरुडीमूलं मधुपुष्पीञ्च धान्यकम् ।

सितया भक्षयेत् कर्षमतितापप्रणुत्तये ॥

लिङ्गान्नागबलामूलं मध्वाज्येर्वान्तितापनुत् ॥१४६॥

अथ वज्रतैलम् ।—

वज्रक्षीरं रविक्षीरं धुस्तूरं चित्रकद्रवम् ।

महिषीविड्भवं द्रावं सर्वांशं तिलतैलकम् ॥१४७॥

पचेत्तैलावशेषन्तु तत्तैलं प्रस्थमात्रकम् ।

गन्धकाग्निशिलातालं विडङ्गातिविषाविषम् ॥१४८॥

तिक्तकोशातकी कुष्ठं वचा मांसी कटुत्रयम् ।

हरिद्रादारु यष्ट्याहं सर्जिच्छारश्च जोरकम् ॥१४९॥

शेषः । मृतं ताम्रमपि चतुःषष्टिनिष्कम् ; एवञ्च ताम्रभागः अशोतिनिष्कः यास्त्यः । रसेन्द्रबिलानप्यादिषु तु “ताम्रम्” इत्यत्र “अभ्रम्” इति पाठान्तरं समीचीनं, ताम्रभागस्यातिबाहुल्यात् । त्रिमधुरैः सितार्चोदाज्यैः, तदुक्तं—“सितामाश्लक्ष्ण-
रूपीषि मिलितानि यदा तटा । मधुरपथमाख्यातं त्रिमधु स्यात् मधुत्रयम् ॥” इति. “मृतं गुडो माक्षिकश्च विज्ञेयं मधुरत्रयम्” इति च । पातालगरुडीमूलं पातालगरुडी क्षिप्तक्षिप्टः तस्या मूलम् । “पातालगरुडीमूलम्” इत्यत्र “पञ्चाङ्ग-
तखुलीमूलम्” इति रसरत्नाकरं पाठः । मधुपुष्पीञ्च अवाक्पुष्पी, “चोरकुली” इति प्रसिद्धा, दन्तीमूलं वा । अतितापप्रणुत्तये औषधसंवनजनितसन्तापनिवृत्तये इत्यर्थः, एवं वान्तितापनुत् इत्यस्यापि अर्थो बोध्यः ॥ १४२—१४६ ॥

वज्रतैलं—वज्रक्षीरं सुडौक्षीरम् । धुस्तूरं, धुस्तूरद्रवम् । सर्वांशं सर्वतुल्यं, तैलं वज्रक्षीरादीनामेकैकभागः तिलतैलञ्च च पञ्च भागाः । रसरत्नाकरं तु—
“महिषीविड्भवं द्रावं सर्वांशं तिलतैलकम्” इत्यत्र “सर्वांशं तिलतैलञ्च
त्रोमूलेषु समं पचेत्” इति पाठान्तरं, तत्र—वज्रक्षीरादीनि मिश्रित्वा तैलतुल्यानि

कर्षांशं देवकाष्ठञ्च क्षूणं तैले विमिश्रयेत् ।

वज्रतैलमिदं ख्यातं मर्दनात् सर्वकुष्ठनुत् ॥१५०॥

अथ स्वर्णक्षीरः ।—

क्षिप्वा तक्रघटे पच्यात् काञ्चनीपलपञ्चकम् ।

तत्रो जीर्णं समुद्धृत्य पुनः क्षीरघटे पचेत् ॥१५१॥

क्षीरे जीर्णं समुद्धृत्य जलैः प्रक्षाल्य शोधयेत् ।

तच्छूर्णितं पञ्चपलं मरिचानां पलद्वयम् ॥१५२॥

पलैकं मूर्च्छितं सूतमेकीकृत्य तु भक्षयेत् ।

निष्कैकं सुप्तकुष्ठार्चः स्वर्णक्षीररसो ह्ययम् ॥१५३॥

अथ महाभस्माततैलम् ।—

यन्नाह्विखण्डितं कुर्याद्भस्मातशतपञ्चकम् ।

क्षिप्वा पच्याच्छनेर्वङ्गी तैले द्वादशपालिके ॥१५४॥

यावत्तरन्ति ते पक्त्वा तत्तैलं पाचयेत् पुनः ।

मधुपाके तु सम्प्राप्ते ह्यवतार्य्य तु तत्क्षणात् ॥

सर्वकुष्ठानि हन्त्याश्च महाभस्माततैलकम् ॥१५५॥

शोमूषञ्च तैलाश्चतुर्गुणम् इति । तिक्तकोशात् तैलाश्चतुर्गुणः, “तित्प्योर्त्ना” इति आवा । हरिद्रादाक दाकहरिद्रा ; “हरिद्रादाक” इत्यत्र “दाकहरिद्रा” इति पाठो न युज्यते कन्दोभङ्गप्रसङ्गात् । गन्धकादीनां देवकाष्ठानां प्रत्येकं कर्षप्रमाणं क्षूणं तैले दत्त्वा आलोड्य स्थापयेत् । अकल्कमिदं तैलम्, “अकल्कोऽपि भवेत् क्षेपः यः साध्यः केवले द्रवे” इति वचनात् ॥ १४७—१५० ॥

स्वर्णक्षीर—तक्रघटे द्रोणप्रमिते तत्रो । काञ्चनी स्वर्णक्षीरी । जीर्णं शुष्कं इत्यर्थः । मूर्च्छितं सूतं कज्जलीभूतं पारदम् ; तथा च रसेन्द्रसारसङ्ग्रह—
“गन्धकेन रसं प्राज्ञः सुदृढं मर्दयेत् भिषक् । कज्जलाभो यदा सूतो विहाय घन-
चापलर्धं ॥ दृश्यतेऽसौ तदा ज्ञेयो मूर्च्छितो रसकोविदेः ॥” इति ; स्वतन्त्रेऽप्युक्तं—
“मर्दनादिष्वभेदज्येनेष्टपिष्टत्वात्कम् । तन्मूर्च्छनं हि वङ्गादि-मलादिदोषनाशनम् ॥”
इति ॥ १५१—१५२ ॥

महाभस्माततैले—भस्मातशतपञ्चकं भस्मातकशुद्धं पञ्चशतसङ्काकम् । तैले

अथ तैलीक्यविजयतैलम् ।—

रसं गन्धं विषं तालं स्वर्णक्षीरी रुदन्तिका ।
वरुणास्त्रेण सञ्चुण्य प्रतिनिष्कड्यं द्वयम् ॥१५६॥
क्षिपेत्तस्मिन् विंशोऽध्याय क्रमान्निष्कं सटा लिहेत् ।
तैलीक्यविजयं तैलं सर्वकुष्ठहरं ध्रुवम् ॥१५७॥

अथ महामार्तण्डतैलम् ।—

शार्कं निम्बाङ्गोक्षवङ्गि-राजवृक्षाक्षस्रग्भवम् ।
गर्भशुष्कं शुभं खण्डं नारिकेलप्रियालकम् ॥१५८॥
वातारिचक्रमदंस्व वीजं बाकुचिजं तथा ।
समं पातालयन्त्रेण तैलं ग्राह्यं प्रयत्नतः ॥१५९॥
प्रस्थौ द्वौ तिलतैलस्य कुष्ठचूर्णं पलद्वयम् ।
स्वर्णक्षीरोपलेकश्च क्षिप्त्वा पक्त्वाऽवतारयेत् ॥१६०॥
पूर्वतैले चतुष्प्रस्थे तैलीभूते विनिक्षिपेत् ।
महामार्तण्डतैलाऽयं लेपात् कुष्ठं नियच्छति ॥
अतिकण्डूं क्षमिं पाकं स्फोटकानि च नाशयेत् ॥१६१॥

कटुतैले । द्वादशपालिके द्वादशपलप्रमिते । तरन्ति उत्प्लवन्ते । मधुपाके पुनः ।
पाकात् यदा मधुवर्णं मधुवद्गन्धं जायते तदा इत्यर्थः ॥ १५४-१५५ ॥

तैलीक्यविजयतैले—“स्वर्णक्षीरी रुदन्तिका” इत्यत्र “स्वर्णक्षीरी च दन्तिका”
इति पाठान्तरम् । वरुणास्त्रेण मटोनेत्यर्थः ; अस्त्रजलेन वा, काञ्जिकेनेत्यर्थः ।
तस्मिन् पूर्वोक्तमहाभक्तातैले ॥ १५६-१५७ ॥

महामार्तण्डतैले—शार्कमित्यस्य बीजमित्यनेनान्वयः, शार्कः मरुजद्रुमविशेषः,
“शेगुन्” इति ख्यातं, तद्वर्णं बीजमित्यर्थः । वङ्गिः भङ्गातकः, राजवृक्षः चारुवधः,
अथः विभीतकः, सुक् सुह्री एषां बीजम् । गर्भेति ।—गर्भशुष्कम् आवरणायनरि
स्वयमेव शुक्लमित्यर्थः, नारिकेलप्रियालकं नारिकेल-प्रियालफलसम्बन्धि शुभं प्रशस्तं
पूतिदाषादिरहितमित्यर्थः, खण्डम् । वातारिचक्रमदंस्व वातारिः परण्डः अक्रमदः
“बाकुन्दा” इति प्रसिद्धं, तस्य । समं समभागम् । पातालेति ।—पातालयन्त्र-
विधिषु प्रयोगे प्रदर्शितः । पूर्वतैले शार्कादिवीजानां तैले । तैलीभूते पाक-

अथ काञ्चनीतेलप्रयोगोपदेशः ।—

कुष्ठञ्च काञ्चनीतेलेर्मद्याक्षिप्यं सुघर्षितम् ॥१६२॥

अथ शुष्ककण्डूहरकामाख्यादिलेपः ।—

कुमारोमैन्धवं लेप्यं शुष्ककण्डूहरं परम् ॥१६३॥

अथ विपादिकाया सैन्धवाटलेपः ।—

सैन्धवेन महामुण्डो-लेपो हन्ति विपादिकाम् ॥१६४॥

अथ कण्डूवृणादौ शिलादिः ।—

शिला शम्भुवीजं वरं कुष्ठगन्धं

मरीचं तथा जीरकं देवधूपः ।

निशा सपिषा मर्दितो मन्दवारि

हरत् कायकण्डूवृणस्फोटगण्डान् ॥१६५॥

अथ कुष्ठालपर्पटी ।—

पलैकं शुद्धसूतस्य कर्षैकं शुद्धगन्धकम् ।

गन्धतुल्यं मृतं ताम्रं सूतशं मर्दयेद्विषम् ॥१६६॥

सिद्धिलक्षणे समुदितं सुतीत्यर्थः । विनिलिपेत, सुभाजने इति शेषः । चादौ
• पातालयन्त्रेण शाकादिवीजैः तैलं निष्काश्य, चतुःप्रव्यमिते तस्मिन् तिलतैलादिकं
यथोक्तमानं दत्त्वा पचेत्, सुमिदं च चवतार्य सुभाजने व्यापयेदिति ॥१५८—१६१॥

काञ्चनीतेलप्रयोगोपदेश—काञ्चनीतेलेः स्वर्णक्षोरीवीजोत्पलेः सह कुष्ठं तदा-
प्योषधविशेषं मर्द्यात्, ततः कुष्ठं व्याधिं सुघर्षितं मोजीशाखोटकादिपत्रैः सुलिखित-
मित्यर्थः, कृत्वा लेप्य, काञ्चनीतेलस्य कुष्ठेनेति शेषः ; यदा—काञ्चनीतेलेः कुष्ठं
कुष्ठव्याधिं मर्द्यात्, मर्द्यात् इति प्रयोगस्तु शिष्टप्रयोगानुसारान् सङ्गोपः ; तथा
सुघर्षितं कुष्ठं लेप्यं, काञ्चनीतेलेरेवेति बोध्यम् ॥ १६२ ॥

कामाख्यादिलेपे—शुष्ककण्डूः सावादिविरहितकण्डूरित्यर्थः ॥ १६३ ॥

सैन्धवाटिलेपे—महामुण्डो महाश्यामिका ॥ १६४ ॥

शिलादौ—शिला मग्नः शिला । शम्भुवीजं पारदः । वरं कुष्ठं सैन्धवं वा ।
देवधूपः सर्जरसः । मन्दवारि शमैश्वरवासरे । कायकण्डूः काशी मध्यदेहः तद्गतकण्डूः ।
“काय” इत्यत्र “कोठ” इति पाठान्तरम् । लेपविषया अर्थं धीमः ॥ १६५ ॥

सर्वतुल्यं पुनर्गन्धं दत्त्वा किञ्चिद्विशोषयेत् ।
 घृताभ्यक्ते लोहपात्रे पश्चाद्यावद्बुधो भवेत् ॥१६७॥
 रन्नापत्रे पटे वाऽथ पातयेत् पर्पटीं तदा ।
 माषैकं चूर्णितं खाटेऽज्जचर्म नियच्छति ॥
 निष्कैकं बाकुचीचूर्णं लेहयेदनुपानकम् ॥१६८॥

अथ काशीशबद्धो रसः ।—

पलं रसं हि काशीशैर्युतं पञ्चगुणैः सह ।
 भर्दयेद्यामपर्यन्तमर्जुनस्य त्वचो रसैः ॥१६९॥
 शरावसम्पटे रुद्धा पुटेत् क्रौडपुटेन हि ।
 रसः काशीशबद्धोऽयं मधुना वल्लतुल्यकः ॥१७०॥
 शाणबाकुचिकायुक्तः सेवितो हन्ति निश्चितम् ।
 त्रिभिर्मसैः किलामं हि दद्रूण्यपि विशेषतः ॥१७१॥

अथ द्वितीयसर्वेश्वरः ।—

शुद्धसूतं चतुर्गन्धं खल्ले यामं विमर्दयेत् ।
 मृतताम्राभ्रलोहानि हिङ्गुलञ्च पलं पलम् ॥१७२॥
 सुवर्णं रजतञ्चैव प्रत्येकं दशनिष्ककम् ।
 माषैकं मृतवज्रञ्च तालसत्त्वं पलद्वयम् ॥१७३॥
 जम्बूरोन्मत्तवासाभिः स्रृङ्गैर्कविषमुष्टिभिः ।
 मर्द्यं हयारिजैर्द्रावैः प्रत्येकेन दिनं दिनम् ॥१७४॥
 एवं सप्तदिनं मर्द्यं तद्गोलं वस्त्रवेष्टितम् ।
 बालुकायन्त्रगं स्वेद्यं त्रिदिनं लघुनाऽग्निना ॥१७५॥

कुष्ठान्तर्पण्या—गजचर्म चर्मकुष्ठम् ॥ १६६—१६८ ॥

काशीशबद्धरसे—रसं रससिन्दूरम् । क्रौडपुटेन वराहपुटेन ॥ १६९—१७१ ॥

द्वितीयसर्वेश्वरे—शोधितरसस्य पञ्चमानता बोद्धव्या, समनन्तरमेव तासादीनां समानतादर्शनात् “भाषेऽथगुक्ते समता विधीया” इति परिभाषावशाच्च ;

आदाय चूर्णयेत् सूक्ष्मं पल्लिकं योजयेद्विषम् ।

द्विपलं पिप्पलीचूर्णं मिश्रं सर्वश्वरो रसः ॥१७६॥

द्विगुच्छं भक्षयेत् क्षौद्रैः सुप्तिमण्डलकुष्ठजित् ।

वाकुचीं देवकाष्ठञ्च कर्षमात्रं सुचूर्णितम् ॥

लिहदेरण्डतेलेन ह्यनुपानं सुखावहम् ॥१७७॥

अथ योगराजगुग्गुलुप्रयोगोपदेशः ।—

गुग्गुलुर्योगराजो वा योज्यो मण्डलशान्तये ॥१७८॥

अथ शिवलक्षणम् ।—

शिवत्रन्तु क्षण्णमरुणं मरुदस्रगामि

पित्तेन रोमशतनञ्च विदाह्विताञ्च ।

मांसाश्रितं बहुसितं कफतः सकण्डु,

मेदोगतं बलवदेव यथोत्तरं स्यात् ॥१७९॥

एवञ्च गन्धस्य पल्लवतुल्यं यावत् इति । उन्मत्तः धुलूरः । ह्यारिजैः कर-
बीरजैः ॥ १७२—१७७ ॥

मण्डलकुष्ठं अधिकारान्तरोक्तमौषधविशेषमुपदिशति, गुग्गुलुरिति ।—वा-शब्दः
पूर्वयोगापेक्षया ; मण्डलकुष्ठशान्तये सर्वश्वरः योज्यः वक्ष्यमाणवातव्याध्यधिकारोक्तः
योगराजो गुग्गुलुर्वा योज्यः इति ॥ १७८ ॥

तुल्यभिदानत्वात् कुष्ठचिकित्सानन्तरं शिवचिकित्सितं विवक्षुस्तस्य लक्षणमाह,
शिवमिति ।—मरुता वातेन असं रक्तं दृष्यमिति यावत्, गच्छतीति तथाभूतं, वातेन
रक्तगतमित्यर्थः । मरुत्-शब्दाऽथ समासान्तर्गतोऽपि पृथगन्वेतव्यः । वातात्
शिवं रक्ताश्रितं क्षण्णम् अरुणञ्च भवेत् इति योजनीयम् । “क्षण्णम्” इत्यत्र “अरुणम्”
इति पाठः वाग्वटसम्मतः । तथा पित्तेन दोषेण शिवं रोमशतनं, शतनमिति कुन्दो-
ऽनुरोधात् क्लृप्तं, शतनमित्यर्थः, एवञ्च रोमशतनं रोमविच्छेदनं, तथा विदाह्विताञ्च,
कुक्ष्मादिति शेषः । तच्च मांसाश्रितं मांसधातुमाश्रित्य वर्णते इत्यर्थः, तथा कमल-
पत्रवत् वर्णतः ताम्रञ्च भवति वाग्वटसंवादात् । कफतः कटुसितं सुगुधं, सकण्डु-
ञ्च, तच्च मेदोगतं मेदाश्रितम् । यथोत्तरम् उत्तरीयार्थं, रक्तमतात् शिवात् मांसगतं
मांसवताञ्च मेदोगतमित्यर्थः, बलवदेव क्लृप्ताध्यमेवैत्यर्थः, स्यात् । वाग्वटोऽप्युक्तः—
“वातादृक्कण्ठं पिपासासं कमलपत्रवत् । सदाहं रोमविच्छिन्नं कफात् श्वेतं

अथ शिवारिः ।—

काशीशरसगन्धानि मर्दयेत् सुरसारसैः ।
सम्पुटे पुटयेत्त्वा चाङ्गेरोमधरोत्तरम् ॥१८०॥
सर्वमेतच्च सच्चूर्णं तण्डुलान् दश सप्त वा ।
आरभ्य वर्द्धयेद्यावत् पञ्चषष्टि क्रमेण हि ॥१८१॥
अनुपानाय मध्वाज्यं दध्याज्यं नवनोतकम् ।
धात्रार्द्रकरमैश्वैव तिन्दुकं कदलीफलम् ॥
शिवारिसंज्ञितो ह्येष चित्रकुष्ठानिमूदनः ॥१८२॥

अथ शिवे निम्बादिचूर्णम् ।—

निम्बपत्रनिशाकृष्णा-बाकुचीवोजकं समम् ।
चूर्णयित्वा पिबेद्दुग्धैः प्रभाते शिवत्रनाशनम् ॥१८३॥

अथ शिवकुष्ठारिः ।—

रसगन्धकतुल्याकं बाकुचीक्वाथमर्दितम् ।
सेवितं सोमतेलेन शिवकुष्ठं नियच्छति ॥१८४॥

घनं गुरु ॥ सकण्डूः क्रमात् रक्त-सांसमेदःसु चादिशत् । वर्धयेत्पुटयुभयं कृच्छ्रं
तद्योतरोत्तरम् ॥” इति ॥ १८० ॥

शिवारो—सुरसारसैः तुलसीपत्ररसैः । चाङ्गेरोम् अम्बरोलीम् । दश सप्त
वा इति विकल्पस्तु दोषव्याधिबलाबलानुसारात् अवधातव्यः । चित्रकुष्ठम् इति
शिवस्त्रैव नामान्तरम् । “चित्र” इत्यत्र “शिव” इति पाठान्तरम् । अयमर्थः,—
काशीशादिकं समभागं तुलसीपत्ररसेन मर्दयित्वा मृषायामधरोत्तरं दशस्य अम्बरोली-
चूर्णस्य काशीशादितुल्यस्य मध्ये संस्थाप्य च गजपुटे पचेत्, ततः सर्वमेव मेषजं
पुटादाकृष्य सच्चूर्णं च सप्ततण्डुलमानेन दशतण्डुलमानेन वा आरभ्य एकैक-
तण्डुलहस्ता पचषष्टितण्डुलं यावत् वर्द्धयेत्, अनुपानार्थं मध्वाज्यादीनामेकतमञ्च
पिबदिति ॥ १८०—१८२ ॥

निम्बादिचूर्णं—सर्वं सुगमम् ॥१८३॥

शिवकुष्ठारो—सोमतेलेन सोमं रक्तचन्दनं तस्य तैलेन, सीमः सीमराजी वा,
नामैकदेशपद्वयेन नामसाक्ष्यवद्वयनियमात् ॥ १८४ ॥

अथ चन्द्रप्रभा वटिका ।—

पिष्टो निम्बुकुगोमयूरसलिले सार्द्धं रसो गन्धकात्
मूषायां घननादपिण्डमहितं पक्वं करोषे तिलान् ।
बाकुच्याश्च फलानि गोजलकृता चन्द्रप्रभेति श्रुता
खिलं तक्रभुजो निहन्ति वटिका चाराम्भतैलं त्यजेत् ॥ १८५ ॥

अथ ताम्रलिप्तकज्जली ।—

रसद्विगुणगन्धकं त्रिगुणताम्रलिप्तं पचेत्
गृहीतमनु कज्जलीं खटिरबाकुचीनिम्बजैः ।
रसैः पुटविपाचितं समलयाकषायं पिबेत्
किलासमरुणं सितं जयति शुद्धतक्राग्निनः ॥ १८६ ॥

चन्द्रप्रभायां—निम्बुकुगोमयूरसलिले निम्बुकरसे गोमयूरयोः मूत्रे च पिष्टः
गन्धकात् गन्धकभागापेक्षया सार्द्धः सार्द्धभागः रसः पारदः, यास्त्य इति शेषः ; नेन
गन्धकस्य एकः रसस्य च सार्द्धकभागे यास्त्यः । ततः घननादपिण्डमहितं घननादः
मेषनादः, तण्डुलीयमूलमित्यर्थः, तत्पिण्डमहितं तत्कल्कमध्ये निहितमित्यर्थः,
मूषायां करोषे करोषाग्रौ, पक्वं, तं रसगन्धकमिति शेषः, तिलान् बाकुच्याः फलानि
अथ प्रत्येकं पक्षौषधतुल्यानि, पक्षौकृत्य इति शेषः, गोजलकृता गोमूत्रमर्दिता, चन्द्र-
प्रभेति श्रुता वटिका इत्यन्वयः ॥ १८५ ॥

ताम्रलिप्तकज्जल्यां—त्रिगुणताम्रलिप्तं रसापेक्षया त्रिगुणताम्रपत्रे लिप्तम् । पचेत्
गजपुटे पचदित्यर्थः । अमु पश्चात् पाकानन्तरं, गृहीतं, पुटात् वद्विष्णुत्य इति शेषः,
कज्जलीम् ; गृहीतं विपाचितमिति कज्जलीविशेषणयोः पुंलिङ्गतानिदेशस्य सङ्गाजन-
प्रयोगात् साधुत्वमवगन्तव्यम् । “कज्जलीम्” इत्यत्र “कज्जलम्” इति साधुः ।
खटिरादीनां रसैः मर्दयित्वा पुटविपाचितं पुनः गजपुटे पक्वं तं, समलयाकषायं
मलया सोमराजी तत्कषायमहितम् । किलासमिति ।—“किलासमेव मांसमेदः-
समाश्रयणात् अरुणं श्वितञ्च भण्यते” इति मधुकीषः, विलारस्तु तदेव मृग्यः ।
सितं श्वितम् । शुद्धतक्राग्निनः केषलसक्रोष सहासभोजिनः, न तु व्यञ्जनालरेषे-
त्याश्रयः ॥ १८६ ॥

अथोदयादित्यः । —

शुद्धसूतं द्विधा गर्भं मर्द्यं कन्याद्रवैर्दिनम् ।
 तद्गोलं हृण्डिकामध्ये ताम्रपात्रेण राधयेत् ॥ १८७ ॥
 सूनकाङ्घ्रिगुणेनैव शुद्धेनाधोमुखेन वै ।
 पार्श्वे भस्म निधायथ पात्रेऽर्धे गोमयं जलम् ॥ १८८ ॥
 किञ्चित् किञ्चित् प्रदातव्यं चुल्लगां यामहयं पचेत् ।
 चण्डाग्निनोद्धृत्य ततः स्वाङ्गशीतं विचूर्णयेत् ॥ १८९ ॥
 काकाङ्गुस्वरिकावार्क-त्रिफलाराजहृत्ककम् ।
 विडङ्गं बाकुचोवोजं काथयेत्तेन भावयेत् ॥ १९० ॥
 दिनेकमुदयादित्यो रसो भक्ष्यो द्विगुञ्जकः ।
 खदिरस्य कषायेण बाकुचोवोजचूर्णकम् ॥ १९१ ॥
 तुल्यं मृद्वग्निना पिण्डं जातं यावत् पचेल्लघु ।
 त्रिनिष्कं तत् रविचौरैः काथैर्वा त्रैफलैरनु ॥ १९२ ॥
 त्रिदिनान्ते भवेत् स्फोटः सप्ताहे वा न संशयः ।
 नीलीं गुञ्जाञ्च काशोशं धुस्तूरं हंसपादिकाम् ॥ १९३ ॥
 सूर्यावर्तञ्चाम्बपणीं-तुल्यं पिष्ट्वा प्रलेपयेत् ।
 स्फोटस्थाने प्रशान्त्यर्थं सप्तरात्रं पुनः पुनः ॥
 श्वेतकुष्ठं निहन्त्याशु साध्यासाध्यं न संशयः ॥ १९४ ॥

उदयादित्ये—राजहृत्ककम् पारस्वधम् । खदिरस्य कषायेण चतुर्गुणेनेत्याशयः,
 तुल्यं खदिरतुल्यं बाकुचोवोजचूर्णकम् । केचित् खदिरस्य कषायेण तुल्यं बाकुचोवोज-
 चूर्णकमित्यन्वेति, तदयुक्तम्; काथचूर्णयास्तुन्यतायां पाकानुपपत्तेः । सूर्यावर्तम्
 आदित्यभक्ता “हुडहुडे” इति देशभाषया प्रसिद्धम् । अम्बपणीं तुल्यम् अम्बपणीं चाङ्गेरी
 चुक्रिका वा, तत्तुल्यम् । “अम्बपणीं” इत्यत्र “ताम्बपणीं” इति पाठान्तरम् । अयमर्थः,
 —कन्यारसमर्दितं रसगन्धपिष्टं हृण्डिकायां संस्थाप्य सूतात् द्विगुणमितशुद्धताम-
 निर्भूतपात्रविशेषेण अधोमुखेन आच्छाद्य च सन्धिं निरोधयेत्, ततः तत्पार्श्वे
 पालाशादिभस्म निधाय ताम्रपात्रस्य उत्तरार्धे किञ्चित् किञ्चित् गोमयमिदं जलं सिञ्चेत्,
 एवं चुल्लगां तीक्ष्णपिण्डा प्रहरण्यं पक्वा स्वाङ्गशीतसाहाय्यं विचूर्णयेत्, काकोङ्गुस्वरिका-

अथ अल्पान्धिते शिलादिलेपः ।—

अल्पं श्वेतं निघृण्याऽऽदौ रक्तमण्डलपल्लवैः ।

शिलाऽपामागेभस्मापि लिप्त्वा श्वित्रं विनाशयेत् ॥१८५॥

अथ अङ्गोलतैलादिलेपद्वयम् ।—

लेपो वाऽङ्गोलतैलेन काञ्चन्या काञ्चिकेन वा ।

गुञ्जाफलाग्निमूलञ्च लेपितं श्वेतकुष्ठजित् ॥१८६॥

अथ चतुर्गुणगन्धककञ्जली ।—

सूते पले भूधरयन्त्रमध्ये सञ्चारयेन्नन्यपलं ततश्च ।

सूतेन गन्धस्य पलत्रयञ्च दत्त्वाऽथ निम्बवृक्षसैर्विमर्द्य ॥१८७॥

स्वरांशिकाबाकुचिकाग्निभृङ्ग-कोरण्टनीरेः परिमर्दयेत् ।

दिनैकमेकं कटुतुम्बनीजलेर्मर्द्यं ततः काञ्चनकूपिकान्तः ॥१८८॥

निक्षिप्य भाण्डे सिकतीदरान्तर्यामद्वयं खेदय तं ततश्च ।

ददौत वल्लद्वयमस्य कृष्ण-पर्णेन साङ्गे त्वथवा तदर्द्धम् ॥१८९॥

दौनां मिलितानां कृषेन दिनैकं मर्दयित्वा स्थापयेत् । तच्च रसं द्विगुञ्जं भक्षयित्वा
खदिरकाथपाचितबाकुचीचूर्णनिष्कावयभक्त्योरेः विफलाकषायेर्वा अनुपिबन्तु, तेन च
दिनत्रयान्तं सप्ताहान्ते वा श्वित्रोपरि स्फोटो भविष्यत्येव । जाते च ताम्रम् तत्प्रशमाय
नील्यादिकं समभागं पिष्ट्वा सप्ताहं यावत् स्फोटं लिम्पेदिति ॥१८७—१८८॥

शिलादिलेपे—अल्पम् अप्रवृद्धं, नवमित्यर्थः, श्वेतं श्वेतकुष्ठम् ; यद्वा—श्वेतम्
अल्पं निघृण्य इति योजना कार्या । रक्तमण्डलपल्लवैः रक्तलज्जावतीपदैः रक्त-
करवीरपदैर्वा । शिला मनःशिला ॥ १८५ ॥

अङ्गोलतैलादिलेपद्वये—काञ्चन्या स्वर्णचोरीबीजेन, अङ्गोलतैलेन सह पिष्टेन
स्वर्णचोरीबीजेन लेपः इत्यर्थः । काञ्चिकेन वा गुञ्जाफलाग्निमूलञ्च इति द्वितीयो
लेपः, अग्निमूल चित्रकमूलम् ॥ १८६ ॥

चतुर्गुणगन्धककञ्जल्यां—गन्धपल्लमित्यत्र दत्त्वा इति शेषः । दत्त्वा निक्षिपित्व्यर्थः ।
स्वरांशिका सप्तभागः, सप्तगुण इत्यर्थः ; देशान्तरप्रसिद्धः कोषधिविशेषः स्वरांशिका
इति केचित्, सप्तपत्र इत्यन्ते । कोरण्टनीरेः कुरण्टः कुटजः तद्वनीरेः
कौटजत्वपरित्यक्तः । “काञ्चनकूपिकान्तः” इत्यत्र “काचसुकूपिकान्तः” इति

पलाशमूलं त्वनुपाययीत तन्नेण साङ्गं ददौत पथ्यम् ।

उष्णे क्षिपेत्तैलविमर्दितञ्च स्फोटा यदि स्थः सहसा च गात्रे ॥२०७॥

अथ श्वेतारियोगः ।—

पलत्रयं गन्धकभृङ्गकणा-तिलोत्थतैलं कटुतुम्बिनी च ।

भक्ष्णान्तैलं कटुनिम्बवोजं सर्वं समानं परिभावयेत् ॥२०८॥

त्रिःसप्तकं भृङ्गरसैस्तु तोयं श्वेतारियोगः समुपैति सिद्धिम् ।

पलाङ्गमानेन ददौत चामुं सिताष्टताक्तं दिनजन्मकाले ॥२०९॥

विवर्जयेत् शूराणामाषमांस-वृन्ताकमुद्गानि कषायकादि ॥२१०॥

अथ कृष्णीकरणयोगः ।—

कुमार्गजन्तीनुरपचसागरैर्वरुष्टिशाभास्करलोकभासया ।

कल्कोक्तं यन्मधुना च संयुतं करोति तारं भ्रमरप्रभञ्च तत् ॥२११॥

पाठान्तरम् । उष्णे आतपे घर्मे इत्यर्थः । अथमर्थः,—पारटपलं गन्धकपलञ्च एकौत्थत्
भृङ्गरयन्त्रं पचेत्, ततः पाकमिद्धेन तेन पारटेन सङ्घ पलत्रयं गन्धकं पुनर्मिश्रयित्वा
निम्बुरसेन मर्दयेत् । ततो वाक्चिकाटीनां प्रत्येकरसेन कज्जल्यपेक्षया सप्तगुणेन
एकमेकं दिनं, तित्ततुम्बीरसेन च दिनमेकं मर्दयित्वा स्वर्णपात्रे काचपात्रे वा
मृदस्त्रेण वेष्टितं निधाय च वाष्पकायन्त्रे यामद्वयं पचेत्, स्वाङ्गशीतं तमादाय
विचयार्थं च द्विवल्लमेकवर्ल्लं वा कृष्णपर्णेन सङ्घ भवेत्, पलाशमूलञ्च किञ्चित् जलेन
पिष्टा अनपिष्टेत्, तन्नेण साङ्गं पथ्यञ्च ददौत । औषधसेवनेन यदि गात्रे
स्फोटाः निर्गच्छेयुः, तदा तं तैलाभ्यक्तं रौद्रे वासयेदिति ॥ १८७—२०० ॥

श्वेतारियोगे—“कृष्णतिलोत्थतैलम्” इत्यत्र “कृष्णा तिलोत्थतैलम्” इति पाठे—
कृष्णा पिप्पली । कटुतुम्बिनी तिक्तालावः । कटुनिम्बवोजं पर्वतनिम्बबीजम्,
अतितित्कत्वात् । पलत्रयमित्युक्ताऽपि यत् सर्वं समानमित्युक्तं, तत् मिश्रित्वा
पलत्रयबोधनाशंसिति । तोयं बालकम् । दिनजन्मकाले प्रभाते इत्यर्थः । अथमर्थः,
—गन्धकादिकं तोयान्तं सर्वं मिश्रितं पलत्रयं गृह्यित्वा एकविंशतिवासरं भृङ्गराज-
रसेन भावयेत् । ततः पलाङ्गमानमौषधं शर्कराष्टतसंयुक्तं प्रभातकाले उपयुज्येत,
आ प्रकृतिभावं यावत् शूराणामादि विवर्जयेदिति ॥ २०१—२०३ ॥

कृष्णीकरणयोगे—तुः मृत्तिका कृष्णमृत्तिका इत्यर्थः ; द्रव्यगुणे अस्या रक्त-
द्वेषहरत्वशुनेः अत्र दौर्गन्धत्वं बोद्धव्यम् । मार्गः अपामार्गः । जन्ती कण्ठी,

अथ गन्धकादिचारः ।—

गन्धकाश्चत्यरुचक-श्वेतशूरणटङ्गणाः ।

तिलपुष्पञ्च तटचारः सप्तधा गोजलाप्लुतः ॥२०५॥

तत्कर्षं मधुना श्वित्नी तैलाद्यामं खरातपे ।

विक्रते पतिता ह्येवं स्फोटः स्यस्तान् वरोदकैः ॥२०६॥

मिच्छेत्तुर्थ्यदिनाक्षिप्ते निशातण्डुलतालकैः ।

गोतक्रकोद्वान्नाशो सप्ताहच्छ्रितजित् खलु ॥२०७॥

अथ उडम्बरदिचूर्णम् ।—

उडम्बरस्य मूलानि चित्तमूलञ्च निम्बजम् ।

अवल्लजस्य बीजानि चूर्णयित्वा विचक्षणः ॥२०८॥

अथनोति पठितये जन्तीति पाठस्तु क्लान्तम्, यथा—काकमाचोति वक्तव्ये कामाचोति प्रयोगः । नरः देशान्तरप्रसिद्धः लघुविशेषः । पञ्चः पञ्ची, क्षणमाधिक इत्यर्थः । सागरः समुद्रलवणं तैः । वरुः वरुणः तस्य त्वक् ; “वरु” इत्यत्र “वसु” इति पाठे—वसुः वसुकः । टिशा देशान्तरप्रसिद्धा । भास्करः चक्रः तस्य मूलम् । लोकः लोकसंज्ञिका, कन्दगङ्गुचीत्यर्थः । भामा कुमारिका तथा । “सागरेः” इत्यत्र बहुवचनमेवां प्रत्येकशो मिलित्वा वा तथा “भासया” इति एकवचनञ्च मिलित्वैव प्रयोगबोधनार्थमिति सप्तव्यम् । कल्कीकृतम् एतेः सप्त पिष्टं पूर्वोक्तश्रेतारिभ्यो-पठितदृश्यजातमित्यर्थः । तारं रजतं, रजतप्रभं यत् श्वितमित्यर्थः, तत् अमरप्रभं अमरवत् कृष्णवर्णमित्यर्थः ॥ २०४ ॥

गन्धकादिचारः—रुचकं सौवर्चलम् । श्वेतशूरणः चारण्यशूरणः । तश्चारः तैर्गन्धकादिभिः कृतः चारः । गोजलाप्लुतः गोमूतमिश्रः । मधुना इत्यत्र पिबेदिति शेषः । तैलात् तैलाभ्यङ्गं कर्तव्येति, यामं खरातपे तीव्ररौद्रे, तिष्ठेदिति शेषः । विक्रते इति । —एवम् अनया क्रियया विक्रते श्वितयुक्ते, अङ्गे इति शेषः, स्फोटाः पतिताः निर्गता इत्यर्थः, स्पृष्टे, तान् वरोदकैः विफलाकलैः सिञ्चेत् । तुर्थ्यदिनात् चतुर्थेदिनमारभ्य ; चतुर्थेदिनत् स्फोटनिर्गमदिनापेक्षयेति सप्तव्यम् ; गोतक्रकोद्वान्नाशो सप्त निशा-तण्डुलतालकैः निशा हरिदा तण्डुलः विडङ्गः तालकं हरितालं तैः क्षिप्ते अङ्गुलीपे क्रते सतीत्यर्थः, सप्ताहात् श्वितजित् श्वितजयी श्वितरोमात् विमुक्तः इत्यर्थः, भवतीति शेषः ॥२०५—२०७॥

उष्णेन वारिणाऽर्चांशं सेवितं क्षीरभोजिना ।

क्रिमिजालं खेतकुष्ठं सहसा तद्विनिर्हरेत् ॥२०८॥

अथ अङ्गोलादितैलम् ।—

अङ्गोलनिम्बनिर्गुण्डी-पत्रकाष्ठाद्यथोचितम् ।

पातालयन्त्रविधिना तैलं श्वित्रनिवर्हणम् ॥२१०॥

अथ कुष्ठारितैलम् ।—

नारिकेलं हरिद्रे द्वे बाकुची वचया सह ।

अक्षभृङ्गकभल्लान् शाककाष्ठञ्च काञ्चनम् ॥२११॥

एतानि समभागानि तैलं पातालयन्त्रतः ।

सङ्गृह्य लेपयेत्तेन कुष्ठाष्टादशनाशनम् ॥२१२॥

अथ क्रिमिलक्षणम् ।—

ज्वरी विवर्णता शूलं हृद्रोगः श्वसनं भ्रमः ।

भक्तदेषोऽतिमारस्य मञ्जानक्रिमिलक्षणम् ॥२१३॥

उडुस्वरादिचूर्णं—निम्बजं निम्बबीजं, कुष्ठहरत्वात् । अर्चांशं कर्ष-
प्रमाणम् ॥ २०८।२०९ ॥

अङ्गोलादितैले—काष्ठं टाकहरिद्रा, वक्ष्यमाणयोगदर्शनात् शाककाष्ठं वा ;
अङ्गोलादीनां पत्रेण सह काष्ठं तस्मात् अङ्गोलादिपत्रात् काष्ठाश्चेत्यर्थः ; यद्वा
—अङ्गोलादिवशात् बीजं पत्रं तेषां तथा काष्ठं तस्मात् । यथोचितं
यथाविधि ॥ २१० ॥

कुष्ठारितैले—अथः विभीतकः । भृङ्गकं भृङ्गराजः । शाककाष्ठं शाकः
मरुजद्रुमविशेषः “शेगुन्” इति ख्यातं, तत्काष्ठम् । काञ्चनं पुञ्जागः काञ्चन-
क्षीरी वा ॥ २११।२१२ ॥

बाम्बटे “घट् ते कष्टैककर्माणः” इत्यनेन कुष्ठस्य क्रिमिकार्यत्वेनोक्तत्वात् तथा
अस्थिमज्जसमाश्रितस्य कुष्ठस्य लक्षणे “अनेषु क्रिमिसम्भवः” इति क्रिमिशब्दोल्लेखाच्च
कुष्ठानन्तरं क्रिमिचिकित्सितं विवसुरादौ तल्लक्षणमाह, ज्वर इति ।—विवर्णता
शरीरस्य मालिन्यम् । शूलमिति उदरे । “श्वसनम्” इत्यत्र “कुटनं” तथा “सदनम्”
इति च पाठान्तरम् ॥ २१३ ॥

अथ क्रिमिचिकित्सा ।—

अथ क्रिमिशूलहरो रसः ।—

अजमोदा फलास्थीनि क्षीरिणी रसगन्धकम् ।

आखुपर्णीरसं खादेत् सताम्रं क्रिमिशूलनुत् ॥२१४॥

अथ अप्रितुण्डरसः ।—

रसगन्धाजमोदानां क्रिमिघ्नब्रह्मबीजयोः ।

एकद्वित्रिचतुःपञ्चभागान् सविषतिन्दुकान् ॥२१५॥

सञ्चूर्णं मधुना सर्वं गुटिकां क्रिमिनाशिनीम् ।

खादयित्वाऽनु तोयञ्च मुस्तानां क्रिमिशान्तये ॥२१६॥

उदराध्माननुत्थर्य रसो ह्येष निगद्यते ।

अग्नितुण्डेति विख्यातः सर्वोदरगदापहः ॥२१७॥

अथ क्रिमिज्वरे आखुपर्णीप्रयोगः ।—

आखुपर्णीकषायञ्च शर्करां पिव सवेधा ।

क्रिमिज्वरोपशान्त्यर्थे खण्डामलकमत्ति वा ॥२१८॥

क्रिमिशूलहररसे—अजमोदा यमानौ । फलं विफला इन्द्रियवी वा, अस्थि
अस्थिसंहारः तानि ; फलास्थीनि विफलामज्जा इत्यर्थो वा । क्षीरिणी “खिरुह”
इति प्रसिद्धम् । आखुपर्णी मूषिकपर्णी । अजमोदादि तावान् सर्वं तुल्यभागम्
आखुपर्णीरसेन पिष्टा वटी कार्या ॥ २१४ ॥

अप्रितुण्डरसे—क्रिमिघ्नब्रह्मबीजयोः विषुक्ततुल्य-पञ्चाशबीजयोः । सविषतिन्दु-
कान् विषसुष्टिभागसहितान् ; अथ विषतिन्दुकस्य षड्भागाः साक्षाः ; यदुक्तं
रसेन्द्रचिन्तामणौ—“रसगन्धाजमोदानां क्रिमिघ्नब्रह्मबीजयोः । एकद्वित्रिचतुःपञ्च
तिन्दोर्वीजस्य षट् क्रमात् ॥” इति । तिन्दोः विषतिन्दुकस्य । तत्र चाथं क्रिमिघ्नातिनी
गुटिका इति प्रसिद्धम् । रसेन्द्रसारसङ्गृहे रसरत्नाकरे च योगोऽयं विषतिन्दुकस्य
पञ्च पञ्चाशबीजस्य च षड्भागाः इति भागवैषम्येण यथाक्रमं “क्रिमिसुहररसः”
“कोटभद्ररसः” च इति संज्ञान्तरेण दृश्यते ॥ २१५—२१७ ॥

आखुपर्णीप्रयोगे—शर्करा-प्रलेपविधया प्रयोग्या । खण्डामलकं तन्नामदे चक्षु-
प्रियाधिकारे क्लिप्तम् ॥ २१८ ॥

अथ किमौ पपंटीप्रयोगीपदेशः ।—

सं जग्ध्वैवं पपंटीञ्च क्लीहीरसं पिबेदनु ।

क्लीहीरसं विना कश्चिज्जन्तूञ्च च्छेत्तमर्हति ॥२१८॥

अथ किमिशूलसंहारः ।—

रसस्य निष्कमादाय गन्धकं तत्समं कुरु ।

ताम्रं देहि तदर्धञ्च पञ्चाङ्गशाकवारिणा ॥२२०॥

मर्यादेकदिनं रात्रौ क्षिपेत्तत्रैव यत्नतः ।

क्षीरिणीकायमादाय तथा कुरु दिनान्तरे ॥ २२१॥

दृष्ट्वा लघुपुटं पञ्च जयपालान् विमर्दयेत् ।

देहि गुञ्जाहयञ्चास्य साज्यं शूलच्छिदे तथा ॥२२२॥

अथ अजमोदादिषटिका ।—

अजमोदा पलाशास्थि क्षीरिणी रसगन्धकम् ।

आखुपर्णीरसं खादेत् सताम्रं किमिशूलवान् ॥२२३॥

अथ सूतभक्षप्रयोगः ।—

मधुमिश्रनिम्बपल्लव-सस्त्वयुतो यदा सूतः ।

क्रिमिसङ्घाताद्वाशयति त्रिभिरहोभिरसौ ॥२२४॥

क्रिमिरीरोगेऽपि अनुपानविशेषेषु पपंटीरसस्य उपयोगितामाह, स इति ।—सः क्रिमिरोगवान् । पपंटीं पपंटीरसं रक्तपित्ताद्यधिकारोक्तम् । जन्तून् क्रिमोन् ॥२१८॥

किमिशूलसंहारः—तदर्धं गन्धकाहम् । पञ्चाङ्गशाकवारिणा शाकवृक्षस्य पत्र-
धुर्यादिपञ्चाङ्गकायेन । तत्रैव शाकवारिण्येव । पञ्च जयपालान् पञ्चनिम्बमित-
जयपालक्षीरानीत्यर्थः । शूलच्छिदे किमिशूलनाशनाय ॥ २२०—२२२ ॥

अजमोदादिषटिकायां—पलाशास्थि पलाशशीजम् । योगोऽयं “पलाशास्थि”
इत्यत्र “पलाशशीज” इति पाठात्तरिणं किमिशूलहररसे प्रागेव प्रदर्शितः ॥२२३॥

सूतभक्षप्रयोगे—समधुमिश्रपल्लवरसेन सूतः सूतभक्ष इत्यर्थः । “मधुमिश्र-
निम्बपल्लवं पलाशेन्द्रियवाहपि । क्रिमिदोषान् नाशयति विभिरेव दिनेष्वपि ॥” इति वा
प्राठः ॥ २२४ ॥

अथ क्रिमिहरो रसः ।—

शुद्धसूतश्चेन्द्रयवमजमोदा मनःशिला ।

पलाशबीजं तुल्यांशं देवढाल्या द्रवेदिनम् ॥२२५॥

मर्दयेत् भक्षयेन्नित्यमास्तुकर्णिकषायकम् ।

सितायुतं पिबेच्चानु क्रिमिपातो भवत्यलम् ॥२२६॥

अथ कौटमर्दो रसः ।—

शुद्धसूतं शुद्धगन्धमजमोदो विडङ्गकम् ।

विषमुष्टिब्रह्मबीजं क्रमादुक्तगुणं भवेत् ॥२२७॥

चूर्णयेन्मधुना लेह्यं निष्कैकं क्रिमिजिह्ववेत् ।

कौटमर्दो रसो नाम मुस्तातोयं पिबेदनु ॥२२८॥

इति शौवैद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूत्रोर्वाभटाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये विसर्प-

कुष्ठत्रिविक्रिमिचिकित्सा नाम विंशतितमोऽध्यायः ॥२०॥

क्रिमिहररसे—शुद्धसूतं रससिन्दूरमित्यर्थः । “तुल्यांशम्” इत्यत्र “गन्धश्च” इति रसेन्द्रमारसङ्गुहातपाठे—शुद्धसूतं शुद्धपारदम् । “आस्तुकर्णिकषायकम्” इत्यत्र रसरत्नाकरे “मुद्गपर्णीकषायकम्” तथा रसेन्द्रमारसङ्गुहं “शालपर्णीरसेः सह” इति पाठान्तरम् ॥ २२५।२२६ ॥

कौटमर्दरसे—ब्रह्मबीजं पलाशबीजं, मार्गीबीजमित्यर्थः । “क्रमादुक्तगुणम्” इति पाठः न मनोरमः, इतः पूर्वं गुणानुल्लेखात् ; “क्रमाद्विगुणितम्” इति रसेन्द्रमारसङ्गुहधृतः तथा “कमोत्तरगुणम्” इति रसरत्नाकरधृतो वा पाठोऽत्र युज्यते । कमोत्तरगुणम् उत्तरोत्तरभागवद्भित्तिमित्यर्थः । अयमेव योगः एकह्नादिभागनिर्देशेन प्राक् अग्रितुण्डरसनाम्ना प्रदर्शितः ॥ २२७।२२८ ॥

इति रसरत्नसमुच्चयबोधिनां विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

अथैकविंशोऽध्यायः ।

अथ वातव्याध्यादिविकल्पनम् ।—

अथ महारोगनामानि ।—

वातव्याध्यश्मरोकुष्ठ-भेहोदरभगन्दराः ।

अर्शांसि ग्रहणोत्थष्टौ महारोगाः प्रकीर्त्तिताः ॥१॥

अथ शीतवातलक्षणम् ।—

तत्रानेकानिलगटाः शीतवातादयः स्मृताः ।

हिमवन्ति हि गात्राणि रोमाञ्चस्फुरितानि च ॥

शिराऽक्षिवेदनाऽऽलस्यं शीतवातस्य लक्षणम् ॥२॥

अथ वातारिः ।—

रसभागो भवेदेको गन्धको द्विगुणो मतः ।

त्रिभागा त्रिफला ग्राह्या चतुर्भागश्च चित्रकः ॥३॥

गुग्गुलः पञ्चभागः स्यादेरण्डस्त्रेहमर्दितः ।

क्षिप्त्वाऽत्र पूर्वकं चूर्णं पुनस्तेनैव मर्दयेत् ॥४॥

क्रिमिलक्षणे भ्रमविष्टादेवातकार्यस्य दर्शनात् क्रियन्तव्यं वातव्याधिर्चिकित्सितं
विवक्षुरादौ वातव्याधेरष्टमहारोगान्तर्गतत्वेन तेषां महारोगाणां नामान्याह, वात-
व्याधौति ।—महत्त्वस्यैषां चिरकालानुबन्धित्वात् तु ख्यातिश्रय्यजनकत्वाच्च ॥ १ ॥

तेषु शीतवातस्य लक्षणमाह, तत्रेति ।—तत्र वातव्याधिषु । रोमाञ्चस्फुरितानि
रोमाञ्चेन रोमद्वयेण सह स्फुरितानि स्फुरणानि स्पन्दनामीत्यर्थः । “रोमाञ्च-
स्फुरितानि” इत्यत्र “रोमाणि स्फुरितानि” “रोमाञ्चस्फुरितानि” इति च
पाठान्तरद्वयम् ॥ २ ॥

वातारौ—त्रिभागा इति मिलितायास्त्रिफलायाः भागवयम् ; उक्तश्च रस-
रत्नाकरे—“पक्षेति सङ्गाकरणात् त्रिफला एकभागकः” इति । एकभागकः
अथैकमेकभाग इत्यर्थः । पूर्वकं चूर्णं रसादिचित्रकाणां चूर्णम् । रसरत्नाकरे तु—

गुटिकां कर्षमात्रास्तु भक्षयेत् प्रातरिव हि ।

नागरैरण्णमूलानां क्वाथं तदनु पाययेत् ॥५॥

अभ्यञ्जैरण्णतैलेन स्वेदयेत् पृष्ठदेशकम् ।

विरिके तेन सञ्जाते स्निग्धमुष्णञ्च भोजयेत् ॥६॥

वातारिसंज्ञको ह्येष रसो निर्वातसेवितः ।

मासेन सुखयत्येव ब्रह्मचर्यपुरःसरम् ॥७॥

अथ विजयागुटिकाप्रयोगोपदेशः ।—

विजयागुटिकां रात्रौ स्वल्पमात्राञ्च भक्षयेत् ॥८॥

अथ शीतारिः ।—

रसेन गन्धं द्विगुणं प्रगृह्य पुनर्नवावङ्गिरसैर्विमर्द्य ।

पक्कार्कपत्रोत्थरसेन पञ्चाद्विपाचयेदष्टगुणेन यन्नात् ॥९॥

रसार्द्धभागेन विषञ्च दत्त्वा विपाचयेद्वङ्गजलैः क्षणं तत् ।

शीतारिसंज्ञो हि रसोऽयमस्य वल्लं तदर्द्धं यदि-वाऽऽर्द्रकेण ॥१०॥

मरीचचूर्णेन घृतप्लुतेन सेवेत मासं सष्टतञ्च पथ्यम् ॥११॥

“क्षिप्वाऽव...मर्दयेत्” इत्यत्र “पुत्रागृह्णतौ युष्म-देवदाहं सुचूर्णितम् । एतत् पूर्वोपधि-
ससं मर्दयेत् याममात्रकम् ॥” इति पाठः दृश्यते । तेनैव एरण्णलेनैव । आदौ
एरण्णतैलेन गुग्गुलुं पिष्ट्वा पश्चात् रसादिकं दत्त्वा मर्दयेदिति ॥ १—७ ॥

रसिऽस्मिन् अधिकारान्तरोक्तमगदमुपदिशति, विजयेति ।—विजयागुटिका पाण्डु-
रोगाधिकारोक्ता ॥ ८ ॥

शीतारौ—वङ्गः चित्रकः । पक्केति ।—परिपतलात् पीताभार्कपत्ररसेन ।
विपाचयेत् इत्यस्य सृत्पात्रे द्रवक्षयं यावत् पचेदित्यर्थः । अष्टगुणेन इति रसगन्ध-
भागापेक्षया इति मन्तव्यम् । वङ्गजलैः चित्रकमूलकाद्यैः । तदर्द्धं वल्लार्द्धम् ;
“वल्लं तदर्द्धं यदि-वाऽऽर्द्रकेण” इत्यत्र “वल्लञ्च सार्द्धं मरिचार्द्रकेण” इति रसेन्द-
सारपाठदर्शनात् वल्लं तदर्द्धञ्च सार्द्धवल्लमित्यर्थः । यदि-वा-शब्दः मरिचचूर्णेन
सम्बध्यते, यदि-वा अथवा इत्यर्थः । “मासम्” इत्यत्र “मांसम्” इति
हस्तिन्दसारे पाठः । एषः क्रमः,—द्विगुणगन्धकं रसं पुनर्नवाचित्रककाद्याभ्यां
मर्दयित्वा गोष्ठं कुर्यात्, ततः सं पिष्ट्वा साखीवकैः संस्कार्य अष्टगुणेन परिपाम-

अथ स्पर्शवातलक्षणम् ।—

अङ्गेषु तोदनं प्रायो दाहः स्पर्शं न विन्दति ।

मण्डलानि च दृश्यन्ते स्पर्शवातस्य लक्षणम् ॥१२॥

अथ सर्वेश्वरः ।—

कर्षमात्रं रमस्य स्यात्तोहहिङ्गुलयोरपि ।

भास्वन्नगनयोश्चात्र गन्धकस्य पलं मतम् ॥१३॥

व्योषगन्धकताम्राणां प्रत्येकन्तु पलं पलम् ।

निम्बुद्रावेण सम्मर्द्य भावयेत् सप्तधा पृथक् ॥१४॥

हेमार्कस्रक्पयोवासा-हयारिविषमुष्टिभिः ।

पिण्डितं बालुकायन्त्रे स्वेदयेद्विषसद्वयम् ॥१५॥

कर्षमात्रन्तु पिप्पल्या निष्कमात्रं विषस्य च ।

सञ्चूर्ण्य दापयेदत्र सर्वेश्वररसाख्यके ॥

गुञ्जामात्रं ददीतास्य स्पर्शवातापनुत्तये ॥१६॥

अथ अर्केश्वरः ।—

रसेन गन्धं द्विगुणं प्रमर्द्य ताम्रस्य चक्रेण सुतापितेन ।

आच्छाद्य भूत्या तु ततः प्रयत्नाच्चक्रौविलग्नन्तु रसं प्रगृह्य ॥१७॥

धीतवर्णार्कपत्ररसेन आद्रवक्ष्यात् पचेत्, एकीभूते चार्कपत्ररसे चवतायं रसाङ्गानां विषं दत्त्वा मर्दयेत्, ततः भूयोऽपि किञ्चिद्विषकमूलकाद्येन खणं पक्त्वा चवतायं स्थापयेदिति । क्वचिदेतच्छ्रौतात् प्राक् “रसं पुनर्भस्वरसैर्विमर्द्य त्रिकगन्धकैः । पंचतृ पक्वार्कपत्रोत्थ-रसैर्यन्नाहिस्य च ॥” इत्यधिकपाठः ॥ ८—११ ॥

वातव्याधिभेदस्य स्पर्शवातस्य लक्षणमाह, अङ्गेति ।—तोदनं तृणविद्धवत् वेदनाविशेषः । स्पर्शवातस्य स्पर्शं तत्र वातः तस्य स्पर्शानभिज्ञताकपस्य सुप्ति-वातस्येत्यर्थः ॥ १२ ॥

सर्वेश्वरे—रसादीनां गगनानानां प्रत्येकं कर्षः । भास्वदिति ।—भास्वान् तासम् । गगनम् अक्षम् । अत्र गन्धकतामस्योर्विद्धतात्वात् गन्धकस्य पलद्वयं, तासस्य च सपाद-पलमानता बोद्धव्या । व्योषस्य च प्रत्येकं पलमानता, निर्देयस्य मानप्राधान्यात् । औषधे भस्वरः, तस्य पत्ररसीऽत्र इष्टः । हयारिः करवीरः, तस्य मूलम् ॥१२—१६॥

विचूर्ण्य तद्वादशधाऽर्कदुग्धैः पुटेत वक्त्रिफलाजलैश्च ।

सम्भावितोऽर्केश्वर एष सूतो गुञ्जाद्वयञ्चास्य फलत्रयेण ॥१८॥

ददीत मासत्रितयेन सुप्त-वातादिमुक्तो हि भवेद्विताशी ॥१९॥

अथ तारादिगुडिका ।—

तारं रसेनाष्टगुणं जयांशं विमर्द्य यन्नाङ्गलिकां गुडेन ।

निबध्य तां सेवय मासयुग्मं दिनोदये स्पर्शविकारनुत्थे ॥२०॥

अथ स्पर्शवाते राजतन्त्रप्रयोगः ।—

मूलं पिबेद्राजतरोः शरीरं मासद्वयं तेन विलेपयेत् ॥२१॥

अथ स्पर्शवाते चक्रमर्दादिः ।—

यद्वा सुचूर्णीकृतचक्रमर्द-बीजं सुगोमूत्रपरिप्लुतञ्च ।

अर्कस्रङ्गीक्षीरनिशाद्वयेन युक्तं भजेन्मण्डलनाशनाय ॥२२॥

अर्केश्वरे—चक्रेण चक्राकारचुद्रभाजनविशेषेण । सुतापितेन इति अग्रिमस्यकांतं, सन्तापनञ्च रसगन्धकसङ्गृहणार्थे शक्तिविशेषाधानार्थञ्च मन्त्रव्यम् । भूत्या भक्षना । आच्छाद्य इति चक्रेण भूत्या इत्युभयवापि सम्बध्यते । अयमर्थः,—कज्जलिकाम् अग्रि-प्रतप्तेन ताम्रचक्रेण आच्छाद्या तदुपरि भस्मावरणं दद्यात्, तेन च सा कज्जलिका ताम्रचक्रे संज्ञा भवेत्, ततः तां कज्जलिकां ताम्रपात्रादाकृत्य चूर्णयित्वा च अर्कक्षीरेण मर्दयित्वा द्वादशदारान् गजपटे प्रचेत, अनन्तरं चितकमूलत्रिफलाक्वाथेन समधा भावयित्वा गुञ्जाद्वयमितां बटौ कथ्यादिति ॥ १७—१९ ॥

तारादिगुडिकायां—तारं रौप्यं, तच्च रसभागापेक्षया अष्टगुणम् । रसेनेति ।—रसशब्देनाथ रससिन्दूरः यावत् । जयांशं जया विजया तस्याः अंशं भागं तार-भागमित्यर्थः ; जयायाः अंशः चतुर्थी भागः यत्र तादृशमिति वा, तारापेक्षया पादिक-विजयाचूर्णम् । गुडोऽत्र गुडिकाकरणोपयोगी द्रव्यः । “तारम्” इत्यत्र “तालम्” इति पाठे—तालं रसेन, तुल्यमिति शेषः । जयांशं विजयाभागम् अष्टगुणं, रसापेक्षयेति शेषः ; तथा च रसेन्दुसारे रसेन्दुचिन्तामणौ च—“एकभागो रसस्य स्यात् शुद्धतालेक-भागिकः । अष्टौ स्युर्विजयायाश्च गुडिकां गुडतश्चरेत् ॥ एकैकां भक्षयेत् प्रातश्छायाया-मुपवेशयेत् । तालकेश्वरनामायं योगयास्पर्शनाशनः ॥” इति । दिनोदये प्रत्युषे ॥२०॥

राजतन्त्रप्रयोगे—राजतरोः चारग्वधस्य । तेन राजतरुमूलकल्केन ॥ २१ ॥

चक्रमर्दादी—यद्वा-शब्दः पूर्वयोगापेक्षया ; ततश्च मण्डलनाशनाय राजतरीर्मूलं

अथ स्पर्शवातान्नवटिका ।—

अष्टौ भागा रसस्य स्युर्विषतिन्दोर्दशैव च ।
गन्धकस्य दश द्वौ च कट्त्रिफलयोस्त्रयः ॥ २३ ॥
वज्रिचित्रकमुस्तानां वचाऽश्वगन्धयोरपि ।
रेणुकाविषकुष्ठानां पिप्पलीमूलनागयोः ॥ २४ ॥
एकैकस्तु भवेद्भाग इत्याद्यायास्तथैव च ।
चतुर्विंशद्भुङ्क्ष्यात् वटिका चणकाकृतिः ॥
क्रमेणैवानुसेवेत स्पर्शवातापनुत्तये ॥ २५ ॥

अथ अस्पर्शवातारितैलम् ।—

त्रिगन्धकं तुल्यकमश्वगन्धा-हयारिनागाश्रित्तिवायसीनाम् ।
मूलानि सञ्चूर्ण्य सुभाण्डके च तैलं क्षिपेत्तेन चतुर्गुणेन ॥ २६ ॥

पिबेत् अक्रमदंवीजादिकं वा गीमूत्रेण पिबेदित्याशयः । मण्डलनाशनाय स्पर्शवात-
लक्षणीकमण्डलचिह्नापनीदनाय ॥ २२ ॥

स्पर्शवातान्नवटिकायां—गन्धकस्य दश द्वौ च इति द्वादशभागा इत्यर्थः ।
कट्त्रिफलयोस्त्रयः त्रिकटोस्त्रिफलायाश्च पृथक् पृथक् भागचयम् । वज्रिः भज्जातकः ;
वज्रादिपञ्चकानामपि प्रत्येकं भागवयम्, अपि-शब्दप्रयोगसामर्थ्यात् । नागः
नागकेशरः ; रेणुकादौणां पञ्चानां प्रत्येकमेकैकभागः । कृषिदेतदनन्तरं—
“पञ्चार्कतैलम् । मूलैः सपुष्पैः फलपत्रमारैरकस्य निष्पीड्य रसाढके तु । भूपालका-
वज्रिपुननवानां तुरङ्गगन्धाऽऽर्त्तगन्धस्य मूलम् ॥ निर्गुण्डिकायाश्च तथैव पृष्ठे मूलानि
पिष्टा पृथगाददौत । एतां खड्गं तगरश्च कुष्ठं ससैम्बवं कर्षमितं पृथक् स्यात् ॥
सुक्खीरपिष्टाजपयो हिभागं प्रस्थेन तैलस्य पचेद्भि पक्वम् । पञ्चार्कतैलं प्रवदन्ति
तज्ज्ञाः शोणितान् सन्धितान् निहन्ति ॥ अभ्यञ्जनैश्च त्रिभिरेव सद्यो वातांश्च
वेगांश्चिरानाशनीतिः ॥ द्वितीयपञ्चार्कतैलम् । पाठान्तरम्—अर्कद्वयस्य पञ्चार्क-
साढके विपचेज्जले । चतुर्गुणे वज्रिसिन्धु-निर्गुण्डाणि च पीलुकम् ॥ वर्षाभूवाजि-
गन्धार्षगलं तेषां पृथक् पृथक् । सुक्खीरं कुडवं दत्त्वा शनैर्भन्दाग्निना पचेत् ॥
एतदभ्यञ्जनेनैव निहन्त्यादाय सन्धितान् । स्पर्शवातोत्तरोगांश्च कटौपाश्र्मगतोक्ताश्च ॥
श्रुवन्ति तज्ज्ञाः पञ्चार्क-तैलं श्रेष्ठं समीरयुत् ॥” इत्यधिकपाठः ॥ २३—२५ ॥

अस्पर्शवातारितैले—त्रिगन्धकं त्रिजातकम् ; यदुक्तं राजनिषण्णौ—“त्वरीणा-

पक्काकपत्रोत्तरसेन पश्चाद्विपाचयेदष्टगुणेन यन्नात् ।

अस्यर्शवाताय भवेद्धि तैलं विलेपयेत्तेन च तत् प्रदेशम् ॥२७॥

अथ अस्यर्शवाते विगन्धप्रयोगः ।—

ह्रियावलीकाथविपाचितञ्चाप्यस्यर्शनाशाय ददेन्निगन्धम् ॥२८॥

अथ अस्यर्शवाते ह्रियावलीप्रयोगः ।—

ह्रियावलीकन्दविलेपनाञ्च अस्यर्शदेशः क्षरमेति यन्नात् ।

यवानिकासिद्धघृतेन पश्चादस्यर्शनाशाय विलेपयेत् ॥२९॥

अथ अस्यर्शवाते अर्कदुग्धप्रयोगः ।—

अर्कोत्पदुग्धेन विलेपनाञ्च स्फोटीभवेत्तस्य ततः प्रदेशः ।

घृतेन चोक्तेन विलेपनाद्वा स्पर्शं लयं याति च तत्क्षणेन ॥३०॥

अथ अस्यर्शवाते हल्यादिलेपः ।—

यद्वा हलीशूरणकं सितास्त्रास्पर्शातकः स्यात् खलु लेपनेन ॥३१॥

पत्रकोत्प्लव्यैस्त्रिगुणान्ध विजातकम्” इति, विभागगन्धकं वा ; श्वेतादिभेदेन विविध-
गन्धकं वा ; त्रिलातालगन्धककपं वा । ह्यारिः करञ्जीरकम् । नामा नाकुली,
रास्त्राभेद इत्यर्थः । श्रितिः भूर्जलक् । वायसो काकमाषो । तेन तैलेन । चतुर्गुणेन इति
विगन्धकादिकल्पापेक्षया चतुर्गुणेन “कल्कम् खेदपादिकः” इति वचनात् । विपाचयेत्
इत्यत्र विगन्धकादिद्रव्यजातमिति शेषः । अष्टगुणेति तैलापेक्षया ॥ २६।२७ ॥

विगन्धप्रयोगे—ह्रियावली देशान्तरप्रसिद्धः क्षताविशेषः ; “ह्रियावली” इत्यत्र
“ह्रियावली” इति पाठकल्पना सुगमार्था, एष चार्थः प्रागेव प्रतिपादितः । अस्यर्श-
नाशाय सुतिवातनाशाय । लेपयोगोऽयम् ॥ २८ ॥

ह्रियावलीप्रयोगे—क्षरं श्वबन्धित्वर्थः । यवानिकेति ।—यवानिका यमानौ
तत्कल्कासिद्धेन घृतेन, जलञ्चात्र चतुर्गुणं पात्राच्च इयम् । पश्चात् ह्रियावलीकन्द-
विलेपनानन्तरमित्यर्थः ॥ २९ ॥

अर्कदुग्धप्रयोगे—स्फोटीभवेत् स्फोटयुक्ती भवेत् । ततः स्फोटीभवमानान्तरम् ।
प्रदेशः अस्यर्शदेशः । घृतेन चोक्तेन यवानिकासिद्धघृतेनेत्यर्थः । अत्र वा-शब्दः
ह्रियावलीकन्देत्यादिभोक्तृपूर्वयोगापेक्षया बोध्यः । स्पर्शः स्पर्शवातः ॥ ३० ॥

हल्यादिलेपे—हली लाङ्गलिका । सिता सितशर्करा सीमराजी वा । अस्यर्श-
नाशः अस्यर्शाय स्पर्शवाताभावाय चतति गच्छति इति तच्चाभूतः ॥३१॥

अथ अत्यर्जनाते रसेन्द्रलेपः ।—

आदौ शिरामोक्षणतो रसेन्द्रं विलेपनञ्चापि नियोजयन्ति ॥३२॥

अथ गन्धाश्मगर्भरसः ।—

गन्धं रसेनाष्टगुणं विमर्द्य क्षशानुतोयेन विपाचयेत् ।

मृदग्निना लोहमयेऽथ पात्रे विषेण पश्चादपि मिद्धिमेति ॥३३॥

गन्धाश्मगर्भो हि रसोऽस्य सर्वास्पर्शप्रणुत्यै भज वज्रयुग्मम् ।

सक्षीरमन्नं सप्तृतञ्च भोज्यं वर्ज्यञ्च सर्वं परिवर्जनौयम् ॥३४॥

अथ द्वितीयगन्धाश्मगर्भरसः ।—

गन्धकं चूर्णितं कृत्वा सूक्ष्मवस्त्रेण बध्य च ।

भाण्डे गोदुग्धकं दत्त्वा प्राकृतं खर्परिण च ॥३५॥

अग्निं प्रज्वालयेदूर्ध्वं पश्चाच्छीतं समुद्धरेत् ।

गन्धकाष्टकभागेन रसं दत्त्वाऽथ पाचयेत् ॥३६॥

मृदग्निना शीतभूमावुत्तार्योत्तार्यं यत्नतः ।

यावद्गन्धकरूपस्य पूर्वस्य ह्यन्यथा भवेत् ॥३७॥

सप्तगुञ्जं ददीतास्य यावत् स्यादेकविंशतिः ।

प्रत्यहन्तु हरीतक्या गुञ्जा देयैकविंशतिः ॥३८॥

रसेन्द्रलेपे—शिरामोक्षणतः शिरामोक्षणं कृत्वा । रसेन्द्रं पारदं, च च भस्मीकृतो चाक्षः ॥ ३२ ॥

गन्धाश्मगर्भरसे—क्षशानुतोयेन चितकमूलकाद्येन । विषेण इत्यत्र योजयेदिति शेषः ; विषञ्च रसतुल्यं चाक्षम् ॥ ३३ ॥

द्वितीयगन्धाश्मगर्भरसे—बध्य इति प्रयोजयित्यर्थः । प्राकृतमित्यत्र कृत्यादिति शेषः । खर्परिण शरावेष्टेत्यर्थः । उत्तार्यं चतुर्थांशं । अथमर्थः,—गूतनस्यास्या गोदुग्धं दत्त्वा घृताक्षवस्त्रखण्डेन तन्मुखमाकृत्य बस्त्रोपरि गन्धकचूर्णं स्थापयेत्, ततः सुसुप्तं द्वितीयं बस्त्रखण्डं गन्धकोपरि दत्त्वा बध्नीयात्, अथ शरावेष्टे चाक्षाय स्थाप्य ता भूमौ निक्षिप्य च खर्परिणतं पुटं दद्यात्, शीतोभूतञ्च तम् उद्धृत्य अष्टमांशेन रसेन सह मर्दयित्वा मृदग्निना क्षीरपात्रे पाचयेत्, अनाराऽनरा शीतजघानकायामव-
तारयेच्च, एवं गन्धकस्य स्वरूपविपर्ययं यावत् कुर्यात् । ततः सप्तगुञ्जानारभ्य
क्षमदद्यात् एकविंशतिगुञ्जां यावत् तं रसं हरीतकीचूर्णस्यैकविंशत्या गुञ्जाभिः

मन्त्रीं सष्टतश्चान्नं भोजयीत सशर्करम् ।

निर्वाते चावतिष्ठेत कम्पस्पर्शानुत्तये ॥

गन्धाश्मगर्मसंज्ञोऽयं योगिभिः परिकीर्तितः ॥३९॥

अथ अस्पृशारिरसः ।—

पलाशवीजोत्थरसेन सूतं गन्धेन युक्तं त्रिदिनं विमर्द्य ।

श्लक्ष्णोक्तं तद्विषमुष्टिवौजं संयोजनीयञ्च कलाप्रमाणम् ॥४०॥

मासत्रयं निष्कमितं प्रयत्नादस्पर्शानुत्थै खलु सेवयेत्तत् ॥४१॥

अथ रक्तवातलक्षणम् ।—

पादयोश्च भवेत्तापः श्वयथुश्च प्रजायते ।

रक्तच्छाया शरीरे च रक्तवातस्य लक्षणम् ॥४२॥

अथ रक्तवातचिकित्सा ।—

अथ हरीतक्यादिचूर्णम् ।—

त्रियोनिरसगुञ्जैकां प्रथमं टापयेद्विषक् ।

हरीतक्यामलक्यौ च गुडूचीं कटुकां तथा ॥

पञ्चाङ्गानि च निम्बस्य चूर्णागित्वा च पाययेत् ॥४३॥

सह सेवेतेति । रसेन्द्राचलाभणि-रसरत्नाकरयोः “विगुणाख्यरसः” रसेन्द्रसारं च “द्विगुणाख्यरसः” इति नाम्ना प्रसिद्धोऽयं, तत्र च हरीतकीचूर्णं रसगन्धकतुल्यादौ मिश्रयित्वा पश्चात् समगुञ्जामारभ्य सेवनोपदेशः । रसेन्द्रसारं तु अष्टभागगन्धकस्थले “गन्धकात् द्विगुणं सूतम्” इति पाठो दृश्यते ॥ ३५—३८ ॥

अस्पृशारिरसः—सूतगन्धयोः समभागता । तदित्यन्वयः, तस्मिन्नित्यर्थः । कलाप्रमाणं बीजशांशम् ; तप्तु एकभागपेचया बोध्यम् । “मासत्रयम्” इत्यत्र “मासद्वयम्” इति रसेन्द्रसारसङ्गृहे पाठः, तत्र च पलाशादिषट्ठीति संज्ञावाच्यम् ॥ ४०।४१ ॥

वातव्याधिविशेषत्वात् तदनन्तरं वातरक्तविशेषस्य रक्तवातस्य चिकित्सितं विदग्ध-
रादौ तल्लक्षणमाह, पादयोरिति ।—पादयोस्तु तापः दुष्टरक्तत्वादौ पादयोरेव
सञ्चयात् ज्ञेयः । श्वयथुः सर्वगात्रे एवेति बोध्यम् । रक्तच्छाया रक्तकान्तिः,
रक्तमण्डलमित्यर्थः ॥ ४२ ॥

हरीतक्यादिचूर्णम्—त्रियोनिरसः कामलाधिकारीक्तः रसविशेषः, तस्यैका गुञ्जा ।
पञ्चादौ त्रियोनिरसं पाययित्वा पश्चात् हरीतक्यादिकं पाययेदिति ॥ ४३ ॥

अथ कोकिलाद्यादिकथायः ।—

कोकिलाक्षस्य मूलानि गुडूचीनागरं तथा ।
क्वाथयित्वा रजन्यान्तु पाययेदतिशीतलम् ॥४४॥

अथ संशोधनोपदेशः ।—

अग्रे शिराविमोक्षार्थं यवचिञ्चाविरेचनम् ।
वान्तिमङ्गोलबीजेन देवदालीजलेन वा ॥४५॥

अथ रक्तवाते अपथ्यम् ।—

शूरणं माषहन्ताकं राजिकादि विवर्जयेत् ॥४६॥
अथाऽऽमवातलक्षणम् ।—

कट्यां व्यथा भवेन्नित्यं मन्धिषु श्वयश्रुर्भवेत् ।
उत्थानेऽप्यनमर्थत्वमामवातस्य लक्षणम् ॥४७॥

अथामवातचिकित्सा ।—

अथ आमवाते वातारिरसप्रयोगोपदेशः ।—

एरण्डतैलमयुक्तं वातारिरसमेव च ।
आमवातप्रशान्त्यर्थं दटीतोषणेन वारिणा ॥ ४८॥

कोकिलाद्यादिकथायै—अतिशीतलमिति क्वाथमेव अतिशीतलं कृत्वा पाययेत्,
उत्थेन रक्तस्य प्रकीपातिशयभयात् ॥ ४४ ॥

संशोधनोपदेशे—यवचिञ्चाविरेचनं यवचिञ्चा यवतिक्ता, द्रव्यगणे अस्या रेशकत्व-
श्रुतेः, तथा विरेचनं, देशमिति शेषः । शिराविमोक्षणात् प्राक् वसनविरेचने
कारयेदिति निष्कर्षः ॥ ४५ ॥

रक्तवाते वर्जनीयाभ्याङ्ग, शूरणमिति ।—राजिकादि इत्यत्र आदिपदेन मूलक-
निष्पावादीनां यद्वचनम् ॥ ४६ ॥

पूर्वोक्तसङ्ख्या रक्तवातानन्तरमामवातचिकित्सितं विविर्षिपुरादौ तल्लक्षणमाङ्ग,
कट्यामिति ।—सुखमम् ॥ ४७ ॥

आमवाते अधिकारालोक्तमौषधविशेषमुपदिशति, एरण्डेति ।—वातारिरसं
उद्धे वातव्याधौ च उक्तम् । तन्तु आदौ एरण्डतैलेनामर्थं उत्थेन वारिणा
विधेदिति ॥ ४८ ॥

अथ अनिलारियोगः ।—

आमानिलस्यास्य रसोऽनिलारिश्चैरण्डतैलेन सकौशिकेन ।

कटुत्रयेणापि सगन्धकेन वल्लैकमानं परिषेवयेत् ॥४८॥

अथ आमवाते एरण्डतैलपञ्चमा ।—

आमवातगजेन्द्रस्य शरीरवनचारिणः ।

एक एवाग्रणीर्हन्ता एरण्डस्त्रेहकेसरी ॥ ५० ॥

अथापस्मारलक्षणम् ।—

मूर्च्छा शरीरस्य भवेदकस्मात् गात्रेषु कम्पश्च मुखे च फेनः ।

एवम्वपस्मारगदं विदित्वा नियोजयेत् पर्पटिकाख्यसूतम् ॥५१॥

अथापस्मारचिकित्सा ।—

अथ अपस्मारं पर्पटोरसस्य प्रयोगविधिः ।—

पर्पटोरसगुञ्जे द्वे ब्राह्मीरससमन्विते ।

खादयेद्दोगिणं वेद्योऽपस्मारानिलशान्तये ॥५२॥

अथ ब्राह्मीदिनस्यम् ।—

ब्राह्मीशुण्ठीवचाकुष्ठं नीलोत्पलसमैश्वरम् ।

पिप्पलीमपि सञ्चूर्ण्य ब्राह्मोद्रावेण भावयेत् ॥५३॥

अनिलारियोगे—अनिलारिरसः प्रागुक्तः वाताररसः, रसेन्द्रमारोक्तः अनिलारि-
रसो वा । सकौशिकेन गुग्गुलुसहितेन । सकौशिकेन सगन्धकेन सकटुत्रयेण
एरण्डतैलेन वल्लैकमानम् अनिलारिरसं परिषेवयेत्, एवञ्च अथानिलारिरसः
अस्मान्निलस्य, हन्ता भवेदिति शेषः, इति योजना कार्या ॥ ४८ ॥

आमवाते एरण्डतैलस्य अवशिष्टोपयोगितामाह, आमवातेति ।—स्यष्टम् ॥५०॥

मूर्च्छानिद्रानाशादिलक्षणसाधर्म्यान् “स कष्टः सर्वरोगाणां यदा प्रकुपितो
भवेत्” इति वचनेन तस्याप्यपस्मारवत् कदाचित् वेगकारितसाधर्म्याञ्च आम-
वातान्तरमपस्मारप्रारम्भः । तत्रादौ तस्य लक्षणमाह, मूर्च्छेति ।—शरीरस्य मूर्च्छा
इन्द्रियैर्मात्र इत्यर्थः ; मूर्च्छया भूमिपातादित्यर्थो वा । पर्पटिकाख्यसूतं पर्पटोरसम् ;
स च “रसं दिगुत्पलमेव” इत्यादिना रक्तपित्ताधिकारे प्रदर्शितः ॥ ५१ ॥

“नियोजयेत् पर्पटिकाख्यसूतम्” इत्युक्तम्, अतस्तस्य प्रयोगविधिमाह,
सुपंदोति ।—स्यष्टम् ॥ ५२ ॥

सप्तधा नवनीतेन पचेत् क्षिप्त्वा घृतं शुची ।

वराहकर्णरक्तेन कर्कोट्या नस्यमाचरेत् ॥ ५४ ॥

अथ गवाक्ष्यादिनस्यम् ।—

शुष्कां गवाक्षीमादाय घृष्टं कांस्थञ्च कम्बलम् ।

गोघृतेनाऽऽयसं पिष्ट्वाप्यागते नस्यमाचरेत् ॥ ५५ ॥

अथ श्वेतापराजितादिनस्यम् ।—

श्वेतापराजितावीजं विजयावोजमेव च ।

जरमूत्रेण सम्पिथ्य नस्यं दद्याद्भिषग्वरः ॥ ५६ ॥

अथ अपक्षारहरनस्यम् ।—

उन्मत्तकशुनोऽस्थीनि घृष्टा तेनैव वा कुरु ॥ ५७ ॥

अथ अपक्षारहरो योगः ।—

श्वेतापराजितामूलं कर्णं बहु सदा बुधः ।

निर्गुण्डीमूलकं जग्ध्वा ह्यपक्षारादिमुच्यते ॥ ५८ ॥

अथोन्मादलक्षणम् ।—

बहु कृत्वा प्रलापैश्च विस्मृतिः कार्यवस्तुषु ।

हन्ति धावति सर्वतोन्मादवातस्य लक्षणम् ॥ ५९ ॥

ब्राह्म्यादिनस्ये—सप्तधा इति पदे ब्राह्मोद्रावेण नवनीतेन च इति द्वाभ्यामेव
कम्बध्वने । पचेदिति ।—मर्दनागतरं क्षिप्त्वा घृतं दत्त्वा शुची पात्रे लघु पचेत्,
ततः आदाय विचूर्ण्य च वराहकर्णरक्तेन तथा कर्कोट्या देवतादेन, धीवर्कविशेषेण
सहैतयः, नस्यं दद्यादिति ॥ ५२। ५४ ॥

गवाक्ष्यादिनस्ये—गवाक्षी गोरचकर्कटी । कांस्थं कांस्थगुण्डम् । एवमायसमपि ।
कम्बलम् ऊष्णंभीम । आगते अपक्षारवेगे उपस्थिते । गवाक्ष्यादिद्वयं यथाक्रमं
गोघृतेन सह कांस्थे लौहे च भाजने घृष्टा वेगोपस्थितौ नस्यं दद्यादिति ॥ ५५ ॥

श्वेतापराजितादिनस्ये—सर्वे सुगमम् ॥ ५६ ॥

अपक्षारहरनस्ये—उन्मत्तकशुनोऽस्थीनि क्षिप्तकुङ्कुरास्थीनि । तेनैव जरमूत्रे-
णैवेत्यर्थः । कुरु, नस्यमिति शेषः ॥ ५७ ॥

अपक्षारहरयोगे—श्वेतापराजितामूलं कर्णं बहु निर्गुण्डीमूलञ्च जग्ध्वा इत्येव
योजनीयम् ॥ ५८ ॥

गनोदुष्टिस्तान्मार्वापक्षारानन्तरमुन्मादमारब्धः । तत्र उन्मादलक्षणमाह,

अथ उन्मादचिकित्सा ।—

अथ उन्मादे पर्पटोरसस्य प्रयोगविधिः ।—

पर्पटोरमगुञ्जाष्टौ धुस्तूराद्बीजपञ्चकम् ।

गोघृतन च संयोज्य खाटेदुन्मादशान्तये ॥६०॥

अथ उन्मादे उपचाराविशेषाः ।—

सघृतं माषमण्डं वा पाययेद्दृतदुग्धकम् ।

निम्बतेलं समुद्धृत्य स्वभ्यज्याऽऽपादमस्तकम् ॥६१॥

गुर्वन्नं प्रायशो दद्याच्छक्काशकञ्च वर्जयेत् ।

बहुनाऽपि रक्षयेत्तावद्यावच्छान्तिं स गच्छति ॥६२॥

अथ माहेश्वरा धूपः ।—

माहेश्वराख्यधूपञ्च दापयेत् सततं निशि ।

श्रोवेष्टं दारुवाह्नीकं मुस्ता कटुकरोहिणौ ॥६३॥

सर्षपा निम्बपत्राणि मदनस्य फलं वचा ।

बृहत्थौ सर्पनिर्मोकः कार्पासास्त्रि यवास्तुषाः ॥६४॥

गोशृङ्गं खररोमाणि बर्हिपिच्छं विडालविट् ।

अङ्गिति ।—प्रलापैः, उपलक्षित इति शेषः । “प्रलापैश्च” इत्यत्र “प्रलापयेत्” इति पाठान्तरः सुगमः । इति जनान्तरमाकाशं वा ताडयति ॥ ५८ ॥

पर्पटोरसस्य प्रयोगविधौ—पर्पटोरमगुञ्जाष्टौ इति रसपर्पटिकायाः रक्तपित्तवि-
कारोक्तायाः अष्टौ गुञ्जाः । रसेन्द्रसारे “उन्मादपर्पटोरसः” इति नाम्ना
अभिहितोऽयम् ॥ ६० ॥

उन्मादे उपचाराविशेषानाह, सघृतमिति ।—माषमण्डं माषतण्डुलकृतं चतुर्दश-
गुणान्मुसाधितं यवागूविशेषं, न तु केवलमाषसाधितं, यूपधानं विना मण्डला-
सम्भवं । घृतदुग्धकं सघृतं दुग्धम् । समुद्धृत्य तैलपीडनचक्रात् तत्पश्चमेव
गृहीत्वित्यर्थः । निम्बतेलेनापादमस्तकं स्वभ्यज्य सघृतं माषमण्डं घृतदुग्धकं वा
पाययेदित्यन्वयः ॥६१॥६२॥

माहेश्वरधूपे—श्रोवेष्टं नवगीतखोटी । वाह्नीकं हिङ्गु न तु कुङ्कुमं, सहस्र-

ह्नागरोम घृतञ्चेति वस्त्रमूत्रेण भावितम् ॥

एष माहेश्वरो धूपः सर्वग्रहनिवारणः ॥६५॥

अथैकाङ्गवातलक्षणम् ।—

एकस्मिन् देहदेशे च तोदः कार्श्यं चलात्मता ।

हिमस्यंशश्च दृश्येतैकाङ्गवातस्य लक्षणम् ॥६६॥

अथैकाङ्गवातचिकित्सा ।—

अथ एकाङ्गवाते पर्पटीरसप्रयोगविधिः ।—

पर्पटीरसगुञ्जाष्टौ वक्ष्यमाणञ्च गुग्गुलुम् ।

कर्षाडं खादयेत् माज्यमेकाङ्गानिलशान्तये ॥६७॥

* एरण्डवह्निशुण्ठीनां गुडूच्याश्च कषायकम् ।

अनुपानाय दातव्यं चणककाथमेव च ॥६८॥

अथ सर्जतेलम् ।—

नलिकायन्त्रयोगेन सर्जतेलं समुद्धरेत् ।

तदभ्यङ्गप्रयोगेण वातो दुष्टः प्रशाम्यति ॥६९॥

योगे हिङ्गुपाठदशनात् । कार्पासास्त्रि कार्पासबोजम् । खररोमाणि गर्दभ-
रोमाणि । बाण्डपिच्छं मयूरपिच्छम् । वस्त्रमूत्रेण ह्नागमूत्रेण ॥ ६३—६५ ॥

वातव्याध्याधिकारं प्रकुपितवातकार्यविशेषं रक्तवातादिकमभिधाय पुनरपि
वातव्याधिप्रारम्भः, तत्र एकाङ्गवातस्य लक्षणमाह, एकस्मिन्नास्ति ।—एकस्मिन्
देहदेशे देहस्य वामे वा दक्षिणे वा भागे इत्यर्थः । चलात्मता वायोयलत्वेन
एकवानवस्थितता इत्यर्थः ॥ ६६ ॥

एकाङ्गवाते पर्पटीरसप्रयोगविधौ—वक्ष्यमाणं गुग्गुलुं शतावल्यादिगुग्गु-
लीयगुग्गुलुद्वयोरैकतरं वा । रसपर्पटीं गुग्गुलुञ्च ऐक्यमेव प्रयुञ्जीत ।
चणककाथमेव च इत्यत्र चकारो वा-इत्थं, एरण्डादीनां काथं चणककाथं वा अनुपानं
कुर्व्यादित्यर्थः ॥ ६७-६८ ॥

सर्जतेले—नलिकायन्त्रं “लोहनालगतम्” इत्यादिना नवमाध्यायीकम् ; नलिका-
यन्त्रयन्त्रमिति वा, एवञ्च नलिकायन्त्रयोगेन उक्तीयन्त्रयोगेनेत्यर्थः । सर्जतेलं सर्जः
धूनकः तस्य तैलम् ॥ ६९ ॥

अथ अर्द्धाङ्गवायौ शतावर्ष्यादिगुग्गुलुः ।—

शतावरी गुडूची च सारणी गोक्षुरः कणा ।
 शताह्वा दीप्यका रास्ना अश्वगन्धा च संज्ञका ॥७०॥
 कचोरो नागरक्षैते चूर्णनीयाः समांशकाः ।
 एतैः सर्वैः समो आह्वो गुग्गुलुर्महिषाक्षकः ॥७१॥
 खण्डयित्वा घृतेनार्द्रं पूर्वचूर्णं विनिक्षिपेत् ।
 सममर्द्य सर्पिषा गाढं कर्षार्द्धगुलिकां किरेत् ॥७२॥
 अथ विविधवातव्याधिचिकित्सा ।—

अथ योगराजगुग्गुलुः ।—

पिप्पलीपिप्पलीमूल-चव्यचित्तकनागरैः ।
 पाठावडङ्गेन्द्रयव-हिङ्गुभार्गीवचान्वितैः ॥७३॥
 सर्षपातिवषाजाजी-रेणुकाक्षणाजोरकैः ।
 गजक्षणाजमोदाभ्यां कटुकामूर्वमिश्रितैः ॥७४॥
 समभागान्वितैः सर्वैस्त्रिफला द्विगुणा भवेत् ।
 त्रिफलासहितैरेतैः समभागस्तु गुग्गुलुः ॥७५॥
 एतच्चूर्णीकृतं सर्वं मधुना च परिप्लुतम् ।
 योगराजमिमं विद्वान् भक्षयेत् प्रातरुत्थितः ॥७६॥

शतावर्ष्यादिगुग्गुलो—अर्द्धाङ्गवायौ एकाङ्गवातरोगे । सारणी प्रसारणी ।
 दीप्यका यमानौ । संज्ञका पीतकाष्ठं, पीतचन्दनं पद्मकाष्ठं वा इत्यर्थः ;
 “संज्ञका” इत्यत्र “संज्ञकम्” इति पाठः साधुः ; “अश्वगन्धा च संज्ञका” इत्यत्र
 “अश्वगन्धाश्चमारकाः” इति कश्चित् पाठः । कचोरः गन्धशटी । आर्द्रं सरसं
 यथा तथा, न तु शुष्कमित्यर्थः, आर्द्रमिति खण्डयित्वा इति क्रियायाः विशेषणम् ,
 खण्डयित्वा पिष्टा इत्यर्थः, गुग्गुलुमिति शेषः, प्रभूतघृतेन आर्द्रं यथा
 भवति, तथा गुग्गुलुं पिष्टा । पूर्वचूर्णं शतावर्ष्यादिचूर्णम् । आदौ शुद्धगुग्गुलुं
 घृतेन पिष्टा पश्चात् चूर्णं निक्षिप्य सर्पिषा प्रगाढं मर्दयेदिति निष्कर्षः । किरेत्
 दद्यादित्यर्थः ॥ ७०—७२ ॥

योगराजगुग्गुली—गजक्षणा गजपिप्पली । त्रिफला द्विगुणा निक्षिप्तत्रिफला-

अशींसि वातगुल्मश्च पाण्डुरोगमरोचकम् ।
 नाभिशूलमुदावर्त्तं प्रमेहं वातशोणितम् ॥७७॥
 कुष्ठं क्षयमपस्मारं हृद्रोगं ग्रहणीगदम् ।
 महान्तमग्निसादश्च श्वासकासभगन्दरम् ॥७८॥
 रेतोदोषाश्च ये पुंसां योनिदोषाश्च योषिताम् ।
 निहन्त्यादाशु तान् सर्वान् दुर्वारान् च संशयः ॥७९॥
 एष निष्परिहारोऽस्ति पानभोजनमैथुने ।
 सतताभ्यासयोगेन बलौपलितनाशनः ॥८०॥
 सर्वव्याधिर्वनिर्मुक्तो जीवेद्वर्षशतत्रयम् ।
 क्षीराज्यरसभुक्तानां दोषधातुमलोचितम् ॥
 बुभुक्षितो मातयाऽन्नमद्याङ्गुलुसेवकः ॥८१॥
 दार्वीकाथेन मेहं जयतीत्यादि ।

अथ द्वितीययोगराजगुग्गुलुः ।—

चित्रकं पिप्पलीमूलं यवान्नी कारवी तथा ।
 विडङ्गान्यजमोटश्च जीरकं सुरदारु च ॥८२॥
 चव्यैला सैन्धवं कुष्ठं रास्त्रागोक्षुरधान्यकम् ।
 त्रिफलांमुस्तकव्योष-त्वगुशीरं यवायजम् ॥८३॥
 तालीशपत्रं पत्रञ्च सूक्ष्मचूर्णानि कारयेत् ।
 एतानि समभागानि तावन्मात्रञ्च गुग्गुलुम् ॥८४॥
 सममर्थं सर्पिषा गाढं स्निग्धे भाण्डे विनिक्षिपेत् ।
 भक्षयेत् कर्षमात्रञ्च वातरोगान् विनाशयेत् ॥८५॥

चूर्णस्य सर्वचूर्णात् द्वैगुण्यम् । क्षीराज्यरसभुक्तानामित्यत्र रसः मांसरसः, तेन सह भुक्तानाम् इति सन्धत्वे षष्ठी । दार्वीति ।—अथ इत्यादिपदेन तत्तद्रोगहरानुपानेन प्रयुक्तोऽयं गुग्गुलुः तत्तद्रोगहरो भवतीत्यर्थः प्रतीयते । तन्मानरेऽस्य पिप्पल्यादि-
 गुग्गुलुरिति संज्ञा ॥ ७९—८१ ॥

द्वितीययोगराजगुग्गुलो—कारवी कृष्णजीरकम् । “चव्यैला” इत्यत्र “चव्यैला”

ततो मात्रां प्रयुञ्जीत यथेष्टाहारसेवनात् ।
 योगराज इति ख्यातो योगोऽयममृतोपमः ॥८६॥
 आमवाताब्जवातादौन् किमिदुष्टव्रणानि च ।
 ग्रीहगुल्मीदरानाह-दुर्नामानि विनाशयेत् ॥
 अग्निञ्च कुरुते दीप्तं तजोवृद्धिबलं तथा ॥८७॥

अथ बडवानलः ।—

शूलं तालकगन्धकी जलनिधेः फिनोऽग्निगर्भाशयः
 कान्तायो लवणानि हेमवचयोर्नीलाञ्जनं तुल्यकम् ।
 भागो द्वादशको रसस्य तदिदं वज्राम्बुष्टं शमैः
 सिद्धोऽयं बडवानलः गजपुटे रोगानशेषान् जयेत् ॥८८॥
 आर्द्रकस्य द्रवेणामुं दशवाराणि भावयेत् ।
 दिनद्वयं चित्रकस्य द्रावेणैव तु भावयेत् ॥८९॥
 पादांशममृतं दत्त्वा चित्रद्रावैः क्षणं पचेत् ।
 मात्रया योजयेच्चानु दशमूलमृतं पयः ॥९०॥
 वातश्लेष्मप्रधानं च दद्यात्तूषणचित्रकम् ।
 खेदञ्च कटुतुम्बिन्या प्रयुञ्जीतातिथ्यतः ॥
 दाहञ्च जयया हन्याच्छीतवातञ्च वर्जयेत् ॥९१॥

इति पाठान्तरम् । त्वक् गुडत्वक् । यवायजं यवचारम् । तावन्मात्रं सर्वेष्वर्थसमम् ।
 आद्यवातः ऊरुश्लेष्मः ॥ ८२—८७ ॥

बडवानलं—जलनिधेः फिनः समुद्रफिनः । अग्निगर्भाशयः शमी । लवणानि
 इति पञ्च ; अथ पञ्चानां लवणानां मिलितानामेको भागः । हेम स्वर्णे, तच्च
 भस्मोभुतं राक्षसम् । भागो द्वादशको रसस्य रसस्य पारदस्य द्वादशको भागः द्वादशानां
 पूरणः, एवञ्च रसैकभागेन सह गुल्मादीनां द्वादशभाग इत्यर्थः । वज्राम्बु सुहृदीश्वरं
 तेन पृष्टं मर्दितम् । अमुं बडवानलम् । पादांशममृतमिति सिद्धौषधपिचया ।
 चित्रद्रावैः क्षणं पचेत् चित्रकमूलकायेः सह मूलाट्टाहं शोणकट्टाहं वा मृदुपाकं
 कुर्यात् । दद्यात् तूषणचित्रकं तूषणचित्रककायमनुपातं कुर्यात् । दाहमिति ।—

अथ मार्त्तण्डेश्वरः ।—

समताप्ययुतं शुल्बं पलविंशतिमागकम् ।
 प्रश्नातं हि चतुर्वारं खण्डयित्वा ततश्चरेत् ॥८२॥
 तत्तुल्यमार्त्तकोपेतं पुटेर्द्वाविंशतिवारकम् ।
 गन्धकेन पुटेत्तावदुयावत् पलमितं भवेत् ॥८३॥
 क्षिपेत् पलमितं तत्र गन्धकेन हतं रसम् ।
 शाणमात्रं सृतं वर्ज्यं सर्वमेकत्र मर्दयेत् ॥८४॥
 इति सिद्धो रसेन्द्रोऽयं मार्त्तण्डेश्वरनामवान् ।
 कीर्त्तितो लोकनाथेन लोकानां हितकाम्यया ॥८५॥
 मरीचघृतसंयुक्तः सेविता मण्डलार्द्धतः ।
 वाताद्यष्टमहारोगान् श्वासकासयुतं क्षयम् ॥८६॥
 हलौमकञ्च पाण्डुञ्च ज्वरानपि सुदुस्तरान् ।
 इत्यादिकगदान् सर्वान् विनाशयति निश्चितम् ॥८७॥
 करोति दीपनं तीव्रं दीप्तानलशतोपमम् ।
 सन्निपातं जयत्याशु व्योषाद्रकममन्वितः ॥
 सर्वसौख्यकरो नृणां स्त्रीणां बन्धुत्वनाशनः ॥८८॥

अथ चतुःसुधरसः ।—

समभागे शुभे हस्त्रि निर्गूढं ताप्यमुत्तमम् ।
 शतधा शतधा रौप्ये शुल्बे च शतवारकम् ॥८९॥

जयथा जयन्त्या सङ्ग प्रयुक्तः सन् दाहं हन्तात् ; “दाहं च व्यजनं कुर्यात्” इति पाठान्तरम् ॥ ८८—८९ ॥

मार्त्तण्डेश्वरे—ताप्यशुल्बयोः मिश्रितयोः विंशतिपलमानता । प्रश्नातं भक्षोक्तं कीष्टिकायन्त्रे आध्यापितं वा । तुल्यमार्त्तकोपेतं धमनावशिष्टेन शोधनेन तुल्य-
 स्पर्शमार्त्तकसंयुक्तम् । गन्धकेन इति सर्वतुल्येन । पुटेर्द्वाविंशतिवारकम् ।—गन्धकं दत्त्वा दत्त्वा
 तावत् पुटेत् यावता पुटेन शोधनं पलमात्रमेव अवशिष्यात् । मण्डलार्द्धतः चतु-
 र्विंशतिदिवसनिवर्त्यः ॥ ८२—८८ ॥

इत्थं सिद्धमिदं बीजं पृथगक्षप्रमाणतः ।
 समावर्त्य तदेकत्र रसे पञ्चपलात्मके ॥१०६॥
 वक्ष्यमाणप्रकारेण जारयेदतियत्नतः ।
 तप्तं खल्ले रसं दत्त्वा बीजं निष्कर्मितं तथा ॥१०७॥
 मर्दयेदतियत्नेन भवेद्युवाह्नित्रयम् ।
 पूर्वाक्तकच्छपे यन्त्रे वक्ष्यमाणविडान्विते ॥१०८॥
 वक्ष्यमाणप्रकारेण बीजमेवमशेषतः ।
 बलिकाशीशकव्योम-काक्षीसौवर्चलैः समैः ॥१०९॥
 चक्राङ्गोरससन्निभैः शतधा विडमित्रवत् ।
 एवं जारितसूतं पलमात्रेण तावता ॥११०॥
 गन्धकेनापि कर्तव्या सुस्निग्धा वरकज्जलो ।
 लोहपात्रे घृतोपेतां द्वावयेत्तान्तु कज्जलीम् ॥१११॥
 तुल्यमत्त्वाभ्रभासितं क्षिप्त्वा सन्निभं सर्वशः ।
 रन्भापत्रे विनिक्षिप्य कुर्यात् पर्पटिकां शुभाम् ॥११२॥
 विचूर्ण्य पपटीं सम्यक् वैक्रान्तं त्रिंशदंशतः ।
 निक्षिप्य हिङ्गुतोयेन शतधा परिभाषितम् ॥११३॥

चतुःसुधरसे—निर्गुदं निःशेषेण प्रवेशितं, यासितमित्यर्थः । बीजं स्वर्णादियत्नं
 ताप्यमित्यर्थः । पूर्वाक्तकच्छपे यन्त्रे “जलपूर्णपात्रमध्ये” इत्यादिना नवमाध्यायीते ।
 वक्ष्यमाणविडान्विते बलिकाशीशकादिभिः कृतेन रसादीनां याससामर्थ्यापादकेन
 द्रव्यविशेषेण युक्ते इत्यर्थः । काक्षी सौराष्ट्रस्थिका । समैः समपरिमितैः ।
 चक्राङ्गोरससन्निभैः चक्राङ्गी सुदर्शना, पद्मगुडुचीत्यर्थः ; हिङ्गुलोषिका वा, तस्याः
 रसेन मर्दितैरित्यर्थः । शतधा इति चक्राङ्गोरससन्निभैरित्यनेन सम्बध्यते । विड-
 मित्रवत् इति बीजमित्यस्य विशेषणम् ; विडैव अभिन्नं यासकरणादित्यर्थः ; विड एव
 मित्रं मित्रनसम्पादनादित्यर्थो वा । “विडमित्रवत्” इत्यत्र “विडयन्त्रवत्” इति
 पाठकल्पना साधीयसीति मन्वानह् ; अष्टमाध्याये जारणालक्षणे “विडयन्त्रादि-
 बीजतः” इति पाठदर्शनात् । तुल्यमत्त्वाभ्रभासितं कज्जलीतुल्यमभ्रसत्त्वभासः ।

निरुध्य मल्लमूषायां स्वेदयेदतियत्नतः ।

पुनः सञ्चूर्ण्य यत्नेन करण्डे विनिवेशयेत् ॥१०८॥

हन्यात् सर्वमरुहदान् क्षयगदं पाण्डुञ्च नष्टाग्नितां

निर्वीर्यित्वमरोचकं त्वजरणं शूलञ्च गुल्मादिकम् ।

अष्टौ चैव महागदानतितरां व्याधिं सशोषं क्षणात्

भुक्तो मुद्गमितस्रतुःसुधरसः स्वस्थोचितो भूभुजाम् ॥१०९॥

मूलकं वर्जयेदस्मिन् रसे नान्यत्त, किञ्चन ।

द्विवारमेकवारिण बुभुक्षां जनयेद्भुवम् ॥११०॥

अथ सर्ववातारिः ।—

गन्धकाद्विगुणं तालं तालकाद्विगुणा शिला ।

शिलाया द्विगुणं ताप्यं ताप्याञ्च द्विगुणं रसम् ॥१११॥

वैकान्तं विंशदंशतः इति कञ्जान्यपेक्षया वैकान्तस्य विंशदंशत्वम् । द्विङ्गुनीयेन द्विङ्गुमिश्रितजलेन । विवारमिति भुक्त इत्यनेन सम्बध्यते । “एकवारिण” इत्यत्र “द्विवारम्” इति क्वचित् पाठः । अथमर्थः,—पादौ स्वर्णं तत्त्वमाद्यिकेन सह मर्दयित्वा लघुपटे पचेत्, ततः उद्धृत्य खल्लयित्वा च पुनः पचेत्, एवं शतपाकं कुर्यात् । स्नानं चत् रौप्यतामेऽपि । एवं-पक्त्व रसजारणे बीजाण्यस्यास्य प्रत्येकं कर्षमाणं पञ्चपल्लेन रसेन सह जारयेत् ; तत्र जारणाविधिश्चायं—तप्ते खल्ले पञ्चपल्लरसं गृहीत्वा पूर्वोक्तबीजानां प्रत्येकं शाखं तत्र निक्षिप्य मर्दयेत्, एकौभुते च तन्निम्नं पुनः निष्कसायं बीजं दत्त्वा मर्दयेत्, एवं दिनद्वयेन अक्षप्रमाणं तद्बीजं रसेन गासयेत्, ततः कञ्चूपयन्त्रे तं रसं अक्काङ्गीरसेन शतधा मर्दितं बलिकाशीगादि-कृतं विद्वच्च ऐक्यं पटेत्, एवं-जारितस्य तृणस्य पलं गन्धकस्य च पलं कञ्जली-कस्य घृताक्ते लोहपात्रे ऋदराकारेण तां कञ्जलीं द्रवीकुर्यात्, ततः द्रवीभूतायां तस्यां कञ्जलीप्रमाणम् अक्षसत्त्वमस्य निक्षिप्य मिश्रयेत्, अथ रसपर्पटीवत् रक्षापत्रे तां निक्षिप्य पर्पटिकां कुर्यात् । ततः तां पर्पटीं खल्ले विचूर्ण्य पर्पटी-मानात् विंशतिं भस्मवैकान्तं तत्र निक्षिप्य च द्विङ्गुमिश्रितजलेन भावनाविधिनिष्पन्नेन ज्ञतवारं भावयेत्, अनन्तरं मल्लमूषायां विद्वच्च पटेत्, स्नाङ्कश्रोतं समुद्धृत्य विचूर्ण्य च्छरव्यान्तः स्नापयेदिति ॥ ८८—११० ॥

खल्लयेत् सर्वमेकत्र यावत् स्याद्दिनसप्तकम् ।
 सर्वस्याष्टमभागेन दत्त्वा रक्तामृतं शुभम् ॥११२॥
 विषतिन्दुकजैर्द्रावैः पिष्ट्वा गोलकमाचरेत् ।
 विशोथ बालुकायन्त्रे अन्ध्रयेद्विमहयम् ॥११३॥
 स्त्राङ्गशीतलमुद्धृत्य तुल्यद्विङ्गुष्टकान्वितम् ।
 भावयेद्दीजपूरस्य सप्तवारं रसेन हि ॥११४॥
 सप्तवारं रसैः शुण्ठ्याश्चित्रमूलस्य वारिणा ।
 इति सिद्धो रसेन्दोऽयं सर्ववातारिमञ्जकः ॥११५॥
 घृतेन सहितो लौढो वल्लहयामितो नृभिः ।
 निहन्त्यशीतिवातार्त्तर्गुल्मानष्टविधानपि ॥११६॥
 चतुर्विधञ्च मन्दाग्निं शूलानुदरजान् क्रिमीन् ।
 आधानञ्च तथा द्विकां मूढवातञ्च विड्ग्रहम् ॥११७॥

अथ वातविध्वंसनः ।—

मृतमभ्रकसत्त्वं हि कांस्यं शुल्वञ्च मार्जकम् ।
 गन्धकं तालकं सर्वं भागोत्तरविवर्द्धितम् ॥११८॥
 कज्जलीकृत्य तत् सर्वं वातारिस्नेहसंयुतम् ।
 मर्दयेत् सप्तदिवसं गोलौकृत्य तु यत्नतः ॥११९॥
 निम्बद्रवेण सम्यष्टं तालकल्केन लेपयेत् ।
 अर्द्धाङ्गुलदलैश्चैव परिशीथ्य प्रयत्नतः ॥१२०॥

सर्ववातारो—रक्तामृतं रक्तवर्णं महाविषं, बल्यमाषविषकल्पे “रक्तवर्णे महा-
 विषम्” इति दर्शनात् । विशोथ इत्यत्र आतपे इति शेषः । अन्ध्रयेत्
 वाचयेदित्यर्थः । तुल्यद्विङ्गुष्टकान्वितं पाण्डितोषधतुल्येन द्विङ्गुष्टकाख्येन अप्रिमाभ्याधि-
 कारोक्तेन तन्त्रालरोधेन औषधेन मिश्रितम् ; तच्च “त्रिकटुकमजमोदा सैन्धवं
 जीरेके वै । समधरवधृतानामष्टमो द्विङ्गुभागः ॥ प्रथमकवङ्गमुक्तं सर्पिषा चूर्णमेतत् ।
 ज्वनयति जठराग्निं वातरोगांश्च कथ्यात् ॥” इत्यनेन उक्तम् ॥ १११—११७ ॥

वातविध्वंसने—मृतमिति पदम् अम्रकसत्त्वादिभिः सर्वैः संमिश्र्यते । “मृतम्”

प्रपचेद्बालुकायन्त्रे यामानां द्वादशावधि ।
 पटचूर्णं विधायैतद्भावयेत्तदनन्तरम् ॥१२१॥
 पञ्चकोलकचित्राङ्घ्रि-वरुणादिकषायतः ।
 दशमूलकषायेण शृङ्गवेररसेन च ॥१२२॥
 रक्तामृतं कलांशेन दत्त्वा निष्पिष्य यत्नतः ।
 स्थूलकोलास्थितुलितां छायाशुष्कां वर्टीं किरेत् ॥१२३॥
 तत्तद्रोगहरैर्द्रव्यैर्नृणां देया सदा हिता ।
 हन्यादशौतिधा भिन्नान् वातजातान् महागदान् ॥१२४॥
 गुल्मानष्टविधांश्चापि शूलानष्टविधानपि ।
 जठरस्य रुजः सर्वास्तथा च मलनिग्रहम् ॥१२५॥
 आध्मानकमथाऽऽनाहं विसूर्चो मन्दर्वाङ्गताम् ।
 आमदोषानशेषांश्च दाहं कूर्दिष्व दुर्द्धराम् ॥१२६॥
 ग्रहणीं श्वासकासौ च क्रिमिरोगमशेषतः ।
 हन्यात् सर्वाङ्गसदनं मन्यास्तम्भश्च वाजिनाम् ॥१२७॥

इत्यत्र “सुतम्” इति रसेन्द्रसारोक्तः पाठः समीचीनः ; स्रुतमिति पाठे कञ्जली-
 करणानुपयोगित्वात् । “शुद्धम्” इत्यत्रापि “शुद्धम्” इति तत्र पाठः । भागीश्वर-
 विवर्द्धितम् उत्तरीश्वरमेकैकभागवद्धम् । वातारिखेष्टः परगुडतैलम् । गोक्षीकृत्य
 इत्यादौ—निम्बद्रवेण सम्पिष्टं तत्र सर्वं अवतः गोक्षीकृत्य तालकल्केन
 स्वेपयेदित्यन्वयः । तालकल्कमानान् यावता कल्केन लेप्य अर्द्धाङ्गुलघनता
 भवेत् तावदिति बोद्धव्यम् । “सम्पिष्टं तालकल्केन” इत्यत्र “सम्पिष्टतालकल्केन”
 इति पाठे—हरिताले निम्बद्रवेण सम्पिष्य तेन कल्केन इत्यर्थः । “तालकल्केन”
 इत्यत्र “तिलकल्केन” इति रसेन्द्रसारसङ्गृहे पाठः । अर्द्धाङ्गुलदलम् इति
 स्वेपयेदिति क्रियाया विशेषणम् ; अर्द्धाङ्गुलदलम् अर्द्धाङ्गुलीक्षेधमित्यर्थः ।
 भावयेदिति समाहं भावयेत् । चित्राङ्घ्रिः इन्द्रवारुणीमूलम् । वरुणादि वरुणादि-
 गणः ; स च “वरुणात्तंगली शिशुनकारी मधुशिशुकः । मेघशृङ्गोकरज्जो च
 विष्णुप्रियमन्यभीरटाः ॥ श्रेयीयो वसिरो दर्भो वरी वसुकचिवनौ । विल्लखेवाज-
 शृङ्गी च वृक्षोद्यमेव च ॥ वरुणादिर्गणः प्रोक्तः” इत्यादिना “वरुण-सङ्घचरवय-

ज्वरे चैवातिमारि च मूलरोगे त्रिदोषजे ।

पथ्यं रोगानुरूपेण दापनोयं भिषग्वरैः ॥१२८॥

श्रोमता नन्दिना प्रोक्तो वातविध्वंसनो रसः ।

क्षुधार्थिभिः सदा सेव्यः सर्वाहारपरैर्नरैः ॥१२९॥

अथ वृकोदरगुटिका ।—

सूतगन्धकतीक्ष्णाभ्रैः सताप्यैः समभागिकैः ।

रसांशमपरं सर्वं षट्कोलं जीरकद्वयम् ॥१३०॥

सौवर्चलं समिन्धृत्यं विडङ्गञ्च हरीतकी ।

अम्लवेतसकं सर्वं वोजपूरास्बुमार्दितम् ॥

गुटिकास्तेन कल्केन कार्याः कोलास्थिमात्रकाः ॥१३१॥

योगिन्या बहुघातिनामयुतया त्रैलोक्यविख्यातया

निर्दिष्टा हि वृकोदरीति गुटिका सोष्णास्बुना सेविता ।

निःशेषानिलदोषरोगजरुजः श्लेष्मामरोगोद्भवं

मन्दाग्निं ग्रहणीं चतुर्विधमहाजीर्णञ्च तूर्णं जयेत् ॥१३२॥

शतावरी-दहन मीरट-विल्व-विषाणिका-हिबिडती-द्विकरञ्ज-जयाद्वय-बहुलपल्लव-दभं-
रुजकराः” इत्यादिना वा उक्तः । पञ्चकोलकाथेन इन्द्रवाक्थौमूलकाथेन बरुणादि-
गणकाथेन च इत्यर्थः । कल्पाशेन पाचितौषधापेक्षया षोडशांशेन । रसेन्द्रसारे
“षट्चूर्णम्” इत्यारभ्य “शूलानलविधानपि” इत्यन्तस्य पाठस्य न्यूनता दृश्यते ।
वाजिनाम् इत्यत्र अपीति शेषः । “वाजिनाम्” इत्यत्र रसेन्द्रसारे “तथैव
च” इति पाठः । क्षुधार्थिभिः मन्दाग्निभिः अत एव क्षुधावर्द्धनेच्छुभि-
रित्यर्थः ॥ ११८—१२९ ॥

वृकोदरगुटिकायां—रसांशमपरं सर्वमिति षट्कोलादीनामम्लवेतसालानां
सर्वेषां भित्तिरित्या रसभागता, सर्वेषां समभागत्वे रसांशं तथा सर्वमिति पदयोः
त्रैयर्थ्यान्तः । षट्कोलं षड्ब्रह्मं, तत्तु “पञ्चकोलं समरिचं षड्ब्रह्ममुदाहृतम्”
इत्युक्तकथम् । बहुघातिनामयुतया बहुव्याधिघट्टन्तृत्वात् बहुघातिनीतिर्भाष्यक्या ।
श्लेष्मास्बुना इत्यत्र सा इति पृथक् पदं, वृकोदरी गुटिकेत्यर्थः । निःशेषेति ।—

अथ प्रभावती वटी ।—

हेमाभ्रालकतीक्ष्णताप्यकमलामेषां समं सप्तकं
सूतञ्च द्विगुणं विशोधनबधूस्त्रुग्वङ्गिशीभाञ्जनात् ।
पाठाशूरणसिन्दुवारविजयैरण्डद्रवैर्मर्दितं
तैलं काङ्गुणिगन्धकं कटुं भवेत् कल्कं वटीं कल्पयेत् ॥१३३॥
प्रभावतीति कथिताऽऽर्द्रकद्रावैर्निषेविता ।
ततश्चानु पिबेत्तोयं दशमूलप्रमाधितम् ॥१३४॥
सपिप्पलीकं पिबतो जलं जयेत्
मरुदिकारानुदराण्यपस्मृतिम् ॥१३५॥

रोगपटसामानाधिकरण्यात् विकृतः दुःखकारी अनिलदोषः अनिलदोषरोगः तस्मात्
ज्ञाताः रजः अनिलदोषरोगजरजः, निःश्रीपाः अशेषाः, सर्वा इत्यर्थः, अशीति-
रिति यावत्, अनिलदोषरोगजरजः इति विशुद्धः । श्लेष्मानरोगोद्धवमित्यत्र रज-
मिति शेषः ॥ १३०—१३२ ॥

प्रभावतीव्या—कमलं ताम्रं तेषाम्, अथ स्वरत्नस्यापि कमलगन्धस्य कन्दो-
ऽनुरोधान् हललत्वेन पाठः । “कमलामेषाम्” इत्यत्र “कमलं सूर्यम्” इति कस्यचित्
पाठे—कमलं कङ्कुमं, सूर्यं ताम्रम् । एषां हेमादीनां समं समभागता । सप्तकं
सप्तानां पूरणं सप्तमनित्यर्थः, सूतमित्यनेन मन्वध्यते ; सूतं द्विगुणम् इति एकभागा-
पेक्षया ज्ञेयम् । विशोधनं विशोधनी, नागवल्लीत्यर्थः, बधूः स्पृक्षा सारिवा वा ;
यद्वा—विशोधनबधूः इत्येकपदं, विशोधनी या बधूः सारिवेत्यर्थः ; सारिवायाः
रक्तशोधकत्वात् । शोभाञ्जनात् शोभाञ्जनत्वर्थः, उद्धूतैः द्रवैरिति शेषः । तैलं
शिल्लकम् । कङ्गुणी प्रियङ्गुः दणधान्यविशेषा वा, तस्याः फलं बीजं वा काङ्गुणिः ;
ऋष्योऽत्र छान्दसः । कटुं विकटुः ; यद्वा—तैलमिति पदं काङ्गुण्यादिभिः सर्वैः
संयोजनीयं, काङ्गुणि तैलं कङ्गुणीबीजकृतं तैलं, गन्धकं तैलं गन्धकस्य तैलं, तथा
कटुतैलञ्च ; “तैलं...कल्कम्” इत्यत्र “तैलैः काङ्गुणिजैश्च गन्धकयुतात् कल्कान्”
इति कुवचित् पाठः । विशोधनादिभिर्द्रवैः मर्दनानन्तरम् एतत् सर्वं भवेदित्यत्र
द्वयमिति शेषः । कल्कं द्रवैः शिलाया पिष्टं हेमादिकम् । सपिप्पलीकं पिप्पली-
चूर्णप्रक्षेपयुक्तम् । पिबतो जलं दशमूलकाणं पिबतो जनस्य । अपस्मृतिम्
अपकारम् ॥ १३३—१३५ ॥

अथ एकाङ्गवाते पर्पटीरसप्रयोगे विध्यन्तरम् ।—

अष्टगुञ्जमितं खादेदेकाङ्गे पर्पटीरसम् ।

अर्द्धकर्षं घृतेनानु योगराजञ्च गुग्गुलुम् ॥१३६॥

अथ विजयभैरवतैलम् ।—

धान्यान्लपिष्टसुरभिवयसूतलिप्त-

तैलाक्तटोमपटवार्त्तिमुखात् प्रवृत्तम् ।

कम्पोत्तरान् जयति पानविलेपनाभ्यां

वातामयान् विजयभैरवनाम तैलम् ॥१३७॥

उक्तञ्च—

रसतालशिलागन्धं दिनं सञ्चूर्ण्य काञ्जिकैः ।

लिप्ता वस्त्रैः कृतां वर्त्तिं तैलाक्तां ज्वालयेत् पुनः ॥१३८॥

तद्भूतं सङ्गृहे तैलमधःपात्रे धृतं सति ।

तत्तैललेपितं पत्रं नागवस्त्राश्च भक्षयेत् ॥१३९॥

बाहुकम्पं शिरःकम्पमेकाङ्गं जानुकम्पनम् ।

नाशयेत् भक्षणास्त्रेपात् तैलं विजयभैरवम् ॥१४०॥

एकाङ्गवाते पर्पटीरसप्रयोगस्य विध्यन्तरमाह, अष्टगुञ्जेति ।—पर्पटीरसेत्यादिना ६७।६८ श्लोकयोः उक्तस्यापि अस्य योगस्य योगराजगुग्गुलोः पर्पटीरसस्य अनुपानत्वे-
नात्र कल्पनात् पूर्वयोगापेक्षया पुष्टकं सन्तव्यं, तत्र उभयोः मिलितयोरेव
प्रयोगविधानात् ॥ १३६ ॥

विजयभैरवतैले—धान्यान् काञ्जिकम् । सुरभिवयं गन्धकवयं, तच्च शिलाताल-
गन्धकवपं, न तु त्वगेलापत्रवपं विजातकम् ; तन्तान्तरौघविजयभैरवदर्शनात्,
व्याकथ्यति च स्वयमेवैतदये । तैलाक्ता कटुतैलाक्ता ॥ १३७ ॥

सुरभिवय इति पदस्य शिलातालगन्धकार्यकत्वप्रतिपादनाय तन्तान्तरौघविजय-
भैरवतैलस्य पाठमुपन्यस्यति, उक्तस्येत्यादिना ।—“वस्त्रैः” इत्यत्र “वस्त्रे” तथा
“तद्भूतं सङ्गृहे” इत्यत्र “तद्भूतं याचयेत्” इति रसरत्नाकरोक्तः पाठः साधः ।
तद्भूतं तद्भूतं, तन्निःसृतनिलयः । सङ्गृहे संस्थापिते इत्यर्थः । “तत्तैललेपितं

अथ स्वच्छन्दभैरवः ।—

तीक्ष्णायस्कान्तगोदन्त-माक्षिकैर्मर्दितो रसः ।

समांशगन्धकः पक्वो हृण्डिकायन्त्रमध्यगः ॥१४१॥

व्योषाग्निमत्स्यसुरसा-कन्दशृङ्गाभयाविषैः ।

समैः समं त्राहं मुण्डौ-निर्गुण्डीरसापिण्डितः ॥१४२॥

सेवितः शमयेद्वातान्नाम्ना स्वच्छन्दभैरवः ।

विशेषात् वातरक्तञ्च दिवल्लञ्चाऽऽर्द्रकैर्ददेत् ॥१४३॥

अथ द्वितीयविजयभैरवतैलम् ।—

रमगन्धशिलातान्नं सर्वं कुर्यात् समांशकम् ।

चूर्णयित्वा ततः श्लक्ष्णमारनालेन मर्दयेत् ॥१४४॥

लेपयित्वा तु कल्केन सूक्ष्मवस्त्रं ततः परम् ।

तैलाक्तां कारयेदुवर्त्तिमूर्द्धभागे प्रदीपयेत् ॥१४५॥

वक्ष्येधःस्थापिते पात्रे तैलं पतति शोभनम् ।

लेपयेत्तेन गात्राणि भक्षयेदातुरस्तथा ॥१४६॥

पत्रं नागवज्राय” इत्यत्र “तत्तैलेर्लेपयेद्भावं नागवज्राय च” इति रसरत्नाकरे पाठान्तरम् ॥ १३८—१४० ॥

स्वच्छन्दभैरवे—तीक्ष्णं तीक्ष्णलोहम् । अयस्कान्तः “चुम्बक” इति प्रसिद्धः लोहा-
कर्षकप्रसारविशेषः ; तीक्ष्णायः तीक्ष्णलोहं, कान्तं कान्तलोहमिति वा । गोदन्तः
स्वनामग्न्यातः विषविशेषः । रसः पारदः । अत्र तीक्ष्णादीनां गन्धकान्तानां सर्वेषां
तुल्यता । हृण्डिकायन्त्रमध्यगः श्यालीयन्त्रमध्यगः ; तल्लक्षणन्तु “स्थाख्यां ताम्रादि”
इत्यादिना नवमाध्याये प्रोक्तम् । सुरसा निर्गुण्डी । कन्दः शूरणम् ; “कन्द” इत्यत्र
“टङ्” इति पाठान्तरम् । शक्नो कर्कटशक्नो । समं सह । तीक्ष्णादिगन्धकान्तं
सर्वे तुल्यभागं खल्ले सम्यग् श्यालीयन्त्रे पचेत्, ततः श्याषादीनां प्रत्येकं
चूर्णमेकैकभागसमं दत्त्वा मुण्डौनिर्गुण्डीरसाभ्यां यत्र समं अपिण्डितं कुर्यात् ;
अथवा—तीक्ष्णादिकं विधानं सर्वे समांशं हृण्डिकायन्त्रे विदिनं पक्वा अनन्तरं मुण्डौ-
निर्गुण्डीरसाभ्यां मर्दयित्वा बटौ कुर्यादिति ॥ १४१—१४३ ॥

नाशयेत् सूततैलं तत् वातरोगाननेकधा ।

बाहुकम्पं शिरःकम्पं जङ्घाकम्पं ततः परम् ॥१४७॥

एकाङ्गञ्च तथा वातं हन्ति रोगाननेकधा ।

रोगशान्त्यै सदा देयं तैलं विजयभैरवम् ॥१४८॥

अथ द्वितीयवडवानलः ।—

सूतहाटकवज्जार्क-कान्तभस्म समाक्षिकम् ।

तालं नीलाञ्जनं तुल्यमव्यभिफेनं समांशकम् ॥१४९॥

पञ्चानां लवणानान्तु भागैकैकं विमर्दयेत् ।

वज्रक्षीरैर्दिनैकान्तु रुद्धा तं भूधरे पचेत् ॥१५०॥

माषैकञ्चाऽऽर्द्रकद्रावैर्लेहयेत् वडवानलम् ।

पिप्पलीमूलजं क्वाथं सपिप्पल्यनुपाययेत् ॥

धनुर्वातं दण्डवातं शृङ्खलावातकम्पनुत् ॥१५१॥

अथ द्वितीयस्वच्छन्दभैरवः ।—

शुद्धं सूतं मृतं लोहं ताप्यगन्धकतालकम् ।

पथ्याग्निमन्यनिर्गुण्डी-तृणप्रणं टङ्कणं विषम् ॥१५२॥

तुल्यांशं मर्दयेत् खले दिनं निर्गुण्डिकारसैः ।

मुण्डीद्रावैर्दिनैकं तं द्विगुञ्जं वटकीकृतम् ॥

भक्षयेत् सर्ववातात्तां नाम्ना स्वच्छन्दभैरवः ॥१५३॥

द्वितीयविजयभैरवतैले—सर्वे व्याख्यातपूर्वम् । तत्र पर्णखण्डेन सह भक्षयाद्य उपदेशः कृतः, अत्र तु विना पर्णखण्डं केवलस्यास्य सेवनमपि रोगहृत् भवति इति प्रदर्शनार्थं पुनरुल्लेखः कृतः ॥ १४४—१४८॥

द्वितीयवडवानले—हाटकं स्वर्णम् । वज्रं हीरकम् । वज्रक्षीरे, कुहीक्षीरे, रसेन्द्रसारं वातनाशनसंशोऽयम् ॥१४९—१५१॥

द्वितीयस्वच्छन्दभैरवे—“मुण्डीद्रावैः” इत्यत्र “शृङ्खलीद्रावैः” इति रसरत्नाकरे पाठान्तरम् ॥ १५१/१५२ ॥

अथ षडङ्गगुग्गुलुः ।—

रास्नामृतादेवदारु-शुण्ठीवातारितुल्यकम् ।

गुग्गुलुं सर्वतुल्यांश्च कुट्टयेत् घृतवासितम् ॥

कर्षांश्च भक्षयेच्चानु ख्यातः षष्ठाङ्गगुग्गुलुः ॥१५४॥

अथ षडङ्गयोगः ।—

धूमसारं वरां यष्टीं टङ्कणं पत्रकं विषम् ।

तुल्यं गुच्छाद्वयं खाटेदामवातप्रशान्तये ॥१५५॥

अथ त्रिफलाद्यं यमकम् ।—

एरण्डतैलं त्रिफलां गोमूत्रं चित्रकं विषम् ।

सर्पिषा सहितं पक्त्वा सर्वाङ्गं तेन मर्दयेत् ॥

त्वग्वातघ्नं महाश्रेष्ठं— ॥१५६॥

*अथ त्वग्वाते आनन्दभैरवप्रयोगोपदेशः ।—

“—देयंश्चाऽऽनन्दभैरवम् ।

लशुनं सैन्धवं तैलमनुपानं प्रकल्पयेत् ॥ १५७ ॥

षडङ्गगुग्गुलौ—वातारिः एरण्डः तस्य मूलम् । रास्नादीनां तुल्यकं तुल्यांशता इत्यर्थः । “तुल्यकम्” इत्यत्र रसरत्नाकरोक्तः “तैलकम्” इति पाठस्तु समीचीनः । घृतवासितं घृतमिश्रितम् । अथ कुट्टनानन्तरमित्यर्थः । “अमृता देवकाष्ठशुण्ठी वातारितैलकम् । गुग्गुलुं सर्वतुल्यांश्च कुट्टयेच्च सदा दृढम् ॥ कर्षांश्च भक्षयेच्चानु ख्यातः षडङ्गगुग्गुलुम् ॥” इति रसरत्नाकरोक्तः पाठस्तु लिपिकर-प्रसादविजृम्भित इति प्रतिभाति, रास्नाभावे पञ्चाङ्गतया षडङ्गगुग्गुलुरिति नाम-भेदव्याप्तिर्दिशि ॥ १५४ ॥

षडङ्गयोगी—धूमसारं गृह्णधूमम् । वरां त्रिफलाम् ॥१५५॥

त्रिफलाद्ययमके—एरण्डतैलसर्पिषोः मिलित्वा प्रस्थः, गोमूत्रं चतुर्गुणं, त्रिफला-चित्रकविषाणां कल्कः श्लेष्मादिकः । अथवा—एरण्डतैलमपि कल्कविधया याज्यं, घृतश्लेष्मप्राधान्येन यक्षणात्, एवञ्च सर्पिषः प्रस्थः, गोमूत्रं चतुर्गुणम् एरण्डतैलत्रिफला-चित्रकविषाणां कल्कः श्लेष्मचतुर्थीशः । त्वग्वातघ्नं रसगतवातव्याधिनाशनम्, उपधातुदोषां लघुं प्राप्तस्य वायोः नाशनम् इति वा ॥१५६॥

त्वग्वाते अधिकारान्तरोक्तमौषधमिशेषमुपदिशति, देयमिति ।—चः समुच्चये,

अथ निर्गुण्डीप्रयोगः ।—

निर्गुण्डीमूलचूर्णन्तु कर्षं तैलेन लेहयेत् ।

सन्धिवातः कटीवातः कम्पवातश्च शाम्यति ॥ १५८ ॥

अथ रत्नैरण्डप्रयोगः ।—

रक्तस्यैरण्डमूलस्य कर्षं घृष्ट्वा जलैः पिबेत् ।

सर्ववातहरं श्रेष्ठं भग्नवाते विशेषतः ॥ १५९ ॥

अथ इन्द्रवारुणीप्रयोगः ।—

इन्द्रवारुणिकामूलं मागधीगुडसंयुतम् ।

भक्षयेत् कर्षमात्रन्तु सन्धिवातहरं भवेत् ॥ १६० ॥

अथ सर्वाङ्गवातारिरसः ।—

मृतं सूतं मृतं तौक्ष्णं मर्दयेत् कटुकीदृवैः ।

चणमात्रां वटीं खादेत् सर्वाङ्गैकाङ्गवातनुत् ॥ १६१ ॥

सर्पिणा सर्वाङ्गं मर्दयेत्, आनन्दभैरवश्च देयमित्यर्थः ; “देयश्च” इत्यत्र “देयं वा” इति पाठान्तरम् । आनन्दभैरवं “द्विङ्गलं वत्सनाभश्च” इत्यादिना षोडशाध्यायोक्तम् । लघुनमिति ।—लघुनादिवयम् आनन्दभैरवसेवनानन्तरमनुपातं कुर्यात् । तैलमत्र ऐरण्डं, मात्रा च कर्षमात्रा ; तथा च रसरत्नाकरे—“लघुनं सैन्धवं तैलं कर्षमात्रं सुखावहम्” इति ॥ १५७ ॥

निर्गुण्डीप्रयोगे—तैलेन एरण्डतैलेन ॥ १५८ ॥

भग्नवातरत्नैरण्डप्रयोगे—सर्वं स्पष्टम् ॥ १५९ ॥

सन्धिवातहरं इन्द्रवारुणीप्रयोगे—इन्द्रवारुणिकामूलं गोरक्षकर्कटीमूलम् । मागधी पिप्पली । कर्षमात्रमिति इन्द्रवारुणिकादीनां त्रयाणां मिलित्वा कर्षमात्रता ॥ १६० ॥

सर्वाङ्गवातारिरसे—“तौक्ष्णम्” इत्यत्र “ताम्रम्” इति रसरत्नाकरे पाठः । कटुकीदृवैः कटुरोहिणीकवायैः । कटुकीदृवैर्भावनाश्च एकविंशतिवारान् देयाः ; तथा च रसरत्नाकरे—“मृतं सूतं मृतं ताम्रं मर्दयेत् कटुकद्वयैः । एकविंशतिवारश्च श्रेष्ठं पेष्यं पुनः पुनः ॥ अथमात्रा वटी भक्ष्या रसः सर्वाङ्गकम्पजित् ॥” इति । यत्र चायं सर्वाङ्गकम्पारिरसः इति ख्यातम् ॥ १६१ ॥

अथ वाग्वकेश्वररसः ।—

सूतकस्य पलं पञ्च पलैकं ताम्रचूर्णकम् ।
जम्बीराणां द्रवैः पिष्टं सूततुल्यञ्च गन्धकम् ॥१६२॥
नागवल्लीदलैः पिष्टं ताम्रपिष्टं प्रकल्पयेत् ।
रुद्धा लघुपुटेः पथ्याङ्गधरे यामपञ्चकम् ॥१६३॥
आटाय चूर्णयेत्तुल्यैस्त्रूपषणैः सममिश्रितैः ।
अर्द्धाङ्गकम्पवातार्त्तो भक्षयेच्च द्विगुञ्जकम् ॥१६४॥

अथ गगनगर्भा वटी ।—

सूताभ्रं तीक्ष्णताम्रञ्च सूतं तालकगन्धकम् ।
भार्गीशुगठीवचाधान्य-कम्पिल्लञ्चाभयाविषम् ॥१६५॥
मर्द्यं पर्पटकद्रावैर्निष्कैकां भक्षयेद्वटीम् ।
वातश्लेष्महरा ह्याशु वटी गगनगर्भिता ॥१६६॥

अथ वातगजादुशः ।—

सूतं सूतं सूतं लोहं गन्धकं तालमान्जिकम् ।
पथ्याभृङ्गीविषं व्योषमग्निमन्यञ्च टङ्कणम् ॥१६७॥

वाग्वकेश्वररसे—ताम्रपिष्टं सूतगन्धकाभ्यां पिष्टं ताम्रमित्यर्थः । तुल्यैः द्रूपषणैः सममिश्रितैः प्रत्येकं समभागेन मिलित्वा पाषितौषधतुल्यैस्तिकटार्भिरित्यर्थः । “ताम्रपिष्टम्” इत्यत्र “ताम्रपवीम्” इति रसेन्द्रसार-रसेन्द्रचिन्तामण्युक्तं पाठान्तरं समीचीनं सुबोधम् । रसेन्द्रसारसङ्गृहे “पिण्डोरसः” रसेन्द्रचिन्तामणौ “पिष्टोरसः” तथा रसरत्नाकरे “अर्द्धाङ्गवातार्त्तरसः” इत्यादिभिर्विविधैः नामभिः ख्यातोऽयम् । तत्र तत्र च पाठान्तराण्यस्य विविधानि श्रूयानि ॥ १६२—१६४ ॥

गगनगर्भां—“वचा” इत्यत्र “वला” “कम्पिल्लम्” इत्यत्र “कटफलम्” तथा “पर्पटकद्रावैः” इत्यत्र “अपलाद्रावैः” इति पाठान्तराणि रसेन्द्रसार-सङ्गृह-रसरत्नाकरयोः दृश्यन्ते । पर्पटकद्रावैः लेवपर्पटोरसैः । “अपलाद्रावैः” इति पाठे—पिप्पलीकावैः । तत्र तत्र चास्य सङ्गावातगजादुशः इति संज्ञा दृश्यते ॥ १६५।१६६ ॥

तुल्यं खल्ले दिनं मर्यं मुण्डोनिर्गुण्डजैर्द्वैः ।
 दिगुज्जां वटिकां खादत् सर्ववातप्रशान्तये ।
 साध्यासाध्यं निहन्त्याशु रमो वातगजाङ्गुशः ॥१६८॥

अथ वातरक्तलक्षणम् ।—

सन्धिष्वनिलरक्ताभ्यां शोफोऽन्तर्बहिराश्रयः ।
 कर्दिज्वरासचिकरो भवेदातास्रमञ्जकः ॥१६९॥

अथ वातरक्तचिकित्सा ।—

अथ वातरक्ते अन्याधिकारोक्तौषधप्रयोगोपदेशः ।—

त्रिनेत्राख्यं रसं खादेहातशोणितपीडितः ।
 वातास्रजिच्छूलगज-केशर्युदयभास्करः ॥१७०॥
 पूर्वोक्ता पर्पटो योज्या सर्वेष्वारणेषु च ।
 सर्वरोगहिता चैव नाम्ना सर्वेश्वरी शुभा ॥१७१॥

अथ पित्तरोगचिकित्सा ।—

अथ चन्दावल्लहः ।—

एलायाश्च तुला ग्राह्या जलद्रोणे विपाचयेत् ।
 अष्टभागावशिष्टन्तु शर्करार्द्धतुलां क्षिपेत् ॥१७२॥

वातगजाङ्गुशे—भृङ्गो अतिविषा । “भृङ्गी” इत्यत्र “शृङ्गी” इति रससन्दसार
 भृङ्गो पाठः ॥ १६७।१८ ॥

वातान्याधिविशेषत्वात् तदनन्तरं वातरक्तचिकित्सितं विवक्षुः तल्लक्षणमाह,
 सन्धिष्विति ।—वातास्रमञ्जकः वातरक्ताख्यः ॥ १६९ ॥

वातरक्ते अधिकारान्तरोक्तानौषधविशेषानतदिदं, त्रिनेत्राख्यमिति ।—शूल-
 गजकेशरी-त्रिनेत्राख्यरसौ शूलाधिकारोक्तौ । उदयभास्करः शूलाधिकारोक्तः
 प्रमेहाधिकारोक्तौ वा । पूर्वोक्तिः ।—सर्वेषु आवरणेषु वातावरणेषु रक्तेषु, वातरक्तेषु
 इत्यर्थः । वातरक्ते हि दुष्टो वायुः दृष्टेन रक्तेन आहतो भवति, यदुक्तं चरके,—“वायुः
 प्रवृद्धो हृत्तेन रक्तेनावरितः पथि । क्रुद्धः सन्दूषयेद्रक्तं तज्ज्ञेयं वातशोणितम् ॥” इति ।
 पूर्वोक्ता विद्वह्यक्ता सर्वेश्वरीति, नाम्ना प्रसिद्धा पर्पटौ सर्वेश्वरपर्पटौत्यर्थः ॥१७०।१७१॥

चन्दावलेहः—तुला शतपलम् । अष्टभागावशिष्टमिति विपाचयेत् इत्यर्थः

श्रतावर्या विदार्याश्च गोक्षीरञ्चाऽऽढकं पृथक् ।
 लेहवत् साधिते तस्मिन् द्राक्षा मधुकपिप्पलीः ॥१७३॥
 विजातकञ्च खर्जूरं चन्दनद्वयसारिवा ।
 मुस्तापञ्चकङ्गीवेर-धात्री चोत्पलचोरकम् ॥१७४॥
 एतेषां पलमादाय क्षिपेत् क्षीर्याश्चतुष्पलम् ।
 क्षौद्रप्रस्थेन संयुक्तं लेहयेत् प्रातरुत्थितः ॥१७५॥
 पित्तोन्मादविकारिषु शिरोभ्रमणमूर्च्छिते ।
 हस्तपादाङ्गदाहे च पित्तरक्तोत्तरावृत्तौ ॥
 कटिकासक्षये पाण्डौ चन्द्रवच्चन्द्रभाषितम् ॥१७६॥

अथ ऐलेयसर्पिः ।—

ऐलेयकस्य स्वरसे घृतं क्षीरं समं पचेत् ।
 चन्दनं मधुकं द्राक्षा मधुकञ्च मिता तुगा ॥१७७॥
 ऐलेयकमिदं सर्पिः सर्वपित्तविकारजित् ।
 वातपित्तविकारघ्नं शिरोभ्रमणकम्पनुत् ॥१७८॥

विशेषणम् । गोक्षीरमित्यत्र समासान्तर्गतमपि क्षीरपदं श्रतावरीत्यादिभिरपि संयोजनीयम् ; तेन च श्रतावर्याः क्षीरं विदार्याः क्षीरं गोः क्षीरञ्च ; क्षीरब्रह्म-मानत्वात् श्रतावरीविदारोरसयोः क्षीरसंज्ञा । विजातकं त्वगिलापत्रकम् । क्लीबं बालकम् । क्षीरकं क्षीरपुष्पी सूक्ता वा । पथमिति पृथक् पलमानम् । क्षीर्याः तुगाक्षीर्याः । चन्द्रवत् इति व्याधिजमन्तापनिवारणाय । चन्द्रभाषितं चन्द्रेण तन्नाम्ना रसकीवटेन चन्दमसा वा भाषितं कथितम् ॥ १७२—१७६ ॥

ऐलेयसर्पिषि—ऐलेयकस्य एलबालकस्य आट्टस्य इत्याशयः, अन्यथा स्वरसस्य दृष्टान्तात्वात् ; स्वरसाभावे तु “कुडवं चूर्णितं द्रव्यं प्रक्षिप्तं द्विगुणे जले । अक्षराक्षं स्थितं तस्मात् भवेद्वा रस उत्तमः ॥” इत्युक्तलक्षणकः “शुक्लद्रव्यमुपादाय स्वरसा-नामसन्धेः । वाग्विष्यष्टगुणे साध्यं यावत् पादावशेषितम् ॥” इत्युक्तलक्षणकी वा स्वरमानकस्य कार्यः । मधुकं मधुद्रुमः । मिता शर्करा । “मिता” इत्यत्र “शिला” इति पाठे—शिला मनःशिला । तुगा वंशलोचना । अथ ऐलेयकस्वरसः चतुर्गुणः घृतस्य प्रत्यः क्षीरञ्च घृतसमं चन्दनादीनां कल्कः कोष्ठपादिकः ॥ १७७-१७८ ॥

अथ ऐलेयकप्रयोगः ।—

ऐलेयकस्य स्वरसे सक्षीरां शर्करां पिबेत् ।

काथं वा शर्करायुक्तं शिरोभ्रमणकम्पनुत् ॥१७८॥

अथ ऐलेयकतैलम् ।—

ऐलेयकस्य स्वरसमादकन्तु भिषग्वरः ।

कुमार्याः स्वरसं शुद्धं चतुष्पृथ्वन्तु कारयेत् ॥१८०॥

आमलक्याः शतावर्या रसं प्रस्थद्वयं पृथक् ।

तैलादकसमायुक्तं क्षीरद्रोणविमिश्रितम् ॥१८१॥

चोचं मलयजं वारि सरलं कुमुदोत्पलम् ।

हे मेदे मधुकं द्राक्षा तुगाक्षीरो मधूलिका ॥१८२॥

काकोली क्षीरकाकोली जीवकर्षभकावुभौ ।

मृगनाभ्यजगन्धा च शशाङ्गश्च पृथक् पृथक् ॥१८३॥

एतेषाञ्चार्द्धपलकं श्लक्ष्णं चूर्णं विनिक्षिपेत् ।

एतत् सर्वं समालोड्य मन्दं मन्दान्निना पचेत् ॥१८४॥

मुहूर्त्तं शुभनक्षत्रे नववस्त्रेण पीडयेत् ।

शिरोनेत्रविकारेषु नस्यवत् कर्णयोजितम् ॥१८५॥

अभ्यङ्गोदत्तनालेपैः शिरोभ्रमणकम्पनुत् ।

अङ्गदाहं शिरोदाहं नेत्रदाहञ्च दारुणम् ॥१८६॥

विसर्पकविकारांश्च मूर्द्धि जातान् बह्वन् व्रणान् ।

आस्यशोषं भ्रमश्चैवं नाशयेन्नात्र संशयः ॥

ऐलेयकमिदं तैलं प्रशस्तं पित्तरोगिणाम् ॥१८७॥

ऐलेयकप्रयोगे—सक्षीरां शर्करामिति क्षीरशर्करयोर्मिश्रिता पादिकः प्रक्षेपः ।
काथमिति ऐलेयकस्य ॥ १७८ ॥

ऐलेयकतैले—चोचं गुडत्वक् । मलयजं श्रीखण्डं, श्वेतचन्दनमित्यर्थः । वारि
वाक्कम् । हे मेदे मेदा महामेदा च । तुगाक्षीरो वंशरीचना । मधूलिका
मूर्ध्नी, क्षीतकं वा । अजगन्धा येमानीमेदः । शशाङ्गः कर्पूरः । मुहूर्त्तं शुभलक्षणे,

अथ ऐलेयकामृतप्राशः ।—

ऐलेयकं समूलञ्च मुद्गपर्णी तथैव च ।

शतावरी विदारी च वाराहोक्तमेव च ॥१८८॥

मधुकञ्च मधूकञ्च तुगाक्षीरी च गोस्तनी ।

एतानि द्विपलांशानि चूर्णीकृत्य पृथक् पृथक् ॥१८९॥

सरलं चन्दनं चीचमुत्पलं कुमुदं जलम् ।

काकोली क्षीरकाकोली हे मेदे जीवकर्षभौ ॥१९०॥

एतेषाञ्चार्द्धपलिकं प्रत्येकं शर्करायुतम् ।

ऐलेयकं विदारी च वाराहो मुद्गपर्णिका ॥१९१॥

एतेषां स्वरसे शुद्धे शतावर्याश्च भावितम् ।

एतत् सर्वं समाहृत्य छायाशुष्कान्तु सप्तधा ॥१९२॥

इक्ष्वामलकयोः क्षौद्रैर्भावितं सप्तधा पुनः ।

पयसा तु पिबेत् प्रातर्यथाऽग्निबलवान्नरः ॥१९३॥

अङ्गदाहं शिरोदाहं रक्तपित्तं सुदारुणम् ।

शिरोऽक्षिकम्पभ्रमणमित्यादिकगदान् जयेत् ॥१९४॥

इति श्रीवैद्यपतिचिङ्गप्रत्य मुनीर्वाग्भटाचार्यस्य कृतो रसरत्नसमुच्चये शीतवात-

स्वशंवात-रक्तवातामवातापज्वारीत्यादेकाङ्गवात-सन्धिवात-भग्न-कम्प-वातरक्त-

शिरोभ्रमणचिकित्सानामेकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

पचेदित्यनेन सन्धन्वः । नववस्त्रेण पीडयेत् इति पाकसिद्धौ । मूर्द्ध्नि जातान् बहून् व्रणान् चर्षिकाः ॥ १८०—१८७ ॥

ऐलेयकामृतप्राशे—ऐलेयकं समूलम् एलबालकं तद्वृक्षस्य मूलञ्च । गोस्तनी द्राक्षा । चीचं लक्षम् । जलं बालकम् । काकोल्यादिषट्काभावे यथाक्रमं शतावरी क्षतावर्यशगन्धासारिवागुडूचीवंशलोचना यास्याः । शर्करायुतम् इत्यत्र शर्कराया अपि अर्द्धपलमानता । ऐलेयकमिति ।—ऐलेयकादीनां स्वरसेन सप्तधा भावयित्वा छायायां शोषयेदिति ॥ १८८—१९४ ॥

इति रसरत्नसमुच्चयेविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

अथ द्वाविंशोऽध्यायः ।

अथ बन्ध्यादिचिकित्सनम् ।—

अथ बन्ध्याया दीषभेदादिकम् ।—

भेदा बन्ध्यावल्लानां हि नवधा परिकीर्त्तिताः ।

तत्राऽऽदिबन्ध्या प्रथमा पापकर्मविनिर्मिता ॥ १॥

रक्तेन च पृथग्दोषैः समस्तैः पञ्चधा भवेत् ।

भूतदेवापचारैश्च तिस्रो बन्ध्याः प्रकीर्त्तिताः ॥ २॥

अथ बन्ध्याया दीषभेदादिकम् ।—

पुमानपि भवेद्बन्ध्या दाषैरेतैश्च युक्ततः ॥ ३॥

अथ बन्ध्यालक्षणम् ।—

गर्भस्त्रावी स्मृता पूर्वं सृतवत्सा द्वितीयका ।

तृतीया स्त्रीप्रसूतिः स्यात् काकबन्ध्या सकृत्प्रसूः ॥ ४॥ इत्यादि ।

अथ बन्ध्यालक्षणं प्राधान्येन वातकार्यत्वात् तथा वृत्त्यभावे बन्ध्याया दीषभेदादि-
निरूपणे उक्तं “रक्तेन च” इति पदस्य प्रदुष्टार्त्तविरक्तहेत्यर्थकत्वेऽपि रक्तपद-
सामान्यात् वातव्याधिवान्तरक्तानन्तरं बन्ध्यादिचिकित्सितम् उपदिदिशुरादौ बन्ध्यायाः
दीषभेदादिकमाह, भेदा इति ।—आदिबन्ध्या जन्मबन्ध्या, सा पापकर्मविनिर्मिता
प्राक्तनाधर्मानुष्ठानजाता । रक्तेन प्रदुष्टेनार्त्तवेनेत्यर्थः । भूतेति ।—भूतेन देवसह-
यचण्डादीनामावेशेनेत्यर्थः, देवेन इहेव जन्मनि कृतेन देवगुर्वाद्यपमानेन इत्यर्थः,
तथा अपचारैश्च मिथ्याहारविहारदिना च ॥ १।२ ॥

प्रसङ्गात् पुंनव्यस्य दीषभेदादिकमाह, पुमानिति ।—दीषैः रक्तां विना पापकर्मा-
दिभिः तथा युक्ततः दुष्टयुक्तात् ॥ ३ ॥

बन्ध्यालक्षणमाह, गर्भेति ।—गर्भस्त्रावी गर्भे चतुर्थमासपर्यन्तं गर्भे स्त्वति या
सा स्त्रीजा, “या चतुर्थान्ततो मासात् प्रसवेद्गर्भविद्रवः” इत्युक्तेः ; अथवा—स्त्राव-
श्चोऽत्र सामान्यतः सोचनायै प्रयुक्तः, तेन स्त्रावपातयोद्धमयोऽपि अवरोधः । पूर्वं
प्रथमा, एकविधा बन्ध्या इत्यर्थः । द्वितीयका अपरा इत्यर्थः, सृतवत्सा यथाकाले
सृतसन्तानप्रसविनी, जीवत्यपि सदा सन्ताने अचिरमेव कालेन सृतपुत्रका

अथ जयसुन्दरः ।—

सुवर्णे रजर्तं ताम्रं ताप्यसत्त्वञ्च वैकृतम् ।
 एकैकं निष्कमानेन संशुद्धं परिमारितम् ॥५॥
 एतच्चतुर्गुणं सूतं सूताद्भिगुणगन्धकम् ।
 मर्दयेत्तच्छणातोयैर्बन्धुजीवरसैरपि ॥६॥
 काचकूप्यां ततः क्षिप्त्वा ताम्रपात्रं मुखे न्यसेत् ।
 विलिम्बेदभितः कूपीमङ्गलोत्सेधया मृदा ॥७॥
 विशोष्य च पुटं दद्याद्भूमौ निक्षिप्य कूपिकाम् ।
 गजाख्यपुटपर्याप्तिः श्राणकर्षमितोत्पलैः ॥८॥
 स्वाङ्गशीतं विचूर्ण्यैव भावयेत्तच्छणाद्रवैः ।
 सप्तवारं विशोष्याथ करण्डान्तर्विनिक्षिपेत् ॥९॥
 अश्वगन्धारजोयुक्तस्त्रीम्रगोक्षीरसंयुतः ।
 सिवितो गुञ्जया तुल्यः सितधा च रसोत्तमः ॥१०॥
 मासत्रयप्रयोगेण बन्ध्या भवति पुच्छिणी ।
 पुच्छिण्यै स्नानशुद्धाद्यै रजःकौशिकचक्षुषौ ॥११॥

५। तथा स्त्रीप्रसूतिः या केवलं स्त्रापत्यनीव प्रसूते सा इत्यर्थः, अपत्यसामान्यत्वेऽपि कन्यायाः केवलं स्त्रापत्यप्रसवकारिण्याः नार्याः बन्ध्यात्वे, तस्याः मुख्यतः पुद्गलमरक-
 जाचासामर्थ्यात्, तृतीया अपरविधा बन्ध्या इत्यर्थः । या सङ्कल्पम् ँकवारमात्र-
 प्रसवकारिणी, एकमात्रपुत्रा इत्यर्थः, सा काकबन्ध्या साऽपि तृतीया बन्ध्या इत्यर्थः ;
 यथा—या स्त्री गर्भसाधो सा पूर्वे प्रथमा कृता, या स्त्री सतबन्धा सा द्वितीयका,
 या च प्रसूतिः स्त्री सङ्कल्पम् सा काकबन्ध्या, सा च तृतीया इति ॥ ४ ॥

जयसुन्दरे—ताप्यसत्त्वं नाक्षिकसत्त्वम् । वैकृतं वैकान्तमित्यर्थः । एतच्चतुर्गुणं
 निक्षिप्तसुवर्णादिभ्यः चतुर्गुणम् ; तेन सूतस्य विंशतिनिष्कमानता । कच्छावातोयेः
 कच्छबामूलस्त्ररसेः, कच्छाया च—“पुत्रकाकाररक्ताल्प-बिन्दुभिर्वाञ्छिता सदा ।
 कच्छाया पुत्रजननी बलगन्धाकृतिर्भवेत् ॥” इत्युक्तकच्छा स्नानमख्याता । बन्धुजीव-
 रसेः बन्धुबुध्न्यस्त्ररसेः । भूमौ निक्षिप्य कूपिकां कूपिकां सत्तिकायां संस्थाप्य, न
 ह्युपलोपरि संस्थाप्य इत्यर्थः, सत्तिकायां कूपिकां संस्थाप्य पुटं दद्यात् ।

गव्याज्येन च संसाध्य तत्तदानीं हि भोजयेत् ।

ऋतावृताविदं देयं यावन्मासत्रयं भवेत् ॥१२॥

रसेन्द्रः कथितः सोऽयं चम्पकारण्यवासिभिः ।

पूर्णास्तुताख्ययोगीन्द्रैर्नामतो जयसुन्दरः ॥१३॥

सेवितेऽस्मिन् रसे स्त्रीणां न भवेत् सूतिकागदः ।

भवेत् पुच्छश्च दीर्घायुः पण्डितो भाग्यमण्डितः ॥१४॥

अथ रत्नभागीत्तरः ।—

वज्रं मरकतं पद्म-रागं पुष्पञ्च नीलकम् ।

वैदूर्यञ्चाथ गोमेदं मौक्तिकं विद्रुमं तथा ॥१५॥

पञ्चगुञ्जामितं सर्वं रत्नं भागीत्तरं परम् ।

तत् तन्नीक्ष्यविधानेन भस्मोक्तुर्यात् प्रयत्नतः ॥१६॥

सर्वस्मादष्टगुणितं भस्म वैक्रान्तसम्भवम् ।

तत्तत्त्वं ताप्यजं भस्म तद्वह्निमलभस्म च ॥१७॥

सर्वतस्त्रिगुणं तुल्यां रसगन्धककज्जलीम् ।

सर्वमेकत्र सम्मर्द्य क्रागीदुग्धेन तद्व्यहम् ॥१८॥

ताम्रगोचोरसंयुतः अरुणवर्चायाः गोः चोरेण सहितः । पुच्छिष्यै स्नानशुद्धाये ऋतुस्नाताये पुच्छकामाये इत्यर्थः, पुच्छजन्मानन्तरं शुद्धस्नाताये इत्यर्थो वा, रजः-
कौशिकचक्षुषौ रजःकौशिकस्य पेषकविशेषस्य चक्षुषौ नेत्रे ; रजसा सह कौशिक-
चक्षुषौ इत्यर्थो वा, तत्र रजः स्वेचपपटी कर्पूरी वा, कौशिकः गुग्गुलुः, चक्षुः-
नेत्रशक्ती । भोजयेत् भोजनं दद्यादित्यर्थः । “पुच्छिष्यै...भोजयेत्” इत्यत्र “पुच्छिष्यै”
स्नानशुद्धाच्च गलदाद्रिकचाम्बराम् । गव्याज्यपयसा सिद्धं तत्तदन्नं हि भोजयेत् ॥
इति कुवचित् पाठः । इदम् औषधम् ॥ ५—१४ ॥

रत्नभागीत्तरं—पुष्पं पुष्परामम् । नीलकम् इन्द्रनीलाख्यमणिम् । गोमेदं
रत्नमूर्धनमणिविशेषं स्नानमध्यातम् । पच्छेति ।—उत्तरीत्तरभागद्विक्रमेण गृहीत्वा
मिश्रितानां नवानां पञ्चगुञ्जामितत्वं अवधेयम् ; एवञ्च वज्रस्य षोडश सर्षपाः
मरकतस्य षट्दश सर्षपाः इति-क्रमेण भागद्वयो मिश्रित्वा पञ्चगुञ्जामितत्वं भवेत् ।
तत् रजजातम् । तत्तत्त्वं वैक्रान्तमुच्यते । तद्वत् ताप्यमभवत् ; तेन च ताप्यवैक्रान्त-

विधाय पर्पटीं यन्त्रात् परिचूर्ण्य प्रयत्नतः ।
 बन्ध्याकर्कोटकीपर्ण-क्वाथेन परिमर्दयेत् ॥१८॥
 काननोत्पलविंशत्या पुटेत् षोडशवारकम् ।
 एवं रसो विनिष्क्रीयो रत्नभागेत्तराभिधः ॥२०॥
 महाबन्ध्यादिबन्ध्यानां सर्वासां सन्ततिप्रदः ।
 देवौशास्त्रे विनिर्दिष्टः पुंसां बन्धत्वरोगनुत् ॥२१॥
 सोऽयं पाचनदौपनो रुचिकरो वृष्यस्तथा गर्भिणी-
 सर्वव्याधिविनाशनो रतिकरः पाण्डुप्रचण्डार्त्तिनुत् ।
 धन्यो बुद्धिकरश्च पुच्छजननः सौभाग्यकुर्यादपितां
 निर्दोषः स्मरमन्दिरामयहरो यागादशेषार्त्तिनुत् ॥२२॥

अथ चक्रिकावन्ध ।—

गन्धकः पलमात्रश्च पृथगक्षौ शिलाऽऽलकौ
 त्रिदिनं मर्दयित्वाऽथ विदध्यात् कज्जलीं शुभाम् ॥२३॥
 विषाणाकारमूषायां कज्जलीं निक्षिपेत्ततः ।
 द्विपलस्य च ताम्रस्य तन्मूले चक्रिका न्यसेत् ॥२४॥
 सन्निरुध्वातियत्नेन सन्धिबन्धे विशोधिते ।
 ततः करिपुटाह्नेन पाकं सम्यक् प्रकल्पयेत् ॥२५॥
 स्वतःशीतं ममुहृत्य चक्रिकां परिचूर्णयेत् ।
 स्थगयेत् कूपिकामध्ये वस्त्रेण परिगालितम् ॥२६॥

विमलानां तयाणां प्रत्येकं तुल्यभाषिता । सर्वत सर्वेभ्य वज्रादिविमलानानां
 रत्नानां मिलितचूर्णेभ्य । त्रिगुणाम् इति कज्जलीविशेषणम्, तुल्या रसगन्धक-
 कज्जलीं तुल्यरसगन्धकयोः कज्जलीमित्यर्थः । धन्यं नैकज्यसम्पादम्भारा धनार्जन-
 सेतुत्वेन चत्तलम् । स्मरमन्दिरामयहर सोमरोगहृन्ना ॥ १५—२२ ॥

चक्रिकावन्धे—विषाणाकारमूषायां शङ्काकृतिमूषायां, मुषलाव्यमूषायामित्यर्थः ।
 द्विपलस्तेति ।—पलद्वयमितं ताम्रं चक्रीकृत्य कज्जल्या उपरि दत्त्वा सन्धिं लेपयेत् ।
 करिपुटाह्नेन अर्द्धगजपुटेन, गजपुटाह्ने खनितक गणक अर्द्धभागमात्रं करोषिषा-

रसोऽयं चक्रिकाबन्धस्तसद्रोगहरौषधैः ।

दातव्यः शूलरोगेषु मूले गुल्मे भग्नन्दरे ॥२७॥

ग्रहस्थामग्निमान्द्ये च विद्रवौ जठरामये ।

नागोदरे तथैवोप-विष्टके जलकूर्मके ॥२८॥

स्कन्देनामन्दकृपया त्रिलोकत्राणहेतवे ।

चक्रिकाबन्धनामाऽयं प्रसूतस्त्रौगदापहः ॥२९॥

अथ बर्हन्तानः ।—

घलाङ्गप्रमिते स्वर्णे ताम्रं दत्त्वाऽक्षमात्रया ।

निर्वापयेच्छतं वारं निक्षिप्य शुक्रपिच्छकम् ॥३०॥

ततश्च सारण्यान्ते सूत्रस्थानसमोरिते ।

सारणातैलसंयुक्तं जौणषड्गुणगन्धकम् ॥३१॥

पुर्व्ववर्धः । खगयेत् रक्षेत् । नागोदरे दुष्टगर्भविशेषे ; तल्लक्षणमुक्तं सुश्रुतेन यथा,
—“शुक्रशोषितं वायुनाऽभिप्रपन्नम् अवक्रान्तजीवमाश्वापथ्यन्दरम् ; तत् कदाचित्
वटच्छयोपशान्तं नेगमेषापहतमिति भाषन्ते । तमेव कदाचित् प्रक्षीयमानं
नागोदरनिम्बाहुः” इति । शरकेषाप्युक्तं यथा—“उपवासव्रतकर्मपराधाः पुनः कदा-
हाराद्याः स्नेहउपेक्षया वातप्रकोपणोत्ताम्यासेवमानाया गर्भो न वृद्धिं प्राप्नोति परि-
शुक्लता ; स चापि कालमवतिष्ठतेऽतिसाजम्, अतिमात्रस्यन्दनञ्च भवति, तं
नागोदर इत्याचक्षते” इति । उपविष्टक-जलकूर्मकावपि दुष्टगर्भविशेषौ, तत्र
उपविष्टकलक्षणं यथा शरके—“यस्याः पुनश्चतुर्थोपयोगात् गर्भस्याः नष्टति
गर्भे जातसारे पुष्पदर्शनं व्यादयो वा योनिस्त्रावः, तस्या गर्भो न वृद्धिं प्राप्नोति
निःसृतत्वात्, स कालमवतिष्ठतेऽतिसाजम् ; तमुपविष्टक इत्याचक्षते केचित्” इति ।
जलकूर्मकलक्षणं च मृग्यम् ॥ २३—२९ ॥

बर्हन्ताने—निर्वापयेदित्यत्र अग्नौ प्रताप्य तैलतमादिषु इति द्रष्टव्यम् ।
शुक्रपिच्छकं गन्धकम् । “शुक्रपिच्छकम्” इत्यत्र “अपिच्छकुञ्ज” इति कुत्रचित्
पाठः । सूत्रस्थानसमोरिते सूत्रस्थानप्रोक्ते, प्रथमाध्यायात् एकादशाध्याय-
पर्यन्तेषु सूत्रस्थानेषु “इति सतेल्यन्त्ये” इत्यादिना नवमाध्यायोक्ते ; सप्तम्यन्त
शरकादिवत् सूत्रस्थानादिज्ञानविभागे नास्ति, तत्रापि “सप्तमात् सूत्रस्थ-

रसं हि द्विपलं क्षिप्वा सारणाविधियोगतः ।

सारयित्वा ततः पञ्चात् पिष्टं सूतं प्रयत्नतः ॥३२॥

सूतप्रोक्तेष्टिकायन्त्रे स्नेदावेष्टनवाससाम् ।

मातुलुङ्गरसैः पिष्टं चतुर्निष्कमितं दत्तम् ॥३३॥

जङ्घ्वंश्च विनिधायार्थं जारयित्वा चतुर्गुणम् ।

तमादाय रसं सम्यक् विचूर्ण्य परिग्राह्य च ॥३४॥

षष्ठांशेन सूतं वज्रं समं वैक्रान्तकं स्मृतम् ।

निक्षिप्य लिङ्गिकापत्र-रसैरापूर्य्य वासरम् ॥३५॥

“सैव सूत्रस्थानमितोरितम्” इति सूत्रस्थानलक्षणीकृतैः प्रथमतः एकादशाध्याय-
पर्यन्तेषु ग्रन्थेषु एतद्ग्रन्थोक्तविषयाणां संज्ञादिनियमनात् तत्पर्यन्तानां सूत्रस्थानल-
क्षणीकृतमित्यभिहितम् । सारणातेलसंयुक्तं सारणायन्त्रस्थतेलसंयुतम् । सारणाद्यं यन्त्रं
तेलञ्च रसेन्द्रबिलामवावृत्तं, यथा—“अथमूषा तु कर्षाया गीसनाकारसन्निभा ।
सैव क्षिद्रान्विता मध्ये गभीरा सारणीचिता ॥” इति यन्त्रम् । “मक्षिष्ठा किञ्चुकश्चैव
खदिरं रक्तचन्दनम् । करवीरं देवदारु सरसो रजनीहयम् ॥ अन्यानि रक्तपुष्पाणि
पिप्पला लाचारसेन तु । तैलं विपाचयेत्तेन कुर्व्यात् बीजादिरञ्जनम् ॥ द्विगुणे रक्त-
पुष्पाणां रक्तपीतमण्डलम् च । क्राये चतुर्गुणं खीरं तैलमेकं सुरेश्वरि ! ॥ ज्योतिष्मती-
करसाध्य-कटुतुलसीसुवस्त्रम् । पाटलाकाकतुल्यम्-महाराष्ट्रीरसैः पृथक् ॥ भेक-
शकरनेपाहि-मल्लकूर्मजलीकसाम् । वसया चैकया युक्तं षोडशांशैः सुपेषितैः ॥
भूलातमलमाषीक-दन्तमेलापकौषधैः । पार्श्वतं गालितश्चैव सारणात्तेन गुह्यति ॥”
इति सारणातेलम् । सारणाविधियोगतः सारयित्वा, सारणाप्रकारोऽपि तत्रैवोक्तः,
यथा—“अथानेव मूषायां तत्तेलमपगतकल्कविमलमापूर्य्यमक्षिप्तचिकनमवात् द्रुत-
बीजमपेक्षमकालमेव समावर्जनीयः सूतवरः, तद्वत् सखी मूषाननमाच्छादनीयम् ।
एतत्तेलाक्षिप्तमयन्त्रिबन्धनेन अरुणासितबीजाभ्याम् अशनासारकर्मणा (?) निक्षिप्त-
चेत् सारितः सम्यक् संयमितः विज्ञातव्यः । प्रतिसारितस्तु द्विगुणबीजेन, तत्तद्वत्-
सारितस्तु त्रिगुणेन, अत्र विविधासामेव सारणायाम् अरुणासितकर्मणोः कामकार्य-
नीवहीवत् पद्मवक्त्रौ विद्यापथीयाविति” इति । स्नेदेति ।—स्नेदाद्यं चावेष्टनवाससाम्
आवरणवस्त्राणाम्, ऊर्ध्वमित्यनेन सम्बन्धः । “स्नेदावेष्टनवाससाम्” इत्यत्र “स्नेधावेष्टनं च
वाससा” इति कुत्रचित् पाठः । दत्तं गन्धकम् । चतुर्गुणमिति रसापेक्षया । तं गन्धक-

पुटेद्वादशवाराणि मध्वा द्वादशकोपलैः ।

बन्धुजीवरसेनाथ लक्ष्मणास्वरसेन च ॥ ३६ ॥

पुनः सङ्ख्यं सङ्ख्यं योगिनीपिट्टदेवताः ।

पुत्तिण्याः पूर्णिमायाश्च पूजिताया विधानतः ॥ ३७ ॥

इति कृत्वाऽऽप्याद्गर्भं षण्मासाभ्यन्तरात् खलुं ।

आदिबन्ध्यादिका बन्ध्या यास्यान्त्या दृष्टयोनयः ॥ ३८ ॥

प्राप्नुयुर्जीवपुत्रं हि भाग्यसौभाग्यसंयुतम् ।

पुंसामपि च बन्धत्वं ह्यल्परेतस्त्वमेव च ॥

बीजदोषा विचित्राश्च विनश्यन्ति न संशयः ॥ ३९ ॥

मित्यर्थः । षष्ठांशेन इति रसापेक्षया । समं वैक्रान्तं रसममं वैक्रान्तममम् । लिङ्गिका-
पवरसेः शिवलिङ्गीपवरसेः । अथ “मध्वा” इति पाठः समीचीनतया न भाति,
ध्याकरणदृष्टत्वात् मधुनः उष्णविरोधित्वाच्च ; “मध्वाद्वदशकोपलैः” इत्येव युक्तः पाठः ;
अभ्यप्रमाणद्वादशकरोषैरित्यर्थः । मध्वा इत्येव पाठे तु—मधू मधूकं तेन मधूकपुष्परसेन
सह मर्दयित्वा इत्यर्थः ; नामैकदेशयुक्त्येन नामसाकल्ययुक्तनियमात् । पुत्तिण्या
इति ।—यथाविधानेन पञ्चवर्ती नारीं पूर्णिमां तिथिञ्च पूजयेदित्यर्थः । एतत् तासां
प्रसादनाथं कार्यं दृश्यते च लोके, अपुत्तिण्या पुत्तकामया पुत्तिण्या चर्चनादिकं
क्रियते इति । पुत्तिण्याः पूर्णिमायाश्च इत्यत्र आशिषं गृह्णीयादिति शेषः । “पुत्तिण्याः
...पूजितायाः” इत्यत्र “पुत्तिष्ठापूर्णिमायां च सेवितम्” इति कुत्रचित् पाठः ।
रोगद्वयोमयुक्तः रोगद्वयोः तत्तद्दोगनाशिना योगेन औषधेन द्रव्येण वा इत्यर्थः, “सह
युक्तः प्रयुक्तः । अयमर्थः,—कषण्डयमिने द्रवीभूते स्वर्ये कषण्डमात्रं द्रवीभूतं तान् निक्षिप्य
आलोच्य च तैलतक्रादिषु निक्षिपेत्, एवं शतवारं कुर्यात्, ततः तास्यपरिमितेन गन्धकेन
सह मर्दयित्वा सारणायन्ते तं संस्थापयेत् । ततः सारणातैलमर्दितं षड्गुणगन्धकजीर्णं
द्विपलं पारदं तत्र दत्त्वा सारणाविधानेन सारयेत् । अनन्तरं तं पारदं स्वर्णवि-
सृष्टितं पिष्टा इष्टकाद्यन्ते स्थापयेत्, वस्त्रेणाच्छादयेच्च इष्टकाद्यन्तगतं सुखम् । ततः
मातुलुङ्गरसपिष्टं चतुर्भिर्गन्धकं वस्त्रोपरि दत्त्वा शरावेणाच्छाद्य च शरावपात्रिकयोः
सन्धिं मृदा निरुध्य कपीतपुटे पचेत् । एवं कारितं रसं कारितेन चतुर्गुणेन तेनैव
गन्धकेन सह विषुष्यं वस्त्रपूतं कारयेत्, ततः षडंशेन वज्रमज्जना समेन च वैक्रान्त-
मज्जना मर्दयित्वा शिवलिङ्गीपवरसेनाग्राह्यं च दिनमेकं स्थापयेत् । अथ द्वादशसङ्ख्यकेन

ब्रह्मज्योतिर्मनिवरमतो वर्धमानो रसोऽयं
बन्ध्यारोगं हरति सकलं योनिदोषानशेषान् ।
सूतीरोगानपि बहुविधान् दुःखसाध्यान् समस्तान्
रोगानन्यान्पि खलु तथा रोगहृदयोगयुक्तः ॥४०॥

अथ द्रुतिसारः ।—

युक्तं हि व्योमजद्रुत्यां तुल्यांश्च स्वर्णयुग्मसम् ।
पिष्टोक्तं चिरं पिष्ट्वा मल्लसम्पुटके क्षिपेत् ॥४१॥
निष्कमात्रं बलिं दत्त्वा शतवारं पुटेत्ततः ।
सम्यक् निष्पिथ्य सङ्ग्राह्यं करण्डान्तर्विनिक्षिपेत् ॥४२॥
इत्युक्तो द्रुतिसारनामकरसो बन्ध्यामयध्वंसनः
पुत्तीयः खलु सूतिकामयहरो हृथश्चिरायुष्करः ।
सम्यक्सिद्धबलिद्रुतिप्रकलितो गुञ्जामितः सेवितः
कुर्व्यात्तीव्रतरां क्षुधं त्वय महारोगादिरोगान् जयेत् ॥४३॥

मध्यप्रमाथोपलेन पुटं दद्यात्, एवं हादशवारं कुर्व्यात्, प्रतिपुटञ्च लिङ्गिनीपत्र-
रसेनाप्राप्य दिनमेकं स्थापयेत् । एवं पुटयित्वा बन्धूकपुष्पस्वरसेन लक्ष्मणास्वरसेन
च सम्यग्यं संशोष्य चूर्णयित्वा च स्थापयेदिति । “रोगहृदयोगयुक्तः” इत्यनन्तरं
क्षचित् “समग्रीर्णाम्रूतेन भक्षेतत् साधयेत् खलु । अन्यथा न यथाप्रोक्तं फलं
दत्तं दुरजनीत् ॥ पाण्डुरसिंहद्वयोप्रसेदगृहजातीसारयक्षापहं सद्यो दीपनपाचनो
रुचिकरो निःशेषगुक्षापहः । कासश्वासबलासपीनसमरुत्यत्तार्तिमात्यन्तिकं हर्षं
पुष्टिकरं समलगदहृदयोगेन संबोजितम् ॥ इति योगः” इत्यधिकः पाठः ॥२०—४०॥

द्रुतिसारं—व्योमजद्रुत्यां द्रुताभिः ; अथद्रुतिप्रकारास्तु रसेन्द्रचित्तानाथो यथा—
“अगल्यपत्रनिर्व्यासेर्नर्दितां गूरुणीदरे । गोष्ठभूष्यं चनं मासं जायते कलसप्रभम् ॥”
इति । अन्यच्च—“स्वरसेन बन्धवङ्गाः पिष्टं सौवर्णलान्वितं गगनम् । पक्ष्मञ्च जराक-
पुटे बहुवारं भवति रसकपम् ॥ निजरसबहुपरिभाषितसुरदासीचूर्णवापेन ।
द्रवति पुनः संस्त्राणं भजते कनकत्वं कालेऽपि ॥” इत्यादयो वचनः । युक्तं निष्पि-
थित्यर्थः, तुल्यांश्च द्रुताधसर्गं स्वर्णयुगसं स्वर्णसंयुक्तं पारदमित्यर्थः ; तुल्यांश्च
अथद्रुतितुल्यं स्वर्णयुग्ं हिमालयस्थं रसमित्यर्थो वा । मल्लसम्पुटके शरावसम्पुटे ।

मतः सर्वामयध्वंसी रसोऽयं हरिसूचितः ।

जीवत्पुच्छप्रदः स्त्रीणां यौवनस्यैर्यदायकः ॥४४॥

भूतप्रेतपिशाचानां भयेभ्योऽभयदायकः ।

जड़ानां दोहदात्तानां मन्दबुद्धिमतामपि ॥ ४५॥

मण्डूकीरससंयुक्तो दातव्यो वचया सह ।

जम्बवन्ध्याः काकबन्ध्या मृतवत्साश्च याः स्त्रियः ॥

तासां पुच्छोदयार्थाय शम्भुना सूचितः पुरा ॥४६॥

अथ बन्ध्यागर्भसम्प्राप्तिः ।—

अथ सर्पाक्षीप्रयोगः ।—

समूलपत्रां सर्पाक्षीं रविवारे समुद्धरेत् ।

एकवर्णगवां क्षीरैः कन्याहस्तेन पेषयेत् ॥४७॥

ऋतुकाले पिवेद्वन्ध्या पलाईं तद्दिने दिने ।

क्षीरशाल्यसमुद्गच्छ अल्पाहारं प्रकल्पयेत् ॥४८॥

उद्देगं त्वथ शोकञ्च दिवा निद्राञ्च वर्जयेत् ।

न कर्म कारयेत् किञ्चित् वर्जयेच्छीतमातपम् ॥

एवं सप्तदिनं कुर्याद्वन्ध्या भवति गर्भिणी ॥४९॥

बलिं गन्धकम् ; चतुर् गन्धकस्य निष्कमानतोक्ता स्वर्णक्षीरपि तद्यात्मनिगन्धकम् ।
 अतवारं पुटेदित्यत्र प्रतिपुटे गन्धकनिष्कं दातव्यमिति बोद्धव्यम् । पुच्छीयः पुच्छहितः
 पुच्छप्रद इत्यर्थः । सम्यगिति ।—सस्यक् यथाविधि सिद्धया निष्पादितया बलिद्वय्या
 गन्धकद्वयेण, द्रुतगन्धकेन, प्रकलितः मिश्रितः । हरिसूचितः हरिणा प्रचारितः
 इत्यर्थः ; “हरिसूचितः” इत्यत्र “मन्दिमोदितः” इति पाठान्तरम् । दोहदात्तानां
 मर्माभिलाषापूर्वकजनितपीडितानामित्यर्थः । मण्डूकीरससंयुक्तः मण्डूकी मण्डूकपर्णी
 प्राञ्जी वा तद्रससहितः ; जम्बवन्ध्यादिभ्यः बन्ध्यामण्डूकीरसार्था सह दातव्योऽयं
 रसः इत्यर्थः । शम्भुना सूचितः पुरा पूर्वकाले भगवता शिवेन आनिष्कृत
 इत्यर्थः ॥ ४१—४६ ॥

सर्पाक्षीप्रयोगे—सर्पाक्षी सर्पकदाक्षी “पानत्रिषलि” इति ख्याताम् ; राक्षः
 त्रिषलं वा । कन्याहस्तेन कुमारीहस्तेन, मण्डूकाहस्तेनैव ॥ ४७—४९ ॥

अथ देवदालीप्रयोगः ।—

देवदालीयमूलम् याजयेत् पुण्यभास्करे ।
निष्कात्रयं गवां क्षीरैः पूर्ववत्क्रमयोगतः ॥
बन्ध्या प्रलभते गर्भं दिनं पथं यथा पुरा ॥५०॥

अथ शरपुङ्खाप्रयोगः ।—

शीततोयेन सम्पिष्टं शरपुङ्खीयमूलकम् ।
कर्षं पीत्वा लभेद्गर्भं पूर्ववत्क्रमयोगतः ॥५१॥
नो चेदपरमासे तु कारयेत् पूर्ववत् फलम् ।
पतिसङ्के लभेद्गर्भं नात्र कार्या विचारणा ॥५२॥

अथ रुद्राद्यादिप्रयोगः ।—

एकमेव तु रुद्राक्षं सर्पाक्षी कर्षमात्रकम् ।
पूर्ववच्च गवां क्षीरैर्ऋतुकाले प्रदापयेत् ॥५३॥
महागणेशमन्त्रेण रक्षां तस्यास्तु कारयेत् ।
एवं दिनत्रयं कुर्याद्बन्ध्या भवति पुच्छिणी ॥५४॥

अथ श्वेतकण्टकारीप्रयोगः ।—

श्वेतकण्टकार्याश्च मूलं तद्वच्च गर्भकृत् ॥५५॥

देवदालीप्रयोगे—देवदालीयमूलं हस्तिचोषकमूलम् । पुण्यभास्करे पुष्यानश्व-
संख्ये मूर्त्ये इत्यर्थः, भास्करस्य पुष्यचंस्थितिकालस्तु सौरमसः तृतीयांशो-चतुर्थदिना-
दारभ्य सप्तदशवासरस्य चत्वारिंशद्विंशत्यं यावत् । पूर्ववत्क्रमयोगतः ऋतुकाले
पूर्वयोगोक्तविधानेनेत्यर्थः । एवमुत्तरवाप्यवगम्यम् ॥ ५० ॥

शरपुङ्खाप्रयोगे—अपरमासे परमासीय-ऋतुकाले इत्यर्थः ॥ ५१।५२ ॥

रुद्राद्यादिप्रयोगे—एकमेव रुद्राक्षम् एकं रुद्राक्षगुल्फम् । महागणेशमन्त्रस्तु
“श्रीं नमो महाविनायकाय अक्षतं रक्ष रक्ष, मम फलसिद्धिं देहि रुद्रवचनेन
स्वाहा” इति ॥ ५३।५४ ॥

श्वेतकण्टकारीप्रयोगे—सर्वे अष्टम् ॥ ५५ ॥

अथ विष्णुकान्ताप्रयोगः ।—

पूर्वपुत्रवती तासां कर्म तद्वच्च कथ्यते ।
पेषयेन्महिषीक्षीरैर्विष्णुकान्तां समूलकाम् ॥५६॥
महिषीनवनीतेन ऋतुकाले तु भक्षयेत् ।
एवं दिनं दिनं कुर्यात् पथं युक्त्या च पूर्ववत् ॥
गर्भं प्रलभते नारी काकबन्ध्या सुशोभनम् ॥५७॥

अथ अश्वगन्ध्याप्रयोगः ।—

अश्वगन्ध्यामूलान्तु ग्राहयेत् पुण्यभास्करे ।
पेषयेन्महिषीक्षीरैः पलाहं पाययेत् सदा ॥
सप्ताहान्नभते गर्भं काकबन्ध्या चिरायुषम् ॥५८॥

अथ सृतवत्सालक्षणम् ।—

गर्भः सन्भूतमात्रस्तु पक्षात् मासाच्च वत्सरात् ।
न्वियते द्वित्रिवर्षैर्वा यस्याः सा सृतवत्सका ॥
तत्र योगः प्रकर्त्तव्यो यथा शङ्करभाषितः ॥५९॥

अथ शङ्करोक्तदेव्यपात्रयचिकित्सा ।—

मार्गशीर्षेऽथवा ज्यैष्ठ्ये पूर्णायां लेपिते गृहे ।
नूतनं कलसं पूर्णं गन्धतीयेन कारयेत् ॥६०॥
शाखाफलसमायुक्तं सर्वरत्नसमन्वितम् ।
सुवर्णमुद्रिकायुक्तं षट्कोणे मण्डले स्थितम् ॥६१॥

विष्णुकान्ताप्रयोगे—पूर्वपुत्रवती पूर्वं प्रथमम् एकवारमेवेत्यर्थः, पुत्रवती या काकबन्ध्या इत्यर्थः । कर्म तद्वत् पुत्रवत् कर्म, पुत्रपदं कर्मेत्यर्थः । विष्णुकान्ताम् अपराजिताम् । दिनं दिनं दिवसदयमित्यर्थः ॥ ५६।५७ ॥

अश्वगन्ध्याप्रयोगे—अश्वगन्ध्यामूलम् अश्वगन्ध्यामूलम् ॥ ५८ ॥

सृतवत्सालक्षणे—सर्वे सुगमम् ॥ ५९ ॥

शङ्करोक्तदेव्यपात्रयचिकित्सायां—पूर्णायां पक्ष्म्यां दशम्यां पौर्णमास्यां वा तिथौ । लेपिते इत्यत्र गोमयेन इति पूरणीयम् । सुवर्णमुद्रिकायुक्तं स्वर्णमुद्रासंयुक्तम् ।

तन्मध्ये पूजयेद्देवीमेकान्तानामविश्रुताम् ।
 गन्धपुष्पाक्षतेर्धूप-दोषैर्नैवेद्यसंयुतैः ॥६२॥
 अर्चयेद्भक्तिभावेन मद्यैर्मांसैः समत्सुकैः ।
 ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा ॥६३॥
 वाराहो च तथा चैन्द्री षट्पत्रेषु च मातृकाः ।
 पूजयेन्मन्त्रलिङ्गेन श्रीङ्कारैर्नामसंयुतैः ॥६४॥
 दधिभस्तेन पिण्डानि सप्तसङ्ख्यानि कारयेत् ।
 षट्सङ्ख्या षट्सु पत्रेषु आहृत्य कल्पयेत् पृथक् ॥६५॥
 उल्लेख्य सप्तकं पिण्डं शुचिस्थाने वह्निः क्षिपेत् ।
 तैर्भुक्तैर्गृहमागच्छेच्चक्राग्रे योगमाचरेत् ॥६६॥
 कन्यकायोगिनीरामा भोजयेत् सकुटुम्बकम् ।
 दक्षिणां दापयेत्तासां देवताग्रे निवेद्य च ॥६७॥
 विसर्ज्य देवताञ्चाथ नद्यां तत् कलसोटकम् ।
 शकुनं वोक्षयेद्धौमान् शुभेन शुभमादिशेत् ॥६८॥
 विपरीते पुनः कुर्याद्दुर्गं तद्वत् सुसिद्धिदम् ।
 प्रातर्वर्षमिदं कुर्यात् दीर्घजीवी सुतो भवेत् ॥६९॥
 “ओं ह्रीं क्लीं एकान्तदेवतायै नमः ।” अनेन मन्त्रेण पूजा
 जपश्च कार्यः ।

षट्कोणे मण्डले स्थितं षट्कोणं मण्डलं लिखित्वा तदुपरि कलसं स्थापये-
 दित्यर्थः । एकान्तानामविश्रुताम् एकान्ता इति नाम्ना ख्याताम् । मन्त्रलिङ्गेन
 तप्तदेवतायां वीजमन्त्रण इत्यर्थः । श्रीङ्कारैर्नामसंयुतैः श्रीं ब्राह्मी नमः इत्यादि-
 रूपैरित्यर्थः । कल्पयेत् पृथक् ब्राह्मीत्यादिदेवतान्य उक्त्यग्रे कुर्यादित्यर्थः । उल्लेख्य
 न्तवत्सया एकान्ताया देव्या नामोल्लेखं कारयित्वा निवेद्यत्यर्थः । तैः सप्तभिः पिण्डैः
 भुक्तैः, कौशित् प्राणिभिरिति शिवः, तेषु भुक्तेषु सत्सु इत्यर्थः । अक्राग्रे मण्डलसममुखे
 इत्यर्थः, उपविश्येत् ग्रन्थः, योगमाचरेत् देव्या ध्यानं कुर्यादित्यर्थः । शकुन-
 मिति :—दौमान् पुरोहितः शकुनं शुभमूषकनिमित्तं वीक्षयेत्, न्तवत्सामिति शिव ।
 शुभेन शुभशकुनदर्शनेन शुभं कल्याणं पुत्रस्य दीर्घजीवनप्राप्तिकथमित्यर्थः, आदिशेत्

अथ युक्तिव्यपाशये बभ्याकर्कोटकीप्रयोगः ।—

प्राशुखः कृत्तिकाश्रृत्ते बभ्याकर्कोटकीं हरेत् ।

तत्कन्दं पेषयेत्तोये कर्षमात्रं पिबेत् सदा ॥

ऋतुकाले तु सप्ताहं दीर्घजोषी सुतो भवेत् ॥७०॥

अथ प्रथममासे पञ्चकादिकल्कः ।—

अकस्मात् प्रथमे मासे गर्भे भवति वेदना ।

गोक्षीरैः पेषयेत्तुल्यं पद्मकीशीरचन्दनम् ॥

पलमात्रं पिबेन्नारी त्र्यह्नाह्नर्भः स्थिरो भवेत् ॥७१॥

अथ द्वितीयमासे नीलोत्पलादिकल्कः ।—

नीलोत्पलं मृणालञ्च खण्डौ कर्कटशृङ्गिका ।

गोक्षीरैर्द्वितीये मासि पीत्वा शाम्यति वेदना ॥७२॥

अथ तृतीयमासे श्रीखण्डादिकल्कः ।—

श्रीखण्डं तगरं कुष्ठं मृणालं पद्मकेशरम् ।

पिबेच्छीतोदकैः पिष्टं तृतीये वेदना न हि ॥७३॥

अथ तृतीयमासे नीलोत्पलादिकल्कः ।—

नीलोत्पलमृणालानि गोक्षीरैश्च कथेत्कम् ॥७४॥

जानीयात् । विपरीते दुरदृष्टवशात् अगुभशकुने दृष्टे इत्यर्थः । “क्रौं क्रौम्” इत्यत्र

“क्रौं क्रौम्” इति पाठान्तरम् ॥ ६०—६२ ॥

युक्तिव्यपाशयचिकित्सायां बभ्याकर्कोटकीप्रयोगे—बभ्याकर्कोटकीं तित्त-
कर्कोटकीम् ॥ ७० ॥

प्रथममासिकपञ्चकादिकल्के—पञ्चकं पञ्चकाष्ठम् । चन्दनं रक्तचन्दनम् । पलमात्र-
मिति त्रयाणां मिलितानां ज्ञातव्यम् ॥ ७१ ॥

द्वितीयमासिकनीलोत्पलादिकल्के—खण्डौ मुद्गपर्णी ; “खण्डम्” इति पाठे—
प्रसुविचारविशेषः, “खण्डगुड” इति भाषा ॥ ७२ ॥

तृतीयमासिकश्रीखण्डादिकल्के—श्रीखण्डं श्वेतचन्दनम् ॥ ७३ ॥

तृतीयमासिकनीलोत्पलादिकल्के—नृपालानीति बहुवचनं पद्मोत्पलकुमुदा-
ह्वोर्ना नृपालशोधनायम् ॥ ७४ ॥

अथ गर्भिणीज्वरे पाठादिकषायः ।—

पाठामुस्तावयः स्यात्स्व-सारिवापन्नकैः शृतम् ।

श्रीतं तोयं निहन्त्याशु गर्भिणीज्वरवेदनाम् ॥७५॥

अथ गर्भिणीज्वरे छिन्नादिकषायः ।—

छिन्नाश्रीपर्णिकाकाथः सिताक्षौद्रयुतो हरत् ।

गर्भिणीनां ज्वरं घोरं लङ्घेशमिव राघवः ॥७६॥

अथ गर्भिणीज्वरे पयस्यादिकषायः ।—

पयस्यासारिवायष्टी-बलालीध्रमध्वजः ।

दुग्धेन मिश्रितः काथो हरेद्गर्भवतोज्वरम् ॥७७॥

दुर्जयः सर्वरोगेषु गर्भिणीनां ज्वरः खलु ।

तापो जूर्तिषु गर्भस्य विक्रियां कुरुतेतराम् ॥७८॥

अथ गर्भिण्यतिसारे वृक्षकलगादिकषायः ।—

वृक्षकत्वग्घनो देव-दारुदारुविभावरो ।

गर्भिण्या अतिसारघ्नः काथ एषां भवेद्ध्रुवम् ॥७९॥

अथ गर्भिण्यतिसारे श्रीपर्ण्यादिबलादिक्वाथो ।—

श्रीपर्ण्यायष्टिगोप्यब्द-दार्वाकाथोऽतिसारनुत् ।

बलादुरास्रभापाठा-शुण्ठीमुस्ताकषायवत् ॥८०॥

गर्भिणीज्वरे पाठादिकषाये—वयःस्या ब्राह्मो आमलकं वा । अश्वु बालकम् ।
सारिवा अननमूलम् ॥ ७५ ॥

गर्भिणीज्वरे छिन्नादिकषाये—छिन्ना गुडूची । श्रीपर्णिका गाभारी । सिता-
क्षौद्रे प्रसेधे ॥ ७६ ॥

गर्भिणीज्वरे पयस्यादिकषाये—पयस्या क्षीरकाकीली । मधुहवः मधुः
मधुकसारः तज्जः । दुग्धीऽत्र प्रसेपविधया प्रयोज्यः । जूर्तिषु ज्वरेषु तापः
ज्वरसन्नाप इत्यर्थः । जूर्तिषु इत्यत्र बहुवचनं ज्वरस्य अष्टविधत्वापेक्षया
अवधातव्यम् ॥ ७७।७८ ॥

गर्भिण्यतिसारे वृक्षकलगादिकषाये—वृक्षकलक् कुटजवल्कलम् । घनः
सुसक्तम् । दारुविभावरो दारुहरिद्रा ॥ ७९ ॥

गर्भिण्यतिसारे श्रीपर्ण्यादिक्वाथ-बलादिक्वाथयोः ।—गोपी सारिवा । बला...

अथ गर्भिण्याः उदावर्त्तादौ पुनर्नवाटिकायः ।—

जातः पुनर्नवाट्राभ्यां काथः क्षीरयुतो निशि ।

पीतो हरेदुदावर्त्तं गुल्फार्शः शोफवेदनाम् ॥८१॥

अथ गर्भिण्याः शोधादौ चत्याटिकायः निर्गुण्ड्यादिचूर्णम् ।—

घृतक्षीरगुडान्याऽऽर्द्र-काथः सिद्धेन चूर्णिताम् ।

कणां संयोज्य सेवेत शोफपित्तापनुत्तये ॥८२॥

अथ गर्भिणीशोथे पुनर्नवाटिलेपः ।—

पुनर्नवावचाकल्क-धान्यैर्लेपोऽतिशोफनुत् ॥८३॥

अथ गर्भिण्या उदावर्त्तादौ वर्षाभक्तायः ।—

गुडान्यसहितं काथं वर्षाभूमूलसाधितम् ।

उदावर्त्तं च शोफे च गर्भिणीं पाययेद्भक्षक् ॥८४॥

अथ गर्भिण्याः पित्तार्शौ यष्टिकादियवागूः ।—

पित्तार्त्तिं हन्ति यष्टोका-द्राक्षा मलकसाधिता ।

पीता दुग्धयवागूश्च गर्भिणीनामसंश्रयम् ॥८५॥

मुक्ताकषायवत् इत्यत्र बलादिकषाये यथा अतिसारगुत् तथा शीपण्यादिकाद्योऽपि अतिसारगुत् ; एवञ्च शीपण्यादिना प्रथमो धोमः बलादिना च द्वितीयो धोमः अवगन्तव्यः ॥ ८० ॥

गर्भिण्या उदावर्त्तादिषु पुनर्नवाटिकायै—क्षीरयुतः दुग्धप्रसेपयुक्तः ॥८१॥

गर्भिण्याः शोधादौ चत्याटिकाय-निर्गुण्ड्यादिचूर्णयोः,—चत्या हरीतकीः । चार्द्रम् चार्द्रकम् । सिद्धेन निर्गुण्ड्या । घृतक्षीरगुडान्यार्द्रकायः इत्यनन्तरं सेव्य इति शेषः ; तथा चूर्णतां कषाच सिद्धेन संयोज्य सेवेत इत्यन्वयः ; हरीतक्यार्द्रक-काथे घृतादिद्वयं प्रक्षिप्य शोधादिनाशनाय पिबेत् तथा निर्गुण्ड्यौचूर्णं पिप्पलीचूर्णञ्च ऐक्यं सेवेत इति निष्कर्षः । “घृत...संयोज्य” इत्यत्र “घृतक्षीरगुडान् चार्द्रकायः सिद्धानुचूर्णितः । संयोज्य नित्यम्” इति कुत्रचित् पाठः ॥ ८२ ॥

गर्भिणीशोथे पुनर्नवाटिलेपे—कल्कः शिक्कः । धान्यः धान्याकः । अत्र “पुनर्नवावचाकल्को धान्यैर्लेपः” इति पाठकल्पना सावीर्युषी ; तथात्वे धान्यैः धान्यगुणैरित्यर्थः, काञ्जिकैरिति यावत् ॥ ८३ ॥

गर्भिण्याः उदावर्त्तादिषु वर्षाभक्तायै—गुडान्ययोः प्रसेपः ॥ ८४ ॥

गर्भिण्याः पित्तार्त्तिहरयष्टिकादियवागूः—दुग्धयवागूः दुग्धमिश्रिता यवागूः

अथ गर्भिण्याः श्वासकासे तित्तादिकषायः ।—

तित्ताहरीतकीभार्गी-वचाशुण्ठीकषायकम् ।

संगुडं पाययेद्द्वयः श्वासकासापनुत्तये ॥८६॥

अथ गर्भिणीकासे मरिचप्रयोगः ।—

मरीचचूर्णं सक्षौद्र-सिताज्यं कासनाशनम् ॥८७॥

अथ गर्भिण्या वान्ती क्षात्रादिकषायः ।—

क्षान्जैलाकोलमज्जाख्यं निपीतं वान्तिनाशनम् ॥८८॥

अथ गर्भिण्याः टिक्रायां बालबिल्वप्रयोगः ।—

बालविल्वोद्भवः काथो टिक्रां हन्यात् समाक्षिकः ॥८९॥

अथ गर्भिण्या अग्रिमान्दो अजमोटादिचूर्णम् ।—

अजमोटाऽश्वगन्धा च द्वे कणे जीरकं तथा ।

लोढा मधुगुडोपिता निहन्त्युर्मन्दवह्निताम् ॥९०॥

अथ गर्भिण्या वातरोगे बालादिक्षीरं क्षीरयवागूथ ।—

बालविल्वविदारीभिः पृश्निपर्ण्या च साधितम् ।

क्षीरं क्षीरयवाग्व्याऽपि पिवेद्वातकृतामये ॥९१॥

रित्यर्थः, यष्टिकादीनां क्राथेन कृत्तकेन वा घवागूं साधयित्वा दुग्धेन सह पिवेदिति निष्कर्षः ॥ ८५ ॥

गर्भिण्याः श्वासकासे तित्तादिकषाये—गुडः प्रक्षेप्यः ॥ ८६ ॥

गर्भिणीकासे मरिचप्रयोगे—मरिचचूर्णस्य माषकद्वयं क्षौद्रादिभिरवलीकृतम् ॥८७॥

गर्भिण्या वान्ती क्षात्रादिकषाये—कोलमज्जा बदरफलाख्यमध्यम् । “कोलमज्जा”

इत्यत्र “अक्षौलमज्जा” इति पाठान्तरम् । अन्तु काथः ॥ ८८ ॥

गर्भिण्या टिक्रायां बालविल्वप्रयोगे—बालविल्वं विल्वशलाटुः ॥ ८९ ॥

गर्भिण्या अग्रिमान्दो अजमोटादिचूर्णे—द्वे कणे पिप्पली गजपिप्पली च ॥९०॥

गर्भिण्या वातामये बालादिक्षीरे—बालं बालकं, बिल्वं बिल्वपेक्षी । “विदारीभिः”

इत्यत्र “विदारीभ्याम्” इति पाठकल्पना साधीयसी ; तथात्वे बालविल्वं विल्वशलाटुः ।

क्षीरयवाग्व्याऽपि बालविल्वदिस्त्राक्षितक्षीरेण पक्वया यवाग्व्या इत्यर्थः ; यवाग्व्या इत्यत्र विवक्षावशात् तृतीया, यवागूं पिवेदित्यर्थः । “क्षीरयवागूं वा” इति पाठकल्पना साधीयसी ॥ ९१ ॥

अथ गर्भिण्या मूत्ररोगे श्वदंष्ट्रादिकाः ।—

श्वदंष्ट्राबलयोः कायो मूत्ररोगे प्रशस्यते ॥८२॥

अथ गर्भिण्याः मासानुमासिकयोगाः ।—

सुरटारु वयःस्या च शाकबीजञ्च यष्टिका ।

बला कृष्णतिलास्ताम्ब-वल्ली चाश्मन्तकस्तथा ॥८३॥

नीलीत्पलं वयस्या च गुडूची सारिवा तथा ।

मधुयष्टी च पद्मञ्च रास्ना सारिवया सह ॥८४॥

काश्मर्यो बृहती क्षीरी शृङ्गवल्लीत्वचो घृतम् ।

मधुपर्णी बला शिगु श्वदंष्ट्रा पृश्निपर्णिका ॥८५॥

सितामधुकशृङ्गाट-द्राक्षाविमकशेरुकाः ।

ममस्रोकार्द्धनिर्दिष्टान् योगान् सप्त पयोऽम्बितान् ॥

पिबेत् क्रमेण मासेषु गर्भस्त्रावादिवारणान् ॥८६॥

गर्भिण्या मूत्ररोगे श्वदंष्ट्रादिकाः—मूत्ररोगे मूत्रकृच्छादौ ॥ ८२ ॥

मासिकयोगेषु सुरटारित्यादिप्रथममासिकयोगे—वयःस्या क्षीरकाकोली ; सूशुते
“वयःस्या” इत्यत्र “पयस्या” इति पाठः । शाकबीजं शाकः मरुजद्रमविशेषः “शिगुन्”
इति भाषा, तस्य बीजम् । यष्टिका मधुयष्टिका । बलेत्यादितृतीयमासिकयोगे—
“बला” इत्यत्र “शतावरी” इति सूशुते पाठः । तासवल्ली मल्लिका । अश्मन्तकः अस्म-
न्तोटकः । नीलीत्पलमित्यादितृतीयमासिकयोगे—वयस्या क्षीरकाकोली ; “वयस्या”
इत्यत्र “पयस्या” इति पाठान्तरम् । “बृहती क्षीरी पयस्या च लता नीलीत्पलसारिवा”
इति सूशुतपाठे—लता दूर्वा प्रियङ्गुवा । उत्पलसारिवा अनन्तमूलम् । मधुयष्टी-
त्यादिचतुर्थमासिकयोगे—पद्मं पद्मपुष्पम् ; “पद्मम्” इत्यत्र “पद्मा” तथा “सारिवयस्य
सह” इत्यत्र “अनन्तासारिवा” इति सूशुतपाठे—पद्मा भार्गी । काश्मर्य इत्यादि-
पञ्चममासिकयोगे—काश्मर्यः गाम्भारीफलम् । क्षीरी क्षीरिका पञ्च क्षीर-
वृक्षा वा, एकवचनन्तु क्षीरित्वसामान्यात् । शृङ्गं पर्णं, जीवकं वा, वल्ली कैवर्त्त-
मुलकं, त्वक् गुडत्वक् । “काश्मर्यो.....घृतम्” इत्यत्र “बृहती काश्मरी चापि
क्षीरिशृङ्गास्त्वचो घृतम्” इति सूशुतपाठे तथा “बृहतीक्षयकाश्मर्यक्षीरिशृङ्गास्त्वचो
घृतम्” इति बाष्पटपाठे च—क्षीरिशृङ्गास्त्वचः क्षीरिणां क्षीरिवृक्षाणां बटादीनां शृङ्गाः
अविकसितपत्रमुकुलानि त्वचश्च वलकलानि चेत्यर्थः । “घृतम्” इत्यत्र “विसम्”

अथ गर्भिणीवाते उशीरादिचौरम् ।—

उशीरयष्टीसंसिद्धं गर्भिणीवातहृत् पयः ॥८७॥

अथ गर्भिणीवाते द्राक्षादियवागूः ।—

द्राक्षायष्टिकसिद्धा च यवागूश्च तथाफला ॥८८॥

अथ गर्भिण्याः पित्ते बलादिकाथः ।—

बला वासा पृथक्पर्णी-निर्युहस्यापि पित्तनुत् ॥८९॥

अथ गर्भिण्याः कामलादौ बलादिकाथः ।—

स पुनश्छिन्नया युक्तो गर्भिणौकामलापहः ।

कासं श्वासं तथा रक्त-पित्तञ्चाशु विनाशयेत् ॥९०॥

अथ गर्भिण्याः सर्वरोगे बलाप्रयोगः ।—

अष्टतः सष्टतो वाऽपि सदुग्धो वाऽप्यदुग्धवान् ।

एक एव बलाक्षाथो गर्भिणीमर्वरोगनुत् ॥९१॥

अथ मूढगर्भायाः लक्षणम् ।—

विनोमवायुना गर्भी जीवन् यदि न निःसरेत् ।

स गर्भमङ्ग इत्युक्तो मूढगर्भी— ॥९२॥

इति चक्रदत्तोक्तः पाठः । मधुपर्णीत्यादिषष्ठमानिकयोगे—मधुपर्णी यष्टिमधु ; “मधुपर्णी” इत्यत्र “मधुयष्टिका” इति चक्रदत्तोक्तः पाठः । सितेत्यादिसप्तम मासिकयोगे—विसं मृणालम् । पथोऽन्वितान् दुग्धमधुक्तान् ; कलकविषया एते उपयोक्त्याः ; केचित्तु चौरपाकपरिभाषया इत्याहुः ॥ ८१—८६ ॥

गर्भिणीवाते उशीरादिचौरे—यष्टी यष्टिमधु ॥ ८७ ॥

गर्भिणीवाते द्राक्षादियवागू—षडङ्गपरिभाषया श्रुतेन द्राक्षामधुकक्षाथेन सिद्धा यवागूः । तथाफला पूर्ववत् वातहृता इत्यर्थः ॥ ८८ ॥

गर्भिण्याः पित्ते बलादिकाथे—पृथक्पर्णी पृथिपर्णी ॥ ८९ ॥

गर्भिण्याः कामलादौ बलादिकाथे—स पुनः बलादिनिर्युहः पुनः । छिन्नया गुडस्या ; छिन्नाऽव प्रक्षेपविषया योन्या ; छिन्नासहितानां बलादीनां निर्युहो वा ॥ ९० ॥

गर्भिण्याः सर्वरोगे बलाप्रयोगे—सर्वं स्पष्टम् ॥ ९१ ॥

अथ अन्तर्मृतापत्याया लक्षणम् ।—

“—मृते शिशौ ।

स्तब्धध्यानं शिशिरजठरं साख्यशोषं समूर्च्छं
गर्भास्पन्दः श्वसनकमहा-पूतिगन्धो भ्रमाग्निः ।
कृच्छ्रोच्छ्रामोऽमितरुचिवपुः स्तब्धनेत्रे व्यथोथा
विण्मूत्रार्तिर्भवति हि मृतापत्यगर्भाङ्गनायाः ॥१०३॥

अथ मूढगर्भाया असाध्यलक्षणम् ।—

अकालश्वासमंयुक्ता बद्धभ्रष्टभगान्विता ।
शीताङ्गी पूतितोद्गारा मूढगर्भा न जीवति ॥१०४॥

अथ मूढगर्भचिकित्सा ।—

अथ करञ्जबीजादिप्रलेपः अहिनिर्मोकसङ्कोचोरप्रयोगो च ।—

बीजं करञ्जमञ्जातं कपित्थतुलसीजटा ।
दुग्धे पिष्ट्वा विलिप्याथ नाभिपत्करलेपतः ॥१०५॥
सुरया वाऽहिनिर्मोकैः सम्यग्योनिप्रधूपनात् ।
सुखं सृते बधूर्मूर्च्छि स्तब्धकपयःक्षेपणादपि ॥१०६॥

स्त्रीरोगसामान्यात् मूढगर्भचिकित्सितं विवक्षुः तल्लक्षणमाह, विलीमेति ।—

विलीनवायुना प्रतिलीनवायुना । गर्भसङ्गः गर्भाग्निःसरणं मूढगर्भं इत्युक्तः ॥१०२॥

अन्तर्मृतापत्याया लक्षणमाह, मृते इति ।—शिशौ मृते गर्भान्तर्मृते इत्यर्थः ।
स्तब्धध्यानं कर्मता देहस्य जडता आधानञ्च । शिशिरजठरम् उदरस्य श्रेयम् ।
गर्भास्पन्दः गर्भस्य निश्चलता । श्वसनकमहापूतिगन्धः श्वसनके निश्वासे महान्
पूतिगन्धः दुर्गन्धः । असितरुचिवपुः कृष्णवर्णदेहः । विण्मूत्रार्तिः विण्मूत्रसङ्ग
इत्यर्थः ॥ १०३ ॥

मूढगर्भाया असाध्यलक्षणमाह, अकालेति ।—अकालश्वासमंयुक्ता श्वासहेतोः
अनादिरभावेऽपि पुनः पुनः दीर्घनिश्वासनिक्षेपिणी । बद्धेति ।—बद्धः बद्धश्चिद्र
इत्यर्थः, भ्रष्टः स्वस्थानावस्थितश्च भगः योनिः तेन अन्विता युक्ता सङ्कुचितयोनिः
अलितयोनिश्च इत्यर्थः । पूतितोद्गारा पूतिता दुर्गन्धिता उद्गारे यस्याः सा ॥१०४॥

सुखप्रसवाद्यं करञ्जबीजादिप्रलेपे—कपित्थतुलसीजटा कपित्थतुलसीमूलम् ।

अथ हलिनीप्रयोगः ।—

हलिनीमूलिका नाभि-गुह्यवस्तिप्रलेपिता ।

विशल्यां कुरुते नारीं श्वेतपुष्पा च सा क्षणात् ॥१०७॥

अथ यटिकाटिकलकः ।—

यष्टीलुङ्गजटा पिष्टा पीता सूतिकरी ध्रुवम् ॥१०८॥

अथ लाङ्गल्यादिलेपः ।—

लाङ्गलीमधुसिन्धुलैर्यानि लेपात् सवेक्षधूः ॥१०९॥

अथ मातुलुङ्गीरन्ध्राप्रयोगो ।—

मातुलुङ्गाश्च मूले च रन्ध्राया वा कटिस्थिते ॥११०॥

अथ सिद्धार्थादिवस्तिः ।—

सिद्धार्थमागधौकुष्ठ-गोलीमोमिषिकल्कितः ।

निरुहः स्नेहपटुयुक् जरायुं पातयेत्तराम् ॥१११॥

विलिप्य इत्यत्र नाभिपत्करमिति शेषः, सुखं मूत्रे इत्युत्तरेणान्वयः । नाभिपत्करलेपतः इत्यस्य सुरया इत्यनेन सन्ध्वः ; सुरया वा करस्त्रबोजादिकं पिष्टा नाभिपत्करलेपात् सुखं मूत्रे इति निष्कर्षः । अङ्गिनिर्मीक-कुङ्गीचौरप्रयोगयोः,—अङ्गिनिर्मीकेः इत्यत्र अङ्गिशब्देन कणसर्पः यावत् ; कृक्पयः कुङ्गीचौरम् ॥ १०५।१०६ ॥

सुखप्रसवार्थं हलिनीप्रयोगे—हलिनीमूलिका लाङ्गलीमूलम् । श्वेतपुष्पा च सा श्वेतपुष्पा हलिनीत्यर्थः ; श्वेतपुष्पा श्वेतापराजिता वा ॥ १०७ ॥

सुखप्रसवार्थं यटिकाटिकलके—यष्टी यटिमधुकः, लुङ्गजटा मातुलुङ्गमूलम् ; योगोऽयं मधुघृताभ्यां पातव्यः अक्षपाणिघृततन्त्रान्तरीयवचनदर्शनात् ; तथा हि—“मातुलुङ्गस्य मूलानि मधुकं मधुसंयुतम् । घृतेन सह पातव्यं सुखं नारी प्रसूयते ॥” इति ॥ १०८ ॥

सुखप्रसवार्थं लाङ्गल्यादिलेपे—मधुना पेय्यं कार्यम् । सवेत् गर्भे सुखेः दिव्यः ॥ १०९ ॥

सुखप्रसवार्थं मातुलुङ्गीरन्ध्राप्रयोगयोः,—कटिस्थिते इत्यस्य “वधूः सवेत्” इति श्रुतेः सन्ध्वः ; कटिस्थिते कस्यां घृते सति इत्यर्थः ॥ ११० ॥

सिद्धार्थादिवस्ती—गोलीमो श्वेतद्रवां वचा वा । मिषिः मधुरिका, एतैः कल्कितः सिद्धार्थादिकलकसंयुतः । निरुहः आस्त्रापनं कश्चनविरत्यर्थः । स्नेहपटुयुक्

अथ सिद्धार्थकानुवासनम् ।—

सिद्धं सिद्धार्थकं तैलं पायी वा स्मरमन्दिरं ।

अनुवासनतः शीघ्रमपरां पातयेद्भवम् ॥ ११२ ॥

अथ सूतिकाचिकित्सा ।—

अथ कोरण्टकादिकाधः ।—

कोरण्टकं कुलत्यञ्च सर्वैरेभिः शृतं जलम् ।

शुक्तं शर्करया पीतं सूतिशूलज्वरापहम् ॥ ११३ ॥

अथ पञ्चमूलकाधः ।—

लोहखण्डयुतं पञ्च-मूलिकासोधितं जलम् ।

नाशयेत् सूतिकारोगान् सवातान् विविधान् खलु ॥ ११४ ॥

खेडः तैलादि पटु सैन्धवलवणं तदयुक् खेडपटुभ्यां युक्त इत्यर्थः । जरायुम् अमरा-
मित्यर्थः । सिद्धार्थादिकं समभागं पिष्ट्वा जलेनालीक्य च तैलादिखेडं लवणञ्च अनुकप-
भात्रया प्रलिप्य निरुद्धः कार्यः ॥ १११ ॥

सिद्धार्थकानुवासने—सिद्धं सिद्धार्थादिकलकपक्वमित्यर्थः, सिद्धार्थकं तैलं सार्धपं
तैलम् । अनुवासनं खेडवर्तिः । सिद्धार्थादिकलकपादेन चतुर्गुणजलेन च सार्धपतैलं
पक्त्वा अनुवासनं कर्त्तव्यम् । अपराम् अमराम् ॥ ११२ ॥

गर्भिणीचिकित्सान्तरं सूतिकाचिकित्सामाह । तत्र कोरण्टकादिकाधे—
कोरण्टकं कोरण्टकः पीतपुष्पा भिण्टी तस्य इदं कोरण्टकमूलमित्यर्थः । “सर्वैरेभिः”
इत्यस्य बहुत्वे प्रयोगश्चिन्त्यः, द्वय्यबहुत्वाभावात् ॥ ११३ ॥

पञ्चमूलकाधे—लोहखण्डयुतं तप्तलोहखण्डमृष्टम् । पञ्चमूलिकासोधितमित्यत्र
पञ्चमूलं मृद्विति ज्ञातव्यं, दीपनत्वादुष्णधीयत्वाच्च । लोहखण्डकमेकं द्रव्यं प्रत्याप्य
पञ्चमूलकाधे निर्वाप्य च तं काथं पाययेत् । तथा च रसरत्नाकरे—“आपयित्वा-
ऽ५५ लोहं मुद्गयुगे निषेचयेत् । पञ्चमूलस्य वा काधे पिप्पलीसलिलेऽथवा” पीतं
शुषादि तच्छीघ्रं सर्ववृत्तीरुजाहरम् ॥” इति । योगरत्नाकरेऽप्युक्तं—“पञ्चमूलस्य
काथं वा तप्तलोहेन सङ्गतम् । सूतिकारोगनाशाय पिबेद्वा तदयुतं सुराम् ॥”
इति ॥ ११४ ॥

अथ भूनिम्बादितैलम् ।—

भूनिम्बनिम्बभद्राश्व-गन्धसप्तच्छदत्वचा ।

तैलं पचेत्तदभ्यङ्गात् सूतिकासर्वरोगनुत् ॥११५॥

अथ सौभाग्यशुण्ठी ।—

अञ्जलिद्वितये तोये कंसमात्रपयोऽन्विते ।

तुलार्द्धशर्करां दत्त्वा गुडपाके कृते क्षिपेत् ॥११६॥

एलारिङ्गणिकावेल्ल-व्योषजीरकदीप्यकान् ।

भृङ्गं लवङ्गं बोलच्च प्रत्येकञ्च पलं पलम् ॥११७॥

मिषिः पञ्चपला धान्यं पलत्रयमितं तथा ।

शुण्ठीमष्टपलां सम्यक् विचूर्ण्य परिमिश्रयेत् ॥११८॥

एषा सौभाग्यशुण्ठीति शम्भुदेवेन कीर्त्तिता ।

सेविता हन्ति सूताया ज्वरं रोगमनेकधा ॥११९॥

भूनिम्बादितैले—भूनिम्बं किराततिक्तकम् । भद्रं मुक्तकं, भद्रा प्रसारणीत्यर्थी वा । सप्तच्छदत्वचा सप्तपर्णवल्कलेन । भूनिम्बादीनां पादिककल्केन चतुर्गुणेन जलेन च तैलं पक्तव्यम् । क्वचिदेतदनन्तरं—“तैलं लाक्षादिकं नाम सर्वामय-विनाशनम् ॥ चन्दनं सारिवा लीप्रां मृद्वीकाशर्करान्वितम् । क्वाथं कृत्वा प्रदातव्यं गर्भिण्यां ज्वरशान्तये ॥ ज्जीवेरारलुरक्तचन्दनबला धान्याकवत्सादनीं मूकोशीरशवास-पर्पटवृषा-क्वाथं पिवेद्भूमिषौ । नानावर्णरुजातिसारकृगदं रक्तस्रुतौ वा ज्वरे योगोऽयं सुनिभिः पुरा निगदितः सूत्रामयेषूत्तमः ॥” इत्यधिकपाठो दृश्यते ॥११५॥

सौभाग्यशुण्ठीयाम्—अञ्जलिद्वितये कुडवहये, शरावमिति इत्यर्थः । तोये तोयदेष्टे इत्यर्थः, “नामैकदेशयष्टयेनापि नामसमुदाययष्टयम्” इति न्यायात् तोयशब्देनात्र तोयदस्य यष्टयं, तोयदश्च घृतं, तथा च मेदिनी—“तोयदी मुक्तके मेघे पुमानान्धे नपुंसकम्” इति । तन्नान्तरे घृतपाठदर्शनादपि तोयशब्देन घृतस्यैव यष्टयमभि-प्रेतम् । कंसमात्रपयोऽन्विते द्रव्याद्रकयुक्ते, द्रवहैगुण्यात् षोडशशरावदुधसहिते इत्यर्थः । गुडपाके कृते गुडपाकलक्षणं समुदिते इत्यर्थः । रिङ्गणिका केर्षासुक्तकम् । वेल्लं विडङ्गम् । दीप्यकं यमानी कृष्णजीरकं वा ; तन्नान्तरे “साम्राजी-जीरादपि” इति पाठदर्शनात् ; तत्र अजाजीशब्देन कृष्णजीरकस्याभिधानम् । भृङ्गं गुडलक् । बोलं गन्धरसः, बोलपत्रमिति वा ; तन्नान्तरे “दल” इति

प्रीहानं मलबन्धश्च पाण्डुगुल्माश्चोस्तथा ।
कासश्वासक्रिमीनाग्नि-मान्द्यादिकगदांस्तथा ॥
कायाग्निजननं ह्येतत् सृतिकामृतमुच्यते ॥१२०॥

अथ पर्पटोरसः ।—

मञ्जारीमितवज्रहेमजरसैर्व्योमार्ककान्तैर्मृतै-
र्भागेस्तूत्तरवर्द्धितैः समरसैर्गन्धैर्द्विकर्षोन्मितैः ।
जातः पर्पटिकारमो घृतकणायुक्तो हरेत् सर्वशः
सूतीनां हि महागदान् गदचयं नानानुपानान्वितः ॥१२१॥

पाठदर्शनात् ; बोलपत्रं तेजपत्रमदृशसुगन्धिपदविशेषः, “बाटियापत्र” इति
ख्यातम् । मिषिः मधुरिका । कायाग्निजननं जठराग्निमन्दीपनम् । योगरत्ना-
करे तु तीक्ष्णानि सर्पिः, कंसमाधपयःस्थाने पयसः प्रत्यक्षं, टीप्यकमिष्यत् अनाजो,
बोक्षमिष्यत् दलं तथा भृङ्गादिद्रव्यवयवस्थाने नागकेशरः तेजपत्रञ्च दृश्यते, तथा हि—
“बाज्याञ्जलियुग्ममत्र पयसः पश्यद्वयं खण्डतः पञ्चाशत्पलमत्र चूर्णितमथ प्रक्षिप्यते
नागरम् । प्रक्षाल्यै गडवदिपाच्य विप्रिना मुष्टिद्वयं धान्यकात् मिष्याः पञ्चपलं पलं
क्लिमिरिपोः साज्जिजीरादपि ॥ व्योषाश्चोदटलोर्गन्धसुमनः-सट्टाविंशतीनां पलं पलं
नागरखण्डसंज्ञकमिदं मौभाग्यदं योषिताम् ॥” इति । कल्पना चास्या एव—गुग्गुला
अष्टपलं चूर्णं त्रुतशरावे मनक् भृष्टा मपादषट्शरावमितां शर्करां षोडशशरावदुधेना-
खोडा तत्र निक्षिप्य गडपकविधिना पच्यत्, आसन्नपाके च एलादिचूर्णं दत्त्वा अत्र-
तारयेदिति । क्वचित्तदनन्तरं—“नागरस्य पलान्यष्टौ घृतस्य पलविंशतिः ।
जीरादकेन संयुक्तं खण्डस्यार्द्धपलं तथा ॥ अताह्वाजीरकव्योष-त्रिसुगन्धि यमानिका ।
कारवीमिषिषव्याग्नि-मुक्तानाञ्च पलं पलम् ॥ लेङ्गीभूतमिदं सर्वं घृतभाण्डे निधाप-
येत् । तं यथाग्निबलं खादेत् प्रमृता च विशेषतः ॥ तत् वण्ये बल्यमायुष्यं बली-
पलितनाशनम् । वयसः स्थापनं ह्येतदग्निवह्निकरं परम् ॥ आसन्नातप्रशमनं
सौभाग्यकरमुत्तमम् । मङ्गलग्नूत्तमम् । सृतिकारोगनाशनम् ॥” इत्यधिक-
श्लोकः ॥ ११६—१२० ॥

पर्पटोरस—मञ्जारी साङ्गपादद्वयं, तच्च एकभागापेक्षया । मोहव्यं, तन्मिताः वज्र-
हेमजरसाः । वज्रं हीरकं, हेमजः सुवर्णमाखिकः, रसः रसाञ्जनं ते तैः, अत्र
रत्नादीनां मयाणां प्रत्येकं व्योमभागापेक्षया साङ्गपादद्वयमात्रं, ततश्च व्योमस्य कौल-

अथ स्वर्णादिप्रयोगः ।—

स्वर्णतारघनभानुतीक्ष्णकं तेषु चैकमतिमात्रमारितम् ।

सूतिकासकलरोगनाशनं रोगहारि विहितानुपानतः ॥१२२॥

अथ योनिव्यापच्चिकित्सा ।—

अथ योनिशूले निर्गुण्डीप्रयोगः ।—

निर्गुण्डीपत्रनिर्यासो गुडो जीर्णः सुरान्वितः ।

संवितस्तृप्तभक्ताभ्यां योनिशूलविनाशनः ॥१२३॥

अथ प्रसंसित्यां कारलीकन्दप्रयोगः ।—

निर्गताऽपि विशद्द्योनिः कारलीकन्दलेपिता ॥१२४॥

अथ शिथिलयोनी इन्द्रगोपप्रयोगः ।—

इन्द्रगोपाग्निलेपेन श्लथयोनिर्दृढा भवेत् ॥१२५॥

भागत्वे वज्रादीनां प्रत्येकं साधकपक्षोन्मानं याच्यम् । व्योम अर्धं, कान्तं कान्त-
लौहम् । भागैकतारवर्जितैः उत्तरोत्तरमेकैकभागवृद्धैः । समरसेरित्वादौ रस-
गन्धयोर्मिश्रित्वा कर्षव्यमानं, प्रत्येकमित्यपरे । घृतकणायुक्तः पिप्पलीचूर्णघृत-
मिश्रितः । वज्रादिकं सर्वं मर्दयित्वा रसपपंटीवत् पचेदिति ॥ १२१ ॥

स्वर्णादिप्रयोगे—तारं रजतम् । घनम् अथम् । भानुः ताम्रम् । तीक्ष्णकं तीक्ष्ण-
लौहम् । तेष्विति ।—स्वर्णादिष्वेतेषु मध्ये एकं यत्किञ्चिदेकं स्वर्णं वा तारं वा
इत्यादिद्वयम् अतिमात्रमारितं भुजोर्ध्वमित्यर्थः । रोगेति ।—विहितानुपानतः तत्त-
द्रोगहितानुपानयोगात् रोगहारि सूतिकारोगव्यतिरिक्तान्यविधरोगनाशनं, भवेदिति
शेषः ॥ १२२ ॥

सूतिकासन्तरं स्त्रीरोगविशेषयोनिव्यापच्चिकित्सायाः । तत्र योनिशूलहरनिर्गुण्डी-
प्रयोगे—निर्गुण्डीपत्रादीनां वषाणां समभागता । “सुरान्वितः” इत्यत्र “सुरासुतः” इति
कस्यचित् पाठः ॥ १२३ ॥

प्रसंसित्यां कारलीकन्दप्रयोगे—निर्गताऽपि योनिः कारलीकन्दलेपिता कारवेज्जी-
मूललेपिता विशेत् अन्तः प्रविशेत् ; यद्वा—या योनिः विशेत् अन्तः प्रविशेत्, साऽपि
कारलीकन्दलेपिता निर्गता वृद्धिर्निःसृता भवेदित्यर्थः, अन्तर्मुखयोनिः वृद्धिर्भवतीति
ज्ञावत्, “सुषुप्तोमूललेपाच्च प्रविष्टान्तर्वृद्धिर्भवेत्” इति सिद्धयोगदर्शनात् ॥ १२४ ॥

शिथिलयोनी इन्द्रगोपप्रयोगे—इन्द्रगोपाग्निलेपेन इन्द्रगोपाख्यकौटविशेषप्रलेपेन ;

अथ विव्रतायां माकन्दमूलादिलेपः ।—

माकन्दमूलकर्पूर-मधुभिष्य जरत्स्त्रियः ।

कुर्वते संहतां योनिं कन्यकाया इव ध्रुवम् ॥१२६॥

अथ श्रीपथौतैलम् ।—

श्रीपथीरिसकल्काभ्यां तैलं सिद्धं तिलोद्भवम् ।

तत्तैलं तुलिकेनैव स्तनयोः परिदापयेत् ॥१२७॥

पतितावुच्छ्रितौ स्त्रीणां भवेयातां पयोधरौ ।

गजकुम्भसमाकारावुन्नतौ परिमण्डलौ ॥१२८॥

अथ बालचिकित्सा ।—

अथ बालस्य गर्भक्लेशनिवारणोपायः ।—

गर्भनिर्गतबालस्य कणास्त्रणं प्रदापयेत् ॥१२९॥

यद्यपि अग्निशब्देनैव इन्द्रगोपशब्देनैव वा इन्द्रगोपाख्यकौटविशेषो लभ्यते, तथाऽपि एकपथ्यायकस्य पटव्यस्य युगपदाभिधानं “पद्मिनीषण्डम्” इत्यादिप्रयोगवत् ज्ञातव्यम् ; अथवा—इन्द्रगोपाख्यसरीसृपविशेषस्य निषेधार्थम् अग्नेः, चित्रकस्य च निषेधार्थं-मिन्द्रगोपस्य ग्रहणम् । इन्द्रगोपाग्निः वार्षिककौटविशेषः, “आषाढे पोका” इति ख्यातम् ; इन्द्रगोपः तदाख्यकौटविशेषः, अग्निः चित्रकः इत्यर्थो वा ; “इन्द्र-गोपाज्यलेपेन” इति पाठान्तरं—आज्यं घृतं, घृतेन इन्द्रगोपं पिष्ट्वा प्रलेपः दातव्यः ॥ १२५ ॥

विव्रतायां माकन्दमूलादिलेपे—माकन्दमूलम् आस्रवणस्य मूलम् ; “माकन्दमूल” इत्यत्र “मदफल” इति चक्रीकृतापाठे—“मदः कस्तूरी, फलं जातीफलं, किं वा मदफलं मदनफलमेव, एतैर्मधुना पिष्टेयीनिप्रपूरणम्” इति शिवदासः । संहतां सङ्कुचिताम् । योनिं विव्रतां योनिमित्यर्थः, विव्रतां योनिं संहतां कुर्वते इति ॥ १२६ ॥

श्रीपथौतैल—श्रीपथौ गान्धारी तस्याः रसः त्वयसः तैलाच्चतुर्गुणः, कल्कोऽपि त्वच एव स्नेहपादः । तुलिकेन तुलिकेनैत्यर्थः, “तुलिकेन” इति चकघृत-पाठः ॥ १२७ ॥ १२८ ॥

सूतिकाभायाः टुटलत्यादिपानात् बालानां रोगसम्भवात् सूतिकानन्तरं बालरोग-चिकित्सिते वक्तव्ये आदौ बालस्य गर्भक्लेशनिवारणोपायमाह, गर्भेति ।—कणास्त्रणं स्नानादिभिरुपचारितमारितस्त्रणचूर्णम् ; कणा पिप्पली, स्त्रणं स्त्रेति वा ॥ १२९ ॥

अथ सद्योजातबालस्य संज्ञाजननीपायः ।—

पाषाणद्वितयं युञ्ज्यात् कांस्यभाजनमुच्चकैः ।

तेन तस्तः ससंज्ञः स्याद्योनिनिर्गमपीडितः ॥१३०॥

अथ सद्योजातबालस्य ज्वरादिनिवारणीपायः ।—

सुखीणैः काष्ठीकैर्बालं सम्प्लोच्य द्वित्रिवारतः ।

देयः शिरसि बालस्य घृतपिण्डो ज्वरापहः ॥

शिरोगतविकारघ्नो मुख्यो रक्षाकरस्तथा ॥१३१॥

अथ पित्तज्वरं रोहिणीक्षीरम् ।—

भक्षणं रोहिणीकल्के सिद्धं पानानुलेपतः ।

ज्वरं पित्तोत्तरं हन्ति मुस्ताकाथ इव ध्रुवम् ॥१३२॥

निःसरणकाले अपत्यपथपोडनजनितक्लेशेन निःसंज्ञस्य संज्ञाजननमाह,
पाषाणोत ।—पाषाणद्वितयं प्रकारखण्डद्वयं कांस्यभाजनं कांस्यपात्रं वा उच्चकैः
उत्तुशब्दं कृत्वा युञ्ज्यात् घर्षेत्, आहत्यादित्यर्थः ॥ १३० ॥

“प्राणिनः सज्वरा एव जायन्ते सज्वरा एव म्रियन्ते” इति अरकोक्त्या भूमिष्ठ-
कालिकज्वरादिनाशकमुपचारमाह, सुखीणैरिति ।—ज्वरापहः भूमिष्ठकालिक-
ज्वरापहः ; यद्वा—ज्वरशब्दस्य रोगसामान्यवाचित्वात् ज्वरापहशब्देन गर्भरुजापहः
इत्यर्थो बोद्धव्यः । शिरोगतविकारः योनिःसम्प्लोडनेन शिरसः क्षिपितत्वादिरूपः
तालुपातादिरूपो वा, तं हन्तीति तथोक्तः । मुख्यः श्रेष्ठः ॥ १३१ ॥

पित्तज्वरघ्नरोहिणीक्षीरे—रोहिणीकल्के सिद्धम् इत्यत्र अनन्तरश्रीकात् मिह्रव-
ल्लोकितव्यायेन क्षीरमिति पदं समाकृष्य अन्वेतव्यं, ततश्च रोहिणीकल्के सिद्धं क्षीरं
भक्षणं कारयितव्यमित्यर्थः, रोहिणी कटुक्षी । क्षीरसाधनञ्च “द्रव्यादष्टगुणं क्षीरं
क्षीराक्षीयं चतुर्गुणम् । क्षीरावशेषः कर्तव्यः क्षीरपाके त्वयं विधिः ॥” इति परि-
भरवानुसारेण कर्तव्यम् ; “भक्ष्यम्” इत्यत्र “सज्वरे” इति कस्यचित् पाठः ।
पानानुलेपतः पानं रोहिणीकल्के सिद्धस्य अन्धसः पानं, तेनैव कल्केन अनुलेपय
ताभ्याम् ; यद्वा—रोहिणीकल्के सिद्धं भक्ष्यं यवाद्यादिरूपमन्नं, तथा पानानुलेपतः
रोहिणीकल्के सिद्धस्य क्षीरस्य अन्धसो वा पानात् तस्यैव कल्कस्यानुलेपाच्च
इत्यर्थः । मुस्ताकाथ इव इति दृष्टान्तेन मुस्ताकाथोऽपि पित्तज्वरं हन्ति इत्यर्थो-
द्दिष्टावगम्यते ॥ १३२ ॥

अथ पित्तज्वरे अश्वत्थचौरम् ।—

अश्वत्थपल्लवैश्चाश्वः क्षीरं पक्वं निषेवितम् ।

पित्तजातं ज्वरं तीव्रं बालानां हन्ति निश्चितम् ॥१३३॥

अथ गन्धोत्पलजटादिकल्कः ।—

गन्धोत्पलजटापिष्टा कटुकी नाशयेज्ज्वरम् ॥१३४॥

अथ सहदेव्यादिचूर्णम् ।—

सहदेवीकणाभृङ्ग-क्षौद्रं क्षौद्रं हरेच्छिशोः ।

वमिकासज्वरव्याधौ च क्षौद्रेणातिविषा तथा ॥१३५॥

अथ न्यग्रोधोदि क्वाथः ।—

न्यग्रोधजम्बाम्निशिरौषकाणां

क्वाथो रसो वा नवपल्लवानाम् ।

पित्तातिसारज्वरवान्तिमूर्च्छा-

दृष्ट्यां निहन्त्यान्मधुना शिशूनाम् ॥१३६॥

अथ रक्तातीसारहरचूर्णम् ।—

मध्वन्मृङ्गीपाठाब्दं रक्तातीसारहृच्छिशोः ॥१३७॥

पित्तज्वरघ्नाश्वत्थचौरं—अश्वत्थपल्लवैः पक्कमश्वः क्षीरञ्च क्षीरपरिभाषया अश्वः क्षीरक्षेकस्यं पक्का इत्यर्थः ; यदा—अश्वत्थपल्लवैः अक्षम् अश्वः क्वाथः, क्षीरं वा इति योगद्वयम् ॥ १३३ ॥

गन्धोत्पलजटादिकल्के—गन्धोत्पलं कुमुदपुष्पं त्रेतपत्रं वा, तस्य जटा मूलं कन्द इत्यर्थः ; जटा जटामांसी वा ; “जटा” इत्यत्र “जलेः” इति कुत्रचित् पाठः ; तथा ताभ्यां वा पिष्टा कटुकी ॥ १३४ ॥

सहदेव्यादिचूर्णं—सहदेवी बला दण्डोत्पला वा । भृङ्गं गुडत्वक् । अतिविषा-प्रयोगे—क्षौद्रेणातिविषा तथा वम्यादिव्याधौ च हरेदित्यर्थः ॥ १३५ ॥

न्यग्रोधोदिक्वाथे—न्यग्रोधादीनां वस्त्रकलस्य क्वाथः । रसो वा नवपल्लवानां न्यग्रोधादीनामेव नवपल्लवानां रसः ॥ १३६ ॥

रक्तातीसारहरचूर्णं—अश्वन् बालकम् । मृङ्गी चर्कटमृङ्गी । मधुना लेहः कार्यः ; चूर्णयोगोऽयम् ॥ १३७ ॥

अथ सखीरबोलप्रयोगः ।—

क्षीरं सबोलं कण्ठोरः-शिरःकफहरं शिशूः ॥१३८॥

अथ मधुकादिकलकः ।—

अधुकं मरिचं पिष्टं गोजलैः परिषेवितम् ।

विनाशयति वेगेन बालानां मूत्रविड्महम् ॥१३९॥

अथ यथादिष्टम् ।—

षष्टीलोध्रकणागन्ध-बालाशाल्मलिमारिवा ।

सुगन्धा मात्तिकञ्चेति सिद्धं मर्पिर्निषेवितम् ॥

शुश्रूणात्रस्य बालस्य बृंहणं बलकारि तत् ॥१४०॥

अथ शङ्खनाभ्यादिवर्त्तिः ।—

शङ्खनाभिकणापथ्या-रसाञ्जनविनिर्मिता ।

वर्त्तिर्निहन्ति मधुना बालनेत्राखिलामयान् ॥१४१॥

अथ अश्वगन्धा घृतम् ।—

क्षीरेऽश्वगन्धया ताम्र-सूतान्तैः सह साधितम् ।

घृतं पुष्टिकरं वर्ण्यं बलकृत् सुखकारि च ॥१४२॥

सखीरबोलप्रयोगे—बोलं गन्धबोलं, तस्य रक्तिक रक्तिवर्धं वा क्षीरेणालोष्य पेयम् ॥ १३८ ॥

मधुकादिकलके—गोजलैः गोमूत्रैः, बहुवचनन्वेन बहुधा पेयणबोध-नार्थम् ॥ १३९ ॥

यथादिष्टम्—गन्धः गन्धाङ्गः प्रियङ्गुरित्यर्थः, “गन्धा” इति पाठेऽपि—स एवार्थः, वंशलोचना वा । बाला बालकं सूक्ष्मा वा ; यथा—गन्धबाला इत्येक-पदं, सुगन्धबालकमित्यर्थः । “बाला” इत्येव “बला” इति पाठान्तरम् । शाखलौ-शब्देन तन्मूलं याच्यम् । सुगन्धा सूक्ष्मा एलबालुका वा, “सुगन्धि” इति पाठेऽपि—एलबालुकं कश्चिक वा । यथादीनां कलकः खेदचतुर्थांशः जलं चतुर्गुणं, सर्पिषश्च त्रयमेकैव पक्तव्यम् । बृंहणं पुष्टिकरम् ॥ १४० ॥

शङ्खनाभ्यादिवर्त्त्या—“पथ्या” इत्यत्र “मनःशिला” इति चकष्टतपाठः ॥१४१॥

अश्वगन्धाघृते—अश्वगन्धया ताम्रसूतान्तैश्च कलकैः सह क्षीरे साधितं घृत-मित्यन्वयः ; ताम्रसूतान्तैः ताम्रं रक्तचन्दनं ताम्रमज्ज वा, सूतः पारदः, पारदभज्ज

अथ तालुकण्टकलक्षणम् ।—

श्लेष्मा हृत्तालुमांसस्यः करोति कुपितः शिशोः ।

तालुकण्टकमेतेन तालुस्थाने च निम्नता ॥१४३॥

दृष्ट्या तालुविपाकस्य स्तन्यद्वेषस्य विड्ग्रहः ।

भ्रमास्यशोषः कण्डूति-ग्रीवामूर्ध्वगता वमिः ॥

अक्षिरोमादिकञ्चापि—”

॥१४४॥

अथ तालुकण्टकचिकित्सा ।—

“—तत्र चोन्नीय तालुकम् ।

प्रतिसार्थं यवक्षार-क्षौद्राभ्यामतिथल्लतः ॥१४५॥

इत्यर्थः, अन्तः सुखा तैः । क्षीरमत्र चतुर्गुणम् । “तामस्तान्तेः सङ्घ” इत्यत्र “साङ्घे बलाक्तायेश्च” इति कुदाचित् पाठः ॥ १४२ ॥

बालरोगविशेषस्य तालुकण्टकस्य लक्षणमाह, श्लेष्मेति ।—हृत् हारी नाशक इत्यर्थः, क्षीर इति यावत् । “श्लेष्मा हृत्” इत्यत्र “श्लेष्मा तु” इति पाठान्तरम् ; “तालुमांसि कफः क्रुद्धः कुर्वते तालुकण्टकम्” इति वाग्भटे पाठः । एतेन तालुकण्टकेन । तालुस्थाने शिरसाल्लानि ; “तेन तालुपदेशस्य निम्नता मूर्ध्नि जायते” इति वाग्भटदर्शनात् । विड्ग्रहः मलसंरोधः ; “विड्ग्रहः” इत्यत्र “शक्रद्वयम्” इति वाग्भटपाठे—शक्रद्वयं भिन्नपुरीषता । अत्र तु विड्ग्रहः इत्यनेन शक्रद्वयमित्यस्य विरोधः न आशङ्कनीयः, यतः द्रवमलानिःसरणात् प्राक् विट्सङ्को भवति ; यदुक्तं सुस्रुते अतीसारपूर्वरूपे—“हृन्नाभिपायूदरकुक्षितोद-नावावसादानिलसन्निरोधाः । विट्सङ्गं चाध्मानमथाविपाको भविष्यतस्तस्य पुरःसराणि ॥” इति । अत्र तु एत-देवाशयोक्तस्य विड्ग्रह इत्युक्तम् ; अथवा गृह्णातीति ग्रहः ग्रहणं, विषः पुरीषस्य ग्रहः अपां धातुभिः ग्रहणं मिश्रणमित्यर्थः, अत्रातुभिः सङ्घ मिश्रीमूथ प्रवर्तनमिति यावत् ; किं वा दोषाणां दुर्ज्ञेयगतिजत्वात् विड्ग्रहोऽपि कदाचित् सम्भवतीति समाधानम् । ग्रीवामूर्ध्वगता कण्डूतिः ग्रीवायां मूर्ध्नि च कण्डूः । “ग्रीवामूर्ध्वगता” इत्यत्र “ग्रीवादुर्वहता” इति हग्विनिश्चयोक्तपाठः “ग्रीवादुर्वहता” इति वाग्भटोक्तः पाठो वा सुगमः समीचीनश्च ॥ १४३।१४४ ॥

तालुकण्टकस्य चिकित्सामाह, तत्रेति ।—तत्र तालुकण्टके । उन्नीय कर्षणं ।

यद्वा विश्वाकणासिन्धु-गोमयीत्यरमैस्तथा ।

पथ्याकुष्ठवचाकलकं स्तन्येन मधुना सह ॥

पीतं निहन्ति वेगेन बालानां तालकण्टकम् ॥१४६॥

अथ गुदकौटस्य निदानलक्षणम् ।—

प्रस्वेदान्मललेपाद्वा रक्तश्लेष्मभवो गुदे ।

गुदकौटो भवेद्गोमस्तीव्रव्रणसमन्वितः ॥१४७॥

अथ गुदकौटचिकित्सा ।—

शृतशीताम्बुशैलेय-लुकचूर्णं मधूत्कटम् ।

तेनापानव्रणं सम्यक् लेपयेद्विषगुत्तमः ॥१४८॥

त्रिफलावटरीपत्र-क्वाथेन परिषेचयेत् ।

रागकण्डूमतो रक्तं जलूकाभिः समन्वितम् ॥

पित्तव्रणचिकित्सा च सकलाऽत्र प्रशस्यते ॥ १४९॥

प्रतिसार्य्य चक्षुष्य । विश्वा शुण्ठी । तथा प्रतिसार्य्य इत्यर्थः । पथ्यादिकल्कपानञ्च प्रतिसारणानन्तरं कार्यम् । वाम्बटेन तु प्रतिसारणीयं यवचारादिकं विश्वादिकञ्च तथा पातव्यञ्च पथ्यादिकं पृथक् पृथक् पठितं, न तु प्रतिसार्य्य पिबेदित्येवम् ॥१४५॥१४६॥

गुदकौटस्य निदानं लक्षणञ्चाह, प्रस्वेदादिति ।—प्रस्वेदात् अतिघर्मात्, मललेपात् शकृन्मूललितत्वात् । “गुदकौटः” इत्यत्र “गुदकट्टः” इति पाठान्तरम् । सुसुते तु व्याधिरयम् “अङ्घ्रिपूतनम्” इति नाम्ना ख्यातम् ; यदुक्तं—“शकृन्मूलसमायुक्ते धीतेऽपाने शिशोर्भवेत् । स्निग्धे वाऽस्त्राप्यमाने वा कण्डू रक्तकफीद्वा ॥ कण्डूयनात् ततः क्षिप्रं स्फीटः स्त्रावश्च जायते । एकौभूतं व्रणं चोर् तं विद्यादङ्घ्रि-पूतनम् ॥” इति । वाम्बटे पुनरस्य विविधानि नामान्युक्तानि ; तदयथा—“कैचित्तं मातृकादोषं वदन्त्यन्येऽपि पूतनम् । प्रष्टारगुदकुन्दञ्च कैचिच्च तम-नामिकम् ॥” इति ॥ १४७ ॥

गुदकौटचिकित्सायां—शैलेयः शैलजः, लुकः लुण्टकः, तण्डुलीयः इत्यर्थः ; “लुक” इत्यत्र “कषा” इति कुत्रचित् पाठः ; तयोः चूर्णं मधूत्कटं मधुप्रगर्भं, शैलेयलुकचूर्णं शृतशीताम्बुना पिष्टा प्रभूतमधुना आलोच्य लेपयेत् । “मधूत्कटम्” इत्यत्र “मधूत्कम्” इति पाठे—सिक्कण्ठमित्यर्थः । अपान-व्रणं मक्षारव्रणवर्णवर्णं गुदकौटमित्यर्थः । त्रिफलेत्यादौ—“वटरीपत्र” इत्यत्र

अथ गुदपाकचिकित्सा ।—

गुदपाके तु कर्त्तव्या पित्तव्रणहरा क्रिया ।

पानप्रलेपयोः शस्तं विशेषेण रसाञ्जनम् ॥१५०॥

अजादुग्धेन सम्मिश्र जौरकाञ्जनचूर्णकैः ।

जातीपत्ररसोपेतैः पूर्वप्रोक्तरसैरपि ॥१५१॥

अथ मुखपाकचिकित्सा ।—

मुखपाके मुखं लिम्पेद्धोधित्वगृत्तसारधैः ।

जातीपत्राभयायष्टी-मधुदार्या च लेपयेत् ॥१५२॥

अथ नाभिपाकचिकित्सा ।—

नाभिपाके प्रलेप्तव्यं सिक्तं तैलेन भूरिशः ।

रजनीयष्टिकालोध्र-प्रियङ्गुणाञ्च कल्कतः ॥

चूर्णेनैषां सतैलेन नाभिपाकं शमं नयेत् ॥१५३॥

“खदिर” इति योगरत्नाकरे पाठः । रागकण्डूमतः रानकण्डूयुतात, व्रणादिति शेषः, जल्लूकाभिः जल्लौकाभिः समन्वितं रक्तम् अग्रद्वरक्तमित्यर्थः, परिषेचयेदिति पूर्व-वाक्यान्वयः । वायटे अस्य पाठान्तरादिकं यथा—“शतशीतञ्च शीताम्बुमुक्तमन्तरपानकम् । सचौद्रतार्क्ष्येलेन व्रणं तेन च लेपयेत् ॥ त्रिफलावदरीप्रव-त्स्वकाशपरिषेचितम् ।...” रागकण्डूकटे कुर्याद्रक्तस्त्रावं जल्लौकसा । सर्वञ्च पित्तव्रण-जिह्वस्यते गुदकृदके ॥” इति ॥१४८॥१४९॥

गुदपाकचिकित्सायां—सम्मिश्र इति छेदः ; रसाञ्जनम् अजादुग्धेन सम्मिश्र पानालेपनयोः विशेषेण शक्तमित्यन्वयः । जौरकेत्यादौ द्वितीययोगे—अञ्जनं रसाञ्जनं, चूर्णकः शक्तुकम् ; जातीपत्ररसोपेतैः जौरकाञ्जनचूर्णकैः तथा पूर्वप्रोक्तरसैः त्रिफला-वदरीपत्रकाष्ठैः सह जौरकाञ्जनचूर्णकैः प्रलेपयेत्, गुदकोटगुदपाकयोः समन्यागत्वेन तद्विज्ञानानुवापि हितत्वात् ; यथा—पूर्वप्रोक्तरसैः रसाञ्जनेन केवलेन जातीपत्र-रसोपेतैः, प्रलेपयेदिति शेषः । पानप्रलेपयोरित्यादिना उक्तं योगवत्त्वं मुखपाकेऽपि प्रयोज्यमिति हृदयवह्णारदशनादिति बोध्यम् ॥ १५०॥१५१॥

मुखपाकचिकित्सायां—बोधित्व् अत्यवल्कलम् ; “गृत्त” इत्यत्र “दल” इति चक्रीतपाठे—दलं पत्रम् अत्यवल्कलम् । सारघं चोद्रेम् । मुखपाके जातीपत्रे-त्यादिना द्वितीयो लेपः ॥ १५२॥

अथ कुण्डलचिकित्सा ।—

अपुष्याश्वत्यपश्चाङ्ग-क्वाथेनापि च कल्कतः ।

सिद्धं तैलं प्रलेपेन कुण्डलव्याधिनाशनम् ॥१५४॥

अथ बालपञ्चामृतम् ।—

हिङ्गुशुण्ठीकणापथ्या-मिषीपञ्चामृतं मतम् ।

सर्वबालामयान् हन्ति पाचनं दीपनं परम् ॥१५५॥

अथ तित्ताद्यं घृतम् ।—

तित्ताग्निव्योषमालूर-पथ्यारुचकहिङ्गकम् ।

तुल्यदुग्धं घृतं पक्वं गुल्मानाहविलम्बिकाः ॥

कासं श्वासं गुदभ्रंशं विनिहन्ति न संशयः ॥१५६॥

नाभिपाकचिकित्सायां—प्रलेपव्यमित्यस्य रजन्वादीनां कल्कत इत्यनेनान्वयः, आदौ तैलेन सिक्तं कृत्वा रजन्वादीनां कल्केन प्रलेपयेत् । तथा मतेनेन तैलमिश्रितेन एषा रजन्वादीनां चूर्णेन वा प्रलेपयेन्निति । चक्रेण तु रजन्वादीनां कल्कपादेन चतुर्गुणजलेन च तेन पक्तव्यं तथा रजन्वादीनां चूर्णेन अवचूर्णनञ्च कार्यमित्युक्तम् ; तथा च—“नाभिपाके निशालाप्रियङ्गुमधुकेः शतम् । तैलमभ्यञ्जने शस्त्रमेभिर्वाऽप्यवचूर्णनम् ॥” इति ॥ १५३ ॥

कुण्डलचिकित्सायाम्—अपुष्याश्वत्यपश्चाङ्गक्वाथेन अश्वत्यस्य पुष्यहीनपश्चाङ्गक्वाथेन, मूलफलपत्रलङ्गुलेन तैलचतुर्गुणेन तथा कल्कतः अपुष्यपश्चाङ्गकल्कात् तैलपादिकात् । कुण्डलव्याधिनाशनं कुण्डलव्याधिः मूत्राघातोक्तः वातकुण्डलिकाख्यरोगः बलिकुण्डलाख्यरोगो वा, नाभिकुण्डलगतः श्लेष्मपाकादिद्वयो व्याधिविशेषो वा ॥ १५४ ॥

बालपञ्चामृतम्—मिषी मधुरिका । पञ्चामृतं हिङ्गुदिमिश्रितं द्रव्यपञ्चकमेव अमृतवत इतित्तात् पञ्चामृतम् । हिङ्गुादीनां चूर्णं मधुना लेपयितव्यं सन्धेन याययितव्यं वा ॥ १५५ ॥

तित्ताद्यघृते—तित्ता कटुकी । अग्निः चित्रकः । मालूरं श्रीफलं, विल्वपेक्षी-त्यर्थः । रुचकं सौवर्चलम् । रुचको वा वीजपूरकमित्यर्थः । तित्तादीनां नवानां कल्कः । तुल्यदुग्धमिति घृतसमं दुग्धं, जलञ्चान् चतुर्गुणं देयम् ॥ १५६ ॥

अथ राजीकुष्ठादिप्रलेपः ।—

राजीकुष्ठनिशागेह-धूमवत्सकतक्रतः ।
लेपो विचर्चिकां सिध्य हन्ति पामाञ्च वेगतः ॥१५७॥

अथ यक्ष्मो गुटिका ।—

राजीकरञ्जपुष्पाट-शिरीषार्कनिशाद्वयम् ।
प्रियङ्गुत्रिफलाटारु-हिङ्गुव्यापकुचन्दनम् ॥१५८॥
मञ्जिष्ठाग्राऽऽजमूत्रञ्च गुटिका ग्रहनाशिनी ।
पाननस्याञ्जनानलेप-स्नानोदत्तनधूपनात् ॥१५९॥

अथ माहेश्वरो धूपः ।—

श्रीवेष्टदारुवाङ्गीक-मुस्तोकटकरोहिणी ।
सर्षपा निखपत्राणि मदनस्य फलं वचा ॥१६०॥
बृहत्यौ सर्पनिर्मोक-कार्पासास्थियवास्तुषाः ।
गोशृङ्गं खररोमाणि बर्हिपिच्छं विडालविट् ॥१६१॥
छाग्रोम घृतञ्चेति बस्त्रमूत्रेण भावितम् ।
एष माहेश्वरो धूपः सर्वग्रहनिवारणः ॥१६२॥

अथ छिन्नादि तैलम् ।—

छिन्नाफणिज्जहंसाङ्घ्रि-भानुपत्रोरसैः सह ।
सस्तन्यं साधितं तैलं लिप्तं सर्वग्रहान्निजित् ॥१६३॥

राजीकुष्ठादिप्रलेपे—राजी राजिका सर्षपः इत्यर्थः । वत्सकः इन्द्रयवः ; अर्च
लक्ष्मण पेषणम् ॥ १५७ ॥

यक्ष्मो गुटिकायां—राजी राजिका । करञ्जः “उड्डरकरञ्ज” इति ख्यातम् ।
पुष्पाटः चक्रमर्दः अथ बीजम् । कुचन्दनं रक्तचन्दनम् । उग्रा वचा ॥१५८॥१५९॥

माहेश्वरधूपे—श्रीवेष्टः नवनीतखोटी । वाङ्गीकं हिङ्गु । सर्षपाः राजिकाः ।
अजमूत्रेण छागमूत्रेण ॥ १६०—१६२ ॥

छिन्नादितैले—छिन्ना गुडूची । फणिज्जः तुलसी । जंसाङ्घ्रिः हंसपद्मी,
“गोहालिया” इति ख्यातं, भूतहन्तृत्वात् । भानुपत्री अर्कपत्री, ईश्वरमूलाख्यहर्षस्य
व्रतम् ; “भानुपत्र” इति पाठे—अर्कपत्रम् ; आसां रसैः प्रत्येकं तैलसमे ; सक्तम्

अथ स्फूर्जकादि तैलम् ।—

स्फूर्जकं हृषुषापुष्पं हंसपादौ कुरण्टकम् ।

करञ्जार्कदलस्फूर्ज-श्वेतपत्रञ्च कल्कितम् ॥

तेन संसाधितं तैलं तेनाभ्यङ्गं चरेच्छिशोः ॥१६४॥

अथ निम्बादिघृतं क्षीरञ्च ।—

निम्बाश्वत्थपलाशानां वित्त्वकिंशुकयोर्दलैः ।

सिद्धं सर्पिस्तथा क्षीरं पानाङ्गालग्रहान् जयेत् ॥१६५॥

अथ शैलेयादिधूपः ।—

शैलेयगुग्गुलुरसैः सपुरप्रचण्ड-

द्रव्यापहृत्सरसकुन्दरुभिः सकुष्ठैः ।

सध्यामकैः सुरभिगन्धरसैश्च धूपः

सौभाग्यबुद्धिजयकृद्भिजयो विवादे ॥१६६॥

सक्षीरम्, एतदपि तैलसममेव, क्षीरञ्चान् गन्धमेव, स्त्रिया इति केचित् । अकल्कमिदं तैलम् ॥ १६३ ॥

स्फूर्जकादितैली—स्फूर्जकं तिन्दुकम् । हृषुषापुष्पं हृषुषा स्वनामज्यात-
बन्धिगुद्व्यविशेषः तस्याः पुष्पम् । हंसपादौ गोधापदौ । कुरण्टकं पीतपुष्पा भिण्टी ।
“स्फूर्जकं” “कुरण्टकम्” इत्यत्र क्लीबत्वं वैवचिकम् ; “स्फूर्जकः” “कुरण्टकः”
इति तु साधु । अर्कदलम् अर्कपत्रम् । स्फूर्जः काकस्फूर्जः, काकतिन्दुक
इत्यर्थः । श्वेतपत्रं श्वेततुलसी, “श्वेतपुष्पम्” इति पाठे—श्वेतसिन्दुवारः
श्वेतकरवीरको वा ; एषां कलकेन स्नेहतुर्याशेन जलेन च चतुर्गुणेन तैलं
पक्तव्यम् ॥ १६४ ॥

निम्बादिघृतक्षीरयोः,—किंशुकः शाखली । दलैः पत्रैः, निम्बपत्रादीनां कल्कः
स्नेहचतुर्धाशः, अलं चतुर्गुणं देयम् । तथा क्षीरमिति निम्बपत्रादिभिः सङ्घेव क्षीरपरि-
भाषया पक्वं क्षीरम् ; “सिद्धं...जयेत्” इत्यत्र “सिद्धः पीतस्त्रनेकांशबालग्रहनिवारणः”
इति कुक्षेचित् पाठः ॥ १६५ ॥

शैलेयादिधूपे—शैलेयं शैलजम् । रसः शिष्टकम् । पुरं दाहागृहः । प्रचण्डः
शक्तकरवीरः । द्रव्यं लाक्षा । अपहृत् क्षीरकः, गन्धिपर्वः इत्यर्थः, क्षीरपुष्पो इत्यर्थः

देवासुरोरगपिशाचपिष्टग्रहेषु

गन्धर्वयक्षपिशिताशिशु च ग्रहेषु ।

कीर्णज्वरेषु विहितस्य विषातुरेषु

धूपोऽयमाजिविजयार्तिषु पार्थिवानाम् ॥ १६७ ॥

इति श्रीवेद्यपतिसिंहगुप्तस्य सूनीर्वात्मटाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये बभूव-

गर्भिणी सूतिका-बालरोगचिकित्सानाम् द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

अथ तयोर्विंशोऽध्यायः ।

अथ उन्मादवातादिचिकित्सनम् ।—

अथोन्मादस्य निदानमभ्यासौ ।—

आधिव्याधिक्रमस्य दग्धेनतनोराहारतो वा भयात्

पूज्यातिक्रमणाद्विषादपविषादैवाटमामर्थ्यतः ।

वैषम्यादपि कर्मणां हृदि मन्त्रा बुद्धेर्विधायोत्पन्नं

कालुष्यं हतसौख्यदुःखमथनमुन्मादमातन्वते ॥ १ ॥

वा । सरसं काष्ठागुरु । कुन्दुरु कुन्दुरुखोटि तत्सहितैः । सध्यामकै, गन्धर्व-
सहितैः । सुरभिः सर्जरसः । गन्धरसः गन्धबोलः तत्सहितैः । “सपुर...सकुष्ठैः”
इत्यत्र “सगन्धप्रचण्डपुष्पा तु सर्जरसकुन्दुरासकुष्ठैः” इति पाठान्तरम् ।
पिशिताश्री राक्षसः । आजिः रणः, विजयः अरिभिः पराजयाशङ्का, अर्तिः पीडा
ताम् ॥ १६६।१६७ ॥

इति रसरत्नसमुच्चयबोधिन्यां द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

‘ बालरोगे यद्वाचां नानोत्कीर्तनात् तथा पूतनादिदुष्टवर्जजितबालरोगविशेषवत्
भूतोन्मादस्यापि यद्वक्तृत्वात् बालरोगानन्तरम् उन्मादादिचिकित्सितं वक्तुं तयो
विज्ञाभ्यायमारभते । ननु एकविंशोऽध्याये वातव्याध्यादिचिकित्साशानुष्मादाप्यार-
भ्योर्निदानादिकमुक्तं, पुनरत्रापि तयोर्निदानादिकमुच्यते, तत् कथं न पुनरुक्तमिति

अथोन्मादलक्षणम् ।—

सञ्ज्ञक्यकी धावति, हन्ति चैतदुन्मादवातस्य च लक्ष्य बोध्यम् ॥२॥

अथोन्मादचिकित्सा ।—

अथ अर्कमूर्तिरसस्य प्रयोगविधिः ।—

अत्रार्कमूर्त्याख्यरसस्य वल्लं धुस्तूरबीजेन समं प्रपद्यात् ।

मरीचचूर्णेन घृतेन वाऽपि पथ्यञ्च गुर्वन्नमिह प्रशस्तम् ॥३॥

चेदुच्यते,—वातव्याधौ नामानन्वात् दृष्टवातकार्यविशेषथोक्तधारपि वातव्याध्यन्तर्गतत्व-
प्रदर्शनार्थं तत्र दिङ्मात्रमुल्लेखः कृतः, अत्र तु तथोवातव्याधिविशेषत्वेऽपि
स्वनन्वत्वप्रतिपादनार्थं विशिष्टचिकित्स्यत्वप्रदर्शनार्थं विस्तारेणोक्तैवः न दोषाय इति ।
तथोन्मादस्य सनिदानसम्प्राप्तिमाह, आधौति ।—आधिः मनःपीडा आधिः ज्वरादिः
ताभ्यां कृत्रस्य लीपमासस्य, तथा दुर्बलतमोः आधिव्याधिरूप्यादिभिरेव बलहीनदेहस्य
पुंसः, आहारतः विरुद्धदृष्टागुचिभोजनदोषात्, भयात् भयजनितमनोऽभिघातात्,
पूज्यातिक्रमणात् पूज्यपूजात्यतिक्रमात्, देवगुरुविज्ञाना प्रधर्षणादिति यावत्,
विषात् स्थावरविषभक्षणाय आसक्तार्कदिनङ्गमविषाच्च, उपविषात् “आङ्गुली विष-
सृष्टिश्च करवीरो नृशालया । नीलकः कनकोऽकंश्च वर्गो ह्यपविषात्मकः ॥” इत्येत-
द्भावात्, “अर्कसिद्धं धुस्तूरलाङ्गुलीकरवीरकाः । गुग्गाहृदिना विन्येताः समोपविष-
जातयः ॥” इति-स्वरूपादा, देवात् प्राक्तनकर्मवशात्, अत्र देवशब्देन तन्ता-
न्तरोक्तानां देवयक्षादिशङ्कायामवरोधः, तथामपि उन्मादकर्तृत्वेन उक्तत्वात्;
असामर्थ्यतः स्वशक्तिमत्तकस्य कर्मकरणात्, कर्मणा वैषम्यात् विषमाङ्गन्यास-
बलवद्विशङ्कादिचेष्टावैषम्यादिति यावत्, कर्मणा पञ्चकर्मणा वैषम्यात् अथवा-
प्रयोगादिति वा, सत्वाः दायाः क्षुपितवातादयः, हृदि हृदये, स्थिता, मन्त, इति
शेषः, बुद्धेः उत्पन्नम् अन्त्यर्था काल्प्यं मालिन्धं विकृतिमित्यर्थः, विषाय इतसौख्य-
दुःखमयनं इतं विनष्टं सौख्यदुःखाभ्यां मयनम आनोडनं चतुर्विधम्, इत्यर्थः,
यत्र येन वा तादृशं, मुखदुःखाभ्यां हर्षावघाटवाधाविरहितमित्यर्थः, उन्मादम्
जातव्यते कुर्वते इत्यर्थः । सुशुप्तेऽप्य निद्राभङ्गता यथा—“मदयन्युद्रता दोषा
वन्मादुन्माग्नानगताः । मानसोऽयमती व्याधिरुन्माद इति कौर्त्तितः ॥” इति ॥१॥

उन्मादस्य सङ्क्षिप्तलक्षणमाह, सञ्ज्ञक्य इति ।—सञ्ज्ञक्यः “असम्बद्धाक्,
बह्वर्षभावी इत्यर्थः । हन्ति ताडयति, आत्मानम् अन्यान् वा इति शेषः ।
लक्ष्य रूपम् ॥ २ ॥

शुष्कश्च शाकं परिवर्जयीत रुक्षं कषायं बहु शीतलञ्च ।

निम्बस्य तैलेन विमर्दयेत् कलेवरं शाम्यति तेन रोगः ॥५॥

अथ निर्गुण्डिकादितैलम् ।—

निर्गुण्डिकोन्मत्तकतुम्बिनीनां रसेस्तु तैलं परिपाचयीत ।

कलेवरं तेन विलेपयेत् मासाहृतः शान्तिमुपैति रोगः ॥५॥

अथ माहेश्वरो धूपः ।—

कार्पासास्थिमयूरपिच्छबृहती-निर्मात्यपिण्डीतक-

त्वक्पांसौदृषदंशविट्पुष्यचा-केशाह्निनिर्मोककैः ।

नागेन्द्रद्विजशृङ्गहिङ्गुमरिचैस्तुल्यैस्तु धूपः कृतः

स्कन्दोन्मादपिशाचराक्षससुरावेशग्रहघ्नः परम् ॥६॥

अथापकारसम्प्राप्तलक्षणम् ।—

क्रुद्धैर्धातुभिराहतं च मनसि प्राणी तमः संविशन्

दन्तान् खादति फेनमुद्गिरति दोःपादौ क्षिपन्मूढधीः ।

अकर्मूतंरसस्य प्रयोगविधौ—अकर्मूतार्थश्चरसस्य सन्निपातज्वरे निर्दिष्टस्त्वत्तान्तरौयरसविशेषस्य । तथा च—“लोहाटकं मारितमकभागं सूतं द्विभाज्य द्विगुणञ्च गन्धम् । विमर्दयेत् वज्ररसेन तापे दिनवयञ्चाव विष कलाशम् ॥ विषाण्य पित्ते, परिभाविनाऽय रसोऽकर्मूतं भवति मिदं वि ॥” इति । स च रसः धूलुरबीजैः छतमरिचचूर्णाभ्यां वा प्रयोज्यः । औषधसेवनकाले निम्बतैलेनाभ्यङ्ग्य कार्यम् ॥ ३४ ॥

निर्गुण्डिकादितैले—उन्मत्तकः धूलुरः । तुम्बिनी कटुकालावुः, पासां रसेः निर्गुण्डादौना स्वरसे, प्रत्येकं तैलचतुर्गुणैः । अकस्मिदम् ॥ ५ ॥

माहेश्वरधूपे—निर्मात्यं शिवनिर्मात्यम् । पिण्डीतकं मदनफलम् । त्वक् उशीरम् ; “त्वक्पांसौ” इत्यत्र “त्वक्पांसौ” इति पाठान्तरे—पांसौ वंशलोचना, केशचु “त्वक्पांसौ वंशलोचना” इत्याहुः । दृषदंशविट् वेडालं शकृत् । पुष्यः धान्यत्वक् । केशः भूतकेशी, “केश” इत्यन्ते । अहिनिर्मोककैः सर्पकेशुकैः । नागेन्द्रादयः हस्तिदन्तः । शृङ्गं जीमङ्गं, मध्यान्वात् तन्मालरसं वादिवाच्यं, सदुक्तं चक्रसङ्गृहे—“गोमयद्रुपदन्तः” इति ॥ ६ ॥

पश्यन् रूपमसत् क्षितौ निपतति प्रायः कथोति क्रिया
बोधत्वाः स्वयमेव शान्तिरिति मते वेगे त्वपस्मारकम् ॥७॥

अथ अपस्मारचिकित्सा ।—

अथ अपस्मारनाशनो रसः ।—

रसगन्धशिलातुल्य-कान्तहेमाब्जफेनकम् ।

रजनीतेजनीवीजं कर्षमात्रं पृथक् पृथक् ॥८॥

निम्बद्वार्द्वं तेनान्तर्लिप्तां ताम्रपलोन्मिताम् ।

पात्रौ न्यूनां सुभाण्डान्ता रुद्धा खर्परिकां धृताम् ॥९॥

भस्मनाऽऽपूर्य भाण्डान्तर्धृत्वाऽधो द्विनिशं पचेत् ।

स्वाङ्गशोतं विचूर्ण्यैव रसोऽपस्मारनाशनः ॥१०॥

चेतोविकारसाधनेति तुल्यचिकित्सितत्वाच्च उन्मादान्तरमपस्मारचिकित्सितं
विवक्षुरादौ तस्य सम्पत्तिं लवणचोदः कृतेरिति ।—धातुभिः वातादिभिः, देहधारक-
त्वात् वातादीनामपि धातुमंशा अरकादिभिः स्त्रीकृताः ; यदुक्तं—“धारणाश्चातवः,
दूषणाद्दोषाः, मलिनोकरणाश्लाः” इति । ततः संविशन् ततः अन्धकारं
संविशन् प्रविशन् । दोःपादौ करचरौ विपन् विविपन्, स्वयं चालयन्त्यर्थः,
मृदवीः आनन्दः, असत् अविद्यमानं रूपं पश्यन् क्षितौ निपतति । बोधत्वाः
क्रियाः उक्तदत्तवर्णफेनवमनादिद्वयाः क्रियाः । मते वेगे अपस्मारारम्भकदोषाणां वेगे
प्रशान्ते न तु निश्चेदित्यर्थः, स्वयमेव शान्तिरिति, स्वयं प्रशान्तिश्च कालस्वभावात्
योगस्वभावाच्च । ननु अपस्मारारम्भके दोषे सत्यपि स कथं न निवृत्तेः स्यात् ?
कथं वा शान्तवेगः स्यात् इत्याशङ्क्यां सुश्रुतेनोक्तं—“द्वे वर्षेभ्यः यथा
भूमी बीजानि कानिचित् । शरदि प्रतिरोद्धन्ति तथा व्याधिसमुत्क्रयाः ॥” इति ।
अन्धबाधुक्तं—“वेगे तु समतिसक्ते नतोऽयमिति लक्ष्यते । चालन्तरस्त्री लीनत्वात्
शोकाद्व्याधीपलभ्यते ॥” इति च ॥ ७ ॥

अपस्मारनाशनरसः—शिला मनःशिला । अब्जफेनकं समुद्रफेनः । तेजनी ज्योति-
ष्मयी तस्या बीजम् ।—तेन रसादिकलकेन अन्तर्लिप्तां पात्रौमित्यनेन सूच्यते ; ताम्र-
पलोन्मितां ताम्रस्य ताम्रपत्रस्य पलोन्मितां पात्रौ ताम्रपत्रपत्रेण कृतं स्वस्वभाजनम् ।
न्यूनाम् अथोच्छ्रितां खर्परिकां धृतां ताम्रपात्रोपरि रुद्धमरावमचोमुखं व्यापितं कृत्वा
इत्यर्थः । भाण्डाः इत्यत्र अग्निमिति शेषः, भाण्डावः अपि इत्या इत्यर्थः ।

वक्षमस्योदये दद्याद्वाच्योषविडङ्गयुक् ।

अनु देयमजामूत्रं ततोऽर्द्धप्रहरे गते ॥११॥

सार्षपे षोडशपले तैले तल्लेपितां पचेत् ।

नस्यं तैलेन तेनास्य दद्यात् सव्योषकेण तु ॥ १२ ॥

अथ धुसूरपञ्चाङ्गघृतम् ।—

कृष्णधुसूरपञ्चाङ्गं कृष्णगोनवनीतकम् ।

षड्गुणं नवनीतात्तु माषकायं चतुर्गुणम् ॥१३॥

क्षिप्वा पचेत् घृतं तत्तु पथ्यं शाकोदनादिषु ।

शाकेषु काकमाची स्याद्भोजने कृष्णगोप्रयः ॥१४॥

अथ चूर्णाञ्जनम् ।—

शतधा मारिचं चूर्णं कुष्माण्डोपुष्पभावितम् ।

कुर्यात्तेनैव चूर्णेन रात्रावञ्जनमाचरेत् ॥१५॥

उदये सूर्योदयकाले, प्रातरित्यर्थः । वचाव्योषविडङ्गयुक् इति अस्य वक्षमस्योदयेना-
न्वीयते । अर्द्धप्रहरे गते इति तैलेन नस्यं दद्यादित्यनेन सम्बध्यते । तल्लेपितां तेन
रसमन्वादिभूतेन कल्केन लेपितां लिप्तामित्यर्थः, तासपत्नीमिति शेषः ; “तल्लेपिताम्”
इत्यत्र “धुसूरकम्” इति कस्यचित् पाठः । कल्पना चास्य एवं काव्या-
—रसादिकं सर्वं यथोक्तमानं गृहीत्वा निम्बद्वेषेण पेषयेत्, ततस्तेन कल्केन पञ्च-
परिमिततासपदकृतस्य क्षुद्रभाजनस्य अभ्यन्तरं लिप्ता तत् भाजनं स्वात्थल्यः
स्थापयेत्, ततः क्षुद्रशरावेकैकेन अधोमुखेन तत् पात्रमाच्छाद्य स्थालीं तां भक्षणा
पुरवेश, अथ ङ्गिकाधी वाङ्गं प्रज्वाल्य द्वाद्द्वारात् पचेत्, स्वाङ्गशीतं समुद्धृत्य
विचूर्ण्य च रक्तिवर्धं प्रातः वचादिचूर्णेन सह खादेत्, ततः अजामूकम् अग्रापयेत् ।
किञ्च षोडशपलमितं कटुतैलञ्च रसमन्वादिभूतकल्कलिप्तेन तासपत्रेण यथोक्तमानेन
चतुर्गुणजलेन च पक्वा विस्राव्य च प्रागेव स्थापयेत्, औषधसेवनादर्द्धप्रहरानन्तरं
तत्तैलं किञ्चित् विकटचूर्णेन सह आलोच्य नमार्थं दद्यादिति ॥ ८—१२ ॥

“धुसूरपञ्चाङ्गघृतं—कृष्णधुसूरपञ्चाङ्गं कल्कपम् । कृष्णगोनवनीतकं षड्गुणमिति
धुसूरपञ्चाङ्गकवक्षसपेक्ष्य । तदिति ।—तत् घृतं शाकोदनादिषु अन्नव्यञ्जनादिषु
पथ्यं इतिम् अन्नव्यञ्जनादिषु अवधारणया तत् घृतं प्रयोज्यमित्यर्थः । शाकोदनादिषु
अत्युक्तं, तत्र किं शाकमपचारिभ्यः दितमित्याह,—शाकेष्विति ॥ १३।१४ ॥



एवं नित्यं कृते याति तृतीयदिवसे ध्रुवम् ।

अपस्मारस्तथा मासं सेव्यमेतन्महीषधम् ॥१६॥

अथ नसौश्रीगः । —

उद्धृष्टमानवगलव्यतिषक्तमग्नौ

रज्जुं विदह्य निपुणेन कृता मसौ या ।

सा शीतलेन मल्लेन समं निषोता

पुंसामपस्मृतिविनाशकरी प्रसिद्धा ॥१७॥

अथ तिलजटौपासनम् । —

कृष्णं श्वानं स्थितमनशनं स्थापयित्वा विरेकं

पश्चादग्नौऽसिततिलयुतं भोजनं भोजयित्वा ।

तद्ग्रीवोत्थासिततिलजटौपासनं लोचनस्थं

चापस्मारं हरति विधृतं नैस्वसारे शरावे ॥१८॥

चूर्णासने—कृष्णाग्नीपुष्पभाविने कर्कोटकपुष्पभाविने कृष्णाण्डपुष्पभाविने वा । एतन्महीषधं कृष्णाग्नीपुष्पभाविनमरिचचूर्णम्, उद्धृष्टादिमा वक्ष्यमाणमोषधं वा ॥१५॥१६॥

नसौश्रीगे—उद्धृष्टमानवगलव्यतिषक्तम् उद्ध्वन्यतमानवस्य गललघ्नम् । निपुणेन दक्षेण भिषजा इत्यर्थः ; यथा मुदग्धा भवति, न कोऽप्यंशः अर्द्धदग्धमिच्छेत्, तथा दग्धव्या इति निपुणशब्दप्रयोगस्याशयः ॥ १७ ॥

तिलजटौपासने—कृष्णं श्वानं कुकुरम्. अनशनं स्थितं स्थापितमित्यर्थः, अन्तर्भूतगुणैर्ऽयं स्थित-शब्दः । पश्चात् अनशनात् परदिने इत्यर्थः, असिततिलयुतं भोजनं दध्ना भोजयित्वा, विरेकं वसनम् ; विरेकशब्दोऽयं विरिच्यते दध्नाऽनेन इति व्युत्पत्त्या वसनार्थे प्रयुक्तः इत्यवधारणम् ; स्थापयित्वा कारयित्वा, धातूनामनेकार्थत्वात्, “स्थापयित्वा” इत्यत्र “कारयित्वा” इति पाठान्तरम् । नैस्वसारे शरावे निस्व-काष्ठकृते शरावाकारे भाजनविधिरे विधृतं गृहीतम् । तदिति ।—तस्य कुकुरस्य ग्रीवोत्थात् ; अथ ग्रीवाशब्देन कण्ठोऽभिप्रेतः, ततश्च वसनवेगेन कण्ठनिःसृतादि-त्यर्थः, असिततिलात् अग्नेन सह भोजितात् जायते इति असिततिलजं कृष्ण-तिलतैलं तस्य दीपः तत्तैलेन प्रज्वालितः प्रदीपः तस्य ; यथा—तद्ग्रीवोत्थस्य कुकुर-ग्रीवायां स्थितस्य, ग्रीवादेशे प्रज्वालितस्येत्यर्थः, असिततिलजटौपस्य दक्षिणप्रकारेण गृहीततिलतैलजटप्रदीपस्य, अन्नं दीपशिखीकृतं कञ्जलमित्यर्थः ॥ १८ ॥

अथ अण्डभैरवरसः ।—

हेम्ना शृङ्गेन सम्पिष्टं दशमांशरसं विषम् ।

स्रोतोजं मर्दितं तीर्थैः शूलिनीदेवदालिजैः ॥

गन्धकस्य पचेत्तैले वाटकोन्मादङ्गमता ॥१८॥

अथ नवाङ्गवटिका ।—

त्रिलोहपिष्टस्रोतोज-सृष्टितययुतं रसम् ।

भक्षयेत् पूर्ववत् सिद्धमपस्मारप्रणुत्तये ॥२०॥

अथ सूतकप्रत्ययः ।—

तथैव पर्पटी सूतं ब्राह्मीरसविमिश्रितम् ।

सूतकप्रत्ययाख्योऽसावुन्मादापस्मृती हरेत् ॥२१॥

अण्डभैरवरसे—“दशमांशरसं विषम्” इत्यत्र “दशमांशविष रसम्” इति पाठा-
न्तरम् । स्रोतोजं रसाञ्जनं सौवीराञ्जनं वा । तीर्थैः स्वरसेः क्राथैर्वा ; तीर्थैरिति
बहुवचनं सप्तधा भावनाबोधनार्थम् । शूलिनी शूलपत्नी, “शोला” इति बङ्गीथे-
राख्यातम् । अथमर्थः,—स्वर्णविषस्रोतोजानां प्रत्येकं तुल्यभागः, पारदस्य च स्वर्णा-
पेक्षया दशमांशता, तत् सर्वमेकीकृत्य शूलिनीदेवदालीरसेः समं समं बारान् भावयित्वा
च गन्धकतेलेन सह सृष्टुं पचेदिति ; रसरत्नाकरे—रसस्य हेमपादत्वं विषं हेमतल्य
तथा स्रोतोजमित्यत्र शोभाञ्जनं शूलिनीत्यत्र च त्रिशूलीति पाठभेदो दृश्यते ; तथा च
—“हेमपादं सूतं सूतं निष्टयत्ते विमर्दयेत् । शोभाञ्जनं विषं तुल्यं मर्दाच्च त्रिशूली-
द्रवेः ॥ देवदाल्या द्रवैश्चाङ्गि तङ्गोल पाचयेद्दिनम् । गन्धकोत्थेन तैलेन तत्
उसृत्य चूर्णयेत् ॥ मासैकं भक्षयेन्नित्यं पिबेद्ब्रह्मोष्ठं ह्यशु । सर्वभूतघ्नं हन्ति
रसोऽयं अण्डभैरवः ॥” इति ॥ १८ ॥

नवाङ्गवटिकायां—त्रिलोहं “सुवर्णं रजतं ताम्रं त्रयमेतन्निर्लोहकम्” इत्युक्तद्वयं
स्वर्णादिधातुवर्गं, पिष्टं सीसकं, स्रोतोजं नीलाञ्जनं, सृष्टिः सृष्टिः ; “सृष्टि” इत्यत्र
“सृष्ट” इति पाठान्तरम् ; त्रयं सीसरजी, रसं रससिन्दूरम् ; सर्वेषामेषां तुल्यभागता ।
पूर्ववत् सिद्धमिति शूलिनीदेवदालीजैः स्रोतोमर्दयित्वा गन्धकतेलेन पाचितमित्यर्थः ॥२०॥

सूतकप्रत्यये—पर्पटी प्रागुक्तः पर्पटीरसः । सूतं सूतभस्म इत्यर्थः । सूतकप्रत्ययाख्यः
सूतकप्रत्यय इति संज्ञकः असौ, रस इति शेषः । “सूतकः प्रत्ययाख्यः” इति पाठे—
प्रत्ययाख्यः सूतकः रस इत्यर्थः ॥ २१ ॥

अथ पर्पटीरसप्रयोगविधिः ।—

पर्पटीरसगुञ्जाऽष्टौ नाकुलीबीजपञ्चकम् ।

गौघृतेन तु संयोज्य खादेदुन्मादशान्तये ॥

सघृतं माषमण्डञ्च पाययेत् घृतदुग्धकम् ॥२२॥

अथ पर्पटीरसस्य अन्यविधप्रयोगविधिः ।—

पर्पटीरसगुञ्जाष्टौ ब्राह्मीरससमन्वितम् ।

खादयेद्गौगिणं वैद्योऽपस्मारस्य प्रणुत्तये ॥२३॥

अथ सर्वेश्वरः ।—

रसं नारङ्गमूलञ्च दन्ती पाठा पृथक् पृथक् ।

पलमेकं फेनफलमर्कमूलं तथैव च ॥२४॥

पलं शशविषाणञ्च त्रिफला च पलत्रयम् ।

एतेषां क्वाथसंयुक्तं दिनानि त्रीणि मर्दयेत् ॥२५॥

अश्लवेतससंयुक्तमर्कक्षीरसमन्वितम् ।

पञ्चपञ्चदिने तद्वटमरीरससंयुतम् ॥२६॥

उन्मादशान्तये पर्पटीरसस्य प्रयोगविधिमाह, पर्पटीरसेति ।—नाकुलीबीज-
पञ्चकं नाकुली राजाभेदः तस्याः पञ्चसङ्ग्रहं बीजम् ; “नाकुली”
इत्यत्र “वाकुची” इति पाठान्तरम् । एतस्य प्रयोगे सघृतमाषमण्डादिकं
पाययितव्यम् ; मण्डशब्दश्चात्र साराष्ट्रकः, तेन माषमण्डं माषसारं निस्तुषमाष-
विदलनित्यर्थः, चतुर्दशगुणास्त्वमाधितयवागूविशेषं वा ; अत्र पचे—मण्डयोनित्वात्
माषेण सह तण्डुलादयोऽपि दातव्याः ॥ २२ ॥

अपस्मारशान्तये पर्पटीरसस्य अन्यविधप्रयोगविधिमाह, पर्पटीरिति ।—
सुगमम् ॥ २३ ॥

सर्वेश्वरे—रसं रसमन्त्रम् । नारङ्गमूलं नारङ्गः “कमलालेख” इति ख्यातं
तद्वृक्षस्य मूलं, गृध्रनर्कं वा । फेनफलं फेनः अहिफेनः तस्य फलं खाद्यसबीजं,
“पौलदागा” इति लोके ; “फेनपलम्” इति पाठे—फेनः समुद्रफेनः तस्य पलम् ।
शशविषाणं श्वगण्डकं, शशशब्दोऽत्र श्वगवाची, “शशधर” “शशलाङ्कन” इत्यादि-
दर्शनात् ; “श्वगविषाणम्” इति पाठान्तरम् । एतेषां नारङ्गमूलादीनाम् ;

त्रिःसप्तदिवसं तद्वन्दयेत् मिष्टमौषधम् ।

पिष्टं चित्रकनिष्काथे वल्लवयनिषेवितम् ॥

उन्मादापस्मृती हन्यादेष सर्वेश्वरो रसः ॥२७॥

अथ नेत्ररोगाणां सङ्गाः ।—

क्षणो पञ्च नवैव सन्धिषु दश त्रीण्येव शुक्लोऽखिले

जाताः षोडश वर्त्मजाः खलु चतुर्विंशो दृशोर्विंशतिः ।

सप्तातङ्कयुताश्चतुर्नवतिरित्यक्षोरशेषामयान्

यो वेत्ति व्यपहर्त्तुमेष विदुषामग्रे समर्थो भवेत् ॥२८॥

नारङ्गमूलदन्तोपाठाफेनफलाकंमूलविफलानामष्टानां क्वाथेन रसादिविफलानां द्रव्यदशकं दिवसवयं मर्दयेत्, ततः अम्लवेतससंयुक्तम् अम्लवेतसक्वाथसंयुक्तम् अर्कचौरसमन्वितञ्च कृत्वा अम्लवेतसक्वाथेन अर्कचोरेण च प्रत्येकं दिनवयं मर्दयेत् । पञ्चपञ्चदिने प्रतिपञ्चनदिवसे, अमरोरससंयुतम् अमरी कृष्णपुष्पा निर्गुण्डी नीलद्रुवां वा वद्वसंयुतम् ; अवायसाशयः,—नारङ्गादिकाथेन दिवसवयं मर्दयित्वा एकादिन विश्रम्य परदिने अमरोरसेन मर्दयेत्. एवम् अम्लवेतसक्वाथेन अर्कचोरेण च मर्दयित्वा काथ्यम् । त्रिःसप्तदिवसमिति चित्रकनिष्काथे इत्यनेन सम्बध्यते । पिष्टं चूर्णीकृतम् । “चित्रकनिष्काथे” इत्यत्र “विकटृक्तकाथैः” इति पाठान्तरम् ॥२४—२७॥

अपस्मारी असद्रूपं पश्यन् इत्युक्तं, तच्च दृष्टिमण्डलदृष्ट्या लायते, अतः अपस्मार-
जनारं नेत्ररोगविकित्वाधिकारः । तदाटो अधिप्राणभेदेन नेत्ररोगाणां सङ्गां
निरूपयति, कृष्णे इति ।—क्षणो नेत्रक्षणमण्डले, दृष्टिमण्डलवेष्टने इति यावत्, पञ्च
पञ्चसङ्कातङ्कान्, यो वेत्ति इत्येतेषां नवः । सन्धिषु कनौनिकादिगतेषु षट्सु सन्धिषु
नवः ; सन्धयस्तु षडित्युक्तं सुश्रुतेन, तद्वदथा—“पञ्चवर्त्मगतः सन्धिः वर्त्मशृङ्गगतोऽपरः ।
शुक्लक्षणगतस्तस्यः कृष्णदृष्टिगतस्तथा ॥ कनौनिकागतो ज्ञेयः षड्वापाङ्गगः स्मृतः ॥”
इति । अखिले सम्पूर्णं शुक्ले शुक्लभागे, नेत्रचोरेवेति शेषः, दश त्रीण्येव त्रयोदश
इत्यर्थः ; अत्र त्रीणि इति नपुंसकप्रयोगश्चित्य, रोगवाचकानां पुल्लङ्गत्वात्, त्रीण्येव इति
कल्पना सुाधी । वर्त्मजाः अक्षुर्गोलकावरकं निमेषोन्मेषाश्रयं पटलद्वयं वर्त्म उच्यते,
तङ्गताः आमयाः षोडश जाताः । दृशोः दृष्टिमण्डलयोः अतुर्वैशः, विंशतिः सप्तातङ्क-
युताः सप्तविंशतिरोगाः, पारिज्येयात् नेत्रसर्वगता इति बोध्यम् ; तन्मान्तरं नेत्रसर्वगत-
रोगनिदानाभिधानात् तच्चिकित्साभिधानाच्च अत्र कृष्णभागादिगतरीगाणां सङ्गानं

अथ श्लेष्माभिष्यन्दे शुल्कादिवर्तिः ।—

शुल्कजोमूतलोहश्च सौम्यश्च समभागिकम् ।

द्विगुणश्चाञ्जनं जाती-तिलपर्णीमयूरजैः ॥

पिष्टं निर्घृष्टदध्नाकं श्लेष्माभिष्यन्दनाशनम् ॥ ११ ॥

अथ त्रिदावाभिष्यन्दे रसेन्द्रादिवर्तिः ।—

रसेन्द्रभुजगौ तुल्यौ ताभ्यां द्विगुणमञ्जनम् ।

ईषत्कर्पूरसंयुक्तं दशमांशश्च सर्जकम् ॥ १२ ॥

बलानागबलजाजी-रसेस्ताम्रे दिनत्रयम् ।

मर्दितं स्यादभिष्यन्दे सर्जपातात्मके हितम् ॥ १३ ॥

अथ पित्ताभिष्यन्दे तीक्ष्णादिवर्तिः ।—

चूर्णं तीक्ष्णस्य ताम्रस्य रसेन्द्रसमचारितम् ।

इत्यादिवर्त्या—कार्पासरसः कार्पासमूलरसः । इन्दुः कर्पूरः । मधु क्षौद्रं मधुयष्टिकं वा । शुल्कं ताम्रम् । ताम्रे ताम्रपात्रे । तिलपर्ण्यम्बुमर्दितं रक्तपन्दनक्राशमर्दितम् ; इत्यादिकं सर्वे कार्पासरसेन पिष्टा वर्ति विधाय तां वर्ति ताम्रपात्रे तिलपर्णी-
क्राशेन घृष्टा तथा अक्षयेदिति । यद्वा—पिष्टं सौम्यम् ; कार्पासरसादिकं सर्वं तुल्यांशं घृष्ट्वा तिलपर्णीक्राशेन ताम्रपात्रे घृष्टा तेन चक्षुषोरञ्जनं कर्तव्यम् ॥ १० ॥

शुल्कादिवर्त्या—जोमूतम् अक्षम् । द्विगुणश्चाञ्जनमित्येकभागापेक्षया रसाञ्जनस्य द्वेगुण्यम् । जातीति ।—जाती मालती तस्याः पुष्पं, चक्षुष्यत्वात् ; मयूरः अपामार्गः तस्य च मूलं तज्जैः, रसेरितं श्रेष्ठः । निर्घृष्टदध्ना निर्घृष्टं विशेषेण घृष्टं, मृष्टमित्यर्थः, एषि यत्र तादृशं अर्के ताम्रपात्रे ; ताम्रभाजनमकमादी दध्ना निर्घृष्ट ततः तस्मिन् जाल्यादिरसेः शुल्कादिकं पेक्षयेदिति । “निर्घृष्टदध्नाकं” इत्यत्र “निर्घृष्टं दध्नाकं” इति कस्यचित् पाठः ॥ ११ ॥

रसेन्द्रादिवर्त्या—भुजगः शीसकः । ताभ्यां रसेन्द्रभुजगाभ्यां मिलिताभ्याम् । ईषदिति एकभागापेक्षया चतुर्थीश्रमित्यर्थः । दशमांशमपि एकभागापेक्षया बोध्यम् । “सर्जकम्” इत्यत्र “सक्तुकम्” इति पाठे—सक्तुकं यवसक्तुकम् ; यवस्य जैवहितत्वात् । नामबला गोरक्षतण्डुला । अजाजी जोरकम् ; बलानागबलश्रीः स्वरसः अजाज्याश्च क्राशः । “अजाजी” इत्यत्र “जाती” इति कुत्रचित् पाठः । ताम्रे ताम्रपात्रे ; “ताम्रे” इत्यत्र “ताम्रम्” इति पाठान्तरम् ॥ ११।१२ ॥

रसाञ्जनञ्च द्विगुणं वर्षाभूरसमर्दितम् ॥

शर्करामाक्षिकोपेतं पित्ताभिष्यन्दसूदनम् ॥ ३४ ॥

अथ पित्ताभिष्यन्दे ग्राहादिवर्तिः ।—

मागपारदधात्रीन्दुःरत्नाव्यकणसैन्धवम् ।

रसाञ्जनं कणाक्षौद्रं ताम्बूलीपत्रवारिणा ॥

ताम्रेण मर्दितं कांक्षे पित्ताभिष्यन्दमन्यनुत् ॥ ३५ ॥

अथ ताक्षादिवर्तिः ।—

ताम्बाहिताररसपौतकरोहिणीन्दु-

श्रीण्डीरसाञ्जननदीजपुराणकांक्षैः ।

वर्तिः कृता सकलसन्निहतहंसपादी-

मूलैर्निहन्ति नयनामयजालमाशु ॥ ३६ ॥

तीक्ष्णादिवर्त्या—तीक्ष्णस्य तीक्ष्णलोहस्य । रसेन्दुसमचारितं समभागरसमन्ध-
वीजितम् ॥ ३४ ॥

द्वितीयनागादिवर्त्या—नागं सौसकं, पारदः पारदभक्ष, धात्री चामलकी, इन्दुरत्नं
मुक्ताफलं कर्पूरमणिर्वा, इन्दुः कर्पूरः, रत्नं मुक्ताफलम् इति वा, समथोरेव चक्षुष्य-
त्वात् ; आज्यं घृतं, कणः पिप्पली । कणा लोरकः ; पिप्पल्या एव भागद्वयं वा ;
यदुक्तं परिभाषायां—“घृते तेले च घोषे च यद्द्वयं पुनरुच्यते । ज्ञातव्यं तदिहाचार्यै-
र्भागतो द्विगुणेन हि ॥” इति ; स्थलजलजलजमेदातुर्द्विविधा पिप्पली वा । ताम्रेण
मर्दितं कांक्षे कांक्षपात्रे ताम्रदण्डेन मर्दितमित्यर्थः । पित्ताभिष्यन्दमन्यनुदित्वाद्य-
मन्यः अधिमन्यः ॥ ३५ ॥

ताक्षादिवर्त्याम्—अहिः सौसकम् । तार रौप्यम् । पौतकं स्वर्णं पौतलोघ्नं वा ।
रोहिणी कटुरीक्षणी ; पौतकरोहिणीत्येकपदं वा, तथात्वे—गान्धारोत्पद्यः । इन्दुः
कर्पूरम् । श्रीण्डी पिप्पली । नदीजः घृद्रजङ्गः, रसरत्नाकरदर्शनात् । पुराणकांक्षैः
जीवंकांक्षैः, कांक्षभक्षभिः । सकलेति ।—ताम्बादिसंबन्धुष्वमख्यकणपथीमूलचूर्णैः ।
रसरत्नाकरे “तारकादिवटिका” इति ख्यातायामस्यां “पौतकरोहिणी श्रीण्डी” इति
याठद्वयं च, परन्तु “खर्पूरम्” इत्यधिकः पाठो विद्यते, तथा हंसपादीरसेच मर्दनं
निश्चितम् ; तथा च—“तारं ताम्रं रत्नं सौमं कर्पूरं खर्पूरं तथा । रसाञ्जनं कांक्षजं
‘रसपाद्या’ इवेर्दणम् ॥ अर्तिं कृत्वाऽक्षवाह्निं समस्तं तेजनामयम् ॥” इति ॥ ३६ ॥

अथ पारदप्रतिवर्तिः ।—

पारदनागरसाञ्जनसमानदृढशिखिमूलकं सरजम् ।
सप्तदिनं चिञ्चादलरसपिष्टं ताम्रपात्रपर्युषितम् ॥ ३७ ॥
वर्त्तिरनातपशुष्काऽधिमन्यतिमिरार्मपिल्लशुक्लघ्नौ ॥ ३८ ॥

अथ एकविंशोऽवर्तिः ।—

पारदनागरसाञ्जनविद्रुमकासौमलोध्रताम्राणि ।
तृत्तचिकटुकगैरिकसिन्धुद्ववतुत्यफेनवराः ॥ ३९ ॥
मौक्तिकगन्धिन्याभागिरिकर्णीपुच्छजीवकनकशिफाः ॥ ४० ॥
चिञ्चा षड्विधमौर्वल्लवणं पिचुमर्दपत्ररसेः ।
पिष्ट्वा ताम्रे लिप्ता वर्त्तिः स्यादधिमन्यपिल्लघ्नौ ॥ ४१ ॥

अथ षडङ्गवर्तिः ।—

कर्पूराञ्जनसीमपारदकणातीक्ष्णानि पिष्ट्वा सक्तत्
नन्द्यावर्त्तरसैर्विशोष्य मधुना पिष्ट्वा पुनर्भाजने ।
शार्ङ्गे स्फाटिक एव वा विनिहितं शुक्लार्मकाचापहं
तैमिर्यञ्च निराकरोति सहसा नेत्रेऽञ्जनं सर्वदा ॥ ४२ ॥

पारदादिवर्त्या—समाममिति प्रत्येकं तुल्यमित्यर्थः । दृढं भीष्टं, शिखिः हरित-
मृदः, चञ्चलत्वात् ; मूलकं स्वनामधेयात् ; कन्दविशेषः, तस्य बालमेव याच्यम् ;
“दृढशिखिमूलकम्” इत्यत्र “कृतसिन्धुफेनकम्” इति कुत्रचित् पाठः । सरजं
नवनीतम् ; रजः पर्यटकः तत्कृतमित्यर्थो वा । चिञ्चादलरसपिष्टं ताम्रपात्र-
रसमर्दितं ताम्रपात्रपर्युषितं ताम्रभाजने एव सप्तदिनस्थितम् ॥ ३७-३८ ॥

एकविंशोऽवर्त्या—तृत्तं सप्तपथं । फेनः समुद्रफेनः । वरा विफला । गन्धिनौ
सुरासांसी । आभा बम्बूलः । मिरिकर्णी श्वेतापराजिता । पुच्छजीवः तापसतरुः ।
नकनशिफा धसुरमूलम् । षड्विधमौर्वल्लवणम् और्वेण पांशुलवणेन सह लवणं
पञ्चलवणम्, और्वेण पञ्चलवणेन च मिलित्वा षड्विधं लवणमित्यर्थः । पिचुमर्दपत्ररसेः
निम्बपत्ररसेः । “लिप्ता” इत्यत्र “पात्रे” इति पाठान्तरम् ॥ ३९—४१ ॥

षडङ्गवर्त्या—तीक्ष्णं भीष्णालौहं खर्परं वा । नन्द्यावर्त्तरसेः पिण्डोत्तगरसरसेः ;
“नन्द्यावर्त्त” इत्यत्र “नन्दीवर्त्त” इति कुत्रचित् पाठः । सक्तत् एकवारम्, एकदिन-
मित्यर्थः । शार्ङ्गे शङ्कनिर्मिते, भाजने इति सम्बन्धः ॥ ४२ ॥

अथ गङ्गाजलम् ।—

कतकसैन्धवतुल्यरसाञ्जनं त्रिकटुकस्फटिकाब्दवराटकम् ।
त्रिकटुताम्रमयोद्दिमरोद्दिणी-जलधिफेनवचानृकरोटिका ॥४३॥
उरगपारदटङ्गणमञ्जनं त्रिफलया मधुकेन च संयुतम् ।
करजवल्करसेन सुपेषितं गरुडदृष्टिसमां कुरुते दृश्यम् ॥४४॥

अथ नयनामृताञ्जनम् ।—

रसेन्द्रभुजगौ तुल्यौ ताभ्यां द्विगुणमञ्जनम् ।
ईषत्कर्पूरसंयुक्तमञ्जनं तिमिरापहम् ॥४५॥

अथ तिमिरहराञ्जनम् ।—

गन्धकाद्विगुणः सूतः सौवीरश्चाष्टमांशतः ।
कपित्थरससाम्यष्टमञ्जनं तिमिरप्रणुत् ॥४६॥

गङ्गाजने—कतकं जलप्रसादनफलं “निर्मलौ” इति लोके । अब्दः सुप्तकम् ।
“त्रिकटुताम्रम्” इत्यत्र पुनस्त्रिकटुग्रहणात् त्रिकटीर्भागद्वयम् ; “त्रिकटु” इत्यत्र
“त्रिफला” इति पाठे—“त्रिफलया मधुकेन च संयुतम्” इत्यत्र द्वितीयत्रिफलया
“द्राक्षाकाशमर्थखर्जुरी-फलानि मिलितानि तु । मधुरत्रिफला त्रेधा मधुरादिफल-
द्वयम् ॥” इत्यनेनोक्ता मधुरत्रिफला यास्या । द्विमः कर्पूरः । मृकरोटिका नरशिरः-
कपालम् । उरगः सौसकम् । अञ्जनमिति नेत्राञ्जनं, रसाञ्जनस्य प्रागुपात्तत्वात् ।
करजवल्करसेन करजत्वयसेन । कतकादिमधुकान्तं सर्वे करजत्वयसेन पिष्टा
व्रतिः कार्या ॥ ४३।४४ ॥

नयनामृताञ्जने—ईषदिति चतुर्थांशं, योगरत्नाकरसंवादात् ; तथा च—“रसेन्द्र-
भुजगौ तुल्यौ तयोर्द्विगुणमञ्जनम् । सूततुल्योऽथ कर्पूरमञ्जनं नयनामृतम् ॥” इति ॥४५॥

तिमिरहराञ्जने—गन्धकाद्विगुणः गन्धकमपेक्ष्य द्विगुणः, भागो यास्य इति शेषः,
एवञ्च सूतस्य एको भागः गन्धकस्य च भागद्वयम् । गन्धकभागापेक्षया सूतस्य
द्वेगुण्यमिति केचित् । सौवीरं सौवीराञ्जनम् अष्टमांशतः इति एकभागापेक्षया
बोध्यम् ॥ ४६ ॥

अथ हादशाङ्गवर्तिः ।—

मेपालतुल्यटङ्कणतार्क्ष्य-वरात्रिकटुफेनजलजञ्च ।

जम्बीरनीरपिष्टं काचार्म-स्नावतिमिरशुक्लपिञ्जम् ॥४७॥

अथ पटलहरेन्द्ररसः ।—

रुद्धः कपर्दटङ्कणं लाञ्छाजम्बीरयोर्द्रावैः ।

मासं धान्ये क्षिप्तः सूतः पटलादिरोगहरः ॥४८॥

अथ स्वर्णादिवर्तिः ।—

स्वर्णं वराटिका सूतः सारः पूतिकपत्रजः ।

नवनीतेन संयुक्ता वर्त्तिः पुष्पं चिरन्तनम् ॥४९॥

अथ विषाद्यञ्जनम् ।—

विषं धात्रीफलरसैर्दिनैकं परिभाषितम् ।

अञ्जनं शङ्खसञ्चितं प्रगाढतिमिरप्रणुत् ॥५०॥

अथ पुष्पहराञ्जनम् ।—

शम्बूकं वा वराटं वा दग्धं सूक्ष्मं विचूर्णयेत् ।

अञ्जनं नवनीतेन हन्ति पुष्पं चिरन्तनम् ॥५१॥

हादशाङ्गवर्त्यः—मेपालं ताक्षम् ; “मेपालम्” इत्यत्र “मेपालम्” इति कल्पचित् पाठः । ताक्ष्यं रसाञ्जनम् । वरा त्रिफला । फेनः समुद्रफेनः । जलजं शङ्खः शङ्खनाभिरित्यर्थः ॥ ४७ ॥

पटलहरेन्द्ररसे—कपर्दः वराटकः । सूतशब्देनात्र भक्षसूतः शास्त्रः । कपर्दटङ्कणं तथा लाञ्छाजम्बीरयोर्द्रावैः पिष्टः रुद्धश्च सूतः मासं धान्ये क्षिप्तः इति योजना । कल्पना चेदृशी—लाञ्छाङ्गाद्येन जम्बीररसेन च पिष्टं सूतं वराटिकायाः प्रपूर्य टङ्कणीनामचीरपिष्टेन वराटिकामुखेच्छालिप्य धान्यराशौ मासं स्थापयेदिति ॥४८॥

स्वर्णादिवर्त्यः—सारः पूतिकपत्रजः पूतिकः लाट्टाकरङ्गः तत्पत्रोत्तरसः इत्यर्थः । पुष्पमित्यत्र हन्तीति अञ्जाहरणायम् ॥ ४९ ॥

विषाद्यञ्जने—विषम् अमृतम् । शङ्खसञ्चितं शङ्खनाभिसहितम् ; विषं शङ्खस्य आमलकीरसेः पिष्टा अञ्जनं प्रयोज्यम् ॥ ५० ॥

पुष्पहराङ्गने—शम्बूकम् ॥ ५१ ॥

अथ शिशुमूलाद्याश्रीतनम् ।—

शिशुमूलं वचां क्षौद्रेर्घृष्टा नेत्रं प्रपूरयेत् ॥५२॥

अथ नेत्रशूलघ्नमाश्रीतनम् ।—

निष्पिथ्याऽऽर्द्रां निशां वाऽथ सद्यः शूले सुखावहम् ॥५३॥

अथ पौनर्नवाञ्जनम् ।—

क्षेतं पुनर्नवामूलं जलेनाप्लाञ्च शूलनुत् ॥५४॥

अथ स्नायहराञ्जनम् ।—

क्षेतं पुनर्नवामूलं घृतघृष्टं समञ्जयेत् ।

जलस्नावं निहत्याशु—”

॥५५॥

अथ वक्त्रोदराञ्जनम् ।—

“—तन्मूलञ्च निशायुतम् ।

अञ्जयेद्वक्त्रोमाणि न भवन्ति कदाचन ॥५६॥

अथ नृकपालाञ्जनम् ।—

निर्घृथं नृकपालन्तु नाशीस्तन्येन चाञ्जयेत् ।

शूलं सतिमिरं हन्ति पुष्पं सर्पास्त्रिदुग्धतः ॥५७॥

शिशुमूलाद्याश्रीतने—शिशुमूलं शिशुमूलरसम् ; शिशुमूलरसेन क्षौद्रेण च सह वचां तास्यपात्रे घृष्टा तेन नेत्रपूरणं कार्थम् ॥ ५२ ॥

नेत्रशूलघ्नमाश्रीतने—चाट्रो निशां सरसहरिद्रान् । शूले नेत्रशूले ॥ ५३ ॥

पौनर्नवाञ्जने—आञ्जन् अञ्जनं कार्थम् ॥ ५४ ॥

स्नायहराञ्जने— सवे स्यष्टम् ॥ ५५ ॥

वक्त्रोदराञ्जने—तन्मूलञ्च निशायुतं हरिद्रां पुनर्नवामूलञ्च घृतेन घृष्टा अञ्जयेत् ।

वक्त्रोमाणि पञ्चकोप-पञ्चशतादिरीमवृक्तानीत्यर्थः, वक्त्रां नीति शेषः ॥ ५६ ॥

नृकपालाञ्जने—नृकपालं गरजिरोऽस्त्रि । सर्पास्त्रिदुग्धतः इत्यत्र अञ्जनादिति शेषः ; सर्पास्त्रिदुग्धं सर्पांश्च सर्पसङ्घा “पानशिशुवी” इति भाषा, तस्मा दुग्ध-
पानिर्वाहः, पुष्पं हन्ति इत्यनेन अन्त्यः ॥ ५७ ॥

अथ शिशुबीजतैलाद्योक्तम् ।—

चिञ्चादलस्वरसर्पेषितशिशुबीजं
कांस्ये निष्ठुष्य परिशोष्य खरातपेन ।

तैलं ततः सूतमिदं शशिपादयुक्तं

युञ्ज्याद्वन्मार्मतिमिरे तिलमात्रमक्षिण ॥५८॥

अथ पटलहराञ्जनम् ।—

कारवेज्जद्रवैः सार्चं सम्यग्भर्ज्या कपर्दिका ।

सूतकं टङ्कणं लाक्षा-तुल्यं जम्बीरजद्रवैः ॥५९॥

मर्दयेत्ताम्रपात्रे तु तस्मिन् रुद्धा विनिक्षिपेत् ।

धान्यराशिस्थितं मासमञ्जनं पटलं हरेत् ॥६०॥

अथ तिमिरनाशनाञ्जनम् ।—

भृङ्गराजरसैर्वृष्टं पलैकं रक्तचन्दनम् ।

ताम्रपात्रे स्थितं भाव्यं तद्रसेन पुनः पुनः ॥६१॥

शतधा भावयेत् यत्नात् पेथ्य पेथ्य पुनः पुनः ।

मधुनाऽप्यञ्जनं हन्ति षड्विधं तिमिरामयम् ॥६२॥

शिशुबीजतैलाद्योक्तम्—चिञ्चा तिलिङ्गी । तैलं ततः सूतं तद्बीजनिःसृतं तैलम् ;
“सूतम्” इत्यत्र “शतम्” इति पाठे—तद्बीजकल्कपक्वं तैलमित्यर्थः । शशिपादयुक्तं
भादांशकपर्पूरयुक्तम् । तिलमात्रं बिन्दुमात्रमित्यर्थः, तैलमित्यस्य विशेषणम् ॥ ५८ ॥

पटलहराञ्जने—भर्ज्या पात्रा इत्यर्थः, दीक्षाघन्ते कारवेज्जद्रवेषु कपर्दिकां
पक्तां विशेषयेदिति । तस्मिन् ताम्रपात्रे । कपर्दिकादिताम्रान्द्रव्यचतुष्टयं जम्बीर-
रसेन ताम्रपात्रे मर्दयेत्, ततः सौषधं तत् पात्रं फावन्तरेण रुद्धा धान्यराशौ
मासं स्थापयेदिति निष्कर्षः ॥ ५९।६० ॥

तिमिरनाशनाञ्जने—तद्रसेन भृङ्गराजरसेन । भाव्यं तद्रसेन पुनः पुनः इत्युक्ताऽपि
पुनः शतधा भावयेदित्युक्तिः विशेषबोधनार्थं न्यूनाधिकसङ्ख्यानिरासार्थं वा । पेथ्य पेथ्य
पुनः पुनः प्रतिवारं भावनादानकाले चूर्णीकृत्येत्यर्थः, “दिवा दिवाऽऽतपे युष्मं रात्रौ
रात्रौ निवासयेत् । युष्मं चूर्णीकृतं द्रव्यं भावनाविधिरप्यते ॥” इति भावनाविधानात् ।
षड्विधं तिमिरामयं वातपित्तशफरक्तसन्निपातजं परिहृयितुं शक्यम् ॥ ६१।६२ ॥

अथ काचाभ्यहराञ्जनम् ।—

बीजपूररसैर्घृष्टं विषतुल्यसितायुतम् ।

अञ्जनं कारयेद्रात्रौ काचमान्यच्च नाशयेत् ॥६१॥

अथ शल्यकाटिबर्तिः ।—

शल्यकं पारदं नागं कास्थचूर्णं रसाञ्जनम् ।

समं सर्वमिदं चिञ्चा-दलद्रावेण पेषयेत् ॥६४॥

ताम्रपात्रगतां वर्त्तिं छायाशुष्कान्तु कारयेत् ।

शुक्लार्मतिमिरं पिञ्जं हन्ति सा मधुनाऽञ्जिता ॥६५॥

अथ अभिष्यन्दहरो योगः ।—

असकञ्छीततोयेन सिञ्चेन्नेत्राभिष्यन्दजित् ॥६६॥

अथ रात्राभ्यहराञ्जनम् ।—

अजस्र कृष्णामासान्तः पिप्पलीमरिचं क्षिपेत् ।

सीवयित्वा घृतैः पच्याद्वटिकान्ते समुदरेत् ॥

सध्याज्यस्तन्यसम्पिष्टं रात्राभ्यस्याञ्जनं हितम् ॥६७॥

काचाभ्यहराञ्जने—विषत् अस्तम् । अञ्जनं रसाञ्जनम् । कारयेत् दापयेदित्यर्थः, अञ्जनमिति शेषः । विषतुल्यसितायुतं विषतुल्यसिताया युतं योगेन कृतमित्यर्थो वा ; अस्मिन् पक्षे—अञ्जनशब्देन नेत्राञ्जनमेव बोद्धव्यम् । “विषतुल्यसितायुतम्” इत्यत्र “विषतुल्यं शिलाजतु” इति कश्चित् पाठः ॥६१॥

शल्यकाटिबर्तिः—शल्यकं शल्यकमक्षः । ताम्रपात्रगता वर्त्तिं ताम्रपात्रे तिमिली-
पत्ररसेन पिष्टा वर्त्तिं कृत्वा तत्रैव श्लिष्टा वर्त्तिं छायाया औषधैर्दित्यर्थः ॥ ६४।६५ ॥

अभिष्यन्दहरीणे—सिञ्चेत्, अभिष्यन्दमिति शेषः । नेत्राभिष्यन्दजित् इत्यत्र तृतीय-
मिति अध्याहरणोपमम् ॥ ६६ ॥

रात्राभ्यहराञ्जने—कृष्णमासान्तः यत्कल्पिण्याभ्यन्तरे, यत्कतः कृष्णवर्णपिण्याकारत्वात् ।
“सीवयित्वा” इत्यत्र “सेवयित्वा” इति कुचचित् पाठः । वटिकान्ते दण्डवयान्ते दण्डान्ते
वा, वटिकाशब्देन दण्डवयस्र मतान्तरे दण्डस्य आभिधानात् । विपाटितव्यागयकल्पिण्ड-
मध्ये पिप्पलीमरिचं समभागं चिञ्चा संसीव्य च घृतेन वटिकां यावत् पचेत्, ततः सर्वं
तत् पिष्टा सध्यादिभिरञ्जयेत् । अक्षेण तु योगोऽयमेवं पठ्यते, यथा—“कथा ज्ञानयज्ञ-
स्थले पक्वा तद्रसपेविता । अचिराद्वन्ति नक्तान्ये तदन्तु सचोद्गमूषकम् ॥” इति ॥६७॥

अथ रात्र्यन्ते व्योषाञ्जनम् ।—

अजापित्तकृतं व्योषं धूमस्थाने विशोष्य च ।

चिरवित्स्वरसेर्घृष्टं रात्र्यन्तस्याञ्जनं हितम् ॥६८॥

अथ रात्र्यन्ते मरिचाञ्जनम् ।—

मरिचं मत्कुण्डे रक्ते रात्र्यन्तहरमञ्जनम् ॥६९॥

अथ रात्र्यन्ते पञ्चाङ्गगुडिका ।—

ताम्राग्रालवणशङ्खैस्तुल्या मगधोद्भवाऽथ वै धात्री ।

जलपिष्टा गुटिकेयं सायंसमयान्धमपहरति ॥७०॥

अथ नवनेत्रदात्री वटी ।—

द्विरष्टौ ताम्ररजसो मधुकस्य चतुर्दश ।

कुष्ठस्य द्वादशांशाः स्युर्वचायाश्च दशैव तु ॥७१॥

रजतस्य च चत्वारो ह्यौ भागौ कनकस्य च ।

सैन्धवस्याष्टभागाः स्युः पिप्पल्याश्च षडैव तु ॥७२॥

अजाक्षीरेण सम्येष्ट ताम्रपात्रे निधापयेत् ।

व्योषाञ्जने—अजापित्तकृतं ह्यागपित्ते निक्षिप्तमित्यर्थः, चातूनामनेकार्थत्वात् ; “अजापित्तकृतं व्योषम्” इत्यत्र “अजापित्तकृतं व्योम” इति पाठान्तरम् । धूमस्थाने यत्र नित्यं धूम उद्गच्छति तस्मिन् स्थाने पाकशालाशामित्यर्थः । चिरवित्स्वरसेः करस्वरसेः । ह्यागपित्तमध्ये त्रिकटुचूर्णं संस्थाप्य धूमोष्णया विशोष्य च पिष्टा वर्ति कुर्व्यात्, ततः चिरवित्स्वरसेन घृष्टा रात्र्यन्ते अञ्जनं कार्यम् ॥ ६८ ॥

मरिचाञ्जने—मत्कुण्डे रक्ते इत्यत्र पिष्टमिति शेषः, मत्कुण्डः “ह्यारपोका” इति प्रसिद्धः क्षिप्तिविशेषः ॥ ६९ ॥

पञ्चाङ्गगुडिकायाम्—अथालवणं सैन्धवम् । शङ्खं शङ्खनाभिः । मगधोद्भवा पिप्पली, सा च ताम्रादिभिस्त्रिभिस्तुल्या, तेन च ताम्रादिनद्याणां प्रत्येकमेकैकभागः पिप्पल्याश्च भागद्वयम् ; धात्री चामलकी, साऽपि ताम्रादिद्रव्यमयतुल्या । “अथ” इत्यत्र “चाल” तथा “अथ वै धात्री” इत्यत्र “मनोज्ञा च” इति कश्चित् पाठः । सायंसमयान्धं नान्धाभ्यमित्यर्थः ॥ ७० ॥

नवनेत्रदानम्—द्विरष्टौ षोडश भागाः ; “द्विरष्टौ” इत्यत्र “द्वौ भागौ” इति

अभिष्यन्दमधौमन्यं व्रणशुक्लं कुक्कणकम् ॥

तिमिरं पटलं काचं कण्डूं हन्ति विशेषतः ॥७३॥

अथ द्वित्तरक्तणादिवर्तिः ।—

कणलवणवचायुग्यष्टिताम्रैः क्रमेण

द्विगुणधरणवृद्धैश्छागदुग्धेन पिष्टैः ।

निखिलमयनरोगान् हन्ति वर्त्तिर्विशिष्टा

एव इव निशि सर्पिः-क्षौद्रयुक्तं वरायाः ॥७४॥

अथ ताम्रवर्तिः ।—

आर्द्रालकुचभृङ्गाणां रसः पिष्टेन कस्यचित् ।

गन्धकेन समांशेन प्राग्वत्ताम्रञ्च मारितम् ॥७५॥

कचित् पाठः । कनकस्य सुवर्णस्य । व्रणशुक्लं सव्रणशुक्लम् । कुक्कणकं बाला-
नानल्लिवर्त्तमप्यरोगविशेषम् ॥ ७१—७३ ॥

द्वित्तरक्तणादिवर्त्या—कणः पिप्पली, जस्वीऽत्र छान्दसः । लवणं सैन्धवं,
अक्षय्यान् । युग्यष्टिः स्थूलजलजलभेदात् यष्टिमधुहयम् ; “युग्” इत्यत्र “द्वग्” इति
पाठे—कृष्णमित्यर्थः । द्विगुणधरणवृद्धैः उत्तरोत्तरं द्विरावृत्तधरणैः, धरणं पलदंशमांशं,
रक्तिचतुष्टयाधिकः कृष्णाधिकः इति यावत् ; एवञ्च पिप्पल्याः धरणं, लवणस्य
त्रे धरणे, वचायाः चत्वारि धरणानि, यष्टिमधुनः षष्टौ धरणानि, जलजयष्टिमधुकस्य
षोडश धरणानि, ताम्रस्य च द्वाविंशदिति बोध्यम् । विशिष्टा विशेषोक्तार्थविशिष्टा
इत्यर्थः । एव इवेति ।—वरायाः विफलायाः रजः चूर्णे निशि इत्यत्र सेवितमिति
शेषः । अत्र इव-शब्दात् वरारजःकृतयोर्गोऽपि मयनरोगहना इत्यर्थः आह्वति ।
सैव्यधीगोऽर्थं तन्मान्तरदशनात्, तथा च सिद्धधी—“यस्मैफलं चूर्णमप्यवर्जो सायं
समन्नाति हविर्मुपुष्याम् । स मुच्यते नेत्रगतैर्विकारैर्भूत्यैषा क्षीणधनो मनुष्यः ॥”
इति ॥ ७४ ॥

ताम्रवर्त्याम्—आर्द्रा आर्द्रकम् । लकुचः उडुः । रसः कस्यचित् आर्द्रादिभृङ्गाणां
मध्ये कस्यचिदेकस्य रसः । पिष्टेन चूर्णितेन । समांशेन आर्द्रादीनामेकतमस्य
रसतुल्येन । प्राग्वत् एभिः कृता वर्तिः निखिलमयनरोगान् हन्तीत्यर्थः । पिष्टेन
समांशेन गन्धकेन सह आर्द्रादीनां कस्यचित् रसः मारितं ताम्रञ्च प्राग्वत् इति
बोधाना ॥ ७५ ॥

अथ ताम्रद्वितीया—

ताम्राभ्रकञ्च तुल्यञ्च दशनिष्कं पृथक् पृथक् ।
 कन्दुकमिमिदं त्रिंशत्कर्षं चूर्णितगन्धकम् ॥७६॥
 दत्त्वाऽल्पशोऽग्निनाऽल्पेन रुद्धा धूमं विसर्जयेत् ।
 प्रस्थाभ्रमर्दितस्यास्य प्रसादं निःसृतं युतम् ॥७७॥
 तुल्यनीरशिनाजाभ्यां कर्षाशाभ्यां विशेषयेत् ।
 ताम्रद्वितीरियं साज्य-मानुषीक्षीरमाक्षिकात् ॥७८॥
 काचार्मपिक्काभिष्यन्द-व्रणशुक्लप्रणाशिनी ।
 तत्किट्टं दद्रुकिटिम-पामाटीन् लेपनाज्जयेत् ॥७९॥

अथ द्वितीयताम्रद्वितीया—

शुल्बं गन्धकमभ्रकञ्च रसकं दिक्सङ्क्रान्तिष्कं पृथक्
 सर्वं रुद्रजटारसेन बहुशो भृङ्गस्य सारिण वा ।
 प्रायः स्रज्ज्वलनं सुमर्दितमिदं सम्यक् पुटं कारयेत्
 स्थाव्यां तत् पुनरेव शीतलमिदं विन्यस्य तस्यान्तरे ॥८०॥

ताम्रद्वितीया—कन्दुकस्य कन्दुरेवेति कन्दुक लौहमयकटोद्विशेषः तत्स्थम् ।
 अपिनाऽल्पेनेत्यत्र पचेत् इति शब्दो द्रष्टव्यः । धूमं विसर्जयेत् पाककाले अनरा
 अनरा आवरणमुद्रास्य धूमं नि सारयेदित्यर्थः, पाककाले तदुत्पद्यमानः यथा स्वभावे
 न लनति तथा परिहरेदित्यर्थो वा । अस्य ताम्रादिभक्षण प्रसादम् उपरिस्थ-
 स्रज्ज्वलनम् । तुल्येति ।—तुल्यनीरं चूर्णितगन्धकान्निहितजलं शिनाजं शिनाजतु
 ताभ्यां युतमित्यनेन सूच्यते । कर्षाशाभ्यामिति प्रत्येकम् । तत्किट्टं कचाच-
 स्थितं ताम्रादिभक्षण । अयमर्थः,—ताम्रादिभक्षणं यदीक्षमानं लौहपात्रे गृहीत्वा
 पुष्पां रुद्रजटार पचेत्, किञ्चिदुष्णे तत्र अल्पमानं गन्धकचूर्णं क्षिप्वा पात्रान्तरेणाच्छाद-
 येत्, भस्मीभूतिं च तस्मिन् गन्धके आवरणमुन्मोक्ष्य धूमं निःसार्य च पुनः अल्प-
 मात्रया गन्धकचूर्णं क्षिपेत् आहतुयाच्च, एवमागन्धकचूर्णात् कुर्व्यात्, यतः प्रकृतितेन
 जलेन तद्वत्तमर्दयित्वा स्थापयेत्, किञ्चित्कालान्तरे उपरिस्थितं वस्त्रं जलं गृहीत्वा
 चूर्णमात्रायां तुल्योदकाक्षिकाजतुभ्यां सह मिस्रयित्वा च शुष्कं कुर्व्यादिति ॥ ७६—७९ ॥

विशेषमात्राद्वितीया—रसकं उपरम् । दिक्सङ्क्रान्तिष्कं दशनिष्कम् । रुद्रजटारसेन

निष्कं निष्कमनन्तरं परिपचेज्जीर्णं यथा गन्धकं
 स्यादेवं शतनिष्कमात्रमसक्तज्ञस्य शीतं ततः ।
 प्रस्येनीम्नितवारिणा विलुलितं कल्कं विना गालितं
 सङ्गृह्याम्बु तदन्तरे शिखिनिभं तुल्यं सुचूर्णीकृतम् ॥८१॥
 कर्षांशासितमञ्जनं विनिहितं कांस्ये परं शोषयेत्
 तां ताम्रद्रुतिमामनन्ति निखिलास्त्रेतामयाक्राशयेत् ॥८२॥

अथ गन्धकद्रुतिः ।—

आर्द्रकस्य रसे पिष्टं गन्धकेन विमिश्रितम् ।
 तुल्यन्तु निष्कदशकं तन्मानञ्चाभ्रकं क्षिपेत् ॥८३॥
 दशनिष्केण तन्मानं ताम्रञ्च शकलीकृतम् ।
 भर्जयेत् खर्परे क्षिप्त्वा दहेत्तदनु चूर्णयेत् ॥८४॥
 तन्मिश्रं कन्दुकस्थेन चूर्णमेतेन भर्जयेत् ।
 गन्धकं चूर्णितं कृत्वा कर्षन्तु विधिना शनैः ॥८५॥

रुद्रजटा शिवजटा “जटालङ्का” इति ख्यातं, तस्या रसेन । भृङ्गस्य सङ्ग-
 राजस्य सारेण रसेन । गुल्फातरं मसृणतरं यथा तथा इति सुमर्दितमित्यस्य
 विशेषणम् । तस्यान्तरे तस्य खालीपुटस्याभ्यन्तरे । निष्कं निष्कमिति ।—खाली-
 पुट्याभ्यन्तरे तद्वत् स्यादपयित्वा असक्तं पुनः पुनः निष्कं निष्कं गन्धकं दत्त्वा तथा
 परिपचेत् यथा गन्धकं जीर्णं स्यात्, एवं-कमेण शतनिष्कमात्रं गन्धकं दत्त्वा पचत् ।
 अत्रापि “अग्निनाऽल्पेन कृष्टा धूमं विमर्जयेत्” इति पूर्वयोगोक्तकल्पना प्रसज्यते ।
 शिखिनिभं तुल्यं मयूरकण्ठाभं तुल्यम् । असितमञ्जनं नीलाञ्जनं सौवौराञ्जनमिति
 यावत्, तुल्यनीलाञ्जनयोः प्रत्येकं कर्षमाणता । कांस्ये कांस्यपाने । पूर्वयोगप्रदर्शिता
 कल्पना अत्रापि ज्ञातव्या ॥ ८०—८२ ॥

गन्धकद्रुतौ—तन्मानं दशनिष्कमात्रम् । दशनिष्केषु इति पदं प्रथमश्लोके द्वितीय-
 षोडशोक्तेन “गन्धकेन” इति तृतीयात्तेन सम्बध्यते ; एवञ्च दशनिष्केषु गन्धकेन विमर्दि-
 तम् आर्द्रकस्य रसे च पिष्टं दशनिष्कं तुल्यं दशनिष्कसाभ्रमिति फलितम् । तन्मानं
 ताम्रञ्च शकलीकृतं कुट्टितं ताम्रमपि दशनिष्कमात्रं खर्परे भर्जयेत् दहेत्,
 तदनु दाहानन्तरं चूर्णयेत्, खर्परे दग्धं ताम्रखण्डमिति शेषः । तन्मिश्रमिति ।—

भर्जितं तज्जलप्रस्थे नीलञ्चापि शिलाजतु ।
 कर्षप्रमाणं निक्षिप्य मर्दयेद्भावयेत् पुनः ॥८६॥
 प्रसादं स्रावयेत् पश्चादातपे परिशोषयेत् ।
 गन्धकद्रुतिरित्येषा सर्वनैत्रामयापञ्चा ॥८७॥
 विशेषात् व्रणकुष्ठञ्च पिष्ट्वा काचं कुक्कूणकम् ।
 जयेत्तस्य घृतक्षौद्रेः सर्वं तत् परिकल्पयेत् ॥८८॥
 व्रणान् कृच्छ्रान् सुख्ख्माग्रानपि शीघ्रं निवर्तयेत् ।
 तत्किट्टे दद्रुकिटिम-पामादीन् लेपनाज्जयेत् ॥८९॥

इति श्रीवेद्यपातासंहृत्तस्य तृतीयांशभाटाचार्यस्य कृतो रसरत्नसमुच्चये समाप्त-
 पातापञ्चार-नेत्ररोगाणामुपचारो नाम त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः ।

—०—०—०—

अथ कर्णरोगादिचिकित्सनम् ।—

अथ कर्णरोगाणां नामानि ।—

शूला दोषचयाभिभूतिजनिताः पञ्च प्रतीनाहृक्-
 कण्डूविद्रधिपालिशोषपरिपोटोत्पातलेह्यवुदाः ।

कन्दुकस्थेन भर्जनखर्परस्थेन एतेन तान्मूर्ध्नेन सङ्ग मिश्रं मिश्रितं तत् पूर्वोक्तं
 गन्धकाभ्युत्पलचूर्णं तथा चूर्णितं गन्धकं कर्षे कर्षप्रमाणं कृत्वा हत्वा इत्यर्थः, शनैः
 मन्दाग्निना विधिना वषाविधि, “कृत्वा धूमं विसर्जयेत्” इत्युक्तकर्मिष्वेत्यर्थः, भर्जयेत् ;
 भर्जितं तत् भस्म. कर्षप्रमाणं नीलञ्चापि शिलाजतु जलप्रस्थे निक्षिप्य मर्दयेत् पुनः
 भावयेत् ; नीलं नीलाञ्जनं, शिलाजतु च एतयोः प्रत्येकं कर्षप्रमाणम् ।
 नीलमित्यस्य शिलाजतुविशेषणत्वे नीलं शिलाजतु तासनिःस्रवशिलाजतु इत्यर्थः, तस्य
 मयूरकण्डूसञ्चायत्वात्, यदुक्तं चरके—“तास्मात् वडिषकण्डूनां तीक्ष्णोष्णं पश्यते
 कटु” इति । सुसूत्राणान् व्रणान् कृच्छ्रान् व्रणान् इत्यर्थः ॥ ८१—८९ ॥

इति रसरत्नसमुच्चये त्रयोविंशोऽध्यायः समाप्तः ॥ २३ ॥

शोफार्शः क्षमिकृच्चिक्वर्णकविदार्युः क्षम्यसत्तन्त्रिका-

नादः पिप्पलिदुःखद्विधिवधिरास्ते पूतिकर्णेन च ॥१॥

नेत्रं ह्रीन्दियाधिष्ठानम्, अत इन्दियाधिष्ठानगतरोगचिकित्साप्रसङ्गात् कर्णरोग-
चिकित्सितं विवक्षुरादौ तेषां नामान्वाहः, शूला इति ।—दोषत्रयाभिभूतिजनिताः
दोषत्रयेन दोषसमूहेन, वातपित्तकफरक्तमन्निपातेन इत्यर्थः, या अस्मिन्मिति आक्रान्तिः
आक्रमणमित्यर्थः, कर्णधोरिति शेषः, तज्जनिताः पञ्च पञ्चविधाः, शूलाः कर्णशूला
इत्यर्थः । प्रतीनाहृक् प्रतीनाहृरोग इत्यर्थः । कण्डूः कर्णकण्डूः । विद्रधिः
कर्णविद्रधिः, अथ विद्रधिग्रन्थेन कर्णपाकस्यापि परिगृहणम् ; कर्णविद्रधेः पाकेन
कर्णपाकसम्भवात् । पालिशोषः पालिः कर्णावयवविशेषः तद्गतः शोषः ; तथा च
वाग्भटः,—“शिराण्यः कुरुते वायुः पालिशोषं तटाह्वयम्” इति । “पालिशोषः” इति
पाठस्तु न मनोरमः, तटाह्वयकर्णरोगस्य ग्राह्यत्वदर्शनात् वाग्भटे पालिशोषदर्शनाच्च
इति । परिपोटः, उत्पातः, खेडो परिलेडो, तयोऽप्येते पालिगतविकाराः ।
अर्बुदशोफांशंसि कर्णगताभ्येव, ते चार्बुटादयः यद्येकमङ्गुकाः ज्ञातव्याः ।
क्षमिकृच्चिकर्णकः क्षमिकर्णकः कृच्चिकर्णकश्च, कृच्चिकर्णः कर्णरोगविशेषः,
रोगेऽस्मिन् वातादभ्यन्तरे शङ्कुली सङ्कुचिता भवति, तथा च वाग्भटः,—
“गर्भेऽनिलात् सङ्कुचिता शङ्कुली कृच्चिकर्णकः” इति । बिटारौ विदारिका ; तथा
च वाग्भटः,—“सन्निपाताविदारिका । सर्वर्णः स्रक्जः स्रक्चः शृगणुः समुपेक्षितः ॥
कटुतेजनिभं पक्वः सवेतं कृच्छ्रेण रोहति । सङ्कोचयति दृढा च सा
भ्रुवं कर्णशङ्कुलीम् ॥” इति । उन्मथः उन्मथकः, अयमपि पालिगतरोगविशेषः ।
मत्तन्त्रिका सती स्थिरा दृढा इत्यर्थः, तन्त्रिका कर्णपालिगतरोगविशेषः ;
तत्रैव यथा वाग्भटे,—“क्षया दृढा च तन्वीयत पाली वातेन तन्त्रिका”
इति ; “उन्मथसत्तन्त्रिका” इत्यत्र “उन्मथकतन्त्रिका” इति पाठकल्पना सुहृदोधान-
कृत्वा । नादः कर्णनादः ; समानतन्त्रीककर्णस्नेहस्यावैवान्तर्भावः । पिप्पली “एको
बीरुगनेको वा गर्भे नांसाङ्कुरः स्थिरः । पिप्पली पिप्पलीमानः—” इत्यनेन
वाग्भटोक्ता । दुःखद्विधेः दुःखवर्जनाख्यः दुर्विहज्जनितः शोषविशेषः । बधिरः
पूतिकर्णश्च ; एते पञ्चविंशतिसङ्ख्याकाः कर्णरोगाः ज्ञातव्या इति वाक्यशेषः । पराङ्गे
“शोफार्शः क्षमिपूतिकर्णकविदार्यांस्त्रावितन्त्रिका नादः पिप्पलिदुःखद्विधिवधिरास्ते
कर्णपाकेन च” इति पाठान्तरं न समीचीनं, वाग्भटमतोपजीविनि चिकित्स्व उपजीव्य-
वाग्भटविद्वत्पाठस्य सन्निवेशाच्चैवास्ति ॥ १ ॥

अथ कर्णरोगचिकित्सा ।—

अथ कर्णशूले लवणार्द्रकप्रयोगः ।—

कर्णशूलहरः क्षेप्यो लवणार्द्रकयो रसः ॥ १ ॥

अथ गोमक्षिकायां क्षिमिकर्णारितैलम् ।—

अब्धिफेनो वचा शुण्ठी सैन्धवश्च समं समम् ।

समतैलार्द्रकद्रावैः पक्वे तस्मिन् पलद्वये ॥ ३ ॥

पूर्वोक्तचूर्णं कर्षांशं क्षिप्तोत्तार्य सुशीतलम् ।

तत्तैलं प्रक्षिपेत् कर्णे ध्रुवं गोमक्षिका व्रजेत् ॥ ४ ॥

अथ कर्णशूले तिलपर्णीप्रयोगः ।—

तिलपर्णीद्रवं तैलं कोष्णं कर्णे प्रपूरयेत् ॥ ५ ॥

अथ कर्णशूले अर्कपत्रप्रयोगः ।—

अर्कपत्रद्रवं तैलं पूरयेत् कर्णशूलनुत् ॥ ६ ॥

लवणार्द्रकप्रयोगे—क्षेप्यः कर्णविवरे निक्षेप्य इत्यर्थः । लवणार्द्रकयोरिति द्विवच-
नेन लवणार्द्रकयोरैकव्यं पिष्टयोः वस्त्रपूतः रसः यावत् ॥ २ ॥

क्षिमिकर्णारितैले—अब्धिफेनादीनां चतुर्णां कल्कः तैलपादिकः । समतैला-
र्द्रकद्रावैः समं तैलम् आर्द्रकद्रावाश्च तैः सह, समं समम् अब्धिफेनादिकं, पक्षेदिति
शेषः, तैलप्रस्थम् आर्द्रकस्वरसप्रस्थेन अब्धिफेनादिकल्कपादेन च पक्षेदित्यर्थः ;
तैलमत्र कटुतैलं तिलभवं वा । पक्वे इति ।—पक्वं वस्त्रपूतं सुशीतलञ्च तत् पलद्वयं
गृहीत्वा तस्मिन् पूर्वोक्तचूर्णम् अब्धिफेनादिद्रव्यञ्चतुष्टयं प्रत्येकं कर्षांशं क्षिप्त्वा कर्णे
प्रपूरयेत् । गोमक्षिका दंशाख्यमक्षिकाविशेषः, सा च मांसशीणितकोष्ठे सति कर्णे
अपत्यानि सृजति, अत्र मल्लिकाशब्द उपलक्षणं, तेनाग्रेऽपि जन्तवः कर्णे सम्भवन्ति ;
यदुक्तं सुश्रुतेन—“यदा तु मूर्च्छन्त्यथवाऽपि जन्तवः सृजन्त्यपत्यान्वथवाऽपि मल्लिकाः ।
तदा सृजन्तान्तात् श्रवणो निरुच्यते भिषग्भिराद्यैः क्षिमिकर्णको गदः ॥” इति ॥ ३।४ ॥

कर्णशूलहरतिलपर्णीप्रयोगे—तिलपर्णी “तिलोनी” इति ख्यातः शाकविशेषः,
तस्याः द्रवं रसम् । कर्णशूलशान्तये तैलं तिलपर्णीद्रवञ्चैकव्यमुष्णोक्त्य तैलं कर्णपूरणं
कुर्यात् ॥ ५ ॥

कर्णशूलहरार्कपत्रप्रयोगे—पूर्वयोगवत् सर्वे कार्यमिति ॥ ६ ॥

अथ कर्णशूल रसोनप्रयोगः ।—

रसोनस्य रसं कोष्णं पूरयेत् कर्णशूलनुत् ॥७॥

अथ पुषसादे मेघनादप्रयोगः ।—

मेघनादद्रवैः पूर्णं कर्णं पूयः प्रशाम्यति ॥८॥

अथ बाधिर्ये सुषल्यादिचूर्णम् ।—

सुषलोवाकुचीचूर्णं खादेत् बाधिर्यशान्तये ॥९॥

अथ कर्णमूलस्फोटे कतकादिलेपः ।—

कतकं शिथुलवणमारनालेन पेषयेत् ।

कर्णमूलस्थितं स्फोटं सोष्णलेपादिनाशयेत् ॥१०॥

अथ कर्णमूलस्फोटे पुत्रजीवलेपः ।—

पुत्रजीवफलस्यैव मज्जा जलनिपेषिता ।

लेपात् कर्णं गले कचे स्फोटं हन्युर्मूलकम् ॥११॥

अथ गोमक्षिकायां तगरादिपूरणम् ।—

तगरब्रह्मवृक्षस्य दन्तैर्मूलानि चर्वयेत् ।

रसेन श्रवणं तस्य पूरयेदतियत्नतः ॥

गोमक्षिका विनिर्याति पूरणस्य विधानतः ॥१२॥

रसोनप्रयोगे—सर्वे स्पष्टम् ॥ ७ ॥

मेघनादप्रयोगे—मेघनादः तक्षुलौघकः ॥ ८ ॥

सुषल्यादिचूर्णे—सुषलो ताक्षमूलौ । वाकुची सोमराजी ॥ ९ ॥

कतकादिलेपे—कतकं जलप्रसादनफलं “निर्मली” इति लोके । “कतकम्” इत्यत्र “केतकी” इति रसरत्नाकरे पाठः ॥ १० ॥

पुत्रजीवलेपे—मज्जा फलास्त्रिमध्यमित्यर्थः । उरुमूलकम् अथवा दमूलं महामूलं वा ॥ ११ ॥

तगरादिपूरणे—तगरं पिच्छीतगरः । ब्रह्मवृक्षः पलाशः । विधानतः यथाविधि ; कर्णपूरणविधिश्च भावप्रकाशे यथा—“स्नेहयेत् कर्णदेशान् किञ्चिद्गुः पार्श्वभागिनः । मूत्रैः स्नेहैः रसेः कोषैः तच्च श्रोत्रं प्रपूरयेत् ॥ कर्णस्य पूरितं रसेत् शतं पञ्चशतानि च । तद्वच्च नापि जात्रायां श्रोत्रकण्ठश्रोत्रोददे ॥ स्वजागृतः कारावर्त्तं कुर्व्या-

अथ पालीवर्द्धने मुषलीप्रयोगः ।—

मुषलीकन्दचूर्णं हि माहिषीनवनीततः ।

लोलयेद्रोधयेद्वाण्डे धान्यराशौ निधापयेत् ॥

सप्ताहादुद्धृतं लेपः कर्णपालीं विवर्द्धयेत् ॥१३॥

अथ पालीवर्द्धने चर्मचेटप्रयोगः ।—

चर्मचेटस्य रक्तेन लेपात् कर्णो विवर्द्धते ॥१४॥

अथ पालीवर्द्धने वराहवसाप्रयोगः ।—

वराहोत्थेन तैलेन लेपात् कर्णो विवर्द्धते ॥१५॥

अथ वज्रादिबटिका ।—

वज्रवैक्रान्तविमल-तुल्यनागविषान्वितैः ।

तुल्यपारदगन्धाश्म-माक्षिकैः कज्जली कृता ॥१६॥

रसोनाद्रकशिग्रूणामरुण्या मूलकस्य च ।

श्लोठिकया युतम् । एषा मावा भवेदेका सर्ववैवं विनिश्चयः ॥ रसाद्यैः पूरणं कर्णे भोजनात् प्राक् प्रशस्यते । तैलाद्यैः पूरणं कर्णं भाल्करेऽसमुपागते ॥” इति । कर्णगदे शतमावा एव पूरणं धार्यं, शतं पञ्चशतानि च इत्यादिः क्रमिकत्वात् ; तथा च— “वारयेत् पूरणं कर्णे कर्णमूलं विमर्दयन् । कजः स्यान्मार्दवं यावन्मावाशतसवेदने ॥” इति । मावालक्षणञ्च वाम्बटे यथा—“यावत् पर्येत हस्तायं दक्षिणं जानुमण्डलम् । निमेषोन्मेषकालेन सभं मावा तु सा स्मृता ॥” इति ॥ १२॥

मुषलीप्रयोगे—मुषली तालमूली, सा च अभिनवा एव यास्या ; यदुक्तं चक्रमङ्गले—“माहिषनवनीतयुतं सप्ताहं धान्यराशिपरिवासितम् । नवमुषलीकन्द-चूर्णमृद्धिकरं कर्णपालीनाम् ॥” इति । लोलयेत् पालीकयेत् । तत्त्वचन्द्रिकाकृता । अथ एवं कल्पना प्रदर्शिता, यथा—“तत्त्वणानीतगुक्तालमूलीकन्दचूर्णं पत्र २ माहिषनवनीतं पत्र १ सम्यग्यं सप्ताहं धान्यराशौ ख्याप्यम्” इति ॥ १३ ॥

चर्मचेटप्रयोगे—चर्मचेटः “चामचिका” इति परिज्ञं, तस्य ॥ १४ ॥

वराहवसाप्रयोगे—वराहोत्थेन तैलेन वराहवसा ॥१५॥

वज्रादिबटिकायां—विमलं तारमाक्षिकम् । नागः सौसकम् । विषम् अमृतम् ।

गन्धाश्माः गन्धकः ; वज्रादीनां माक्षिकानामां सर्वेषां तुल्यता । अरुण्याः

पृथक्सैः कटल्याश्च सप्तधा परिभावयेत् ॥

एवं सुपिष्टा वल्लेन सेविता कर्णरोगनुत् ॥१७॥

अथ कुहाद्यं तैलम् ।—

कुष्ठशुण्ठीवचाहिङ्गु-शताह्वाशिशुमैन्धवैः ।

बस्तमूत्रैः शृतं तैलं सर्वकर्णमयापहम् ॥१८॥

अथ नासारोगाणां नामानि ।—

षट् पीनसाश्च मलसञ्चयरक्तदुष्टैः

पूयास्रदीप्तिपिटिकाऽर्बुदघ्नूतिनासाः ।

आस्रावनाहपरिशोषभृशक्षवार्शः-

पाकस्त्वपीनसयुतैश्च गदा नसि स्युः ॥१९॥

इन्द्रवाहण्याः ; “अहण्याः” इत्यत्र “वाहण्याः” इति शीघ्रवाक्ये पाठः ; मुसुते रसोनेत्यादिशोभस्य स्वरमेव कर्णपूरणं काव्यमित्युपदेशः दृश्यते, तत्र च “अहण्याः” इत्यत्र “सुरक्षाः” इति पाठः, सुरङ्गी रक्तशोभाजनम् । कटल्याः कटली कटलीवागुडा तस्याः ॥१८॥१७ ॥

कुहाद्यतैले—“शिशु” इत्यत्र “दाह” इति वृत्ताक्तः पाठः । कुहादीनां कल्पाः स्नेहचतुर्थांशः, बस्तमूत्रैः स्नेहचतुर्गुणैः ॥ १८ ॥

उक्तसाधर्म्यात् कर्णरोगचिकित्साभिधानानन्तरं नासारोगाभिकारारम्भः । तत्रादौ नासारोगाणां नामान्वाह, षड्विधः ।—षट् पीनसाः षड्विधाः प्रतिश्लेष्मायाः । षट्त्वच विवर्णाति, मल्लेति ।—मलसञ्चयः वातादिदोषाणां सञ्चयः, तत्पूरकः प्रकीपय, रक्तं, दुष्टयुते तैः, वात-पित्त-कफ-सन्निपात-रक्त-दुष्टप्रतिश्लेष्मायभेदात् षड्विधा इत्यर्थः । यद्यपि तन्मान्दरी दुष्टप्रतिश्लेष्मायस्य वातादिप्रतिश्लेष्मायपञ्चकानामेवावस्थान्तरतया पञ्च प्रतिश्लेष्मायाः, न षडः इत्युक्तं, तथाऽपि तस्य पृथक्-लक्षणनिर्देशात् सन्दुब्धीनां सुखावबोधनाय षड्विधं त्रीनताचार्येण, बस्तुतस्तु प्रतिश्लेष्मायाः पञ्च एव ; अथवा उभयमपि सत्त्वं कृतिदेषवत् सुनीनां भिन्नमतिकल्पात् । पूयास्रं पूयश्च ॥ “पिटिकाऽर्बुद—” इत्यत्र “पुटकार्बुद—” इति कल्पना साध्वी, वाग्मटे पुटकाख्य-नासारोग एव दृश्यते, न तु पिटिका, तल्लक्षणं यथा—“पित्तश्लेष्मावहो-इत्यर्नासायां शोषयेत् सकृत् । कफे संश्लक्ष्णपुटतां प्राप्नोति पुटकस्तु तत् ॥” इति ।

अथ पूयासलक्षणम् ।—

पूयासमतिदुर्गन्धि नासायामतितापकत् ॥२०॥

अथ नासारोगचिकित्सा ।—

अथ पूयासो जीरकादिनसम् ।—

कृतं नस्येन हन्यात्तच्छीतजीरं सितायुतम् ॥२१॥

अथ पीनसङ्हरणम् ।—

घृताक्षं कुङ्कुमं घृष्टं नस्यं पीनसजिह्वेत् ॥२२॥

अथ कामलाहराजनम् ।—

जलेन पेययेद्विङ्कुमच्छनात् कामलां जयेत् ॥२३॥

भाङ्गः प्रतीभाङ्गः । “भृशश्च” इत्यत्र बाष्पटे—“भृशङ्क” इति पाठो दृश्यते, तथा च—“तीक्ष्णप्राणोपयोगार्क-रश्मिसूक्ष्मलवादिभिः । वातकोपिभिरन्यैर्वा नासिका-
तदवस्थानि ॥ विवर्धतेऽनित्यः कुडो बहः शङ्काटकं तज्जेत् । निवृत्तः कुरुतेऽत्यर्थे
अवयुं स भृशङ्कः ॥” इति । अथमेव सुयुतादौ चक्षुः इति नासा पठितः । पाकः
नासिकापाकः । नसि नासिकायाम् ॥ १८ ॥

तत्र पूयासलक्षणभाङ्गः, पूयासमतिः—अतिदुर्गन्धि तथा अतितापकत्
इति पदद्वयं पूयासमित्यस्य विशेषणम् ; तादृशत्वस्य विपरीताधिकत्वात् रक्तस्य
कोष्ठीभावाच्च ॥२०॥

जीरकादिनस्ये—कृतं नस्येन यथाविधि नासिकया गृहीतम् ॥ २१ ॥

पीनसङ्हरणम्—घृष्टं घृतेनैव सह घृष्टमित्यर्थः ॥ २२ ॥

कामलाहराजने—सर्वे स्पष्टम् । ननु नासारोगाधिकारि “कामलां जयेत्”
इति वचनं कथमिति चेदुच्यते—नासारोगस्य विरागस्यानेन नेत्रमतासृग्दुष्टा
यदि कामला जायते तदा तत्प्रशमनायेव एतत्प्रसङ्गावतारणम् ; नच्यपि
च स्वयमेव “नासारोगप्रसङ्गतः” इति । अथवा—योगस्यास्य कामलाहरस्येऽपि
शक्तिरस्ति इति प्रदर्शनार्थमेवेति बोध्यम् । एवञ्च अत्र प्रकरचक्रात् कलपित्व
विङ्कुमः नस्यं पीनसजिह्व इत्यवगत्य, तथा प्रसङ्गक्रमेण योगस्यास्य प्रथमवैश्लेष्येन
कामलाजित्वमपि प्रदर्शितमिति । “वृक्षनात् कामला” इत्यत्र “समुद्येनेन वृत्”
इति कश्चित् पाठः ॥ २३ ॥

अथ कामलाहरितीयाञ्जनम् ।—

तद्वत्तुल्यतयेन चाकुलीमूलमञ्जयेत् ।

कामलां हन्ति नो चित्रं नासारोमप्रसङ्गतः ॥२४॥

अथ मणिपर्वटी ।—

वर्षं मरकतं पुष्पमिन्द्रनीलं सुचूर्णितम् ।

रसहिङ्गुनगन्धश्च कज्जलीं कारयेद्बुधः ॥२५॥

द्रावयेत्तां लोहपात्रे पर्यव्याकारतां नयेत् ।

निर्गुण्डीतुलसीशिशु-धुस्तूररविवाङ्गजैः ॥२६॥

रसैर्व्योषवरारम्भा-सुरसैश्चापि भावयेत् ।

आर्द्रकस्य रसेनापि समधा परिभावयेत् ॥२७॥

एवं सिद्धी रसा नाम्ना विख्याता मणिपर्वटी ।

सेविता गुञ्जया तुल्या निहन्त्यावासिकागदान् ॥

पथोपचारादिवशात् सर्वव्याधीन् विशेषतः ॥२८॥

अथ मुखरोगाणां सङ्ग्रानिर्देशः ।—

एकोऽगच्छभवो गदः षडुदिता जिह्वोद्भवास्तालुजा-

खाष्टावष्ट च मस्तजाश्च दशनोद्भूता दशौष्ठोद्भवाः ।

कामलाहरितीयाञ्जने—चाकुली देशान्तरे प्रसिद्धा, “चाकुली” इत्यत्र “चकुली” इति कश्चित् पाठः ॥ २४ ॥

मणिपर्वटी—पुष्पं पुष्करामणिम् । “हिङ्गुल” इत्यत्र “हिगुल” इति पाठान्तरम् । रवि. चर्क. बङ्गि. चित्रकः । बरा विफलः । रम्भा कदलीकन्दः । सुरसः तुलसी ; अत्र तुलसीशब्देन कण्ठतुलस्याः सुरसशब्देन च चेतुलस्याः शङ्खं बोधय्यम् । एषां प्रत्येकस्मिन् सप्तधा भावना देया इति ॥ २५—२८ ॥

पूर्वोक्तसङ्गत्वेन नासारोगचिकित्साभिधानानन्तरं मुखरोगचिकित्सितं विवर्षिपुरादौ लेपां सङ्ग्रह आह, एक इति ।—वच्छभवः कपोलदेशजः एकः ; अद्यत्तु सुसुतेन दन्तगतमुखरोगमध्ये “हनुमोचः” इति नाम्ना पठितः, तथा च—“वातेन तेजो-भावेन हनुमोचो विचरति । हनुमोच इति श्रेयो व्याधिरर्दितलक्षणाः ॥” इति ; हनुमन्मोचः स्वल्पान्तरत्वात् अत्र गन्धशब्देन हनुरभिप्रेतः इति मतञ्चम् । अष्ट च

सम्येकादश च त्रयोदश गंदा दन्तस्य मूलोद्भवाः

कण्ठेष्टादश चोदिता वदनजाः पञ्चाधिका सप्ततिः ॥२८॥

अथ गलकौलके आमलकप्रयोगः ।—

चूर्णं त्वामलकस्यैव गवां क्षीरेण पाययेत् ।

गलकौलकनुत्थर्थ—”

॥३०॥

अथ गलकौलके विषतिन्दुकादि वटी ।—

“—विषतिन्दुं सनागरम् ।

हरीतक्या च संयुक्तं मुखे धारय सन्ततम् ॥३१॥

मलजाय इत्यत्र मलशब्देन मलजायवविशेषमुखमभिप्रेतं, नेत्रकर्णनासाद्यादीनां शिरस्येवोपनिबद्धत्वात्, मुखगतरोमाधिकारे शिरोमतरोगाणां सङ्गानिर्देशस्य सङ्गति-विरोधाच्च ; एवञ्च सर्वसरमुखरोगा अष्टौ इत्यर्थः । “अष्ट च मलजाय” इत्यत्र “अष्ट समलजाय” “अष्ट च तृणजाय” इति वा पाठप्रकल्पनं सुगमम् । क्वचित् तस्मै मुख-रागाणां पञ्चषष्टिसङ्ख्यावत्त्वं क्वचिदा सप्तषष्टिसङ्ख्यावत्त्वं प्रदिष्टम् ; तथा च भोजः,— “दन्तेष्टावोष्ठयोश्च मूलेषु दश पञ्च च । नव तालुनि जिह्वायां पञ्च सप्तदशा-मथाः ॥ कण्ठे त्रयः सर्वसराः एकषष्टितुः पराः ॥” इति, तथा भावमिष्यच्च— “स्वरष्टावोष्ठयोर्दन्त-मूलेषु दश षट् तथा । दन्तेष्टौ च जिह्वायां पञ्च स्युर्नव तालुनि ॥ कण्ठे त्वष्टादश प्रोक्तास्तयः सर्वसराः स्मृताः । एवं मुखामथाः सर्वे सप्तषष्टिर्नता वृधैः ॥” इति । वाष्पटसंवादिनि अस्मिन्सु पञ्चसप्ततिरित्युक्तम्, एतद्विरोध-समन्वयार्थं नेत्ररोगचिकित्साधिकारे प्रदर्शिता सरणिरवलम्बनीया । दन्तमतङ्गनु-मोक्षादयः कतिचित् रोगाः वाष्पटसुसुतादिभिः अधिकत्वेन प्रदर्शिताः, भोज-दिभिस्तु सङ्ग्रातरोगेष्वेव तेषामन्तर्भावः इति क्त्वा पृथक्क्या न पठिताः इति ॥२८॥

आमलकप्रयोगे—गलकौलकनुत्थर्थमिति पदं काकाक्षिमौलकन्यायेन चूर्ण-मित्यादिशोभे विषतिन्दु-इत्यादिशोभे च उभयत्रापि समन्वेतव्यम् । गलकौलक-नुत्थर्थं गलकौलकस्य गलदेशे कौलकवत् सङ्घातस्य मांसाङ्कुरविशेषस्य तृतिः विनाशः, तदर्थम् ; अथ गलकौलकशब्देन गलरोहिण्यादयोऽभिप्रेताः, तेष्वेव कौलकवत् मांसा-ङ्कुरसम्भवात् ॥ ३० ॥

विषतिन्दुकादिवर्था—विषतिन्दुं कारस्तरं, “कुचिषा” इति ख्यातम् ; स च शोषित एष यावत्, उपविप्लवात् ॥ ३१ ॥

अथ गलकीलके सैन्धवप्रयोगः ।—

बहुशो भानुदुग्धेन सैन्धवेन प्रलेपनम् ॥३२॥

अथ गलकीलके भज्जातकप्रयोगः ।—

भज्जातकरसं दत्त्वा चूर्णञ्चोपरि बन्धयेत् ॥३३॥

अथ दन्तदार्ढ्यं जयाप्रयोगः ।—

यः प्रातरुत्तेजयति द्विजान् जयाकाष्ठेन वज्रद्विज एव जायते ।
तेनैव तैलोपहितेन मार्जनाञ्जिह्वा जहात्युद्धतपूतिगन्धिताम् ॥३४॥

अथ मुखपाके पर्पटीरसप्रयोगोपदेशः ।—

मुखपाकापनुत्थर्थं मधुना पर्पटीरसम् ।

खादयेत् क्षतगण्डूषो वटिकाञ्चानुधारयेत् ॥३५॥

सैन्धवप्रयोगे—भानुदुग्धेन अर्कचोरेण ; सैन्धवमर्कचोरेण पिष्टा तेन गलकीलकं बहुशः लिम्पेदित्यर्थः ॥ ३२ ॥

भज्जातकप्रयोगे—चूर्णे भज्जातकस्यैव ; गलकीलके बहिर्गले भज्जातकरसेनालिप्य तच्चूर्णे दत्त्वा बध्नेत्यादित्यर्थः ॥३३॥

जयाप्रयोगे—उत्तेजयति उद्वर्षयतीत्यर्थः । द्विजान् दन्तान् । जयाकाष्ठेन जयन्तीकाष्ठक्षतदन्तपवनेन । तेनैव तैलोपहितेन तैलसिक्तेन जयाकाष्ठेन । “यः प्रातः द्विजधावनञ्च कुरुते काष्ठेन वज्रद्विजः । निम्नेन शाखोटककाण्डकेन स्थाह्ल-
कार्धं द्विजयोधनाय ॥” इत्यधिकपाठः क्वचित् ॥ ३४ ॥

मुखपाके पर्पटीरसप्रयोगमुपदिशति, मुखेति ।—पर्पटीरसं रक्तपित्ताद्यधिकारि
त्रासचिकित्सितोक्तम् । क्षतगण्डूषः मधुनैव क्षतगण्डूषः ; यदुक्तं वृन्देन—“वैशद्यं
जनयत्यास्ये सन्दधाति मुखे व्रणान् । दाहलक्ष्णाप्रशमनं मधुगण्डूषधारणम् ॥” इति ।
पञ्चपल्लवज्ञायेन त्रिफलादिज्ञायेन वा गण्डूषः इत्यर्थो वा । गण्डूषभावा तु सुमुतेनोक्ता
यथा—“सुखं सञ्चार्यते या तु सा माया कवली हिता । असञ्चार्या तु या माया
गण्डूषे सा प्रकीर्तिता ॥” इति । वटिकां खादरवटिकादिरूपान् अनुधारयेत्
अनु गच्छानन्तरं धारयेत्, मुखे इति शेषः ॥ ३५ ॥

अथ मुखशोषे महाराष्ट्री गुटिका ।—

महाराष्ट्रिकचूर्णञ्च चतुष्कृत्वा विभावयेत् ।

निम्बार्द्रकरसाभ्यान्तु गुटिका मुखशोषनुत् ॥ ३६ ॥

अथ मुखवैषम्ये पुनर्नवाद्युद्घर्शनम् ।—

श्वेतं पुनर्नवामूलं सर्पाक्षीमूलसंयुतम् ।

उद्घर्शनं हरेत् स्त्रीणां मुखच्छायां सुदुःसहाम् ॥ ३७ ॥

अथ नीलिकायां रजन्वादिप्रलेपः ।—

महिषीक्षीरसम्पिष्टं रजनीरक्तचन्दनम् ।

कृतलेपं मिहन्त्याशु श्यामिकां गण्डयोः स्थिताम् ॥ ३८ ॥

अथ मुखवैषम्ये वङ्गभक्षप्रयोगः ।—

मुखच्छायाहरं वङ्ग-भक्ष स्यान्महिषीजलैः ॥ ३९ ॥

अथ मुखवैषम्यादौ मातुलुङ्गादिप्रलेपः ।—

गोमयस्य रसं सर्पिर्मातुलुङ्गं मनःशिला ।

मुखवर्णकरं श्रेष्ठं तिलकानाञ्च नाशनम् ॥ ४० ॥

अथ मुखवैषम्ये हरिद्रादिप्रलेपः ।—

उभे हरिद्रे मस्त्रिष्ठा घृतं गौराञ्च सर्षपाः ।

पेष्या गैरिकसंयुक्ता अजाक्षीरेण पाचिताः ॥

एतन्नेव भवेद्वक्त्रमुदयादित्यसन्निभम् ॥ ४१ ॥

महाराष्ट्रीगुटिकायां—महाराष्ट्रिकचूर्णे जलकण्टकचूर्णम् । चतुष्कृत्वा निम्बार्द्र-
करोः प्रत्येकं रसेन वारचतुष्टयमित्यर्थः ॥ ३६ ॥

पुनर्नवाद्युद्घर्शने—सर्पाक्षी सर्पसङ्घा “पानत्रिष्ठलि” इति भाषा, सुगन्धरासा
वा । उद्घर्शनम् उद्घर्षणम् । मुखच्छायां सुदुःसहां मुखवैषम्यं, अङ्गादिकमित्यर्थः ॥ ३७ ॥

रजन्वादिप्रलेपे—श्यामिकां नीलिकाम् ॥ ३८ ॥

वङ्गभक्षप्रयोगे—महिषीजलैः महिषीमूत्रैः महिषीक्षीरेण ॥ ३९ ॥

मातुलुङ्गादिप्रलेपे—मातुलुङ्गं मातुलुङ्गमूलम् ; लेपयोगोऽयम् ; यदुक्तं इत्येन
—“मातुलुङ्गजटा सर्पिः शिला गोशक्ती रसः । मुखकान्तिकरो लेपः पिक्का-
स्तिलकाश्चैवित् ॥” इति ॥ ४० ॥

हरिद्रादिप्रलेपे—गौराञ्च सर्षपाः श्वेतसर्षपाः । अजाक्षीरेण पाचिताः ; हरिद्रा-

अथ मुखदोर्गन्धे कुष्ठादिबटो ।—

गोमूत्रैः क्वाथयेत् कुष्ठं बालकं सङ्गरीतकम् ।

पिष्ट्वा सर्वं बटो कुर्यात् मुखदोर्गन्धनाशिनौम् ॥४२॥

अथ मुखदोर्गन्धे गृहधूमक्वाथः ।—

गृहधूममारनालेन क्वाथं समधुसैन्धवम् ॥४३॥

अथ मुखदोर्गन्धे पथ्यादिबटिका ।—

गोमयैः क्वाथिता पथ्या-मिषौ कृष्णान्विता कषा ।

वदनस्य दुरामोदं निहन्ति परिशीलिता ॥४४॥

अथ मुखवैरसे लज्जादिचूर्णम् ।—

लज्जा जातीफलं पूगं तुल्यं भक्ष्यं पिबेदनु ।

शीततोयं पलाञ्चञ्च आस्यवैरस्यशान्तये ॥४५॥

दिकं सर्वं पिष्ट्वा अनाचीरेण दूषत् उरुस्रग्नाः इत्यर्थः, अथवा—अनाचीरेण पेययोगेनैव उपयोगविषये परिणतिमागताः इत्यर्थः, कर्मविपाकः तथा कालः पचति इत्यादिबत् पचन्नातोरत्र परिणति-निष्पादनाद्यर्थे प्रयोगः बोद्धव्यः, युक्तशायनेव पचः तन्मान्तरसंवादात्, तथा च वृन्दः,—“रक्षोघ्नशर्वरीहृयमज्जिह्वागैरिकाज्यवत्तपयः ।—सिद्धेन लिप्तमाननमुदाहिषुबिस्ववत् विभाति ॥” इति । अत्र च तत्त्वचन्द्रिकाकारेण एवं व्याख्या कृता—“वत्तपयः-सिद्धेन” इति समासपदं, रक्षोघ्नादिसिद्धेन लेपे-नेत्यर्थः” इति । रक्षोघ्नादिसिद्धेन रक्षोघ्नादिभिः निष्पन्नेन । उदयादित्यसन्निभम् उदय-कालिकसूर्यसमत्वान्नित्यर्थः । “पेय्याः” “पाचिताः” “उदयादित्य” इत्येतेषु “लेप्याः” “पेषिताः” “उदयादित्य” इति कृत्वा पाठान्तराणि ॥ ४१ ॥

कुष्ठादिबटिकाया—क्वाथयेत् किञ्चिदुत्सृजेदयेदित्यर्थः ॥ ४२ ॥

गृहधूमक्वाथे—गृहधूमिन सङ्ग आरनालं तेन, कृतमिति शेषः ; क्वाथं गृहधूमा-रनालयोः क्वाथमित्यर्थः, मुखे धारयेदिति शेषः । क्वाथविधिना वटवृक्षविधिना वा आरनालेन गृहधूमं निःक्वाप्य मधुसैन्धवे प्रक्षिप्य च तेन कषणादिकं कुर्या-दित्यर्थः ॥ ४३ ॥

पथ्यादिबटिकायां—गोमयैः गोमयरसेः । मिषौ मधुरिका । कषा कृष्णवीरकम् । दुरामोदं दुष्टगन्धम् । परिशीलिता नित्यं प्रयुक्ता ; पथ्यादिकं गोमयरसेन किञ्चित् पक्वा अवतार्य च त्रिलयां पेययेत्, ततो गृटिकां विधाय मुखे धारयेदिति कल्पना ॥ ४४ ॥

लज्जादिचूर्णे—लज्जा भट्टधान्यचूर्णम् ; “लज्जा” इत्यत्र “लज्जा” इति

अथ उपजिह्वायां निर्गुण्ड्यादियोगः ।—

निर्गुण्डोमुत्पलं कन्दं चर्वयेदुपजिह्वके ॥ ४६ ॥

अथ क्रिमिदन्ते अभयागुडिका ।—

ताम्रपात्रे क्षणं पाच्यमभयाचूर्णकं मधु ।

करण गुडिका कार्या दन्तैर्धार्त्र्या क्रिमीन् हरेत् ॥ ४७ ॥

अथ क्रिमिदन्ते काशीगुडिका ।—

काशीशं हिङ्गुं सौराष्ट्रो देवदारु समं जलेः ।

गुडिकां धारयेदन्तैः क्षमिशूलहरं परम् ॥ ४८ ॥

अथ क्रिमिदन्ते विशालाधूमः ।—

विशालायाः फलं चूर्ण्य तप्तलोहोपरि क्षिपेत् ।

तडूमाद्भृष्टदन्तानां कीटपातो भवत्यलम् ॥ ४९ ॥

पाठे—बराहकाला, लज्जावती लता वा । भक्ष्यं मुखे धार्यमित्यर्थः, सेव्यं वा ।

अनु सेवनानन्तरम् ॥ ४५ ॥

निर्गुण्ड्यादियोगे—उत्पलं कन्दं नीलोत्पलकन्दम् । उपजिह्वके उपजिह्वाव्य-
जिह्वागतमुखरोगभेदे ॥ ४६ ॥

अभयागुडिकायां—मधु किञ्चिज्जलेनालोक्ष्य पक्तव्यं, समुदिते च गुडपाकलक्षणे
भुक्त्या अभयाचूर्णे तत्र प्रविष्य गुडिकां कारयेत् । क्रिमीन् दन्तक्रिमीन् ॥ ४७ ॥

काशीसादिगुडिकायां—सौराष्ट्री सौराष्ट्रसृष्टिका ॥ ४८ ॥

विशालाधूमे—विशाला गोरक्षककंटी । “विशालायाः फलं चूर्ण्य” इत्यत्र
“विशालायाः फलं चूर्ण्यम्” इति पाठान्तरम् । तदिति ।—अग्निवर्णोऽतलौहखण्डोपरि
निक्षिप्तविशालाफलचूर्णोत्थधूमात् भृष्टदन्तानां धूमस्यग्नेन क्षणवशंत्वात् भृष्टानामिव
दन्तानां, सन्तप्तलोहतापेन तप्तानां दन्तानामित्यर्थो वा ; क्रिमिदन्तके तद्वक्षितदन्तानां
क्षणाच्छिद्रवन्तत् दम्भवत्परिदृश्यमानानां दन्तानामित्यर्थो वा ; तथा च सुश्रुते—
“क्षणाच्छिद्रवन्तः क्षायी सत्वेरभ्यो महाक्षतः । अनिमित्तकृजो वातात् विज्ञेयः
क्रिमिदन्तकः ॥” इति । “तडूमाद्भृष्टदन्तानां कीटपातः” इत्यत्र “तडूमो
हन्तकीटानामुक्तः पातः” इति कश्चित् पाठः ॥ ४९ ॥

अथ जलदन्ते जातीपवादिचर्बणम् ।—

जातीकीरणपत्रञ्च चर्वयेत् प्रातःकृत्यितः ।

स्थिराः स्युःस्थिता दन्तास्तत्काष्ठैर्दन्तधावनात् ॥५०॥

अथ जलदन्ते मूलकबीजप्रयोगः ।—

मूलबीजं मुखे धार्यं दन्तदार्यकरं परम् ॥५१॥

अथ मुखवैरस्ये चारनालगण्डूषः ।—

किञ्चिल्लवणमयुक्तमारनालं विपाचयेत् ।

तेन गण्डूषमात्रेण मुखवैरस्यनाशनम् ॥५२॥

अथ चूर्णदग्धे तैल-काञ्जिकगण्डूषौ ।—

ताम्बूलचूर्णदग्धस्य गण्डूषस्ति तैलतः ।

काञ्जिकैर्लवणाक्तैर्वा गण्डूषः सुखदायकः ॥५३॥

अथ सङ्क्षेत्रीकधारियोगः ।—

अश्वगन्धाऽजमोदा च वचा कुष्ठं कटुत्रयम् ।

शतपुष्पा ब्रह्मबीजं सैन्धवञ्च समं समम् ॥ ५४॥

एतदहं वचाहञ्च चूर्णितं मधुसर्पिषा ।

जातीपवादिचर्बणे—जाती मालती तस्याः पत्रं, कीरणः सङ्खरः तस्य इदं कीरणं, जातीपत्रं तथा कीरणपत्रञ्च । तत्काष्ठैः जातीकीरणकाष्ठैः ॥ ५० ॥

मूलकबीजप्रयोगे—मूलबीजं मूलककन्दबीजम् ॥ ५१ ॥

चारनालगण्डूषे—चतुर्थांशसेन्धवलवणेन सङ्क्षेत्रीकमुष्णीकस्य गण्डूषं कुर्यात् ॥ ५२ ॥

तैल-काञ्जिकगण्डूषयोः,—ताम्बूलचूर्णदग्धस्य ताम्बूले यत् चूर्णं ताम्बूलसहितं यश्चूर्णमिति वा विग्रहः, तेन दग्धस्य । सुखदायकः चूर्णदग्धरुजापजनकः ॥ ५३ ॥

सङ्क्षेत्रीकधारियोगे—शतपुष्पा “शुल्फा” इति प्रसिद्धम् । ब्रह्मबीजं पलाशबीजम् । एतदहं वचाहञ्च एतेषां वचावर्जितानाम् अश्वगन्धादीनां मिलितानाम्

भक्षयेत् कर्षमात्रन्तु जीर्णान्ते क्षीरभोजनः ॥

सहस्रग्रन्थधारौ स्यान्मूको वा वाक्पतिर्भवेत् ॥५५॥

अथ कण्ठशालूकादौ पारदादिप्रलेपः ।—

पारदं विमलं ताप्यं त्रिकटुं ताम्रसैन्धवम् ।

तुल्यं गवां जलैः पिष्टं सुखीष्णं लेपयेन्मूहः ॥

त्राहेण कण्ठशालूकं गलग्न्यश्च नाशयेत् ॥५६॥

अथ गलकीले सैन्धवप्रलेपः ।—

लेपयित्वा तु दुग्धेन सैन्धवं गलकीलनुत् ॥५७॥

अथ मुखरोगे ताप्यादिषटो ।—

ताप्याभ्रतुल्यकुनटी-राजावर्तशिलाजतु ।

गुग्गुलुर्हरवीर्यश्च मुखरोगनिवर्हणम् ॥५८॥

अथ गलरोगे मण्डूरलेपः ।—

महिषीमूत्रसम्पिष्टं लोहकिटं जणं पचेत् ।

तेन लेपो निहन्त्याशु गलरोगं सुदुःसहम् ॥५९॥

अथ अपचोगण्डमालयोः काञ्चनादिलेपः ।—

जलेन पेययेत्तुल्यं काञ्चनौचित्तकं विषम् ।

सप्ताहं लेपयेत्तेन ह्यपचां गण्डमालिकाः ॥

स्फोटन्ति नात्र सन्देहः स्फोटे लेपमिमं कुरु ॥६०॥

अर्थः, वचायाश्च कर्षमिति मिलित्वा एको भाग इत्यर्थः । कर्षमात्रम् अश्वगन्धादीनां मिलित्वा कर्षाहं वचायाश्च कर्षाहमिति कर्षमात्रमित्यर्थः ॥ ५४।५५ ॥

पारदादिप्रलेपे—पारदं भक्षयितुम् । विमलं रौप्यमालिकम् । ताप्यं सूर्य-
साक्षिकम् । गवां जलैः गोमूत्रैः ॥ ५६ ॥

सैन्धवप्रलेपे—सर्वे स्पष्टम् ॥ ५७ ॥

ताप्यादिषटिकायां—कुनटी मनःशिला । हरवीर्यं पारदः ; एतत् सर्वं जलेन
पिष्टा लेपयेत् षटिकां कृत्वा भक्षयेद्वा ॥ ५८ ॥

मण्डूरलेपे—लोहकिटं मण्डूरम् ॥ ५९ ॥

काञ्चनादिलेपे—काञ्चनी हरिद्रा सूर्यक्षीरी वा । अपचाः इत्यत्र त्रया

निजद्रावेण सम्पिष्ट-मुण्डीमूलप्रलेपनात् ।

गण्डमालाः चयं यान्ति तद्वच्च पिवेज्जलम् ॥६१॥

अथ गण्डमालायां ब्रह्मदण्डीप्रलेपः ।—

ब्रह्मदण्डीयमूलम् पिष्टं तण्डुलवारिणा ।

स्फुटितां हन्ति लेपेन गण्डमालां न संशयः ॥६२॥

अथ गण्डमालायां पञ्चाङ्गप्रलेपः मुण्डीप्रलेपश्च ।—

गन्धकं सूतकं तुल्यमर्कशीरेण सैन्धवम् ।

पिष्टा च काञ्चनीमूलं लेपोऽयं गण्डमालिकाम् ॥६३॥

अदृश्यां स्फोटयत्याशु मुण्डीद्रावेण पेधितम् ।

तन्मूलं लेपयेत्तत्र त्रिःसप्ताहं प्रशान्तये ॥६४॥

अथ गण्डमालायां जैपालप्रलेपः ।—

पिष्टा जैपालपत्राणि स्वरसेन ततो वटी ।

कृष्याशुष्का तथा लेपात् गण्डमालां विनाशयेत् ॥६५॥

इति शेषः, अपचीत्रया इत्यर्थः ; “अपच्यो गण्डमालिकाः” इति कल्पनं सुगमम् ।
“अपच्यः” इत्यत्र “अदृश्याः” इति कश्चित् पाठः । स्फोटे काञ्चनादिप्रलेपेन
स्फुटनजनिते अपच्यादिस्फोटे । इमं निजेल्यादिना वक्ष्यमाणम् । निजद्रावेण मुण्डी-
मूलस्वरसेन । मुण्डी अलम्बुषा, भूमिकदम्बः इत्यर्थः । तद्वचं जलं मुण्डीस्वरस-
मित्यर्थः । पिवेत् अनुपिवेदित्यर्थः ॥ ६०।६१ ॥

ब्रह्मदण्डीप्रलेपे—ब्रह्मदण्डीयमूलं भार्गीमूलम् । स्फुटितां काञ्चनादिलेपेन स्फुटिता-
मित्यर्थः । आदौ काञ्चनादिलेपेन स्फोटयित्वा पश्चादेतल्लेपं दद्यादित्याशयः ॥६२॥

पञ्चाङ्गप्रलेप-मुण्डीप्रलेपयोः,—अदृश्याम् अदृश्याम्, उत्पद्यमानमित्यर्थः, गन्ध-
कादिजतो लेपः अदृश्यां गण्डमालामाशु स्फोटयति, ततः प्रशान्तये निःशेष-
निवृत्तौ मुण्डीद्रावेण पेधितं तन्मूलं मुण्डीमूलं त्रिसप्ताहं तत्र लेपयेत् । अदृश्यामिति
पदं लेपयेदित्यनन्तरमन्वेतत्वं वा ; एवञ्च तन्मूललेपः गण्डमालाम् अदृश्यां,
कारयतीति शेषः ॥ ६३।६४ ॥

जैपालप्रलेपे—स्वरसेन जैपालप्रवरसेनेत्यर्थः ॥ ६५ ॥

अथ चलदन्ते हेमतारादिगुटिका ।—

हेमतारयुतं सूतं तालकं क्षीरमर्दितम् ।

क्षौद्रे तिलानां तैलेन प्रस्विन्नं दन्तदार्व्यक्तम् ॥६३॥

अथ चलदन्ते धातुबद्धरसगुटिका ।—

दन्तदार्व्यप्रसिद्धार्थं गुटिकां देहि सर्वदा ।

रसस्य धातुबद्धस्य चालनं घर्षणं तथा ॥६७॥

रूप्यादिचूर्णमादाय पिष्टिं साधय यत्नतः ।

निम्बमध्ये विनिलिप्य दिनानां पञ्च धारय ॥६८॥

तालचूर्णं समादाय भानुदुग्धेन भावयेत् ।

तस्म्यग्रे गुलिकां क्षिप्वा पचस्व तिलतैलके ॥६९॥

दोलायन्ते निबध्येनां यत्नेन दिवसत्रयम् ।

मलापकर्षणं कृत्वा मधुभाण्डे निधापयेत् ॥

मुखे धारय दन्तानां दार्व्याय गुटिकामिमाम् ॥७०॥

हेमतारादिगुटिकायां—हेमतारयुतं हेमतार' इत्यकं, दन्त्यत्वात्, तेन युतम् ।
क्षौद्रे इत्यत्र प्रसिद्धं, तथा पस्विन्नमित्यत्र च दोलायन्ते इति शेषः, रूप्येत्यादिना वक्ष्य-
माणे योगे तथाभूतकल्पनादर्शनात् ; हेमतारादिकं दुग्धेन पिष्टा गुटिकां विधाय
दोलायन्ते तिलतैलेन यामयं ग्रामं वा पक्का क्षौद्रभाण्डे स्थापयेत्, सा च गुटिका
मुखे धृता दन्तदार्व्यकारिणी भवेदिति । “हेमतारयुतं सूतं तालकं क्षीरमर्दितम्”
इत्यत्र “हेमतारयुतः सूतस्तिन्नाकं क्षीरमर्दितः” इति पाठान्तरम् ॥ ६६ ॥

धातुबद्धरसगुटिकायां—दन्तदार्व्यप्रसिद्धार्थं दन्तदार्व्यस्य प्रकर्षणं स्रष्टादनार्थ-
मित्यर्थः । गुटिकामित्यस्य रसस्य धातुबद्धस्येत्यनेन सम्बन्धः । गुटिकां रूप्यादीत्यादिना
वक्ष्यमाणाम् । चालनं धातुबद्धरसगुटिकायाः मुखान्तः आमर्षणं, घर्षणं तत्रैव
दन्तानां मार्जनमित्यर्थः । रसगुटिकाचालनघर्षणं कर्तव्यमित्युक्तम्, अतस्मान्निव
विहृषीति, रूप्यादोति ।—अथ आदिपदेन तास्यसौमकवक्त्रादीनां धातूनां
यष्टयम्, एषान्तु व्यक्तानां समस्तानां वा प्रयोगः कार्यः । पिष्टिं
लक्ष्मणद्रवसुताभ्यां पेषणात् पिष्टकाकारं पिष्टकाकारं वा, “लक्ष्मणद्रवसुताभ्यां
तारपिष्टिं प्रकल्पयेत्” इति प्राप्नुक्तिदर्शनात् । निम्बमध्ये अक्षीररसमध्ये । भानुदुग्धेन

अथ शिरोरोगाणां नामानि ।—

शिरस्तोदाश्चतुर्ज्ञेया दोषैः सर्वास्त्रजन्तुभिः ।

कम्पश्चाह्वावभेदश्च सूर्यावर्त्तोऽपि शङ्खकः ॥७१॥

अर्कचोरण भावयोदति मप्रधा । तन्मध्ये अर्कचोरभाविततालचूर्णकतपिण्डमध्ये गुलिका रुष्यादिचूर्णकतपिण्डमित्यर्थः । मन्त्रापकर्षणं गुटिकागावसंसक्ततैलादि-
मार्जनम् ॥ ६७—७० ॥

नेत्रकणादीनां शिरःसंश्लिष्टत्वात् तद्वतरोगचिकित्साभिधानानन्तरं शिरोरोग-
चिकित्सितारम्भः । तवादी तस्य नामान्याह, शिर इति ।—शिरस्तोदाः शिरःशूलानि,
शिरोरोगा इत्यर्थः । चतुर्ज्ञा इति दोषैस्त्रिभिः सर्वैश्च एकः इति अतः प्रकार इत्यर्थः ;
सर्वास्त्रजन्तुभिरित्यत्र सर्वं इति पदं समासोन्तर्गतमपि आकृष्य पृथक्त्वा चतुर्ज्ञा
इत्यनेन अन्वेत्यम् ; सर्वः सर्वदोषः, अस्त्रं रक्तं, जन्तुः किमि, ते तैः, त्रिदोषजः
रक्तजः किमिजयेत्यर्थः । अथवा—दोषैः वातपित्तकफैरकविधः सर्वास्त्रजन्तुभिश्च
विविधः इति मिलित्वा चतुर्ज्ञा ; अथ दोषैः पृथक् वातपित्तकफैः विविधस्यापि पृथक्-
सामान्यादेकत्वेन परिगणनम् इति । कम्पः शिरःकम्पः ; अस्त्रं गणना तु
रुक्मिनिश्चयज्ञाना न कृता । वातजशिरोरोगे, वातव्याधौ शिरोगतवाते वेपथुवाते वा
तस्यान्तर्भावात् ; वाय्मटे चरके च पृथक् चिकित्साभिधानात् तल्लक्षणं प्रदर्शितं, तथा
च वाय्मटः,—“वातील्लणाः शिरःकम्पं तत्संज्ञं कुर्वते मलाः” इति । चरकोऽप्याह—
“वाती रुद्धादिभिः क्रुद्धः शिरःकम्पमुदीरयेत्” इति । ननु सुसुप्ते “शिरो रुजति
मच्छायां वातपित्तकफैस्त्रिभिः । सन्निपातेन रक्तेन अथैव किमिभिरपि ॥ सूर्या-
वर्त्तान्तवाताह्वावभेदकशङ्खकैः ॥” इत्यनेन अथजानन्तवाताभ्यां सह एकादश
शिरोरोगाः प्रदर्शिताः । अथ तु अथजानन्तवातो न पठितौ, तथा दश च शिरोरोगाः
प्रदर्शिताः । कथमेतदेवम्यम् ? इति चेदुच्यते—अथजस्य वातजे अन्तर्भावादत्र न तस्य
पृथग्गृह्यं, यदुक्तं—“वायोधांतुचयात् कोपः” इति । मधुकोषकृताऽप्युक्तम्—“अथ
वातजत्वं व्युत्पादितमेव । अक्षुब्धोऽप्याह—स्त्रीप्रसन्नादिभिघातादथवा देहकर्मणा ।
विप्रं सञ्जायते क्रुद्धः शिरोरोगः अथात्मकः ॥ वातपित्तात्मकं लिङ्गं व्याप्तिर्यं
तत्र लक्षयेत् ॥” इति । अन्तर्वातस्य च अन्तर्वातात्मान्यनेतरोगविशेषेण तुल्यलक्षण-
त्वात् अवगच्छम् ; एवं सुषुप्तादिवपि दृश्यते । यत् साधवकरेण स्वसङ्गृही अन्तर्वातः
अधिकत्वेन दृष्टितः, तत् अकिन् हनुयङ्गवचनश्रवणात् केवलवातजैनाम्यतोवातेन
विनिष्टाप्रदर्शनाद्येनिति मन्तव्यम् ॥ ७१ ॥

अथ शिरोरोगचिकित्सा ।—

अथ अर्द्धावभेदके गिरिकर्णोपयोगः ।—

गिरिकर्णोफलं मूलं सजलं नस्यमाचरेत् ।

मूलं वा बन्धयेत् कर्णे निहन्त्यर्द्धशिरोव्यथाम् ॥७२॥

अथ अर्द्धावभेदके गुडादिनस्यम् ।—

गुडं करञ्जवीजञ्च नस्यमुष्णजलेर्हितम् ॥७३॥

अथ अर्द्धावभेदके मरिचप्रलेपः ।—

मरिचं भृङ्गजैर्द्रावैर्लेपोऽयं हन्ति तां रुजम् ॥७४॥

अथ चन्द्रकान्तो रसः ।—

मृतसूताभ्रकं तीक्ष्णं कान्तं ताम्रं मृतं समम् ।

सुहोक्षीरैर्दिनं मय्यं पिण्डं तन्माषमात्रकम् ॥

सप्ताहात् सूर्यावर्त्तादोन् शिरोरोगान् विनाशयेत् ॥७५॥

अथ शिरःश्ले कुङ्कुमादिनस्यम् ।—

कुङ्कुमं मधुयष्टौ च सिताष्टतगुणोत्तरम् ।

सप्ताहेन कृते नस्ये दाहं हन्ति शिरोरुजाम् ॥७६॥

गिरिकर्णोपयोगे—गिरिकर्णो येतापराजिता । “गिरिकर्णोफलं मूलं सजलम्” इत्यत्र “गिरिकर्णोफलावरसं मूलञ्च” इति पाठान्तरम् । “सजलम्” इत्यत्र “सदलम्” इति कश्चित् पाठः । मूलं वा गिरिकर्णो एव मूलमित्यर्थः । अर्द्धशिरोव्यथाम् अर्द्धावभेदकम् ॥७२॥

गुडादिनस्ये—सर्वे स्पष्टम् ॥ ७३ ॥

मरिचप्रलेपे—तां रुजम् अर्द्धावभेदकरुजमित्यर्थः । “गुडं...रुजम्” इति योगद्वय-
श्ले भेषज्यरत्नावल्या “गुग्गु करञ्जवीजञ्च तयोः कल्को जले कृतः । मरिचैर्भृङ्गराजैश्च
शीघ्रं हन्ति शिरोव्यथाम् ॥” इति पाठे प्रकल्प्य एक एवायं योगः पठितः ॥ ७४ ॥

चन्द्रकान्तरसे—मृतसूतं पारदमयम् । रसरत्नाकरे रसेन्द्रसारसङ्गृहे च
“कान्तम्” इत्यत्र “गन्धम्” इति पाठो दृश्यते । रसरत्नाकरे च “सूर्योदयरसः”
इति नाम्ना निर्दिष्टोऽयं योगः । अस्य उपयोगविधिरपि तत्रैव प्रदर्शितः यथा—
“मधुना मर्दितं सेव्यं कौटुपात्ने दिने दिने” इति ॥ ७५ ॥

कुङ्कुमादिनस्ये—मधुयष्टौ यष्टिमधु । युष्टोत्तरम् उत्तरोत्तरमागच्छमित्यर्थः

अथ अर्द्धावभेदके मरिचप्रयोगः ।—

शिग्रपत्ररमेर्मर्द्यं मरिचञ्चार्द्धशूलनुत् ॥७७॥

अथ शिरःशूले कुङ्कुमप्रयोगः ।—

कुङ्कुमं घृतसंयुक्तं नस्याहन्ति शिरोरुजम् ॥७८॥

अथ यूकलिङ्गाया पारदप्रयोगः ।—

पारदं मर्दयेन्निष्कं कणाधुस्तूरजैर्द्रवैः ।

नागवल्गोदलेर्वाऽथ वस्त्रखण्डं प्रलेपयेत् ॥७९॥

तद्वस्त्रं मस्तके वेष्ट्य धार्यं यामत्रयं बुधैः ।

यूक्ताः पतन्ति निःशेषाः सलिङ्गा नात्र संशयः ॥८०॥

अथ दारुणहरतेलम् ।—

कण्टकारीफलरसेस्तेलं तुल्यं विपाचयेत् ।

जयापुष्पद्रवैर्वाऽथ तल्लेपो दारुणप्रणुत् ॥८१॥

अथ केशपाते हरिद्रादिलेपः ।—

द्विनिशा नवनीतेन लेपाद्वा खण्डकेशनुत् ॥८२॥

तेन च कुङ्कुम १ भा, यष्टिमधु २ भा, सिता ३ भा, घृत ४ भा, सर्वे घृतेन पिष्टा तेनेवालोच्य च नस्यं कार्यमिति । योगोऽयं वातासृगुल्ये पित्तजे च प्रशक्तः, तन्तान्तरेऽपि तथाविधदर्शनात् ॥७६॥

मरिचप्रयोगे—शिग्रपत्ररमसृष्टमरिचचूर्णेन नस्यं कार्यमिति ॥ ७७ ॥

कुङ्कुमप्रयोगे—सर्वे स्पष्टम् । तन्तान्तरे तु योगेऽस्मिन् शर्करायोगोऽपि दृश्यते, किञ्च शर्कराकुङ्कुमे घृतेन चालोच्य चघ्नौ किञ्चित् उत्ताप्य च नस्यार्थं धोव्यमिति ॥७८॥

पारदप्रयोगे—यूक्ताः लिङ्गाः केशाश्रयाः क्रिमिविशेषाः “उकुन” “निकि” च इति भाषा ॥ ७९ ८० ॥

दारुणहरतेले—जयापुष्पद्रवैः जयनीपुष्परसैः, तुल्यमिति पदम् अत्रापि सम्बध्यते । “जया” इत्यत्र “जपा” इति पाठान्तरम् । दारुणप्रणुत् दारुणः केशरोगविशेषः, “खण्डो” इति भाषा ॥ ८१ ॥

हरिद्रादिलेपे—द्विनिशा हरिद्रा दारुहरिद्रा च । खण्डकेशनुत् इन्द्रजित्-नाम्निनौत्स्यः ॥८२॥

अथ केशपाते वृक्षजातोप्रलेपः ।—

जातीपुष्पदलं मूलं कृष्णगोमूत्रपेषितम् ।

लेपोऽयं सप्तरात्रेण दृढकेशकरः परम् ॥८३॥

अथ केशपाते शृङ्गाटादिलेपः ।—

शृङ्गाटत्रिफलाभृङ्गी-नीलोत्पलमयोरजः ।

सूक्ष्मचूर्णं समं कृत्वा पचेत्तैले चतुर्गुणे ॥

तल्लेपेन दृढाः केशाः कुटिलाः सरला अपि ॥८४॥

अथ इन्द्रलुप्तं भङ्गातादिलेपः ।—

कीटभक्षितकेशान्त-स्थानं स्वर्णेन घर्षयेत् ।

यावत् सुतप्ततां याति ततो लेपमिमं शृणु ॥८५॥

भङ्गातकश्च बृहती गुञ्जामूलं फलं तथा ।

मधुना सह लेपेन चाम्पारोगचयप्रणुत् ॥८६॥

वृक्षजातोप्रलेपे—जातीपुष्पदलं मालतीपुष्पं मालतीपत्रश्च ; “दलम्” इत्यत्र “फलम्” इति पाठान्तरम् । मूलमपि जात्य। एव ॥८३॥

शृङ्गाटादितैले—शृङ्गाटः शृङ्गाटकः तस्य पत्रं कन्दो वा । भृङ्गी भृङ्गराजः । मयोरजः लौहचूर्णम् । शृङ्गाटादीनां कल्कः तैलपादिकः, जलमत्र चतुर्गुणं पाकार्थं दियम् ॥ ८४ ॥

भङ्गातकादिप्रलेपे—कीटभक्षितकेशान्तस्थानम् इन्द्रलुप्तमित्यर्थः, इन्द्रलुप्तश्च केशादाख्य-रक्तजक्रिमिकार्यत्वेन तन्तान्तरे प्रसिद्धत्वात्, “रोमकूपानुगं पिपं वातेन सह मूर्च्छितम् । प्रचावयति रीमाणि ततः श्लेष्मा मशोषितः ॥ रुचद्वि रोमकूपान्मु ततोऽन्धेषामसम्भवः । तदिन्द्रलुप्तं खालित्वं रुच्यति च विभाव्यते ॥” इतीन्द्रलुप्त-लक्षणे शोणितस्यापि तत्कारणत्वेनोल्लेखात्, शोणिते च क्रिम्युत्पत्तिसम्भवात् वा । स्वर्णं सुरर्षघातुना धुनूरेण वा घर्षयेत् आदौ इन्द्रलुप्तस्थानं कर्कशपत्रैः गन्ध-रञ्जन्वादिना वा उल्लिख्य पश्चात् स्वर्णेन घर्षयेदित्यर्थः । यावत् सुतप्ततां याति यावत् कालं घर्षणेन तत् स्थानं सन्तप्तं भवति तावत् घर्षयेत्, ततो भङ्गातकादिना लिम्पे-दित्यर्थः । अकेषु तु भङ्गातकमित्यादिना अलारी योनाः उक्ताः, तथा च—“भङ्गातक-बृहतीफलगुञ्जामूलफलेभ्य एकेन । मधुसहितेन विहितं सुरपमिलुप्तं घ्नं याति ॥”

अथ इन्द्रलुप्तं गुञ्जाप्रयोगः ।—

गुञ्जामूलं फलं चूर्णं कण्टकाय्याः फलद्रवैः ।

तेन लेपेन हन्त्याशु चाचारोगं सुदुःसहम् ॥८७॥

अथ सूर्यावर्त्तादौ अभादिवटिका ।—

अभ्रजोर्णरसस्तीक्ष्णं म्लुहीचीरं सुरायसम् ।

शुक्लञ्च सूर्यावर्त्तादीन् शिरोरोगान्निवर्त्तयेत् ॥८८॥

अथ पलितादौ कटुतेजनस्यम् ।—

कटुतैलक्षतं नस्यं पलिताकुंभिकापहम् ॥८९॥

इति । अथ शिवदासः,—“भङ्गातकठहृतीफलयोः रसः, उक्तं हि बाम्भटे—‘सचौद्र-
चुटवार्त्ताकु-स्वरसेन रसेन वा । धुसूरस्य च पत्राणां भङ्गातकरसेन वा ॥’ इति ।”
आम्पारोगचयप्रणुत् इत्यत्र आम्पारोगः इन्द्रलुप्तः । “आम्पा” इत्यत्र “आचा” इति
पाठकल्पना साधोयसी, बाम्भटे इन्द्रलुप्तस्य आचेति नामान्तरदर्शनात्, तथा च—
“तदिन्द्रलुप्तं बभ्याञ्च प्राहुश्चाचेति चापरे” इति । कश्चित् “रुद्धा” इति पाठः ॥८९॥

गुञ्जाप्रयोगे—वा-शब्दः लुप्तो द्रष्टव्यः, गुञ्जायाः मूलचूर्णे फलचूर्णे वा इत्यर्थः ।
सिद्धयोगे तु कण्टकारीश्वले बृहतीफलरसेन पेयविधिर्दृश्यते । अत्रापि
आदौ नखरञ्जन्यादिना उल्लिख्य स्पर्शेन घर्षणं कर्तव्यम् ; तथा च—“बृहतीफल-
रसपिष्टं गुञ्जामूलफलचेन्द्रलुप्तस्य । कनकनिष्ठस्य सती दातव्यं प्रच्छित्तस्य सदा ॥”
इति । अथ शिवदासव्याख्या—“पक्वबृहतीफलरसस्तेन पिष्टं गुञ्जाया मूलं फलं वा ।
कनकं सुवर्णं धुसूरस्य फलं वा । प्रच्छित्तस्य नखरञ्जन्यादिना विलिखितम्”
इति । “आचारोगम्” इत्यत्र “आप्यरोगम्” इति पाठस्तु न समीचीनः ॥ ८७ ॥

अभादिवटिकायाम्—अश्लेष सह जोर्णरसः अश्रजोर्णरसः अभं रसभक्ष्यं च
इत्यर्थः ; “अभं जोर्णरसः” इति पाठः सुगमः । तीक्ष्णं तीक्ष्णलौहम् ।
सुरायसं सुरा मद्यम् आयसं लौहं कान्तलौहमित्यर्थः ; किंवा—सुरायसं सुरैः
ब्रह्मादिभिर्देवतावयैः अधिष्ठितम् आयसं लौहं कान्तलौहमित्यर्थः, तथा च
अश्लेष पञ्चमाध्याये—“भामकं सुत्वक्त्यैव कर्षकं द्रावकतथा । एवं चतुर्विधं कान्तं
रोमकान्तञ्च पञ्चमम् ॥ एकविचित्रतः पञ्च-सर्वतोमुखमेव तत् । पीतं कृष्णं तथा रक्तं
त्रिवर्णं स्यात् पृथक् पृथक् ॥ क्रमेण देवतास्तत्र ब्रह्माविष्णुमहेश्वराः ॥” इति ॥ ८८ ॥

कटुतेजनस्ये—अक्षुषिका शिरोरोगतत्रयविशेषः ॥ ८९ ॥

अथ स्वालित्ये क्षुब्धादितैलं विषतेलञ्च ।—

स्रग्धर्कचौरभङ्गाख्य-गोमूत्रहलिनीविषैः ।

गुञ्जाविशालामरिचैः कटुतैलं विपाचितम् ॥

खलति शमयत्युक्त पिष्टमष्टगुणं विषात् ॥८०॥

अथ व्रणस्य भेदनिर्देशः ।—

दोषैर्दन्तैः समस्तैश्च साम्रैस्तैरसृजाऽपि च ।

व्रणभेदा इति प्रोक्ता वैद्यशास्त्रविशारदैः ॥८१॥

क्षुब्धादितैले—स्रग्धर्कयोः चौरम । हलिनीविषैः लाङ्गल्याख्योपविषैः, विषमिति पृथक्पदं वा लाङ्गली विषञ्चेत्यर्थः । गुञ्जाया मूलं, फलमित्यर्थः । विशाला चौरचक्रकटी । अथ द्रवकार्थार्थे भङ्गाख्यगोमूत्रे प्रत्येकं खेडाश्चतुर्गुणे देये, निलित्वा चतुर्गुणे इति कैचित् ; अन्येदा कल्कः । अक्रोण त किञ्चित् परिवर्तिततया तैलमिदं पठ्यते, तथा च—“स्रग्धर्कपत्रः पत्रोऽर्कस्य मार्कंबो लाङ्गलीविषम् । मृतमाजं सगोमूत्रं चत्तिका मेन्द्रवारुणी ॥ निद्रार्थं तीक्ष्णतैलञ्च गर्भं दत्त्वा विपाचितम् । वज्रिना सृदना पक्वं तैलं स्वालित्यनाशनम् ॥” इति । अस्य व्याख्यायां श्रीशिवटामः,—“लाङ्गलीविषं विषलाङ्गलिग्राम्भाख्यं विषं, किंवा लाङ्गली च विषञ्चेति द्रव्यद्वयम् । सिद्धार्थं श्वेतसर्पपः, तीक्ष्णतैलं मार्षपतेलम् । ज्योतिष्यतीमुलं फलमित्यर्थः । सिद्धार्थंतीक्ष्ण-तैलमिति समस्तपाठपत्रे—तीक्ष्णमिति तैलविशेषणम् अर्भाजितस्य सर्पपस्य तैलं श्रेयम्” इति । वज्रमेतस्य—“लाङ्गली मार्कंबो विषम्” इति कृत्वा “विषम्” इति पदं पृथगेव तथा “तीक्ष्णतैलञ्च” इत्यत्र “तीक्ष्णगन्धा” इति पठति । विषतैले—अस्त्रपिष्टम् अस्त्रालोडितम्, अस्त्रकाम्प्रिकसाधितमित्यर्थः, अष्टगुणमित्यत्र कटुतैलमिति पदं पूर्वतः आरुध्य शीतनीयम् ; चतुर्गुणास्त्रकाम्प्रिकसाधितं विषादष्टगुणं कटुतैलमित्यर्थः, विषञ्चात्र कल्कः । यद्वा—अस्त्रपिष्टम् अस्त्रीभूतं पिष्टं चूततण्डुलमित्यर्थः, धान्यास्त्रमिति यावत् ; अष्टगुणधान्यास्त्रपिष्टं विषं खलति शमयतीति निष्कर्षः ॥८०॥

शिरारोगेव अर्द्धावभेदके “शस्त्रारणिनिभां कथ्यात् तीव्राम्” तथा शङ्खके “तीव्र-चन्द्राङ्गरागं हि शीथं कुर्वन्ति दारुणम्” इत्युल्लेखात् व्रणोऽपि शस्त्रारणिनिभायाः वेदनायाः सन्ध्यावसाधन्यात् तथा शीथसाधन्याश्च, किञ्च शिरसो मर्मस्थानत्वेन तद्रोगाणां भर्त्सयित्वात्, व्रणानामपि मर्मस्थानोत्पत्तेः सन्धावितत्वाच्च शिरारोगानन्तरं व्रण-विकसितं जिगदिप्रादी तस्य दोषभेदं निरूपयति, दोषैरिति ।—दोषैः पृथक् पातपित्तकफैः । साधैः सरसैः रक्तान्वितैरित्यर्थः, तैः क्षीपैः पृथक्पृथक् सन्धावित्वाच्चैरित्यर्थः,

अथ व्रणचिकित्सा ।—

अथ व्रणशीपणे तासप्रयोगः ।—

शुल्बचूर्णं रसे जीर्णं मदयन्तोपुनर्नवे ।

मेषशृङ्गोरसश्चैतद्व्रणशीधनरोपणम् ॥८२॥

अथ व्रणरीपणे पटोलादिपूरणम् ।—

पटोलनिम्बपत्रञ्च मधुयष्टीनिशातिलाः ।

त्रिवृहन्तोरसैः पिष्ट्वा पूरयेत् व्रणरीपणम् ॥८३॥

अथ व्रणरीपणे निम्बपत्रादिपूरणम् ।—

निम्बपत्रं तिलं पिष्ट्वा पूरयेन्मधुसर्पिषा ॥८४॥

पञ्च पृथग्दोषैस्त्रयः इत्येकत्रयः समसौरेकः सास्त्रेः पृथग्दोषैस्त्रयः सास्त्रेऽनेकत्रयः सास्त्रेः समसौरेकः केवलेन रक्तेन चैकः इति मिलित्वा दोषप्रसरणे पञ्चदश व्रणभेदाः ; उक्तञ्च साधवकारेण—“रक्ती रक्तस्रुतो रक्तात द्विचित्रः स्यात्तदन्वयेः” इति । अस्य व्याख्यायां श्रीकण्ठः,—“रक्तस्य एकैकस्मिन् दोषे इत्येव प्रसरमाह, द्विचित्रः स्यात्तदन्वये-रित्यादि ।—रक्तान्वयेरेकैकदोषैः इत्येव, रक्तान्वितैरेकैकदोषैः द्विचित्रः व्रणः रक्तान्वितै-र्द्वन्द्वयैस्त्रिचित्रः, एवं दोषत्रयेऽपि रक्तसम्बन्ध ऊहनीयः, एवं पञ्चदशधा प्रसरो दोषाणामुपगृहीतो भवति” इति ॥८१॥

तासप्रयोगे—शुल्बचूर्णमिति पदं जीर्णमित्यनेन सम्बध्यते, तासमभ्य इत्यर्थः । रसे इत्यस्य मदयन्तोपुनर्नवे इत्यनेन योजना, मदयन्तोपुनर्नवोत्ये रसे इत्यर्थः, मदयन्तो वनमल्लिङ्गा तथा मृद पुनर्नवः तस्मिन् इति विग्रहः, पुनर्नवाऽर्थकः पुनर्नवशब्दोऽप्यस्तीति दृश्यते ; “मदयन्तो” इत्यत्र “मधुपर्णी” इति रसरत्नाकरे पाठः । तथा च—“तासमभ्य द्रवेर्नद्ये मधुपर्णीपुनर्नवे । मेषशृङ्गादिनैकेन व्रणशीधनरोपणम् ॥” इति । मदयन्तोपुनर्नवयोः तथा मेषशृङ्गाश्च रसेन तासमभ्य मर्दयित्वा रक्तिव्यमानेन व्रणशीधनरोपणार्थं सेव्यम् इति प्रयोगविधिः ॥ ८२ ॥

पटोलादिपूरणे—पटोलस्य पत्रम् । निशा हरिद्रा । चक्रदत्तेन तु “निशा” इत्यत्र “निशाहयम्” इति तथा सेन्धवयोगेन च योगोऽयं पच्यते, तथा च—“पटोलीतिल-यल्याह विहृहन्तीनिशाहयम् । निम्बपत्राणि चालेपः सप्तुर्ब्रणशीधनः ॥” इति । पूरयेत्, व्रणान्तः इति शेषः ॥ ८३ ॥

निम्बपत्रादिपूरणे—सर्वं स्पष्टम् । योगोऽयं रोपणार्थं प्रयोक्तव्यः, सिद्धयोगः संवादात् ॥ ८४ ॥

अथ जाल्यायं वृत्तम् ।—

जातीपत्रं पटोलञ्च निम्बाशौरकरञ्जकम् ।
मञ्जिष्ठा मधुयष्टी च तुल्यपत्रकसारिवाः ॥८५॥
प्रत्येकं चूर्णयेत् कर्षं गव्याज्यां ढाटशं पलम् ।
घृताञ्चतुर्गुणं तोयं पाच्यमाज्यावशेषितम् ॥८६॥
तेनाभ्यङ्गी मर्मजातान् व्रणान्नाडोव्रणानपि ।
स्रवन्ति सूक्ष्मरन्ध्राणि पूरयेन्नात्र संशयः ॥८७॥

अथ व्रणरोपणे अपासार्गप्रयोगः ।—

अपासार्गस्य पत्रोत्थ-रसेनाऽऽपूरयेत् व्रणम् ।
किं वा तद्बीजचूर्णेन व्रणं दुष्टं प्ररोहयेत् ॥८८॥

अथ व्रणरोपणे गुडटङ्गणवर्तिः ।—

पुरातनगुडैस्तुल्यं टङ्गणं सूक्ष्मवर्णितम् ।
तद्वर्त्या पूरयेद्गुडं व्रणं शीघ्रतरं महत् ॥८९॥

अथ व्रणलेखने पारदादिलिपः ।—

पारदस्य त्रयो भागाः कमलस्यैकविंशतिः ।
जम्बीराम्बुनेन तत्पिष्टं माणिमन्यस्य सप्ततिः ॥९०॥
नवभिर्गन्धकस्यांगैर्भृङ्गसारेण मर्दयेत् ।
सप्ताहमातपे तौत्रे धारितं शस्त्रवर्जित्वेत् ॥९१॥

आ-गादिष्टने—जाती मान्नी तस्याः पत्रम् । पत्रकं तेजपत्रम् ॥८५—८७॥

अपासार्गप्रयोगे—तद्बीजचूर्णेन अपासार्गबीजचूर्णेन ॥ ८८ ॥

गुडटङ्गणवर्त्यां—गुडं सूक्ष्ममुखमिदं । महत् गन्धीरमिदं ॥ ८९ ॥

पारदादिलिपे—कमलस्य तास्य, लेखनवात् रसरत्नाकरसंवादाच्च ; तथा च—

“तास्यचूर्णं सप्तभागं मृतमेकं विमर्दयेत् । सैन्धवं सप्तभागञ्च गन्धकं नवभागकम् ॥

भृङ्गोदरेः सजम्बीरेः सप्ताहं परिमर्दितम् । तैललिप्तं स्फुटत्यायु यद्यपकं भगन्दरम् ॥”

इति । मेदिनीकोषेऽपि तासार्धकः कमलशब्दः विद्यते, तथा च—“कमलं सलिले

ज्ञात्वे जलजे स्त्रीणि भोज्ये” इति । अथ यद्यपि प्रस्तुतग्रन्थेन सङ्गरसरत्नाकरोक्तभागस्य

वैषम्यं विद्यते, तथाऽपि द्रव्यसाम्यप्रदर्शनार्थं कमलशब्दस्य तासार्धकत्वबोधनार्थं पाठो-

अथ भग्नस्य भेदनिर्देशः ।—

भग्नो द्विधा निजागन्तु-वाह्याभ्यन्तरभेदतः ॥१०२॥

अथ भग्नचिकित्सा ।—

अग्ने भग्नं पपंटीरसप्रयोगविधिः ।—

भग्नैश्चैरण्डतैलेन प्रयुज्ज्यात् पपंटीरसम् ॥१०३॥

अथ भग्नं वज्रीलेपः कान्तपाषाणलेपश्च ।—

वज्रीं पिष्ट्वा बालकस्य प्रणुत्यै मेषीदग्धं कान्तपाषाणतुल्यैः ।

युक्तं लेपादस्थिभग्नं निहन्ति वाह्याभ्यन्तःसंस्थितं तत्क्षणेन ॥१०४॥

अथ भग्नन्दरलक्षणम् ।—

गुदस्य पार्श्वे पिटिकाऽर्त्तिकारी

गोफादियुक्तः स भग्नन्दरः स्यात् ॥१०५॥

इयं प्रदर्शितः इति ज्ञातव्यम् । सानिमन्यस्य मैत्र्यस्य । भृङ्गसारेण भृङ्गराजसेन ।

लिखितं विदारयेदित्यर्थः । रसरत्नाकरे श्रीमोऽयं भग्नन्दरे सन्निरुद्धः ॥१००।१०१॥

“ब्रण गावविचूर्णने” इत्यनेन ब्रणस्य गावविचूर्णनार्थकत्वात्, भग्नैऽपि गावचूर्णन-
साभ्यात्, तथा सत्रणब्रणभेदेन द्विविधे भग्नं ब्रणाधिकारे सत्रणस्यापि चिकित्साभि-
धानात् अनन्तरम् अत्रणभग्नचिकित्सितमुपदिष्टलक्षणस्य भेदानाच्च, भग्न इति ।—द्विधा
इति सत्रणब्रणभेदेन सन्धिभग्न-काण्डभग्नभेदेन वा द्विप्रकारः इत्यर्थः । निजागन्तु-
वाह्याभ्यन्तरभेदतः स एव भग्नः पुनः निजागन्तुभेदेन तथा वाह्याभ्यन्तरभेदेन च
भिद्यते ; तत्र निजः शरीरदोषजः, स च सन्धिभग्नेषु विशिष्टविवर्तितादिरूपः,
काण्डभग्नेषु अतिपातितवक्रादिरूपस्य अवगन्तव्यः ; आगन्तुश्च उत्पिष्टादयः अन्ये
अवशिष्टाः इति ज्ञातव्यम् । वाह्याः काण्डभग्नः, आभ्यन्तरः सन्धिभग्न इत्यर्थः ; अथवा
—वाह्याः कृचकादिषु स्फुटनलक्षणी भग्नः, आभ्यन्तरः नलककपालादिषु भेदनादि-
लक्षणी भग्नः इत्यर्थः ॥ १०२ ॥

पपंटीरसप्रयोगविधौ—पपंटीरसं रक्तपित्तादधिकारोक्तम् ॥ १०३ ॥

वज्रीलेप-कान्तपाषाणलेपयोः—वज्रीम अस्थिमण्डारम् । प्रणुत्यै प्रकरणादस्थि-
भग्नपमोदनायेत्यर्थः, प्रलेपः कार्य्य इति शेषः । मेषीदग्धमित्यादौ—कान्तपाषाण-
तुल्यैः तुल्यकान्तपाषाणैरित्यर्थः ; कान्तपाषाणः राजपट्टम् ; मेषीदग्धकान्तपाषाणी
समांशौ पिष्ट्वा लिप्येत इति ॥ १०४ ॥

भग्नस्यापि ब्रणभावनापन्नस्योपेक्षया नाडी भवति भग्नन्दरैऽपि नाडी भवति,

अथ भगन्दरस्य निरुक्तिः ।—

वृषणासनयोर्मध्ये प्रदेशो भग उच्यते ।

तमेव दारयत्यस्माद्भगन्दर इति स्मृतः ॥१०६॥

अथ भगन्दरचिकित्सा ।—

अथ भगन्दरे उपचारविशेषः ।—

आदौ सर्वप्रयत्नेन पाकं रक्षेत् भगन्दरे ।

स्त्राव्यं रक्तं व्रणे जाते जलूकां वा प्रयोजयेत् ॥१०७॥

अथ लाङ्गल्यादिप्रलेपः ।—

लाङ्गलीक्षणधुस्तूर-विषमुष्टिं प्रलेपयेत् ॥१०८॥

एतस्माधर्म्यात् शोषनाधर्म्याच्च भयानन्तरं भगन्दरारम्भः । तत्रादौ तस्य स्वरूपलक्षण-
माह, गुदस्थेति ।—पार्श्वे हाङ्गुले देशे इत्यर्थः ; यदुक्तं माधवेन—“गुदस्य हाङ्गुले क्षेपे
पार्श्वतः पिङ्काऽर्तिरुक्त” इति । पिङ्गिका पिङ्कापूर्वकः इत्यर्थः, यो व्रणो भवेदिति
शेषः ; तथा च वाग्भटः,—“प्रायेण पिङ्गिकापूर्वो योऽङ्गुले हाङ्गुलिऽपि वा । पायो-
ग्रंथोऽन्तर्वाह्यो वा दृष्टासूक्ष्मासंगो भवेत् ॥ वस्त्रमुत्राशयाभ्यासगतत्वात् स्यन्दनात्मकः ।
भगन्दरः स सर्वत्र दारयत्यकिधावतः ॥” इति ॥ १०५ ॥

निरुक्तिमाह, वृषणेति ।—आसने उपविश्यते अनेन इति व्युत्पत्त्या आसनशब्दे-
नात्र गुद उच्यते ; वृषणासनयोः मुष्कगुदयोः, यदुक्तं राजनिघण्टौ—“गुदमुष्कदयो-
र्मध्ये यो भागः स भगः स्मृतः” इति । “वृषणासनयोः” इत्यत्र “वृषणापानयोः”
इति पाठान्तरम् । भगशब्दोऽत्र वस्त्रगुदीयलक्षणं, तद्योरपि दारणात् ; यदुक्तं सुश्रुतेन
—“गुदभगवस्त्रप्रदेशदारणात् भगन्दरः” इति । भोजेनाप्युक्तं—“भगं परिसमन्ताच्च
गुदं वक्तिं तथैव च । भगवद्धारयेत् यस्मात् तस्मात् ज्ञेयो भगन्दरः ॥” इति ॥१०६॥

उपचारविशेषमाह, आदाविति ।—पाकं रक्षेत् जाता पिङ्गिका यथा न पाक-
मागच्छेत् तथा कुर्यादित्यर्थः । पाकनिवारणोपायं प्रदर्शयति, स्त्राव्यमिति ।—
व्रणे जाते पिङ्गिकायामुत्पन्नमात्राधामेवेत्यर्थः । शोषितस्त्रावणञ्च लङ्घनशोधनपूर्वकं
कर्तव्यम् ; यदुक्तं सिद्धयोगे—“गुदस्य श्वश्रुं दृष्ट्वा विशीघ्रं शोधयेत्ततः । रक्तावः
संचर्नं कुर्यात् यथा पाकं न गच्छति ॥” इति । जलूकां जलौकाम् ॥१०७॥

लाङ्गल्यादिप्रलेपे—विषमुष्टिः कुबेलकः । लाङ्गल्यादिकं सर्वं तुल्यांशं वारिणा
पिष्टा प्रलेपः दध्यः ॥ १०८ ॥

अथ कालाग्रिरसः ।—

रसगन्धकसिन्धूत्थ-तुल्यनागाः सजीरकाः ।

तिक्तकोषातकीसारैः पिष्टा घ्नन्ति भगन्दरम् ॥१०६॥

अथ चक्रिकावद्वरसप्रयोगोपदेशः ।—

गुल्मीक्तचक्रिकावद्धा भगन्दरहरः परम् ॥११०॥

अथ रविताण्डवरसः ।—

शुद्धसूतं द्विधा गन्धं कुमारीरसमर्दितम् ।

व्रजहान्ते गोलकं कृत्वा हृण्डिकान्ते निरोधयेत् ॥१११॥

शुद्धेन ताम्रपात्रेण तयोस्तुल्येन यन्त्रतः ।

तद्गाण्डं भस्मनाऽऽपूर्य्य चुक्रां तीव्राग्निना पचेत् ॥११२॥

दियामान्ते तद्द्वयं चूर्णयेत् स्वाङ्गशैतलम् ।

जम्बोरस्य द्रवैः पिष्ट्वा रुद्ध्वा सप्तपुटैः पचेत् ॥११३॥

गुल्मीकं मधुराहारं दिवा स्वापञ्च मैथुनम् ।

वर्जयेच्छैतलाहारं रसेऽस्मिन् रविताण्डवे ॥११४॥

कालाग्रिरस—नागः सौसकम् । तिक्तकोषातकी तिक्तघोषकः, “तिक्तोरला” इति भाषा, तस्याः सारैः रसैः । अस्य रक्तिद्वयं सेवेत लेपयेच्च ; यदुक्तं रसरत्नाकरे—“शुद्धसूतं समं गन्धं स्रतनागं सतुल्यकम् । जीरकं सैन्धवं तुल्यं तिक्तकोषातकीद्रवैः ॥ पिष्टं तलेपनाहन्ति भक्षणाच्च भगन्दरम् । रसः कालाग्रिनामाऽयं द्विगुणं सृत्यजिह्वेत् ॥” इति ॥ १०६ ॥

चक्रिकावद्वरसप्रयोगोपदेशे—गुल्मीकेत्यत्र गुल्मेति पाठः प्रामादिकः, तत्र चक्रिकावद्वरस सत्त्वाभावात्, बभ्याक्त इत्येव भाव्यः ॥ ११० ॥

रविताण्डवे—तयोस्तुल्येन रसगन्धञ्चतुल्येन । यन्त्रतः यन्त्रं विरच्येत्यर्थः ; “यन्त्रतः” इति पाठान्तरम् । द्विभागगन्धेन कज्जलीकृतं पारदं द्विगुणं कुमारीरसेन मर्दयित्वा गोलकं द्विधा च हृण्डिकान्तः स्थापयेत्, ततः कज्जलीतुल्यशुद्धताम्रपत्रीकृतेन कण्टकवेषधोग्नेन भाजनेन तं कज्जलीपिण्डमाच्छाद्य पावपिण्डयोः सन्धिं निदध्यात्, अथ तां हृण्डिकां भस्मना पूरयित्वा तीव्राग्निना पचेदिति । रसेन्दुसारं तु—कज्जलीसमं सूक्ष्मताम्रपत्रं तेन पिण्डेनान्विष्टं हृण्डिकान्तनिवेश्य च प्रदग्धितरीत्या पचेत्, एवं यन्त्रप्रकारः प्रदर्शितः, तथा च—“शुद्धसूतं द्विधा गन्धं

अथ स्फोटने चतुरङ्गलेपः ।—

ताम्रचूर्णं सप्तभागं भागमेकन्तु पारदम् ।

सैन्धवं सप्तभागञ्च गन्धकं नवभागिकम् ॥११५॥

शृङ्गोद्रावैः सजम्बोरैः सप्ताहं घर्ममर्दितम् ।

तेन लिप्तं स्फुटत्याशु यदि पक्वं भगन्दरम् ॥

न शस्त्रैश्छेदयेत् प्राज्ञः स्फोटयेत्क्षेपनादिभिः ॥११६॥

अथ स्फोटने हरिद्रादिप्रलेपः ।—

हरिद्रानिम्बसिन्धूत्वं पिष्ट्वा लिप्त्वा स्फुटत्यलम् ॥११७॥

अथ शोधणे नरास्थितैलप्रयोगः ।—

नरास्थितैललेपेन स्फुटितं शुष्यति व्रणम् ॥११८॥

अथ शोधनरोपणे ताम्रप्रयोगः ।—

ताम्रभस्म दिनं मर्द्यं मदयन्तीपुनर्नवे ।

मेघशृङ्गोद्रवैस्तेन व्रणशोधनरोपणम् ॥११९॥

कमारोरसमर्दितम् । ब्रह्मान्ते गोलकं कृत्वा ततस्तेन प्रलेपयेत् ॥ तयोः समं ताम्रपत्रं हस्तिज्वालान्निवेशयेत् ॥” इति । रुद्धा कवचीयन्ते निरुध्येत्यर्थः । “शृङ्गैश्च” इत्यस्मात् परं “मधुनाऽऽज्येन लिप्त्वाऽङ्गति भगन्दरम् । सुषलीलवणञ्चान् चारनाल-युतं पिबेत् ॥ सुञ्जीत—“इत्यधिकः पाठः रसेन्दुसार-रसरत्नाकरादिषु दृश्यते । मेघज्यरत्नावल्यात् रसाऽयं “विविधभाण्डकः” इति नाम्ना प्रसिद्धः । रसरत्नाकरे मेघज्यरत्नावल्याच्च “सुषली लघुनञ्चान्” इति पाठः ॥ १११—११४ ॥

चतुरङ्गलेपे—सर्वे सुखमम् । पक्वे भगन्दरे शस्त्रप्रयोगव्य चकर्तव्यतामाह, —नेति ॥ ११५।११६ ॥

हरिद्रादिप्रलेपे—निम्बस्य पत्रं याञ्छाम् । लिप्त्वा इत्यनन्तरं तिष्ठेदिति शेषः । अलम् अतिशयेन, मम्यमित्यर्थः ॥ ११७ ॥

नरास्थितैलप्रयोगे—नरास्थितैललेपेन मानुषास्थिचूर्णतैलाभ्यां लेपेन, मानुषास्थि-निःसृततैललेपेनेति वा ; “लेपो भगन्दरं हृत्वा नरास्थ्यां तैलसेव च” इति योगः रत्नाकरदर्शनात् । “शुष्यति” इत्यत्र “शुष्यति” इति पाठान्तरम् ॥ ११८ ॥

ताम्रप्रयोगे—“मर्द्यं मदयन्ती” इत्यत्र “घर्ममदयन्ती” इति पाठे—घर्ममदयन्ती द्वैष्टिकमङ्गिका इत्यर्थः । योगोऽयं व्रणाधिकारे प्राक् पठितः ॥११९॥

अथ रोपणे मार्जारास्त्रप्रलेपः ।—

त्रिफलाक्वाथसंयुक्त-मार्जारास्त्रप्रलेपनात् ॥१२०॥

अथ चालने त्रिफलाक्वाथः ।—

चालयेत्त्रिफलाक्वाथैर्हृन्वाद्दृष्टभगन्दरम् ॥१२१॥

अथ भूलताप्रयोगः ।—

भूलतोऽयं पिबेच्चूर्णे खररक्तेन संयुतम् ॥१२२॥

अथ कुकुरास्त्रलेपः ।—

श्वानास्त्रलेपनं कार्यं शीघ्रं हृन्वाद्भगन्दरम् ॥१२३॥

मार्जारास्त्रप्रलेपे—“भगन्दरं निहन्वाद्य दृष्टप्रपञ्चं परम्” इति वृन्दीकः
श्रीवाङ्मः द्रष्टव्यः ॥ १२० ॥

त्रिफलाक्वाथे—सर्वे स्युष्टम् । भेषज्यस्त्रावल्यान् त्रिफलेत्यादिना भगन्दर-
नित्यत्वेन उक्तः योगः एक एव पठितः, तथा च—“भगन्दरं प्रत्यहं सुधीतं
त्रिफलाव्याना । त्रिफलारसपिष्टेन मार्जारास्त्रा च लेपयेत् ॥” इति ॥१२१॥

भूलताप्रयोगे—भूलतात्वं चूर्णे गण्डपदचूर्णम् ; “भूलतोऽयम्” इत्यत्र
“भूलतोऽयम्” इति पाठोऽपि स एवार्थः, तस्य भुवस्त्रादुत्पत्तित्वात्, सर्वेष्वेव तन्त्रेषु
“भूनागः” “भूलता” “भूरोहः” इति पाठदर्शनाच्च ; तथा “पिबेत्” इत्यत्र
“लेपः” इति पाठोऽपि तत्र तत्रैव दृश्यते ; यदुक्तं चक्रेण—“खरास्रपकभूनाग-
चूर्णलेपो भगन्दरम्” इति । अस्य व्याख्याया श्रीशिवदासः,—“गर्दभरक्तपकगण्ड-
पदचूर्णलेप इत्यर्थः” इति । एवं योगस्त्राकरे—“गुनोऽस्त्रिभूलता तक्रैः पोषिता
खररक्तवृक्षः । लेपः” इति । तथा भेषज्यस्त्रावली-रसरवाकरयोः,—“खरास्रपक-
भूरोह-चूर्णलेपो भगन्दरम्” इति । खररक्तेन गर्दभरक्तेन ॥ १२२ ॥

कुकुरास्त्रलेपे—श्वानास्त्रलेपनं कुकुरास्त्रप्रलेपनम् ; अत्रापि सिद्धावलीकित-
व्याधेन मच्छूकप्रतिगन्तुसारेण वा “त्रिफलाक्वाथसंयुक्त” इति पाठः पूर्वतः
आकृत्यः ; तथा च शिवदासः,—“गुनोऽस्त्रि इत्यत्र द्वितीययोगे त्रिफलारसोऽपि
पेयार्थं ज्ञेयः ; उक्तं हि—‘गुनोऽस्त्रि वा त्रिफलास्त्रि त्रिफलारसभावितम्’ इति ।”
“श्वानास्त्रि” इत्यत्र “गुनोऽस्त्रि” इति सर्वतन्त्रीयः पाठः साधुः ; महाजनप्रयुक्तत्वात्
सङ्गनीयो वा । योगस्त्राकरे तु श्वानास्त्रिभूलताचूर्णयोरेकज्यमेव प्रयोगो दृश्यते, तच्च
शिवदासतमेव ॥ १२३ ॥

अथ ग्रन्थैर्लक्षणं व्युत्पत्तिश्च ।—

मेदोमांसास्त्रगाः कुर्युर्वृत्तं ग्रन्थितमुन्नतम् ।

दोषाः शोफादिकं तत्र ग्रथनात् ग्रन्थिमाह तम् ॥१२४॥

अथ मेदोमयो अरिमेदादिभक्षलेपः ।—

अरिमेदपलाशानां ग्रन्थिभक्ष विमर्दयेत् ।

भक्षना तेन दत्तः सम्मेदोग्रन्थिविनाशनः ॥१२५॥

अथ मेदोदोषो गुडूच्यादिः ।—

गुडूचीशूरणं निष्क-त्रयमुष्णाम्बुमर्दितम् ।

मेदोदोषद्विरसात्तेन हन्ति रोगश्च पूर्वजम् ॥१२६॥

अथ गण्डमालायामुदयभास्करप्रयोगोपदेशः ।—

गण्डमालां जयत्याशु गुल्मीक्तोदयभास्करः ॥१२७॥

अथ कालस्फोटो पुत्तजीवप्रयोगः ।—

पुत्तजीवस्य मज्जान्तु जलैः पिष्ट्वा प्रलेपनात् ।

कालस्फोटं विषस्फाटं सद्यो हन्यात् सवेदनम् ॥

ग्रन्थ्यादिनिखिलान् रोगान् सर्वरोगाग्रथान् हरेत् ॥१२८॥

उल्लेखमाधर्म्यात् भगन्देरानन्तरं ग्रन्थ्यादिचिकित्साविचारः । तत्रादौ तस्य सामान्यलक्षणं निरुक्तिश्चाह, मेद इति ।—ग्रन्थितं ग्रन्थिवद्भवत् कठिनमित्यर्थः । ग्रथनात् ग्रन्थिवद्भवेत् कठिनत्वात् ॥ १२४ ॥

अरिमेदादिभक्षलेपे—अरिमेदः विट्शुद्धिरः । ग्रन्थिभक्ष अरिमेद-पलाशयोः त्वक्ष्यग्रन्थिवार इत्यर्थः । विमर्दयेत् इत्यत्र ग्रन्थिपुत्तस्थले इति शेषः । दत्त इत्यत्र लेप इति शेषः । सन् नित्यं, नित्यं दत्तः लेप इत्यर्थः ; “सन्” इत्यत्र “स्नात्” इति पाठः सुगमः ॥ १२५ ॥

गुडूच्यादौ—“गुडूची” इत्यत्र “गुड्यापि” इति क्वचित् पाठः । निष्कमयमिति मिलित्वा बोद्धव्यम् । “मेदोदोषद्विरसात्तेन” इत्यत्र “मेदोदोषमशेषेण” इति क्वचित् पाठः । रोगमिति प्रकरणात् ग्रन्थिमित्यर्थः । पूर्वकं दोषं कालोत्थमपीत्यर्थः ॥१२६॥

उदयभास्करप्रयोगोपदेशे—“गुल्मीक्तोदयभास्करः” इत्यत्र “गुल्मीक्तोदयभास्करः” इति युक्तः पाठः, गुल्मे तस्मात्परिहृतत्वात् ॥ १२७ ॥

पुत्तजीवप्रयोगे—पुत्तजीवस्य इष्टुदीफलस्य मज्जाम् अस्त्रिमज्जम् । “जलैः”

अथ सन्धियन्त्रो रक्तस्रावविधिः ।—

सन्धियन्त्रिस्तापयुक्ता यदि स्यात् क्षीरं रात्रावोदनं सन्निदध्यात् ।
पादाङ्गुष्ठस्याग्रदेशेषु रक्त-स्रावं कुर्यात्तेन शीघ्रं सुखी स्यात् ॥
॥१२६॥

अथ कक्षग्रन्थादौ पुच्छजीवप्रयोगः ।—

कक्षग्रन्थिं गलग्रन्थिं कटिग्रन्थिञ्च नाशयेत् ।
अन्यञ्च स्फोटकं तीव्रं पुच्छजीवो विनाशयेत् ॥१२७॥

अथ कालस्फोटं गुञ्जापवादिवर्णम् ।—

गुञ्जापत्रं शिलां यष्टिं गवां क्षीरेण पाययेत् ।
कालस्फोटं निहन्त्याशु मज्जा वा पुच्छजीवजा ॥१२८॥

इत्यथ “चलेः” इति कश्चित् पाठः । कालस्फोटं कृष्णवर्णस्फोटविशेषं
तन्वान्तरोक्तम् । विषस्फोटं विस्फोटम् । “ग्रन्थादिनिखिलान् रोगान् सर्वदेहाशयान्
हरति । तण्डुलीयकवधामू-नागकन्धावरारसे ॥ गोमूत्रे च रसः पिष्टः पुटपक्वो-
ऽर्बुदादिजित । ब्राह्मीपलाशयोः क्राये रीतिपत्रं विनिक्षिपेत् ॥ दिनत्रयं ततस्तानि
पुनस्तेनैव मर्दयेत् । लघुगण्डे समादाय चूर्णकुभाण्डवारिणा ॥ ततस्त्रिवारं कुर्वीत
पुटं करभवारिणा । मर्दयित्वा पुटं दद्यादजामूर्चञ्च भावयेत् ॥ ततोऽप्येकपुटं दद्यात्
तिसन्धिकटभावनाः । आस्तुपर्णोविडङ्गाग्निं जलैरथ विभावितः ॥ एवमेव मुसोसो
रभी वल्मीकस्रद्रवेः । वज्रवधमितो देधो वल्मीके तस्य मृत्प्रा ॥ वल्मीकं संविलिख्येत्
किमिसङ्गप्रशान्ति । रसेरुतरवारुण्याः सधर्मं हन्ति मारुतम् ॥ वासानोरानुपानेन
जयेत् कफसमोरणौ ॥” इति कश्चिदधिकः पाठः ॥ १२८ ॥

रक्तस्रावविधौ—सन्धियन्त्रिः सन्धिदेशश्च यन्त्रिः तापयुक्तः पित्ताधिकत्वात्
यदि दाहसन्तापादिभिः पीडितः । पादाङ्गुष्ठस्य देहस्य यद्वागौघसन्धौ तापयुक्ता
ग्रन्थिर्भवेत्, तत्पार्श्वोऽथपादाङ्गुष्ठस्येत्यर्थः ॥ १२६ ॥

पुच्छजीवप्रयोगे—सर्वे स्पष्टम् ॥ १२७ ॥

गुञ्जापवादिवर्णं—शिलां मण्डिलान् । यष्टिं यष्टिमधुकम् । “कालस्फोटम्”
इत्यथ “तलस्फोटम्” इति कश्चित् पाठः । मज्जा वा पुच्छजीवजा इत्यत्र क्षीरेण
पीता इति शेषः ॥ १२८ ॥

अथ कालस्फोटं विष्णुकान्तादिप्रलेपः ।—

विष्णुकान्ता च पेटारी काष्ठीकेन तु पेषिता ।

कालस्फोटं हरिस्त्रेपाद्दृष्टयन्त्रिषु का कथा ? ॥१३२॥

अथ गन्धादौ पुनर्नवादिप्रलेपः ।—

पुनर्नवाकार्भाभयशिशुमुष्टि-करञ्जसिन्धुत्यमहौषधश्च ।

गोमूत्रपिष्टञ्च सुखोष्णलेपात् ग्रन्थार्बुदं हन्त्यपचीञ्च सद्यः ॥१३३॥

अथ अर्बुद-शोणितार्बुदलक्षणम् ।—

मेदोऽत्र दोषमांसोत्थ-ग्रन्थिरूपं ततो महत् ।

अर्बुदं दुष्टरुधिरं स्रवेत्तच्छोणितार्बुदम् ॥१३४॥

अथ अर्बुदादौ पुटपक्करसः ।—

तण्डुलीयकवर्षाभू-नागकन्यावरारसे ।

गोमूत्रे च रसः पिष्टः पुटपक्कोऽर्बुदादिजित् ॥१३५॥

विष्णुकान्तादिप्रलेपे—विष्णुकान्ता अपराजिता । पेटारी “भापी टुकुरी” इति ख्यातम् ॥ १३२ ॥

पुनर्नवादिप्रलेपे—अभयम् उग्रोरम् । मुष्टिः घण्टापाटला ॥ १३३ ॥

उल्लेखसाधर्म्यात् तुल्यालङ्कारविक्रियतत्वाच्च ग्रन्थग्रन्थरमर्बुदविक्रियते वक्तव्ये प्राक् तस्य भेदानाह, मेद इति ।—“अत्र” इत्यत्र “अस्त्र” इति पाठः साधुः, सुसुतादिभिः रक्तस्यापि कारणत्वेन गृह्यतात्, अप्रापि शोणितार्बुदस्य वक्ष्यमाणत्वाच्च । दाँषः वातादिः । ततः ग्रन्थितः । एवमर्बुदभेदानुज्ञा वातादिजेन ग्रन्थिना तदार्बुदस्य तुल्यत्ववर्णनेन तदभिधानस्य निष्पत्तिर्जन्यतात् विशिष्टलक्षणकं शोणितार्बुदमाह, दुष्टेति ।—स्रवेत् इत्यत्र सत् इति अष्टादशशेषं, यतदोर्नित्य-सम्बन्धात् ॥१३४॥

पुटपक्करसे—तण्डुलीयकः सारिषः “चपानटे” इति भाषा । नागः नागवल्ली । कन्या “घृतकुमारी” इति प्रसिद्धम् । वरा विफला; तण्डुलीयकादीनां रसे गोमूत्रे च प्रारब्धं पिष्टं पुटपाकेन पचयेत् । सेव्ययोगीश्वरम् । “वरारसे” इत्यत्र “वशासिरे” इति पाठान्तरम् ॥ १३५ ॥

अथ अर्बुदे यवक्षारादिलेपः ।—

लिप्तं यवक्षारविडङ्गवीजं गन्धोपलस्यानशनेः कर्तैर्यत् ।

रक्तेन मिश्रैः सरसस्य सद्यः तदर्बुदं शाम्यति नान्यथेतत् ॥१३६॥

अथ गण्डमालाऽपचौकक्षणम् ।—

मेदोत्था गलकक्षवङ्कणतले मग्धाङ्गुलीः कुर्वते

वार्त्ताकोफलकोपमान् सकठिनान् गण्डान् सकण्डून् मलाः ।

यवक्षारादिलेपे—“गन्धोपलस्यानशनेः” तथा “सरसस्य” इत्यत्र “गन्धोपलः-
स्यान्मसृषीकृतेः” तथा “सरसस्य” इति पाठद्वयं समीचीनं तन्मात्तरीयपाठेन
सङ्ग साम्यात् ; तथा च योगरत्नाकरः,—“लिप्तं यवक्षारविडङ्गवीजं गन्धोपलः
स्यान्मसृषीकृतेर्यत् । रक्तेन मिश्रैः सरसस्य सद्यस्तदर्बुदं शाम्यति नान्यथेतत् ॥”
इति । अथ गन्धोपलः गन्धकः । सरसः ककलासः । चक्रदत्ते शुण्ठीयाङ्गी-
नाप्ययं दृश्यते, यदुक्तं—“सरसविदारैर्गन्धक-यवजविडङ्गनागरैर्वाऽथ” इति ।
योगरत्नाकरे तु “यवज” इत्यत्र “नागभस्म” इति पाठः, तथा च—“गन्धशिला-
विश्वौषधविडङ्गनागभस्माभिः समैश्र्यम् । ककलासरक्तयुक्तं लेपात् सद्योऽर्बुदध्वंसि ॥”
इति ॥१३६॥

अथ लक्ष्मिषाधर्म्यात् गुडकसाम्याच्च अर्बुदानन्तरं गण्डमालाऽपचौमाह, मेदोत्था
इति ।—ननु सुश्रुतादौ—“कर्कस्यकोलामलकप्रमाणैः कक्षांसमन्यागलवङ्कणेषु ।
मेदःकफाभ्यां चिरमन्दपाकैः स्याद्गण्डमाला बहुभिश्च गण्डैः ॥ ते गन्धयः केचि-
द्वशासपाकाः स्रवन्ति नश्यन्ति भवन्ति चान्ते । कालानुवत्त्वं चिरमादधाति सैवपूषीति
प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥” इत्यनेन गण्डमालापचौ पृथगेव पठिते, अत्र तु “सा गण्डमाला-
ऽपचौ” इत्यनेन गन्धेन मिलितेव पठिता, तत् किमत्र समाधानमिति चेदुच्यते—
गण्डमालाऽऽरम्भकप्रथम एव पुनः पुनः स्त्रावनाशान्तिथोगात् अपचौसंज्ञां लभन्ते,
एतत् “ते गन्धयः केचित्” इत्यत्र “ते” इत्यनेनेव स्मृतौकृतम् । भोजेनाप्युक्तं—
“वातपित्तकफा इह्या मेदश्चापि समाचितम् । जङ्घयोः कक्षरा प्राप्य मत्स्याश्च सट्टशान्
वहन् ॥ कुर्वन्ति गन्धौलक्षिभ्यः पुनः प्रकुपितोऽनिलः । तान् दीपानूर्ध्वो
वहन्-कक्षामन्यागलाश्रितः ॥ नानाप्रकारान् कुरुते गन्धीन् सा त्वपचौ मता ।
अपचौ कक्षमन्यासु कक्षवङ्कणसन्निधु । गण्डमालां विनागोषादपचौतुल्यवत् ;

पच्यन्तेऽल्परुजः स्रवन्ति नितरां रुह्यन्ति नश्यन्त्यलं
दूर्वेव क्षयवृद्धिभागिनि नृणां सा गण्डमालाऽपची ॥१३७॥

अथ गण्डमालायां सुरवारुण्यादियोगः ।—

सुरवारुण्या मूलं गोमूत्रयुतं महेन्द्रकन्या च ।

अपकरोति गण्डमालां पित्तं श्लेष्मेन परिप्लुष्टम् ॥१३८॥

अथ गण्डमालायां मर्कचीरादिलेपः ।—

अर्कचीरजयापुष्प-तैललाक्षारसैः समैः ।

गण्डमाला शमं याति प्रलिप्ता सप्तभिर्दिनैः ॥१३९॥

णाम् ॥” इति । पच्यन्ते तन्नेऽस्मिन् हेतुमास्यादपृथगेव प्रदर्शिता, तत्तत्तन्ने तु स्त्रावादि-
लक्षणायोगात् वैशिष्ट्यप्रदर्शनार्थं ते पृथक् कृत्वा पठिते इति मन्यव्यम् । मेदोत्थाः
मेदःस्थाः, मला इत्यनेन सम्बध्यते । “वार्ताकीफलकोपमान्” इत्यत्र “वार्ताका-
मलकोपमान्” इति पाठः साधुः, वाग्मटे तादृशपाठदर्शनात् ; यदुक्तं वाग्मटे—
“मेदःस्थाः कण्डमन्थाच्च-कवावहणगा मलाः । सवर्णान् कठिनान् स्निग्धान् वार्ता-
कामलकाकतौन् ॥ अवगाढान् बहून् गण्डान् चिरपाकाश्च कुर्वते । पच्यन्ते-
ऽल्परुजस्तन्ने स्रवन्त्येऽतः कण्डूराः ॥ नश्यन्त्ये भक्ष्यन्त्ये दोषकालानुबन्धिनः ।
गण्डमालाऽपची चेयं दूर्वेव क्षयवृद्धिभाक् ॥ तां त्यजत् सत्त्वरुक्छिदि-पार्श्वरुक्कास-
पीनसाम् ॥” इति । रुह्यन्ति उत्पद्यन्ते इत्यर्थः । दूर्वेव क्षयवृद्धिभागिनी कदाचित्
क्षयं कदाचित् वृद्धिश्च भजते या सा तथाभूता ; क्षयेऽपि वृद्धिं भजते या तथाभूता
इति वा, दूर्वां यथा स्त्रीणाऽपि पुनर्वृद्धिं भजते तथा इत्यर्थः । भागिनि इत्यत्र
ऋक्ष्णान्दसः ॥ १३७ ॥

सुरवारुण्यादियोगे—सुरवारुणी इन्द्रवारुणी । महेन्द्रकन्या महाकालाख्यलता,
श्वेतापराजिता वा, तन्मूलनीकरीगेन सह सादृश्यदर्शनात् महेन्द्रकन्या इति
जम्बूज्ज्वल्य अन्त्यत्र प्रयोगदर्शनाच्च, यदुक्तं श्रीचक्रपाणिना—“ऐन्द्री वा गिरिकर्ण्या
वा मूलं गोमूत्रयोगतः । गण्डमालां हरत् पीत चिरकालोत्थितामपि ॥” इति ।
अत्र ऐन्द्री सुरवारुणी गिरिकर्णी श्वेतापराजिता । पित्तं गोपितम् ; “पित्तम्”
इत्यत्र “पीतम्” इति पाठो युक्तः, अथैककृतिराहित्यात् प्रदर्शितयोगे तथा
दर्शनाच्च ॥ १३८ ॥

मर्कचीरादिलेपे—जया जम्बूती तस्याः पुष्पम् । समैः समभागैः ॥ १३९ ॥

अथ अपचया गिरिकर्णिकाप्रयोगः ।—

पुथ्ये गृहीतं गिरिकर्णिकाया मूलं सिताया गलके निबद्धम् ।
गथ्येन लीढं यदि वा घृतेन निहन्ति घोरामपचीं तदेव ॥१४०॥

अथ गण्डमालायां कुकुन्दरीतैलम् ।—

कुकुन्दरीसाधिततैललिप्ता त्रिभिर्दिनैर्नश्यति गण्डमाला ॥१४१॥

अथ गण्डमालायां सहदेवीप्रयोगः ।—

मूलिका सहदेव्यस्या रवौ ग्राह्याऽथ धारिता ।

गण्डमालाहरा कर्णे महादेवेन भाषिता ॥१४२॥

अथ अपचादौ गुज्रादिलेपः ।—

गुज्राटङ्गणशिशुमूलरजनी-शम्पाकभङ्गातकैः

स्रग्धर्काग्निकरञ्जसैन्धववचा-कुष्ठाभयालाङ्गली ।

वर्षाभूशरभूशिरीषलवण-व्योषाश्चमारा विषं

गोमूत्रैः शमयेदिलिप्तमपची-ग्रन्थार्जुदक्षीपदम् ॥१४३॥

इति श्रीवैद्यपतिमिहगुप्तस्य स्नोवांश्मटाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये कर्णरोग-नासा-

रोग-मुखरोग-गलरोग-मुखपाक-मुखच्छाया-जिह्वा-दन्त-कण्ठरोग-गण्डमाला-

त्रिरोग-यूका-दारुण-केशरोग-व्रणरोग-भग्नरोग-भगन्दरापची-ग्रन्थार्जुद-

कालस्फोटादिचिकित्सितं नाम चतुर्विंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

गिरिकर्णिकाप्रयोगे—पुथ्ये पुथ्यानक्षते । गिरिकर्णिकायाः अपराजितायाः,

सिताया इति पदं गिरिकर्णिकाया विशेषणं, श्वेतापराजिताया इत्यर्थः ॥ १४० ॥

कुकुन्दरीतैले—कुकुन्दरी “कुङ्कुंया” इति ख्यातं, तथा साधितं पक्वम् । अत्र

कुकुन्दर्याः कल्कः तैलपादिकः, जलं चतुर्गुणं सम्यक्पाकाय इति बोध्यम् ॥१४१॥

सहदेवीप्रयोगे—सहदेवी दक्षीत्यला बला वा । रवौ रविचारे ॥ १४२ ॥

गुज्रादिलेपे—रजनी हरिद्रा । शम्पाकः पारग्वधः । शपिः चित्तकः । लाङ्गली

विषलाङ्गली । वर्षाभूः पुनर्नवा । शरभूः शरपुष्पा शरमूलं वा । लवणं सैन्धवम्,

अत्र सैन्धवस्य आगरयं याज्यं । हिक्कतात् ; “लवण” इत्यत्र “वरण” इति पाठे

—वरणः वरुणत्वम् । अश्वमारः कर्बवी ॥ १४३ ॥

इति रसरत्नसमुच्चयबोधिण्यां चतुर्विंशोऽध्यायः समाप्तः ॥ २४ ॥

अथ पञ्चविंशोऽध्यायः ।

अथ चुद्रोगादिचिकित्सनम् ।—

अथ चुद्रोगाणां नामानि ।—

ध्यङ्गः कच्छपनीलिकाकुनखविद्धोत्कोठकोठालसैः

कक्षारुद्धगुदप्रसृतिविहृता-विस्फोटवल्मीकरुक् ।

विस्फः स्यात् कदराजगल्लिजतुमण्यन्धालजोराजिकाः

चुद्रा लान्छनशर्करेति च यव-प्रख्याग्निरोहिण्यपि ॥१॥

जालाश्मगर्दभविदारिमसूरिकाभिः

सत्पद्मकण्टकरुजा सह गर्दभी च ।

स्याच्छर्कराबुदमषाननदूषिकैश्च

गण्डाङ्गया पनसिका त्विरिवेह्लिकेति ॥२॥

अचुद्रनिदानलक्षणचिकित्सितानां ज्वरादीनां निर्देशनं चुद्रनिदानलक्षणचिकित्-
सितानां अङ्गादीनां चुद्रोगाणां पारिग्रह्यात् तच्चिकित्सिते वक्तव्ये चिकित्सायाः
व्याधीनां भेदज्ञानसापेक्षतया आदौ चुद्रोगाणां भेदान् प्रदर्शयति, व्यङ्ग इति ।—
कच्छपः कच्छपिका । विद्वा “इन्द्रविद्वा” इति नाम्ना सुसुतेन पठिता । उत्कोठ-
कोठो तन्नामनरे भिन्नाधिकारे पठितौ । अलसः अलसकः, “पाकुइ” इति व्यातम् ।
रुद्धगुदः सन्निरुद्धगुदः । प्रसृतिः स्पर्शाश्रिता, “वायुनादोरितः श्लेष्मा त्वचं प्राप्य
विघृथयति । ततस्त्वक् जायते पाण्डुः कमेष् च विचिंतना ॥ अल्पकण्डूरविक्षेपो
सा प्रसृतिः प्रसृतिः ॥” इत्यनेन वाम्बटोक्ता ; अरकैश्च त्विद्यम् अशीतिवातविकारेषु
पठिता । “विस्फः” इत्यथ “विष्य.” इति पाठः साधुः, सुसुतवाम्बटयोः विस्फ इति
सञ्ज्ञायास्तद्वचनस्य आदर्शनात् विषयस्य दर्शनाच्च । अन्धालजो क्लृप्तं तन्मे
“अन्धालजो” वाम्बटे च “अलजो” इति नाम्ना पठिता । राजिका शीघ्रपिडका,
“घामाचि” इति प्रसिद्धम् ; तद्वचनं वाम्बटे यथा—“घर्मस्त्रेदपरीतेऽङ्गे पिडिकाः
लक्ष्मी घनाः । राजिकावर्षसंख्यान-प्रमाणा राजिकाङ्गयाः ॥” इति । चुद्रा
तन्नामनः कश्चित् रोगविशेषः । लान्छनं अलक्ष्यं, अलक्ष्यपर्याये लान्छनमिति

अथ क्षुद्ररोगचिकित्सा ।—

अथ क्षुद्ररोगे पर्पटीप्रयोगविधिः ।—

सर्पिषा निम्बचूर्णेन प्रयुक्ता पर्पटी हरत् ।

* मसूरिकाः क्षुद्ररोगानन्यानापि च दुस्तरान् ॥३॥

अथ व्यङ्गे शशरुधिरप्रयोगः जातीफलप्रयोगश्च ।—

तत्कालशस्त्रप्रहतः शशो यस्तस्यासृजा नश्यति लिप्यमानम् ।

व्यङ्गं मुखे जातिफलस्य बाह्य-त्वचाऽथवा सन्ततमेव लिप्तम् ॥४॥

अथ व्यङ्गे इक्षुदीमञ्जप्रयोगः ।—

इक्षुदीफलसमुद्भवमञ्जा पेक्षिताऽतिशिशिरेण जलेन ।

एकविंशतिदिनप्रविलिप्ता व्यङ्गमाननभवं परिमार्ष्टि ॥५॥

पाठदर्शनात्, यथा—“व्यङ्गं जाञ्जुनमुच्यते” इति । शर्करा “यस्य” करोत्यसौ—” इत्यादिना शर्करावृद्धस्य हेतुत्वेन प्रदर्शिता ; यद्यपि शर्कराव्याविशेषं शर्करावृद्धे तैलैलान्नक्रान्तिः क्षिप्तमङ्गाया न गणितं, तथाऽपि अत्र उभयोः पृथग्गृह्यं सम्प्राप्ति-भेदज्ञापनार्थम् । जालाश्लगदंभः जालगदंभः अश्लगदंभश्च पाषाणगदंभ इत्यर्थः । सन्त रोगभेदः । वाम्बटेन तु सत्त्वद्वे न पठिते, पठितौ च चर्मकौलतिलकालकौ, तत् विकाराणामानन्यात् क्वचित् क्वचिदिति कृत्वा सहनोयम् । सह इति आननदूषिकेऽथ इत्यनेन सन्त्वन्वयोऽयम् । मयः मयकम् । आननदूषिकः मुखदूषिका, युवानपिडका इत्यर्थः ; “आननदूषिकेः” इत्यत्र “आननदूषिकेः” इति पाठः साधुः । “गण्डाऽऽह्वया” इत्यत्र “गन्धाऽऽह्वया” इति पाठः साधुः, वाम्बटे “गन्धनामा” इति पाठदर्शनात्, क्वचिन्निश्चये तु “गन्धनामा” इति नाम्ना प्रसिद्धेयम् ॥ १।२ ॥

पर्पटीप्रयोगविधौ—पर्पटी प्रायुक्तः पर्पटीरसः ॥ ३ ॥

शशरुधिरप्रयोग-जातीफलप्रयोगयोः,—तत्कालशस्त्रप्रहतः सद्योविनाशितः ; तत्क्षणमेव शस्त्रेण हतस्य शशस्य क्षतमुत्तिर्गतेन रक्तेन व्यङ्गमालिभ्येदिति । जाती-फलस्य बाह्यत्वचा फलावरकेषु कठिनेनांशेन, फलोपरिस्थेन धूसरेण तनुनांशेन वा । चक्रमङ्गुहे तु “जातीफलकल्कलेपो नीलीव्यङ्गादिनाशनः” इत्यनेन जातीफलस्येव पित्तस्य लेपो निहितः ॥ ४ ॥

इक्षुदीमञ्जप्रयोगे—इक्षुदीफलसमुद्भवमञ्जा इक्षुदीफलास्त्रिशयम् ॥ ५ ॥

अथ कुनखे सुहीचोरादिप्रलेपः ।—

उद्धृत्य कुनखं चौरं सुक्पर्णीं टङ्कणं समम् ।
सम्यङ्गिरुद्धदाहञ्च मूले कृत्वा नखौ भवेत् ॥६॥

अथ कुनखे अभयाप्रयोगः ।—

व्रणपूतिपूयजुष्टं नखविवरं मङ्गु रोपयत्यभया ।
नानाविधैः किमेतैरास्फोतारविकुरण्टकक्षीरैः ॥७॥

अथ कुनखे कुहादिप्रलेपः ।—

सकुष्ठं जौरकं तोयैः पिष्ट्वा लेपेन नाशयेत् ॥८॥

अथ कुनखे पुत्तजीवप्रयोगः ।—

पुत्तजीवस्य वा मज्जां तोयैः पिष्ट्वा प्रलेपयेत् ॥९॥

अथ कचायन्यौ शिग्रुप्रयोगः ।—

शिग्रुमूलं निशातोयैः कचायन्यिहरं लिपेत् ॥१०॥

अथ कचायन्यौ विषादिप्रलेपः ।—

विषं पुनर्नवामूलं जललेपेन तं जयेत् ॥११॥

सुहीचोरादिप्रलेपे—उद्धृत्य शस्त्रेणोत्कृत्येत्यर्थः । चौरं सुक्पर्णीं सुक्क्षीरं पर्णीक्षीरञ्च, पर्णी चात्र समपर्णः, सुहीचोरपर्णीचोरटङ्कणानां समत्वम् । मूले नखमूले ; कुनखं शस्त्रेणोद्धृत्य मूलदेशं दग्ध्वा सुक्क्षीरादिकचकैः लिप्पेदित्यर्थः । नखौ प्रशस्तनखवान् ॥ ६ ॥

अभयाप्रयोगे—व्रणपूतिपूयजुष्टं नखविवरं चिप्पमित्यर्थः । मङ्गु कटिति । नानाविधैः किमेतैः एतैः वक्ष्यमाणैः आस्फोतादिभिर्नानाविधैः किम् ? किं प्रयोजनम् ? एका अभयैव चिप्पं रोपयितुमलम्, आस्फोतादिभिर्नखैः किमपि प्रयोजनं नास्तीत्यर्थः । आस्फोता “हापरमाक्षी” इति प्रसिद्धं, रविः चक्रेः, कुरण्टकः पीतपुष्पा क्लिष्टौ, एषां क्षीरैः क्षीरवन्निर्गच्छैः ॥ ७ ॥

कुहादिप्रलेपे—नाशयेत् इति पदं “व्रणादिजुष्टं नखविवरम्” इति पूर्वोक्तेन सम्बध्यते ॥ ८ ॥

‘पुत्तजीवप्रयोगे—पुत्तजीवस्य मज्जां फलान्धिमध्यम् ॥ ९ ॥

शिग्रुप्रयोगे—निशातोयैः हरिद्राक्षरसैः । कचायन्यिहरं कचाहरमित्यर्थः ॥ १० ॥

विषादिप्रलेपे—तं कचायन्यम् ॥ ११ ॥

अथ सनविद्रधी-क्रियाक्रमः ।—

सर्वेषां स्तनरोगाणां रक्तमोक्षः प्रशस्यते ।

पूयपक्वः स्तनो यः स्वाक्षेपस्तस्यावपाटने ॥१२॥

अथ सनविद्रधिस्फोटने एकवीरप्रयोगः ।—

एकवीरस्य मूलन्तु भजामूत्रेण लेपयेत् ।

तत्क्षणात् स्फुटते पक्वं शस्त्रैर्वा स्फोटयेद्भिषक् ॥१३॥

अथ सनविद्रधिरोपणे यष्ट्यादिचूर्णम् ।—

यष्टीनिम्बहरिद्रा च निर्गुण्डीधातकीसमम् ।

चूर्णं स्तनव्रणे देयं रोपणं कुरुते हितम् ॥१४॥

अथ सनविद्रधिरोपणे दाहवर्तिः ।—

मध्वाज्यैर्देवदारुञ्च पिष्ट्वा वर्त्तिं प्रलेपयेत् ।

पूयपक्वे स्तने क्षिप्त्वा रोपणं कुरुते क्षणात् ॥१५॥

अथ लिङ्गरोगे बोलप्रयोगः ।—

लिङ्गस्याधौ लोहितं स्त्रावयित्वा

पश्चाद्बोलं भक्षयेत्तस्य नुच्यै ॥१६॥

अस्त्रिप्रतिकारे अनुक्तमपि सनरोगं सुद्रष्टुमिच्छादिकत्वेन सुद्ररोग एव अन्तर्भाव्य तद्विकल्पितमाह । तत्र सनविद्रधी क्रियाक्रमे—रक्तमोक्षः शीघ्रप्रादुर्भाव-
नावेषेव जलौकादिना रक्तमोक्षणं कारयितव्यमित्यर्थः । पूयपक्वः पूयेन पूय-
प्रादुर्भावेन पक्वः पाकलक्षणोपपन्न इत्यर्थः । अवपाटने अवपाटनाय स्फोट-
नायेत्यर्थः ॥ १२ ॥

एकवीरप्रयोगे—एकवीरस्य स्नानामस्यातद्वक्ष्यते ; बभ्याककोटिकाया इति
क्षिप्तम् । स्फुटने इत्यस्य स्तन इति पूर्वोक्तिनान्वयः ॥ १३ ॥

यष्ट्यादिचूर्णं—यष्टी ग्रहिमधु । हितं हितकरं, चूर्णमित्यनेनान्वयः ॥ १४ ॥

दाहवर्त्या—“प्रलेपयेत्” इत्यत्र “प्रक्षलेयेत्” इति कल्पना साधीयसी । क्षिप्त्वा
पूयव तिलेदिति शेषः । “क्षिप्त्वा” इति निर्बन्धकारपाठे—सा वर्त्तिरिति शेषः ॥ १५ ॥

सनरीमसङ्गतित्वत् सङ्गत्यैव सनरोगानन्तरं लिङ्गरोगाविकल्पितारम्भः । तत्र
बोलप्रयोगे—लिङ्गस्याधौ उपदेशाद्विङ्गगतरीमे लोहितं रक्तं स्त्रावयित्वा, जलौ-
कादिना इति शेषः । बोलं गन्धरसम् । नुच्यै अपनीदनाय ॥ १६ ॥

अथ लिङ्गपाके उडुम्बरादिबालनम् ।—

उडुम्बरवटाश्लथ-साम्प्रजम्बुत्वचः शृतम् ।

जलैः काथञ्च तेनैव चालयेत्लिङ्गपाकनुत् ॥१७॥

अथ लिङ्गपाके जौरकप्रयोगः ।—

कुमारीरससम्पिष्टं जौरकं लेपयेद्विषक् ।

तेन दाहश्च पाकश्च शममाप्नोति निश्चितम् ॥१८॥

अथ लिङ्गपाके महाशङ्खप्रयोगः ।—

महाशङ्खं जलेर्ष्टुष्टा तेन लिङ्गं प्रलेपयेत् ॥१९॥

अथ लिङ्गरोगे घोण्टादिनिपः ।—

घोण्टा पूगञ्च वा तोयैः सारं वा खदिरोत्थितम् ।

जलैः पिष्टं प्रलेपोऽयं लिङ्गरोगहरः पृथक् ॥२०॥

अथ लिङ्गपाके गन्धकप्रयोगः ।—

सुगन्धकष्टतेर्लेपः पक्कलिङ्गे सुखावहः ॥२१॥

अथ लिङ्गपाके निम्बादिचूर्णम् ।—

निम्बखादिरमस्त्रिष्ठा-चूर्णञ्च पतनं जयेत् ॥२२॥

उडुम्बरादिबालने—त्वचः इति उडुम्बरादिभिः प्रत्येकं सन्ध्यति । शृतं पक्कम् ।
तेनैव उडुम्बरादीनां काथनेनैव ॥ १७ ॥

जौरकप्रयोगे—सर्वं सुगमम् ॥ १८ ॥

महाशङ्खप्रयोगे—महाशङ्खं गरकपालम् ॥ १९ ॥

घोण्टादिनिपे—घाण्टा शृगालकीलिः तस्या मूलम् । पूगः गुवाकः तस्य
फलम् । वा-श्लथः पूर्वयोगापेक्षया । योगरत्नाकरे तु “घोण्टा पूगञ्च वा तोयैः”
इत्यत्र “कुष्ठं पूगं तथा तोयैः” इति पाठान्तरम् । सारं वा खादिरोत्थितम्
अथवा खदिरसारम् ॥ २० ॥

गन्धकप्रयोगे—सुगन्धकः प्रशस्तगन्धकः ; “सुगन्धक—” इत्यत्र “सुगन्धक—”
इति रसरत्नाकरे पाठः ॥ २१ ॥

निम्बादिचूर्णं—पतनं विमोर्धनासमपीत्यर्थः ॥ २२ ॥

अथ लिङ्गप्रयोगोपयोगे सैन्यप्रयोगः । —

अथचिञ्चारसैर्घृष्टं सैन्यं रोपयेत् व्रणम् ।

अन्त्रिः कट्याञ्च जघने शममाप्नोति नान्यथा ॥ २३ ॥

अथ लिङ्गप्रयोगो शिशुप्रयोगः । —

शिशुमूलं त्वचंस्तायैः पिष्ट्वा लेपेन तं जयेत् ॥ २४ ॥

अथ लिङ्गादिमतयस्य कृष्णादिलेपः । —

कृष्णजीरकयोर्लेपस्तोयैर्यन्त्रिप्रशान्तये ॥ २५ ॥

अथ मृत्नादिनतपिडकायाम् अत्रत्यादिप्रलेपः । —

अश्वत्थस्य त्वचो भस्म चूर्णेन सह मिश्रितम् ।

भवनीनं हयोस्तुभ्यं मर्यां तेन विलेपनात् ॥

आसने गुदपाख्यं च कट्याञ्च पिटिकां जयेत् ॥ २६ ॥

अथ लिङ्गादिपिडकायां वाकुचौ-चितकप्रयोगो । —

गोमूत्रैः क्षालयेत्ताञ्च लेपो वाकुचौबीजकैः ।

क्षत्वा कण्डूं निहत्याशु चित्रकं वा गवां जलेः ॥ २७ ॥

सैन्यप्रयोगे—अथचिञ्चार खोरिका । “अथचिञ्चारसैर्घृष्टम्” इत्यत्र “वरीरसेश्च षड्घृष्टम्” इति पाठान्तरम् । व्रणम् औपदेशिकव्रणमित्यर्थः । अन्त्रिरिति प्रकरणात् लिङ्गयन्त्रित्यर्थः, तथा कट्यां जघने च यन्त्रिरिति सम्बन्धः ॥ २३ ॥

शिशुप्रयोगे—त्वचः शिशोरेवेत्यर्थः ; “शिशुमूलत्वचः” इति समस्तपाठे—शिशो-मूलत्वचः ; त्वच इति द्वितीयावद्वचनम् । तं व्रणं यन्त्रिञ्च ॥ २४ ॥

कृष्णादिलेपे—सर्वं स्पष्टम् ॥ २५ ॥

अत्रत्यादिप्रलेपे—चूर्णेन सुधया, “बुध” इति त्रिसिद्धेनेत्यर्थः । आसने नितम्बे इत्यर्थः । पिटिकां पिडकाम्, अत्रापि लिङ्गपिडिकामिति बोध्यम् ; लिङ्गमत-पिडिकां तथा आसनादिषु च पिडिकां जयेदित्यर्थः ॥ २६ ॥

वाकुचौबीजौ-चितकप्रयोगयोः,—तां पिटिकाम् । लेपः, कार्थ्ये इति शेषः । क्षत्वा खरत्रं क्षत्वा इत्यर्थः ; “क्षत्वा” इत्यत्र “पिष्ट्वा” इति पाठान्तरम् । कण्डू-नितम्बापि पूर्ववत् लिङ्गकण्डूमित्यर्थः । गवां जलेः गोमूत्रैः ॥ २७ ॥

अथ लिङ्गादिपिङ्गलायां सर्पाक्षीपयोगः । —

नरमूत्रेण सर्पाक्षीं पिष्ट्वा लेपेन तां जयेत् ॥ २८ ॥

अथ लिङ्गरोगे लवङ्गादिधूमः । —

लवङ्गजानां लवणं कर्पूरं चणसन्मितम् ।

दरदं तोलमानञ्च सर्वं खले विचूर्णयेत् ॥ २९ ॥

ब्रह्मवृक्षं कीकिलाक्षैः सर्वं यत्नेन मर्दयेत् ।

यावत् कज्जलसङ्काशं श्यामताञ्च तथैव च ॥ ३० ॥

चतुर्दशसमा कार्या पूडिका बन्धयेद्विषक् ।

रविवारे समादेया ह्यङ्गारे ह्यगणीह्वये ॥ ३१ ॥

तां निक्षिप्याथ सङ्कोप्य नासिकां विवृतां नयेत् ।

मुखमाच्छाद्य श्वासेन यातायातेन याहयेत् ॥ ३२ ॥

वीटिकापूर्णवदनो द्विवारं कारयेत् सदा ।

एवं सप्तदिनं कृत्वा पश्चात् स्नानादिकं चरेत् ॥ ३३ ॥

पथ्यं निर्लवणं देयं जलं शीतं निषेवयेत् ।

अनन योगराजेन लिङ्गव्याधिः प्रशाम्यति ॥ ३४ ॥

सर्पाक्षीपयोगे—सर्पाक्षी सर्पसङ्गा “पाणिग्रिडलि” इति ख्यातम् । तां कच्छं
पिष्टिकाजातानित्यर्थः ॥ २८ ॥

लवङ्गादिधूमे—लवङ्गजानां लवङ्गचूर्णानित्यर्थः, लवणं पादांशं, तच्च दरदा-
पेवया बोध्यम् । दरदं हिङ्गुलम् । ब्रह्मवृक्षं पलाशवृक्षम् । कीकिलाक्षैः “कुलीखाका”
इति प्रसिद्धैः, सङ्काशं ततोया । अथ दरदादीनां मयाणां समभागता । “यावत्
कज्जलसङ्काशं श्यामताञ्च तथैव च” इति पाठश्चिन्तनीयः, दरदयोगे श्यामताया
अदर्शनात् । पूडिका इति देशीयभाषा, पुरिषा इति ख्यातम् । समादेया याज्ञा ।
ह्यगणीह्वये आरक्ष्यगोमयजे । तां पूडिकाम् । सङ्कोप्य, आत्मानमिति शेषः, वस्त्रादि-
कृतकुटीमध्ये प्रविश्य वस्त्रान्तरेण स्तदेहं गोपायित्वेत्यर्थः, तथाकरञ्च धूमस्य बहि-
निःसरणरक्षार्थं बोध्यम् । निवृतां प्रकाशतां, सर्वदेहं वस्त्रेणाच्छाद्य धूमयद्व्याघ्रं
नासिकाम् चनावृतां आपयेदित्यर्थः । मुखमाच्छाद्य संवृत्य, तथाकरञ्च मुखेन
धूमयद्व्यघ्रविशेषार्थम् । वीटिकापूर्णवदनः धूमयद्व्यघ्रकाले मुखमध्ये ताम्बूलवीटिकां
धारयेदिति ॥ २८—३४ ॥

अथ कण्डू ही काञ्चनीप्रयोगः ।—

क्षेपयेत् काञ्चनीमूलं नरमूत्रेण पेयितम् ।

कण्डूपामा शर्मं याति सर्वाङ्गीणा न संशयः ॥३५॥

अथ पामावां शाखोटककायः ।—

शाखोटस्य त्वचस्तीयेः पक्ता कायं समाहरेत् ।

पिबेन्नोमूत्रसन्तुल्यं पामार्तः सुखमाप्नुयात् ॥३६॥

अथ पादकण्डूहरयोगः ।—

पादकण्डूहरं कुर्यान्नवनीतेन मृङ्गणम् ।

इयारिपत्रधूपेन स्वेदनं तदनन्तरम् ॥३७॥

अथ पाददाहं तिलादिचूर्णम् ।—

पाददाहहरकाये तिलादिगुणवाकुचौ ।

चूर्णिता मधुसर्पिर्भ्यां द्विकर्षं तत्प्रशान्तये ॥३८॥

काञ्चनीप्रयोगे—काञ्चनीमूलं हरिद्राकन्दम् ॥ ३५ ॥

शाखोटककाये—शाखोटस्य “शेफीडा” इति प्रसिद्धम् । अत्र शाखोटककाय-
नीमूत्रयोः समत्वं, पानस्य युक्त्या पलमर्द्धपलं वा ॥ ३६ ॥

पादकण्डूहरयोगे—मृङ्गणं मर्दनमित्यर्थः । योगरत्नाकरे श्लोपदधिकारोक्ते-
ऽपिन् योगे “मृङ्गणम्” इत्यत्र “माञ्जिणम्” इति पाठः, किञ्च तत्र करवीरपत्र-
धूपस्योक्तेः नास्तीति । इयारिपत्रधूपेन करवीरपत्रधूपेन ; आदौ नवनीतेन पादा-
वध्यन्त्य पश्चात् करवीरपत्रेण धूपयेत् ॥ ३७ ॥

तिलादिचूर्णे—पाददाहहरकाये पाददाहनाशकद्रव्यकृते काये, पिष्टमसूरविदल-
काये इत्यर्थः, यदुक्तं भावमिश्रेण—“मसूरविदलेः पिष्टेः शृतशोतेन वारिणा ।
चरणी क्षेपयेत् सत्यक् पाददाहप्रशान्तये ॥” इति । तिलात् द्विगुणवाकुचौ, भाव्या
इति शेषः, तिलस्यैकं भागं वाकुच्याश्च द्वौ भागौ पिष्टमसूरविदलकायेन भावयै-
दित्यर्थः । तच्चूर्णे द्विकर्षं मधुसर्पिर्भ्यां, जिह्वादिति शेषः । तत्प्रशान्तये पाददाह-
प्रशान्तये । योगरत्नाकरे श्लोपदधिकारस्यामुक्तः “पाददाहहरं तिलादिगुण-
वाकुचेः । चूर्णन्तु मधुसर्पिर्भ्यां कर्षमार्तिप्रशान्तये ॥” इति पाठः समीचीनतया
प्रतिभाति ॥ ३८ ॥

अथ पादकण्डूहरयोगान्तरम् ।—

पादकण्डूविनोदार्थं नवनीतेन मृच्छणम् ॥३८॥

अथ पादस्फुटने पथ्यामर्दनम् ।—

पथ्या घृतेन सञ्चूर्णं मर्दनं करपादयोः ।

स्फुटितत्वनिवृत्त्यर्थं—”

॥४०॥

अथ कदरे यवचिञ्चादिकषायः ।—

“—यवचिञ्चार्द्धपक्वया ।

शिलादिना कृते भेदे षड्गुणञ्च द्रवं क्षिपेत् ॥४१॥

अथ विपादिकायां गुडादिप्रलेपः ।—

गुडगुग्गुलुसिन्दूरमुशीरं गैरिकं मधु ।

मदनं घृतसंयुक्तं पादस्फुटे प्रलेपयेत् ॥

सप्ताहात् स्फुटितौ पादौ स्यातां पङ्कजसन्निभौ ॥४२॥

पादकण्डूहरयोगान्तरे—सर्वे स्पष्टम् । पूर्वोक्तयोगे नवनीतेन मर्दमानन्तरं करबीरपत्तेश्च धूपप्रयोगः उपदिष्टः, अत्र तु धूपप्रयोगाभावात् योगान्तरोऽयमिति मत्तयम् । योगरत्नाकरेऽपि एवमेवोक्तं, नञ्च प्रदर्शितमेव । “मृच्छणम्” इत्यत्र “भञ्छणम्” इति कश्चित् पाठः ॥ ३८ ॥

पथ्यामर्दने—स्फुटितत्वनिवृत्त्यर्थं पादस्फुटनप्रश्नमनाथं पथ्याः सञ्चूर्णं घृतेन सह करपादयोः मर्दनं कार्यम् ॥ ४० ॥

यवचिञ्चादिकषाये—शिलादिना कडूरादिना भेदे कृते विद्धे, पादे इति शेषः, कदरे इत्यर्थः, यवचिञ्चार्द्धपक्वया यवचिञ्चायाः क्षीरिण्याः अर्द्धेन सह पक्वया, अत्र पथ्या इति पदं पूर्वत आगत्य विभक्तिविपरीत्यामेव तृतीयान्ततया योजनीयं, ततश्च पथ्या इत्यर्थः, एवञ्च पथ्याया एको भागः यवचिञ्चायाश्च अर्द्धौ याव्यः ; मर्दनं कार्यं परोपेक्षी वा कार्यः इति शेषः । पाकाद्ये कियन्मानो द्रवो देहः ? इत्यत्र आह, षडिति ।—पथ्यायवचिञ्चयोः षड्गुणं लब्धं पाकाय देयमित्यर्थः ॥४१॥

गुडादिप्रलेपे—मदनं सिक्थकं, चकदतसंवादात् ; अपरञ्च—तत्र सिन्दूरी-क्षीरयोः प्याने सर्जरसमेखने इति पाठः ; तथा च—“सर्जरससिन्धुसम्भवगुग्गुलु-महिषाचनैरिकं सघृतम् । सिक्थकमेतत् पक्वं पादस्फुटनापहं विद्धम् ॥” इति ।

अथ विपादिक्तायां मदनादिप्रलेपः ।—

मदनं सिक्थकं तुल्यं सामुद्रं लवणं तथा ।

महिषीनवनीतेन सुतमालेपनाद्भवेत् ॥

समाह्वात् स्फुटितौ पादौ जायेते कमलोपमौ ॥४३॥

अथ कण्डादौ रसादिप्रलेपः ।—

रसं गन्धं समं मद्यं द्वाभ्यां तुल्यञ्च काञ्चनम् ।

दिनैकं चित्रकद्रावैः पिष्ट्वा लेपं प्रकारयेत् ॥

कण्डूगण्डं खुडं हन्ति गुल्फयोरन्तरित्यतम् ॥४४॥

अथ स्वरभङ्गे रसादिवाटिका ।—

धात्रीफलरसक्षीरैः पानं स्यात् स्वरभङ्गनुत् ॥४५॥

अथ स्वरभङ्गे देवदारुवादिचूर्णम् ।—

देवदारुकणाव्योष-शताह्वापत्रकं शिला ।

वचासैन्धवशिग्रून्मूलं पेथ्यं समं समम् ॥४६॥

“उतत् सर्वं समभागमेकौकृत्य मनाक् पक्त्यं, यथा सिक्थकाकृतिर्भूत्वा लेपयोग्यं भवति” इति तट्टीकायां शिवदासीनकृतम्; अत्रापि याज्ञः इति ॥ ४२ ॥

मदनादिप्रलेपे—मदनं सिक्थकं मदनापराध्यं सिक्थकं, न तु भक्तादिसिक्थकमित्यर्थः; मदनं मदनफलं, सिक्थकमिति वा । सुतमालेपनात् महिषीनवनीतेन सह मदनसामुद्रलवणे पिष्ट्वा उष्णप्रलेपात् । “भवेत्” इति पदं “तुल्यम्” इत्यनेन सम्बध्यते, मदनं सिक्थकं तथा सामुद्रलवणं तुल्यं भवेत् गृह्योद्यदित्यर्थः । ४३ ॥

रसादिप्रलेपे—काञ्चनं हरितालम् । गण्डं मांससञ्चयविशेषं यत्किञ्चित् वा । खुडं खुडकाऽऽख्यवातं वातरक्तरूपां वा । गुल्फयोः पादतलजङ्घयोः सन्धियाम्; गुल्फौ नाम मर्म तयोः ॥ ४४ ॥

रसादिवाटिकायां—पूर्वोक्तमेव रसगन्धादिद्रवतमोषधं धात्रीफलरसक्षीरैः आमलकीस्वरसदुग्धैः; “धात्रीफलरसः क्षीरैः” इति असमस्तपाठे—धात्रीफलरस एव क्षीरैः सह पानं कार्यमित्यर्थः । अक्षपाणिना तु धात्रीफलचूर्णं पानमेव क्षीरेण उपदिष्टम्; तथा च—“गोपयसा पीतं वाऽऽमलकचूर्णञ्च” इति ॥ ४५ ॥

देवदारुवादिचूर्णं—व्योष इत्युक्ताऽपि कणाथाः पृथगुक्तेऽहं पित्तव्याः भागद्वयम् ॥

कर्षकं मधुसर्पिभ्यां मासमात्रं सदा लिहेत् ।

मासैकं कर्षकर्षश्च किन्नरैः सह गोयते ॥४७॥

अथ गलदाह्ने सैन्धवादिचूर्णम् ।—

सैन्धवेन्द्रयवं रात्रौ भरिचञ्चोष्णवारिणा ।

पाययेत् कर्षमात्रम् गलदाहप्रशान्तये ॥४८॥

अथ गलदाह्ने करञ्जमञ्जा-पथ्याप्रयोगौ ।—

करञ्जबीजमज्जान्तु द्विनिष्काञ्चोष्णवारिणा ।

गलदाहहरं खादेत् पथ्या वा चौद्रसंयुता ॥४९॥

अथ स्नानवर्द्धने बलादिप्रलेपः ।—

बलानागबलाकुष्ठ-त्वचां चूर्णञ्च लेपयेत् ।

महिषीनवनीतेन स्नानी पीनी स्थिरौ भवेत् ॥५०॥

अथ स्नानवर्द्धने खेदनस्यम् ।—

श्यामानिशबलाराजी-लवणं क्वाथयेत् समम् ।

तीयैरष्टगुणैरेव पादशेषं समाहरेत् ॥५१॥

पत्रकं नेत्रपत्रम् । शिला मन्.शिला । कर्षकमिति ।—प्रथमे मासि एककर्षे मधु-
सर्पिभ्यां लिह्यात्, द्वितीये मासि च कर्षकर्षे कर्षद्वयं ताभ्यां लिह्यादित्यर्थः ; यथा—
कर्षकर्षे कर्षस्य विभीतकफलस्य कर्षम् ; अकदत्ते विभीतकफलस्य स्वरभेदे प्रयोग-
दर्शनात् ; एवञ्च प्रथमे मासि देवदावादिनृणं कर्षे द्वितीये च मासि विभीतकचूर्णकर्षे
मधुपुष्टाभ्यां लिह्यादित्यर्थः ॥ ४६।४७ ॥

सैन्धवादिचूर्णं—गलदाहप्रशान्तये अस्यपित्तदौ जातस्य कण्ठदाहस्य प्रशमाये-
त्यर्थः ॥४८॥

करञ्जमञ्जाप्रयोगे पथ्याप्रयोगे च—करञ्जबीजमञ्जा नाटाकरञ्जबीजास्त्रि-
जस्यम् ॥ ४९ ॥

बलादिप्रलेपे—नागबला गोरक्षतण्डुला । त्वक् गुह्यत्वक् । भवेदिति एकवचन-
प्रयोगः वैदिकत्वात् साधुः । “त्वचाम्” इत्यत्र “वचाम्” इति पाठः साधुः, तन्मात्रे
तथा दर्शनात्, तथा च चक्रपाणिः,—“महिषीनवनवनीतं व्याधिवलीया तथा
नागबला । पिष्टा मदनशीमात् पीनी कठिनी स्नानी कुर्वते ॥” इति । अथ व्याधिः
कुष्ठम् उवाच ॥ ५० ॥

खेदनस्ये—श्यामा प्रियङ्गुः, सनीत्यापनखेहे शिवदासेन श्यामाशब्दस्य तथा-

तिलतैलं क्वाथपादं तैलाह्नं माहिषं घृतम् ।

खेहशेषं पचेत्तेन नखेन मासमात्रके ॥

बालादिद्वन्द्वनारौणां यौवनं कुरुतेऽङ्गुतम् ॥५२॥

अथ क्षणविद्रधौ कुरुवकृतैलम् ।—

कुरुवत्वक्कषायेण तत्कल्केन च साधितम् ।

तैलन्तु वनितानाञ्च कुचकुम्भव्रणापहम् ॥५३॥

अथ क्षणविद्रधौ शुल्बप्रयोगः ।—

शुल्बचूर्णं रसे जीर्णं मदयन्ती पुनर्नवा ।

मेघशृङ्गीरसखैता व्रणशोषणरोपणम् ॥५४॥

अथ स्नायुके कुम्भीप्रयोगः ।—

कुम्भीपुष्पाणि चाऽऽदाय गिलयेद्रविवासरे ।

यावत्सङ्क्रान्तिं पुष्पाणि तावद्वर्षाणि स्नायुकः ॥

न निर्याति न सन्देहः सिद्धयोग उदाहृतः ॥५५॥

विधायकरसात् । राज्ञी रक्तसर्पपः ; “राज्ञी” इत्यत्र “लाजा” इति पाठे—लाजा जताञ्जलिः, सूर्यभक्ता इत्यर्थः, अञ्जलिकारिकेति ख्यातं, लाजालुया इत्यन्ते, लज्जा-वतीति कुवचित् । लवणं सैन्धवम् । “तोयैरष्टगुणैः” इत्यत्र “तोये चतुर्गुणे” तथा “पचेत्तेन नखेन मासमात्रके” इत्यत्र “पचेत्तैलं नखेन मासमात्रकेः” इति रसरत्नाकरे पाठान्तरद्वयम् । अत्र तैलघृते एकीकृत्य मिश्रकः खेहः पक्तव्यः । अकल्कीयम् । अक्षेयं तु एतदनुषङ्गं खेहान्तरं पठितं, तद्वयथा—“गोमहिषीघृतसहितं तैलं श्यामाज्जताञ्जलि-वचाभिः । सकटुका निशाभिः सिद्धं तस्य क्षणोत्थापनं परम् ॥” इति ॥५१॥५२॥

कुरुवकृतैलम्—कुरुवत्वक्कषायेण भिच्छटीमूलत्वक्कायेन तैलचतुर्गुणेन । तत्कल्केन कुरुवत्वक्कल्केन खेहचतुर्गुणेन ॥ ५३ ॥

शुल्बप्रयोगे—शुल्बचूर्णं रसे जीर्णं पारदेन सह मारितं ताम्रचूर्णम् । मदयन्ती मज्जिक्वामेदः । शुल्बचूर्णादिकं मेघशृङ्गीरसेन पिष्टा योग्यमात्रया सेवनीयं, प्रत्येकं वा दृढकं दृढकं उपयोज्यम् ॥ ५४ ॥

कुम्भीप्रयोगे—कुम्भी स्नानप्रसिद्धः कोरुचदेशीयपुष्पवृक्षविशेषः, तदभावे पाटला वाच्या, तस्याः पुष्पाणि । स्नायुकः “नहृदया” इति नाम्ना पश्चिमे ख्यातः रोगविशेषः ॥ ५५ ॥

अथ भक्षकलक्षणम् ।—

येन भक्षीभवन्त्याशु भक्षितान्यखिलान्यपि ।

वस्तूनि स क्षुधारूपो व्याधिर्भक्षक उच्यते ॥ ५६ ॥

अथ श्लोपदस्य सम्प्राप्तिक्षणम् ।—

कफोत्तरा रक्तचलाश्रिता मलाः

पादव्यधः कायमुपाश्रिताः शनैः ।

कुर्वन्ति शोफं घनमाह श्लोपदं

तत् कर्णनासादिषु पादवद्भवेत् ॥ ५७ ॥

अथ श्लोपदे चक्रेश्वरी रसः ।—

ताम्रचूर्णमसं सूतं शुद्धं मर्यं दिनत्रयम् ।

नागवल्लीमेघनाद-पाठापौनर्नवद्रवैः ॥ ५८ ॥

भक्षकलक्षणमाह, येनेति ।—रोगीऽयं तन्नाम्नरे अधिमान्द्याद्यधिकारे पठितः, अस्मिन्नु द्रष्टुंलिङ्गादिसाधर्म्यात् शुद्ररोगाधिकारे पाठः न दोषावहः । भक्षक इति तोष्णाग्नेर्नामान्तरम् ॥ ५६ ॥

श्लोपदस्य सलक्षणसम्प्राप्तिमाह, कफोत्तरा इति ।—कफोत्तराः कफप्रधानाः रक्त-चलाश्रिताः चक्षुःशब्देनात्र शाखा उच्यते, रक्तेन चलेन शाखागतेन आश्रिताः शाखास्य-रक्तसंश्रिता इत्यर्थः । “रक्तचलाश्रिताः” इत्यत्र “रक्तपलाश्रिताः” इति पाठः साधुः वाग्भटसंवादात् ; अस्मिन् पक्षे—पलं मांसं, रक्तपलाश्रिताः रक्तमांसाश्रिताः ; तथा च —“प्रस्थिता बहुष्वोर्वादिभ्यः कायं कफोल्लेखाः । दोषा मांसास्रगाः पादौ कालेनाश्रित्य कुर्वते ॥ शनैः शनैर्घनं शोफं श्लोपदं तत् प्रचक्षते ॥” इति । मलाः वातादयो दोषाः शनैः अधःकायमुपाश्रिताः बहुष्वोर्वादिकं संश्रिताः, पादेषु इति व्यक्त्य-पेक्षया बहुवचनम् ; घनं निविडं, प्रवृद्धमित्यर्थः, शोफं कुर्वन्ति, तत् श्लोपदमाह, पादवत् कर्णनासादिषु, अपिरत्र अध्याहरणोऽयः, कर्णनासादिव्यपि, आदिपदेन करणयनशिश्रौष्ठानां गृह्यणम् । तन्नाम्नरेषु तु कर्णादेगतश्लोपदेषु निर्दिष्टसम्प्राप्ति-लक्षणयोगात् केषांचिन्नतमिदमिति ज्ञत्वा प्रदर्शितं तत्, यदुक्तं—“करकण्ठनेत्र-शिश्रौष्ठनासास्यपि केषिदाहुः” इति । वाग्भटेनाप्युक्तं—“पाणिनासीष्ठकर्णेषु वदन्त्येते तु पादवत्” इति । सुसुतोऽपि—“कर्णांचिनासिष्ठोष्ठेषु केषिदिच्छन्ति तदिदः” इत्याह ॥ ५७ ॥

चक्रेश्वरी—“ताम्रचूर्णमसं सूतम्” इत्यत्र “ताम्रं मर्यं समं सूतम्” इति रसरत्ना-

गोमूत्रे मर्दयेद्गाढं चक्रयन्त्रे दिनं पचेत् ।

मासैकं भक्षयेत् क्षौद्रैः क्षीपदी च पिबेदनु ॥ ५८ ॥

खादिरं शङ्खकीकाष्ठं क्षौद्रश्चाशनकाष्ठकम् ।

गवां मूत्रैः समं पिष्ट्वा पिबेत् क्षीपदनाशनम् ॥ ६० ॥

अथ क्षीपदे गुडूच्यादिलेपः ।—

गुडूचीकटुकाशुण्ठी-देवदासविडङ्गकम् ।

पिष्ट्वा गोमूत्रसंयुक्तो लेपः क्षीपदनाशनः ॥ ६१ ॥

अथ वल्मीके बहुभावितपित्तलप्रयोगः ।—

ब्राह्मीपलाशयोः क्वाथे रीतिपत्रं विनित्तिपेत् ।

दिनद्वयं ततस्तानि पुनस्तेनैव घर्षयेत् ॥ ६२ ॥

लघुभाण्डे समादाय चूर्णं कुष्माण्डवारिणा ।

महस्त्रिवारं कुर्वीत पुटं करभवारिणा ॥ ६३ ॥

कारधृतः पाठः । दिनद्वयनिति ।—नागवज्रादीनां प्रत्येकस्वरसेन दिनद्वयं मर्दम् ।
गाढं प्रगाढम् । चक्रयन्त्रे —“गर्तवाद्ये भवेद्गर्तो मध्यगर्ते रसं कुरु । चक्रयन्त्रमिदं
निष्ठं वाद्ये गर्ते बहत् पुटम् ॥” इत्यनेन अग्निसंज्ञितोक्ते । “मासैकम्” इत्यत्र
“मासैकम्” इति पाठान्तरम् । शङ्खकीकाष्ठं शङ्खकी शाखभेदः, तस्याः काष्ठं सार-
नित्यर्थः । अशनकाष्ठकम् अशनः पीतशाखः तस्य काष्ठं सारम् । रसरत्नाकरे तु—
“खादिरम्”— इत्यादौ “खादिरं पद्मकाष्ठस्य मधुनचाष्टमाषकम्” इति पाठान्तरम् ।
भेषज्यरत्नावल्यां पुनः,—“निम्बं खादिरसारस्य मधुना चाष्टमाषकम्” इति
पाठः । तान्त्रचूर्णादिकं नागवज्रादीनां प्रत्येकेन दिनद्वयं मर्दयित्वा गोलं विधाय
चक्रयन्त्रे दिनमेकं पचेत्, खाद्यश्रोतं समुद्धृत्य विचूर्ण्य च माषमात्रां युज्या
अग्निसमां वा मात्रां मधुना सह लिख्यात्, खादिरादिकञ्च गोमूत्रे पिष्ट्वा अनुपानं
कुर्वीतेति ॥ ५८—६० ॥

गुडूच्यादिलेपे—सर्वं भुगमम् । सुच्यते तु “गुडूची—” इत्यादौ “विषकम्”
इत्यधिकपाठो दृश्यते ॥ ६१ ॥

बहुभावितपित्तलप्रयोगे—पलाशः पलाशमूलत्वक् । रीतिपत्रं पित्तलपत्रं
कण्टकवेष्टाङ्गम् । तानि रीतिपत्राणि । तेन ब्राह्मीपलाशयोः क्वाथेन सहित्यर्थः ।
क्वाथे रीतिचूर्णे, वर्षयन्निमित्ताशयः । कुष्माण्डवारिणा इत्यत्र सह मर्दयित्वेति शेषः ।

मर्दयित्वा पुटं दद्यादजामूत्रेण भावयेत् ।
 ततोऽप्येकं पुटं दत्त्वा तिस्रस्त्रिकटुभावनाः ॥६४॥
 अमर्यजाविडङ्गाग्नि-गोजलैरथ भावितः ।
 प्रतिमेषः सुसंशुद्धो रसो बलीकमृदसैः ॥ ६५ ॥
 वल्लत्रयमितो देयो बलीके तस्य मृत्स्त्रया ।
 बलीकं संविलिख्यैतत् क्षमिसङ्घप्रशान्तये ॥६६॥
 रसैरुत्तरवाक्याः सभ्रमं हन्ति मारुतम् ।
 वासानौरानुपानेन जयेत् कफसमीरणम् ॥६७॥

अथ स्थौले विडङ्गादिचूर्णम् ।—

विडङ्गं नागरं चारं काललोहरजो मधु ।
 यवामलकचूर्णञ्च योमोऽतिस्थौल्यदोषजित् ॥ ६८ ॥

मद्यत् इति पदं पुटनियमेन सम्बध्यते, मद्यापुटनित्यर्थः ; तद्वचनस्य दशमाध्याये
 मृग्यम् । करभवारिषा करभः चट्टः करिशावकी वा तस्य वारिषा मूत्रेण ।
 तिस्रस्त्रिकटुभावनाः तिस्रस्तिस्रिकटुकायेन त्रिवारं भावयेदिति । अमरो नीलनिर्गुण्डो ;
 जलैरिति पदम् अमर्यादिभिः प्रत्येकेन सम्बध्यते, अमरोरसेन क्षाममूत्रेण विडङ्ग-
 कायेन चिवककायेन गोमूत्रेण चेत्यर्थः । “प्रतिमेषः” इत्यत्र “प्रातरेषः” इति
 पाठकल्पना अश्वबोधानुकूला इति सुधीर्भिर्विभाव्यम् । बलीकमृदसैः बलीकः
 कृशिकाख्यकोटविशेषकृतमृत्तिकासूपः तस्य मृदसैः बलीकमृत्तिकाया जलेना-
 लोडितायाः किमृत्कालं स्थापितायाश्च उपरिस्थलस्य जलैरित्यर्थः । बलीके बलीकाख्य-
 भृदरोगे । तस्य मृत्सुत्रा बलीकमृत्तिकाया । एतदिति पदं बलीकमित्यनेन सम्बध्यते ।
 क्षमिसङ्घप्रशान्तये बलीकरोगे रक्तादिसंघकोटसमूहविनाशाय । उत्तरवाक्याः
 गौरवककंठ्याः ॥ ६२—६७ ॥

विडङ्गादिचूर्णम्—चारं यवचारः, अत्र चारशब्दस्य नपुंसकलिङ्गता चिन्तनीया ।
 सिद्धयोगे तु—“विडङ्गनागरचार-काललोहरजो मधु” इति समस्तपाठः । “काललोहरः”
 ब्रज्यादिः, अस्य चूर्णे मारचपुटननियमं याच्यम् । यैव सर्वचूर्णानामेव समभागे
 यादवन्ति, किन्तु लोहस्य मद्यावोध्यत्वेन प्राधान्यात् इतरलिखितचूर्णसमत्वम् ।
 लोहस्याधिको भागः, मधुना चाभावलेहः इत्यप्याहुः” इति शिवदासव्याख्या ॥६८॥

अथ स्त्रीत्ये विफलादि-पद्मादिकथायौ ।—

वरासनाम्नयः पत्र-निशाकाथं मधुप्लुतम् ।

द्विरदस्थूलदेहोऽपि पिबेन्मासात् कथो भवेत् ॥ ६८ ॥

अथ विपरीतरतिजन्मव्याधिलक्षणम् ।—

विपरीते रते प्राप्ते लिङ्गे दाहः प्रजायते ।

कार्श्यञ्च सर्वगान्धेषु—”

॥ ७० ॥

अथ विपरीतरतिजन्मव्याधिप्रतीकारः ।—

“—तत्प्रतीकार उच्यते ।

प्रत्यग्रस्तन्निवध्यैव लिङ्गे चोषणमाचरेत् ॥ ७१ ॥

क्षणे त्वेतस्य सञ्जाते चालयेच्छीतलाम्बुना ।

कोलनिर्यासमादाय पाययेत्तं सशर्करम् ॥

शास्त्रलोदूर्वयोर्मूलो-रसपायसमाशयेत् ॥ ७२ ॥

विफलादि-पद्मादिकथायौः,—वरा विफला, असनः स्नानामग्न्यातः शालभेदः, अग्निः चिवकः ते ; वरासनाग्रयः इति पृथक्पदकरणात् “वरासनाग्रयः” तथा “पत्र-निशाकाथम्” इति यागद्वयम् । मधुप्लुतमिति पदं लिङ्गवचनविपरीतामेव उभयत्रापि सम्बध्यते । वरासनाग्रयः काथरूपाः कल्करूपा वा मधुप्लुताः, प्रयोज्या इति शेषः, प्लवं सञ्जातिः करणीया ॥ ६८ ॥

विपरीतरतिजन्मव्याधिलक्षणमाह, विपरीते इति ।—विपरीते रते प्राप्ते दुष्टशून्यशून्यादिषु रतिकर्मणि प्रवृत्ते इत्यर्थः ; यदि वा—उत्तानभावेन तत्र प्रवृत्ते, पुरुषे इति शेषः ॥ ७० ॥

विपरीतरतिजन्मव्याधिप्रतीकारे—प्रत्यग्र इत्यस्य प्रतीकार इत्यनेन सम्बन्धः, प्रत्यग्रः अभिनवः, सद्य इत्यर्थः । प्रतीकारमाह, तदिति ।—एतस्य लिङ्गदाहिनः पुंसः सञ्जाते, दाहे इति शेषः, क्षणे तत्क्षण एव तत् लिङ्गं निवध्य वस्त्रादिना आवेष्ट्य लिङ्गे चोषणमाचरेत् आक्षुण्णक्रियां कुर्यात्, करेण अनुलोमं मर्दयेत् इत्यर्थो वा, तच्च लिङ्गनालसञ्चितदीपनिःसारणार्थं कर्तव्यमिति बोध्यम् ; अनन्तरं शीतलाम्बुना चालयेत् । किञ्च कोलनिर्यासादिक तथा शास्त्राख्यादिकञ्च पाययेत् । कोल-निर्यासं बदरकाथम् । सशर्करं शर्कराप्रचेषयुक्तम् । शास्त्रलोदूर्वयोः मूलोरसपायसं मूलानुलिप्ततरुजतपायसम् ; यद्वा—मूलोरसः शतमूलोरसः, शास्त्रलोदूर्वयोः रसः

अथ उपदंशादिप्रतीकारः ।—

पुरुषस्याधिनृत्यर्थं रक्तक्लावी हि पृष्ठके ।

भक्षणं बोलवद्वस्य मत्स्याक्षीमूललेपनम् ॥७३॥

जानुरुग्न्यनुत्थर्थं यवचिञ्चाः प्रलीपयेत् ।

सामुद्रकाञ्चिकाभ्यां हि लेपं विधेहि सत्वरम् ॥७४॥

अथ रक्तविक्षतौ बोलवद्वसप्रयोगोपदेशः ।—

सर्वरक्तविकारेषु बोलवद्वस्य सेवनम् ॥७५॥

अथ अस्थिभग्ने लाक्षादिप्रलेपः ।—

मेघीक्षीरं द्रवं चूर्णं कटुतुम्बे विनिक्षिपेत् ।

प्रलीपनेन मातत्यादस्त्रिभग्नः प्रशाम्यति ॥७६॥

अथ स्नायुके अस्थ्यग्निरप्रयोगोपदेशः ।—

स्नायुकस्यापनुत्थर्थमस्थ्यग्निरप्रवेशनम् ॥७७॥

शतमूलोरसश्च तैः कृतं पायसं, स च अनुरूपं तण्डुलं दत्त्वा पक्तव्यः । आशयेत् भोजयेत् ॥ ७१।७२ ॥

उपदंशादिप्रतीकारे—पुरुषस्याधिनृत्यर्थम् उपदंशादिलिङ्गरोगापनोदनार्थम् । पृष्ठके लिङ्गपृष्ठे लिङ्गमध्ये इत्यर्थः, “स्निग्धस्निग्धशरीरस्य ध्वजमध्ये शिराव्यधः” इति चरुपाण्युक्त्या पुरुषरोगे लिङ्गमध्ये शिराव्यधस्य विहितत्वात् । बोलवद्वस्य रक्तपित्तादाधिकारे कासचिकित्सितोक्तस्य । मत्स्याक्षी शालिखः तस्य मूललेपनं, लिङ्गे इति शेषः । जानुरुग्न्यनुत्थर्थं रोगस्यास्य परिपाके आमवातादिका विविधा रोगा ज्ञायन्ते, तवामवाते जातायाः जानुरुजः तथा गन्धस्य गन्धिवेदनाया इत्यर्थः ; गन्धि-शब्देनाव गन्धिकृद् बोद्धव्याः ; नृत्यर्थम् अपनोदनार्थम् । यवचिञ्चा क्षीरिणी । सामुद्रः समुद्रफेनः क्षौधान्नरवचा वा “तोपचिनि” इति ख्यातम् ॥ ७३।७४ ॥

बोलवद्वसस्य प्रयोगोपदेशे—सर्वरक्तविकारेषु उपदंशादौ हि रक्तं विक्षतं जायते अत एव तज्जनितेषु रक्तविकारेषु तथा अन्येष्वपि रक्तविकारेषु इत्यर्थः ॥७५॥

लाक्षादिप्रलेपे—द्रव द्रवरसां, लाक्षाभित्यर्थः, भग्नहितत्वात् । “मेघीक्षीरद्रवम्” इति मननपाठे तु—मेघीक्षीरेण सह लाक्षाभित्यर्थः । चूर्णं सुधान् । विनिक्षिपे-दित्यत्र विराचयितुं शेषः ॥ ७६ ॥

अस्थ्यग्निरप्रयोगोपदेशे—स्नायुकस्य “नक्षत्रा” नास्तीति पश्चिमदेशे ख्यातस्य रोग-

अथ योनिव्यापनिदानम् ।—

दैवेनातिरते स्त्रीणां विषमोत्कटकासनात् ।

जायन्ते व्यापदो योनौ दुष्टबीजार्तवान्ततः ॥७८॥

अथ योनिव्यापस्य पिष्टीयोगः ।—

पिष्टी तारार्कयोरेका तैले गन्धस्य पाचिता ।

सेविता मधुसर्पिर्भ्यां गुह्यरोगान्नियच्छति ॥७९॥

अथ योनिशुक्ले निम्बादिगोलकम् ।—

निम्बुद्रावैः सुसम्पिष्टं निम्बैरण्डस्य बीजकम् ।

योनिशूलहरं क्षिप्त्वा गोलकं योनिमध्यगम् ॥८०॥

विशेषस्य, रक्तविकृतिजन्यस्येत्यर्थः, विसर्पोक्तक्रियादिविधानात् अथ रक्तदुष्टिरवश्य-
मेवाकीर्ति मन्तव्यम् । अस्यशरीरप्रवेशनं वातव्याज्यविकारोक्तस्य अस्यशरीरातिरिक्तकस्य
तैलस्य अस्यशरीरिनाशः रसस्य वा प्रवेशनं प्रयोगः इत्यर्थः, तैलाभ्यङ्गः रससेवनं वा
कर्तव्यमिति । “प्रवेशनम्” इत्यत्र “प्रलेपनम्” इति कश्चित् पाठः ॥ ७७ ॥

योनिव्यापदो निदानमाह, दैवेनेति ।—दैवेन प्राक्तनेन कर्मणा, दैवस्य सर्भरोग-
कारणत्वे सत्यपि यदत्र पृथक् ग्रहणं तदस्मिन् व्याधौ तस्य विशेषेण कारणत्वबोध-
नायम् ; तथा अतिरते अतिमुरते कृते इत्यर्थः ; एतच्च मिथ्याचारान्तर्गतं निदानमिति
बोद्धव्यम् ; विषमोत्कटकासनात् विषमासनात् तथा उत्कटकासनात् विषमासनम्
उन्नतानतसङ्कीर्णतादियुक्तमासनम् उत्कटकासनं कठिनकाष्ठादिनिर्मितमासन-
मित्यर्थः ; एतदपि मिथ्याचारान्तर्गतं निदानम् ; तथा दुष्टबीजार्तवात् दुष्टबीजात्
पिष्टमाह्युक्तशोधितयोः दुष्टत्वात्, अर्तवात् दुष्टरजनस्य हेतोः स्त्रीणां योनौ व्यापदः
विंशतिप्रकारा रोगाः इत्यर्थः, जायन्ते इति मतः मुनिभिः कथित इत्यर्थः ।
अत्रैवाप्युक्तं—“विंशतिर्व्यापदो योनेर्निर्दिष्टा रोगमङ्गुहः । मिथ्याचारेण ताः स्त्रीणां
प्रदुष्टेनार्तवेन च ॥ जायन्ते बीजदोषाश्च देवाश्च ग्रन्थ ताः पृथक् ॥” इति ॥ ७८ ॥

पिष्टीयोगे—तारार्कयोः रौप्यताम्रयोः एका पिष्टी “अर्काग्रतुल्यात् रसताम्य-
गन्धात्” इत्यादिना अष्टमाध्यायोक्ता ; एवञ्च तारार्कौ रसादिभिः सह खले विमर्शं
तीव्रातपे व्यापयित्वा च नवनोतकपा पिष्टी कथ्यां ; गन्धस्य तैले शुद्धगन्धकृते तैले
इत्यर्थः, पाचिता दूषत् भृष्टा । गुह्यरोगान् योनिरोगान् १ ७९ ॥

निम्बादिगोलके—गोलकं निम्बद्रावद्विनिम्बैरण्डबीजकृतगोलकं योनिमध्यगं

अथ योनिरोगे सोमराज्यादिप्रलेपः ।—

सोमराजी देवदारु निम्बदारुनिशामनम् ।

तक्रपिष्टं प्रलेपोऽयं योन्यामयहरो भवेत् ॥८१॥

अथ योनिक्लमिशूले रसोनादिप्रलेपः ।—

रसोनं मृद्वधूमन्तु विशाला सविडङ्गकम् ।

कण्टकारीफलं तोयैः पिष्ट्वा योनौ प्रलेपयेत् ॥

क्लमिशूलहरं ख्यातं सप्ताहाम्नात् संशयः ॥८२॥

अथ फलघृतम् ।—

मञ्जिष्ठा तगरं कुष्ठं त्रिफला शर्करा वचा ।

मेदा यष्टौ हरिद्रे द्वे दीप्यकं कटुरोहिणी ॥८३॥

पयस्या हिङ्गु काकोली वाजिगन्धा शतावरी ।

प्रत्येकं चूर्णयेत् कर्षं द्वात्रिंशत्फलकं घृतम् ॥८४॥

घृताच्चतुर्गुणं क्षीरं घृतशेषं विपाचयेत् ।

योनिशूले शुक्रदोषे गर्भिणीनाञ्च पाययेत् ॥८५॥

यथा भवेत् तथा क्षिप्वा, तिष्ठेदिति शेषः, एवञ्च तद्द्वीलकं योनिशूलहरं भवेत् इति योजनीयम् ॥ ८० ॥

सोमराज्यादिप्रलेपे—दारुनिशा दारुहरिद्रा । असनं खनामख्यातम् । तक्रपिष्ट-
मित्यनन्तरं कुर्व्यादिति शेषः ॥ ८१ ॥

रसोनादिप्रलेपे—विशाला गोरक्षककंटी । क्लमिशूलहरं योनिक्लमिहरं
योनिशूलहरश्चेत्यर्थः ॥ ८२ ॥

फलघृते—यष्टौ यष्टिमधु । दीप्यकं यमानौ । पयस्या क्षीरकाकोली । घृतेऽङ्गिन्
पाकार्ये जलं चतुर्गुणं देयं, “स्वस्वक्षीरमाङ्गल्यैः पाको यमेरितः कृषित् । चतुर्गुणं
जलं च बीर्याधानार्थमावपेत् ॥ न मुञ्चति रसं द्रव्यं क्षीरादिभिश्चपकृतम् । तस्या-
च्चतुर्गुणं वारि देयं पाकाय जानता ॥” इति परिभाषावलात् केवलक्षीरेण सम्यक्
पाकसिद्धेरभावात् । अक्रपठितफलघृतसंवादात् समधिकोपयोगित्वाच्च अत्रापि
क्षयक्षामूलप्रलेपादिरूपः इदमेवोपदेष्टुः अनुसर्तव्यः ; तथा च—“अनुक्तं खल्वामूलं

अथ रजोगोत्रे विद्योनिरसप्रयोगविधिः ।—

त्रियोनिरसगुञ्जैकं त्रिनिष्कमभयागुडम् ।

पुष्परोधहरं खादेत् पलैकं तिलजीवनम् ॥

ततः श्रोतोदकं क्षिप्त्वा पुष्पं स्रवति तत्क्षणात् ॥८६॥

अथ पुष्परोधहरयोगव्रथम् ।—

लाङ्गलीकन्दचूर्णं वा मूलं वाऽप्यापमार्गजम् ।

इन्द्रवारुणीमूलं वा योनिस्थं पुष्परोधनुत् ॥८७॥

अथ पुष्परोध-रक्तगुल्महरयोगव्रथम् ।—

तिलमूलकषायन्तु ब्रह्मदण्डीयमूलकम् ।

यष्टौत्रिकटुकं चूर्णं काथयुक्तञ्च पाययेत् ॥

पुष्परोधे रक्तगुल्मे स्त्रीणां सद्यः प्रशस्यते ॥८८॥

क्षिपन्त्यथ चिकित्सकाः । जीवद्वयैकवर्णायाः घृतसत्रं प्रशस्यते ॥ आरण्यगोमयेनापि वज्रिज्वाला प्रदीयते ॥” इति ॥ ८३—८५ ॥

विद्योनिरसप्रयोगविधौ—त्रियोनिरसः उदरादिकित्खिताधिकारे कामला-
चिकित्सितोक्तः, तस्य एका गुञ्जा त्रिनिष्कमभयागुडं गुडहरीतकाः मिलित्वा
निष्कत्रयम् । पुष्परोधहरं रजोरोधहरम् । ततः गुडामभयाया त्रियोनिरसगुञ्जा
सेवित्वा पलैकं तिलजीवनं तिलबीजं, बीजामात्रे अङ्गुरोत्पत्तेरभावात् तिलस्यापि
विनाशात् जीवनशब्देनात्र बीजं बोध्यम् ; श्रोतोदकं क्षिप्त्वा दत्त्वेत्यर्थः, खादेदिति
पूर्वमुक्तिः ॥ ८६ ॥

पुष्परोधहरयोगव्रथे—आपमार्गजं मूलम् अपामार्गसम्बन्धिमूलमित्यर्थः । “आपा-
मार्गजम्” इति कर्तव्ये “आपमार्गजम्” इति ऋक्संयोगस्तु कान्दसत्वात् । योगव्रथ-
मेतत् ॥ ८७ ॥

पुष्परोध-रक्तगुल्महरयोगव्रथे—ब्रह्मदण्डीयमूलकं भार्गीमूलम् ; तिलमूलकषाये
ब्रह्मदण्डीमूलचूर्णं प्रक्षिप्य पिवेदित्येकी योगः । काथयुक्तं तिलकाथयुक्तम् ; तिलकाथे
यष्टौत्रिकटुकचूर्णं प्रक्षिप्य पिवेदित्यपरो योगः । योगरत्नाकरधृतसुश्रुतपाठे तु
योगविमो कश्चित् पाठपरिहृत्या चूर्णद्वैकयोगत्वेन दृश्यते ; तथा च—“तिल-
मूलञ्च त्रिगुञ्च ब्रह्मदण्डीयमूलकम् । मधुयष्टौत्रिकटुकैर्घृतं चूर्णमुपासयेत् ॥”
इति ॥ ८८ ॥

अथ पुष्परोधे चणकप्रयोगः ।—

चणकानां रसश्चैव शृतं क्षीरं घृतेन वा ।

शर्करामधुसंयुक्तं रक्तदोषहरं पिबेत् ॥८८॥

अथ पुष्परोधे गुडव्योषादिचूर्णम् ।—

तिलकाथो गुडं व्योषं तिलभार्गीयुतं पिबेत् ।

काथं रक्तभवे गुल्मे नष्टपुष्पेऽथ पाययेत् ॥८९॥

अथ गर्भाजनने धुतूरप्रयोगः ।—

ग्राह्यं कण्णवतुर्दृश्यां धुतूरस्य तु मूलकम् ।

कठ्यां बद्धा रमेत् स्वेच्छं न गर्भः सम्भवेत् क्वचित् ॥९१॥

मुक्तेन लभते गर्भं पुरा नागार्जुनोदितम् ।

तन्मूलचूर्णं योनिस्थं न गर्भः सम्भवेत् क्वचित् ॥९२॥

अथ गर्भाजनने सैन्धवप्रयोगः ।—

ऋतौ जाते क्षिपेद्योनीं तिलतैलाक्तसैन्धवम् ।

द्रवते तत्क्षणादेव तच्छुक्रं पुष्पितामपि ॥९३॥

चणकप्रयोगे—चणकानां रसम् आर्द्रचणकस्य स्वरसं काथं वा, शृतं किवल्मावर्तितं क्षीरम्; चणकरस-क्षीरौ समभागौ गृहीत्वा घृतमधुशर्कराभिः समीक्य पिबेदित्यर्थः । घृतेन वा इत्यत्र वा-शब्दः पूर्वयोगापेक्षयेति ज्ञातव्यम् । रक्तदोषहरम् आर्तवदोषहरम् ॥ ८८ ॥

गुडव्योषादिचूर्णे—“तिलभार्गीयुतम्” इत्यत्र “हिङ्गुभार्गीयुतम्” इति सिद्धयोगे तथा “घृतभार्गीयुतम्” इति वाक्ये पाठः । भार्गी ब्रह्मयष्टिः । तिलकाथे गुडं तथा व्योषादीनाञ्च चूर्णं प्रलिप्य पिबेत् इति ॥ ८९ ॥

अथ रजोरोधप्रसङ्गेन गर्भाजनकचिकित्सां वक्तुमुपक्रमते । तत्र धुतूर-प्रयोगे—मुक्तेन कटीदेशात् धुतूरमूलेन परित्यक्तेन सता । तन्मूलचूर्णं धुतूरमूल-चूर्णम् ॥ ९१, ९२ ॥

सैन्धवप्रयोगे—तत् तिलतैलाक्तसैन्धवमित्यर्थः, तत्क्षणादेव शुक्रपतनसमकालमेव शुक्रं द्रवते द्रावयते, गर्भाशयगतमपि शुक्रं निःसारयतीत्यर्थः; अन्तर्भूतव्याघातस्य प्रयोगः । तथा पुष्पितामपि रजस्रवां स्निग्धमपि द्रवते इति बोध्यं, द्रावयते

अथ गर्भस्रावणे चूर्णप्रयोगः ।—

देवालये तु यच्चूर्णं कर्षेकं तोयपेषितम् ।

पिवेद्गर्भवती नारी गर्भः स्रवति तत्क्षणात् ॥८४॥

अथ गर्भस्रावणे एरण्डप्रयोगः ।—

काण्डमेरण्डपत्रस्य योनावष्टाङ्गुलं क्षिपेत् ।

चतुर्मासोद्भवो गर्भः स्रवत्येव हि तत्क्षणात् ॥८५॥

अथ गर्भस्रावणे चित्रकप्रयोगः ।—

निर्गुण्डोद्वसम्पिष्टं चित्रमूलं मधुप्लुतम् ।

कर्षं भुक्त्वा पतत्याशु गर्भा रण्डाकुलोद्भवः ॥८६॥

अथातिरक्तस्रावे शरपुङ्गाप्रयोगः ।—

मूलन्तु शरपुङ्गायास्तण्डुलाख्यप्रपेषितम् ।

पाययेत् कर्षमात्रं तदतिरक्तप्रशान्तये ॥८७॥

इत्यर्थः, आसत्त्वं शोषितमपि निःसारयतीत्याशयः । ऋतुकाले तिक्ततेलाक्तसेत्स्वखण्डं
यानी स्थापयेच्चेत् तदा ऋतुने रतिकाले आहितं शुक्रं गर्भाशयगतमपि निःसरति,
शोषितमपि निर्गच्छति, एवञ्च गर्भसम्भावनेव नास्ति इति फलितम् । अस्य च योग-
वत्राकराक्तः पाठः सुगमार्थकः, तथा च—“तेलाविलं सेत्स्वखण्डमादौ निधाय
वण्डा निजयोनिमध्ये । नरेण साहै रतिमातनीति या सा न गर्भं लभते कदाचित् ॥”
इति ॥ ८३ ॥

गर्भाजनकभेषजानन्तरं गर्भस्रावकभेषजमाह । तत्र चूर्णप्रयोगे—देवालये यच्चूर्णं
प्रातनदेवमन्दिरगावस्थं लेपचूर्णमित्यर्थः ॥ ८४ ॥

एरण्डप्रयोगे—काण्डं मालमित्यर्थः ॥ ८५ ॥

चित्रकप्रयोगे—भुक्त्वा इत्यस्य गर्भः इत्यनेन एककर्तृत्वं बोद्धव्यम्, अत्र मातु-
र्भक्षणस्य गर्भस्रावली उपचारः, अन्यथा एककर्तृकत्वाभावदोषात् ; अथवा—भुक्त्वा
इत्यनन्तरं “तिष्ठति चेद्यारी तदा तस्याः” इति वाक्यमूहनीयम् ॥ ८६ ॥

अथ प्रदरादिजनितातिरक्तस्रावचित्रिकामाह । तत्र शरपुङ्गाप्रयोगे—अतिरक्त-
प्रशान्तये प्रदरादिव्यधौ तथा/ गर्भपाताद्यनकारमतिनिःसृतस्य रक्तस्य निवृणये ।
इत्यर्थः ॥ ८७ ॥

अवातिरक्तस्त्रावे अर्कमूर्तिरनप्रयोगविधिः ।—

स्त्रीणां रक्ते पूयके वा प्रवृत्ते सैसं चूर्णं पेटकारीभवश्च ।

दद्यात् प्रातर्मल्लखण्डेन सार्द्धं दत्त्वा सूतं त्वर्कमूर्तिं घृतेन ॥८८॥

अथ योनिशूलहरयोगद्वयम् ।—

योनी शूले निम्बवातारिपिष्टिं कुर्याद्वयदा नागकर्णोत्थमूलैः ॥८९॥

अथ रग्रीदोषे व्योषादितैलम् ।—

तैलं काथं व्योषशष्टिप्रयुक्तं दद्यात् स्त्रीणां रक्तदोषापनुस्यै ॥९०॥

अथ पुथानगं चूर्णम् ।—

पाठा जम्बाम्बयोरस्थि शिलोद्भेदं रमाञ्जनम् ।

अम्बुष्ठाशाल्मलीं पिष्ट्वा समङ्गावत्सकत्वचम् ॥९१॥

वाल्मीकविल्वातिविषा-लोध्रतोयदगैरिकम् ।

शण्ठोमधूकमार्द्धीकं रक्तचन्दनकट्फलम् ॥९२॥

अर्कमूर्तिरनस्य प्रयोगविधौ—रक्ते पूयके वा प्रवृत्ते, योनिर इति शेषः । सैसं चूर्णे सौमकचूर्णम् । पेटकारीभवश्च इत्यत्रापि चूर्णमिति सम्बध्यते ; पेटकारी “पेटारि” इति ख्यातं, “भार्पिट्कारी” इति लोके । मल्लखण्डेन गुडशर्करया, गुडमध्ये जातेन शर्करावत् कठिनेन खण्डेनेत्यर्थः । सूतं त्वर्कमूर्तिम् अर्कमूर्तिरसः, स च रसः “लौहाष्टकं भारितमर्कभागं सूतं द्विभागं द्विगुणञ्च गन्धम् । विमर्दयेत् वज्रिसेन तापे दिग्बलवच्चान्नं विषं कलांशम् ॥ विचित्रं पित्तैः परिभावितोऽयं रसोऽर्कमूर्तिर्भवति विदोषे ॥” इत्यनेन भेषज्यरत्नावल्यां पठितः । आदौ अर्कमूर्तिरसं घृतेन सह पाथयित्वा पश्चात् सौमकादिचूर्णे मल्लखण्डेन सह प्रातः पाथयेदिति ॥ ८८ ॥

योनिशूलहरयोगद्वये—निम्बवातारिपिष्टिं निम्बस्य त्वक् तथा वातारिः शूलैरण्डः, तस्य मूलं तयोः पिष्टिं कल्कमित्यर्थः, योनीं धारयेदिति शेषः । यदा—नागकर्णोत्थ-मूलैः रक्तैरण्डमूलैः पिष्टिं कुर्यादित्यन्वयः । निम्बवातारिकल्कं नागकर्णकल्कं वा सशलायां योनीं धारयेदिति ॥ ८९ ॥

व्योषादितैलम्—तैलं काथं व्योषशष्टिप्रयुक्तं त्रिकटुशष्टिमधुकाथसिद्धं तैल-मित्यर्थः ॥ ९० ॥

पुथानमचूर्णम्—शिलोद्भेदं पाषाणभेदी । अम्बुष्ठा दक्षिणापथे खनामख्याता ; तदभावे पाठा एव प्राज्ञा, त्वचया इति केचित् । शाल्मलीं शाल्मलीवेष्टकं मोचरसः

कटुङ्गवत्सकानन्ता-धातकोमधुकाञ्जनम् ।

पुथे गृह्यत्वा सञ्चूर्ण्य सञ्जीव्यं तण्डुलाश्लुना ॥१०३॥

पिबेदर्शःस्वतीसारं रक्तं यच्चोपवेश्यते ।

दोषागन्तुक्ता ये च बालानां तांश्च नाशयेत् ॥१०४॥

योनिदोषं रजोदोषं श्यावं श्वेताक्तृणात्वधम् ।

चूर्णं पुथ्यानुगं नाम हितमात्रेयपूजितम् ॥१०५॥

अथ त्रिविधविषनिर्देशः ।—

यत् कन्दमूलादिषु जायते ततो विषाद्विषं स्थावरमुग्रवीर्यम् ।

सर्पादिकं जङ्गममुच्यते तद्व्यैरनेकैः कृतकञ्च यत्तत् ॥१०६॥

नित्यर्थः । समञ्जा मञ्जिष्ठा बराहकान्ता वा । वत्सकत्वचं कुटजवत्कलम् ; “वत्सकत्वचम्” इत्यत्र “पद्मकेशरम्” इति सिद्धयोगादौ पाठः । बाह्योक्तं कुङ्कुमम् । विल्व विल्वशलाटुः । तीर्थदं मुक्तकम् । “मधुकं” तथा “कटफलम्” इत्यत्र “विफलां मरिचम्” इति चक्रपाणिधृतः पाठः । अरके “मधुकम्” इत्यत्र “मरिचम्” इति पाठः । “माहीकम्” इत्यत्र “माचीकम्” इति पाठे—माचीकं देवदारु । कटुङ्गः श्लोणाक्षः । वत्सकः इन्द्रयवः । अञ्जनं सौवीराञ्जनं, रसाञ्जनस्य प्रागुक्तत्वात् ; यदि वा—रसाञ्जनस्यैव भागइयम् । “अञ्जनम्” इत्यत्र “अर्जुनम्” इति अरकादिसर्व-तन्त्रसम्मतः पाठः । पुथ्ये पुथ्यान्त्वये इत्यर्थः ॥ १०१—१०५ ॥

इदानीं व्याधितहितचिकित्सापारिशेष्यात् विषचिकित्सितं वक्तुमिच्छुर्यस्यकृत् आदौ विषस्य जातिभेदानाच्च, यदिति ।—विषात् त्रिविधविषमपेक्ष्य इत्यर्थः, कन्दमूलादिषु विषयेषु कन्दमूलादिरूपमित्यर्थः, यदुपवीर्यं विषं जायते, ततः कन्द-मूलादिरूपव्यावर्तकत्वात्, तत् स्थावरम् ; कन्दमूलादिषु इत्यत्र आदिपठेन पत्र-पुष्पादिरूपाणां दशविधाना यवत्थम् ; यदुक्तं सुश्रुते—“मूलं पत्रं फलं पुष्पं त्वक् शीरं सार एव च । निर्यासो घातव्यश्चैव कन्दश्च दशमः स्मृतः ॥” इति । तथा सर्पादिकं सर्पवृश्चिकादिसम्भूतं विषमित्यर्थः, जङ्गमं विषमुच्यते । यथा—ततः तस्मात्, प्रसिद्धात् इत्यर्थः, मध्यमानजलनिधिसमुत्पन्नादिति यावत्, विषात् निजरूप-परित्यागेन परिगृहीतरूपान्तरात् विषादित्वर्थः, कन्दमूलादिषु यत् रूपं, प्रतिष्ठित-मिति शेषः, तत् उपवीर्यं स्थावरं जायते, यत् रूपं सर्पादिकम्, अविष्ठितमिति शेषः, तत् जङ्गमम् उच्यते । उक्तञ्च वाम्भटेन—“मध्यमाने जलनिधाववृताष्टे सुरासुरैः ।

अथ विषचिकित्सा ।

अथ मेघनादप्रयोगः ।—

घननादजटा हन्ति विषं स्थावरजङ्गमम् ॥१०७॥

अथ सूत-शतावरीप्रयोगः ।—

ज्येष्ठान्धसुतराज्जेन पीताऽभीरुशिफा तथा ॥१०८॥

अथ सूत-सोमराजीप्रयोगः ।—

सुरभिश्छद्रमभावित-शशिराजीचूर्णसंयुतः सूतः ।

स्थावरजङ्गमकृत्रिमविषजित् गुञ्जामितोऽभ्यस्तः ॥१०९॥

जातः प्रागस्तोषत्तेः पुरुषो घोरदर्शनः ॥ दीप्तनेत्राश्चतुर्दंष्ट्रा हरिकेशोऽनलेक्षणः ।
जगद्विषम् तं दृष्ट्वा तेनासौ-विषमंजितः ॥ वृङ्क्तो ब्रह्मणा मूर्त्तिमतः स्थावरजङ्गमे ।
सोऽप्यतिष्ठन्नित्यं रूपमुक्त्वा बभूवात्मजम् ॥ स्थिरमन्युत्वं वीर्यं यत् कन्देषु
प्रतिष्ठितम् । काष्ठाकूटेन्दवन्माव्य-शङ्कीकालाडलादिकम् ॥ सर्पलूतादिदंष्ट्रासु दारुणं
जङ्गमं विषम् ॥” इति । जङ्गममपि घोरविषम् ; यदुक्तं तत्रैव—“दृष्टि मिःश्वास-
दंष्ट्रा-गरु-मूत्र-पुरीष-शुक्र-लाघा-ऽऽतं-व-मूत्र-मन्द-विशङ्कित-गुदास्थि पित शूक-
श्रवणोति” इति । एषां विस्तरस्तु मौस्तुन कल्पे भव्यः । “द्रव्यैः” इत्यत्र “द्रवैः” इति
पाठः न साधुः । “कृत्रिमं गरमंजितु क्रियते विविधौषधैः” इति बाम्भटपाठे द्रवोक्तेष्वपि
दर्शनात् । कृतकं कृत्रिमं, विविधद्रव्यसंयोगात् कृतमित्यर्थः । तदपि द्विविधं, यदुक्तं
काश्यपेन—“संयोगजञ्च द्विविधं तृतीयं विषमुच्यते । दूषीविषस्तु सविषमविषं
गर उच्यते ॥” इति ॥ १०६ ॥

मेघनादप्रयोगे—घननादः मेघनादः तण्डुलीयमित्यर्थः, तस्य जटा मूलम् ; एतच्च
तण्डुलान्गुना पिष्टा पेषं योगरत्नाकरसेवादात् ; तथा च—“तण्डुलीयकमूलस्तु पीतं
तण्डुलशरिणा । तच्चक्रेणापि सन्दंष्टं निर्विषं कुर्वते गरम् ॥” इति ॥ १०७ ॥

सूत-शतावरीप्रयोगे—ज्येष्ठान्धसुतराज्जित्, तेन सह सुतराजः पारदः पारदमन्त्र
इत्यर्थः, तेन । अभीरुशिफा शतावरी । तथा स्थावरजङ्गमविषं हन्तीत्यर्थः ॥१०८॥

सूत-सोमराजीप्रयोगे—सुरभिश्छद्रमभावितः योगरत्नभावितः यः शशिराजीचूर्णः
सोमराजीचूर्णः तेन संयुतः सूतः रसमन्त्र इत्यर्थः । सूतसोमराजीचूर्णयोः मिलितयोः
गुञ्जामानम् ॥ १०९ ॥

अथ अश्वकादिप्रलेपः ।—

अभ्रकं तालकं ताप्यं शिलाजित् कुनट्टौ रसः ।

देवदालीरसो व्योषं लेपनाद्विषनाशनम् ॥११०॥

अथ लूताविषे सूतभस्मप्रयोगः ।—

रसेन चक्रमर्दस्य पुटितः पुटपाचितः ।

एरण्डस्नेहसंयुक्तः सूतो लूताविकारजित् ॥१११॥

अथ महासर्पविषे नागदमनीप्रयोगः ।—

जलेन नागदमनी-मूलं नखे प्रयोजितम् ।

महासर्पस्य विषमं विषं नश्यति तत्क्षणात् ॥११२॥

अथ पञ्चाङ्गशिरोषप्रयोगः ।—

जलपिष्टं शिरोषस्य पञ्चाङ्गं यः पिबेन्नरः ।

स नागराजदंष्ट्रोऽपि मानुषो निर्विषो भवेत् ॥११३॥

अथ अश्वगन्धा-बन्ध्याप्रयोगौ ।—

अश्वगन्धाभवं कन्दं बन्ध्याया वाऽथ यः पिबेत् ।

तस्य देहान्तरं याति विषं स्थावरजङ्गमम् ॥११४॥

अथ वृश्चिकविषे व्योषादितैलम् ।—

व्योषेरण्डसावपक्वन्तु तैलं लेपायोक्तं वृश्चिकानां सदैव ॥११५॥

अश्वकादिप्रलेपे—ताप्यं सुवर्णमाचिकम् । शिलाजित् शिलाजित् । कुनट्टौ मृगःशिला । रसः पारदः । देवदाली हृदिघोषकः तस्याः रसः ; अश्वदिकं देव-
दालीरसेन पिष्टा लेपे योजयेत् ॥ ११० ॥

सूतभस्मप्रयोगे—चक्रमर्दस्य एण्डगणस्य “आकुन्दे” इति प्रसिद्धम् । चक्रमर्दरसेन
पुटितं रसम् एरण्डतैलेन सह संयोज्य लेपयेत् किञ्चित् भक्षयेत् ॥ १११ ॥

नागदमनीप्रयोगे—नागदमनी स्वनामख्यातलूताविषेः तस्या मूलम् ॥ ११२ ॥

पञ्चाङ्गशिरोषप्रयोगे—शिरोषस्य पञ्चाङ्गं पञ्चपुष्पकलामूलवल्कलकपम् ॥ ११३ ॥

अश्वगन्धा बन्ध्याप्रयोगयोः,—पूर्वयोगोक्तं जलपिष्टमिति पदं योगद्वयेऽपि
प्रावर्तनीयम् । बन्ध्या बन्ध्याकर्कोटकी तस्याः कन्दम् ॥ ११४ ॥

व्योषादितैले—व्योषं त्रिकटु एरण्डसावः एरण्डनिर्झारः ताभ्यां कृत्वा

अथ तार्क्ष्यसूतः ।—

सूतं गन्धं टङ्गणं हेमयुक्तं घर्षेदयामं मेघनादीरसेन ।

गोलं कृत्वा कान्तपाषाणमूषा-मध्ये चिह्ना भूधरे तं पुटेत ॥

पश्चाद्घर्षेन्मेघनादीरसेन सूतः सिद्धस्त्वेष तार्क्ष्यो विषारिः ॥११६॥

अथ विषहररसः ।—

तार्क्ष्यं बन्ध्यां भक्षयेद्रक्तिमानं सूतं तस्मात् यान्ति नाशं विषाणि ॥

॥ ११७ ॥

अथ मृतसञ्जीवनम् ।—

ससिन्दुवारतगरं मृतसञ्जीवनं विषम् ॥११८॥

अथ आखुविषे शिरीषप्रयोगः ।—

शिरीषकुसुमं पत्रं विषमाखुविषापहम् ॥११९॥

अथ सर्वविषं देवदार्वादियोगः ।—

देवदारु नतं मांसी लवली वाकुची विषम् ।

कुष्ठञ्च पानलेपाभ्यां समस्तविषनाशनम् ॥१२०॥

पत्रं तैलं तिलभवम् ; व्याघ्रेण्डुनिर्व्याघकल्केन पादिकेन चतुर्गुणजलेन च तिलतैलं पक्वा तेन प्रलेपः देयः ॥११५॥

तार्क्ष्यसूते—हेम सुवर्णम् । मेघनादीरसेन तण्डुलीयमूलरसेन । कान्तपाषाण-मूषामध्ये कान्तपाषाणकृतमुषामध्यं । भूधरे भूधरयन्त्रे । सूतः इति ।—एषः तार्क्ष्यः तदाख्यः सूतः रसः तार्क्ष्यरसः इत्यर्थः, सिद्धः अव्ययः इत्यर्थः, विषारिः विषहन्ता ॥ ११६ ॥

विषहररसे—तार्क्ष्यं स्वर्णमाचिकम् । बन्ध्यां बन्ध्याकर्कोटकीम् । सूतं पारदं पारदभक्ष इत्यर्थः ; तार्क्ष्यादिद्रव्याणां मिलित्वा रक्तिमानम् ॥ ११७ ॥

मृतसञ्जीवने—सिन्दुवारः निर्गुच्छो तस्य पत्रम् । तगरं तगरपादुका । विषम् अमृतम् ; भक्षयविषया लेपविषया च योज्योऽयम् ॥ ११८ ॥

शिरीषप्रयोगे—पत्रमिति शिरीषस्यैव । विषम् अमृतम् । आखुविषापहम् उन्मुक्तविषापहम् । अनेनापि पानलेपो कार्यो ॥ ११९ ॥

देवदार्वादियोगे—नतं तगरपादुका । मांसी जटामांसी । लवली “नीयाङ्” इति ख्यातम् । वाकुची सीमराशी ॥ १२० ॥

अथ सर्वविषे टङ्कणप्रयोगः ।—

सर्पादिविषनाशाय टङ्कणस्य रजोऽभ्रसा ।

पानाभ्यञ्जननस्याद्यैरतिगुह्योपदंशिना ॥१२१॥

अथ वृश्चिकविषे मनोह्रादिगुडिका ।—

मनोह्रा सैश्ववं हिङ्गु मालतीपल्लवानि च ।

गोशकृद्रसपिष्टानि गुडिका वृश्चिकापहा ॥१२२॥

अथ वृश्चिकविषे पलाशबीजगुडिका ।—

अर्कपयसा दिवा ब्राह्म-तरोर्भावितैर्मुहुर्वीजैः ।

गुडिका कृता प्रयत्नात् वृश्चिकविषमाशु नाशयति ॥१२३॥

अथ गरविषे कनकादिवटो ।—

कनकसारशुतीक्ष्णनिदिग्धिका-हृषुषासिद्धकलांशनिषेवणात् ।

जयति साधु युवा धनकाङ्क्षया गणिकया परित्तगरीषधम् ॥

॥१२४॥

टङ्कणप्रयोगे—पानाभ्यञ्जननस्याद्यैः इत्यत्र प्रयोज्यमिति शेषः । अतिगुह्योप-
दंशिना अतिमोह्योपदंशवताऽपि अश्रसा टङ्कणचूर्णे पानाभ्यञ्जनादिभिरभ्यवहार्य-
मित्यर्थः ॥ १२१ ॥

मनोह्रादिगुडिकायां—मनोह्रा मनःशिला । “मालतीपल्लवानि च”
इत्यत्र “मातीफलं सनामरम्” इति पाठान्तरम् । जेपविधया प्रयोज्यो-
ऽयम् ॥ १२२ ॥

पलाशबीजगुडिकायाम्—अर्कपयसा अर्कचौरिष । दिवा दिवसे । ब्राह्मतरोर्वीजैः
पलाशबीजैः ॥ १२३ ॥

कनकादिवटिकायां—कनकं सुवर्णं, सारः बर्जं, सुतीक्ष्णं शोभाजनं, निदिग्धिका
कण्टकारी, हृषुषा खनामख्याता, सिद्धः पारदः, कला मनःशिला आसां अंशः
भागः प्रत्येकं समभाग इत्यर्थः, तन्निषेवणात् । साधु इति जयति इति क्रियाया
विशेषणम् ; साधु सम्यक् यथा तथा जयतीत्यर्थः ॥ १२४ ॥

अथ सविषात्रे वृक्षास्त्रादियोगः ।—

पुराणवृक्षास्त्युतं कटुघ्न्यं नरेण भुक्तं त्वशनावसाने ।

असारवृक्षावल्गयाऽर्थकाङ्क्षया सङ्घान्नदत्तं विषमाशु नाशयेत् ॥

॥१२५॥

इति श्रीवैद्यपतिविंशत्युपसङ्गस्य मृगोर्वामटाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये चन्द्ररोम-

गुह्यरोग-स्त्रावर-जङ्गमविषप्रतीकारी नाम पञ्चविंशोऽध्यायः ॥१२५॥

अथ षड्विंशोऽध्यायः ।

अथ जरारोगचिकित्सनम् ।—

अथ रसायनगुणाः ।—

दीर्घमायुः स्मृतिं मेधामारोग्यं तरुणं वयः ।

प्रभावर्णस्वरोदार्यं देहेन्द्रियबलोदयम् ॥

वाक्सिद्धिं वृषतां कान्तिमवाप्नोति रसायनात् ॥ १ ॥

वृक्षास्त्रादियोगे—पुराणः वत्सरातीतः वृक्षास्त्रः तिलिङ्गीफलं तेन युतम् । अथ तिलिङ्गीफलकटुचूर्णानां प्रत्येकं समभागः । अशनावसाने भोजनान्ते । असारवृक्षावल्गवां दृष्टचरित्रया स्त्रिया । सङ्घान्नदत्तम् अन्नेन सङ्घ दत्तमित्यर्थः । विषं गरमित्यर्थः ॥१२५॥

इति रसरत्नसमुच्चयेऽध्यायः पञ्चविंशोऽध्यायः समाप्तः ॥ १२५ ॥

स्वप्यातुरङ्घ्रितभेदेन द्विविधयोरौषधयोः विवृतं तावदातुरङ्घ्रितं सर्वम्, इदानीं रसायनवाजीकरणभेदेन स्वप्यङ्घ्रितं द्विविधं विवचुः वाजीकरणमपेक्ष्य रसायनयोगानां दीर्घायुःस्मृत्यादिकरत्नेन बहुगुणत्वेन चादौ रसायनं विवृणोति, तत्र च नराणां कृत्स्नप्रकषंजननाथे प्रक्रमे एव तत्फलमाह, दीर्घमिति ।—अध्यायस्यास्य यत् “जरा-रोर्भौचिकित्सनम्” इति नामकरणं कृतं, तत्र जरारूपस्य अकालवृद्धिपलितादिकपस्य कालिकमाविबलिपलितादिकपस्य च रोगस्य चिकित्सनं प्रथमनोपायः इत्यर्थः; जरा च रोगश्च तयोश्चिकित्सनमित्यर्थो वा, रसायनस्योभयार्थसाधकत्वात्; यदुक्तं चरकेण— “प्रायः प्रायेण रोगाणां द्वितीयं प्रथमे मतम्” इति । मेधां धारणावतीं वियम् ।

अथ जराया निदानम् ।—

पत्याः शीतं कदन्नञ्च वयोवृद्धाश्च योषितः ।

मनसः प्रातिकूल्यञ्च जरायाः पञ्च हितवः ॥ २ ॥

अथ बार्हृक्वहर रसायनम् ।—

हस्तिनीरसमम्पिष्टौ तुल्यांशौ रसगन्धकौ ।

हस्तिपर्णीलवङ्गिका-मत्स्याक्षौकस्त्वेष्टितौ ॥

त्रिःपक्वौ मूकमूषायां सव्योषौ वार्द्धकापहौ ॥ ३ ॥

तद्वत्तुं वयः युवत्वमित्यर्थः । प्रभावर्णस्त्रयोदश्यां प्रभावर्णस्त्रयोदश्यां चोदार्थं महत्त्वं, प्राशस्त्यमित्यर्थः ; यदा—प्रकृष्टप्रभादिकम् चोदार्थञ्च दातृत्वञ्च, तच्च रसावन-
प्रभावेण । वयुइसत्त्रयोदश्यात् सम्भवति । देहेन्द्रियबलौदयं देहेन्द्रियाणां बलौदयं बल-
सम्पदम् ; देहेन्द्रियबलानामुदयं सम्पदं प्रशस्ततामित्यर्थो वा, देहदार्ढ्यम् इन्द्रियाणां
स्थिरत्वं विपुलबलञ्च इति निष्कर्षः ; यदि वा—देहेन्द्रियबलेन सह उदयं सम्पदम्
पेन्थ्यमित्यर्थः, तत्वात्तच्च रसायनस्य नैकज्यसाधकत्वात्, नीरुजस्य च धनार्जनशक्ते-
रुद्धत्वात् इति । वाक्सिद्धिं सफलवचनत्वम् । वृषतां मैथुनसामर्थ्यम् ; “वृषताम्”
इत्यत्र “प्रथतिम्” इति चरकव्युत्पत्तः पाठः । रसायनात् रसानां रसकार्यभूतानां
सप्तानामेव प्रकृष्टाणां धातूनाम् अयम् लाभोपायः यत् तत् रसायनं तस्मात् ; यदुक्तं
चरकेण—“लाभोपायो हि शस्त्रानां रसादीनां रसायनम्” इति ॥ १ ॥

जराप्रतिरोधप्रयोजनके रसायनयोगे वक्तव्ये “सङ्केपतः क्रियायोगो निदानपरि-
वर्जनम्” इति सुश्रुतवाक्यात् निदानपरिवर्जनस्य प्राथमिकोपचारत्वात् तद्वर्जनाय
जरायाः निदानमाह, पत्या इति ।—पत्याः अत्यल्पपर्यटनम् । शीतं कदन्नञ्च शीतान्नं
तथा कदन्नञ्च कुक्षितमन्नं, तच्च पूतिमलाक्तादिदोषशृङ्गम् इति । मनसः प्रातिकूल्यं
दौर्गन्ध्यादिकमित्यर्थः ॥ २ ॥

बार्हृक्वहर-रसायने—हस्तिनी लाङ्गली विषलाङ्गलीया इत्यर्थः । हस्तिपर्णी हस्ति-
कर्षाव्यपलाश इत्यर्थः । लवङ्गिका लवङ्गम् । मत्स्याक्षौ शालिञ्च, हस्तिमोचिकेति
किञ्चित् । अयमर्थः,—रसगन्धकौ कञ्जलोक्त्य लाङ्गलीमूलरसेन पिष्टा गोलकं कुर्यात्,
ततः हस्तिपर्णादिभिः कृतकवल्कलस्य गोलकं तं संख्याय मूकमूषायां वदध्य च गजपटे
पथेत्, एवं बारहयं कृत्वा विच्छेदं च सुगुहं निधाययेत् । ततश्चतुर्थे त्रिकटुचूर्णसं
कषणाऽऽलोच्य सेवेत इति ॥ ३ ॥

अथ उदयादित्यरसः ।—

आवर्त्तिते रसपलं क्षिप्त्वा द्विपलगन्धके ।
 आर्द्रकद्रवमुष्टीनां विंशत्या मर्दितं पचेत् ॥ ४ ॥
 मृद्भूतताम्रमूषायां तं गुञ्जाप्रमितं रसम् ।
 ससर्पिर्नागरं भुक्त्वा तप्ताम्बुप्रसृतं पिबेत् ॥
 रसोऽयमुदयादित्यः स्याज्जरारजनीहरः ॥ ५ ॥

अथ सर्वरोगहर-रसायनम् ।—

मूषां तिन्दुकविस्तारामायामे षोडशाङ्गुलाम् ।
 भाण्डवाह्यस्य पादांशं बालुकाभिः प्रपूरयेत् ॥ ६ ॥
 तस्यां निवेश्य द्विगुण-गन्धगर्भगतं रसम् ।
 याममात्रं पचेच्चक्षुषां क्षिपेद्गन्धस्य तूदमे ॥ ७ ॥
 वायसीनागिनोमत्त-मेघनादरसं क्रमात् ।
 स रसः सर्वरोगघ्नो बलीपलितजिह्वेत् ॥ ८ ॥

उदयादित्यरसे—आवर्त्तिते द्राविते इत्यर्थः । अत्र प्रथमाङ्गे “आवर्त्तिते रसपले क्षिप्त्वा द्विपलगन्धकम्” इति कुवचित् पाठः । आर्द्रकद्रवमुष्टीनां विंशत्या विंशति-पलाद्रकसेन । मृद्भूतताम्रमूषायां मृत्तमताम्रमूषायां । तप्ताम्बुप्रसृतं पक्वद्वयमित-मुष्णजलमित्यर्थः । जरारजनीहरः जरावृषपनैशतिमिरनाशन इत्यर्थः ॥ ४।५ ॥

सर्वरोगहर-रसायने—तिन्दुकविस्तारां तिन्दुकफलवत् परीषाद्वतीम् । आयामे दैर्घ्यं । भाण्डवाह्यस्य पादांशं भाण्डस्य पाकाद्यं गृहीतस्य भाण्डस्य बाह्यस्य बहिः-प्रदेशे अवस्थितः पादांशः चतुर्थभागः यस्यान्नादृशीं हृष्टिकान्तःस्थितविभागा-मित्यर्थः, मूषामित्यस्य विशेषणम् ; “पादांशम्” इत्यत्र “पादांशम्” इति कुवचित् पाठः । द्विगुणगन्धगर्भगतं रसं द्विगुणगन्धककवलितं पारदं, तावन्मानरसगन्धकयोः कञ्जलीमित्यर्थः ; “द्विगुणगन्धगर्भगतं रसम्” इत्यत्र “द्विगुणं गन्धकं पात्रिकं रसम्” इति कुवचित् पाठः । “याममात्रम्” इत्यत्र “यामवयम्” इति पाठान्तरम् । गन्धस्य तूदमे गन्धकस्य गन्धे निर्गते सतीत्यर्थः । वायसी काकमाची नामिनी नामदली मत्तः पुष्करः मेघनादः तण्डुलीयकः एषा रसं स्वरसम् । अयमाशयः,—यद्येता-द्यामविकारायाः कञ्जलीगर्भायाः मूषायाः दादशाङ्गुलं हृष्टिकान्तः अङ्गुलीचतुष्टयस्य बहिःप्रदेशे संस्थापयेत् ; ततः हृष्टिकां सर्वां बालुकाभिः प्रपूर्य मूषामुखस्य कठिन्वद्

अथ मासिक-रसायनम् ।—

रसगन्धकमध्वाज्य-शिलाजत्वस्त्वैतसम् ।

द्विमाषप्रमितं वेगान्मासमात्राज्जरां जयेत् ॥८॥

अथ षाण्मासिक-रसायनम् ।—

विष्णुकान्तारुणागस्ति-क्षीरिणीतण्डुलीयकैः ।

रसगन्धकयोः पिष्टौ स्त्रीस्तन्येन च मर्दिता ॥९॥

यवास्तिला घृतक्षौद्रमेषामुद्धर्तनं जयेत् ।

कार्श्यं जराञ्च षण्मासाद्विधत्ते वृद्धिमायुषः ॥११॥

अथ पाक्षिक-रसायनम् ।—

शिलाजतुक्षौद्रविडङ्गसर्पिलोहाभयापारदताप्यभक्षः ।

आपूर्यते दुर्बलदेहधातुस्त्रिपञ्चरात्रेण यथा शशाङ्कः ॥१२॥

अथ हेमादि-रसायनम् ।—

हेम धात्रीफलं क्षौद्रं गायत्रीरसभावितम् ।

लिङ्गघ्नं पिबेत् क्षीरं दृष्टरिष्टोऽपि जीवति ॥१३॥

आहत्य प्रहरमात्रं प्रहरवधं वा पचेत्, यदा गन्धकस्य गन्धो निःसृतो भवेत् तदा वायुयादिवस्वरसं क्षिप्त्वा किञ्चित् तव क्षिपेत्, शुष्कोभूते च तस्मिन् रसे अवतार्य मथोजयेदिति ॥ ८—८ ॥

मासिक-रसायने—वेगात् प्रसज्य । मासमात्रात् मासैकेनेव ॥ ९ ॥

षाण्मासिक-रसायने—विष्णुकान्ता अपराजिता । अरुणा अतिविषा । अगस्तिः वमुक्तः । विष्णुकान्तादिवस्वरसैः स्त्रीस्तन्येन च मर्दितां रसगन्धकयोः कज्जली सेवेत तथा घृतक्षौद्राभ्यां धवतिलो पिष्टा उद्धर्तनञ्च कुर्यात् ॥ १०।११ ॥

पाक्षिक-रसायने—लौहस्य मिलिततरचूर्णसमत्वं, रसायनतया श्रेष्ठत्वात् महावीर्यवाच्च । ताप्यं सुवर्णमात्रिकम् । शिलाजलादीन् भक्षयतीति भक्षः ; पचायच् । त्रिपञ्चरात्रेण पञ्चदशाहेन इत्यर्थः ॥ १२ ॥

हेमादि-रसायने—हेम स्वर्णमस्य । धात्रीफलम् आमलकचूर्णम् । गायत्रीरसभावितं खदिरकाषभावितम् ; “गायत्रीरसभावितम्” इत्यत्र “गालितं रसमर्दितम्” इति क्त्वैव पाठः । स्वर्णमस्यामलकोचूर्णञ्च खदिरकाशेन भावयित्वा क्षौद्रेण लिङ्गात् क्षीरञ्चावुपिबेदिति ॥ १३ ॥

अथ पिप्पल्यादि-रसायनम् ।—

मधुमागधिकाविडङ्गसार-त्रिफलाहेम घृतं सिताञ्च खादन् ।

जरयाऽनवलीढदेहकान्तिः समधातुश्च समाः शतञ्च जीवेत् ॥ १४ ॥

अथ अष्टमासिक-रसायनम् ।—

ज्योतिष्मतीनाम लता पीता पीतफलोज्ज्वला ।

आषाढे पूर्वपक्षे स्यात् गृहीत्वा बीजमुत्तमम् ॥ १५ ॥

आहरेत्तिलवत्तैलं मुष्टिना चापि तत् पचेत् ।

क्षीरतुल्यं चतुर्थांश-माक्षिकं तैलशेषितम् ॥ १६ ॥

ततस्तत् कोलकर्पूर-त्वग्जातोफलमिश्रितम् ।

स्निग्धभाण्डगतं भ्रान्येष्वनुगुप्तं निधापयेत् ॥ १७ ॥

पिबेत् सूर्योदये तैलात् पलं याति विसंज्ञताम् ।

ततः संज्ञां शनैर्लब्ध्वा ततः क्रन्दति रोदिति ॥ १८ ॥

एवं मासे श्रुतिधरः परस्मिन् सूर्यसन्निभः ।

तृतीये पूज्यते देवैश्चतुर्थे नैव दृश्यते ॥ १९ ॥

खेचरः पञ्चमे षष्ठे सिद्धैर्मिलति सप्तमे ।

विशोः समदिनं जीवेज्जीवन्मुक्तोऽष्टमे भवेत् ॥ २० ॥

पिप्पल्यादि-रसायने—मागधिका पिप्पली । विडङ्गसारः विडङ्गतण्डुलः । हेम स्वर्णम् । अनवलीढदेहकान्तिः अनवलीढः अनास्वादितः, असृष्ट इत्यर्थः, देह-कान्तिर्यस्य तथाविधः सन् । समाः शतं शतं वत्सरान् ॥ १४ ॥

अष्टमासिक-रसायने—ज्योतिष्मती स्त्रियामख्यातलताविशेषः, “लताफट्की” इति ख्यातम् । पीता पीतवर्णा । पीतफलोज्ज्वला पीतेन पीतवर्णेन परिप्लवितेत्यर्थः, फलेन च ज्वला । आषाढे पूर्वपक्षे आषाढशुक्लपक्षे । मुष्टिना इत्यस्य गृहीत्वा इत्यनेन सम्बन्धः, मुष्टिकरणकेन गृहीतेत्यर्थः । क्षीरतुल्यं तैलसमं दुग्धम् । चतुर्थांशमाक्षिकं तैलपादिक-सुवर्णमाक्षिककलकमित्यर्थः । तैलशेषितं तैलावशेषम् । कोलं कोलमाम्बुम् ; कश्चित् कदरफलम् इत्याह । चक् गृह्यत् । कर्पूरादिवयाणां प्रत्येकं कोलप्रमाणं बोद्धव्यम् । अनुगुप्तं सुरक्षितम् । क्रन्दति चीत्कारं करोति । परस्मिन् द्वितीये मासे । नैव दृश्यते औषधप्रभावेण रसायनसेवो ज्ञानैरदृश्यो भवति इत्यर्थः । आषाढशुक्लपूर्वमासां

अथ त्रिवार्षिक-रसायनम् ।—

भूमावरत्निमात्रायां ताम्रं तैलेन पूरयेत् ।

षण्मासं तापयेद्दूर्ध्वं सृदुना तुषवङ्गिना ॥

पीत्वा माषादिनिष्क्रान्तं तन्निवर्षान्महाकविः ॥२१॥

अथ षष्ठ्यधिकत्रिंशत्तवर्षायुष्कर-रसायनम् ।—

तैलप्रस्थं घृतप्रस्थं चतुष्प्रस्थं पयः पचेत् ।

द्विप्रस्थशेषं तत् पीत्वा मासं त्रिपुरुषायुषः ॥२२॥

अथ सहस्रवर्षायुष्कर-रसायनम् ।—

तैलं पिबेद्दृतक्षौद्र-क्षीरान्यतममिश्रितम् ।

कुर्याच्च तैलमध्वाज्यैर्नस्यं क्षीरघृताग्निनः ॥

भुक्त्वा शतायुः षण्मासात् सहस्रायुर्भवेन्नरः ॥२३॥

परिणतज्योतिष्मतीफलान् उत्तमं बीजं मुष्टिना गृहीत्वा तिलवत् प्रपीड्य च तैलं निष्काशयेत्, ततः पादांशमाचिकेण कल्केन समक्षीरेण चतुर्गुणजलेन च ततैलं पचेत्, शीतीभूते च ताम्रान् कोलादिचूर्णे मिलित्वा पादिकं प्रक्षिप्य स्निग्धभास्वे संस्थाप्य च धान्यराशौ निधापयेत्, प्रतिदिनं प्रातः तस्मात् पलं पिबेच्चेति ॥ १५—२० ॥

त्रिवार्षिक-रसायने—अरत्निमात्रायां प्रसारितकानिष्ठाङ्गुलिमुष्टिप्रमाणेन खनि-
तायानित्यर्थः, भूमौ भूयः ताम्रं ताम्रपादम् । तैलेन तिलतैलेन ज्योतिष्मती-
तैलेन वा । माषादिनिष्क्रान्तं माषमाषादारभ्य श्राणमानं यावत् । अरात्राभितगर्भमग्रे
तिलतैलपूणे ज्योतिष्मतीतैलपूणे वा ताम्रपादं निधाय सृष्टिकादिना उपरिभाग-
माहृत्य च स्थापयेत्, तदुपरि च सृदुं तुषाणि षण्मासं यावत् ज्वालयेत्, षण्मासान्ते
च उद्धृत्य माषमाषमारभ्य क्रमवद्धा । चतुर्मासं यावत् वर्षचयं सेवेत इति ॥ २१ ॥

षष्ठ्यधिकत्रिंशत्तवर्षायुष्कर-रसायने—द्विप्रस्थशेषं तत् पीत्वा मासं मासेन प्रसूद्यं
तत् यमकं पीत्वा त्रिपुरुषायुषः त्रयाणां पुरुषाणां समाहारः त्रिपुरुषं तादृशम्
आयुः यस्य तथाविधः ; पुरुषायुस्तु पञ्चदिनाधिकसप्तविंशतिवर्षशतं, यदुक्तमायुर्निरूपणे
वराहकचार्थे—“समाः षष्टिर्द्विगुणा मनुजकरिणां पञ्च च निशाः” इत्यादि ;
एवञ्च त्रिपुरुषायुष-शब्देन दिनपञ्चदशाधिकसप्तविंशतिवर्षशतवर्षं भवति, एतद्रसायनसेवी
तादृशायुषो भवेदित्यर्थः । अक्षरकमिदम् ॥ २२ ॥

सहस्रवर्षायुष्कर-रसायने—भुक्त्वा भोगनान्नरं घृताद्यन्वतममिश्रितं तैलं पिबेत्,

अथ त्रिकला-रसायनम् ।—

मधुकेन तुगाक्षीरो पिप्पली क्षौद्रसर्पिषा ।

विडङ्गपिप्पलीभ्याञ्च त्रिफला लवणेन च ॥२४॥

संवत्सरप्रयोगेण स्मृतिमेधाबलप्रदा ।

भवत्यायुष्प्रदा पुंसां जरारोगनिवर्हणी ॥२५॥

अथ द्वितीयत्रिकला-रसायनम् ।—

खदिरासनभृङ्गमातला-क्षमिश्रदूदकभाविता मुहुः ।

गुडमाक्षिकसर्पिरन्विता त्रिफला हन्ति जराञ्च वत्सरात् ॥२६॥

अथ तृतीयत्रिकला-रसायनम् ।—

त्रिफलामसनोदकेन पिष्ट्वा रजनीपर्युषितामयःकपाले ।

मधुरां मधुना लिहन् हिनस्ति स्यविमानं जरमं गदांश्च सर्वान् ॥

॥२७॥

बेभ्रमध्वज्यैः मिलितैः नव्यस्य कथ्यात् क्षौरघृताभ्यां तदा भोग्येयम् । “क्षौरघृताग्निः” इत्यत्र “क्षौरघृताग्निः” इति पाठः साधुः ॥२३॥

त्रिफला-रसायने—“तुगाक्षीरो पिप्पली” इत्यत्र “तु गाक्षीरोः पिप्पल्या” इति पाठान्तरम् । अत्र त्रिफला इति वद मधुकेन इत्यादिभिः षड्भिः प्रत्यक् सम्बध्यते, वाम्भट्टोक्तत्रिफलारसायनेन सह सादृश्यदर्शनात्, यदाह वाम्भट्टः,—“मधुकेन तुगाक्षीर्या पिप्पल्या लवणेन च । पृथग्लोकेः सुवर्णेन वचया मधुसर्पिषा ॥ सितया वा समायुक्ता समा युक्ता रसायनम् । त्रिफला सर्वरोगघ्नी मेधायुःस्मृतिबुद्धिदा ॥” इति । एवञ्च मधुकेन त्रिफला इत्येकः, तुगाक्षीरो त्रिफला इति द्वितीयः, पिप्पली त्रिफला इति तृतीयः, क्षौद्रसर्पिषा त्रिफला इति चतुर्थः, विडङ्गपिप्पलीभ्यां त्रिफला इति पञ्चमः, लवणेन च त्रिफला इति षष्ठः इति षड् योगाः ॥ २४।२५ ॥

द्वितीयत्रिफला-रसायने—असनः पीतशालः, भृङ्गः भृङ्गराजः, सातला चर्म-क्षया, किमिश्रतुः विडङ्गः, एषामुदकेन काथेन भाविता । मुहुः समवारानित्यर्थः । खदिरादीनां काथेन भावितां त्रिफलां गुडमध्वज्यैः संवत्सरं लेहयेदिति ॥२६॥

तृतीयत्रिफला-रसायने—अयःकपाले लौहपात्रे । मधुरां मधुना मधुना मधुरी-
कृतानित्यर्थः । स्यविमानं स्थूलम् । असनकाथेन पिष्टां त्रिफलां लौहपात्रे

अथ षडङ्ग-रसायनम् ।—

कान्ताभ्रकश्रिष्ठाधातु-विषसूतकमाचिकम् ।

शीलितं मधुसर्पिभ्यां व्याधिवार्द्धकमृत्युजित् ॥२८॥

अथ वार्षिक-रसायनम् ।—

गन्धं लौहं भस्म मध्वाज्ययुक्तं सेव्यं वर्षं वारिषा त्रैफलेन ।

शुभ्रे केशे कालिमा दिव्यदृष्टिः पुष्टिर्वीर्यं जायते दीर्घमायुः ॥

॥२९॥

अथ कुहादिद्वर-रसायनम् ।—

नीलज्योतिः कान्तचूर्णं रुदन्ती-धात्रीपत्रैर्वारिषा त्रैफलेन ।

मध्वाज्याभ्यां वत्सरार्द्धप्रयोगात् कुष्ठं शुभ्रं रोमजातं निहन्ति ॥

॥३०॥

देहे दार्ढ्यं दिव्यदृष्टिः सुपुष्टिर्वीर्यं शीर्यं जायते दीर्घमायुः ॥

॥३१॥

रजनीं वासयेत्, प्रसाते प्रभूतमधुना दामाखोद्य लिहेत् । मावा चाग्निबलापेक्षिणी
क्षतं व्या ॥ २७ ॥

षडङ्ग-रसायने—कान्तं कान्तचौहन् । श्रिष्ठाधातुः श्रिष्ठाधातु, रसायनत्वात् ।
विषम् असृतम् ॥ २८ ॥

वार्षिक-रसायने—लौहं भस्म भस्मचौहन् । शुद्धलवकं चौहन्नीर्यं च समभागं
मध्वाज्याभ्यां सम्यक् विफलाकाधेनाखोद्य च वर्षे यावत् विवेत् । शुभ्रे केशे कालिमा
केशकार्णाम् ॥ २९ ॥

कुहादिद्वर-रसायने—नीलज्योतिः तुल्यकम् । कान्तचूर्णं कान्तचौहचूर्णं तच्च
मारितपुटितं याच्यम् । रुदन्ती—“वत्सरपत्रसमं पत्रं क्षुपस्यैव तथाविधः । शैश्वरे
जलविन्दूनास्त्रवन्तीति रुदन्तिका ॥” इत्युक्तलक्षणा उत्कलादौ स्नानमख्याता,
धात्रीपत्राणि आमलकपत्राणि ते सह कृतेन त्रैफलेन वारिषा रुदन्ती धात्रीपत्र-
विफलानां कायेन । शुभ्रं रोमजातं शुक्लरोम श्वितं पलितं वा । “रोमजातम्” इत्यम्र
“रोमजातम्” इति पाठे—शुभ्रं कुष्ठं श्वितकुष्ठम् ॥ ३०-३१ ॥

अथ ज्योतिष्मतीतैल-रसायनम् ।—

ज्योतिष्मत्यास्तैलमाज्यं सगन्धं गुञ्जाहृद्ग्रा सेवयेन्नाषमात्रम् ।
यावच्च स्याद्यस्तु सै प्राप्य मूर्त्तिर्मेधायुक्तो दिव्यदृष्टिर्नियच्छा ॥
॥ ३२ ॥

अथ सर्वरोगान्तक-रसायनम् ।—

कान्ताभ्रविफलाविडङ्गरजनी-ताप्याब्ददेवद्रुम-
व्योषैलाग्निपुनर्नवाद्रिगिरिजाङ्गोलेः समं गुग्गुलुम् ।
पिष्ट्वा भृङ्गजलेन सूक्ष्मगुलिकां खादेद्यथासात्मागतो
मेदःश्लेष्मसमीरणोत्प्लवणगदेष्वन्येषु वा पूरुषः ॥ ३३ ॥

अथ कान्त-रसायनम् ।—

कान्तं तुल्याभ्रसत्त्वं चरणपरिमितं हेम तत्तुल्यमर्कं
वैक्रान्तं ताप्यरूप्यं क्षमिहरकटुकैस्तुल्यभागैः समेतम् ।
लीढं देवद्रुतैर्नैर्विरचयति नृणां देहसिद्धिं समृद्धां
पथ्यं कल्पोक्तभुक्तं हरति च सकलान् रोगपूगान् जयेन ॥ ३४ ॥
तदेतत् सर्वरोगघ्नं रम्यं कान्तरसायनम् ।
सेव्यं वृष्यं सुपुच्छीयं मङ्गल्यं दौपनं परम् ॥ ३५ ॥

ज्योतिष्मतीतैल-रसायने—ज्योतिष्मत्यास्तैलं प्रागुक्तदिशा याज्यम् । सगन्धं तुल्य-
शन्धकसहितम्, एवञ्च सैलाज्यगन्धानां समभागः । गुञ्जाहृद्ग्रा सेवयेन्नाषमात्रं गुञ्जेक-
भारभ्य प्रतिदणं गुञ्जामानेन बद्धयित्वा दाद्व्यगुञ्जां यावत् खादेत्, ततः वर्षमर्द्धवर्षे
वा तेनैव मानेन खादेत् । “मूर्त्तिः” इत्यत्र “मूर्त्तिम्” इति साधु कल्पने, मूर्त्तिं
प्राप्य शोभनं रूपमासाद्येत्यर्थः । नियच्छा मोरोगः ॥ ३२ ॥

सर्वरोगान्तक-रसायने—अद्रिगिरिजः अद्रिजः गिरिजश्च, तत्र अद्रिजः शिखाजतु-
गिरिजः गेरिकः । गुग्गुलुरत्र सर्वचूर्णसमः । भृङ्गजलेन भृङ्गराजरेखेन । यथासात्मागतः
अप्रिवर्त्तं विविच्येत्यर्थः ॥ ३३ ॥

कान्त-रसायने—तुल्याभ्रसत्त्वमिति पदं कान्तमित्यनेन सहान्वेतव्यम् । चरण-
परिमितं हेम लौहचतुर्थांशं सुवर्णमक्ष । तत्तुल्यमर्कं स्वर्णतुल्यं जीर्णतामसम् । वैक्रान्त-
ताप्यद्व्याप्यपि मत्वेकं स्वर्णतुल्यानि । क्षमिहरकटुकेः विषककटुवयचूर्णैः तुल्यभागैः

अथ चतुर्थत्रिफला-रसायनम् ।—

रात्रौ कान्तशरावके त्रिकफला भिन्ना जलैः स्वादुभिः
प्रातर्मुष्टिमिताः खलु प्रतिदिनं षण्मासमासेविताः ।
हृन्मुः पित्तकफामयान् बहुविधं कुष्ठं प्रमेहांस्तथा
पाण्डुं यक्ष्मगदश्च कामलगदं पथ्यश्च तक्रं तथा ॥१६॥

अथ द्वितीयकान्त-रसायनम् ।—

त्रिफलामस्तुसंयुक्तं कान्तं सर्वरसायनम् ॥१७॥

अथ तृतीयकान्त-रसायनम् ।—

एतत् स्वादुपुनर्भवं हि भक्षितं कान्तस्य दिव्यामृतं
सन्ध्यासिद्धरसायनं त्रिकटुकीवेज्जाज्यमध्वनिवृतम् ।
हृन्धास्त्रिष्कामितं जरामरणजव्याधींश्च सत्पुनः
प्रोक्तं श्रीगिरिशेन कालयवनोद्भूत्यै पुरा तत्पितुः ॥१८॥

कान्तभागिकैरित्यर्थः । देवदुतेलैः देवदारुतेलैः । कालोक्तमुक्तं नित्यमाणलौह-
कलोक्तभीज्यम् । रोगपूनाम् रोगसमूहान् ॥ १४।१५ ॥

चतुर्थत्रिफला-रसायने—कान्तशरावके काललौहमाजने । त्रिकफलाः त्रिफलाः ।
केचित्तु “त्रिकफलाः” इत्यत्र “सुषण्काः” इति पठन्ति, परन्तु त्रिफलायां
त्रैककुष्ठपाण्डुकामलापित्तकफादिहरगुणसङ्गात् अत्रके तु कुष्ठयक्षादिहरगुण-
स्यादृष्टत्वाच्च स पाठः न मनोरमतया प्रतिभाति । भिन्नाः अस्थिविरहिताः ;
“सुषण्काः” इति पाठे—भिन्ना विदलिताः । जलैः स्वादुभिरित्यत्र उचिता इति
शेषः । मुष्टिमिताः पलमिताः अन्तर्गन्धमुष्टिमिता वा ॥ १६ ॥

द्वितीयकान्त-रसायने—मस्तु दधिमस्तु ; “मस्तु” इत्यत्र “मधु” इति पाठान्तरम् ।
कान्तं कान्तलौहं, तच्च भारितपुटितं यावत्, त्रिफलाचूर्णसमं लौहं मस्तुना
पातव्यमिति ॥ १७ ॥

तृतीयकान्त-रसायने—अपुनर्भवं पुनरुत्थानरहितं निरुत्थीकृतमित्यर्थः । दिव्यामृतं
देवानां यथा अमृतं तथा गुणकारकमित्यर्थः । त्रिकटुकीति ।—मिश्रितत्रिकटु-
विडङ्गचूर्णन्यां लौहचूर्णे मध्वाज्याभ्यां लिङ्घ्यात् ; त्रिकटुद्वयान्वितं निष्कामितम् अपुन-
र्भवं कान्तस्य भक्षितं जरादिकं हृन्धात् सत्पुनदश्च, भवेदिति शेषः । दिव्यामृतं

अथ कालाभक-रसायनम् ।—

सिद्धमभ्रं समं कान्तं मर्दयेद्दार्द्रवारिणा ।
 कलांशं हेमचूर्णस्य बीजपूररसेऽपुनः ॥३८॥
 मर्दयेत् खल्लमध्यस्थं यावत् समदिनावधि ।
 आटरूषरसेनैव तथा मुण्डोरसेन च ॥३९॥
 तालमूलोरसेनैव दशमूलोरसेन वा ।
 तप्तद्रोगहरैः काथैर्भावयेत् सप्तधा भिषग् ॥४०॥
 त्रिफलाव्योषचूर्णञ्च मध्वाज्याभ्यां प्रयोजयेत् ।
 पञ्चकर्मविशुद्धेन सेव्यमेतद्रसायनम् ॥४१॥
 पाण्डुशोफोदरानाह-ब्रह्मणीशापकाखण्डितम् ।
 सक्ततं सततञ्चैव पुराणं विषमं ज्वरञ्च ॥४२॥
 मिहृम्यान् सर्वकुष्ठानि प्रमेहान् बिंशतिं जयेत् ।
 कालाभकमिदं श्रेष्ठं रसायनमनुत्तमम् ॥४३॥

अथ पाठादिपुस्तकम् ।—

पालाशोलूखले तन्मलविद्युजि विमर्दोद्धृतैराढकांशै-
 र्मिश्रं ब्राह्मोरसेस्तैर्विधिवदिह पथेत् प्रस्वमात्रं नवाञ्चम् ।
 पाठाधातौहरिद्रात्रिदुपरचितेनापि कल्केन सिद्धं
 यो वा कीटारिक्कणासलवणजटिलाभिर्विलीढः सदा स्वात् ॥४५॥

सम्यक् मिहृरसायनमेतत् पुरा खालयवनोद्भूते तत्पितुः श्रीगिरिशेन प्रोक्तं स्यादिति
 योजना कार्या । व्याख्यातोऽयं श्लोकः प्राक् लौहनिरूपणाख्यपञ्चमाध्याये ॥३८॥

कालाभक-रसायने—सिद्धं पुटनादिभूतम् । कलांशं हेमचूर्णस्य अभात्
 षोडशांशं सुवर्णमभ्य । आटरूषरसेन वासकस्वरसेन । तप्तद्रोगहरैः यस्मिन् यस्मिन्
 नेमे पथोज्यं तदर्थं तप्तद्रव्याधिनाशनद्रव्यकृतैरित्यर्थः । त्रिफलाव्योषचूर्णञ्च समुदा-
 येनाभिसमम् ॥ ३८—४४ ॥

पाठादिपुस्तके—पालाशोलूखले पलाशकाष्ठविरचितोलूखले, तन्मलविद्युजि सुपरि-
 शुक्ते इत्यर्थः । विमर्दोद्धृतेः विमर्दात् षोडशात् उद्धृतेः सङ्कृष्टोतेः ; “विमर्दोद्धृतेः”

सौकर्यः सप्तरात्राभ्यतिमतिविशदां पञ्चतो मासमात्रा-
चातुर्यं सत्कवित्वं वरसकलकलाभिज्ञतां प्राप्नुयात् सः ॥४६॥

अथ ताप्यादिषटकः ।—

ताप्याभ्रकत्रिकटुतुत्यशिलाजकान्त-
मङ्गोल्लोहमलटङ्गणसैन्धवञ्च ।
भृङ्गीरसेन वटकांश्च मसूरमात्रान्
खादेद्रसायनवरं सकलामयघ्नम् ॥४७॥

अथ कमलाविलासो रसः ।—

लोहाभ्रौ बलिसूतहाटकमयस्तुल्यं कुमारीरसे
पक्षीरण्डलैर्निबध्य सुदृढं सङ्गान्धराशौ त्रयम् ।
क्षिप्वाद्भृत्य विचूर्णितं मधुवरा-युक्तं यथासात्म्यतः
कृष्णात्रेयविनिमित्तं गदजरा-विध्वंसि सौख्यप्रदम् ॥४८॥
आञ्जासिद्धमिदं रसायनवरं सर्वप्रमेहप्रणुत्
कासं पञ्चविधं तथैव तनुगं पाण्डुञ्च ह्रिकां व्रणम् ।
श्लेष्माणं पवनं हलीमकगदं हन्याच्च मन्दानलं
कण्डूकुष्ठविसर्पविद्रधिमुखापस्मारमुख्यान् जयेत् ॥४९॥

इत्यत्र “विमर्षोष्ठैः” इत्यपपाठः अर्थसङ्गतिविरहात् । आदकांशेः ब्राह्मीरसेः मिश्र-
मित्यन्वयः । कोटारिः विडङ्गः । जटिला जटामोसौ । “सौकर्यः” इत्यत्र
“सौकर्यम्” इति पाठः साधुः ; सौकर्यं कर्मनैपुण्यमित्यर्थः । ब्राह्मीरसादिकेन
पक्वादिक्लृप्तेन च पादिकेन सिद्धं घृतप्रस्थं विडङ्गादिचूर्णेन घृतात् पादिकेन सह
संशोध्य नित्यं लिङ्गादिति ॥ ४५।४६ ॥

ताप्यादिषटके—शिलाजः शिलाजतु । लोहमलं मण्डूरम् ॥ ४७ ॥

कमलाविलासे—वलिः गन्धकः । हाटकं स्वर्यम् । अयस्तुल्यम् अभादि-
चतुष्टयं प्रत्येकं लोहस्तुल्यम् ; “मधुः” इत्यत्र “पविः” इति कस्यचित् पाठः । पक्षा
सर्पे कुमारीरसेनामर्यं सृष्ट्यात्रे लिङ्गितं सन्नाप्य च इत्यर्थः, रौद्रपक्षं कृत्वा इत्यर्थो वा ।
“पक्षीरण्ड” इत्यत्र “पक्षीरण्ड” इति कस्यचित् पाठः । सङ्गान्धराशौ उत्कृष्टधातु-

गोप्याद्गोप्यतरः सुखेन सुलभः सर्वत्र सिद्धो रसो
नाम्नाऽयं कमलाविलास इति सदैवस्य कीर्त्तिप्रदः ॥५०॥

अथ लक्ष्मीविलासः ।—

वेदेन्दुनेताङ्गरसाङ्गभागा भूसूतगन्धोषणतिन्दुटङ्काः ।
भृङ्गार्द्रपुञ्जाजवनीनवाभिर्भाव्य त्रिशः स्वेद्यमदाऽर्कपत्रे ॥५१॥

लक्ष्मीविलासः स विशाललक्ष्मीं
तनी तनीति क्षयिणः प्रयोगैः ॥५२॥

अथ नारिकेलपाकः ।—

वाराहोमुपलीकन्द-कनकाहिस्वरस्तथा ।
वानरीफलमयुक्तं चूर्णयित्वा पृथक् पृथक् ॥५३॥
कार्पासमज्जदुग्धेन उत्कलय्य यथाक्रमम् ।
भावनासप्तकं दत्त्वा सूत्रेतापे विशेषयेत् ॥५४॥

राशिमध्ये । वरा विफला । तनूयं सार्वदेहिकमित्यर्थः । “नाम्नाऽयं कमला-
विलास इति सदैवस्य कीर्त्तिप्रदः” इत्यत्र “नाम्नाऽयं कमलाविलासमहतां वैद्यान्
यशस्कारकः” इति पाठः अर्थमङ्गतिराह्वयात् न साधतया प्रतिभाति । “वैद्यानां
कमलाविलासकरसोऽत्यन्तं यशस्कारकः” इति कल्पसिन्धु पाठः ॥ ४८—५० ॥

लक्ष्मीविलासे—वेदाः ज्वाराः, इन्दुः एकः, नेत्राणि व्रीण, अङ्गानि षट्, रसाः
षट्, अङ्गानि षट् भागाः । भूः भूत, सौराष्ट्रमृतिका इत्यर्थः ; “सौमकम्” इति
काशत । ऊत्रणं मरिचम् । तिन्दुः तिन्दुः । टङ्काः इत्यनन्तर याज्ञाः इति शेषः ।
भृङ्ग भृङ्गराजः, आर्द्रः आर्द्रकः, गुञ्जा रक्तिका, जवनी यमानी, नवा पुनर्नवा ताभिः ।
अदः एतद्भेषजं भृङ्गादिरसः त्रिशः भाव्यं, ततः अर्कपत्रे स्वेद्यम् अर्कपत्रेणावेष्ट्य
करीषाग्नौ क्रिञ्चन स्वेदयेदित्यर्थः ॥ ५१।५२ ॥

नारिकेलपाके—वाराहोमुपलीकन्दः वाराहोक्तन्दः मुषलीकन्दस्य, कनकं धुसूर-
वाजस, अङ्गिः सौमकं, स्वरः भुवर्णम् ; “स्वरः” इत्यत्र “स्वरम्” इति पाठः साधुः ;
“स्वरः” इति पाठे—दुरालभा । वानरीफलमयुक्तं शकृद्विन्धोवोजसंयुक्तम् । कार्पास-
मज्जदुग्धेन कार्पासाद्वेजनिधोमेन उत्कलय्य आर्द्रोक्त्य इत्यर्थः ; “कार्पासमज्ज-
दुग्धेन” इत्यत्र “कार्पासमज्जा दुग्धेन” इति पाठे—कार्पासमज्जा दुग्धेन उत्कलय्य

नारिकेलञ्च सम्भृत्य द्वारं कृद्धा यथाविधि ।
 गोदुग्धेन तु तरक्काय्य-षोडशद्वयमात्रतः ॥५५॥
 दद्यां संवर्त्तितं भाण्डे यथा दाक्ष्यं न याति च ।
 शीतं चूर्णीकृतं पक्वमाज्येन प्रपचेन्नरः ॥५६॥
 जातोफलं लवङ्गञ्च एलाचूर्णं विनिक्षिपेत् ।
 निष्पन्नं शणमात्रन्तु गृह्णीत्वा प्रपिवेत् पयः ॥५७॥
 वातरोगाः प्रमेहाश्च बलक्षयस्तथोल्बणाः ।
 समरात्रप्रयोगेण प्रशमं यान्ति सर्वतः ॥५८॥
 वृद्धाऽपि तरुणत्वं स प्रहर्षति सदा नरः ।
 सौम्यताख्यं नारिकेलं गुरुणा परिकीर्त्तितम् ॥५९॥

इति श्रीवैद्यपतिभिर्द्वयस्य सूनोर्वाग्भटाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये

रसायनविधिर्नाम षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

आवर्त्तं तेन दुग्धेनेत्यर्थः । नारिकेलं वल्कल-कपालविरहितं विमुक्तमुखावरणं
 नारिकेलग्रन्थमित्यर्थः, तच्च मावरावप्यायां यथा स्यात् तथैव स्थापनीयम् ; सम्भृत्य
 प्रपूर्य, वाराहीकन्दादिनेति शेषः । तरक्काय्यषोडशद्वयमात्रतः तेषां कृत्यानां पाद्यानां
 सनारिकेलवाराहीकन्दादिचूर्णानां, सूक्ष्मपेक्षेत्यर्थः, षोडशद्वयमात्रतः द्वाविंशद्गुण-
 प्रमाणेनेत्यर्थः । यथा दाक्ष्यं न याति यथा नात्यर्थं शुष्कीभवति दग्धोभवति वा ।
 “वातरोगाः प्रमेहाश्च बलक्षयस्तथोल्बणाः” इत्यत्र “वातरोगान् प्रमेहाश्च बलक्षय-
 मथोल्बणान्” इति पाठः न साधुः । अथमाशयः,—वाराहीकन्दादीनां चूर्णे पृथक्
 पृथक् कार्पासबीजनिर्घासेन सप्त सप्त वारान् भावयित्वा चातपे शोषयेत्, ततः
 समभागं तत् सर्वं गृह्णीत्वा वल्कल-कपालविरहितस्य यथावस्थितस्य लम्बुक्तमुखावरणस्य
 नारिकेलस्यान्तः प्रपूर्य च मुखं निरोधयेत्, ततः सौदधनारिकेलापेक्षया द्वाविंशद्गुणेन
 दुग्धेन सह तं नारिकेलं दद्यां मुहुः सहस्रद्वयम् सत्याचे तथा पचेत् यथा नात्यर्थं
 शीघ्रं गच्छेत् न वा दग्धोभवेत् । ततः पक्वं शीतञ्च तं नारिकेलं सौम्यं सचूर्ण्य
 घृते भर्जयेत्, पाकानसने जातोफलादिचूर्णे यथायोग्यं पचिष्य स्थापयेच्च, तस्माच्च
 प्रतिदिनं श्रावमानं मुक्ता चौरानुपानं कुर्व्यादिति ॥ ५३—५९ ॥

इति रसरत्नसमुच्चयबोधिन्यां षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

अथ सप्तविंशोऽध्यायः ।

अथ वाजीकरणम् ।—

अथ वाजीकरणस्य गुणाः ।—

वाजीकरणमन्विच्छेत् सततं विषयी पुमान् ।

पुष्टिस्तुष्टिरपत्यञ्च गुणवत्तत्र संस्थितम् ॥ १ ॥

अथ वाजीकरणस्य निरुक्तिः ।—

वाजीवातिबन्धो येन यात्यप्रतिहतोऽङ्गनाः ।

तत् वाजीकरणं विद्धि देहस्यौजस्करं परम् ॥ २ ॥

स्वस्थस्यौजस्करत्वसामान्यात् रसायनानन्तरं वाजीकरणं पुनर्बुधः प्रथमं तस्य प्रयोजनीयतामाह, वाजीति ।—विषयी द्विपद्याः स्रक्चन्दनवनितादयः, ते अस्व सन्तीति तादृशः विषयोपभोगशीलः पुमान् सततं वाजीकरणं वाजः शुक्रं सोऽस्यास्तीति वाजी, अवाजी वाजी क्रियते येन तत् ; यद्वा—वाजः मैथुनं मैथुन-शक्तिरित्यर्थः, सोऽस्यास्तीति वाजी, अवाजी मैथुनशक्तिविरहितः वाजी मैथुनशक्तियुतः क्रियते येन तत् ; उक्तञ्च हारीतेन—“वाजी नाम प्रज्ञाश्रवात् तच्च मैथुनसंज्ञितम् । वाजीकरणसंज्ञाभिः पुंस्त्वमेव प्रचचते ॥” इति । अरकेण तु—“येन नारीषु सामर्थ्यं वाजीव लभते नरः । प्रजिज्ञाभ्यधिकं येन वाजीकरणमेव तत् ॥” इत्युक्तम् ; एवञ्च वाजीकरणं वाजीकरणश्रेयसित्यर्थः, अन्विच्छेत् सेवेत, तत्र वाजीकरणे पुष्टिः मांसोपचयः, तुष्टिः सन्तोषः, गुणवत् सर्वगुणाढ्यम् अपत्यं न पतति वंशो येन जातेन तत्, सन्ताननित्यर्थः, संस्थितम् अवस्थितं, निधं वाजीकरणौषधसेवनेन देहपोषणं मनसा अप्रतिहतशक्तिरतया मनसः प्रीतिबाहुल्यं रूपशौर्ष्यादिगुणाढ्यमपत्यञ्च जायते इत्यर्थः ॥ १ ॥

वाजीकरणसंज्ञायाः बीजमाह, वाजीवेति ।—वाजीव अत्र इह । येन औषधेन इत्यर्थः ॥ २ ॥

अथ शुक्रव्यवस्थ निदानम् ।—

शुक्रन्तु चिन्ताध्यायाम-व्याधिभिर्देहकर्षणात् ।

क्षयं गच्छत्यनशनात् स्त्रीणाञ्चातिनिषेवणात् ॥३॥

अथ बाजीकरणयोगोपदेशे प्रतिज्ञा ।—

तस्मात् प्रयोगान् वक्ष्यामि दुर्बलानां बलप्रदान् ।

सुखोपयोगात् बालानां भूयश्च बलवर्द्धनात् ॥४॥

अथ बाजीकरणप्रयोगे पूर्वज्ञेयम् ।—

शुद्धकायो यथापक्तिं वृथयोगान् प्रयोजयेत् ॥५॥

अथ मधुकप्रयोगः ।—

कर्षं मधुकचूर्णस्य घृतक्षौद्रसमन्वितम् ।

प्रयोऽनुपानं या लिङ्गान्नित्यवेगः सदा भवेत् ॥ ६ ॥

श्लेषशुक्रः पुमान् स्त्रीषु दुर्बलो भवति, अत एव शुक्रव्यवस्थ कारणपरिहाराय लघुनिदानमाह, शुक्रमिति ।—स्पष्टम् ॥ ३ ॥

बाजीकरणस्य प्रयोजनान्तरोक्तिसहितं तत्प्रयोगोपदेशं प्रतिजानौते, तस्मादिति । —“सुखोपयोगात् बालानां भूयश्च बलवर्द्धनात्” इति पाठः न मनोरमः, बालानां बाजीकरणयोगानर्हत्वात्, तथा “बालानाम्” इति कण्ठोक्त्या युगां ब्रह्मानाञ्च बलकरत्वाभावप्रसङ्गाच्चेति । अरके तु —“सुखोपयोगान् बलिनं भूयश्च बलवर्द्धनाम्” इति पाठः दृश्यते; सुखोपयोगान् सुखेन उपभोगी ये तान् ये योगैः उपभोग-शक्तिर्वर्द्धते तानित्यर्थः, बलिनं भूयश्च बलवर्द्धनान् न केवलं दुर्बलानां बलप्रदान्, बलिनोऽपि यदि मेवन्ते तदा तेऽपि विशिष्टबलवन्तो भवन्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥

बाजीकरणयोगप्रयोगे पूर्वज्ञेयमाह, शुद्धकाय इति ।—शुद्धकायः बलम-विरेचनादिपञ्चकर्मणा संशोधितदेहः, यथापक्तिं पक्तिं परिपाकशक्तिम् अनतिक्रम्य, अग्निबलादिकमपेक्ष्येत्यर्थः, वृथयोगान् वृथा कामुकाय दितं वृथं तादृशान् योगान् ॥ ५ ॥

मधुकप्रयोगे —“सदा” इत्यत्र “स ना” इति अरकमुच्यतः पाठः मनोरमः, सदा-नित्यशब्दयोरेकाधिकयोरेकस्य प्रयोगस्य पुनरुक्तिदुष्टत्वात् । ना पुरुषः ॥ ६ ॥

अथ शङ्खीप्रयोगः ।—

कुलीरशृङ्गा यः कल्कमालोद्य पयसा पिबेत् ।
सिताघृतपयोऽन्नाशो स नारीषु वृषायते ॥ ७ ॥

अथ स्वयङ्गुमादिचूर्णम् ।—

स्वयङ्गुमेक्षुरकयोर्वीजचूर्णं सशर्करम् ।
धारोष्णो नरः पोत्वा पयसा रासभायते ॥ ८ ॥

अथ तिलप्रयोगः ।—

बस्ताण्डसिङ्गे पयसि भावितानसक्रान्तिलान् ।
यः खादेत् ससितान् गच्छेत् स स्त्रोशतमपूर्ववत् ॥ ९ ॥

अथ सिन्दूररसः ।—

गन्धकेन समं सूतं श्वेताङ्गोल्लजटारसैः ।
त्रिदिनं मर्दितं तेन रसेन गुटिकीकृतम् ॥ १० ॥
रक्तचित्रकवाराङ्गो-पत्रनिर्व्यामपेक्षितं ।
सद्योहताजमांसस्य पिण्डे न्यस्तं विपाचितम् ॥ ११ ॥
तप्ततैले मज्जयीत यावत् मिन्दूरसन्निभम् ।
भक्षयेत् मधुसर्पिर्भ्यां गोक्षौरश्च पिबेदनु ॥ १२ ॥

शङ्खीप्रयोगे—कुलीरशृङ्गाः कर्कटशृङ्गाः ॥ ७ ॥

स्वयङ्गुमादिचूर्णं—स्वयङ्गुमा शूकशिखी । इक्षुरकः कीकिलाक्षः । रासभायते
रासभः गर्दभ इव आचरति गर्दभवत् रतिशक्तिसम्पन्नो भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

तिलप्रयोगे—बस्ताण्डसिङ्गे छागाण्डसिङ्गे पयसि, तच्च क्षीरपरिभाषया माषि-
तम्बुम् ; यद्यपि क्षीरेण सह वलमांसस्य विरोधः तत्प्रक्रुद्धिः प्रोक्ताः, तथाऽपि तद्विशेष-
बलवत् । इदमु बस्ताण्डविषयतया विशिष्टत्वेन पुनरुक्तार्गपवादरूपं न विरुद्धमिति
मत्तव्यम् । असक्तं समवारान् । स्त्रोशतमिति बहुकालोपलक्षणम् । अपूर्ववत्
पूर्वमज्ञातस्त्रीसम्मीगवत् ॥ ९ ॥

सिन्दूररसः—श्वेताङ्गोल्लजटारसैः श्वेताङ्गोल्लजटारसैः । तेन रसेन बहोन्नमू-
ल-

स्त्रियः सेवेत तत्प्राग् यतः स्फुटति लोचनम् ।

न क्रामति रसज्ञास्त्रिन् काले स खलु मन्त्रयः ॥१३॥

अथ कामकलाख्यरसः ।—

मुषलीकदलीकन्द-वाजिगन्धाकशेरुकैः ।

मर्दितं हेमसूताभ्रं मूषाख्यं पुटपाचितम् ॥१४॥

शास्त्रलीचूर्णसंयुक्तं वासराण्येकविंशतिः ।

भक्षयित्वा चतुर्मासं गव्यं क्षीरं पिबेदनु ॥१५॥

सर्वाङ्गोद्वर्जनं कुर्यात् सयवैः शास्त्रलीरसैः ।

अन्वहं मधुराहारः सहस्रं रमते स्त्रियः ॥१६॥

अथ कामदेवः ।—

हेमपादयुतः सूतो मर्दितः शास्त्रलीरसैः ।

कदलीकन्दनिर्यासे क्षीरेक्षुरसगोष्ठते ॥१७॥

रसेन । बाराही बाराहीकन्दः । स्त्रियः इति बहुवचननिर्देशः बहुनारीसन्धीत-
प्रापकः । तत्प्राग् स्त्रीगमने अकृते । तत्प्राग् यतः लोचनं स्फुटति, अतः स्त्रियः
सेवेत इत्यन्वयः । नेति ।—रसम् इमं रसं, भेषजमिदमित्यर्थः, न क्रामति
नातिक्रामितुं समर्थं भवति, किमपि भेषजमिति शेषः, अथवा किमपि भेषजं नानेन
तुल्यं दीर्यवत् भवतीत्यर्थः । अस्त्रिन् रसे काले अवधारिते स रसकालो पुनान् मन्त्रयः
खलु काम एव, द्वितीयः काम इव रूपादिसम्पन्नः भवतीत्यर्थः ॥१०—१३॥

कामकलाख्यरसे—मुषली तालमूषी । मुषल्यादीनां प्रत्येकरसेनैकैकदिनमर्दितं
हेमसूताभ्रं मूषायां संस्थाप्य पुटपाकं कुर्यात्, ततः माषचतुष्टयभौषधं शास्त्रलीचूर्णेन
एकविंशति दिनानि सेवेत क्षीरागुपानञ्च कुर्यात् । किञ्च भौषधभक्षणकाले शास्त्रली-
मूक्षरसपिष्टयवचूर्णेन उद्वर्जनं कुर्यादिति । रसरसाकरं अथ किञ्चित् पाठवैषम्यं
दृश्यते ; तथा च—“अतस्तत्ताभ्रं स्रजं वाजिगन्धामृतारसे । मुषलीकदलीकन्द-द्रव्यैकं
मर्दयेद्दिनम् ॥ रुद्धा लवण्यिना पच्यात् मयं पूर्वोक्तकैः द्रवैः । पुटं द्वयं
पुनर्मर्दयेन्नमटपटैः पचेत् ॥ शास्त्रलीजातनिर्यासेः चतुर्मासञ्च भक्षयेत् । क्षीरे-
संकटोषीजेः पलाशैः पाचयेदनु ॥ रसः कामकलाख्योऽयं रमते स्त्री सहस्रधा ।
सर्वाङ्गोद्वर्जनं कुर्यात् सयवैः शास्त्रलीरसैः ॥” इति ॥ १४—१६ ॥

कामदेवे—हेमः पादेन-सूत्राङ्गुलीयैश्च युतः, तेन भक्षयित्वा स्त्री भागः स्रजं च

माक्षिके चासक्तत् स्त्रियः शाल्मलीक्षीरगोक्षुरैः ।

शर्करामलकद्राक्षा-मुषलोमाषमाक्षिकैः ॥१८॥

युक्तो रश्माफलद्रव्या कामदेव इति स्मृतः ।

सेवनादूङ्खलिकः स्याद्वावयेदनिताशतम् ॥१९॥

अथ मदनसुन्दरः ।—

गन्धकेन रसः पिष्टः कङ्काररसमर्दितः ।

विपक्वो बालुकायन्त्रे वृष्यो मदनसुन्दरः ॥२०॥

अतुर्थः शो याज्ञः । असक्तं समथा स्त्रियः मन्तकदलीकन्दनिर्यासादौ निक्षेपात्
कृतस्वेदः पक्व इत्यर्थः । शाल्मलीक्षीरगोक्षुरैः इत्यत्र शाल्मली च क्षीरश्च गोक्षुरश्च ते
तैः इति विग्रहः, न तु शाल्मल्याः क्षीरश्च गोक्षुरश्च इति । रश्माफलद्रव्या आम-
कदलीफलरसेन । अथमर्थः,—हेमसूतो यथोक्तमानौ शाल्मलीरसेन दिनैकं मर्दयित्वा
पिष्टं कुर्यात्, ततः सुवर्णं तं मन्तके कदलीकन्दनिर्यासे निक्षिपेत्, शीतौभूते च
निर्यासे उद्धृत्य संशोष्य प्रवाल्य च पुनरन्यास्मिन् तादृशी निर्यासे निक्षिपेत्, एवं
सप्तवारान् कुर्यात्, ततः पूर्वोक्तविधानेन लीरे इक्षुरसे गोष्ठते मधुनि च
निक्षिपेत् । यद्यपि मधु उष्णविरोधि न मन्तापमर्दति विषवदपकारकत्वात्, तथाऽपि
उत्तरकालं शाल्मल्यादिद्रव्यान्तरमंशगात् मंशगशक्तेरचित्यत्वाच्च नेदमौषधं विरुद्ध-
गुणमावहति । ततः तदौषधं पुनः संशोष्य प्रवाल्य विचूर्ण्य च शाल्मल्यादिद्रव्याणां
सूतभागिकानां चूर्णैः क्षीरक्षीराभ्याश्च तुल्याभ्यां सन्नोय आममौषफलद्रवेषु गुटिकां
कुर्यादिति ॥ १७—१९ ॥

मदनसुन्दरः—रसगन्धकयोः समभागता । कङ्काररसमर्दितः रक्तोत्पलरसमर्दितः ;
मदनश्च दिनद्वयं कर्तव्यं रसेन्द्रसारसंवादात् ; तत्र च “अनङ्गसुन्दररसः” इति
नाम्ना प्रसिद्धोऽर्थयोगः बालुकायन्त्रे पाकानन्तरं पुनः रक्तपुष्पवक् श्वेतपद्मरसाभ्या-
मेकैकभावनया निष्पादनीय इत्युपदेशः दृश्यते ; तथा च—“शुद्धसूतं सप्तं गन्धं त्राहं
कङ्कारकद्रवैः । मर्दितं बालुकायन्त्रे ग्राम सम्पुटके पचेत् ॥ रक्तानस्यदवैर्भाष्यं
दिनैकानु सिताब्जैः । यथेष्टं भक्षयेच्चान् आमयेत् कामिनीशतम् ॥” इति । तथा
मेघन्यरकावल्यां “कामिनीसदमञ्जनः” इति नाम्ना प्रसिद्धेऽस्मिन् रक्तवर्गीतद्रव्याणां
रसेः दिनैकं भावना शर्करया सह भक्षयन् च स्वायन्तिकूपदेशस्य कृतः । तत्र च

अथ पूर्णचन्द्रः ।—

कामदेव इह सोऽष्टारसो रक्तपुष्पमुनिसारभावितः ।

पूर्णचन्द्र इति विश्वुनो रसः प्राणिनां चरमधातुपूरकः ॥११॥

रक्तस्यं कुसुमास्त्रस्य शृङ्गारस्याधिदेवतम् ।

कामंणं सुदृशामूचे रसवयमिदं हरः ॥२२॥

अथ मदनमुन्मदमः ।—

मासाहमात्रं हरजं विमर्द्य रसेन मोचस्य रसेन तेन ।

त्रिःसप्तसङ्ख्यानि दिनानि गन्धं तत्क्षमितं गोघृतमध्यपक्वम् ॥२३॥

विभाव्य तेनैव विशोष्य युञ्ज्यात् काचस्थयोर्नागलतादलेन ।

तयोर्विमर्द्याथ निषेद्य दुग्धं पिवेन्निशायां कदलीफलं तत् ॥२४॥

“रक्तागम्यद्रवेर्भाव्यं दिनैकन्तु सिताम्बजेः” इति रसेन्द्रोक्तपाठेऽप्यत्र “रक्तागम्यद्रवेर्भाव्यं दिनैकन्तु सितायुतम्” इति विशेषपाठः ॥ २० ॥

पूर्णचन्द्रे—इह वाजीकरवाधिकारे कामदेवः “हेमपादयुतः” इत्यादिना प्रागुक्तः निष्पन्नः रसः सोऽष्टारसः उच्यते गुप्ता तस्याः रसेन सह वर्तमानः, गुप्ताफल-रसमर्दितः इत्यर्थः, रक्तपुष्पमुनिसारभावितः रक्तवर्णवक्त्रपुष्परसेन समधा मर्दितः । चरमधातुपूरकः शुक्रपोषकः ; प्रागुक्तः कामदेवरसः एव उच्यते रक्तवक्त्रपुष्प-रसाभ्यां मर्दितोऽयं पूर्णचन्द्ररसो भवति । कुसुमास्त्रस्य कामस्य रक्तस्य गोप्यास्त्र-मित्यर्थः, इष्यजननात् । शृङ्गारस्य अधिदेवतम् अधिष्ठात्री देवता, सम्भोगशक्ते-रत्युत्कर्षजननादित्यर्थः । सुदृशो ब्राह्मणानां कामंणं मन्त्रतन्त्रादियोजनेन वशीकरयवत् वशीकरवमित्यर्थः । रसवयमिदं कामदेव-मदनमुन्मद-पूर्णचन्द्राख्यं रसवयम् ॥ २१।२२ ॥

मदनमुन्मदसे—मासाहमात्रं पञ्चदशदिनानि ; “मासाहमात्रम्” इति कस्यचित् पाठः । हरजं पारदम् । मोचस्य रसेन शालाजीमूलेरसेन, न तु मोचरसेन, तन्नालरोक्तयोगेन सह सादृश्यदर्शनात् । तेन रसेन मोचस्य रसेन । त्रिःसप्तसङ्ख्यानि दिनानि एकविंशतिदिनानि । तत्क्षमितं रससम्पितम् । विभाव्य तेनैव गोघृतेनैव भावयित्वा । युञ्ज्यात् तादृशं रसं गन्धश्च ऐक्यं मेखयेत् । काचस्थयोः काचकूपिका-स्थितयोः तयोः रसगन्धयोः, मात्रामिति शेषः । नागलतादलेन ताम्बूलीपत्ररसेन । कदलीफलमित्यत्र खादिति शेषः । तत् चौधसेवनानन्तरं सेवितं कदलीफल-

मदनं मदयन्मदमुज्ज्वलयन् प्रमदानिवहानतिविह्वलयन् ।

सुरतैः सुखदगताविच्यवनैर्भवसारजुषामयमव सुहृत् ॥२५॥

अथ कुसुमायुधः । —

सूतस्य द्विपलं चतुष्पलमिती गन्धो मृतं काञ्चनं

पादचूनपलं सुवर्णवेमला-ताप्यं रसेनाश्रितम् ।

लोहं कान्तमलस्तयाऽसितघनं कर्षान्मितावकशो

हन्तव्यं दरदेन लाहमखिलं चूर्णं ततो मर्दितम् ॥२६॥

नित्यर्थः ; यद्वा — तादृशं स इत्यर्थं अव्ययं, स रस इत्यर्थः, मदनं मदयन् उज्ज्वलयन्, मदं हर्षम्, उज्ज्वलयन् बह्वयन् । गताविच्यवनैः क्षम्यगुणैरित्यर्थः । भवसारजुषां भवे संसारं सारं रवभूतं कामिनोरूपं वन्त इत्यर्थः ; यद्वा — सारं श्रेष्ठं कामसुखमित्यर्थः, जुषन्ते सेवन्ते ये तेषाम् । अयमर्थः, — अनियतमानं पारदं शालालोरसेन पचमेकं मर्दयेत्, मर्दयच्च पृथग्भाजने गन्धकमाप पारदतुल्यम् एकविंशतिवासराणि तेनैव रसनं, ततस्तं बस्त्रेणविध्य यामदयं घृतेन पचेत्, अथतार्थं च यामदयानन्तरं तेनैव घृतेन पुनः सप्ताहं भावयेत्, ततः शुष्काकृतं तं गन्धकं रसेन मिलायित्वा मर्दयेत् काचकूप्यां स्थापयेच्च । अथ निशि तास्त्रुणपत्ररतेन सह तस्य मात्रा पौत्वा पक्वकदलीफलं सदुग्धमनुपिवेदति । रसरत्नाकरे यागोऽयं पूर्णन्दुरसनाम्ना किञ्चित् विभिन्नपाठ- तथा पठितः ; यथा — “शालानीत्यद्रवमेव पलेकं शुद्धसूतकम् । पृथक् खले विसप्ताहं तद्रवमेव गन्धकम् ॥ एकीकृत्य घृतेः साहं मर्दयेत्तच्च गोलकम् । यामदयं पचे- दाज्यं बस्त्रं बद्धा तु पाचयेत् ॥ दिनेकं शालालोद्रावैः पिण्डं यामदयं पचेत् । मर्दयित्वा पुनः पिण्डं नागवज्रा च वेष्टयेत् ॥ निक्षिप्य काचकूप्याञ्च द्रवं दत्त्वा तु शालालम् । पलेकपरिमाणन्तु पचेत् यामदयं ततः ॥ बालुकायन्त- मध्ये तु द्रवे जीर्णे समुदरेत् । दिगञ्जं भवयेत् प्रातः नागवज्रोदलान्तरे ॥ सुषलीं समिता क्षीरैः पलेकं पाचयेदगु । रसः पूर्णन्दुनामायं सम्पुण्योऽर्थकरी भवेत् ॥ कामिनीना सहस्रैकं नरः कामयते ध्रुवम् ॥” इति । मदनं काममपि मुदा हर्षेण हर्षजननेन मदयति एतद्रससेवनेन उन्मत्तवत् करोतीति मदनमुन्मत्तं, मदयतेः क्षिप्, तथाभूतः रसः ॥ २३—२५ ॥

कुसुमायुधे — पादचूनपलमिति वाक्ये मृतं काञ्चनमित्यनेन सम्बध्यते, पादचूनपलं चर्पकम् ; सुवर्णविसृज्यताप्यं सुवर्णं गैरिकं, विसृज्य रौप्यमाश्रितं ताप्यं सुवर्ण-

मूषायां विगतावृतौ सिकृतया यन्त्रे कृते स्थापयेत्
 ब्राह्मोवारि दिनं निधेहि तदनु प्रत्येकमेकाक्षरम् ।
 वासाकुञ्जरशुण्डिका त्रिकटुकां मेषौ च निर्गुण्डिका
 तालो कुञ्जरशुण्डिका हुतवहस्तोयानि दत्त्वा पचेत् ॥२७॥
 ततस्तं निखिलान्मोभिर्विमर्द्य पुठयेत्तु ।
 निव्यासैः शास्त्रतैर्ग्राह्यो वल्लवयमितो रसः ॥
 बल्लोपलितनाशाय त्रिमासं मधुराशनः ॥२८॥
 सुरतेषु सुज्ञाचनार्थैर्गतवीर्य्यचवनैर्मनो यदि ।
 तदमुं रममाश्रयाऽऽश्रयं कुसुमास्त्रस्य चिराय धन्विनः ॥२९॥
 यटि सन्ति सहस्रशः स्त्रियश्चतुराश्लेषमनोहराः प्रसन्नाः ।
 सुकवेरिव गुम्फता गिरां सुरमोऽनेन युवा रसेन भूयात् ॥३०॥

भाविकं रसेनोन्मितं प्रत्येकं द्विपलम् । लौहं कान्तमलः मण्डूरः अक्षितघनं कृष्णभस्म ;
 “अक्षितघनम्” इत्यत्र “क्षितघनम्” इति पाठः न मनोरमः, श्वेताभस्य रसादिकर्मणि
 अप्राशस्त्यात् ; कर्षोन्मि गवेः कशः एकशः लोहादिवशाणां प्रत्येकशः कर्षोन्मितौ द्विकर्ष-
 मित्यर्थः । इत्यत्र दृष्टेन लौहं द्वादशाश्लिङ्गुलेन सह लौहं मर्दयित्वा मारयितव्यं,
 तादृशश्च लौहं योगेऽस्मिन् प्रयोज्यम् । दृष्टेन सह लौहमारणे शार्ङ्गधरवचनं यथा
 —“क्षिपेत्ता द्वादशाश्लेन दूरदं तीक्ष्णचूर्णतः । मर्दयेत् कव्यकाटावेद्यामयुष्मं ततः
 पठेत् ॥ एवं सप्रपुटेमृत्युं लौहचूर्णमवाप्नुयात् ॥” इति । मूषायां विगतावृतौ
 निरावरणायां मूषायाम् । सिकृतया कृते यन्त्रे बालकायन्त्रे । तदनु प्रत्येकमेकाक्षरं
 ब्राह्मोवारे दिनमेकं पाकानन्तरं वक्ष्यमाणान् एकैकस्मात् द्रव्यात् गृहीते तीथे दिनचयं
 निधेहीत्यर्थः । प्रत्येकमेकादित्युक्तं, तदेव विशिष्टाह, वासेति ।—कुञ्जरशुण्डिका
 हलिकन्दः, हस्त्यालक इत्यर्थः । “कुञ्जरशुण्डिका” इत्यत्र “कुञ्जरशुण्डिका” इति पाठे
 —कुञ्जरशुण्डिका “हातिशुण्डा” इति भाषा ; अस्मिन् पक्षे—हलिशुण्डीरसेन वारहयं
 पचेत् । “कुञ्जरपिप्पली” इति कश्चिन् पाठः । मेषौ मेषश्चक्री ; “मेषी” इत्यत्र
 “नेयो” इति पाठान्तरम् । “मेषी च” इत्यत्र “लोभार्द्र” इति कश्चिन् पाठः । ताली
 तालमूलौ । हुतवहः शिवकः, एषा तोयानि रमान् काष्ठान् वा । ततस्तं बालुका-
 यन्त्रे पक्वं तं रसं निखिलान्मोभिः बासादीनां सर्वेषां निखिलरसैः । निव्यासेरिति ।—

अथ तृतेः ।—

मुक्ताफलं प्रवालञ्च सुवर्णं रौप्यमेव च ।

रसं गन्धञ्च तत् सर्वं तोलैकैकं प्रकल्पयेत् ॥३१॥

रक्तोत्पलैः पत्ररसेर्मर्दयेत्तत्तलीकृते ।

मर्दयेत्तत् पुनर्दत्त्वा गन्धं माषचतुष्टयम् ॥३२॥

तन्मध्ये गन्धकं दत्त्वा मर्दयेत्तदनन्तरम् ।

भौल्या काचघटीमध्ये सन्निरुध्य प्रयत्नतः ॥३३॥

बालुकायन्त्रमध्यस्थां कृत्वा काचघटीं ततः ।

पाकस्तत्र तथा कार्थ्या भवेद्यामत्रयं यथा ॥३४॥

काचपात्रं समाकर्षेत् सिद्धं सूतं ततः परम् ।

भक्षयेद्वाक्ताकाः पञ्च रोगैराक्रान्तपुद्गलः ॥३५॥

भोजनं पूर्वरीगोक्तं यत्नतः कारयेद्भिषक् ।

दुर्बलं वपुरत्यर्थं बलयुक्तं करोत्यसौ ॥३६॥

पुटान्तरं त्रिवङ्गमौषधं शान्दलीमूलरसेन सामवयं खादेत् । सुकवेरिति ।—सुकवेः
मिरा वाचां गुग्गुला यत्यना इव रचना इव इत्यर्थः, सुकवेः रचना यथा सुरसा,
तथा अनेन रसेन युवा सुरसो भूयात् इति निष्कर्षः ॥ ३६—३० ॥

भूतेन्द्रे—तत्तलीकृते पत्तलीकृते, पत्तलीभूते सतीत्यर्थः । “तत्तलीकृते” इत्यत्र
“पत्तलीकृतम्” इति पाठे—आर्द्रोभूतं यथा स्वात् तथा मर्दयेदित्यर्थः । मर्दयेत्तत्
पुनरिति ।—रक्तोत्पलपत्ररसेः मुक्ताफलादिकं मर्दयित्वा माषचतुष्टयं गन्धञ्च तत्र दत्त्वा
रक्तोत्पलपत्ररसेरेव पुनर्मर्दयेत्, ततः पुनरपि माषचतुष्टयं गन्धं तन्मध्ये दत्त्वा मर्दयेत् ।
भौल्याः भौवणयोग्याः देया इत्यर्थः, काचघटीमध्ये स्थाप्या इति निष्कर्षः ; “भौल्या”
इत्यत्र “वौल्या” “चिन्ना” वा इति पाठकल्पना सुगमार्था ; काचघटीमध्ये प्रयत्नतः
सन्निरुध्य सा काचघटो वौल्या औषधं यथायथं विन्यसं न वा काचघटौ अविज्ञते-
वाक्ता न वा इत्यादिपरीक्षायां सावहितं दर्शनीया इत्यर्थः । चिन्ना इति पाठपक्षे—
काचघटीमध्ये औषधं चिन्ना । रोगैराक्रान्तपुद्गलः रोगैराक्रान्तः पुद्गलः शरीरं यस्य सः ;
“पुद्गलः” इत्यत्र “युद्गलः” “युगलः” इति पाठान्तरद्वयम् । “पूर्वरीगोक्तम्” इत्यत्र
“पूर्वयोगोक्तम्” इति पाठकल्पना साधीयसी ; पूर्वयोगोक्तं कुसुमायुधोक्तं मधुराशनी

शुक्रवृद्धिं करोत्येष ध्वजमङ्गलं नाशयेत् ।

मासेनैकेन सूतेन्द्रो रोगनाशाय कल्पते ॥३७॥

शालयो मुद्गयुक्ताश्च गांधूमा भोजने हिताः ।

घृतं गव्यं तथा क्षीरं स्निग्धं पथ्यं प्रयोजयेत् ॥

पारावतस्य मांसञ्च तित्तिरेर्लावकस्य च ॥३८॥

अथ काश्यंहरयोगः ।—

शुद्धं सूतं वाजिगन्धाच्च यष्टीं पक्त्वा दुग्धं तच्च काश्यं ददीत ॥३९॥

अथ काश्यंहरयोगतथम् ।—

एवञ्चाप्यं वापयित्वा च दद्यात् यद्वा यष्टिं मागधीं वाजिगन्धाम् ।

मध्वाज्याभ्यां शाल्मलीषत्वयुक्ता शम्बूकैर्वा भर्जितैर्वाप्यमिश्रैः ॥

॥४०॥

भवेदित्यर्थः । योगोऽयं रसरवाकरे किञ्चित् परिवर्तिताकारेण अभिभवकामदेव-
रसनाया पठितः ; तथा च—“सुक्ताफलं प्रबालञ्च सुरथं रौप्यमेव च । तीक्ष्णकैकं
समादाय पृथक् गन्धं समूतयोः ॥ रक्तोत्पलदन्ताभ्यामिमर्दयेद्द्विवसतयम् । मर्दयित्वा
पुनर्द्वयं गन्धं साधयत्तुष्टयम् ॥ तस्यैव पत्रतोयेन पुनर्दत्त्वा च गन्धकम् । शङ्खान्धापि
तोयेन रुद्धा काचघटे दृढे ॥ ततस्तु बालकायन्त्रे पचेत् घामवयं ततः । काचकूप्याः
समाज्जथ सिद्धसूतमतः परम् ॥ खादन्तु रक्ताकाः पथ्यं रोगैराकान्तमानवः । भोजनं
पूर्ववद्द्वयं यवतः सततं भिषक् ॥ दुर्बलं वपुरत्यर्थं मज्जवत् जायते वृथा ॥ मासेनैकेन
सूतेन्द्रः पित्राग्राशयेद्गदान् ॥” इति ॥ ३१—३८ ॥

काश्यंहरयोगे—शुद्धं सूतं शोधनमारणादि नैर्भा विगुहं पारदं, रससिन्दूर-
मित्यर्थः । आवर्तितदुग्धे सूतादिकं दत्त्वा मोदकवत् पचेदिति ॥ ३९ ॥

काश्यंहरयोगतथे—चाप्यं कृष्टम् ; “चाप्यम्” इत्यत्र “वाप्यम्” इति पाठान्तरम् ;
वापयित्वा प्रक्षिप्य, दुग्धे इति शेषः । पूर्वयोगोक्तदिशा आवर्तितदुग्धे कृष्टचूर्णे
प्रक्षिप्य चाल्मल्य च दद्यादित्येको योगः । यष्टीत्यादिद्वितीययोगे—मागधी पिप्पली ;
सण्धादिवयाणा चूर्णे घृतमधुशाल्मलीमूलरसेः संयोग्य दद्यादिति । शम्बूकैरित्यादि-
तृतीययोगे—वा चयना घण्टादिवयं भर्जितैः वाप्यमिश्रैः कृष्टमिश्रैः शम्बूकमांसेः सह
दद्यादिति ॥ ४० ॥

अथ मदनकान्तदेवः ।—

गोलं गन्धकसूतयोस्त्रिकटुकक्वाथेन बद्धाऽथ भू-
 कुष्माण्डान्तरवस्थितं विपिहितं तेनैव लिप्धोपरि ।
 माषैर्दण्डलमाज्यपक्वमथ तत् कुष्माण्डमध्यादरेत्
 तच्चूर्णं लवसन्मिने सुरक्तता-चूर्णस्य मुष्टिद्वयम् ॥४१॥
 जया शतावरी कृष्णा कपिकच्छफलं तिलाः ।
 प्रत्येकं पलसम्माना यवाः पञ्चपलान्मिताः ॥४२॥
 तावन्मोचफलं द्वे च यष्टी मुष्टिद्वयं शुभा ।
 निक्षिप्य सप्त सप्ताव भावनाः क्रमशश्चरेत् ॥४३॥
 महाबलाबलानाग-बलाभिर्द्राक्ष्याऽपि च ।
 कृष्णाधात्रीक्ष्मिषापि दन्तपात्रे निवेश्य च ॥४४॥
 मत्स्यण्डिकायुतं वल्ल-द्वयमानं भजेन्निशि ।
 अनुपानमिह प्रोक्तं धारोष्णं सुरभेः पयः ॥४५॥
 टोषमार्त्तवजं हत्वा कुर्याद्दोषप्रवर्द्धनम् ।
 ध्वजोत्साहं तथा स्त्रीषु वाजोकरणमुत्तमम् ॥४६॥

मदनकान्तदेवे—विपिहितं तेनैव भूमिकुष्माण्डखण्डेनैव आच्छादितम् । लव-
 सन्मिने पादपानिने, तच्च पलद्वयमपेक्ष्य बोद्धव्यम् । “लव” इत्यत्र “पल” इति कश्चित्
 पाठः । सुरक्तताचूर्णस्य गुडूचीचूर्णस्य मुष्टिद्वयं पलद्वयम् । जया विजया ।
 तावन्मोचफलं रश्माफलमपि पञ्चपलान्मितमित्यर्थः । द्वे च यष्टी यष्टिमधुनः
 पलद्वयम् ; “द्वे” इत्यत्र “द्वौ” इति पाठः न मत्स्यक्, पलशब्दस्य नपुंसकलिङ्गत्वात् ।
 मुष्टिद्वयं शुभा वंशलोचनायाः पलद्वयम् । समेति ।—वत्स्यमाथमहाबलादीनां सप्तानां
 दद्याथां प्रत्येकेन सप्त भावनाः दद्यात् ; तत्र महाबला अतिबला श्रेयबला इत्यर्थः ।
 बला पीतपुष्पबला नागबला गीरवतखड्गबला । दन्तपात्रे गजदन्तनिर्मिते भाजने ।
 सुरभेः पयः गोदुग्धम् । अश्वमर्थः,—कञ्जलीं चिकटुक्वाथेन मर्दयित्वा गोलकं
 कथ्यात्, ततः तद्गोलकं भूमिकुष्माण्डादरे संस्थाप्य क्तिटमुक्त्वं भूमिकुष्माण्डखण्डेनैव
 पिधाय च पिष्टमापकत्वेन दण्डलोत्सेधं लिप्तेत्, अथ तत् पिष्टं हृते पचेत्,
 प्रीतीभूतञ्च कुष्माण्डमध्याल्लतं कञ्जलीगोलकं तं बहिष्कृत्य विचूर्ण्य च पञ्चार्द्ध-

अलं मलयवायुना कुसुदवाभवेनाप्यलं
मधुव्रतसुखायिनः कलितपञ्चमाः के पिकाः ? ।
अतो भज विशङ्कितं रतिसरोजिनीभास्करं
मनोजपरिदेवतं मदनकामदेवं रसम् ॥४७॥

अथ कामधेनुः । —

हेमाभ्रमस्त्वकान्ताकाः प्रत्येकं पलमात्रकाः ।
एकत्र द्राविताः सर्वे कर्षभूनागसस्त्वकाः ॥४८॥
पलविंशतिसूतेन तैश्च पिष्टिं प्रकल्पयेत् ।
शतधा पातयेत् सूतं पिष्टीं कृत्वा पुनश्च तैः ॥४९॥
शिष्टं द्विपलिकं सूतं सत्र्यासाद्भस्मतं नयेत् ।
भस्मोभूते रसे तस्मिन् शिष्टे चैकपले ततः ॥५०॥
वज्रं निष्कमितश्चाभ्र-सत्त्वं षट्पलिकं क्षिपेत् ।
द्विपलं गन्धकं शुङ्गं द्विटिनं मर्दयेत्ततः ॥५१॥
तत् सर्वं लोहजे पात्रे क्षिप्वा च मृदुवह्निना ।
शाल्यलोमूलजं क्वाथं चत्वारिंशत्पलोन्मितम् ॥५२॥
जारयद्रसराजस्य दत्त्वा दत्त्वाऽल्पमल्पकम् ।
स्वाङ्गयोतं रमं कृत्वा सुगाढं परिमर्दयेत् ॥५३॥

प्रमाणं गृह्णीयात्, ततः गुडूचीचूर्णादिकं यथोक्तमानं तच्च निविध्य सङ्काशलादीनां
यथायोग्यं रसेन काथेन वा सप्त सप्त बारान् भावयित्वा गजदन्तमये भाजने
स्त्रापयेदिति ॥ ४१—४७ ॥

कामधेनौ—कालं काललोहम् । अर्कः ताम्रम् । कर्षेति । —कर्षे कर्षप्रमाणं
भूनागसत्त्वं सोषकसत्त्वं यत्र तादृशाः, हेमाभ्रमत्त्वकान्ताकाः इत्यस्य विशेषणम् ।
तैः हेमादिभिः भूनागसत्त्वान्तेः । शिष्टम् अवशिष्टं, शतधा पातनेन यदा पलद्वयसूतः
अवशिष्टः स्यात्, तदा इत्यर्थः, सत्र्यासात् “रसस्योषधयुक्तस्य भाण्डरुदस्य यजतः ।
सदापिपुतचुक्तात् क्षेपः सत्र्यास उच्यते ॥” इत्यटमाश्रयोक्तस्य अर्थं क्रियाविशेष-
माश्रित्य, उक्तदिशा अवशिष्टं द्विपलं सूतं भाण्डमध्ये निरुध्य पुटविशेषेण दग्ध्वा
इत्यर्थः । भस्मोभूते इति । —भस्मावशिष्टे पलेके तस्मिन् रसे । कृत्वा चाङ्गव्य,

नालीपातेन तत् काथं रजोदग्धं प्रदापयेत् ।

ततः करण्डके क्षिप्त्वा यत्नेन स्थापयेत् खलु ॥५४॥

सोऽयं गुञ्जामितघृतयुतः सेवितो हन्ति रोगां-

स्तत्तद्दोषप्रभवकुटिलान् दुःखसाध्यान् समस्तान् ।

दद्याद्दीप्तिं जठरशिखिनः स्त्रीशतं सेवयेत्,

स्थैर्यं कुर्यादपि च वपुषो नामतः कामधेनुः ॥५५॥

अथ महाभसत्त्वम् ।—

कणाभ्रकस्य धान्याभ्रं कृत्वा भृङ्गाश्विनि क्षिपेत् ।

तस्मिंश्च तुल्यकं देयं सूक्ष्मं ताप्यभवं रजः ॥५६॥

टङ्गणश्चाग्निना भृष्टं तावदेव विनिक्षिपेत् ।

क्वागास्थिसम्भवं चूर्णं चतुर्थांशेन निक्षिपेत् ॥५७॥

रसभस्माष्टमांशश्च गुडगुञ्जापुरस्तथा ।

पञ्चाजेन विनिष्पिष्य गोलौक्यविशोध्य च ॥५८॥

ततो नूतनभाण्डस्य जलघृष्टेन पाण्डुरा ।

सकृच्छ इत्यर्थः । अत्रारिंशत्पलीनितं शाल्मलीमूलकावम् अल्पमल्पं दत्त्वा दत्त्वा इत्युक्तम्, इदानीं तद्दानप्रकारमाह, नालीति ।—रजोदग्धं पाककाले औषधचूर्णं यथा सम्यक् दग्धं स्यात्, नातिदग्धं न वा हीनदग्धं स्यादित्यर्थः, तथा तत् काथं शाल्मलीमूलजं काथं, नालीपातेन नात्या नाडीकया, नलिकया इत्यर्थः, पातेन पातनेन प्रदापयेत्, पाककाले शाल्मलीकाथं वंशादिनलिकया अल्पाल्पं कृत्वा तथा दातव्यं, यथा औषधं सम्यक् पकं भवेत् इत्यर्थः । करण्डके रौद्रादिभाजने । जठरशिखिनः जाठराग्रे ॥ ४८—५५ ॥

महाभसत्त्वे—ताप्यभवं रजः स्वर्णमाचिकमक्ष । तावदेव अधकतुल्यमेव, अथ अथादीनां चतुर्णां तुल्यभाजत्वम् । क्वमेति ।—क्वागास्थिचूर्णम् अधपादिकम् ; “क्वागास्थिसम्भवं चूर्णम्” इत्यत्र “क्वागविष्टाभवं चारम्” इति क्वचित् पाठः । रसेति ।—रससिन्दूरश्च तथा हृत्पुष्पाफलगुग्गुलूनां प्रत्येकत्रः अथात् अष्टमांशत्वम् । पञ्चाजेन क्वागमूत्रपुरीषदधिदुग्धघृतेन पञ्चविधेन ; “पञ्चाजेन” इत्यत्र “पञ्चाज्येन” इति

विलिप्य वटिकाः सर्वा हरित् सर्वं पुरोक्तवत् ॥

महाभ्रमत्त्वमेतत् स्यादेकमप्यखिलार्त्तनुत् ॥५८॥

अथ उमापतिः ।—

त्रिफलाकथितैः सार्द्धं पुटितञ्च शतावधि ।

इत्थं महाभ्रमत्त्वं तस्मृत् शोणचतुष्टयम् ॥६०॥

एकशोणमितं सम्यग्रसराजस्य भस्म च ।

एकशोणमितं गन्धं त्रिफला च त्रिशोणिका ॥६१॥

कान्तपात्रे क्षिपेदतत् सर्वं घृतमितायुतम् ।

मर्दयेदतियत्नेन यावत् स्यात् प्रहराष्टकम् ॥

तत् कल्कं निक्षिपेत् कान्त-लोहजातकरण्डके ॥६२॥

संसिद्धोऽयमुमापतिर्वररसा गुञ्जामितः सेवितो

मामेनैव महामयान् प्रशमयेत् पथ्यादियुक्तिं विना ।

नित्यं क्षीरघृताशनेन च पुनः संसेवितो नाशये-

दध्नेनैव जरां बलोपलितकैर्दद्याच्छताब्दं वयः ॥६३॥

उमापती रसः सोऽयमुमापतिरिवापरः ॥६४॥

पाठेऽपि स एवात्रैः । हरित् सर्वं पुरोक्तवत् पूर्वोक्ताभ्रमत्त्वनिष्काशनविधिना सर्वं हरित् वटिकाभ्यः सत्त्वमाहरदित्यर्थः । अथमाशयः—धान्याभोक्तं कृष्णः भक्ष्यं भृश-
राजसं मज्जनयोग्ये निक्षिप्य स्थापयेत्, तत्र च तुल्यादिपथम अभ्युत्थं, कागास्थि-
चूर्णमभपाटं, रसभस्मादीनां चतुर्णामष्टमांशञ्च निक्षिप्य तावन्मर्दयेत्, यावत्
रसशोषणं स्यात्, ततः चाजपञ्चकेन निषिष्य क्षुद्राकतौः वटिकाः कृत्वा शोषयेत्,
अनन्तरं नूतनभाण्डमेकं जलेन घृष्टा तज्जलेन पाण्डुराणकलकेन ताः वटिकाः
निष्येत्, अथ सत्त्वनिष्काशनविधिना ताभ्यः सत्त्वं सङ्कृज्य सर्वरोगेषु योग्ये-
दिति ॥ ५६—५८ ॥

उमापती—इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण निष्पादितं महाभ्रमत्त्वं तदाख्यभषजं त्रिफला-
कथितैः त्रिफलाकाशैः सार्द्धं मर्दयित्वा शतावधि शतवारपर्यन्तं पुटितं, कुर्यादिति
शेषः ; घृतं पुटितं तत् महाभ्रमत्त्वं शोणचतुष्टयं कर्षमेकम् । जरां बलोपलितकैः,
बलोपलितकैः सङ्ग जरां नाशयेदित्यन्वयः ॥ ६०—६४ ॥

अथ महाकनकसुन्दरः ।—

कान्तकाञ्चनगन्धाश्म-जारितं मारितं रसम् ।
 चतुर्निष्कमितञ्चाथ स्वर्णं निष्कमितं मतम् ॥६१॥
 निक्षिप्य कान्तपात्रे तु पञ्चाशन्निष्कसन्मितम् ।
 जारयेद्गन्धकं शुद्ध-गन्धेन बड्वाग्निना ॥६२॥
 निष्कतुल्यमिदं चूर्णं श्लक्ष्णीकृत्य प्रयत्नतः ।
 निक्षिपेत् मधुमम्पूर्णं घृतसुस्निग्धभाण्डके ॥६३॥
 अमुनैव प्रकारेण पथ्यानां षष्टिसंयुतम् ।
 त्रिशतं साधयेत् यत्नात् शास्त्रदृष्टविधानतः ॥६४॥
 त्रिधा विभज्य तत्रैकां समादाय हरीतकीम् ।
 एकपादं दिनाभ्याञ्च द्वितीयं दिवसेस्त्रिभिः ॥६५॥
 तृतीयञ्च ततः पादं चतुर्भिर्दिवसेभ्योजेत् ।
 एकैकाञ्च ततः पथ्यां भजेदावत्सरं नरः ॥६६॥

महाकनकसुन्दरः—कान्तं कान्तलौहं, गन्धाग्निं गन्धकः ; कान्तादिभिः विभिः सह रसं मर्दयित्वा मारयेदित्यर्थः । चतुर्निष्कमितमिति पादं मारितं रसमित्यनेन सम्बध्यते, तथाविधं मारितं रसं चतुर्निष्कमितं गृह्णीयात् । “मतम्” इत्यत्र “मतम्” इति क्वचित् पाठः । निक्षिप्येति ।—पञ्चाशन्निष्कप्रमाणं गन्धकं कान्तलौहपात्रे संस्थाप्य बड्वाग्निना तत्राग्निना इत्यर्थः, “बड्वाग्निना” इति क्वचित् पाठः ; जारयेत्, ततः शुद्धगन्धेन तथा जारितगन्धकेन सह ; “शुद्धगन्धेन” इत्यत्र “शुद्धगन्धेन” इति क्वचित् पाठः । निष्कतुल्यमिदं चूर्णं रसचूर्णे स्वर्णचूर्णञ्च, शुद्धगन्धेन सह भिषजितात् श्लक्ष्णपारदात् निष्कतुल्यं श्लक्ष्णीकृत्य सूक्ष्मचूर्णे कृत्वा घृतभाविने मधुपूर्णे भाण्डे स्थापयेत् । अमुनैव प्रकारेण घृतभाविने तस्मिन्नेव मधुपूर्णे भाण्डे निक्षेपणेत्यर्थः, पथ्यानां षष्टिसंयुतं त्रिशतं षष्ठ्यधिकशतवयं हरीतकीगुडकं साधयेत् बल्यमाणस्याधिषसूद्धरक्षोपयोगिता-मापादयेदित्यर्थः, यथा भाण्डज्यचूर्णानि हरीतकीभिः सह भिषजतां यानि तथा कुर्यादित्याशयः । शास्त्रदृष्टविधानतः यथाशास्त्रम् । विधेति ।—एकां हरीतकीं समादाय त्रिधा विभज्य इत्यन्वयः । एकपादमिति ।—भागवत्ये विभक्तस्य तस्य हरीतकीगुडकस्य एकभागं दिवसद्वयेन, अपरभागं दिवसद्वयेन, त्रिभागं दिवसचतुष्टयेन खादेत्, एवं

जीवेद्वर्षशतं साग्रं बलीपलितवर्जितः ।

सर्वव्याधिर्वनिर्मुक्तो नित्यं स्त्रीशतसेवितः ॥ ७१ ॥

बलवान् वीर्यवाञ्चैव पूर्णसर्वेन्द्रियोदयः ।

जायते नात्र सन्देह आक्षेप्यं पारमेश्वरी ॥ ७२ ॥

हृन्त्यादक्षिगटांश्च कुष्ठमखिलं मामान्तमासेवितः

पाण्डुश्च ग्रहणीं प्रमेहगुदजान् गुल्मांश्च शूलामयान् ।

स्थूलत्वश्च तथा महाऽग्निसदनं रोगांस्तथैवापरान्

कुर्याद्दीपनपाचनं खलु नृणां भाव्यामयारोधनम् ॥ ७३ ॥

अयं रसायनो दिव्यो महाकनकसुन्दरः ॥ ७४ ॥

अथ अमृतार्णवः ।—

कृत्वा कण्टकवेध्यानि पलस्वर्णदलान्यथ ।

अष्टांशरसलिप्तानि निक्षिपेदुपले त्राहम् ॥ ७५ ॥

हिङ्गुहिङ्गुलगन्धश्म-ताप्यनीलाञ्जनैः समैः ।

कृतं चूर्णमधश्चोद्धुं पत्राणां विनिधाय च ॥ ७६ ॥

शतवारं पुटेत् सम्यक् निरुत्यं भस्म जायते ।

तद्भस्महिगुणं सूतं तस्माद्दिगुणहिङ्गुलः ॥ ७७ ॥

तस्माच्च हिगुणं ताप्यं सर्वमेकत्र मर्दयेत् ।

रसेन मातुलुङ्गस्य निरन्तरदिनद्वयम् ॥ ७८ ॥

तुषैः पुटत्रयं दद्यात् गोकरीषैः पुटत्रयम् ।

पुटानि दश विंशत्या छगणानां प्रकल्पयेत् ॥ ७९ ॥

नवदिवससेवनानन्तरं प्रत्यहमेका हरीतकी संवत्सरं यावत् सेवेत । भाव्यामयारोधनम्
अनागतावाचप्रतिषेधनं, रोगाक्रमणशङ्कानिवारकमित्यर्थः ॥ ६५—७४ ॥

अमृतार्णवे—अष्टांशरसलिप्तानि स्वरूपपलापेक्षया अष्टमांशपारदयुतानि, निक्षिपे-
दुपले त्राहं खलुशिलायां दिवसद्वयं मर्दयेत् । समैः प्रत्येकं स्वरूपपलतुल्यैः । पत्राणां
स्वरूपपत्राणामित्यर्थः । तस्मात् सूतात् । तस्माच्च हिङ्गुलाश्च । “हिगुणम्” इत्यत्र
“निगुणम्” इति पाठान्तरम् । विंशत्या छगणानां विंशतिसङ्ख्याकवलीपलेः ।

त्रिंशद्विष्णुगणैर्दद्यात् पुटानामथ विंशतिम् ।

तस्मिन् वैक्रान्तजं भस्म क्षिपेत्तत्पादमात्रया ॥८०॥

सर्वमेकत्र सञ्चर्य भृङ्गराजनिजद्रवैः ।

भावयेत् सप्तवाराणि मिध्यत्येवमयं रसः ॥

श्रीमता नन्दिना प्रोक्तो रसोऽयममृतार्णवः ॥८१॥

गुञ्जावीजमिनः मिताष्टतकणा-संयोजितः सेवितः

कुर्यात् वृष्यमनेकशो वरबध्मन्तोषमम्पोषणः ।

यक्ष्मव्याधिविधूननो गरगरः पर्याप्तदोषाननो

मूलव्याधिनिवारणः किमपरं सर्वाभयध्वंसनः ॥८२॥

रश्मापक्वफलं घृतं दधि पयः क्षैरेयकं मण्डका

बालं तालफलं मिता च पलनं सन्तानिका मोदकाः ।

खर्जूरं वरपानकञ्च वटकाः पुण्ड्रैक्षवः सारसं

गुर्वन्नं पनसं तथा शिखरिणी पथ्यं रसेऽस्मिन्मतम् ॥८३॥

अथ मदनसञ्जीवनः ।—

त्रिपलं पारटं शुङ्गं गन्धकञ्च चतुष्पलम् ।

मृतमभ्रकमस्त्वञ्च स्वर्णं कान्तञ्च कार्पिकम् ॥८४॥

तत्पादमावया निलितौषधचतुर्थांशिन । गरगरः विषदोषापहः इत्यर्थः । “गरडूरः” इति क्वचित् पाठः । मूलव्याधिनिवारणः शिरोरोगविनाशनः अशौरीरोगविनाशनो वा । क्षैरेयकं दुग्धकृतभक्ष्यम् । मण्डकाः “वारिणा कोमला कृत्वा समिता साधु मन्दयेत् । इक्षुबालनया तस्या लीमुं सम्यक् प्रसारयेत् ॥ अधोमुखघटस्थैतां विमृतां प्रक्षिपेत् बहिः । मृदा बङ्गिना साध्यः सिद्धौ मण्डक उच्यते ॥ दुग्धेन साज्यवत्त्वेन मण्डकं भक्षयेद्ब्रह्म । अथवा सिद्धमांसिन सतकवटकेन वा ॥” इत्युक्तं लेखपिष्टकविशेषाः । सन्तानिका जीरकरः, सरक्तमिष्टान्नविशेषो वा, “सरभाजा” इति भाषा ; तत्प्रकारस्य पाकराजि दृष्टव्यः । सारसं कमलं, तदाख्य-पक्षिविशेषस्य मांसं वा । पनसं कण्टकौफलम् । शिखरिणी सन्धानविशेषः द्राक्षाभेदी वा ॥ ७५—८३ ॥

द्विपलं हेम विमलं भूनागायाः पलत्रयम् ।

एभिः सर्वैश्च सम्पेथ प्रकुर्यान्नष्टपिष्टिकाम् ॥८५॥

बालुकायन्त्रविन्यस्त-लोहपात्रे क्षिपेत्ततः ।

अधस्ताज्ज्वालयेदग्निं कारयेत्तदनन्तरम् ॥८६॥

मण्डूकत्राक्षिकायाश्च मुषल्याश्चित्तकस्य च ।

हस्तिशुण्ड्यास्तथा क्ष्ण-निर्गुण्ड्या गोक्षुरस्य च ॥८७॥

रसं कुडवमानेन क्षिपेत् खल्ले मुहुर्मुहुः ।

तत आकृष्य सम्पिथ मधुना सहयेद्धतः ॥८८॥

मज्जमूषोदरे क्षिप्त्वा विनिरुध्य विशोष्य च ।

दशभिश्च्छृण्वेर्देयं पुटं सम्पूज्य भैरवम् ॥

करण्डे क्षेपयेत् पिष्ट्वा समभ्यर्चितकन्यकः ॥८९॥

रसः ख्यातो नाम्ना भुवि मदनमञ्जोवन इति

द्विवक्त्राभ्यां तुल्यो हृतमधुसितादुग्धसहितः ।

निपीतः सप्ताहं प्रचुरमधुराहारसहितो

नरं कुर्यान्नारोग्यतसुरतसुप्रोत्तमद्वयम् ॥९०॥

मदनमञ्जोवने—कार्षिकमिति पदम् अभादिभित्तिभिः सम्प्राप्ते । हेम सुवर्ण-
माश्लिकः, स्वर्णस्य प्रागुक्तत्वात् हेमशब्देनात्र तत्तुल्यगुणः सुवर्णमाश्लिकः बोद्धव्यः ।
विमलम् इति हेम इत्यस्य विशेषणं, विमलं प्रशस्तमित्यर्थः । भूनागाया सोसकस्य ;
“भूनागस्य” “भूनागस्य” इति वा पाठः साधुः ; “भूनागायाः” इति कश्चित् पाठः ।
एभिः सर्वैः गन्धकादिभिः सह इत्यर्थः, सम्पेथ, पारदमिति जीवः । लोहपात्रे
लोहखल्ले इत्यर्थः, परत्र खल्ले इति दर्शनात् । कारयेत् इति पदं रसमित्यने-
नास्वीयते ; मण्डूकत्राक्षिकादीनां कुडवमानेन रसं कारयेत् । मण्डूकत्राक्षिकायाः
मण्डूकपर्ण्याः । मुषल्याः तालमूल्याः । क्षिपेत् खल्ले मुहुर्मुहुः तं रसं
बालुकायन्त्रीपरिखलोहपात्रे अल्पमल्पं कृत्वा मुहुर्मुहुः क्षिपेदित्यर्थः । ततः
आकृष्य कृत्स्ने एव रसे चयिते खल्लात् अत्रतार्थ्य इत्यर्थः । मज्जमूषोदरे “निर्दिष्टा
मज्जमूषा या मज्जद्वयसम्पुटात् । परंपद्यादिरसादीनां स्नेदनाय प्रकीर्तिता ॥”

हृन्वाटुन्नाटमृगं जयगदमरुचिं कामलामस्तपितं
 सर्वान् पित्तोत्थरोगान् रुधिरभवगटान् रक्तपित्तज्वरांश्च ।
 रक्ताग्निः पित्तगुल्म सततमतिमहाऽऽनाहमन्तर्विदाहं
 पाण्डुं मेहांश्च मोहं प्रदरगदमपि स्त्रीजनस्योग्रमाशु ॥८१॥

अथ मदनमोदकः ।—

त्रैलोक्यविजयापत्तं घृतेनाऽऽभर्जितं कियत् ।
 त्रिकटुत्रिफलामुस्ता-कुष्ठसैन्धवधान्यकम् ॥८२॥
 शटीतालीशपत्रञ्च कटुफलं नागकेशरम् ।
 अजमोदा यमानो च यष्टौमधुकमेव च ॥८३॥
 मथी जीरकयुग्मञ्च सवीजं भर्जितं तथा ।
 यावन्त्येतानि चूर्णानि तावदेव तदौषधम् ॥८४॥
 तावत्येव सिता ग्राह्या यावत्याऽऽयाति बन्धनम् ।
 घृतेन मधुना युक्तं मोदकं परिकल्पयेत् ॥८५॥
 त्रिसुगन्धिसमायुक्तं कर्पूरेणापि वासयेत् ।
 स्थापयेत् घृतभाण्डे च श्रीमन्नमदनमोदकम् ॥८६॥

इत्युक्तलक्षणकमुषाविशेषाभ्यन्तरे । समभ्यर्चितकन्यकः समभ्यर्चिताः कन्यकाः कुमाय्यः,
 गौर्वादिमाटुका इत्यर्थः, येन सः ॥ ८४—८१ ॥

मदनमोदके—त्रैलोक्यविजयापत्तं शक्राशनपत्रम् आभर्जितम् ईवभर्जितम् ;
 “घृतेनाऽऽभर्जितं कियत्” इत्यत्र “सवीजं घृतभर्जितं” “मुस्ता” इत्यत्र “शङ्खी”
 तथा “सवीजं भर्जितं तथा” इत्यत्र “शङ्खीत्वा स्वल्पभर्जितम्” इति सर्वतन्त्र-
 सम्मतानि पाठान्तराणि । जीरकयुग्मं सितऋणभेदेन जीरकद्वयम् । “सवीजम्”
 इति पदं “त्रैलोक्यविजयापत्तम्” इत्यनेन तथा “भर्जितम्” इति पदं “जीरक-
 युग्मम्” इत्यनेन च सम्बन्धनीयं तन्त्रान्तरदर्शनात्, तच्च प्रागेव प्रदर्शितम् ।
 तदौषधं विजयापत्तं, सर्वेष्वर्थसमनस विजयाचूर्णे ग्राह्यम् । तावतीति ।—सितायास्तु
 तावती मात्रा दातव्या यावत्या पिच्छाकारः भवितुमर्हति, मात्रा तु सा “मोदके
 विषयी गुडः” इति परिभाषानुसारेण सर्वेष्वर्थाङ्गिगुणा । घृतमधुनीस्तु युक्त्या
 किञ्चित् दातव्यम् । त्रिसुगन्धीति ।—त्रिसुगन्धि-कर्पूरेणोः तावती मात्रा दद्या

भक्षयेत् प्रातस्तथा वातश्लेष्मनिवारणम् ।
 कासघ्नं सर्वशूलघ्नं बलीपलितनाशनम् ॥८७॥
 आमवातविकारघ्नं सङ्गृह्यहणीहरम् ।
 सदा निषेवयेद्धीमान् कृत्स्नमग्निविवर्धनम् ॥८८॥
 ब्रह्मणः प्रमुखाच्छ्रुत्वा वासुदेवे जगत्पती ।
 एतत् कामविह्वलार्थं नारदेन प्रकीर्तितम् ॥
 तेन लक्षं वरस्त्रीणां रेमे स यदुनन्दनः ॥८९॥

अथ सटनाशने कर्पूरादिप्रलेपः ।—

शशिसूतकटङ्कणमागधिकं घृतशूरणमाक्षिकहेमरसम् ।
 मुनिपत्ररसप्लवनेपवरं युवतीमदपातनवश्यकरम् ॥९०॥

अथ द्रावणे नूतप्रयोगः ।—

योषागर्भरजः सूतं मधुना सह लेपयेत् ।
 अवश्यं द्रावयेन्नारीं शुष्ककाष्ठोपमामपि ॥९१॥

यथा सुगन्धमात्रं ज्ञात, तत्र त्रिसुगन्धि त्वगीत्वापचम । “कर्पूरेणापि वासयेत्”
 इत्यत्र “कर्पूरेणाचिनामयेत्” इति सर्वतत्त्वसम्यक्तः पाठः । घृतभास्वे घृतभास्विते
 भास्वे ॥ ८२—८९ ॥

कर्पूरादिप्रलेपे—शशी कर्पूरः । माक्षिकं कौटम् । हेम नागकेशरं रसं
 रसाञ्जनं, न तु हेमरसं धन्तूपदस्वरसं, स्वरसार्थकरमशब्दस्य पुल्लिङ्गत्वात् । मुनि-
 पत्ररसप्लवनेपवरम् अग्न्यपत्ररसाप्लवनेपलेपः । “लेपवरं” तथा “वश्यकरम्”
 इत्यनयोः पुल्लिङ्गता समीचीना, श्रेष्ठवाचिवरशब्दस्य पुल्लिङ्गत्वात् । युवतीमदपातनं
 कामिनीगर्वनाशनम् ॥ ९०० ॥

नूतप्रयोगे—योषागर्भरजः प्रसवकालनिःसृतं स्त्रीरक्तम् ; “रजः” इत्यत्र “रसम्”
 इति पाठोऽपि—स एवार्थः । “योषा” इत्यत्र “योषा” इति पाठकस्यना सुगन्धार्था,
 तस्मान्तरं तादृशयोगदर्शनात्, तथा च—“एकं माक्षिकमिष्टं लेपात् क्रीडातकीभवं
 चूर्णम् । योषां वराकृपाते कुर्वते रेतःसृतिस्तथाः ॥” इति, योषागर्भरजः
 योषाफलमध्यचूर्णम् ॥ ९०१ ॥

अथ पुष्पधन्वा रसः ।—

रश्माकन्दे हेमतारार्कपिष्टी पक्ता यन्त्रे भूधरे तां पचैत ।

गन्धं दत्त्वा षड्गुणाहं क्रमेण पश्चात् कालं तेन तुल्यं क्रमेण ॥१०२॥

दत्त्वा खल्ले शास्त्रलीयष्टितोयैः पक्षैकं तन्मर्दयेन्नागवक्त्राः ।

नीरैर्यामं पुष्पधन्वा रसः स्यात् वल्लं दद्यादस्य पूर्वोक्तयुक्त्या ॥१०३॥

पुष्टिं वीर्यं दीपनं सोऽत्र दद्यात् हन्याद्रागान् रोगयोग्यानुपानैः ॥

॥१०४॥

अथ द्रादणे सिन्दूरप्रयोगः ।—

सिन्दूरमधुनो लेपं लिङ्गस्य कुरुते यदि ।

अत्यर्थं रमते नारीं द्रावयेद्दग्मानयेत् ॥१०५॥

अथ रसेन्द्रचूडामणिः ।—

सूतहेमभुजगाभ्रवङ्गकाः कान्तताप्यविमलाः समाक्षिकाः ।

भागवद्विमलिता विमर्दिता धूर्त्तपत्रविजयासलिलेन ॥१०६॥

पुष्पधन्वि—रश्माकन्दे कदलीकन्दरसे पक्ता खल्ले मर्दनेन परिणतिमापद्यमाना हेमतारार्कपिष्टी स्वर्णरजतताम्रपिष्टी ; कदलीकन्दरसेन मर्दयान् पिष्टतया परिणतं स्वर्णादिवयमित्यर्थः । तां पिष्टम् । षड्गुणाहं विगुणम् । क्रमेण अल्पमल्पं क्रत्वा । तेन तुल्यं गन्धतुल्यम् । शास्त्रलीयष्टितोयैः शास्त्रलीयष्टिमधुभ्यां कृतेः कायेः । अयमर्थः,—इमादिवयं रश्माकन्दनीरे मर्दयित्वा पिष्टं कुर्यात्, ततः तां भूधरे यन्त्रे पचन्त, अथ यन्त्रादाकृत्य तदोषधं समेन गन्धकचूर्णेन खल्ले मर्दयेत्, निःशेषं मिश्रीभूते तस्मिन् गन्धके पुनरौषधसमं गन्धकं दत्त्वा तथा मर्दयेत्, एवं विगुणगन्धकं तत्र समिश्रय गन्धकवत् औष्ठचूर्णमपि तथा मिश्रयेत्, अनन्तरं शास्त्रलीयष्टिकाद्येन पचकालं भावयित्वा ताम्बूलोपवरसेन पट्टरमेकं मर्दयित्वा च निगूढं स्थापयेदिति । पूर्वोक्तयुक्त्या घृतमधुसितादुग्धमङ्कित इत्यर्थः ॥ १०२—१०४ ॥

सिन्दूरप्रयोगे—सिन्दूरमधुनः सिन्दूरः नागसम्भवः तेन सह मधु तस्य ॥१०५॥

रसेन्द्रचूडामणौ—भुजगः शैलकः । कान्तं कान्तलौहम् । ताप्यं स्वर्णमाक्षिकम् । समाक्षिका इत्यनेन पुनर्माक्षिकग्रहणात् माक्षिकस्य खड्गशभागाः ; ताप्यमित्यस्य तुल्यकमित्यर्थो वा । विमलः रौप्यम् । “विमलः विमलभण्ड, समाक्षिकाः रौप्यमाक्षिकः” इति कथितम् । भागवद्विमलिताः उत्तरोत्तरमेकैकभागवद्भ्या

सप्तसप्त चपलान्मृतवल्ली सारिवासुररताञ्जलतोयैः ।
 वारिवाहसृतयष्टिकावरी-वानरीभुजगदृष्टदुक्तेन ॥१०७॥
 अर्धभागमहिफेनकं न्यसेत् मर्दयेत् सुरसपुष्परसेन ।
 चन्दनार्ककरहाटपिप्पली-श्रावणीकृतरसैः पृथगेव ॥१०८॥
 कुङ्कुमेन च ततो विभावयेन्नाभिजद्रवयुतं विभावयेत् ।
 सिद्धिमेति रसरङ्ग्यं शुभः कामिनौमदविधूननदक्षः ॥१०९॥
 शर्करामधुयुतो द्विमाषकः स्तम्भकश्चिधुवने वनितानाम् ॥११०॥
 संसेव्य सूर्तं न च रात्रिभोज्यं कुर्वीत पेयं पथ एव चैकम् ।
 तृतीययामे रससेवनन्तु कृत्वा निशायाः प्रहरे व्यतीते ॥१११॥
 सेवेत कान्तां कमनौयगात्रां घनस्तनीमुज्ज्वलचारुवस्त्राम् ।
 रत्युत्सुकां कातरलोलनेत्रां विलोलहारावलिमादधानाम् ॥११२॥
 किं कामे तनुकामिनां मलयजेनावश्यजेनाऽऽशु किम् ?
 किं चन्द्रेण परोपतापजनिना ? पुंस्कोकिलेनापि किम् ? ॥११३॥

मिश्रिताः । सप्त सप्त प्रत्येकरसेन सप्त सप्त वारान्, विमर्दिता इत्यनेन सत्त्वन्धः ।
 चपला पिप्पली । अमृतवल्ली गुडूची । सुररता रत्नयोरभेदात् सुररता इत्यर्थः,
 सुररता ज्योतिषतो । अञ्जलः अञ्जलिका, लाञ्जालुरित्यर्थः ; “सारिवासुर-
 रताञ्जलतोयैः” इत्यत्र “भाङ्गिकामुररताञ्जलतोयैः” इति कुर्वचित् पाठः ; एषां
 तोयैः काष्ठैः । वारिवाट् सुककम् ; वायुपपदपूर्वकस्य बहुधातोः क्तिपि
 निपातनात् । अमृतः वाराहीकन्दः । यष्टिका यष्टिमधु । वरी शतावरी । वानरी
 शकशिखी । भुजगदृष्टिः सर्पाक्षी, “पानशिखलि” इति ख्यातम् । अर्धभागमहिफेनक-
 मिति एकभागपेक्षया अहिफेनस्यार्द्धत्वम् । सुरसपुष्परसेन तुलसीमञ्जरीस्वरसेन ।
 अर्ककरहाटः आकारकरमः, “आकरकरा” इति ख्यातम् । श्रावणी मुण्डरी ।
 नाभिजद्रवयुतं मन्नाभिजलसंयुतं, तच्च फाण्डकषायविधिना कर्तव्यम् । निधुवने
 सुरतकर्मणि । तृतीययामे इति अङ्कः । अस्त्व पञ्च—पारदः १. स्वर्णं २. सीसकः ३,
 अभ्रं ४, वज्रं ५, लौहं ६, स्वर्णमाचिकः अथवा तृत्वं ७. रौप्यं ८, स्वर्णमाचिकः
 ९. एकौकस्य धुसूरादीनां वषाद्योग्यं रसेन काष्ठेन वा सप्तवारान् भावयेत्, ततस्तस्मिन्
 सूर्तार्द्धम् अहिफेनं मिश्रित्वा सुरसपुष्पादीनां रसेन एकेकवारं मर्दयेत्, ततः

सहस्रशः सन्ति यदा तरुण्यो मदालसाः पीनपयोधरा दृढाः ।

तदा रसेन्द्रः परिषेवणीयो विकारकारी भवतीह नान्यथा ॥११४॥

अथ कामेश्वरी मोदकः ।—

सम्यक्प्रारितमभ्रकं कटुफलं कुष्ठाश्वगन्धा वचा

मेथो मोचरसो विदारिसुषलीगोक्षुरकेक्षुरकम् ।

रश्माकन्दशतावरी ह्यजमुदा माषास्तिला धान्यकं

यष्टोनागबलाकचूरमदनं जातौफलं सैन्धवम् ॥११५॥

भार्गी कर्कटशृङ्गिका त्रिकटुकं द्वे जीरके चित्रकं

चातुर्जातपुनर्नवागजकणा-द्राक्षाशटोकटफलम् ।

शास्त्रल्यङ्गिफलत्रिकं कपिभवं बीजं समं चूर्णयेत्

चूर्णाङ्गं विजया सितया द्विगुणिता मध्वाज्यमिश्रन्तु तत् ॥११६॥

कुङ्कुमोदकेन स्रगनाभिजलेन च सप्त सप्त वारान् विभाव्य माषद्वयमिता वटिकां कृत्वा शर्करामधुभ्यां प्रयोजयेदिति । किमिति ।—तनुकामिनां स्वल्पकामवता, शीघ्रगुणत्वात् धर्षविहीनानामित्यर्थः, चाशु कामे कामोद्दीपने मलयजेन शीघ्रख्येन किम् ? अवश्यजेन कर्पूरनिर्यासेन उद्दीपकेन वा किम् ? न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः, रसेनानेनैव तत्कर्मसम्पादनात् । दृढाः रतिदक्षाः ॥ १०६—११४ ॥

कामेश्वरमोदके—कटुफलं ककोलम् । “वचा” इत्यत्र “वसृता” इति पाठान्तरम् । विदारो भूमिकुष्माण्डः । सुषली तालमूली । इक्षुरकं कोकिलाक्षः । “इक्षुरकम्” इत्यत्र नपुंसकलिङ्गता इत्येकवद्भावात् ; “इक्षुरकाः” इति पाठकल्पना दृष्टा । अजमुदा अजमोदा, यमानौत्यर्थः । यष्टी यष्टिमधु । नागबला गोरक्षतण्डुला । कचूरः शटी । मदनं दमनकः, “दना” इति भाषा ; “दमनम्” इति पाठान्तरम् । रसरत्नाकरे तथा भेषज्यरत्नावल्याश्च “सम्यक्” इत्यादि प्रथमपादे “चूर्णांशं गगनं घनार्द्धविमलं गन्धश्च कुष्ठाश्वता” इति, तथा तृतीयचतुर्थपादयोश्च “भीरुश्चैव कर्षकं यमानिका तालाङ्कुरं धान्यकं यष्टी नागबला तिला मधुरिका जातौफलं सैन्धवम्” इति पाठान्तरम् । गजकणा गजपिप्पली । “कटफलम्” इत्यत्र “बालकम्” इति पाठान्तरम् । शास्त्रल्यङ्गिः शास्त्रलीमूलम् । कपिभवं बीजं शुकशिश्वीबीजम् । चूर्णाङ्गं विजया मिलितचूर्णविषया विजयाचूर्णस्य अर्द्धभागः । “चूर्णांश” इति

कर्षाङ्गां गुलिकां विलेह्यमथवा कृत्वा च तत् सेवयेत्
 पेया क्षीरसिताऽनुवीर्य करणे स्तम्भेऽप्ययं कामिनाम् ।
 रामावश्यकरः सुखातिसुखदः प्रौढाङ्गनाट्यावकः
 क्षीणे पुष्टिकरः क्षयक्षयकरो नानाऽऽमयध्वंसकः ॥११७॥
 नित्यानन्दकरो विशेषकवितावाचाविलामोद्भवं
 धत्ते सर्वगुणं महास्थिरवयो ध्यानावधानेऽप्यलम् ।
 अभ्यासेन निहन्ति मृत्युपलितं कामेश्वरो वत्सरात्
 सर्वेषां हितकारको निगदितः श्रीनित्यनाथेन सः ॥११८॥

अथ साधने कृकवाकुप्रयोगः ।—

कृकवाकूपिच्छन्तु मुद्रिकाकारकं कृतम् ।
 ऊर्णनाभेः सुजालेन वेष्टयित्वाऽथ धारयेत् ॥
 वामहस्तं कनिष्ठायां नरो वीर्यं न मुञ्चति ॥११९॥

काचित्कः पाठः न समीचीनः, रसरत्नाकरादिविरोधात् । सिता द्विगुणिता
 विजयाचूर्णसहितसर्वचूर्णमपेक्ष्य सिताया द्वैगुण्यम् । मध्याह्नमिश्रं मोदकवन्धनोप-
 शोभिषृतमधुसहितम् । “कर्षाङ्गां गुलिकां विलेह्यमथवा कृत्वा च तत् सेवयेत्”
 इत्यत्र “कर्षाङ्गां गुलिकां विधात्र विधिना राजा सदा सेवयेत्” इति रसरत्नाकरीकः,
 “कर्षाङ्गां गुटिकाऽथ कर्षमथवा सेव्या सता सर्वदा” इति भेषज्यरत्नावल्याक्तो वा
 पाठः सुगमः । अथक्षयकरः अशरीरनाशनः । विशेषकवितावाचाविलामोद्भवं विशेषा
 उत्कर्षवती, या कवितावाचा कवित्वद्योतकवाक्यं, कवित्वशक्तिरित्यर्थः, तस्याः
 विलासात् स्फुरन्नात् उद्भूतः उत्पत्तिः यस्य तादृशं, तथा महास्थिरवयः मद्भूतं प्रशस्तम्,
 आरोग्यादिसमन्वितमित्यर्थः, स्थिरं द्यौवनश्चमित्यर्थः, वयः येन तथाभूतं, स्वास्थादि-
 सम्यग्भवः प्रददुषमित्यर्थः, सर्वगुणं धत्ते, मोदकोऽयमिति शेषः । ध्यानावधाने
 ध्याने विषयचिन्तने परमात्मचिन्तने वा यत् अवधानम् अप्रमादः, चित्तैकाग्रिकरणं
 तत्र अलं समर्थः ॥ ११५—११८ ॥

कृकवाकुप्रयोगे—कृकवाकुः कुकुटः तस्य उपपिच्छम् ऊर्णनाभेनावस्थितं
 पुच्छम् ; उग्रः पृष्ठवन्निः तत्रस्थं पुच्छमित्यर्थो वा । “कृकवाकूपिच्छम्” इति
 काचित् पाठः । मुद्रिकाकारकम् अक्षुरीयवाकारम् ॥ ११९ ॥

अथ सन्धने कर्पूरादिप्रलेपः ।—

कर्पूरं टङ्कणं सूतं मुनिपुष्परसं मधु ।

मर्दयित्वा लिपेत्तेन लेपो यावत्तु तिष्ठति ॥१२०॥

अथ सन्धने पुण्डरीकप्रयोगः ।—

लिङ्गन्तु पुण्डरीकस्य चूर्णीकृत्य प्रयोजयेत् ।

मधुना तिलकं कृत्वा रेतस्तन्मकरो ह्यलम् ॥१२१॥

अथ पूर्णचन्द्रः ।—

सूतं गन्धस्राश्रगन्धागुडूची-यष्टीतीयैर्वासरैकं विष्टुष्य ।

क्षुद्रं शङ्खं मौक्तिकं लौहकिट्टं भस्मीभूतं सूततुल्यञ्च दद्यात् ॥१२२॥

भूकुष्माण्डैर्वासरैकं विष्टुष्य गोलं कृत्वा भूधरे तं पुटेत ।

चूर्णं कृत्वा नागवज्जीरसेन दद्यादेकं मर्दयित्वा च निष्कम् ॥१२३॥

मध्वाज्याभ्यां पूर्णचन्द्रं रसेन्द्रं पुष्टिं वीर्यं दोषनञ्चैव कुर्यात् ।

योज्यश्वायं पित्तरोगे ग्रहण्यामर्शरोगे सेवयेत् बोलयुक्तम् ॥१२४॥

स्त्रीणां तापे शाल्मलीनौरयुक्तं मात्रामानं कालदेशं विभज्य ॥

१२५॥

कर्पूरादिप्रलेपे—मुनिपुष्परसम् अगस्त्यपुष्परसम् । लेपो यावत्तु तिष्ठति रत्नस्र-
जरो वीर्यं न मुञ्चति इति पूर्वोक्तेन सन्धनः ॥ १२० ॥

पुण्डरीकप्रयोगे—पुण्डरीकस्य श्वेतपद्मस्य, लिङ्गं कैशरमित्यर्थः, सन्धनयोगे शुभ-
पद्मस्य कैशरस्यैव सर्वत्र प्रयोगदर्शनात् ; चूर्णीकृत्य मधुना सह तिलकं कृत्वा तिलक-
रूपेणेत्यर्थः, प्रयोजयेत् । रेतस्तन्मकरः इत्यत्र सः तिलकः इति विशेषपदमुच्यते ।
अलम् अत्यर्थम् ॥ १२१ ॥

पूर्णचन्द्रे—क्षुद्रं शङ्खं शङ्खकं शङ्खनाभिं वा । “भूकुष्माण्डैः” इत्यत्र “कुष्माण्डैर्वा”
इति कश्चित् पाठः । चूर्णमिति ।—चूर्णं कृत्वा नागवज्जीरसेन मर्दयित्वा च निष्पादित-
मिति शेषः, पूर्णचन्द्रं रसेन्द्रम् एकं निष्कं निष्कमाचमित्यर्थः, दद्यादित्यन्वयः ;
“पूर्णचन्द्रो रसेन्द्रः” इति षष्ठकत्वसं सुगमम् । स्त्रीणां तापे स्त्रीरोगे, प्रदर-
क्षीनिव्यापदादिरोगे इत्यर्थः ; स्त्रीणां स्त्रीभिः तापे इति वा, स्त्रीषामतिस्त्रिज-
जनितपातुषीषादिरोगे इत्यर्थः ॥ १२१—१२५ ॥

अथ कामदोषणः ।—

शुद्धं गर्भं वाजिगन्धाम् यष्टिं माकन्दमिन्दुरकमात्मगुप्तम् ।

मध्वाज्याभ्यां शास्त्रलीसत्त्वयुक्तां शम्बूकैर्वा भुज्यते वाऽऽज्यमिश्रैः॥

॥१२६॥

अथ मदनजीवनः ।—

कर्पूररससंयुक्तं सौभाग्यरससंयुतम् ।

लेपाय क्रियते नित्यं नाम्ना मदनजीवनः ॥१२७॥

अथ मङ्गाकल्कः ।—

धान्याभ्रकं विनिक्षिप्य मुषलीरसमर्दितम् ।

स्थाल्यां क्षिप्त्वा निरुध्याथ पिधान्या मध्यरन्ध्रया ॥१२८॥

स्थाल्यधो ज्वालयेद्वह्निं यामपर्यन्तमुद्धतम् ।

ततः क्षिपेत् पिधान्यां हि व्योम्नस्त्वष्टृगुणं पयः ॥१२९॥

जीर्णं पयसि पिष्ट्वा तत्तालमूलीरसैः पुनः ।

इत्थं हि साधयेत् व्योम त्रिवारमतियत्नतः ॥१३०॥

अजादुग्धैः पुटेत् पञ्चादाराणि खलु विंशतिः ।

कम्पिलकरसेनापि विष्णुक्रान्तारसेन च ॥१३१॥

कामदोषणे—वाजिगन्धाम् अश्वगन्धाम् । माकन्दम् आसफलम् । इन्दुरकं शोकीलाक्षम् । शम्बूकैः शम्बूकमांसेः । आज्यमिश्रैः घृतभर्जितैरित्यर्थः ; शास्त्रलीसत्त्व-
युक्तानात्मगुणं शुद्धगन्धादिकञ्च मध्वाज्याभ्यां सेवेत, अथवा घृतभर्जितैः शम्बूकमांसेः
सङ्घ चूर्णमिदं भुज्यते इति निष्कर्षः । क्वचित् पुस्तके द्वितीयपादे —“मागन्ध.....
माजिगन्धाम्” इति खल्विहितः पाठो दृश्यते ॥ १२६ ॥

मदनजीवने—कर्पूररससंयुक्तं कर्पूरपारदाभ्यां मिश्रितम् । “सौभाग्यरससंयुक्तम्”
इत्यत्र “सौभाग्यं रससंयुतम्” इति पाठकल्पना साधीयसी ; सौभाग्यं टङ्कणं, रस-
संयुतं भिन्दूरमिश्रमित्यर्थः ; एवञ्च कर्पूरपारदभिन्दूरमिश्रयेण सौभाग्येन लेपः कार्यः
इति । क्वचित् पुस्तके “कर्पूरं रससंयुक्तं सौभाग्यं रससंयुतम्” इति पाठः ॥ १२७ ॥

मङ्गाकल्के—विनिक्षिप्य इत्यत्र मुषलीरसे इति शेषः । मुषलीरसमार्दितं
तालमूलीरसपिष्टम् । पिधान्या मध्यरन्ध्रया मध्यस्थिद्वये शरावेण । व्योमः प्रभातम् ।

कदलीकन्दतोयेन तालमूलोरसेन च ।

शतवारं पुटेदेवं भवेत् व्योम रसायनम् ॥१३२॥

तत् व्योमभसितं ताप्य-भस्म ताम्रस्य भस्म च ।

शुक्लभस्म च तत् सर्वं समांशं परिकल्पयेत् ॥१३३॥

भावयेत् समधा निम्ब-रसैर्लोध्ररसेन च ।

केतक्या मार्कवस्यापि कदल्यास्त्रिफलस्य च ॥१३४॥

कोरकस्यापि सारेण तावद्वाराणि यत्नतः ।

इति निष्पन्नकल्केऽस्मिंस्तत्समां त्रिफलां क्षिपेत् ॥१३५॥

भस्मसूतं सिता व्योषं चित्रकञ्च पृथक् पृथक् ।

मधुना गुटिकाः कार्याः शोणेन प्रमिताः खलु ॥१३६॥

महाकल्क इति ख्यातो दक्षाभ्यां परिकौर्त्तितः ।

एकां गोलीं समारभ्य तथैकैकां विवर्द्धयेत् ॥१३७॥

चतुर्गोलकपर्यन्तं मण्डले मण्डले खलु ।

सेविता द्वादशाब्दन्तु जरामृत्युविवाजितः ॥१३८॥

सर्वव्याधिनिर्मक्तो दृढदीपनपाचनः ।

भोमतुल्यबलः श्रीमान् पुनसन्ततिसंयुतः ॥१३९॥

सर्वारोग्यमयो भीम-समानभुजविक्रमः ।

सर्वाऽऽयाससहिष्णुश्च शीतातपसहस्तथा ॥१४०॥

अमन्दसम्प्रदीपितः प्रौढस्त्रीरतिरञ्जनः ।

दृढसर्वेन्द्रियो भूत्वा जौवेर्द्धशतत्रयम् ॥१४१॥

श्वासं कामं क्षयं पाण्डुं तथैवाष्टौ महागदान् ।

मण्डलाद्धेन शमयेत् ज्वरादीनान्तु का कथा ? ॥१४२॥

कीर्षं पयसि दुग्धे शुष्के । विषकान्ता अपराजिता । ताप्यभस्म स्वर्णमाचिकभस्म ।

शुक्लभस्म ताम्रभस्म, तेन च ताम्रभस्मनी भागद्वयम् । मार्कवस्य भृङ्गराजस्य । कोरक-

स्यापि सारं च काकीलीरसेन मृषालरसेन वा । तावद्वाराणि सप्त वारान् । तत्समां

निष्पन्नकल्कसमां । दक्षाभ्याम् अग्निगोकुमाराभ्याम् । मण्डले मण्डले प्रत्यष्टयत्ना-

सर्वगोरससंयुक्तं पथ्यं कार्यं रसायने ।

रोगोचितमथान्यच्च ददौत खलु रोगिणे ॥१४३॥

मंसारसुखमिच्छद्भिः सुखं जीवितुमिच्छद्भिः ।

नित्यं रसो निषेव्योऽयं दिव्यामृतसमो मतः ॥१४४॥

इति श्रीवेद्यपतिमिहगुप्तस्य मृगोर्वाग्भटाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये

वाजोक्तकरणनिरूपणं नाम सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

विंशद्विषसे । अष्टौ महागदान् “वातव्याध्यश्लेष्मरीकृत्र-सेष्टोदरभगन्दराः । अशांसि यदृषोत्यष्टौ महारोगाः प्रकीर्तिताः ॥” इत्युक्तान् । अत्राद-त्वग्दीघ-राजयक्ष्मा-श्वस-मधु-मेह-भगन्दोदराश्लेष्मरीरूपान् नारदस्तुत्यक्तान् वा । मन्त्रालाङ्गेन औषधसिद्धिदिनादारभ्य चतुर्विंशतिदिवसेन । “सर्वगोरससंयुक्तम्” इत्यत्र “सर्वे गोरससंयुक्तम्” इति पाठ-कल्पनं माधु । कल्पना चास्यैवंविधा कार्या—तालमूलीरसेन पिष्टं धान्वाभ्रकं श्याम्यां निधाय मध्यच्छिद्रेण शरावेणाच्छाद्य च प्रहरं यावत् तौत्राग्निना पचेत् । प्रहरान्ते च शरावच्छिद्रेण अभादष्टगुणं दग्धं श्याम्यां प्रक्षिप्य दग्धशोषं यावत् तौत्रज्वालां दद्यात्, ततो वह्निकृत्य पुनस्तालमूलीरसेन पिष्टा पर्ववत् पचेत्, एवं बारव्यं कुर्यात्, ततः कागदग्धेः स्रष्टु पिष्टा पुष्टपाकं कुर्यात्, एवं विंशतिवारान्, ततः कम्पिज्जकाटीनां प्रत्येकरसेन पिष्टा पिष्टा विंशतिपुष्टं दद्यात्, एवञ्च शतवारपुष्टितं तदभं ताप्यादि-भक्षणा तुल्यमानेन संयोज्य निम्बादीनां प्रत्येकरसेन काष्ठेन वा सम मज्ज वारान् भावयेत्, एवं कल्कीकृते तस्मिन्नभाटौ सर्वतुल्यं त्रिफलादीनां त्र्येकं चूर्णं दत्त्वा मधुना श्रावमानां गुडिकां कुर्यात्, ततः अष्टचत्वारिंशद्दिनानि एकैकां गुडिकां भक्षयेत्, एकोनपञ्चाशद्दिनमारभ्य षष्ठ्यवतिदिनानि यावत् गुडिकाद्वयं खादेत्, एवं प्रत्यष्टचत्वारिंशद्विषसे एकैकां वह्नयित्वा गुडिकाचतुष्टयं खादेत्, ततो दादशम्यं यावत् चतस्र एव गुडिकाः प्रतिदिनं भक्षयेदिति ॥ १२८—१४४ ॥

इति रसरत्नसमुच्चयबोधिन्यां सप्तविंशोऽध्यायः समाप्तः ॥ २७ ॥

अथाष्टाविंशतितमोऽध्यायः ।

अथ लोहकल्पः ।—

अथ रमस्य प्राधान्यकीर्तनम् ।—

अल्पमात्रोपयोगित्वादरुचेरप्रमङ्गतः ।

क्षिप्रमारोग्यदायित्वादौषधेभ्योऽधिको रसः ॥ १ ॥

सकलयथेन रसोपरमलौहादियतो भेषजसमुदायः उक्तः, इदानीं तेषां भङ्गा-
गुणानां रसविषयलौहानां स्वतन्त्राणामेव व्याधिविध्वंसित्वप्रदर्शनाय कल्पस्थानमष्टा-
विंशाध्यायं विवक्षुः लोहकल्पं प्रथममारभते । स्थाने चास्मिन् लौहविषयसामानां
कल्पनां वक्ष्यति ; तत्र रमस्य औषधेभ्यः प्राधान्यव्यापनार्थम् आदौ तद्गुणानाह,
अल्पेति ।—अल्पमात्रोपयोगित्वात् अल्पमात्रेण प्रयुक्तव्याधि रमस्य व्याधिनिग्रहण-
सामर्थ्यादित्यर्थः । औषधेभ्यः कृष्यकल्कादिरूपेभ्यः द्रव्यमात्रेण प्रयोज्येभ्यः इत्यर्थः,
रसः पारदः सतत्तादादिष्वेत्यर्थः, वक्ष्यति आये स्वयमेव—“सतानि लौहानि
रसोभवन्ति” इति । अधिकः गुणाधिक्यकरः । किञ्च पारदापरपर्यायः रसः खलु
न केवलमौषधेभ्यः एवाधिकः, परन्तु योगमात्रमत्वात् बहुकार्यकरत्वात् मुक्तिपदत्वाच्च
सर्वेभ्य एवाधिकः ; यत उक्तं रसेन्द्रचिन्तामणौ—“अविराज्जायते देवि ! शरीर-
मजरामरम् । मनसश्च समाधानं रसयोगादवाप्यते ॥ सत्त्वश्च लभते देवि ! विज्ञानं
ज्ञानपूर्वकम् । सत्त्वं सन्नाय मिथ्यन्ति योऽप्राप्तिं कृतमृतकम् ॥ यावन्न शक्तिपातस्तु
यावन्न पाशकलनम् । तावत्तस्य कुतः शुद्धिर्भायते भस्ममृतके ? ॥ यावन्न हरवीजस्तु
भक्षयेत् पारदं रसम् । तावत्तस्य कुतो मुक्तिः कुतः पिण्डस्य धारणम् ? ॥ खदेहे
खेचरत्वञ्च शिवत्वं येन लभ्यते ॥” इति । अपरञ्च—“दोषहीनो रसो ब्रह्मा
मूर्च्छितस्तु जनार्दनः । मारितो रुद्ररूपी स्यात् बडः साक्षात् सदाशिवः ॥” इति ।
तस्य दर्शनात् स्पृगनात् भक्षणात् शरणात् पूजनात् दानाच्च षड्विधं फलं लभ्यते ।
यथा—“केदारादीनि लिङ्गानि पृथिव्यां यानि कानिचित् । तानि दृष्ट्वा च यत्
पुण्यं तत् पुण्यं रसदर्शनात् ॥ चन्दनागुरुकर्पूर-कुङ्कुमान्तर्गतो रसः । मूर्च्छितः
शिवपूजा सा शिवसाध्निधिमञ्जये ॥ भक्षणात् परमेशानि ! हन्ति तापप्रथं रसः ।
दुर्लभं ब्रह्मविष्णुदेवैः प्राप्यते परमं पदम् ॥ इहोमकारिणकालः स्थं रसेन्द्रं

अथ रसभेदाः ।—

लोहं मृतं कन्दविषं सूत्रञ्चेति निगद्यते ॥ २ ॥

अथ पानीयकषायविधिः ।—

कार्यः पानकषायोऽस्मिन् षोडशांशावशेषितः ॥ ३ ॥

परमेश्वरि ! । अरन् विमुच्यते पापैः सद्यो जन्मान्तराजितैः ॥ स्वयम्भूलिङ्गसाहचर्येण
फलं सम्यगर्चनात् । तत् फलं कीटिगणितं रसलिङ्गार्चनाद्वेत् ॥ रसविद्या परा
विद्या त्रेलोक्येऽपि च दुर्लभा । भुक्तिमुक्तिकरौ यस्मात् तस्मात् श्रेया गुणान्वितैः ॥
इत्यादिगुणो श्रेयः इति ॥ १ ॥

“शेषधेभ्योऽधिको रसः” इत्युक्तं, तत्र कक्षावद्रसः ? इत्याशंसायां तमेव
विवर्णोति, लोहमिति ।—मृतं लोहं भक्ष्यकृताः स्वर्णाद्यष्टौ धातवः ; ते च—“सुवर्णं
रजतं ताम्रं कांस्यं पित्तलमेव च । नागं वङ्गं तथा लोहं धातवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ॥”
इति, “शुद्धलोहम्” इत्यादिना लोहनिष्ठपणाध्याये उक्तं वा । कन्दविषं विषकल्पे
वक्ष्यमाणं कर्कटादिकं, युक्तियुक्तं प्रयुक्तस्य विषस्यापि रसवत् रसायनत्वात् रसत्वम् ;
यदुक्तं—“विषं प्राणहरं तच्च युक्तियुक्तं रसायनम्” इति ; किञ्च नानार्थध्वनिमञ्जव्यांदौ
रसशब्देन विषस्यापि यद्व्यात् विषस्य रसत्वम् ; यदुक्तं—“शङ्करादौ विषे बोध्यं गुणे
रामे द्रवं रसः” इति । निगद्यते इत्यत्र रसः इति शेषः ॥ २ ॥

अत्रैव लोहकल्पादिषु विविधकायानामनुपानत्वेन सङ्घपानत्वेन च विधानात्
तत्साधनप्रकारमाह, कार्यं इति ।—अस्मिन् लोहकल्पादौ, न त्वन्यत्र इत्यर्थः, तत्र
चतुः-पञ्च षडष्ट द्वादशाङ्गंशावशेषितयमात् । षोडशांशावशेषितः इत्यनेनास्य पाचन-
शोधन-क्लेदन-संशमन-दीपन-तर्पण शोधनभेदेन सप्तविधेषु कषायभेदेषु शोधनकषायत्वं
ख्यापितं, तेषु अर्द्धावशेषः पाचनः, द्वादशांशकः शोधनः, चतुरंशकः क्लेदनः, अष्टांशकः
संशमनः, षड्भक्तौ दीपनः, पञ्चमांशकस्तर्पणः, शोधनस्य षोडशांशकः इत्युक्तत्वात् ;
यदुक्तं राजनिघण्टौ—“पाचनः शोधनीयश्च क्लेदनः शमनस्तथा । दीपनस्तर्पणः
शोधः इति सप्तविधाः स्मृताः ॥ पाचनोऽर्द्धावशेषश्च शोधनो द्वादशांशकः । क्लेदन-
चतुरंशस्तु शमनोऽष्टांशको मतः ॥ दीपनस्तु षड्भक्तश्च तर्पणः पञ्चमांशकः ।
शोधनः षोडशांशश्च कायभेदा इतीरिताः ॥” इति । किञ्च आग्नेयेषामुक्तं—“पाचनो
दीपनीयश्च शोधनः शमनस्तथा । तर्पणः क्लेदनः शोधः कायः सप्तविधो मतः ॥ पाचनः
पच्यते दीपान् दीपनैर्दीप्यतेऽनलः । शोधनो नलशोधौ स्यात् शमनः शमयेत् गदान् ॥
तर्पणस्तर्प्यते चातून् क्लेदी हरक्लेदकारकः । विमोषी शोषमादत्ते तस्मात् कायान्

अथ स्वर्णशोधनम् ।—

अथ पञ्चमृदा लितं हेमः पत्रं पुटानले ।

विपचेत्—

अथ रौप्यशोधनम् ।—

“—नागमावाप्य रूप्यञ्चोर्द्ध्वाग्निना धमेत् ॥४॥

अथ ताम्रशोधनम् ।—

स्रग्ध्रकक्षीरलवण-क्षाराम्लकृतं लेपनम् ।

तप्तताम्रस्य निर्गुण्डा रसे सिञ्चेत् पुनः पुनः ॥५॥

परीक्षयेत् ॥ पावनोऽर्द्धावशेषः स्यात् शोधनो द्वादशशतकः । क्लेदनयत्तुरंशश्च शसनी-
ऽष्टावशेषितः ॥ दीपनीयः षडंशस्तु तर्पणः पञ्चमाशकः । विशोषो षोडशशतश्च काचभेदाः
प्रकीर्तिताः ॥” इति । अत्र दूषितरसदोषादिशोधनपूर्वकं नवयौवनस्य कान्त्यादि-
सम्पादकत्वात् श्रीहृदीना रसायनानां, तदनुपाने विशोषितायः षोडशशतवशेषितः
विहित इति मन्तव्यम् ; यथा—षोडशशतवशेषितः इत्यस्य षोडश इति पदं
समाप्तान्तर्गतमपि पृथक्कृत्य षोडशगुणं कलं दत्त्वा अंशवशेषितः काच्य इति व्याख्या
करण्या, एषा च व्याख्या तन्तानुसारिणी पानीयकषायेषु ; यदुक्तं परिभाषाया—
“दशरत्नकमानेन गृहीत्वा तोलकद्वयम् । दत्त्वाऽभ्यः षोडशगुणं यावत् पादा-
वशेषितम् ॥” इति । भावप्रकाशेऽप्युक्तं—“पादशष्टः कषायः स्यात् यः षोडश-
गुणाम्भसा ॥” इति ॥ २ ॥

इदानीं स्वर्णादिलोहानां शोधनादिकं विचक्षुरादौ स्वर्णशोधनमाह, अथेति ।—
पञ्चमृदा “इष्टिका गैरिका लोणं भक्ष्य बञ्जीकसृत्तिका । रसप्रयोगकुशलैः कीर्तिताः
पञ्चसृत्तिकाः ॥” इत्युक्तेन सूत्र्यचकेन ; सूत्र्यस्वर्णपत्रं पञ्चसृत्तिकया चालिष्य
पुटाग्रो विपचेत्, एवं सुवर्णं विशुद्धं भवति । रसेन्द्रविज्जितानुवाक्युक्तं—“बञ्जीक-
सृत्तिका धूमं गैरिकं चेष्टका पटुः । इत्येताः सृत्तिकाः पञ्च जम्बीरैरारनालकैः ॥ पिष्टा
लेप्य स्वर्णपत्रं श्रेष्ठं पुटेन सिञ्चति ॥” इति । रौप्यगृह्णिमाह, नामनिति ।—इष्यं
सूत्र्यरौप्यपत्रं, नागं सौसक्तम् आवाप्य कल्कौक्य, पिष्टसौसकेन प्रलिप्य इत्यर्थः,
कूर्कपिना उपरिख्येन बज्जिना, भूधरपुटेनेत्यर्थः, तीक्ष्णाग्निनेत्यर्थः वा, धमेत्
पचेदित्यर्थः ॥ ४ ॥

ताम्रशोधनमाह, खुतीति ।—तप्तताम्रस्य इत्यत्र पत्रमिति शेषः, स्रग्ध्रकक्षीरा-
दिभिः ताम्रपत्रं लिप्ता प्रताप्य निर्गुण्योरसे द्वादशशतकः निर्वापयेत् ; तथा

अथ वङ्गनागयोः शोधनम् ।—

वङ्गनागं रसे तस्मिंस्तन्मूलेनावचूर्णकम् ॥६॥

अथ कान्तलौहस्य लक्षणम् ।—

यत्पात्राध्युषिते तोये तैलविन्दुर्न सर्पति ।

तारेणाऽऽवर्त्तते यत्तत् कान्तलौहन्तु तत् स्मृतम् ॥७॥

अथ कान्तलौहस्य शोधनम् ।—

अयसामुत्तमं सिञ्चेत्तप्तं तप्तं वरारसे ॥८॥

अ रसेन्दुलितानिधिः,—“सुस्यकंक्षीरलवण-कान्तिक्लैशासपत्रकम् । लिप्ता प्रताप्य निर्गुण्डीरसे सिञ्चेत् पुनः पुनः ॥ वारान् द्वादश तत् यज्येत् लेपात् तापाच्च शोधणात् ॥” इति ॥ ५ ॥

वङ्गनागशोधनमाह, वङ्गनागमिति ।—रसे तस्मिन् निर्गुण्डीरसे, निक्षिप्तमिति शेषः । तन्मूलेनावचूर्णकं निर्गुण्डीमूलचूर्णं कृतावचूर्णनं, निर्गुण्डीमूलचूर्णं वङ्गनागपत्रे प्रलिप्य संशोष्य सन्नाप्य च निर्गुण्डीरसे समधा सिञ्चेदिति ॥ ६ ॥

कान्तलौहस्य लक्षणमाह, यदिति ।—यत्पात्राध्युषिते इत्य यज्ञौहस्य पात्रे अध्युषितं स्थितं तस्मिन् । न सर्पति न विसरति, विसृतिं न भजते इत्यर्थः । तारेण रीप्येण द्रुतरीप्यपत्रेणेत्यर्थः, आवर्त्तते गालितं सत् मिश्रीभवतीत्यर्थः, यज्ञौहपात्रस्य जले निक्षिप्तः तैलविन्दुः न विक्षतो भवति, यश्च लौहं रीप्येण सह द्रवीकृतम् ऽक्षीभवति तत् कान्तलौहम् ; अन्यत्राप्युक्तं—“यत्पात्रे न प्रसरति जले तैलविन्दुः प्रतप्ते हिङ्गुर्गन्धं त्यजति च निजं तिक्ततां निम्बकण्ठकः । तप्तं दुग्धं भवति शिखराकारकं नैति भूमिं कृणाङ्गः स्यात् सजलवचकः कान्तलौहं तदुक्तम् ॥” इति । अन्यच्च—“स्वादुर्ध्रुव भवेन्निम्बकण्ठो रात्रिन्दिबोषितः । कान्तं तदुत्तमं यश्च हृष्येणावर्त्तितं मिलेत् ॥” इति ॥ ७ ॥

कान्तलौहस्य शोधनमाह, अयसामिति ।—अयसामुत्तमं कान्तलौहम् । वरारसे विफलाकाथे ; काथविधिश्च रसरवाकरे—“विफलाऽष्टगुणे तोये विफलाषोडशं पत्रम् । तत्काथे पादशेषे तु लौहस्य पञ्चपत्रकम् ॥ कृत्वा तप्तानि पत्राणि समवारं निषेचयेत् । एवं प्रक्षीयते दोषो गिरिजो लौहसम्भवः ॥” इति ॥ ८ ॥

अथ धातूनां सामान्यमारणम् ।—

एवं शुद्धानि लोहानि पिष्टान्यस्त्रेण केनचित् ।

मृतसूतस्य पादेन प्रलिप्तानि पुटानले ॥

पचेत्तुल्यस्य वा ताप्य-गन्धाश्महरतेजसः ॥८॥

अथ स्वर्णमारणम् ।—

अथवा मृतनागेन सुहृद्दीक्षीरेण काञ्चनम् ॥१०॥

अथ रौप्यमारणम् ।—

रूप्यं सुक्क्षीरताम्राभ्यां—”

अथ ताम्रमारणम् ।—

“—ताम्रं मूत्रास्त्रगन्धकैः ॥११॥

अथ वज्रमारणम् ।—

हरितालपलाशाभ्यां वज्रं—”

स्वर्षां लोहानां सामान्यतो मारणमाह, एवमिति ।—अस्त्रेण केनचित् जम्बीर-
मातुलुङ्गादीनामस्त्रानां केनचिदस्त्रेण । मृतसूतस्य पादेन लोहाश्चतुर्थेशेन सूतभक्षणा ।
मृताश्वमारणमाह, तुल्येति ।—गन्धाश्मा गन्धकः । हरतेजः पारदः । अस्त्रपिष्टं लोहपर्वं
तुल्यमानताप्यादिविशेष लोहपादिकेन प्रलिप्य पुटानले पचेदिति ॥ ८ ॥

अथ प्रत्येकधातूनां पृथक् पृथक् मारणं विवक्षुरादौ स्वर्णमारणमाह, अथवेति ।
—अथ अथवाशब्दः सामान्यमारणापेक्षया बोद्धव्यः । मृतसौसकं सुहृद्दीक्षीरेः पिष्टा-
नेन स्वर्णपर्वमालिप्य गजपटे पचेत् । अथ तन्मृताश्वदर्शनात् वक्ष्यमाणा क्रियाऽपि
कार्या—उक्तरीत्या पुष्टितं स्वर्णपर्वम् उद्धृत्य अष्टमांशभूनागेन सह अस्त्रद्वैः पिष्टा
कर्हाथः सौसकचूर्णं दत्त्वा च अष्टधा पचेत् ; यद्गत् रसरत्नाकरे—“मृतं नागं
सुहृद्दीक्षीरेरथवाऽस्त्रेण केनचित् । पिष्टा स्त्रिप्यं स्वर्णपर्वं रुद्धा गजपटे पचेत् ॥ आदाय
पेषयेदस्त्रेर्भूनागश्चाष्टमांशकम् । रुद्धा गजपटे पच्यात् पूर्वनागयुतं युतम् ॥ एवं पुनः
पुनः पच्यादष्टधा स्थिते ध्रुवम् ॥” इति ॥ १० ॥

रौप्यमारणमाह, रूप्यमिति ।—मृतताम्रं सुहृद्दीक्षीरेण पिष्टा तेन रौप्यपर्व-
मालिप्य गजपटे पचेत् । ताम्रमारणमाह, ताम्रमिति ।—मूत्रं गोमूत्रम् । अस्त्रं
काञ्चिकम् ॥ ११ ॥

वज्रमारणमाह, हरितालेति ।—पलाशः पलाशखरसः ; पलाशरसेन हरितालं

अथ सौसकमारणम् । —

“—नागं मनोहया ॥१२॥

अथ वङ्गस्य मारणान्तरम् । —

पारिभद्रस्य च रसेनाथवा भर्जयेत्तपु ॥१३॥

अथ सौसकस्य मारणान्तरम् । —

विश्वाक्षभिचुवीरद्र-बोधिहृच्चैरहिं पुनः ।

अहिमाराहिदमनौ-वामावज्जलतार्जुनैः ॥१४॥

पिशा तेन वङ्गपदं प्रलिप्य पुटे दद्यात् । यदुक्तं योगरत्नाकरे—“पलाशद्वययुक्तेन वङ्गपत्राणि लिपयेत् । तालेन पुटितं भस्म विवारं जायते ध्रुवम् ॥” इति । कश्चित् छरितालेन सह माचिकयोगोऽपि दृश्यते ; तथा च रसरत्नाकरे—“माचिकं छरितालेन पलाशध्वरसेन च । क्रतुकल्केन संलिप्य वङ्गपत्राण्य मारयेत् ॥” इति । सौसकमारणमाह, नागमिति ।—मनोहया मनःशिलया । जलेन मनःशिलां पिशा तेन सौसकमारणस्य यावत् पुटेन भस्मतां याति तावत् पुटेत् । कश्चित् वामापत्रसेन ताम्बूलोपत्रसेन वा मनःशिलां पिशा तेन कल्केन नागपदं प्रलिप्य विपुटेन हातिंशत्पुटेन वा नागमारणं कायेयिमांति दृश्यते , तथा च मारकौमुद्या—“मनःशिलायुतां नागः वासारसोवेमर्दितः । विभिर्गजपटैर्भस्म भवेत्तन्मोहरोगजित् ॥” इति । तथा योगरत्नाकरे—“ताम्बूलोरसमम्पिष्टः शिलालेपात् पुनः पुनः । हाचिंशद्भिः पुटेनागो निरुत्यो जायते ध्रुवम् ॥” इति ॥ १२ ॥

वङ्गस्य मारणान्तरमाह, पारिभद्रस्येति ।—तपु वङ्गम् । पारिभद्रस्य रसं दत्त्वा दत्त्वा वङ्गं लौहकटाहे भस्मतां यावत् लौहदण्डेन सञ्चाल्य पचैदिति ॥ १३ ॥

सौसकस्य मारणान्तरमाह, शिञ्जेति ।—विश्वा तिलिङो, अम्यात्सक् । अक्षः विभीतकः । भिचुः यावन्मो । वीरद्रः वीरतरुः, भज्जात इत्यर्थः, तन्नाम्नरे “भज्जात” इति पाठदर्शनात् । बोधित्रय, अमृत्यः । अहिं सौसकम् । अहिमारः विट्खदिरः । अहिदमनौ नागदमनौ । वज्जलता अखिमङ्गारः । अयोक्तं “अहिमाराहिदमनौवासा” इत्यत्र रसरत्नाकरे “बलापामार्ग” इति पाठान्तरम् ; तथा च—“विश्वाऽक्षभिचु-भज्जात-बलावज्जलताभवेः । अपामार्गाज्जनाश्रित्य-भस्मभिर्भर्जयेद्दण्डम् ॥ लौहपात्रे च समाहं तल्यं भस्मानि चायु च । दण्डे पलाशके चैव क्षिपते नात्र संशयः ॥” इति । सौसकं लौहकटाहे द्रावयित्वा शिञ्जः वगादिभस्म क्रमात् तत्र प्रक्षिप्य च पलाशदण्डेनालोद्यालोद्या भस्मीकुर्यादिति ॥ १४ ॥

अथ लोहभारणम् ।—

स्त्रीस्तन्ये हिङ्गुलेनायः पचेत्त्रिधा पुटेऽनले ॥ १५ ॥

अथ असम्यग्धारितलोहस्य लक्षणम् ।—

सर्वमेव सृतं लोहं सोत्थानं यदि सेवनात् ।

शूकवर्णाभकण्ठत्वक्-स्फोटारुचिविवन्धकत् ॥ १६ ॥

अथ निरुत्यलोहस्य लक्षणम् ।—

पक्वं यावन्निरुत्यानं सेव्यं वारितरं हि तत् ॥ १७ ॥

अथ निरुत्यलोहस्य परीक्षा ।—

कान्ते पुनः कलाभाग-ताप्ये मर्द्दोद्गमर्पिणि ।

क्षिप्तमावर्त्तितं तारं स्वप्रमाणं भवेद्यदि ॥

जानीयात्तन्निरुत्यानं—”

॥ १८ ॥

लोहभारणमाह, स्त्रीति ।—हिङ्गुलं मानवीदग्धनं पिष्टा तेन लोहपद्वीमालिष्य पटपाकेन पचेत् । रसरत्नाकरे तु हिङ्गुललोहार्थमानं तथा त्रिकलाकायादिनाऽपि सटनसूत्रं, तथा च—“हिङ्गुलस्य पलान् पञ्च नारीभ्यश्चनं प्रपयेत् । तेन लोहस्य पलायं लिपयेत् पलपञ्चकम् ॥ रुद्धा गजपटं पचात् कषायेस्त्रैफलैः पुनः । अम्बोरारनालेनी त्रिशत्यंशेन हिङ्गुलम् ॥ पिष्टा रुद्धा पुटेऽनले तथैव पाचयेत् पुनः । अन्वारिशतपुटेरेवं कान्तं तोत्थाञ्च मुञ्चकम् ॥ म्रियते नाव सन्देहः दत्त्वा दत्त्वा च हिङ्गुलम् ॥” इति ॥ १५ ॥

असम्यग्धृतस्य लोहस्य लक्षणमाह, सर्वमिति ।—सर्वमेव अष्टविधमवेत्यर्थः, सतं लोहं सेवनात् याद शूकवर्णाभकण्ठादिकत् शूकवर्णाभकण्ठः शूकस्य जल-शूकस्य वर्णः कृष्णवर्ण इत्यर्थः, स इव आभा यव तादृशः कण्ठः तदादिकत्, भवेदिति शेषः, तदा तत् सोत्थानम् अनिरुत्यभमितम् इति ज्ञेयम् ॥ १६ ॥

निरुत्यलोहस्य लक्षणमाह, पक्वमिति ।—पक्वं सृतं लोहं यावत् यदा वारितरं वारिणि जले तरतीति तादृशं जलं प्रवमानं, भवेत् इति शेषः, तदा निरुत्यानम् इति ज्ञेयं, तत तादृशनिरुत्यलोहं, सेव्यम् ॥ १७ ॥

निरुत्यलोहस्य परीक्षायाह, कान्ते इति ।—कलाभागताप्ये कलाभागं षोडशांशं ताप्यं अर्ण्यमाचिकं यत्र तादृशे । आवर्त्तितं द्रवीकृतम् । स्वप्रमाणं तारप्रमाणम् ; षोडशांशमाचिकेण तुल्यवीद्गमर्पिणि च म्रियते कान्तलोहमस्मानि किञ्चित् रौप्यद्रावं निक्षिपेत्, किञ्चदन्तरं तं द्रव्यं लोहान् पृथक्कृत्य तुलितं यदि दत्तप्रमाणमेव तिष्ठेत्

अथ अनिरुद्धलौहस्य पुनर्मारणम् ।—

“—सोत्थानञ्च मुहुर्मुहुः ।

त्रिफलाकाशसम्पृक्तं विपचेत् पुटपावके ॥१८॥

अथ प्रथम द्वितीयलोहकल्पौ ।—

हेम्नो रूप्यस्य वा भस्म वरोभृङ्गास्वभावितम् ।

गुञ्जाप्रमाणं त्रिफला-मितामध्वाज्यमिश्रितम् ॥

बृहणं बृष्यमायुष्यं कामलापाण्डकुष्ठजित् ॥२०॥

अथ तृतीयलोहकल्पः ।—

गन्धकेन समांशेन प्राग्बत्ताम्रञ्च मारितम् ।

धान्याभ्रकञ्च तुल्यञ्च दशनिष्कं पृथक् पृथक् ॥२१॥

भावितं मातुलुङ्गास्त्रेनाऽऽर्द्रकस्य रसेन च ।

ताम्रं सोष्णोदकं गुल्म-प्लोहशूलामवातजित् ॥२२॥

नाधिकं न वा हीनमात्रं भवेत्, तदा तल्लोहं निरुद्धमिति ज्ञातव्यमिति । रसरवाकरे तु तापयोगं विनैव परीक्षाविधिर्यं परिदृश्यते ; तथा च—“मध्वाज्यमृतलौहञ्च सरूप्यं मस्युटे पचत । रुद्रऽऽश्वाप्य तु मङ्गाद्यं रूप्यञ्च पूर्वमानकम् ॥ तदा लौहं सतं विद्यादमृतं भारयेत् पुनः ॥” इति ॥ १८ ॥

सोत्थानस्य पुनर्मारणप्रकारमाह, सोत्थानमिति ।—सोत्थानम् अनिरुद्धं लौहं मुहुर्मुहुः बहुकृत्यः, निरुद्धं यावत्, त्रिफलाकाशसम्पृक्तं त्रिफलाकाशेन पिष्टा इत्यर्थः ॥ १८ ॥

प्रथम द्वितीयलोहकल्पद्वयमाह, हेम्न इति ।—वरोभृङ्गास्वभावितं शतावरीभृङ्गराजयोः रसाभ्यां सतथा मर्दितम् । गुञ्जाप्रमाणमिति भस्म इत्यनेन सम्व्यत्ये ॥ २० ॥

तृतीयलोहकल्पमाह, गन्धकेनेति ।—प्राग्बत् पूर्ववत् “एवं शुद्धानि लोहानि” इत्यादिप्रदर्शितसरण्या, मूवास्त्रगन्धकैर्वा ; शोधितताम्रपत्रम् अस्त्रेण पिष्टा मृतमृतपादेन लिप्पेत्, ततः ताम्रतुल्यं गन्धकम् ऊर्ध्वो दत्त्वा पुटायौ पचेत्, अथवा ताम्रतुल्यं गन्धकं मूवास्त्राभ्यां पिष्टा तत्कल्केन ताम्रपत्रं प्रलिप्य च पचेत् इत्यर्थः ; ततः तत् ताम्रभस्म धान्याभ्रकं तुल्यञ्च प्रत्येकं दशनिष्कं गृहीत्वा मातुलुङ्गरसेनार्द्रकरसेन च समेषा विभाव्य उष्णोदकेन गुल्मादिषु योजयेदिति । योगेऽस्मिन् ताम्रेण सह तुल्याभयोः ; संयोगे सत्यपि “ताम्रं सोष्णोदकम्” इत्यनेन यत् कैवलं ताम्रमिति ज्ञातं, तत्

अथ ताम्रद्रुतिमंजकः चतुर्थलीङ्गकल्पः ।—

आर्द्रालकुचभृङ्गाणां रमपिष्टेन कस्यचित् ।

गन्धकेन समांशेन प्राग्वत्ताम्रञ्च मारितम् ॥ २३ ॥

कञ्चुकस्यमिह त्रिंशत्कर्षं चूर्णितगन्धकम् ।

दत्त्वाऽल्पशोऽग्निनाऽल्पेन दत्त्वा धूमं विसर्जयेत् ॥ २४ ॥

प्रस्थान्मुमर्दितस्यास्य प्रसादान्निसृतं युतम् ।

तुल्यनीलशिलाजाभ्यां कर्षांशाभ्यां विशेषयेत् ॥ २५ ॥

ताम्रद्रुतिरियं साज्यमानुषोक्षोरमाक्षिका ।

काचामपिप्लाभिष्यन्द-व्रणशुक्रगतिप्रणुत् ॥

तत् किट्टं दद्रुकिटिम-पामादीं स्लेपनाज्येत् ॥ २६ ॥

ताम्रस्य प्राथम्येन उक्तवान् तस्यैव प्राधान्याच्च । किं वा “गन्धकेन” इत्यारभ्य
“प्रथक् प्रथक्” इत्यनेन एका योगः, “भावितम्” इत्यादिना च द्वितीयो योगः ; ततश्च
समांशेन गन्धकेन मारितं ताम्रं धान्याभं तुल्यञ्च यथानिर्दिष्टं गृहीत्वा प्राग्वत् पूर्वं
योगवत् गङ्गामावसेत चूर्णं विफलादिभिः सह खादेत्, तच्चूर्णं बृङ्गणादिगणवत्
भवेदिति ; तथा केवलं ताम्रमण्डं मातुलुङ्गाद्रकरनाभ्यां सप्तधा भावयित्वा उष्णान्दना
पिबेत्, तत् गुण्यादिनाशनं भवेदिति ॥ २१।२२ ॥

ताम्रद्रुतिमंजकं चतुर्थलीङ्गकल्पभाह, आर्द्रेति ।—आर्द्रा आर्द्रकः । लवः,
कट्टः । कञ्चुकस्य कञ्चुकाकारलीङ्गभाजनस्यम् ; “कञ्चुकस्यम्” इत्यत्र “कन्दुकस्यम्”
इति पाठकल्पनं साधु ; कन्दुकस्यं लोहभाजनस्यम् । त्रिंशत्कर्षम् इति पदं
ताम्रम् इत्यनेन सन्वध्यते । धूमं गृहधूमम् । प्रस्थान्मुमर्दितस्यास्य प्रसादान्निसृतं
प्रस्थप्रमाणजलेन सह मर्दितस्य अस्य ताम्रस्य प्रसादात् स्वच्छरूपतया निसृतं,
जलमिति शेषः । “प्रसादात्” इत्यत्र “प्रदानात्” इति पाठे—प्रदानात् परित्यागा
दित्यर्थः, “त्यागो विहापनं दानम्” इत्याद्यमरः । तुल्यनीलशिलाजाभ्यां तुल्यं तथा
नीलशिला नीलमणिः, यद्वा—तुल्यनीलं नीलतुल्यं नीलवर्षतुल्यविशेषः, शिला
भनःशिला, अक्षयत्वात्, तज्जाभ्यां, चूर्णाभ्यामिति शेषः, कर्षांशाभ्यां युतम् । तत्
किट्टं किट्टकं ताम्रं, जलेन सह मर्दनात् अशःपतितः असारभागः । अयमर्थः,
—ताम्रतुल्यं गन्धकम् आर्द्रादीनामेकतमरसेन पिष्टा तेन ताम्रपत्रं विलिप्य च
पुटानले पचेत्, ततः तत् पुटपत्रं ताम्रं त्रिंशत्कर्षं खोहभाजने सदग्नौ तुल्यगन्धक-

अथ पञ्चमलोहकल्पः ।—

मारितं तपु सोमं वा हारिणं शृङ्गमाकुली ।

कार्पासवासितं तक्रं माहिषञ्च प्रमेहजित् ॥२७॥

अथ षष्ठलोहकल्पः ।—

नवनवतिस्त्रिफलाया मृतस्य नागस्य शततमो भागः ।

दाव्याकुलोफलत्रयकनकजलप्रस्थपेषितं निखिलम् ॥२८॥

अन्यमत्वं दत्त्वा दत्त्वा पचेत्, ततः गृहधूमं दत्त्वा तथैव पचेत्, अथ तत् जलेन प्रस्थमानेन सह गाढं मर्दयित्वा स्थापयेत्, ततः उपरिस्थस्वच्छजलं विस्त्राय जले तस्मिन् कर्षमाणं तुल्यादिद्वयं दत्त्वा आतपे शोषयेत्, इत्थं निष्पन्नमिसां ताम्रद्रुतिम् आच्यादिभिः सह पिष्टा चक्षुरोगे योजयेत् । जलाशयस्थितं किट्टञ्च दद्रुकिटिमादिषु लेपयेदिति ॥ २२—२६ ॥

पञ्चमलोहकल्पमाह, मारितमिति ।—तपु वङ्गम् । सोमं वा इत्यत्र वा शब्दार्थः, तपु सोमश्च । आकुली अङ्गुली तस्य बीजम् ; रसरत्नाकरे “आकुली” इत्यत्र “अङ्गुलीबीजकम्” इति पाठदर्शनात् । क्वचिच्च प्रमेहनाशमयोगान्तरं—“आकुली-सुकुलम्” इति पाठदर्शनात् आसमुकुलस्य च मेहनाशित्वयुतेः आकुलीशब्देन आस-सुकुलस्यैवर्थापि नामङ्गतमित्यस्मद्बुद्धयः ; तथा च योगरत्नाकरे प्रमेहचिकित्साया-माकुल्यादियोगः,—“आकुलीसुकुलं धातु-हरिद्रामधुना लिह्यत् । विंशतिच प्रमेहाणां हन्ति मद्यो न संशयः ॥” इति । “आसपुष्पमतीसारकफपित्तप्रमेहघ्नं रक्तदाहहरं शीतं वातलञ्च” इति । कार्पासवासितं कार्पासपुष्पेण कृताधवासनं, तच्च तक्रमध्ये कार्पासपुष्पं संस्थाप्य कार्थ्यम् ; “कार्पासवासितम्” इत्यत्र “कार्पासबीजमज्जा” इति पाठान्तरम् ; “कार्पासपेषितम्” इति पाठे—कार्पासबीजमज्जा इत्यर्थः । अपादिचतुष्टयं कार्पासवासितमाहिषतक्रेण पिष्टा पिवेदिति । योगोऽयं रसरत्नाकरे “स्वगमालारसः” इति नाम्ना पठितः ; तथा च—“मारितं तपुषं सोमं मृदग्धं स्वगमङ्गकम् । कार्पासबीजमज्जा च तुल्यमङ्गुलीबीजकम् ॥ पेषयेन्माहिषोतक्रेः दिनेकं षट्कौकृतम् । माषद्वयं सदा खादेत् स्वगमाला प्रमेहजित् ॥ अक्षपाठाभयादार्वा-कषायमनुपायेत् ॥” इति ॥ २७ ॥

षष्ठलोहकल्पमाह, नवेति ।—शततमो भागः नवनवत्यपेक्षया शतानां पूरणं ; तेन च त्रिफलायाः प्रत्येकं त्रयस्त्रिंशद्भागः नागस्य च एको भागः । कनकः

शतगुलिकाप्रमितं तत् पीतं तन्नेण मेहहरम् ।

पिबतः कषायमभया-दार्व्यं क्षमांशपाठायाः ॥२८॥

अथ सप्तमलोहकल्पः ।—

क्षणलोहेन योक्तव्यो बालेनोपचितो हि सः ।

कुमारयूनमध्ये तु वरमध्यावरे क्रमात् ॥

एकद्वित्रिगुणात् कालादुपयुक्तं गुणावहम् ॥३०॥

अथ गूले अष्टमलोहकल्पः ।—

एरण्डवह्निशम्बूक-वर्षाभूव्योषसैन्धवम् ।

अन्तर्धूमं विदह्यायसृणं सोष्णाम्बु शूलजित् ॥३१॥

धुसूरः ; दार्व्यादीनां जलप्रस्थेन कायप्रस्थेन पेयितं, प्रत्यमितं दार्व्यादिषड्द्रव्यं चतुः-
प्रस्थजलेन निःकाय्य प्रस्थावशेषं कृत्वा च तेन विफलानामौ मर्दयेत् । शतगुलिका-
प्रमितं वयःकोष्ठायनुसारिणीं माषां स्थिरौक्त्य प्रतिदिनमेकैकां गुडिकां तन्नेण
खादेत्, एवं शतसङ्ख्याकगुडिकासेवने कृते मेहो नश्यति । अभयेति ।—अक्षः
विभोतकः ; अनयादार्व्यंक्षेः समः विभिन्नुल्लः अंशो यस्यास्तादृशी पाठा तस्याः, तेन
च अभयादीनामेका भागः पाठायाश्चापरः ; औषधसेवनादनु अभयादिकषायं पिबे-
दित्यर्थः ॥ २८-२९ ॥

सप्तमलोहकल्पनाह, कण्ठेति ।—बालेन मृदुना इत्यर्थः, मृदुपाकेनेति यःवत्,
क्षणलोहेन मृदु उपचितः सम्पन्नः प्रकष्टगुणः सः नवनवतिरित्यादिनीतः नागयोगः
योक्तव्यः । “कुमार.....गुणावहम्” इत्यत्र “कुमारयूनीर्मध्ये तु वरी मध्योऽवरः
क्रमात् । एकद्वित्रिगुणात् कालादुपयुक्तो गुणावहः” इति पाठकल्पना सुगमा ;
अथ तु शब्दार्थः ; कुमारं यूनि मध्ये मध्यवर्षासं च पुंसि बालेन क्षणलोहेन
उपचितः सः योक्तव्यः, तथा एकद्वित्रिगुणात् कालात् एकदिनानन्तरं दिनद्वयानन्तरं
त्रयानन्तरं उपयुक्तः सेवितः गुणावहः, भवेदिति शेषः ; वरी मध्योऽवरः क्रमात्
चक्रदिशा एकाद्यानन्तरम् उपयुक्तः स क्रमात् वरः मध्यः अवरश्च गुणो भवति,
एकाद्यानन्तरं प्रयोगः वरगुणसम्पन्नः, दिनद्वयानन्तरं प्रयोगः मध्यगुणसम्पन्नः,
त्रिदिनानन्तरं प्रयोगश्च अवरगुणसम्पन्नो भवतीत्यर्थः ॥ ३० ॥

अष्टमलोहकल्पनाह, एरण्डेति ।—“अन्तर्धूमं विदह्यायसृणम्” इत्यत्र “अन्त-
र्धूमविदग्धायासृणम्” इति तु अपाठः, लोहयोगाभावे लोहकल्पेति नामवैधर्ष्यात् ;

अथ जीर्णज्वरादौ नवमलोऽकल्पः । —

त्रिफलामृतनिर्गुण्डो-मेवनादपुनर्नवा ।

कासमर्दालिधुस्तूर-वज्रिणीनां रसैरिदम् ॥ ३२ ॥

भावितं गुडमध्वाज्यैर्जलतक्रानुपायिनः ।

स्वल्पक्षीररसाशस्य हृन्वाज्जीर्णज्वरं क्षयम् ॥

कुष्ठास्थिस्रावपाण्डुर्यः-पक्तिशूलप्लिहामयान् ॥ ३३ ॥

अथ अथादौ दशमलोऽकल्पः । —

वाकुचीनिम्बपञ्चाङ्गं वेङ्गचित्रकवत्सकम् ।

पथ्यानागरशम्पाक-गुडूचीकटुकौफलम् ॥ ३४ ॥

ननु “परण्डवज्रिशल्क-वर्षाभृगोक्षुरं समम् । अन्तर्दग्धा पिबेदङ्गिकाणिः शूल-
शान्तये ॥” इत्येव किञ्चित् परिवर्तिततया वङ्गसमादिना पाठितेऽस्मिन् योगे
लौहप्रयोगाभावात् “अन्तर्धूमविदग्धायाश्चूर्णम्” इत्येव साधुः इति न वाच्यम् ;
यतः “व्योषकेष्वेवम्” इत्युक्तपाठस्थले वङ्गसमादौ “गोक्षुरं समम्” इति
पाठान्तरदर्शनात् योगान्तरोऽयमिति मन्यव्यम्, किञ्च “अन्तर्धूमविदग्धाया-
श्चूर्णम्” इति प्रयोगस्य असाधुत्वात् प्रकरणविरुद्धत्वाच्च प्रकरणसङ्गतम् “अन्तर्धूमं
विदग्धायाश्चूर्णम्” इत्येव भवितुमर्हति । “अन्तर्धूमविदग्धम्” इति क्वाचित्पाठो-
ऽपि न मनोरमः, लौहप्रयोगाभावे लौहकल्पनिर्दिष्टपणम् इति संज्ञावैयर्थ्यात् ।
परण्डादिकमयश्चूर्णञ्च अन्तर्धूमं दग्धा सांख्यस्य पिबेत्, तच्च शूलार्जदिति
निष्कर्षः ॥ ३१ ॥

नवमलोऽकल्पमाह, त्रिफलेति । — मेवनादः तण्डुलीयकः । खालिः त्रिचक-
पटो । वाजणो कुङ्की । इदम् अयश्चूर्णसहितम् परण्डादिचूर्णम् । “स्वल्प-
क्षीररसाशस्य” इत्येव “स्वल्पक्षीररसाशस्य” इति पाठः न साधुः । अयश्चूर्णसहितम्
परण्डादिचूर्णं त्रिफलादीनां यथायोग्यं रसेन क्राथेन वा पृथक् पृथक् सप्तधा
भारवाधत्वा गुडमध्वाज्यैः सह पिबेत् । सज्जलं तत्तत्तानुपायं कृत्यात्, स्वल्पेन क्षीरेण
मांसरसेन वा तदा अत्रोयादिति ॥ ३२-३३ ॥

दशमलोऽकल्पमाह, वाकुचीति । — वाकुची सोमराजो । निम्बपञ्चाङ्गं
निम्बस्य त्वक्पत्रपुष्पफलमूषरूपम् । वेङ्गं विडङ्गम् । चित्रकम् इन्द्रयवः । शम्पाकः

खदिरासनसारेण भावितं लोहभस्म च ।

कर्षमात्रं समध्वाज्यं क्षयकुष्ठनिषूदनम् ॥ ३५ ॥

अथ विविधरोगे एकादशलीङ्गकल्पः ।—

गुडस्य कुडवे पक्वं लोहभस्म पलोन्मितम् ।

कोलप्रमाणं रोगेषु तैस्तैर्योगैः प्रयोजयेत् ॥ ३६ ॥

अथ यक्षादौ द्वादशलीङ्गकल्पः ।—

व्योषादिनवकस्यांशस्तथाऽशौ लोहभस्मनः ।

अंशोऽश्मजतुनः खण्डस्याष्टौ सर्वे ममाक्षिकम् ॥

कान्तपातगतं यक्ष्म-ज्वरापस्मारघस्मरम् ॥ ३७ ॥

अथ करादौ त्रयोदश-चतुर्दशलीङ्गकल्पौ ।—

निम्बमारत्रिमधुर-त्रिफलालोहगन्धकम् ।

चूर्णमर्जुनपत्रा वा मभृङ्गत्रिफलायसम् ॥

मेवितं मधुसर्पिर्भ्यां जरावैरूप्यनाशनम् ॥ ३८ ॥

आरम्बधः । फलं मदनफलम् । खदिरासनसारेण खदिरासनयोरष्टमांशकाथेन, तत्र अमनः स्वनामव्याप्तः । भावितमिति सप्रधा । खदिरासनकाथेन भावितं बाकुच्यादिचूर्णकर्षं घृतमधुगन्धा निष्ठादिति ॥ ३४-३५ ॥

एकादशलीङ्गकल्पमाह, गुडस्येति ।—तैस्तैर्योगैः तत्तदोगनागकैः द्रव्यैः । गुड-कुडवं यथाविधि पक्वं तत्र लोहपक्वं प्रलिप्य च कोलमानां गुडिकां कुर्यात्, ततः तत्तदोगनाशनानुपानेन सर्वरोगेषु योजयेदिति ॥ ३६ ॥

द्वादशलीङ्गकल्पमाह, व्याप्तेति ।—व्योषादिनवकस्य विक्रयस्य, “व्योषं शतावरी कोणि फलानि द्वे बले तथा” इत्यनेन चक्रदत्तौघयक्षाधिकारं विव्यवांसिधोगोक्तस्य वा अंशः मिलित्वेको भागः । खण्डस्य मत्स्यगण्डिकायाः अष्टौ इत्यतः भागाः द्वाते शेषः ; व्योषादिनवद्रव्याणां मिलितानामेको भागः, लोहाश्मजतुनोः प्रत्येकमेको भागः, खण्डस्य चाष्टौ भागाः, सर्वमेतदेकोक्तस्य कान्तलोहभाजने मधुना सह सम्यर्थं च स्थापयेत्, ततः अग्निबलानुसारिणौ मात्रां खादेदिति ॥ ३७ ॥

त्रयोदश-चतुर्दशलीङ्गकल्पद्वयमाह, निम्बेति ।—त्रिमधुरं “घृतं गुडी माक्षिकश्च विज्ञेयं मधुरवयम्” इत्युक्तमधुरवयम् । अर्जुनपत्राः अर्जुनस्य कोमलपत्रस्येत्यर्थः । मभृङ्गत्रिफलायसं मभृङ्गराजत्रिफलालोहचूर्णसंयुक्तम् । मधुसर्पिर्भ्यामिति पदं चूर्ण-

अथ अस्त्रपित्तादौ पञ्चदशलीङ्कल्पः ।—

मधुकं मृतलोहञ्च धात्री च त्रिगुणोत्तरम् ।
रसेन भावितं क्षिन्नरुहायाः साज्यमाचिकम् ॥३८॥
मेवितं भोजनस्याऽऽदौ वातपित्तामयान् जयेत् ।
मध्ये विष्टम्भमन्तेऽस्त्र-पित्तं शूलञ्च पक्तिजम् ॥४०॥

अथ यङ्ग्यादौ षोडशलीङ्कल्पः ।—

भङ्गातकसहस्राभ्यां त्रिफलामुस्तचितकैः ।
हस्तिपिप्पल्यपामार्ग-सहदेवीकुठेरकैः ॥४१॥
कणामूलामृताचव्यैर्द्रीणेऽपां कुड्वोन्मतेः ।
पक्वे पादस्थे लोहस्थे तुलाङ्गे तोक्षणीहृतः ॥४२॥
माणिकाञ्च घृतात् पक्त्वा विडङ्गं चित्रकत्वचम् ।
त्रिफला पञ्चलवणं तूषणञ्च पृथक् पलम् ॥४३॥

मित्यनेन सम्बध्यते ; एवञ्च निम्बादिगन्धकान्तचूर्णम् अर्जुनपद्मादीनां वा चूर्णं मधुसपिर्भ्यां लिङ्गादिति ॥ ३८ ॥

पञ्चदशलीङ्कल्पमाह, मधुकमिति ।—त्रिगुणोत्तरम् उत्तरोत्तरत्रिगुणम् ; ततश्च मधुकस्य एको भागः, लोहस्य भागवयं, धात्र्याश्च नवभागाः । क्षिन्नरुहायाः गूढायाः । मध्ये भोजनमध्ये । “विष्टम्भम्” इत्यत्र “प्रविष्टम्” इति पाठस्तु असाधुः, सिद्धयोगे तथा पाठदर्शनात् प्रविष्टमिति पदस्य अर्थमङ्गतिविरहाच्च । अन्ते भोजनान्तं । पक्तिजं शूलं परिणामशूलम् । सिद्धयोगे तु योगोऽयं “धात्री-लोहम्” इत्याख्यया मधुकादीनां त्रिगुणोत्तरकल्पनाकल्पितो दृश्यते ; तथा च— “धात्रीचूर्णस्याष्टौ पलानि अत्वारि लोहचूर्णस्य । यष्टौमधुकरत्रयं दद्यादिपलं पटे घटम् ॥ अमृताक्ताद्येनैतच्चूर्णं भाव्यञ्च सप्ताहम् ॥” इत्यादि । अत्र “अमृताक्ताद्येन आमलकीक्ताद्येन” इति शिवदासव्याख्या ॥ ३८।४० ॥

षोडशलीङ्कल्पमाह, भङ्गातकैति ।—भङ्गातकसहस्राभ्यां विसहस्रभङ्गातक-गुडकैः । सहदेवी दण्डोत्पला ; “सहदेवी” इत्यत्र “दण्डोत्पला” इति निश्चयोगे पाठः । कुठेरकः तुलसी । माणिकां शरावम् ; “माणिकान्” इत्यत्र “कुड्वहयम्” इति पाठः ; सिद्धयोगे दृश्यते ; शिवदासस्तु तत्र कुड्वहस्य द्वेगुणं स्वीकृत्य

पलानि शूरणस्याष्टौ वाराह्या वृद्धदारकात् ।

चतुष्पलं पुष्परमस्यार्द्धप्रस्थञ्च निक्षिपेत् ॥४४॥

प्रातर्भोजनकाले वा लीढमेतद्रसायनम् ।

निहन्ति च ग्रहण्यर्शः-शूलगुल्मकिमिक्षयान् ॥४५॥

अथ अथादौ खण्डखाद्याख्यसप्तदशलोडकल्पः ।—

वामाभार्यमृताऽभीरु-वचाखटिरपुष्करैः ।

मुषलीभिस्तुकोरणैः सूर्पं चापाञ्च मुष्टिकैः ॥४६॥

पक्वेऽष्टशिष्टे ताम्रस्ये प्रस्थांशे खण्डसर्पिषी ।

ताप्येन रुक्मलोहस्य हतस्याप्यञ्जलित्रयम् ॥४७॥

कुडवद्वयशब्देन षोडशपलमिति व्याख्यातवान् ; अथ तु माणिका-यष्टणात् हेगुण्या-
भाव एव बोध्यः ; “न हेगुण्य तन्नामानि माणिकायां तथैव च । पलांशेखागतं
माने न हेगुण्यनिर्दिष्टे ॥” इति परिभाषाकारणात् । कुडवहेगुण्यस्य तु सर्वसम्मत-
त्वाभावात् अथ हेगुण्याभावः अन्यक्रमस्यतः इति बोध्यम् । “पञ्चलवणम्” इत्यत्र
सामुद्रोक्तेखादर्शनात् लवणचतुष्टयं तथा “वाराह्याः” इत्यत्र “तालमूल्याः” इति
सिद्धयोगसम्मतः पाठः । पुष्परमस्य मधुनः अर्द्धप्रस्थं द्रवहेगुण्यात् शरावद्वयम् ।
भस्मातकादिचव्यालमौषधजानं पृथक् पृथक् कुडवमानं जलद्रोणे पक्ता पादशेषम्
अवतारयेत्, ततः वस्त्रपूतं तं कायं लोडकटाहं तीक्ष्णलोहाज्याभ्यां पचेत्, आसन्न-
पाके च विडङ्गादीनां चूर्णे प्रक्षिप्य अवतार्य च शीते मधु प्रक्षिपेदिति । योग्यत्वात्
“भस्मातकलोडः” इत्याख्या अर्शार्थकिञ्चित्ते सिद्धयोगे चकदत्ते च ॥ ४१—४५ ॥

खण्डखाद्याख्यसप्तदशलोडकल्पमाह, वासेति ।—कल्पोऽयं “खण्डकायं लोडम्”
इति नाम्ना सिद्धयोगादौ प्रसिद्धम् । अभीरुः शतावरी । “वचा” इत्यत्र “बला”
इति सिद्धयोगे पाठः । मुषली तालमूली । भिस्तुः मुष्टितिका ; “भिस्तुः” इत्यत्र
“मुष्टितिका” इति सिद्धयोगे पाठः । कोरणं कुरणस्य सहचरस्य इदं
क्षिण्टीमूलमित्यर्थः ; “कोरणे” इत्यत्र “त्रिफलायास्तृचः” इति सिद्धयोगे पाठः । सूर्पं
चापां जलद्रोणद्वयं ; “जलद्रोणे” इति सिद्धयोगाक्तः पाठः साधुः, सूर्पपाठपक्षे
द्रवबाहुल्यात् । मुष्टिकैः पलप्रमाणैः, वासादिभिः सुषल्यादिभिश्च सम्बध्यते ;
“पञ्चपलानि” इति उक्तग्रन्थे पाठः । अष्टशिष्टे अष्टभागवशिष्टे । ताम्रस्ये ताम्र-

पक्वोऽस्मिन्नेहतां यात कुस्तुस्वरुं शिलाजतु ।
 शृङ्गौविडङ्गविफला-जातोफलकटुत्रिकम् ॥४८॥
 चातुर्जातञ्च शुक्यं प्रस्थाईञ्च मधु चिपेतु ।
 खण्डत्वाद्यमिदं लोढं कर्षमात्रं रसायनम् ॥४९॥
 चौरानुपस्य क्षपयेत् क्षयकासारुचिक्तमान् ।
 शोतपित्तास्त्रपित्तास्र-वातपित्तास्रकामलाः ॥
 कुष्ठमेहप्लिहानाह-काश्यं शूलञ्च पक्तिजम् ॥५०॥

पाठस्थे । प्रस्थाई खण्डसर्पिषी खण्डसर्पिषीः प्रत्येकं प्रस्थाः, खण्डस्य षोडश पलानि
 घृतस्य च द्वाविंशत् पलानीति यावत् । तत्त्वचन्द्रिकाकारस्तु “पलद्वादशकं द्रव्यं
 रुक्मनौहस्य चूर्णितम् । खण्डतुल्यं घृतं द्रव्यं पलषोडशिकं बुधे ॥” इति चक्र-
 घृतपाठस्य “खण्डतुल्यम् इति हेतुः, तेन खण्डस्यापि द्वादशपलानि (लोढमानम्) ।
 केचित्तु, रक्तापित्तहृत्वात् खण्डस्य प्रचुरतरमेवाधिकरोतीति घृतपदेन सङ्घ-
 खण्डतुल्यमिति याजयन्ति ; तस्मै न सम्यक्, लोढयोगत्वादत्र लोढप्राधान्येन
 सन्मानापकर्षस्यायुक्ततात् ; रक्तापित्तप्रत्यनीकत्वन्तु लोढस्य स्वहृत्पत एव महाशक्ति-
 त्वात् विशेषतो रक्तापित्तहरम् ; तच्च द्रव्यपट्टादिभावितत्वेन महावीर्यकतयोपपन्नं,
 व्यवहारस्तु लोढसमतयेव” एवं व्याख्या कृतवान् । व्याख्याकुसुमावलीकारस्तु—
 “रक्तापित्ते हृदयस्य इतत्वात् परेण घृतेन समं सम्बन्धात् घृतवत् खण्डं षोडशपलं
 ज्ञेयम् । अन्त्यत्वाद्—अनन्तरगतविधिपरित्यागे प्रमाणाभावात् लोढे तुल्यं खण्डं
 द्वादशपलमिति । एवं प्रचारः प्रायेण” इत्याह । ताप्येन स्पर्शमात्रिकेण हतस्य
 मारितस्य रुक्मनौहस्य तीक्ष्णलोढस्य, पिष्टस्पर्शमात्रिकेण लोढपक्षीमात्रस्य दम्बस्य
 वज्रपाण्डादिनौहस्येत्यर्थः, अञ्जलिद्वयं कूडद्वयं पलद्वादशकमित्यर्थः । कुस्तुस्वरु-
 धन्वाकम् । शुक्यं पलाङ्गम् । चक्रमङ्गुलप्रतिसङ्ख्योगपाठे तु—“कुस्तुस्वरु-
 “चिपेतु” इत्यन्तपाठस्थले—“प्रस्थाई मधुना द्रव्यं शुभाश्रजतुक्तवचः । शृङ्गौ विडङ्ग-
 कृशा च शुग्ठाजाशीपलं पलम् ॥ द्विफला धान्यकं पक्षं द्वाचं मरिचकेशरम् ॥”
 इति पाठान्तरम् । लोढमिति ।—लोढस्यास्य कर्षमाणता तु पूर्वयुगोद्यमानवाभि-
 प्रायेणोक्ता, व्यवहारस्तु वि चतुः पञ्च वा रक्ताकमारभ्य प्रतिदिनं रक्तिद्वयद्वया शायं
 यावत् । चौरानुपस्य लोढसेवनानन्तरं क्षारमनुपिबतः ; चौरपानञ्च लोढ-
 नुपस्य चतुःषष्टिगुणेन कर्तव्यं, लोढान्तरे तथा प्रयोगदर्शनात्, उक्तञ्च—“अनुपानं

अथ अष्टादशलोहकल्पार्थं लोहमारण्यप्रकारः ।—

अथोष्णवारिपिष्टेन कान्तलोहं ससिन्धुना ।

कफे कुठारच्छिन्नेन पित्ते वाते गलाऽम्बुना ॥५१॥

उभयेन वयःस्तम्भे ताप्येन गलरुक्षु च ।

कण्डूां मनोह्वया स्नातो-विबन्धे मरिचाङ्गिणा ॥५२॥

क्षिप्तं पक्वैक्यायन्त्रे द्रावितं जलसन्निभम् ।

निषिक्तं त्रिफलाक्ताये पर्पटीभूतमायसे ॥५३॥

सञ्चूर्ण्य तेन काथेन पिष्ट्वा स्थाव्यां विपाचितम् ।

षोडशाङ्गुलगत्तान्तिः सम्पुटे चापरीक्षणात् ॥५४॥

आद्रेकामोरुमुषलो-विदारोभृङ्गहस्तिजैः ।

रमैस्तया मुहुस्ताम्रं धान्यभ्रं काञ्चिके प्लुतम् ॥५५॥

तेन पिष्टं घृतं क्षौद्रे मत्स्यार्चामेघनादयोः ।

जयत्यास्तोक्ष्णचाङ्गैर्यामिषलोमाणिमय्यथैः ॥५६॥

चतुष्पादगुण प्राहुः सदा बुधाः” इति । एतल्लोहसिन्धुने पथ्यापथ्यविधिरपि सिद्ध-
योगाद्युक्तः नव तत्रैव दृश्यः ॥ ४६—५० ॥

अष्टादशलोहकल्पार्थं लोहमारण्यप्रकारमाह, अथेति ।—ससिन्धुना सिन्दुवार-
सहितमित्यर्थः । कफे कफरोगे ; कफरोगे पक्तव्यं कान्तलोहम् उष्णोदकापटमिन्दुवार-
मूललिप्तं “क्षिप्तं पक्वैक्यायन्त्रे द्रावितं जलसन्निभम्” इत्युत्तरणान्वयः । एव पित्ते
कुठारच्छिन्नेन, वाते गलाऽम्बुना इत्यादिष्वपि व्याख्येयम् ; कुठारच्छिन्नेन कुठारिकया
“कन्दगड्या” इति कथितम् । गलाऽम्बुना अलम्बुषाक्तायेन ; “अथ.....गलाम्बुना”
इत्यत्र “अथोष्णवारिपिष्टेन वाते लोहञ्च ससिन्धुना । कफे कुठारच्छिन्नेन पित्ते आर्च-
गलाम्बुना” इति कथितम् पाठः । उभयेन कुठारच्छिन्नेन गलया च । मनोह्वया मनः-
सिङ्गया । मरिचाङ्गिणा मरिचमूलिन । “आयसे” इत्यत्र “आयसम्” इति कथितम् पाठः ।
तेन काथेन त्रिफलाक्तायेन । आ-परीक्षणात् परीक्षणं यावत्, यावत् वारितरादि-
रूपमपक्वक्षणं नीदियात् तावदित्यर्थः ; “आ-परीक्षणात्” इत्यत्र “च परीक्षितम्”
इति कथितम् पाठः । अमोरः शतावरी । मुषली तालमूली । विदारो विदारिकन्दः ।
हस्ती हस्तिकर्षपलाशः, कदलीमूलं वा । तेन काञ्चिकेन । “घृतं क्षौद्रे” इत्यत्र “घृते

वज्रिणीसातलावाद्या-वर्षाभूणां रसेन च ।

क्षीरेण च पृथक् कुर्यात् पेषणादिक्रियात्रयम् ॥

कज्जलाभं इयञ्चेतत् यथाक्वाथे विभावयेत् ॥५७॥

अथ अष्टादशलोहकल्पे दन्त्यादिगणः ।—

दन्तीत्रिवृच्चित्रकहस्तिकर्णी-व्योषाष्टवर्गत्रिफलाविडङ्गम् ।

पलाशवौजाम्बुदजीरकैला व्याघ्री च दन्त्यादिरिह प्रदिष्टः ॥५८॥

अथ अष्टादशलोहकल्पे ।—

पलानि पञ्च कान्तस्य सर्वत्राभ्रकचूर्णयोः ।

सार्धं द्वे सप्त सार्धानि वाते पित्ते पुनः क्रमात् ॥५९॥

क्षौद्रे “घृतक्षौद्रे” इति वा पाठः सङ्गतः । भक्त्याक्षी शालिचः । मेघनादः तण्डुलीयकः । तीक्ष्णः राजिका । चाङ्गेरी चमूनीणिक्का । माणिस्यः मैत्रवम् । वज्रिणी क्षुद्रौ । सातला चर्मकषा । वाद्या वाद्यालकः । पेषणेति ।—पेषण-पुटन-मारणरूपकर्मवयमित्यर्थः । इयं तासमसञ्च । यथाक्वाथे तत्तद्दोग्धरद्रव्यकृते क्वाथे । अयमर्थः,—कफादिजरीगे उष्णवारिपिष्टमित्दुवारादिमूलेन कान्तपत-मालिष्य पक्केटकानिर्भितयत्वं निक्षिप्य च द्रावयित्वा जलमग्निभं कुर्यात्, ततस्त्वं लोहद्राव त्रिफलाक्वाथे निक्षिप्य पर्यटोप्रायं कुर्यात् ; अथ तां पर्यटो लोहपात्रे चूर्णयित्वा त्रिफलाक्वाथेन पिष्टा च स्थाण्वीपाक कुर्यात्, ततः तत् लोहमाट्टादीनां मयेकरसेन पिष्टा पिष्टा षोडशाङ्गुलगर्तमध्ये आ-वारितं पुटेत् । तथा तासं धान्याभ्रं पुनः पुनः काञ्जिकेनाप्राप्य तेनैव काञ्जिकेन पिष्टा मथोष्य च घृतादिभिः पृथक् पृथक् पेषणादिकं कुर्यात्, ततस्ते तासांभे एकत्र मर्दयित्वा तत्तद्दोग्ध-रद्रव्यक्वाथेन समधा विभाव्य च स्थापयेदिति ॥ ५९—५७ ॥

अष्टादशलोहकल्पे “दन्त्यादिचूर्णमावाप्य” इत्यर्थे वक्ष्यति, अतस्तदेव दन्त्यादिक-साह, दन्तीति ।—इस्तिकर्णी इस्तिकर्णपलाशः कामालकः इति ख्यातः आलुकविशेषो वा । अष्टवर्गः,—“जीवकर्षभकौ मेदे काकोल्यात्राङ्गिडिकौ । एकत्र मिलितैरैतैरष्टवर्गैः प्रकीर्तितः ॥” इत्युक्तं रूपः । अम्बुदः सुता । व्याघ्री कण्टकारी ॥ ५८ ॥

अष्टादशलोहकल्पसाह, प्रज्ञानीति ।—सर्वमेति पटं कान्तस्य इत्यनेन सम्बध्यते, सर्वत्र वाते पित्ते कफे च कान्तस्य पञ्च पलानि । अभ्रकचूर्णयोः अभ्रकताम्रचूर्णयोः

पञ्च पादेन युक्तानि पञ्च पञ्च कफे पुनः ।

तत्र कान्ताश्वके क्षिप्त्वा त्रिफलाकाथमाढकम् ॥६०॥

प्रस्थितानि गुणस्थाष्टौ क्वाथस्य पयसस्तथा ।

पलानि षोडशाऽऽज्यस्य सिञ्चेत् पाकवशात् पुनः ॥६१॥

वाताद्यपेक्षया पङ्कोत्कारिकाबालुकानिभे ।

अग्निर्न वर्णगन्धाढ्ये कदुष्णे पीतसर्पिषि ॥६२॥

वाते क्रमात् सार्द्धं दे, पले इति शेषः, सार्द्धानि सप्त, पलानि इति शेषः, वाते सार्द्धं पल-
इयमभक्तं सार्द्धं सप्तपलं ताम्रचूर्णञ्च इयमेतत् “कज्जलाभम” इत्यादिना पूर्वोक्तयनुसारिण
कज्जलाभोक्त्य वातहरद्रव्यकाथेन विभाव्य च कान्तपञ्चपलानि सङ्ग मिश्रयेत् । पित्ते पुनः
क्रमात् पञ्च अभक्तस्य पञ्च पलानि, पादेन युक्तानि इत्यत्र पञ्च इति पदभावस्य योज-
नोपमम् ; ताम्रस्य च सपाद-पञ्चपलानोऽर्थः । कफे पुनः अभक्तताम्रयोः प्रत्येक पञ्च
पञ्च पलानोऽर्थः । अत्र लौहाम्रकयोः सावनिर्देशायमुक्तं श्रीचक्रपाणिना स्वसङ्गुहे
—“अथवा वक्तव्यविधिमंस्कृतकृष्णाम्रकचूर्णमादाय । लौहचतुर्धाईमम-इति वि-चतुः-
पञ्च-गुणभागम् ॥ प्रक्षिप्यायः प्राग्वत् पचेदुभाभ्यां भवेद्रज्जी यावत् ॥” इत्यादिमानानु-
सारिण लौहादङ्गं समभागश्चाभक्तं यावत् । एतस्य विस्तरः तथा क्वाथार्थे त्रिफलाया
भानाढिकञ्च तत्रैवानुसंधयम् । तत्र कान्ताश्वके मिलितलौहाम्रकचूर्णे इत्यर्थः ;
अत्राभेण सङ्ग ताम्रयोगे सत्यपि केवलाभोक्तिः अभस्य प्राधान्यात् ताम्रस्य अभेण
महेक्यभावाच्च इति बाह्यव्यम् । प्रस्थितानीति ।—क्वाथस्य इत्यत्र सप्तमीविवक्षायां
षष्ठी, ताम्रान् क्वाथे इत्यर्थः, गुणस्य गुणवतः विशुद्धस्येति यावत्, पयसः दग्धस्य अष्टौ,
पलानि परेणान्वयः, प्रस्थितानि प्रस्थापितानि, अवचारितानीत्यर्थः, कुर्यादिति
शेषः, आज्यस्य घृतस्य च षोडश पलानि मिश्रेत् । अत्र क्वाथादिदाने शिवदासपुत्रं
भोजराजवचनं यथा—“घृतेन लौहमालोड्य क्षीरेण समनन्तरम् । ततः क्वाथेन
मथाज्य मन्टेऽग्नौ शनकेः पचेत् ॥ ततः मञ्जान्तयेक्षौहं लौहद्वयाऽतिदीर्घया ॥”
इति । पाकवशात् पुनः पाकानुसारेण पुनः वाताद्यपेक्षया वातपित्तकफमपेक्ष्य,
पङ्कोत्कारिकाबालुकानिभे पङ्गादिमदृशे, तत्र पङ्गुनिभे कर्दमत्वान्ते सान्दे, अथक्तादर्विके
इति यावत्, तादृशत्वञ्च मृदुपाके सति बोध्यम् ; उत्कारिकानिभे उत्तुङ्गसत्तिका-
त्वान्ते, मृदुदुःखस्खलनयोगिनि इति यावत् ; तद्यात्वञ्च मध्यपक्वस्य लक्षणम् ; तथा
बालुकानिभे बालुकामदृशं, उज्ज्वलतदर्विके इत्यर्थः, एतच्च खरपाके सति बोध्यम् ।

दन्त्यादिचूर्णमावाप्य स्थापितेनेतरेण वा ।

घृतेन पेक्षितं भाण्डे घृतस्निग्धे निधापयेत् ॥ ६३ ॥

तन्त्वान्तरे तु वाते मध्यपाकि लौहं प्रयोज्यम् इत्युक्तम् ; तथा च चक्रपाणिघृत-
मागार्जुनवचनं—“सदुमध्यमखरभावेः पाकस्त्रिविधोऽत्र वक्तव्यते पंचमम् । पिप्तसमीरण-
श्लेष्मप्रकृतीना मध्यमस्तु ममः ॥ अभ्यक्तदर्विं लौहं सुखदुःखस्वत्वनयोगि मृदु मध्यम् ।
उज्ज्वलतद्विं खरं परिभाषन्ते केचिदाचार्याः ॥ अन्ये विहीनदर्वीप्रलेपमाखूत्कराकृतिं
ब्रुवन्ते । मृदु मध्यमर्द्धचूर्णे विकृतापुत्रापमन्तु खरम् ॥ त्रिविधोऽपि पाक ईदृक् सर्वेषां
गुणकटेषु न तु विफलः । प्रकृतिविशेषे सूक्ष्मौ गुणदोषौ जनयतीत्युक्तम् ॥” इति ।
मृदादिपाकलक्षणं शिवदासघृतामोघवचनं यथा—“दर्वीमाश्लिष्यते यत्तु खरं सखलति
वा न वा । मृदुपाकं विज्ञानोयात् पिप्ते तु विहितं सदा ॥ सितापुष्पोपमं यत्तु
मूषिकोत्करमग्निभम् । तदयः खरपाकं स्यात् श्लेष्मण्येव प्रकीर्तितम् ॥ एकैकगुण-
योगित्वात् तमिच्छन्ति तद्विदः । सर्वप्रकृतिसेव्यत्वान्मध्यमं बहुपूजितम् ॥” इति ।
अफिने इत्यादौ लौहे इति शेषः, पाकवशात् लौहे फेनरहिते सतीत्यर्थः, तस्य पाकाग्र-
प्रदत्तदुग्धादेरुपलब्धतया भवतीति बीड्यम् । “कटूणे” इत्यत्र “कटूणे” इति पाठः
असाधुः, तन्त्वान्तरे तथाऽयं कपाठदशनात्, तथा च चक्रपाणिसङ्ग्रहे—“विश्राय
पाकमेवं द्रागवताय्ये क्षितौ क्षणान् क्रियतः । विश्राय्य तत्र लौहे विफलादेः प्रक्षिपे-
त्तूर्णम् ॥” इति । अत्र अवतारणानन्तरं क्रियत्कालं विश्राय्य विफलादिचूर्णप्रक्षेप-
विधानादेव कटूणत्वं प्रतीयते, कटूणे ईषदुणे इत्यर्थः । पीतमर्पिणि पाकाय
दत्ते घृते क्षीपक्षीणे मतीत्यर्थः । दन्त्यादिचूर्णे पूर्णकम् । स्थापितेनेतरेण वा लौह-
पाकाय दत्तं घृतं यदि अधिकमुपलभ्यते, तदा तदधिकं घृतं लौहस्य भाविरुक्षता-
निवारणार्थं तस्मादाकृष्य पावान्तरे व्यापयेत्, तेन व्यापितेन, इतरेण वा तादृश-
घृताभावे अन्येन वा विफलाकाशकत्कसिद्धेन घृतेनेत्यर्थः ; एतदर्थं अकसङ्ग्रहः,—
“यदि तु परिप्लुतिहेनोर्घृतमोक्षेताधिकं ततोऽन्वस्मिन् । भाण्डे निधाव रक्षेद्वाय्वयोगो
क्षणेन मृद्वान् ॥ अयमि विरुक्षीभूते खेदस्त्रिफलाघृतेन सम्यायः । एतत्ततो गुणोत्तर-
मित्यमुना खेदनीयं तत् ॥ अत्यन्तकफप्रकृतेर्भक्ष्यमयसोऽमुनेव शंसन्ति । केवलमपीद-
मस्मिन् जनप्रत्ययसो गुणान् क्रियतः ॥” इति । अत्र विहारस्तवेवानुसन्धेयः ।
एतस्मिन्नोषधे पक्वादिनिभे तथा अफिनादिलक्षणलक्षिते च सति दन्त्यादिचूर्णे प्रक्षिप्य
घृतस्निग्धे भाण्डे निधापयेत्, काशवशात् तस्मिन्नोषधे रुक्षीभूते पुनः खेदनाथं
लौहपाकोच्छ्रितेन घृतेन, तदभावे विफलाघृतेन वा पेक्षितं कृत्वा पुनर्निधापयेदिति

कृत्यात्तत्कल्पनापाको श्लेषणीव रसायने ।

स्वस्थः शरन्नदाघाभ्यामन्यथा कृतशोधनः ॥६४॥

घृतमाचिकमात्रा वा लौहे लौहेन मर्दितः ।

रसायनं द्वौ दिवसौ द्वे द्वे गुञ्जे ततः परम् ॥६५॥

द्वन्द्वद्वया दिने द्वे द्वे परं विंशतिवासरान् ।

प्रातर्विंशतिगुञ्जानां भागौ द्वौ भागमेव च ॥६६॥

निष्कर्षः । कृत्यादिति ।—“कृत्यात्तत्कल्पनापाकः” इत्यत्र “कार्यस्तत्कल्पनापाकः”
 “कृत्यात्तत्कल्पनापाकम्” इति वा पाठः साधुः ; तत्कल्पनापाकः तस्य लौहस्य कल्पना
 कृतिः, निश्चयित्वित्यर्थः, तादृशः पाकः शेषपाकः इत्यर्थः, अथवा—कल्पनापाकः
 पाककल्पना पाकविधिरित्यर्थः ; कल्पना प्रयोगकल्पना तदर्थः पाकः इत्यर्था वा,
 श्लेषणीव रसायने श्लेषाद्य यथा बालकानभः पाकः कार्यः रसायनेऽपि तथा कार्यं
 इत्यर्थः । इदानीं रसायने तस्य मात्रादिकमाह, स्वस्थ इति ।—शरन्नदाघाभ्या-
 मन्यथा शरन्नदाघं वर्जयित्वा अन्यत्विन् कृतौ । “घृतमाचिकमात्रा वा लौहे लौहेन
 मर्दितः” इत्यत्र “घृतमाचिकमात्राया लौहे लौहेन मर्दितम्” इति पाठः सङ्गतः ;
 घृतमाचिकमात्रायां अनुदपघृतमधुभ्याम् ; अथ च मध्यपेक्षया घृतं किञ्चिदधिकं
 दयं, तन्त्रान्तरे तथा दर्शनात्, तथा व चकदत्ते—“समसृष्टामलपात्रे लौहे
 लौहेन मर्दयेच्च पुनः । दत्त्वा मध्यगुदपं तदगु घृतं योगयेदधिकम् ॥ बन्धं गृह्णाति
 यथा मध्यपृथक्तेन पङ्कमाविशिवत् ॥” इति । लौहे लौहपात्रे लौहेन लौहदण्डेन ।
 रसायनम् इदं कालाभकरसायनं द्वौ दिवसौ द्वे द्वे गुञ्जे, भक्षयेदित्युत्तरैषान्वयः ;
 प्रथमदिनद्वयं गुञ्जाद्वयमानेन भक्षयेदित्यर्थः, ततः परं द्वन्द्वद्वया दिनद्वयं गुञ्जा-
 द्वयमानेन भक्षयित्वा तृतीयदिवसमारभ्य द्वौ द्वौ दिवसौ कृत्वा गुञ्जाद्वयद्वया विंशति-
 दिवसान् यावत् वर्जयेत्, प्रथमदिनद्वयं गुञ्जायुगलं, ततो दिनद्वयं रक्तिषतुष्टयं, ततः
 दिनद्वयं रक्तिषट्कम्, एवं क्रमेणैकोनविंशदिने विंशतिगुञ्जा पूर्यन्ते, एवं विंश-
 दिवसेऽपि ; ततो यावत्कालं तत् भक्षणीयं, तावत् विंशतिगुञ्जाप्रमाणेनैव भोक्तव्यम् ।
 अथ “एकोनविंशदिवसे एव विंशतिगुञ्जायां पूर्यायामपि यत् “विंशतिवासरान्”
 इत्युक्तं, तत् “दिने द्वे द्वे” इति युष्मदिनानुरोधात् । इदानीं विंशतिगुञ्जामितं लौहं
 किमेकदेव भोक्तव्यम् ? उत विभज्य ? इत्याह, प्रातरिति ।—विंशतिगुञ्जानां द्वौ भागौ
 विधा विभक्तस्य विंशतिगुञ्जामितस्य लौहस्य भागद्वयं यवचतुष्टयाधिकरक्तिषादशक-

प्राग्भक्तमर्द्धमर्द्धं वा भक्षयेदुक्तकालयोः ।
 एवं मात्राविभागेन व्याधिक्षीणाऽपि सर्वदा ॥६७॥
 लोहादष्टगुणं क्षीरं धारोष्णं शृतमेव वा ।
 वयःस्तम्भेऽनुपातव्यं व्याधौ काथो यथोदितः ॥६८॥
 आस्त्राय चानु मुस्तानां निर्यासं दन्तपोडितम् ।
 मूलानि भक्षयेत्तासामास्यवैरस्यनुत्तये ॥६९॥
 क्रूरकोष्ठस्तु दोषाग्निरनुलोमयितुं मलान् ।
 तप्तं क्षीरं पिबेद्भूयस्ताम्बूलं भक्षयेन्मृहः ॥७०॥
 स्नानमदेनविष्टम्भि-विदाह्यस्त्वमजाङ्गलम् ।
 सप्तसप्ताहमथवा त्रिःसप्ताहं परित्यजेत् ॥७१॥
 शालिमुद्गरसं सर्पिर्वत्त्रायं बृहत्तोदयम् ।
 दीर्घं पटोलवार्त्ताकिं तालकं मूलकन्दकम् ॥७२॥
 शतावर्ष्याः सजोवन्तो-शृङ्गाटसुनिषण्णकम् ।
 तण्डुलीयकधान्याकं सराजक्षवत्रास्तु शम् ॥७३॥

मित्यर्थः, प्रातः, तथा प्राग्भक्तं भागं भोजनात् पूर्वमेकभागं यवदयाधिकरक्तिषट्क-
 मित्यर्थः, भक्षयेत् । पञ्चान्नमाह, अर्द्धमिति । --वा अथवा उक्तकालयोः प्रातस्तथा
 भोजनात् पूर्वञ्च षड्भेदं विंशतिगुण्यमानं । इवा विभज्य एकेकभागम् । वयःस्तम्भं
 रमायने इत्यर्थः, लोहादष्टगुणं धारोष्णं शृतमेव वा क्षीरम् अनुपातव्यामिति शोच्यम् ।
 व्याधौ यथोदितः तत्तद्दोषाधिकारोक्तः, काथः अनुपातव्य इति शेषः । आस्त्रायत ।
 --लोहमन्त्रणजनितमुखवैरस्यापनीदनाय दन्तविवृतं मुस्तारसं पीत्वा मुक्तं भक्षयेत् ।
 वक्तुं तत् "कान्तकामकममल सद्यस्य रसं पिबेद्दिने न तु रात्रे" इत्यनेन मुक्तकरमस्यैव
 पानविधेर्दृश्यते न तु मुक्तकस्य । "क्रूरकोष्ठः.....मृहः" इत्यत्र "क्रूरकोष्ठं सुहीनो-
 रनुलोमयितुं मलान् । तप्तं क्षीरं पिबेद्भूयस्ताम्बूलं भक्षयेन्मृहः ॥" इति पाठान्तरम् ।
 अजाङ्गलमित्यत्र मांसमिति शेषः, अजाङ्गलं मांसं धन्वमासम् । दीर्घं इति पटं पटो-
 लवार्त्ताकिं इत्यस्य विशेषणम् ; दीर्घपटोलं पटोलाकारदीर्घफलशाकविशेषः, "धन्तुल"
 इति "ड्ड" इति वा ख्यातं, दीर्घाकारपटोलं वा, वातोकमपि दीर्घाकारं शब्दं,
 न तु वृषुलाद्याकारम् । शतावर्ष्या इत्यत्र मूलमिति शेषः । सराजक्षवत्रास्तु राजक्षवः

जाङ्गलं शफराः कृष्ण-मीना रोहितमद्गुरौ ।

द्राक्षादाडिमखर्जूर-रश्माकीलञ्च शस्यते ॥७४॥

जीर्णौषधस्तु दीप्तेऽग्नी प्रातः पित्तात् बुभुक्षितः ।

अर्द्धमात्रं पिबेत् क्षीरं सार्द्धमात्रं कृशो नरः ॥७५॥

दिवसाः सप्त सप्तास्मिन् दिने द्वित्रिगुणाः क्रमात् ।

जवन्यमध्यप्रवरः सेवाकालो विधीयते ॥७६॥

पूर्वक्रियेयं द्विगुणा सोत्तरा नात्र यन्त्रणा ।

यथाकालं मलोत्सर्गः शरीरोदरलाघवम् ॥७७॥

हृदयोद्गारशुद्धिश्च जीर्णलोहस्य जायते ।

लोहाप्रवृत्तौ सामत्वं लोहकिट्टप्रशान्तये ॥७८॥

राजसर्षपः, “राइ” इति ख्यात, दुग्धिका वा । जीर्णौषध इति ।—“पित्तान्” इत्यत्र “पीतान्” इति पाठः सङ्गतः ; प्रातः पीतात् औषधान्पानतया प्राक्पीतदुग्ध-
मपेत्येत्यर्थः, अर्द्धमात्रमित्यत्र वयःसाम्भार्य इति शेषः, वयःसाम्भार्यं अर्द्धमात्रं दुग्धं
पिबेत् । सार्द्धमात्रं कृशो नरः व्याधिक्षीण नरः औषधान्पानतया पीतकायभावा-
मपेत्य सार्द्धमात्रं क्षीरं पिबदित्यर्थः । दिवसा इति ।—अस्मिन् दिने वर्तमानकाले
इत्यर्थः, द्वित्रिगुणाः सप्त सप्त दिवसाः, एकोनपञ्चाशद्दिवसाः अष्टनवतिदिवसाः
तथा सप्तचत्वारिंशदधिकशतदिवसाः क्रमाज्जवन्यमध्यप्रवरः सेवाकालः । “दिने
द्वित्रिगुणाः” इत्यत्र “एकाद्वित्रिगुणाः” इति क्वचित् पाठः । पूर्वति ।—इयं “रसायनं द्वौ
दिवसौ” इत्यादिना उक्ता पूर्वक्रिया मुख्यक्रिया । सोत्तरा उत्तरक्रिया, “नात्युपविष्टो
नाप्यतिभाषी नातिस्थितस्तिष्ठेत्” अत्यन्तवातश्रीतातपथान्स्नानवस्त्रादीन् ॥ अग्न्याञ्च
दिवा निद्रामहितञ्चाशान्भुज्यते । वातकृतः पित्तकृतः सर्वान् कटुस्त्वक्तिकषायान् ॥
नत्क्षणविनाशहेतून् मेथुनकोपयमान् दूरे ॥” इत्यादिना चक्रपाणिष्ठतनागार्जुनोक्ता ;
अवाह शिवदासः,—“उत्तरक्रिया चात्र द्विगुणा कार्या ; यदुक्तं पातञ्जले ‘इति
मुख्यक्रियायाः स्याद्विगुणा सोत्तरक्रिया’ इति । उत्तरक्रिया चात्र ‘नात्युपविष्टो
नाप्यतिभाषी नातिस्थितस्तिष्ठेत्’ इत्यादिना उक्तैव” इति । जीर्णलोहस्य लक्षणमाह,
—यथाकालमिति । भुक्तलोहे अग्नौ लक्षणं चिकित्साञ्चाह, लोहाप्रवृत्ताविति ।—
लोहाप्रवृत्तौ लोहाग्नौ इत्यर्थः, विधिना लोहभक्षणे कृतेऽपि तदग्नौर्वशत् यदि
भक्षप्रवृत्तिर्न भवेत्, जीर्णलोहस्यैव यथाकालं मलोत्सर्गादिदर्शनादित्याशयः, सानत्वम्

उष्णाम्बु मयवक्षारं त्रिदिनान्निदिनात् पिबेत् ।

रमेनागस्त्यपत्राणां विडङ्गञ्चान्तराऽन्तरा ॥७८॥

क्वाथमश्वत्थपत्राणां प्रमङ्गे कृदिशूलयोः ।

सामान्यसिद्धिमावाप्य भावनापुटपाचनैः ॥८०॥

यथायोगयुतं पक्वं त्रिफलाक्वाथसर्पिषा ।

साधितं भक्षयेत् कान्तमेकं वा केवलाभ्रकम् ॥८१॥

इह नानुपिबेत् क्षीरं न कुर्यात्तेन भोजनम् ।

मुद्गयूषं पिबेत्तोये कोष्णञ्च नियतो भवेत् ॥८२॥

एतल्लोहरसायनाख्यममृतं पक्वं यथोक्तं क्रमात्

भुञ्जानः प्रतिवत्सरं नववपुः साधेन्तु वर्गेन्द्रियैः ।

दीर्घायुर्नवयौवनोन्नतकुच-प्रौढाङ्गनावल्लभो

माद्यहन्तिबलो जराविरहितः पुच्छावृतः स्यान्नरः ॥८३॥

आमदोषवत्त्वं, माभमलत्वमित्यर्थः, ज्ञातव्यमिति शेषः, अतः लौहकिट्टप्रशान्तये अजीर्णे हि लौहं किट्टं स्रवति, तेन च शूलादिकमुपजायते, तदप्रशान्तये । अगस्त्यपत्राणां वक्तृपुत्रपत्राणाम् । चक्रेणापि स्वसङ्ग्रहे उक्तं—“तप्तदग्धानुपानं प्रायः सारयति बड्-कोष्ठस्य । अनुपौतमम्बु यदा कोमलशाल्यनारिकेलस्य ॥ यस्य च न तथा सरति मयव-क्षारं जलं पिबेत् कोष्णम् । कोष्णं विफलाक्वाथं सनाथं क्षारं ततोऽप्यधिकम् ॥” इति । किञ्च—“किमिरिपचूणे लौहं सहितं स्वरसेन बड्सेनस्य । अपयत्यचिरान्निशतं लौहाजीर्णोद्भवं शूलम् ॥” इति । कृदिशूलयोः लौहाजीर्णेज्यच्छदिशूलयोः । मिलित-कान्ताभ्रकयोगमुक्त्वा इदानीं तयोः प्रथक् प्रयोगमाह, सामान्येति ।—सामान्यसिद्धिं लौहस्य साधारणसाधनं विफलादिकम् आवाप्य कल्कीकृत्य ; यदा—आवाप्य जले प्रविष्य, क्वाथयित्वा इत्यर्थः, तेन भावनापुटपाचनैः पक्वं पश्चात् यथायोगयुतं तप्तद्रोणापहृद्रव्यकायेन मर्दितं, विफलाक्वाथसर्पिषा साधितम् पक्वं केवलं कान्तं केवलमभ्रकं वा भक्षयेत् । इह अनेन विधिना निष्पादितलौहप्रयोगे । तेन क्षीरेण । मुद्गयूषं पिबेत् क्षीरं नानुपीय मुद्गयूषमनुविधेदित्यर्थः । तोये तोयकार्थे, जलपानादि-कार्ये कोष्णं, तोयं व्यवहरेदिति शेषः । नियतः संयतेन्द्रियः । माद्यहन्तिबलः माद्यतः मदस्त्राविषः दन्तिनः गजस्य इव बलं यस्य तथाभूतः प्रभूतबलसम्पन्नः ॥५६—८३॥

अथ सर्वरोगे एकोनविंशलोहकल्पः ।—

अङ्गोललोहमणिटङ्गणमाणिमन्थ-

ताप्यार्द्रकविकटतुल्यशिलाजतूनाम् ।

भृङ्गोदकेन वटिकाञ्च मसूरमात्रां

खादेज्जग्राय जरसः सकलामयानाम् ॥८४॥

अथ कृष्णे विंशलोहकल्पः ।—

अङ्गोलवेलाभ्रककान्तनाप्यशिलाजतुव्योषफलत्रयाणाम् ।

चूर्णं मुषल्याः समभागमेतत् कुष्ठानि लौढं मधुना धुनोति ॥८५॥

अथ मेदःप्रसृतिषु एकविंशलोहकल्पः ।—

कान्ताभ्रविफलाविडङ्गरजनी-ताप्याब्देदेवद्रुम-

व्योषेनाग्निपुनर्नवाङ्गुगिरिजाङ्गुलैः समं गुग्गुलुम् ।

पिष्ट्वा भृङ्गजलेन सूक्ष्मगुलिकां खादेत् यथामात्म्यतो

मेदश्चेभ्रममोरणोल्लङ्घनगदेष्वन्येषु वा पूरुषः ॥८६॥

अथ कृष्णे द्वाविंशलोहकल्पः ।—

व्योषं कृष्णतिलासनस्य कुसुमं मण्डूरसैरेयकं

दोषागुलुसितानिषत् कुम्भिरं भृङ्गाणि भस्मातकम् ।

श्रेष्ठावाक्कुचिकान्तनाहजरमस्तत् कान्तपात्रे स्थितं

खादेत् कुष्ठहर रसायनवरं मध्वाज्यसंयोजितम् ॥८७॥

एकोनविंशलोहकल्पमाह, अङ्गोलैति ।—अङ्गोलः अङ्गोऽः । मणिः मुक्ता ।

माणिमन्थः सैन्धवः । ताप्यं तृणमाजिकम् । भृङ्गोदकेन भृङ्गराजरसेन ॥ ८४ ॥

विंशलोहकल्पमाह, अङ्गोलैति ।—अङ्गोलः अङ्गोऽः । वेलां विलङ्घम् । मुषल्याः

सालमूल्याः । अत्र अङ्गोलोदोना मुषल्यताना सर्वेषां समभागता ॥ ८५ ॥

एकोनविंशलोहकल्पमाह, कान्तेति ।—पुनर्नवाङ्गुः पुनर्नवामूलम् । गिरिजः शिला-
जतु । समं गुग्गुलुं कान्तादिसर्वचूर्णसमं गुग्गुलुम् । यथामात्म्यतः अश्विलानुसारि-
ष्वेत्यर्थः । “यथानात्म्यतः” इत्यत्र “यथाशक्तिः” इति पाठान्तरम् ॥ ८६ ॥

द्वाविंशलोहकल्पमाह, व्योषमिति ।—सैरेयकं भिख्यो । दोषा हरिद्रा । श्लेः
बहुवारकः । कुम्भिरं विडङ्गम् । भृङ्गं भृङ्गराजः । श्रेष्ठा विफला । कान्तलोहजरसः

अथ सर्वरोगे तथोविंशलीङ्कल्पः ।—

मण्डूरत्रिफलाभितेतरतिला-जातीविडङ्गाकुली-

वाकुचभ्रककान्तगन्धकनिशा-माधूकमारं रजः ।

पिष्टा भृङ्गरसेन तस्य वटकान् खादेत् पयःपाचितान्

सर्वव्याधिहरान् रसायनवरान् सृत्योश्च सृत्युप्रदान् ॥८८॥

अथ नेत्ररोगे कान्तनागाव्यचतुर्विंशलीङ्कल्पः ।—

बद्धा न्यस्तमहस्त्रयं कमलिनी-पत्रे सधात्रीरसे

धीतं भृङ्गरसेन च,स्वकरजो-युक्तं द्विभागोत्तरम् ।

स्थाल्यां षड्गुणरक्तमारिषरसे यद्दाकटव्यां धृतौ

सञ्चाल्याभ्रमि कल्कशेषितमिदं शीतं क्षणाद्गालयेत् ॥८९॥

तस्मादादाय मूषायां स्वल्पायां द्रावयेद्धनम् ।

कान्तनागोऽयमुदकेनाञ्जनं नयनामृतम् ॥९०॥

कान्तलीङ्कल्पानि , “कान्तलीङ्गरजः” इत्यत्र “कान्तलीङ्गरजः” इति पाठान्तरम् ।

“कान्तलीङ्गरजः” इति पाठे तु—ङ्गरजः पारदः पारदभ्रम् इत्यर्थः ॥ ८७ ॥

तथोविंशलीङ्कल्पमाह, मण्डुरेति ।—मितेतरतिला कृष्णतिला । जाती जाती-फलम् । माधूकमारं मधूकपुष्पमारम् । रजः पर्यटकः । पयःपाचितान् पयसि दग्धे पाचितान् । मण्डुरादिकं भृङ्गराजसेन पिष्टा वटकान् कारयेत्, ततस्तान् क्विचिदुष्णेन पक्त्वा खादेत् । सृत्योश्च सृत्युप्रदान् सृत्युवारकानित्यर्थः ॥ ८८ ॥

कान्तनागाव्यं चतुर्विंशलीङ्कल्पमाह, बद्धेति ।—सधात्रीरसे कमलिनीपत्रे बद्धा महस्त्रयं दिनत्रयं न्यस्तं स्थापितम् , “कान्तनागोऽयम्” इति वक्ष्यमाणवाक्यस्वारस्यात् “महस्त्रयम्” इत्यत्र “अहस्त्रयम्” “अहस्त्राहम्” इति वा पाठः, समीचीनतया प्रतिभाति । ततो दिनत्रयानन्तरमुद्धृत्य भृङ्गरसेन धीतं चुम्बकरजोयुक्तं चुम्बकाव्य-लीङ्गस्य चूर्णेन भागेकेन युक्तं द्विभागोत्तरं भागद्वयं, प्रकरणाङ्गौहमिति शेषः, षड्गु-णरक्तमारिषरसे लोहापेक्षया षड्गुणरक्ततण्डुलीयरसे स्थाल्यां धृतं स्थापितम् ; “धृतौ” “धृतौ” वा इत्यत्र “धृतम्” इति पाठकल्पना समीचीनतया प्रतिभाति ; दाकटव्यां काष्ठमयदव्यां सञ्चाल्य, पचेदिति शेषः, ततः कल्कशेषितं द्रवय्यात् औषधमात्राव-शिष्टमिदं शीते अभ्रमि गालयेत् प्रक्षिपेदित्यर्थः । क्षणात् क्षणकालानन्तरं तस्मान् कलात् पादाय स्वल्पमूषायां घनं यथा तथा द्रावयेदिति ॥ ८९-९० ॥

अथ रसायने पञ्चविंशलौहकल्पः ।—

कान्तपात्रे शृतं क्षीरं रसायनमनुत्तमम् ॥८१॥

अथ मृत्युहारिरसाख्यषड्विंशलौहकल्पः ।—

अयःपत्रं तिलोत्प्रेधं प्रतप्तं चतुरङ्गलम् ।

एकविंशतिपर्यायं धात्रा निर्वपयेद्रसे ॥८२॥

ततः शतपलं स्थाल्यां क्षिप्वा धात्रीरमोत्तमम् ।

कृत्वा ततः सुषिहितं भस्मराशौ विनिक्षिपेत् ॥८३॥

मासि मासि समुद्धृत्य लोहदण्डेन घटयेत् ।

तस्मिन् विशुध्यति प्राग्बद्रसं धात्राः प्रदापयेत् ॥८४॥

द्रवोभवति तत् सर्वं वत्सरात् पत्रमायसम् ।

ततः समन्ततोऽङ्गुष्ठ-पर्वमात्रमुखेन तु ॥८५॥

आयसेन सुवेणायः-पात्रे कल्कीकृतं ततः ।

शृतं पृथक् समाग्निं सेवेत मधुसर्पिषा ॥८६॥

जीर्णं साज्यं रमक्षीर-यूपान्यतममिश्रितम् ।

षष्टिकौदनमश्रीयादुपयुज्येत वत्सरम् ॥८७॥

वर्षमन्यच्च शिष्टान्नो यन्वितात्मा कुटो वसेत् ।

पञ्चविंशलौहकल्पमाह, कान्ति ।—कान्तपात्रे कान्ताख्यलौहभाजने शृतं पत्रम् अर्हावर्तितं वा ॥ ८१ ॥

मृत्युहारिरसाख्यं षड्विंशलौहकल्पमाह, अयःपत्रमिति ।—एकविंशतिपर्यायं क्रमेणैकविंशतिवारमित्यर्थः । अङ्गुष्ठेति ।—अङ्गुष्ठस्य पर्वमात्रम् अथपर्वप्रमाणं मुखं यस्य तादृशेन, आयसेन सुवेण लौहसूत्रा, गृहीत्वेति शेषः ; एतेनेवाख्य लौहस्य सेवनमात्रा प्रदर्शिता भवति, अङ्गुष्ठायपर्वप्रमाणमुखविशिष्टायां लौहसूत्रि यावन्मात्रं लौहद्रवं परिमातुं शक्नोति तावदेव भक्षणीयमिति ; शृतं बर्जना सन्तप्तं, ततः पृथक् समाग्निं मधुसर्पिषा कल्कीकृतं सेवेत, तादृगसुषेण द्रुतलौहपत्रं गृहीत्वा अयःपात्रे क्षिचित् सत्तापयेत्, ततः शीतोभूतं तत् मधुसर्पिषा पिष्टा सेवेत्यर्थः । उपयुज्येत वत्सरं यावता लौहपत्रेण चा-संवत्सरं सेवनमर्हति, प्रदर्शितरीत्या तावदेव लौहं साधनीयमिति । वर्षमन्यच्च द्वितीयं वर्षं, द्वितीयं वर्षं व्याप्य इत्यर्थः, शिष्टान्नः हितभोजी

अगम्यो रुग्जरासृत्यु-शस्त्राग्निविषवारिभिः ॥

जीवेद्धर्षसहस्रं वै सर्वभावेष्वतोन्द्रियः ॥८८॥

अथ सप्तविंशादिलोडककल्पवयम् ।—

ताम्ररौप्यसुवर्णानामयमेव पृथग्विधिः ।

द्विगुणं तत् गुणोत्कर्षाज्जानीयादुत्तरोत्तरम् ॥८९॥

अथ अरिष्टलक्षणे विंशलोडककल्पः ।—

हेम धात्रीरसं क्षौद्रं गायत्रीरसभावितम् ।

लिहन्ननु पिवेत् क्षीरं दृष्टरिष्टोऽपि जीवति ॥९०॥

अथ जरादौ एकविंशलोडककल्पः ।—

मधुमागधिकाविडङ्गसार-त्रिफलाहेमघृतं सिताञ्च खादन् ।

जरयाऽनवलोढदेहकान्तिः समधातुश्च समाः शतञ्च जीवेत् ॥

॥९०१॥

यन्त्रिताया संयतः मन् कुटो गृहविगर्षं वसेत् कुटीप्रवेशं कृत्वा तिष्ठेदित्यर्थः, कुटी-
लक्षणञ्चातं चरकेण—“रसाग्रानां द्विविधं प्रयोगसूत्रयो विदुः । कुटीप्रावेशिकञ्चैव
वातातपिकमेव च ॥ कुटीप्रावेशिकस्यादौ विधिः समुपदेक्ष्यते । नृपवेद्यविज्ञातीनां
साधूनां पण्यकर्मणाम् ॥ निवासे निर्भये शक्ते प्राप्यापकरणे पुरे । दिशि पूर्वोत्तरस्यान्तु
सुभूमौ कारयेत् कुटीम् ॥ विक्षारीक्षेधसम्पन्ना विगर्भां मृच्छलोचनाम् । घनभक्ति-
सूतमुखां सुभ्रष्टा मनसः प्रियाम् ॥ शब्दादीनामशक्तानामगम्यां स्योविवर्जिताम् ।
दृष्टोपकरणापेतां मज्जवेद्यौषधविज्ञाम् ॥” इति । सर्वभावेष्वतोन्द्रियः सर्वेष्वेव विषयेषु
अतोन्द्रियज्ञानसम्पन्नो भवति, अतोन्द्रियमपि विषयं ज्ञातुमर्हतीत्यर्थः ॥ ८२—८८ ॥

सप्तविंशादिलोडककल्पवयमाह, तासेति ।—अयमेव विधिः लोडकतः विधिः ।
द्विगुणमिति ।—तास्यापेक्षया रौप्यकल्पः रौप्यापेक्षया च स्वर्णकल्पः द्विगुणगुणसम्पन्नो
भवतीत्यर्थः ॥ ८९ ॥

विंशलोडककल्पमाह, हेमेति ।—हेम स्वर्णभक्ष्य । गायत्रीरसभावितं खदिररस-
भावितम् । गायत्रीरसभावितं हेमभक्ष्यं धात्रीरसक्षौद्राभ्यां लिह्यादिति ॥ ९०० ॥

एकविंशलोडककल्पमाह, मध्विति ।—हेम स्वर्णभक्ष्य । समाः शतं शत-
वर्षम् ॥ ९०१ ॥

अथ द्वाविंशद्वलीङ्कल्पचतुष्टयम् ।—

आयुष्कामः शङ्खपुष्पा समेतं

मेधाकामः काञ्चनं मोगगन्धम् ।

लक्ष्मीकामः पद्मकिञ्जल्कयुक्तं

खादेत् कामं कामकामो विदार्या ॥१०२॥

अथ रसायने षट्त्रिंशद्वलीङ्कल्पः ।—

सपद्मबीजामलकाभयाऽर्क्षं सर्पिर्मधुभ्यां कनकं निहन्तः ।

दीर्घायुषो मन्दजरोपतापाः सरीसृपाणाञ्च भवन्त्यगम्याः ॥१०३॥

अथ सतलोहानां रसलक्षणम् ।—

मृतानि लोहानि रसोभवन्ति निघ्नन्ति रोगान् परिशीलितानि ।

किञ्चोपचारस्य समययोगात् पुष्यन्ति धातूनतिदीर्घमायुः ॥१०४॥

इति श्रीवैद्यपतिमिहगुप्तस्य सूनीर्वाभटाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये

सतलोहकल्पनिर्दिष्टं नामाष्टविंशतितमोऽध्यायः ॥ २८ ॥

द्वाविंशद्वलीङ्कल्पात् पञ्चाविंशद्वलीङ्कल्पपर्यन्तं कल्पचतुष्टयमाह, आधुरिति ।—

काञ्चनामिति पदं योगचतुष्टयनं सम्बध्यते । मोगगन्धं सप्तधम । लक्ष्मीकामः श्रीकामः, मौन्दर्थाभिलाषीत्यर्थः, धनाभिलाषीत्यर्थो वा, धनार्जनमाश्रयत्वेन मुक्तास्य सपद्म-
किञ्जल्कस्य यावज्जीवं स्वास्थ्यानुवर्तनद्वारा । पद्मकिञ्जल्कः पद्मकेशरः । कामं
यथेष्टम् । कामकामः कामाभिलाषी ॥ १०२ ॥

षट्त्रिंशद्वलीङ्कल्पमाह, सप्तमेति ।—सपद्मबीजादयः कनकान्ताः सर्वे तुल्याः ।
मृतमधुभ्यां लेहः । सरीसृपाणां सर्पादीनाम् ॥ १०३ ॥

मृतलोहानां रसत्वं तथा सामान्यतो गुणस्याह, मृतानीति ।—लोहानि
स्वर्णादीनि षट्त्रिंशानि । रसोभवन्ति पारदवत् गुणदायीनि भवन्ति, रसायनानि
भवन्तीत्यर्थः । परिशीलितानि सततमभ्यस्तानि । उपचारस्य समययोगात् विहित-
स्वाहारविहारादौः सम्यक् प्रयोगादित्यर्थः ॥ १०४ ॥

इति रसरत्नसमुच्चयेष्टविंशतितमोऽध्यायः समाप्तः ॥२८॥

अथ एकोनविंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ विषकल्पः ।—

अथ विषोत्पत्तौ पौराणिकी कथा ।—

ईश्वर उवाच—

शृणु देवि ! प्रवक्ष्यामि यतोत्पन्नं महाविषम् ।

भेदांस्तस्य वरारोहे ! यत्र तत्र मविस्तरम् ॥ १ ॥

देवदैत्यांरगाः सिद्धा गन्धर्वा यक्षराक्षसाः ।

पिशाचाः किन्नराश्चैव मिलित्वा च वरानने ! ॥ २ ॥

एकतो बलिराजश्च ब्रह्माद्याश्च तथैकतः ।

मन्यान् मन्दरं कृत्वा नागराजिन वंष्टितम् ॥ ३ ॥

क्षीराब्धिमन्यन् तत्र प्रारब्धं सुरसुन्दरि ! ।

निर्गतास्तत्र रत्नौघाः कामधेन्वादयः प्रिये ! ॥ ४ ॥

अमला कमलोत्पन्ना पञ्चादृक्षैश्च वास्ततः ।

एरावतो महाकायो निर्गतं देवि ! चामृतम् ॥ ५ ॥

अतोव मन्यनाद्देवि ! मन्दराघातवेगतः ।

अहिराजश्चमाद्देवि ! विषज्वाला विनिर्गता ॥ ६ ॥

ततोऽतिघोरा सा ज्वाला निमग्ना क्षीरसागरे ।

तथा तत्रैव चोत्पन्नं कालकूटं महाविषम् ॥ ७ ॥

प्रलयानलमङ्गाशं क्रुद्धः काल इवोत्कटः ।

तं दृष्ट्वा विबुधाः सर्वे दानवाश्च महाबलाः ॥ ८ ॥

विषस्य दनाः सद्यः प्राप्ताश्चैव भदन्तिकम् ।

ततस्तैः प्रार्थ्यमानोऽहमपि बवं विषमुत्तमम् ॥ ९ ॥

युक्तियुक्तं प्रयुक्तस्य विषस्यापि रसायनवत् गुणकारकत्वात्, रसायनावर्जेष्वन्येष्व-
कल्पमुक्ता विषकल्प विवक्षुः आदौ तस्य प्रथमात्याद्यादिकं श्रीमद्भगवच्छब्दरमुख्येन
विशेषात्, ईश्वर इति ।—देवि ! इति पार्वत्या, सम्बोधनम् । मन्यान् मन्यन्त इत्यम् ।

अथ स्थावरविषाणा जातिभेदाः ।—

ततोऽवशिष्टमभवन्मूलरूपेण तत् विषम् ।
पत्ररूपेण कुत्रापि मृत्तिकारूपतः क्वचित् ॥१०॥
कुत्रचित्तोयरूपेण धातुरूपेण कुत्रचित् ।
कन्दरूपेण कुत्रापि त्रयोदशविधं विषम् ॥११॥

अथ कन्दावषाणा नामानि ।—

तेषु श्रेष्ठं कन्दविषं त्रयोदशविधं स्मृतम् ।
कर्कटं कालकूटञ्च वत्सनाभं हलाहलम् ॥१२॥
बालुकं कर्दमञ्चैवं मत्तकं मूलकन्तथा ।
मर्षपं शृङ्गिकं देवि ! मुस्तकञ्च महाविषम् ॥
हारिद्रकमिति प्रोक्तं त्रयोदशविधं विषम् ॥१३॥

अथ कर्कटादिकन्दविषाणा लक्षणम् ।—

कर्कटं कपिवर्णं स्यात् काकचञ्चुनिभं पुनः ।
कालकूटं ततो ज्ञेयं वत्सनाभन्तु पाण्डुरम् ॥१४॥
भङ्गुराकन्दवत् देवि ! नीलवर्णं हलाहलम् ।
बालुकं बालुकाभञ्च कर्दमं कर्दमोपमम् ॥१५॥
मत्तकं श्वेतवर्णं स्याच्छृङ्गिककन्दन्तु मूलकम् ।
मर्षपं पीतवर्णं स्याच्छृङ्गिकं कृष्णपङ्कजम् ॥१६॥
मुस्ताभं मुस्तकं प्राक्तं रक्तवर्णं महाविषम् ।
हारिद्रकं पीतवर्णं विषभेदाः प्रकीर्त्तिताः ॥१७॥

नागराजिन वामुकिना । तव चौराञ्चौ, चौराञ्चत इत्यर्थः । कमलोत्पन्ना लक्ष्मी-
रात्रभेदा । तथा विषज्वालया ॥ १—८ ॥

स्थावरविषाणा जातिभेदानाह, तत इति ।—ततोऽवशिष्टं सत्यानाव-
शिष्टम् ॥ १०।११॥

त्रयोदशविधकन्दविषाणा नामान्याह, निश्चितम् ।—स्पष्टम् ॥ १२।१३ ॥

कर्कटादीना कन्दावषाणा लक्षणान्याह, कर्कटमिति ।—भङ्गुराकन्दवत् भङ्गुरा-
चातिविधा, सा एव कन्दः तद्वत् अतिविषावदाक्षातिविशिष्टः ॥ १४—१७ ॥

अथ श्वेतादिवर्णभेदेन विषाणां ज्ञातिभेदः ।—

चतुर्धा वर्णभेदेन विषं ज्ञेयं मनीषिभिः ।

ब्रह्म नक्षत्रविट्शूद्राः श्वेत रक्ताश्च पीतकाः ॥

कृष्णवर्णः क्रमाज्ज्ञेयो वर्णानामनुपूर्वशः ॥ १८ ॥

अथ वर्णभेदेन विषाणां क्रियाभेदः ।—

मारणे कृष्णवर्णं स्याद्रक्तन्तु रसकर्मणि ।

पीतवर्णं क्षुद्रकार्यं श्वेतवर्णं रसायने ॥ १९ ॥

अथ विषासूतयोः तुल्ययोर्नित्यनिर्देशः ।—

क्षीरोदसागरे देवि ! मथ्यमाने वरानने ! ।

उत्पन्नमसृतं देवि ! तथोत्पन्नं महाविषम् ॥ २० ॥

अथ विषस्य सात्वानिर्देशः ।—

आरोटं भक्षयत् देवि ! विषं मर्षपमात्रकम् ।

प्रथमे दिवसे पश्चाद्वितीयादौ द्विमर्षपम् ॥ २१ ॥

श्वेतादिवर्णभेदेन विषाणां ज्ञातिभेदानाह, चतुर्धेति ।—तत्र श्वेतवर्णं ब्राह्मणः, रक्तवर्णं क्षत्रियः, पीतवर्णं वैश्यः, कृष्णवर्णं शूद्रः इति ॥ १८ ॥

वर्णभेदेन कर्मभेदानाह, मारणे इति ।—मारणे हननक्रियायां, क्षीरमविनाशने इत्यर्थः । रसकर्मणि पुष्टसाधने इत्यर्थः । क्षुद्रकार्यं निर्दिष्टकर्मव्यतिरिक्ततरकार्यं, कृष्णादिव्याघ्रावित्यर्थः । तथा च भावपक्षाश्रिततन्त्रान्तरवचनं यथा—“रसायने विषं विषं क्षत्रियं देहपुष्टये । वैश्यं कुष्ठविनाशाय शूद्रं दद्यात् वधाय हि ॥” इति ॥ १९ ॥

विषासूतयोराकरमायनाह, क्षीरोदेति ।—अथ विषासूतयोरेकदोष्यत्तिप्रदर्शनेन एतदुक्तं भवति यत्, असृतं प्राणप्रदमपि अथवापयोगेण विषवन्मार्कं भवति, तथा विषं प्राणहरमपि युक्तियुक्तपयोगेण असृतवत् जीवनकरं भवति इति ॥ २० ॥

प्रयोगार्थं विषस्य सात्वानियमनाह, आरोटमिति ।—आरोटं विगुहमित्यर्थः । “सुशोषितः रसः सत्यगारोटः इति कथ्यते” इत्येकादशाध्याये सुशोषितरसाथे परिभाषितस्यापि आरोटशब्दस्य इह उपचारात् सामान्यतः सुशोषिताथे प्रयोगः ।

पञ्चमे दिवसे देवि ! भक्षयेत् सर्षपत्रयम् ।

षट्पताष्टदिनेऽप्येवं नवमे वेदमङ्गया ॥

भक्षयेद्राजिकावृद्धा यावद्गुञ्जामितं भवेत् ॥२२॥

अथ प्रयोगकालभेदेन विषय क्रियाविशेषः ।—

माममात्रप्रयोगेण कुष्ठान्यष्ट हरेद्विषम् ।

पुण्डरीकं सविस्फोटं श्वेतमोडुम्बरं तथा ॥२३॥

क्षिन्नाभिन्नं कपालाख्यं क्षिन्नाह्नं श्वगन्धि च ।

कुष्ठानि गदितान्यष्ट हन्याद्देवि ! महाविषम् ॥२४॥

षण्मासस्य प्रयोगेण कामरूपा भवेन्नरः ।

संवत्सरप्रयोगेण सर्वरागान् व्यपोहति ॥

द्विवत्सरप्रयोगेण दिव्यदेहो भवेन्नरः ॥२५॥

द्वितीयाष्टौ द्वितीय-तृतीय-चतुर्थदिनेषु । एवं सर्षपत्रयमित्यर्थः । नवमे नवमदिने वेदमङ्गया चतुःसर्षपमानेनेत्यर्थः । राजिकावृद्धा सर्षपत्रया यावत् गुञ्जामितं भवेत् "षड्रजः सर्षपः प्रोक्तोः षड्भिर्यव ईरितः । एका गुञ्जा यवैः षड्भिः" इत्येतदर्थ्याक्तपरिभाषानुसारेण षट्पताष्टदिने सर्षपेः गुञ्जादर्शनात् दशमादवसादारभ्य प्रतिदिनमेकैकसर्षपत्रया यावत् षट्दिनं सर्षपं पूर्येत, तावत् भावावृद्धिं कुर्यात्, एवञ्च एकचत्वारिंशद्विसेन गुञ्जा परिपूर्णा भवति, ततः गुञ्जामानेनैव षण्मासान् वर्षे वर्षद्वयं वा सेवेत इति ॥ २१।२२ ॥

प्रयोगकालभेदेन विषय क्रियाविशेषमाह,—मासेति । कुष्ठान्यष्ट इत्युक्तं, कानि तानि इत्याशंसायां तेषां नामान्याह, पुण्डरीकमिति ।—ननु अतोक्तं क्षिन्नाभिन्न-क्षिन्नाह्न-श्वगन्ध्यादित्यर्थं चरकादौ न दृश्यते, अतश्चरकादिविरुद्धमेतत् कथं सङ्गच्छते ? इति चेदुच्यते—कुष्ठं तावदसङ्केयं, कानिचित् चरके, कानिचित् सुश्रुते, कानिचिच्च तन्नाम्नरेषु पठ्यन्ते, तथा हि, सुश्रुतोक्तमरुच-रकसादिकं न चरके. चरकोक्तं मण्डल-चर्मोत्सृज-शता६.प्रभृतिसं न सुश्रुते, एवञ्च चरकसुश्रुतयोः बहुविधो भेदो दृश्यते, तस्मादयं समाधिरूचितः यत् कुष्ठानामसङ्केयत्वात् तन्नाम्नां तन्मन्त्रानामपि बहुलाञ्ज केचित् केचित् कुष्ठप्रकाराः केषुचित् केषुचित् तन्नेषु सन्निविष्टाः दृश्यन्ते ; चरके-आयुक्तं—“कुष्ठं सप्तविधमष्टादशविधमसङ्केयं वा” इति ॥ २१—२५ ॥

अथ साक्षात्साक्षात्भेदेन विषासृतयोग्यभाग्यौ ।—

साक्षया भक्षितं देवि ! विषमप्यसृतायते ।

साक्षाधिकं वरारोहे ! ह्यसृतं वा विषं भवेत् ॥ २६ ॥

अथ साक्षात्साक्षात्योग्यसृतविषयोः सहसा प्रयोगे दोषः ।—

असृतं सहसा युक्तं शीलितं विषमेव वा ।

साक्षात्साक्षात् विकाराय सृत्यवे च वरानने ! ॥ २७ ॥

अथ सहसा विषसेवने अष्टौ वेगाः ।—

वेगाश्चाष्ट प्रजायन्ते सहसा विषशीलिनः ।

प्रथमे त्वग्विकारः स्याद्वितीये वेपथुर्भवेत् ॥ २८ ॥

दाहो वर्गे तृतीये स्याच्चतुर्थे विकृतो भवेत् ।

पेनाद्वतिः पञ्चमे स्यात् स्कन्धयोर्भङ्गजा ततः ॥ २९ ॥

जाड्यता सप्तमे वेगे चाष्टमे मरणं भ्रुवम् ।

एवं ज्ञात्वा वरारोहे ! प्रतीकारं समाचरेत् ॥ ३० ॥

अथ विषसेवने संशोधनावधि ।—

पित्तान्तं वसनं कुर्यादामान्तञ्च विरेचनम् ॥ ३१ ॥

विषासृतयोः साक्षात्साक्षात्प्रयुक्तयोः गुणागुणावाह, साधयेति ।—स्पष्टम् ॥ २६ ॥

प्रकृत्येव असाक्षात् अथवाप्रयुक्तं साक्षकं तथा प्रकृतसाक्षात्सपि द्रव्यं तथाप्रयुक्तं विकारीत्यादकं भवति इति दर्शयन्माह, असृतामिति ।—सहसा आवाधनेत्यर्थः । साक्षात्साक्षात्समिति पदं कनेन असृताविषाभ्यां सम्बध्यते, साक्षात्समसृतम् असाक्षात् विषमित्यर्थः ॥ २७ ॥

विकाराय सृत्यवे च इत्युक्तं, तत्प्रदर्शनाय विषसेवने अष्टौ वेगानाह, वेगा इति । —सहसा विषशीलिनः अविधिना विषसेवने । त्वग्विकारः त्वचो वेपथुरादिः । “भङ्गजा” इत्यत्र पीडा इति शेषः ; “भङ्गता” इति पाठान्तरम् । चरकाचार्यश्च “तृणोददन्तद्वये —” इत्यादिना यानि वेगलक्षणाणि प्रदर्शितानि तानि दंष्ट्रिविषस्य, अथ तु यानि, तानि उपयुक्तस्य स्त्रावरस्य लक्षणानि इति न कथितं अनयोः विरोधः इति ॥ २८—३० ॥

विषविक्रियायां प्राक् वसनविरेचनयोः कर्तव्यत्वान् तद्विधानमाह, पित्तान्त-

अथ विषघ्ना गणः ।—

जातीनीलीश्वरीसिन्धु-काचमाच्यद्रिकर्णिका ।

त्रिफला करवीरश्च कुष्ठं मधुकजीरकम् ॥

क्षीरिष्ठत्वगेलेति विषघ्नाऽयं गणः स्मृतः ॥३२॥

अथ मध्यष्टतस्य विषघ्नत्वोक्तिः ।—

विषघ्नं गोघृतं देवि ! भाङ्गत्वं जीवनं स्मृतम् ॥३३॥

अथ विषस्य प्रयोगविधिः ।—

अश्वगन्धां मगोजिह्वां त्रिशूलीं त्रिफलामपि ।

प्रथमं भक्षयित्वा च सेवयेद्भरलं ततः ॥३४॥

ब्रह्मचर्यं वरारोहे ! विषकाले समाचरेत् ।

पथ्यं स्रस्यमना भुक्त्वा तदा मिडिर्न संशयः ॥३५॥

मिति ।—पिनानं पित्तदर्शनं यावदित्यर्थः । आसःतम आसनिःसरणं यावदित्यर्थः ।
“आनान्तञ्च विरेचनम्” इत्यत्र “कफान्तञ्च विरेचनम्” इति पाठः बहुषु पुस्तकेषु
द्रश्यते ॥ ३१ ॥

विषघ्नगणमाह, जातीते ।—जाती “चामेली” इति प्रसिद्धवृक्षस्य पत्रम् ।
नीली शरपट्टा नीलवर्णं वा, उभयोरपि विपनाशकत्वात् । ईश्वरी ईश्वरमूलं इत्या-
ककर्णिको वा, तस्या मूलम् । सिन्धु मैथिलवर्णम् । काचः काचलवर्णम् ।
माचो काकमाचो ; “काचमाचो” इत्यत्र “काकमाचो” इति क्वचित् पाठः ।
अद्रिकर्णिका गिरिकर्णिका, श्वेतापराजिता इत्यर्थः । क्षीरिष्ठत्वक् क्षीरिष्ठचाणां
न्यगोर्षोडुस्वराश्वत्यप्लवितसाना त्वक् । एला स्थूलैला । गणत्वात् अनेन सर्वा
कायादिकल्पना काया ॥ ३२ ॥

गोघृतस्यापि विषनाशकत्वमाह, विषघ्नमिति ।—जीवनं जीव्यते अनेन इति
जीवनं जीवनप्रदमित्यर्थः ॥ ३३ ॥

विषस्य प्रयोगविधिमाह, अश्वगन्धामिति ।—त्रिशूलीं पारदं, पारदमस्य इत्यर्थः ।
आदौ अश्वगन्धादीनां चूर्णं मिलितमकैकशो वा युक्त्यनुरूपं भक्षयित्वा ततो विषं
भक्षयेत् इति । विषकाले विषप्रयोगकाले स्रस्यमनाः पथ्यं भुक्त्वा ब्रह्मचर्यं समाचरेत्
इत्यन्वयः ॥ ३४।३५ ॥

अथ विषसेविनः पथ्यापथ्यविधिः ।—

गन्धे क्षीरघृते पेये शाल्यन्नमिदमेव च ।

शीतलञ्च पिवेत्तोयं पित्तलानि च वर्जयेत् ॥ ३६ ॥

जाङ्गलानि च मांसानि क्वागलोहञ्च मद्गरान् ।

शर्करां मार्क्षिकं क्षीरं सेवनीयं प्रयत्नतः ॥

मेथ्यं देवि ! सदा पथ्यमपथ्यं दूरतस्त्यजेत् ॥ ३७ ॥

अथ प्रयोज्यविषाणि ।—

उद्धृतं फलपाकेन नवं स्निग्धं घनं गुरु ।

अव्यापन्नं विषहरैरवाताऽऽतपशोषितम् ॥ ३८ ॥

रक्तमर्षपतैलेन लिप्ते वाससि धारितम् ।

मक्तुकं मुस्तकं शृङ्गी बालुकं मर्षपाह्वयम् ॥ ३९ ॥

वत्सनाभञ्च कर्मण्यं कालकूटादिकं ततः ।

न जात्वन्यत् प्रयोक्तव्यं—” ॥ ४० ॥

अथ तोष्णविषातिपुक्तविषयोशिक्षा ।—

“—विषे तोष्णे च चारिते ।

अतिमात्रे च कर्मण्ये पेयं घृतमनन्तरम् ॥ ४१ ॥

“पथ्यं भुक्ता” इत्युक्तं, क्लृप्तं पथ्यं किं वाऽपथ्यमित्याह, गन्धे इति ।—क्वागलोहं क्वागलोहितम् । “से-यम्” इत्यत्र “एकम्” इति पाठे—एकं मुख्यं केवलं वा, क्षीरमेव शृष्टं पथ्यं, केशवं क्षीरमेव पथ्यमिति वा सदा प्रयत्नतः सेवनीयम् इति ॥ ३६।३७ ॥

याह्यं विषमाह, उद्धृतमिति ।—उद्धृतं फलपाकेन आपुष्णवीर्यमित्यर्थः । अव्यापन्नं विषहरैः विषनाशकट्यैः नुपुद्धतवीर्यम् । अवाताऽऽतपशोषितं वाताऽऽतपा-दिभिरशोषितम् ; तथाविधविषाणां दूषीविषत्वेन परिणमनात्, यदुक्तं—“श्रीषै विषज्जौषविभिर्दितं वा दावाग्निवाताऽऽतपशोषितं वा । स्वभावतो वा गुणविषद्वीणं विषं हि दूषीविषतामुपैति ॥” इति । धारितं श्यापितम् । कर्मण्यं कर्मणे प्रयोगकर्मणे हितं, प्रयोज्यमित्यर्थः । ततः अन्यत् प्रोक्तमक्तुकादिभ्यः अन्यत्, तेषा-मतीव तोष्णवीर्यत्वात् ॥ ३८—४० ॥

तोष्णविषे उपयुक्ते सक्तुकादौ च प्रयोज्ये विषे अतिमात्रोपयुक्ते अगन्तरक्तसंन्य-

सभार्गीदधिधूमोत्थ-सारिवातण्डलीयकम् ।

आगारधूममञ्जिष्ठा-यष्ट्याह्वैर्वा समन्वितम् ॥४२॥

लिङ्गाद्वा मधुमर्पिभ्यां चूर्णितामर्जुनत्वचम् ।

टङ्कणं मेघनादेन मधुना वाऽपि पल्लवान् ॥४३॥

अथ रसायनाद्यै विषप्रयोगे विधिः ।—

विषं युञ्जीत नित्यं वै रसायनगुणैषिणः ।

घृतोपस्कृतदेहस्य विशुद्धस्य हिताग्निनः ॥४४॥

अथ विषप्रयोगादङ्गपुरुषकालयोनिर्देशः ।—

सात्त्विकस्योदिते भानी योज्यं शीतवसन्तयोः ।

ग्रीष्मे चाऽऽत्ययिके व्याधौ—” ॥४५॥

साह, निषेतीक्यं चेति ।—तीक्ष्णे निर्दिष्टमक्तकादिभ्यः अन्त्यस्मिन् तौत्रे । चारित्रे अवचारित्रे, सेविते इत्यर्थः । अतिमात्रे च कर्मण्ये इत्येवापि चारित्रे इति पद-
भाकृष्टम्यम् । धूमोत्थं गृहधूमः, विषहन्नात् ; वज्रकाराख्यचारित्रिणी वा ।
सभार्गीयादौ आगारधूमस्यादौ च ग्रीहद्वयेऽपि घृतमिति पदं सम्बन्धनोद्यमः ;
भान्यादिचूर्णम् आगारधूमादिचूर्णं वा घृतगुणघृतेन आलङ्घ्य पातय्यम् इति ।
मेघनादेन तण्डुलीयेन, तण्डुलीयरसेनेत्यथ, मङ्क टङ्कणं, पिबेदिति शेषः ।
मधुना वाऽपि पल्लवान् तेजपवाणि । “पल्लवान्” इत्यत्र “यक्षवान्” इति कश्चित्
पाठः । तथात्वे—मेघनादरसेन मधुना च टङ्कणं लिङ्गादित्यर्थः ॥ ४१—४३ ॥

रसायनाद्यै विषप्रयोगस्य विधिमाह, विधिमिति ।—घृतोपस्कृतदेहस्य घृतसेवनेन
संस्कृतदेहस्य, विशुद्धस्य संशोधनशुद्धस्य, रसायनाद्यै विषप्रयोगे कर्तव्ये आदौ
घृतेन संक्षिप्तं पञ्चकर्मप्रयोगेण संशोध्य च विषं प्रयुज्यात्, तदा हितभोजी च
स्यादिति ॥ ४४ ॥

विषप्रयोगादङ्गं पुरुषं कालमाह, सात्त्विकस्येति ।—भानी उदिते प्रभाने । शीत-
वसन्तयोर्गोच्यमित्यस्यापवादमाह, ग्रीष्मे इति ।—ग्रीष्मे चात्ययिके व्याधौ अत्ययजनके
व्याधौ ग्रीष्मे च ग्रीष्मेऽपि, योज्यमिति पूर्वेषु सम्बन्धः ; ग्रीष्मर्णौ विषप्रतीकार्यः
व्याधिरूपप्रत्येत् आत्ययिको भवति, तदा शीतवसन्तयोरनपेक्षयैव सद्य एव विषं
दातव्यमिति ॥ ४५ ॥

अथ विषप्रयोगानुसङ्गकालादिनिर्देशः ।—

“—न वर्षासु न दुर्दिने ।

न क्रोधिनि न पित्तार्त्ते न क्लोवे राजवेश्मनि ॥४६॥

क्षत्तृणाभ्रमवर्माध्व-व्याध्यन्तरनिपीडिते ।

गभिण्यां बालवृद्धेषु न रूक्षेषु न मर्मसु ॥४७॥

अथ विषे निषिद्धद्वयाण ।—

अभ्यस्तेऽपि विषे यत्नाहर्ज्यवस्तु निवर्त्तयेत् ।

कटुस्त्वलवणं तैलं दिवास्वप्नानलातपान् ॥४८॥

अथ अवस्थाविशेषे विषस्यापकारकत्विनिर्देशः ।—

दृग्विभ्रमं कणेरुजमन्यांश्चानिलजान् गदान् ।

विषं रूक्षाग्निः कुर्यान्मृत्युमेव त्वज्जीर्णिनः ॥४९॥

अथ विषशोधनम् ।—

अथ गोमूत्रसंयुक्तमातपे शोषयेत्तरहम् ।

विषं वृंहणमेतद्धि विषस्याऽऽदौ प्रशस्यते ॥५०॥

विषप्रयोगे निषिद्धं कालं निषिद्धं पुरुषादिकञ्चाह, नेति ।—दुर्दिने सेव्याऽऽवृत्त-
विषे । क्लोवस्य अपूर्णवातलेन राजकुलजस्य च अत्यन्तमुकुमारत्वेन विषनीय्या-
सद्विष्णुतया तयोर्विषं न दातव्यम् । व्याध्यन्तरनिपीडिते विषमाभ्याभ्यातिरिक्त-
व्याधिपीडिते । “रूक्षेषु” इत्यत्र “क्षुण्डेषु” इति पाठान्तरम् । मर्मसु मर्मस्थानीत्यत्र-
रोगेषु ॥ ४६।४७ ॥

विषप्रयोगे निषिद्धद्वयाण्याह, अभ्यस्ते इति ।—अभ्यस्तेऽपि दीर्घकालसेवनेन
साक्षीभूतेऽपि । “वर्ज्यवस्तु निवर्त्तयेत्” इत्यत्र “वर्जनीयान् विवर्जयेत्” इति कश्चित्
पाठः । कानि च वर्ज्यानि इत्यपेक्षायामाह,—कटुति ॥ ४८ ॥

रूक्षाग्निनामजीर्णिनाञ्च विषप्रयोगे अस्यशमाह, दृगिति ।—दृग्विभ्रमं दृष्टि-
विपर्ययम्, अन्वेषाभृतस्य वस्तुनः अन्वेषा दर्शनम् । अजीर्णिनः अजीर्णरोगिणः ॥४९॥

विषस्य शुद्धिमाह, अथेति ।—वृंहणमेतद्धि एतत् गोमूत्रेणातपे शोषणं
विषस्य वृंहणं बलवर्धनम्, अशुद्धस्य विषस्य शुद्धिजननात् रोगनाशनादिशक्तिवर्धन-
मित्यर्थः ॥ ५० ॥

अथ नवज्वरे प्रथमविषकल्पः ।—

तत् पिबेन्मस्तुना वात-ज्वरे क्षीरेण पित्तजे ।
शक्कन्मूत्रेण कफजे सर्वजे त्रिफलाम्भसा ॥५१॥

अथ जीर्णज्वरे द्वितीयविषकल्पः ।—

रोध्रवन्दनषड्भुज्या-शर्कराघृतमाक्षिकैः ।
क्षीरेण च विषं युक्तं जीर्णज्वरहरं परम् ॥५२॥

अथ जीर्णज्वरादौ तृतीयविषकल्पः ।—

निकुम्भकुम्भत्रिफला-मर्पिमधुविषैः कृतः ।
निहन्ति मोदको जीर्णज्वरमेहत्वगामयान् ॥५३॥

अथ विषमज्वरे चतुर्थविषकल्पः ।—

शिखिकर्णिरसापितं विषमज्वरजिह्विषम् ॥५४॥

अथ रक्तपित्ते पञ्चमविषकल्पः ।—

विषं यष्ट्याह्वयं रास्ना सेव्यमुत्पलकन्दकम् ।
तण्डुलोदकपीतानि रक्तपित्तस्य भेषजम् ॥५५॥

प्रथमविषकल्पमाह, तदिति ।—शक्कन्मूत्रेण गोशक्कद्रसेन गोमूत्रेण चेत्यर्थः ।
“शक्कन्मूत्रेण” इत्यत्र “यक्कन्मूत्रेण” इति पाठः चिन्त्यः । कश्चित् पुस्तके “अजामूत्रेण”
इति पाठो दृश्यते ॥ ५१ ॥

द्वितीयविषकल्पमाह, राधेति ।—षड्भुज्या वचा । पूर्वोक्तमानेन विषं गृहीत्वा
लीप्रादिवर्णं घृतमाक्षिकञ्च युक्त्यनुरूपं किञ्चित् किञ्चित् दत्त्वा दुग्धेनानोद्य
पेयम् ॥ ५२ ॥

तृतीयविषकल्पमाह, निकुम्भेति ।—निकुम्भकुम्भौ चूडवृक्षद्वयेन दन्तोभेदौ,
निकुम्भः दन्तो कुम्भः विवृता इति वा ॥ ५३ ॥

चतुर्थविषकल्पमाह, शिखिकर्णौ इति ।—शिखिकर्णौ अग्निकर्णौनामा वृक्षभेदः ;
शिखी चित्रकं कर्णौ चारुवधः इति वा ॥ ५४ ॥

पञ्चमविषकल्पमाह, विषमिति ।—सेव्यम् उशीरम् । उत्पलकन्दकं नीलोत्पल-
कन्दम् । तण्डुलोदकपीतानि इत्यत्र एतानि इति पूरणीयम् ॥ ५५ ॥

अथ श्वासकासे षष्ठविषकल्पः ।—

रास्त्राविडङ्गतिफला-देवदारुकटुत्रयम् ।

पद्मकं क्षौद्रममृता विषञ्च श्वासकासजित् ॥५६॥

अथ श्वासहिक्कयोः सप्तमविषकल्पः ।—

सिता रसविषक्षीर-प्रवालमधुकान्विता ।

श्वासहिक्कापहा लोढा—” ॥५७॥

अथ कुर्याग अष्टमविषकल्पः ।—

“—कुर्दिघ्नास्तु विषान्विताः ।

क्षौद्रोशीरमधुक्षार-रजनीकुटजत्वचः ॥५८॥

अथ क्षौद्रं नवमविषकल्पः ।—

अवनप्राशनोपेतं विषं क्षपयति क्षयम् ॥५९॥

अथ विषाविद्रावणघृताख्यः दशमविषकल्पः ।—

विजया पिप्पलीमूलं पिप्पलीद्वयचित्रकैः ।

पुष्कराक्षाशटीद्राक्षा-यमानीक्षारटीप्यकैः ॥६०॥

सितायष्टिदिवहती सैन्धवैः पालिकैः पचेत् ।

मविषार्धपलेः प्रस्थं घृतात्तज्जीर्णभुक् पिबेत् ॥६१॥

दुर्नाममेहगुल्मार्म-तिमिरकृमिपाण्डुकान् ।

गलग्रहग्रहोन्माद-कुष्ठानि च नियच्छति ॥

विषविद्रावणं नाम घृतं विषरुजं हरत् ॥६२॥

षष्ठविषकल्पमाह, राक्षेति ।—स्यष्टम ॥ ५६ ॥

सप्तमविषकल्पमाह, सिनेति ।—रसः मृता रसः ॥ ५७ ॥

अष्टमविषकल्पमाह, कुर्दिघ्ना इति ।—मधु यष्टिमधु इत्यर्थः । क्षारः

श्ववक्षारः ॥ ५८ ॥

नवमविषकल्पमाह, अवनेति ।—अवनप्राशेन सह विषं मिश्रयित्वा भक्षयेत् इति ॥ ५९ ॥

विषविद्रावणघृताख्यं दशमविषकल्पमाह, विजयेति ।—विजया भङ्गा । पिप्पली-
वयं पिप्पली गजा, प्ली च । “पिप्पलीद्वय” इत्यत्र “रजनीद्वय” इति कश्चित् पाठः ।

अथ गृह्य्याम् एकादशविषकल्पः ।—

मुस्तावत्सकपाठाग्नि-व्याघप्रतिविषाविषम् ।

धातकीमोचनिर्यासः चूतास्थि गृहणीहरम् ॥६३॥

अथ मूत्रकृच्छ्रे द्वादशविषकल्पः ।—

कृच्छ्रघ्नं विषपथ्याग्नि-दन्तोद्राक्षानिशावृषाः ॥६४॥

अथ उदावर्त्ताश्मर्याः त्रयोदशविषकल्पः ।—

शिलाजतु विषं तूषमुदावर्त्ताश्मरीहरम् ॥६५॥

अथ अश्रम्या चतुर्दशविषकल्पः ।—

गोमूत्रक्षारमिन्धुत्य-विषपाषाणभेदकम् ।

वज्रवहारयत्येतदेकतः पीतमश्मरीम् ॥६६॥

अथ गुल्मा पञ्चदशविषकल्पः ।—

त्रिफलास्वर्जिकाक्षारैर्विषं गुल्मप्रभेदनम् ॥ ६७॥

अथ शुलं षोडशविषकल्पः ।—

पिप्पली पिप्पलीमूलं विषं शूलहरं तथा ॥६८॥

अथ गुल्मा प्रोक्तोः सप्तदशाष्टादशविषकल्पो ।—

विषं द्रवन्तो मधुकं द्राक्षाराम्नाशठोकणाः ।

विषं वेङ्गामिषित्तोरं गुल्मघ्नो हनिवहेणम् ॥६९॥

दीप्यकं भोरकः । याष्टः याष्टमधु । । हृदहती हृदहती कण्टकारी च । पान्तिके प्रत्येकं पलमानः कल्के । गोणंभुक् गोणाद्रः मरः विषा प्रभातकाले पिबेदित्यर्थः ॥६०—६२॥

एकादशविषकल्पमाह, मुस्ताति ।—वत्सकः इन्द्रधनुः । अग्निः चित्रकः । प्रतिविषा आतावषा । मोचनिर्यासः मोचरसः । चूतास्थि आस्राष्टिमज्जा ॥ ६३ ॥

द्वादशविषकल्पमाह, कृच्छ्रघ्नमिति ।—वृषः वासकः ॥ ६४ ॥

त्रयोदशविषकल्पमाह, शिलाजाल्वात ।—तूषं त्रिकटु ॥ ६५ ॥

चतुर्दशविषकल्पमाह, गोमूत्रेति ।—एकतः ऐक्यम् ॥६६॥

पञ्चदशविषकल्पमाह, त्रिफलेति ।—स्यष्टम् ॥ ६७ ॥

षोडशविषकल्पमाह, पिप्पलीति ।—स्यष्टम् ॥ ६८ ॥

सप्तदशाष्टादशविषकल्पद्वयमाह, विषमिति ।—द्रवन्तो दलीभेदः । विषं वेङ्गेति ।

—वेङ्गं विडङ्गम् । मिषिः मधुरिका । विषादिद्वयं चोरय पिबेत् । “विषं

अथ प्रीङ्गि एकोनविंशविषकल्पः ।—

प्रीङ्गोदरघ्नं पयसा शताह्वाक्कमिजिद्विषम् ॥ ७० ॥

अथ कुष्ठे विंशविषकल्पः ।—

वायसीमूलनिःकाथ-पीतं कुष्ठहरं विषम् ॥ ७१ ॥

अथ कुष्ठे एकविंशविषकल्पः ।—

पयस्याराजवृक्षत्वक्-त्रायन्तीवाकुचीबलात् ।

ग्रीहघ्नीभकणाभ्याञ्च विषं काथेन कुष्ठजित् ॥ ७२ ॥

अथ कुष्ठे द्वाविंशविषकल्पः ।—

अवलाजैडगजयोर्वीजं चारद्वयं विषम् ।

श्लेपः समैश्वरः पिष्टो वारिणा कुष्ठनाशनः ॥ ७३ ॥

अथ विचचिंकादौ त्रयोविंश-चतुर्विंशविषकल्पो ।—

चित्तकार्कजटाहस्ति-पिप्पलीवाकुचीविषैः ।

सचन्द्रकैरेडगज-करञ्जफलमैश्वरैः ॥ ७४ ॥

सव्योषमर्जिकाक्षार-यवक्षारनिशाद्वयैः ।

अगारधूमसहितैर्बस्तमूत्रेण कल्पितैः ॥ ७५ ॥

प्रेक्षामिषिचोरम्” इत्यत्र “विषा वेक्षामिषिचोरम्” इति कस्यचित् पाठे—विषादि-
क्षारान्तरेक एव धीमः ॥ ६८ ॥

एकोनविंशविषकल्पमाह, प्रीङ्गोदरघ्नमिति ।—कमिजित् विडम्बम् ॥ ७० ॥

विंशविषकल्पमाह, वायसीति ।—वायसीमूलं काकमाचोमूलम् ॥ ७१ ॥

एकविंशविषकल्पमाह, पयस्येति ।—पयस्या खीरकाकोली । राजवृक्षत्वक्
चारम्वधवत्कलम् । त्रायन्ती त्रायमाणा । वाकुची मोमराजो । बलं जटामांसी
बोला वा । “बलात्” इत्यत्र “बला” इति कश्चित् पाठः । ग्रीहघ्नी ग्रीहोत्तकः ।
भकणा मज्जापिप्पली । पयस्यादौनामिभकणानानां काथेन सह विषं कुष्ठजित्
भवेत् ॥ ७२ ॥

द्वाविंशविषकल्पमाह, अवलाजिति ।—अवलाजः सोमराजो, एडगजः चक्रमर्दः,
एतयोर्वीजम् ॥ ७३ ॥

त्रयोविंश-चतुर्विंशविषकल्पद्वयमाह, चित्तकेति ।—चर्कजटा चर्कमूलम् । सचन्द्रकैः
चन्द्रकैः कपिकच्छुबीजं, रक्तदोषहरत्वात्, त्वेन सह वर्धमानैः । फलं विफला ;

भस्मातकाग्निशम्पाक-विषैर्वा सूत्रपेषितैः ।

लेपो विचर्चिकादद्रु-रसिकाकिटिमापहः ॥७६॥

अथ विचर्चिकादौ पञ्चविंशविधकल्पः ।—

शम्पाकपत्रत्वञ्जूलं विषं तक्रञ्च तद्गुणम् ॥७७॥

अथ कुष्ठे षड्विंशविधकल्पः ।—

कुष्ठतुम्बूकुवोजानि वाजिगन्धाऽन्धवेतसम् ।

हरिद्रा वायसी रास्त्रा हरितालं मनःशिला ॥७८॥

पटोलनिम्बपत्राणि कणागन्धकसैन्धवम् ।

विषं दारु शिरीषास्थि तक्र लेपेन कुष्ठजित् ॥७९॥

अथ कुष्ठे विषतैलाख्यः सप्तविंशविधकल्पः ।—

करञ्जकरवोरार्क-मालतीरक्तचन्दनैः ।

आस्त्राताकुष्ठमस्त्रिष्टा-सप्तच्छदनिशानतैः ॥८०॥

सिन्धुवारवचाक्षैर्लैर्गवां मूत्रे चतुर्गुणे ।

सिद्धं कुष्ठहरं तैलं दुष्टव्रणविशोधनम् ॥८१॥

करञ्जफलमिति केचित् । “निशाद्वयैः” इत्यत्र “निशाद्वयैः” इति कश्चित् पाठः ।
वल्गुमूत्रेण कणागमूत्रेण । “कल्पितैः” इत्यत्र “कल्कितैः” इति कश्चित् पाठः ।
चित्तकेत्यादिना कल्पितैरित्यन्तेन एको योगः । भस्मातकादिना च अपरो योगः ।
अत्र सूत्रपेषिते, वल्गुमूत्रपेषिते, पूर्वयोगदर्शनात् । “रसिका” इत्यत्र “रक्ता” इति
पाठः समीचीनतया प्रतिभाति ॥ ७४—७६ ॥

पञ्चविंशविधकल्पमाह, शम्पाकैति ।—शम्पाकः आरम्बधः । तद्गुणं विचर्चिकादि-
नाशमम् ॥ ७७ ॥

षड्विंशविधकल्पमाह, कुष्ठेति ।—शिरीषास्थि शिरीषबीजास्थि । तत्रैव पेषणं
कर्तव्यम् ॥ ७८।७९ ॥

सप्तविंशविधकल्पमाह, करञ्जैति ।—मालती जाती । आस्त्रोता गिरिकर्णिका,
“हापरमानो” इति प्रसिद्धम् । सप्तच्छदः समुद्रघः । गतं तगरपादुका । खेलं खेडं,
कुलशोरभेदान्, विषमित्यर्थः । तैलमत्र सार्धपाद्रीनामन्वतमं कुष्ठहितत्वात् ; सक्तं हि
चरके —“तैलानि सप्तपाण्यां करञ्जकीषातकीद्रुदादीनाम् । कुष्ठेषु हितान्याहुस्तेषु

अथ कुष्ठे कुठादितैलाख्यः अष्टाविंशविधकल्पः ।—

कुष्ठाश्वमारभृङ्गाकं-मूलस्रक्क्षीरमेध्वैः ।

तैलं मिडं विषावापसभ्यङ्गात् कुष्ठजित् परम् ॥८२॥

अथ कुठादौ चन्दनादितैलाख्यः एकोनविंशविधकल्पः ।—

भद्रश्रीदारुमरिच-द्विह्रिद्रात्रिवृद्धनैः ।

गोमूत्रपिष्टेः पलिकैर्विषस्यार्द्धपलेन च ॥८३॥

ब्राह्मरमारकजक्षीर-गोशक्लद्रससंयुतम् ।

प्रस्थं सर्षपतैलस्य सिद्धमाशु व्यपाञ्चति ॥

पानाद्यैः शीलितं कुष्ठ-दुष्टनाडौव्रणापचीः ॥८४॥

अथ श्वित्वादौ त्रिंशविधकल्पः ।— ३

विषं भल्लातकीद्वीपि-गुञ्जानिम्बफलैर्जयेत् ।

लेपोऽम्बपिष्टेः श्वित्वाणि पुण्डरीकञ्च दारुणम् ॥८५॥

वञ्चापि खदिरस्य ॥” इति । केचित् “सामान्यस्तौ प्रधानकल्पत्वेन तिलतैलसिद्ध्यान्, यव तु विशेषस्तुतिः तत्रैव सार्वपादिवदणम्” इत्याहुः । एवमन्यत्रापि एवं-जातोवे ज्ञेयमिति । सिद्धयोगे तु “नित्रा” इत्यत्र “नित्राद्यं” करञ्जादौर्णा कल्कानां प्रत्येकमर्द्धपलमानं विषस्य पलमानं तैलस्य च प्रत्येकमानमिति विज्ञेयो दृश्यते ॥ ८०।८१ ॥

अष्टाविंशविधकल्पमाह, कुष्ठेति ।—अश्वमारः करवीरः । भृङ्गं भृङ्गराजः । विषावापं विषकल्कयुतम् ; कुठादौर्णां विषात्मानां कल्कैः पादिकैः अतुर्गुणजलेन च तैलप्रस्थः पक्तव्यः ॥ ८२ ॥

एकोनविंशविधकल्पमाह, भद्रश्रीति ।—भद्रश्रीः श्वेतचन्दनम् । द्विह्रिद्रा ह्रिद्रा दारुह्रिद्रा च । पलिकैः प्रत्येकं पलमानैः । भद्रश्रीादयो विषात्माः कल्काः, ब्राह्मरमारदयः यवः द्रवाः प्रत्येकं अतुर्गुणाः ॥ ८३।८४ ॥

त्रिंशविधकल्पमाह, विषमिति ।—द्वीपी चित्रकः ; “द्वीपी” इत्यत्र “दली” इति पाठान्तरम् । फलमिति गुञ्जा-निम्बयोः उभयत्रापि सन्ध्यते । अम्बापिष्टेः काञ्चिकपिष्टेः ॥ ८५ ॥

अथ शिवे एकविंशविषकल्पः ।—

ककुभाक्खरद्वोपि-सृक्कापत्रैलवालुकम् ।

पिष्टं खादिरतायेन तिरात्रमुषितं पिबेत् ॥

श्वित्रो विषेण मङ्गुष्टं —” ॥ ८६ ॥

अथ शिवे क्रियान्तरम् ।—

“—तत्तत्स्फोटान् किलासजान् ।

कण्टकेन विभिन्याशु लेपैर्लिम्पेच्च कौष्ठिकैः ॥ ८७ ॥

अथ शिवे द्वाविंशविषकल्पः ।—

अथवा करवौराक्-मूनवाकुचिकाविषैः ।

वस्ताम्बुपिष्टैः सहोपि-द्विपपिप्यत्यक्खरैः ॥ ८८ ॥

अथ आत्मिकात्तशिवारितैलाख्यः त्रयास्त्रिंशविषकल्पः ।—

लाक्षासुराह्नमस्त्रिष्ठा-कुष्ठपद्मकसारिवाः ।

गुञ्जा मही कुरवको लाङ्गली वज्रकन्दकः ॥ ८९ ॥

वाराहीकन्दकास्फोता सप्ताह्ना गिरिकर्णिका ।

अर्काश्वमारयोर्मूलं नागपुष्पं नतं निशे ॥ ९० ॥

एकविंशविषकल्पमाह, ककुभेति ।—ककुभः चर्जुनः । अक्खरः भक्तातकः ।
द्वोपी चिबकः । खादिरतोयेन खादिरकाष्ठेन । मङ्गुष्टं संयुक्तमित्यर्थः ;
ककुभादिविधानादव्यजातं खादिरकाष्ठोदकेन पिष्टा दिनवयं ख्यापयेत्, तत ऊर्ध्वं
पिबेत् इति ॥ ८६ ॥

क्रियान्तरमाह, तत्तदिति ।—तत्तत्स्फोटान् किलासजान् किलासयुक्ते अङ्गे
समुत्पन्नान् प्रत्येकस्फोटान् । चरकेऽप्युक्तं—“शिवेऽङ्गे ये स्फोटा जायन्ते कण्टकेन
तान् भिन्यात्” इति । लेपैर्लिम्पेच्च कौष्ठिकैः अत्रैव विषकल्पे प्रतिष्टेः कुष्ठनाशनेः
लेपैः लिम्पेत् ॥ ८७ ॥

द्वाविंशविषकल्पमाह, अथवेति ।—वाकुचिका सोमराजी । वस्ताम्बुपिष्टैः क्षाम-
बुधपिष्टैः । द्वोपी चिबकः । द्विपपिप्यन्ती गजपिप्यन्ती । अक्खरः भक्तातकः ॥ ८८ ॥

त्रयास्त्रिंशविषकल्पमाह, लातेति ।—सुराह्नः देवदारुः । मही नाग्वारी । कुरवकः
रक्तपुष्पा कण्टी । वज्रकन्दकः शर्करकन्दक्यालुकविषेयः । आस्फोता “डापर-
माखी” इति ख्यातम् । सप्ताह्ना सप्तपर्वः । गिरिकर्णिका चेतापराजिता । अश्वमारः

दन्तो विषं हस्तिविषं पिप्पल्यो मरिचानि च ।

तैस्तैलं कटुतैलं वा चित्रस्याभ्यञ्जनं पचेत् ॥

सवर्णकरणं श्रेष्ठमास्तिकस्य वचो यथा ॥८१॥

अथ वाते चतुर्विंशविषकल्पः ।—

एरण्डतैलं त्रिफला गोमूत्रं चित्रकं विषम् ।

सर्पिषा सहितं पीतं वातार्तत्वमपोहति ॥८२॥

अथ सर्पिदाहे पञ्चविंशविषकल्पः ।—

कीरकं चीरनिःक्राथे लाङ्गलीविषमर्षणैः ।

गन्धकाङ्गाल्लमरिचैः सस्रुक्क्षीरैर्विपाचितम् ॥

जयज्ज्यातिष्मतीतैलमननत्वग्दानपि ॥८३॥

अथ बभ्याया षट्त्रिंशविषकल्पः ।—

स्वरसं बीजपूरस्य वचान्नाह्वीरसं घृतम् ।

बभ्या पिबन्तो सविषं सुपुच्छैः परिवार्यते ॥८४॥

करवीरः । नागपुष्पं नागकीरः । गतं तगरपादुका । निशं हरिद्रादयम् । इक्षिविषं गन्धपुष्पं, पुरीषार्थक-विषशब्दोऽप्यस्तीति मन्तव्यम् । तैः लाक्षादिकल्केः । तैलं कटुतैलं वा तिलतैलं मार्षपतैलं वा । चित्रस्य श्वितस्येत्यर्थः । “चित्रस्य” इत्यत्र “श्वितस्य” इति पाठान्तरम् ॥ ८१—८३ ॥

चतुर्विंशविषकल्पमाह, एरण्डतैलमिति ।—एरण्डतैलादिकं सर्वं तृणं पान-योग्येन सर्पिषा आलोड्य पिबेदिति । केचित् त्रिफलादीनां कल्केन गोमूत्रेण च एरण्डतैलं पक्वा घृतेन सह पेयमित्याहुः ॥ ८२ ॥

पञ्चविंशविषकल्पमाह, कीरकमिति ।—कीरकं काकोली चीरकं वा । चीरनिः-क्राथे वल्कलक्राथे, पञ्चशल्कलक्राथे इति यावत् । “कीरक चीरनिःक्राथे” इत्यत्र “कटुक्क्षीरविनिःक्राथे” इति कश्चित् पाठः । अङ्गीकृतः “धलशार्ङ्गडा” इति वङ्गदेशे प्रसिद्धम् । ज्यातिष्मतीतैलं ज्यातिष्मती “लताफट्की” इति भाषा, तस्याः बीजतैलम् । अननत्वग्दानं अग्निदग्धशत्वगतरीरोगान् अग्निशैथिल्यरोगान् वा । चीरनिःक्राथे लाङ्गल्यादिकल्केः विपाचितं कीरकं क्लृप्तकृपं ज्यातिष्मतीतैलञ्च इत्यन्वयः ॥ ८३ ॥

अथ मूढगर्भे सप्तविंशविषकल्पः ।—

वीरान्नाङ्गलिकादन्ती-विषपाषाणभेदकैः ।

प्रयोज्यो मूढगर्भाणां प्रलेपो गर्भमोचनः ॥८५॥

अथ बृहद्वर्द्धने अष्टविंशविषकल्पः ।—

देवदारु विषं सर्पिर्गोमूत्रं कण्टकारिका ।

वचा वाक्स्खलनं हन्ति बृद्धेऽथ परिवर्द्धनम् ॥८६॥

अथ तिमिरे एकोनचत्वारिंशविषकल्पः ।—

विषं सर्पिः सिता क्षौद्रं तिमिरापहमञ्जनम् ॥८७॥

अथ तिमिरे चत्वारिंशविषकल्पः ।—

विषञ्चैकमजाक्षोर कल्कितं घृतधूपितम् ॥८८॥

अथ तिमिरे एकचत्वारिंशविषकल्पः ।—

विषं धात्रीफलरसैरसक्तत् परिभावितम् ।

अञ्जनं शङ्खसहितं प्रगाढं तिमिरं जयेत् ॥८९॥

षट्त्रिंशविषकल्पमाह, स्वरसमिति ।—वचाविषयोयुष्णे ब्राह्मीमातुल्युक्षोः रसेन सघृतेन पिबन्ती बभूव इत्येवं योजनीयम् ॥ ८४ ॥

सप्तविंशविषकल्पमाह, वीरेति ।—वीरा पृश्निपर्णी ॥ ८५ ॥

अष्टाविंशविषकल्पमाह, देवदारुमिति ।—देवदारुवादिनां तुल्यं सर्पिर्गोमूत्राभ्यामवलेष्टम् । गोमूत्रवतुर्गुणेन देवदारुवादिनां कल्केन सर्पिः पतत्यं वा ॥८६॥

एकोनचत्वारिंशविषकल्पमाह, विषमिति ।—विषचूषणे घृतादिभिः मर्दयित्वा अञ्जनं कार्यम् ॥ ८७ ॥

चत्वारिंशविषकल्पमाह, विषञ्चैकमिति ।—कृगदृग्धेन विषं पिष्ट्वा स्थापयेत्, ततः निर्धमाङ्गाराग्नौ क्षिप्त्वा घृतप्रक्षेपात् सञ्जातेन धूमेन तं विषकल्कं धूपयित्वा तेन अञ्जनं दद्यादिति ॥ ८८ ॥

एकचत्वारिंशविषकल्पमाह, विषमिति ।—असक्तत् सप्तधा इत्यर्थः । शङ्खसहितं शङ्खगामिसहितम् ॥ ८९ ॥

अथ काचं हाचत्वारिंशविषकल्पः ।—

विषमिन्द्रायुधं स्तन्यैष्टुष्टं काचजिदञ्जनम् ॥ १०० ॥

अथ काचं त्रिचत्वारिंशविषकल्पः ।—

बीजपूररसेष्टुष्टं विषं तद्वत् सितान्वितम् ॥ १०१ ॥

अथ काचं चतुश्चत्वारिंशविषकल्पः ।—

विषं मागधिका द्वे च निशि काचघ्नमञ्जनम् ॥ १०२ ॥

अथ शुक्लार्जुनं पञ्चचत्वारिंशविषकल्पः ।—

शुक्लार्जुनं विषं कृष्ण-युक्तं गोमूत्रभावितम् ॥ १०३ ॥

अथ शुक्लादौ षट्चत्वारिंशविषकल्पः ।—

समुद्रफेनस्फटिका-कुरुविन्दरसाञ्जनम् ।

कूर्मपृष्ठञ्च तुल्यानि तेभ्योऽर्द्धांशमनःशिला ॥ १०४ ॥

अर्द्धमानानि मरिच-सैन्धवायोरजांसि च ।

अथो यथोत्तरं दद्यादयमा च समं विषम् ॥ १०५ ॥

रसक्रियेयं मधुना शुक्लपिण्णार्जुनकाचनुत् ।

अभीक्ष्णं शीततोयेन सिञ्चेन्नेत्रे विषाञ्जिते ॥ १०६ ॥

हाचत्वारिंशविषकल्पमाह, विषमिति ।—इन्द्रायुध वज्र, हीरकभस्म इति यावत् । स्तन्यः नारीक्षीरेः ॥ १०० ॥

त्रिचत्वारिंशविषकल्पमाह, बीजपूरिति ।—तद्वत् काचजिदित्यर्थः । सितान्वितं शर्करामिश्रितम् ॥ १०१ ॥

चतुश्चत्वारिंशविषकल्पमाह, विषमिति ।—मागधिका पिप्पली । अत्रापि बीजपूर-रसेन वर्षणं कार्यम् । निशि रात्रौ च अन्नं कर्तव्यमित्यर्थः ; “निशि” इत्यत्र “निश” इति कर्त्तव्यत् पाठः ॥ १०२ ॥

पञ्चचत्वारिंशविषकल्पमाह, शुक्लेति ।—कृष्ण पिप्पली । गोमूत्रभावितं गोमूत्रे समार्द्धं भावितमित्यर्थः ॥ १०३ ॥

षट्चत्वारिंशविषकल्पमाह, समुद्रफेनेति ।—स्फटिका स्फटिकारिका । कुरुविन्दः पद्मरागमणिः सुस्तकं वा । तेभ्योऽर्द्धांशमनःशिला मिलितसमुद्रफेनाद्विचूर्ण्यते मनः-शिलाया अर्द्धांशः । अर्द्धमानानीति ।—प्रत्यासत्या मनःशिलातः मरिचादीनाम् उत्तरीतरम् अर्द्धमानत्वं, तेन च मनःशिलाऽर्द्धं मरिचं, मरिचाऽर्द्धं सैन्धवः, सैन्धवाऽर्द्ध-मयोरजः इति क्रमः ज्ञेयः । रसक्रियेयं मधुना “एतत् सर्वं चूर्णं प्रचुरतरमधुना

अथ शक्तादौ सूर्यप्रभाववर्त्यान्व्य. सप्तचत्वारिंशविषकल्पः ।—

रक्तचन्दनमञ्जिष्ठा-तिन्तिडीफलसक्तकैः ।

अभयालोघ्नकतक-निशाशङ्ककणोषणैः ॥ १०७॥

मनःशिलाकरञ्जात्त-वौजोयाफेनमैन्धवैः ।

अजाक्षीरैः समविषैर्वर्तयो विहिता हिताः ॥

शुक्लार्ममांसपिल्लेषु ग्रन्थिगण्डार्बुदेषु च ॥ १०८॥

अथ पिल्ले अष्टचत्वारिंशविषकल्पः ।—

रसोनकन्दसरिच-विषसर्षपमैन्धवैः ।

पिल्लेक्षणहितं कार्य्यं सुरमारमपेषितैः ॥

पूरयेत् सर्पिषा चानु सर्पिरिव च पाययेत् ॥ १०९॥

अथ नक्ताभ्ये एकीनपञ्चाशत्तमविषकल्पः ।—

मधुकमारमधुक-विषक्षीरजलेष्टेत्तम् ।

पक्वं सन्तर्पणं श्रेष्ठं नक्ताभ्ये त्वचिरोत्यिते ॥ ११०॥

समानोडा वंशनालिकायां ख्याप्यम्. एतत् रसाक्त्याविधानं “वदनि” इति तत्त्वचन्द्रिकायां श्रवणम् ॥ १०४—१०६ ॥

सप्तचत्वारिंशविषकल्पमाह, रक्तचन्दनेति ।—“तिन्तिडी” इत्यत्र “तिन्तिषी” इति पाठान्तरम् । सक्तकः स्वनामप्रसिद्धः । “अभया” इत्यत्र “अयसा” इति क्वचित् पाठः । शङ्कः शङ्कनाभिः । अजाक्षीरं विभौतकमञ्जा । उषा वचा । फेनः समुद्रफेनः ॥ १०७-१०८ ॥

अष्टचत्वारिंशविषकल्पमाह, रसोनेति ।—पिल्लेक्षणहितं पिल्लयुक्तयोरीचणयोः हितं कार्य्यमित्यत्र अञ्जनमिति शेषः । सुरमारसपेषितैः तुलसीपत्ररसमर्दितैः । पूरयेदिति ।—अञ्जनानन्तरं सर्पिषा नेत्रपूरणं कुर्यादित्यर्थः ॥ १०९ ॥

एकीनपञ्चाशत्तमविषकल्पमाह, मधुकेति ।—सन्तर्पणं नेत्रतर्पणमित्यर्थः, पक्वकेष्टेन नेत्रपूरणमिति यावत् । तस्य विधिः वाम्भटे यथा—“निवाते तर्पणं योज्यं शुद्धयोर्मुह-कावयोः । काले साधारणे पातः सायञ्चात्तान्नाशयिनः ॥ यवमाषमयीं पालीं नेत्र-कोषान् वहिः समाम् । द्राक्षुलोष्ठां दृढां कृत्वा यथास्वं सिद्धमावपेत् ॥ सर्पिर्निर्मोक्षिते जेजे तन्नाम्बुप्रविनाशितम् । नक्ताभ्य-वाततिमिर-कृच्छ्रबोधादिके वसाम् ॥ आ-पञ्चाया-द्वहोन्मेषं ज्ञानकेसस्य कुर्वेत् । मानां विगणयेत्तत्र वर्त्मसन्धिसितासिते ॥ दृष्टौ

अथ नक्ताभ्ये पञ्चाशत्तमविषकल्पः ।—

अञ्जनं नरपित्तेन रोचनामधुशृङ्गिभिः ॥१११॥

अथ कर्णशूलैः एकपञ्चाशत्तमविषकल्पः ।—

स्वर्जिकाक्षारमिन्धृत्य शुक्लशुक्लं वर विषम् ।

कर्णयोः पूरणं तीव्र कर्णशूलनिवर्त्तणम् ॥११२॥

अथ शिरःशूलैः द्वापञ्चाशत्तमविषकल्पः ।—

नख्यं शिरोरुक्शमनं प्रत्यक्पुष्पोसिताविषम् ॥११३॥

अथ शिरःशूलैः त्रिपञ्चाशत्तमविषकल्पः ।—

अथवा नतयष्ट्याह्व-शर्करा विषसंयुता ॥११४॥

च कमग्री व्याधौ शतं श्रोणि च पञ्च च । शतानि सप्त चाष्टौ च दश मये दशानिलं ॥
पिप्पि षट् स्वप्यवृते च बलासे पञ्च धारयेत् । कृत्वाऽपाके ततो हारं खेदं पाते तु
गालयेत् ॥ पिबेच्च धूमं नेत्रेण व्याम रूपञ्च भास्वरम् । इत्थं प्रतिदिनं वायौापसे
लेकान्तरं कफः ॥ स्वप्यं च ह्यन्तरं दद्यादा-ल्लभेरिति धीमयेत् ॥” इति । अथ मधुक-
सारादीनां कलकः स्रष्टपादकः, क्षीरं खेदममं जलञ्च चतुर्गुणम् ॥ ११० ॥

पञ्चाशत्तमविषकल्पमाह, अञ्जनमिति ।—अञ्जनमित्यत्र नक्ताभ्ये इति शेषः ।
रोचना ग्रीरोचना । शृङ्गो विषकल्पत्वात् तदाव्यकन्दविषभेदः । शृङ्गरोचने
नरपित्तन पिष्टा मधुना अञ्जनं कर्तव्यमित्यर्थः । “रोचनामधुशृङ्गिभिः” इत्यत्र
“पिप्पली मधुमर्षिणा” इति क्वाचित् पाठः ॥ १११ ॥

एकपञ्चाशत्तमविषकल्पमाह, स्वर्जिकेति ।—शुक्लशुक्लं श्वेतलोभं श्वेतैरगडं वा,
समयोरपि कर्णद्वितत्वात् । वरं कर्णमम् । “शुक्लशुक्लास्वरम्” इति पाठे—शुक्लं
श्वेतलोभं श्वेतैरगडं वा, शुक्ला क्षीरशुक्ला, शुक्लभूमिकृष्णम् इति यावत्, अस्वरम्
अभ्रम् इत्यर्थः । “शुक्लशुक्लम्” इत्यत्र “शुक्लशुक्लम्” इति क्वाचित् पाठः, तत्र—
शुक्लः सन्धानविशेषः । सर्वे जलेन पिष्टा तेनैवालोकाय च कर्णे पूरणं कर्तव्यम्
इति ॥ ११२ ॥

द्विपञ्चाशत्तमविषकल्पमाह, नखमिति ।—प्रत्यक्पुष्पो अपामार्गः, तस्मा
बीजम् ॥ ११३ ॥

त्रिपञ्चाशत्तमविषकल्पमाह, अथवेति ।—नतं तगरपादकाः ; “नत” इत्यत्र “कत”
“घृत” इति पाठान्तरद्वयम् ; तत्र—कतः कतकफलम् ॥ ११४ ॥

अथ पूतिनस्य चतुःपञ्चाशत्तमविषकल्पः ।—

शुण्ठी पथ्या विषं पाठा त्रायन्तो पूतिनामजित् ॥११५॥

अथ मुखरोगं प्रपौष्करीकादितेलाव्यः पञ्चपञ्चाशत्तमविषकल्पः ।—

प्रपौष्करीकमाञ्जिष्ठा-विषतिन्दुममुद्भवैः ।

निहन्ति साधितं तैलं गण्डूषेण मुखामयान् ॥११६॥

अथ मुखरोगं षट्पञ्चाशत्तमविषकल्पः ।—

एलाखदिरककोल-जातीकपर्पूरचन्दनैः ।

बोलाब्दशालेद्विगुण-विषैः साराम्बुपेषितैः ॥

समूत्रा वटिकाः क्लृप्ता धृता घ्नन्ति मुखामयान् ॥११७॥

अथ पलितादौ सप्तपञ्चाशत्तमविषकल्पः ।—

कटुतैलविषं नस्यं पलिताकुंषिकापहम् ॥११८॥

अथ खलती षट्पञ्चाशत्तमविषकल्पः ।—

सुहृत्कवीरभृङ्गाम्बु-गोमूत्रहलिनीविषैः ।

गुञ्जाविशालामरिचैः कटुतैलं विपाचितम् ॥

खलतिं शमयति—

॥११९॥

चतुःपञ्चाशत्तमविषकल्पमाह, शुण्ठीति ।—अत्र शुण्ठीादीनां चूर्णे नस्यविषया प्रयोज्यामिति ॥ ११५ ॥

पञ्चपञ्चाशत्तमविषकल्पमाह, प्रपौष्करीकेति ।—प्रपौष्करीकं पुष्करिकाजम् । विषतिन्दु विषं तिन्दु च इति व्यस्यपदं, न तु विषतिन्दु इति समस्तपदं, विषकल्पत्वात् । तिन्दु तिन्दुकम् । समुद्भवैरित्यत्र कल्कैः इति शेषः ॥ ११६ ॥

षट्पञ्चाशत्तमविषकल्पमाह, एलेति ।—जाती जातीफलम् । साराम्बुपेषितैः सुदिरकावपिष्टैः । समूत्राः गोमूत्रपिष्टाः ; चाटो खदिरकाद्येन पिष्टा पश्चात् गोमूत्रेण पेषणं कार्यमित्यर्थः । क्लृप्ताः कल्पिताः । “क्लृप्ताः” इत्यत्र “क्लृताः” इति पाठान्तरम् । धृताः इत्यत्र मुखे इति शेषः ॥ ११७ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमविषकल्पमाह, कटुति ।—सुमनम् ॥ ११८ ॥

षट्पञ्चाशत्तमविषकल्पमाह, सुहृतीति ।—सुहृत्कवीरं सुहृत्कवीरम् चकवीरम् ।

अथ दिग्धाते एकोनषष्टितमविषकल्पः ।—

“—अक्षपिष्टमष्टगुणं विषात् ।

सिन्धूत्यकार्पासफलं पिण्डितं सङ्घ सर्पिषा ॥

क्षोरेणाऽऽजेन वा लेपादिषदिग्धायुधप्रणुत् ॥१२०॥

अथ दुष्टव्रणे षष्टितमविषकल्पः ।—

विषं रसाञ्जनं भार्गी वृश्चिकाली महासङ्घा ।

सवेदने सपाके च व्रणे दुष्टे प्रलेपनम् ॥१२१॥

अथ अपचयां कृतमालादिष्टताप्यः एकषष्टितमविषकल्पः ।—

कृतमालार्कपूतौक-वत्सकातिविषाविषम् ।

सिद्धं यदिङ्गदक्षायेः सर्पिस्तदपचीहरम् ॥१२२॥

अथ अपचोन्नतैलाप्यः द्विषष्टितमविषकल्पः ।—

काकादनीमागधिका-नलिकातुण्डिकाफलैः ।

जीमूतबीजकर्कोट-विशालाकृतवेधनैः ॥१२३॥

इलिनी लाङ्गली, विषलाङ्गलिषा इति यावत् । अथ भङ्गाङ्गोमूत्राभ्यां चतुर्गुणाभ्यां द्रवाभ्यां सृञ्जकादीनां कल्केन च तैलं पक्तव्यम् ॥ ११८ ॥

एकोनषष्टितमविषकल्पमाह, अक्षपिष्टमिति ।—विषादष्टगुणं सिन्धूत्यकार्पासफलं विषस्यैको भागः, सिन्धूत्यकार्पासयोश्च निलिता अष्टगुणमित्यर्थः, अथे तु—अष्टगुणं विषादित्यस्य विषभागसप्त्याष्टगुण, विषमेवाष्टगुणमित्यर्थः; एवञ्च सिन्धूत्यकार्पास-फलयोर्द्वैकभागः विषस्य आष्टभाग इत्याहुः । विषादित्यं काञ्चिकेन पिष्टा घृतेन आनक्षोरेण वा लिप्स्यत् । विषदिग्धायुधप्रणुत् विषलिप्तास्त्रादिषतमाशन-मित्यर्थः ॥ १२० ॥

षष्टितमविषकल्पमाह, विषमिति ।—वृश्चिकाली “विष्कुटी” इति ख्यातम् । महासङ्घा माषत्रयी ॥ १२१ ॥

एकषष्टितमविषकल्पमाह, कृतमालेति ।—कृतमालाः पारश्वधः, अथ त्वक् । पूतौकः नाटाकरञ्जः । वत्सकः इन्द्रयवः । कृतमालादीनां कल्कः एकुदीक्षाप्र-चतुर्गुणः ॥ १२२ ॥

द्विषष्टितमविषकल्पमाह, काकादनीति ।—काकादनी गुग्गुला । नलिका

पाठान्वितैः पलाहंशैर्विषकर्षयुतैः पचेत् ।

प्रस्थं करञ्जतैलस्य निर्गुणोस्वरसाढके ॥

तज्जयेदपचीं घोरां नावनाभ्यङ्गपानतः ॥१२४॥

अथ अपच्यादौ विषष्टितमविषकल्पः ।—

गुञ्जाटङ्गणशिग्रमूलरजनी-शम्पाकभल्लातकाः

सुहृत्कार्ग्निकरञ्जसैन्धववचा-कुष्ठाभयालाङ्गुलीः ।

वर्षाभूशठभूशिरोषवरण-व्योषाश्वमारा विषं

गोमूत्रं शमयेद्विलिप्तमपची-ग्रन्थार्बुदक्षौपदाम् ॥१२५॥

अथ विषे मन्त्रादिक्रियावैफल्यं प्रतीकारः ।—

विषे प्रतिविषं युञ्ज्यान्मन्त्रतन्त्रैरसिध्यति ।

अतीते पञ्चमे वेगे सप्तमस्यानतिक्रमे ॥१२६॥

अथ सर्पदंष्ट्रे अतःषष्टितमविषकल्पः ।—

युञ्ज्यान्मूलविषं सपे-दष्टानां पानलेपयोः ॥१२७॥

“नालका” इति ख्यातम् । तुण्डिकाफलं कापाम्बीफलम् ; विष्णीफलमित्यन्ये ।
जोमूतबीजं घोषकबीजम् । कर्कोटः “कर्करोल” इति ख्यातम् । कृतवन्धनं
कोषातकोभेदः ॥ १२३।१२४ ॥

विषष्टितमविषकल्पमाह, गुञ्जेति ।—अग्निः पित्तकः । लाङ्गुली “ईशलाङ्गुला”
इति ख्यातम् । शठः धुस्तुरः ; “शठ” इत्यत्र “शठि” इति पाठान्तरम् । भुः मधुः,
गान्धारीत्यर्थः । वरणः वरुणः । अश्वमारः करवीरः ॥ १२५ ॥

मन्त्रौषधादिभिः असिध्यतो विषस्य विषप्रतीकार्यतया तत्प्रयोगस्य कालमाह,
विषे इति ।—प्रतिविषं विपरीतविषं, स्यावरविषे जङ्गमविषं जङ्गमविषे च स्यावरविष-
मित्यर्थः । अतीते इति ।—अष्टविधेषु विषवेगेषु मध्यं फेनोद्धमलक्षणापञ्चमवेग-
प्रकाशानन्तरं लाञ्छतालक्षणासप्तमवेगातिक्रमात् प्रागेव इत्यर्थः, अष्टमे वेगे मरण-
दर्शनात् ; तेन च स्कन्धभङ्गलक्षणे षष्ठे वेगे सप्तमे च वेगे प्रतिविषं युञ्ज्या-
दित्यर्थः ॥ १२६ ॥

अतःषष्टितमविषकल्पमाह, युञ्ज्यादिति ।—मूलविषं क्लोतकाश्मारगुञ्जा-
दिकम् ॥ १२७ ॥

अथ सर्पविषे मूलविषस्य मात्रा ।—

चतुर्भिः षड्भिरष्टाभिर्हीनमध्योत्तमा यवेः ।
मात्रां विषस्य मूलस्य प्रयुञ्जीत च सर्वदा ॥१२८॥

अथ कीटविषे मूलविषस्य मात्रा ।—

दष्टस्य हो यवो कीटेः—”

अथ वृश्चिकविषे मूलविषस्य मात्रा ।—

“—तिलमात्रन्तु वृश्चिकैः ॥१२९॥

अथ लूताविषे पञ्चषष्टितमविषकल्पः ।—

नैव त्वसृक्स्थे पाने तु लूतादष्टस्य नेष्यते ।
ब्रश्या लेपयेद्दंशं तस्य ज्ञात्वा सुनिश्चितम् ॥१३०॥

अथ जङ्गमविषे षट्षष्टितमविषकल्पः ।—

क्षीरक्षौद्रघृतैर्युक्तं पीतं हन्ति विषं विषम् ॥१३१॥

अथ जङ्गमविषे सप्तषष्टितमविषकल्पः ।—

ससिन्दुवारतगरं मृतसञ्जीवनं विषम् ॥१३२॥

अथ बाखुविषे अष्टषष्टितमविषकल्पः ।—

शिरोषकुसुमं पत्रं विषमाखुविषापहम् ॥१३३॥

कथा मात्रया तत् मूलविषं शाल्यम् इत्याह, चतुर्भिरिति ।—विषस्य मूलस्य मूलविषस्य ॥ १२८ ॥

कीटविषे मूलविषस्य मात्रामाह, दष्टस्येति ।—अष्टम । वृश्चिकविषे मूल-
विषस्य मात्रामाह, तिलेति ।—अष्टम ॥ १२९ ॥

पञ्चषष्टितमविषकल्पमाह, नेष्येति ।—नैव त्वसृक्स्थे अरक्तगते, लूताविषे रक्त-
जातमपाने सतीत्यर्थः, पाने पानविषये नेष्यते, विषमिति शेषः । तत्र किं कार्यमित्यत
आह, ब्रश्यायेति ।—ब्रश्या मूलविषभेदेन इत्यर्थः । ज्ञात्वा सुनिश्चितं लूताविषमेव
इति निश्चितत्वेन ज्ञात्वा इत्यर्थः ॥ १३० ॥

षट्षष्टितमविषकल्पमाह, क्षीरेति ।—सुगमम् ॥ १३१ ॥

सप्तषष्टितमविषकल्पमाह, सेति ।—सिन्दुवारः निर्गुच्छी ॥ १३२ ॥

अष्टषष्टितमविषकल्पमाह, शिरोषेति ।—पत्रमिति शिरोषस्यैव ॥ १३३ ॥

अथ सर्वविषे एकानसप्ततितमविषकल्पः ।—

देवदारु नतं मांसौ द्रामिलौ वाकुची विषम् ।

कुष्ठञ्च पानलेपाभ्यां समस्तविषनाशनम् ॥ १३४ ॥

अथ संज्ञाजनने समतितमविषकल्पः ।—

मनःशिलाऽञ्जनालैला-मिन्दुवारामराह्वयम् ।

सरक्तं कुङ्कुमविषं धातं निःसंज्ञबीधनम् ॥ १३५ ॥

अथ विषजटाह्णे एकसप्ततितमविषकल्पः ।—

दाहो विषोद्भवे लेपः सक्तुचौरघृतैर्युतः ॥ १३६ ॥

अथ दुःसाध्यरोगे त्रासप्ततितमविषकल्पः ।—

अन्येष्वपि च रोगेषु शेषोपायपरिचये ।

प्रत्यङ्गं विषकन्दस्य त्रियवं यवमेव वा ॥

शुद्धस्य राजिकावृद्ध्या वर्षे भुक्त्वा जयङ्गटान् ॥ १३७ ॥

एकानसप्ततितमविषकल्पमाह, देवदारुविति ।—नतं तद्वत्पादका । द्रामिलौ निर्विषौ ॥ १३४ ॥

सप्ततितमविषकल्पमाह, मनःशिलिति ।—अञ्जनं रमाञ्जनम् । आलं इतिलासम् । अमराह्वयं देवदारु । रक्तं रक्तचन्दनम् । धातं प्रथममधिधया प्रदत्तनस्यम् । निःसंज्ञबीधनं निर्मंशस्य विषवर्गेन दत्तचेतनस्य बीधनं संज्ञाजननम् ॥ १३५ ॥

एकसप्ततितमविषकल्पमाह, दाहो इति ।—अतः विषस्य यदुष्णाभावेऽपि प्रकरणे-
वशात् तथा सक्तुचौरघृतैर्युतः लेपः इत्यत्र 'कस्य लेपः ?' इत्याशंसायाः पूरकपदा-
भावाच्च लेप इत्यत्र विषस्येति शेषो बीधनः ॥ १३६ ॥

त्रासप्ततितमविषकल्पमाह, अन्येष्वपि ।—शेषोपायपरिचये सर्वविषे एव उपाये
निष्कन्ति सतीत्यर्थः । शुद्धस्य वमनादिना शोषिताशयस्थेत्यर्थः, राजिकावृद्ध्या सर्षप-
वृद्ध्या, प्रथमदिनमेकनक्षत्रमारभ्य प्रातिदिनमेकैकसर्षपवृद्ध्या यत्र यवत्रयं वा यावत् विषं
भक्षयेत्, ततो वर्षे यावत् तथैव मादया भक्षयेत् ; यद्वा—त्रियवं यवं वा आरभ्य
प्रातिदिनं सर्षपवृद्ध्या वर्षे यावत् भक्षयेदिति । अत्र त्रियवं यवं वा आरभ्य
विकल्पनिर्देशस्तु द्वियवमावाद्या अपि उपलक्ष्यं बोद्धव्यम्, एवञ्च उत्तममध्यमाधुन-
ज्ञावामर्षस्य त्रिदोषकथनमादया प्रयोगः कार्य इति ॥ १३७ ॥

अथ रसायने विसर्जितमविषकल्पः । —

ध्वं चागन्धकसिन्धु-त्रायमाणान्स्वेतसम् ।
व्योषाग्निवेल्लपाठान्-कर्णीकरिकणाविषम् ॥ १३८ ॥
चाङ्गेरीनागदमनो-वायसीत्रिफलारसैः ।
भावितं मधुसर्पिर्भ्यां भक्षितं स्याद्रसायनम् ॥ १३९ ॥

अथ रसायने अतुःसप्ततितमविषकल्पः । —

विषशुल्वरसव्योष गन्धकानां पलं पलम् ।
पलद्वयं हरीतक्याश्चित्तकस्य पलत्रयम् ॥ १४० ॥
कौन्तीमुस्ताचतुर्जातं कर्षांश्च विचूर्णितम् ।
त्रिगुणश्च गुडः काय्या वटिका माषसम्भिता ॥
भक्षयेत्तां जराग्रस्तो महारागैश्च पीडितः ॥ १४१ ॥

अथ जयामुडिकाव्यः पञ्चसप्ततितमादि-चतुर्दशाधिकशततमानाविषकल्पः । —

हरिद्रा निम्बपत्राणि पिप्पल्यो मरिचानि च ।
मुस्ता विडङ्गं मूत्रेण पिष्टमाजेन पिण्डितम् ॥ १४२ ॥
नावनाञ्जनपानेषु गोमूत्रासृग्रमाञ्जनैः ।
जयेत् प्रयुक्तं विषम-ज्वरान् सष्टतसाधितम् (७५) ॥ १४३ ॥

विसर्जितमविषकल्पमाह, वचेति । — अष्टः अस्वेतसः, पञ्च अस्वेतसस्य भागद्वयं देयम् ; “अस्त्र” इत्यत्र “अष्ट” इति पाठः सङ्गतः । कर्णी आरम्बधः ; “कर्ण” इत्यत्र “किण्वन्” इति पाठः — किण्व सुरावौजम् । करिकणा गजपिप्पली । “कर्णीकरिकणाविषम्” इत्यत्र “कण्टकारि कणा विषम्” इति पाठान्तरम् । वायसी काकमाची ; वचादि विषान् द्रव्यजातं चाङ्गेर्यादीनां प्रत्येकं रसैः समुपाभावयेदिति ॥ १३८-१३९ ॥

अतुःसप्ततितमविषकल्पमाह, विधेति । — कौन्ती रणुकम् । अतुर्जातं त्वमेवापव-
केशरम् । त्रिगुण इति कर्षभागपेक्षया ज्ञेयः ॥ १४०-१४१ ॥

पञ्चसप्ततितमविषकल्पमारभ्य अतुर्दशाधिकशततमपर्यन्तं विषकल्पमाह,
हरिद्रेति । — पाजेन मूत्रेण इति सम्बन्धः । अत्र अतुक्तमपि विषं प्रकरणानुरोधान्
एवेन्द्रसारसवादाच्च एकभागसमं याज्यम् । ततोक्तजयावटिकया सह अस्याः

सर्वजं समध्व-व्योषं (७६) गवां सूत्रेण सूतकम् (७७) ।
 चन्दनस्य कषायेण (७८) रक्तपित्तं वृषस्य वा (७९) ॥१४४॥
 क्षयं क्षीराश्वगन्धाभ्यां (८०) कासश्वासं समाक्षिकम् (८१) ।
 तक्त्रेण ग्रहणीरोगं (८२) कच्छं तण्डुलवारिणा (८३) ॥१४५॥
 प्रमेहं मधुना (८४) गुल्मं शूलञ्च गुड़वारिणा (८५) ।
 पाण्डुरोगं गवां क्षीरेणाश्वमा त्रैफलेन वा (८६) ॥१४६॥
 गवां सूत्रेण कुष्ठानि (८८) क्षौद्रेणोडुम्बराक्षयम् (८९) ।
 तक्त्रेण युक्तञ्चाऽऽलेपाद्द्रुपामाविचर्चिकाः (९०) ॥१४७॥
 पीतमुष्णाश्वमा वायुं (९१) तुलस्याऽऽलेपनाद्ब्रह्मान् (९२) ।
 समूतं विस्मृतिं नस्येन (९३) अक्षनेन दृगामयान् (९४) ॥१४८॥

अथतः अनुपानतश्च प्रायशः सादृश्यं विद्यते, केवलं यस्या अपि न्यूनता, तत्र च
 गुणहीनानो दृश्यन्ते ; तथा च—“विषं विकटुकं मुक्तं हरिद्रा नित्यपक्वम् ।
 विडङ्गमष्टमं चूर्णं क्वागमूत्रैः समं समम् ॥ चक्षुकाभा वटी कार्ष्ण्यं स्वाज्जया
 योगवाहिका ॥” इति । नाशनेत्यादौ सपृतसाधितमित्यनेन वाक्यशेषः ; अष्टक्
 कुङ्कुमम्, पिष्टितं हरिद्रादिकं सपृतसाधितं घृतेन सह मर्दितं गोमूत्रादिभि-
 रनुष्येः सह नाशनादिविधौ प्रयुक्तं विषमज्वरान् जयेत् ; विषमज्वरं घृतेन सहैव
 रसेन्द्रसारे प्रयोगदर्शनात् ; तथा च—“जयन्ती वा जया वाऽथ विषमज्वरान्
 घृतेः” इति । “सपृतसाधितम्” इत्यत्र “सपृतसानित्यम्” इति कश्चित् पाठः, तत्र
 —हरिद्रादिपिष्टं सपृतम् आनित्यमित्यज्वरं जयेदित्यर्थः । सर्वजमित्यत्र ज्वरमिति
 शेषः, समध्वव्योषं सर्वजं ज्वरं जयेदिति । रसेन्द्रे तु “सर्वज्वरं मधुव्योषैः” इति पाठः ।
 सूतकं सूतिकातङ्कम् ; “सूतकम्” इत्यत्र “क्षीतकम्” इति पाठे—क्षीतज्वरमित्यर्थः ।
 वृषस्य वासकस्य कषायेणेति योगनीयम् । कच्छं मूत्रकच्छम् । प्रमेहं मधुनेति ।—
 रसेन्द्रसारे प्रमेहरीमे मधुना सह पाणानन्तरं लोघादिकाभ्यानुपानं कर्तव्यमिति
 विधिः ; तथा च—“जयन्ती वा जया वाऽथ मधुना मेहजित् भवेत् । लोघमुष्णामया-
 तुल्यं कटफलस्य जलेः सह ॥ क्वाययित्वा पिबेत्तानु मधुना सर्वमेहजित् ॥” इति ।
 गुड़वारिणा गुड़मिश्रितीदकेन । रसेन्द्रसारे तु चक्षुजलाश्लोहितगुडेन पात्रविधिः ;
 तथा च—“जयन्ती वा जया वाऽथ गुडैः कोषजलैः पिबेत् । विदोषीत्यं हरेत् गुल्मम्”
 इति । कुष्ठानि सर्वकुष्ठानोत्थविशेषकचनम् ; उडुम्बराक्षयमिति विशेषकचनम् ।

स्यन्दाधिमन्यौ सस्तन्यम् (८५) अर्मकोपं सशोणितम् (८६) ।
 सकासमर्दं काचादौन् (८७) सभृङ्गोदं निशान्वताम् (८८) ॥१४८॥
 रश्माकन्दाश्वसा पुष्पं (८९) पिबन् ताम्रमधूत्कटम् (१००) ।
 सतूनमार्त्तिं दन्तानां गण्डुषेण (१०१) विलेपनात् ॥१५०॥
 सगोमूत्रं शिरःशूलं (१०२) सक्षौद्राम्बं क्षतव्रणान् (१०३) ।
 भगन्दरापक्षीग्रन्थीन् सक्षौद्रं (१०४) सगुडं व्रणान् (१०५) ॥१५१॥
 नारिकेलाम्बसा लिङ्ग-विकारान् (१०६) सेवनात् पुनः ।
 प्रदरं भृङ्गमारेण (१०७) नागपुष्पस्य सर्पिषा (१०८) ॥१५२॥
 रश्माकन्दाश्वसर्पिर्म्यां पीतं लिप्तमहेर्विषम् (१०९) ।
 शीतक्रनरमूत्राभ्यामथाऽऽखीः (११०) वृश्चिकस्य तु ॥१५३॥

शौङ्खराऽऽख्यं कुष्ठमित्यर्थः । तुलस्याऽऽलेपनात् यद्वा तुलसीपत्ररसेन घृष्टा
 प्रलेपनात् पतनादिबालयद्वा देवादियद्वा वा जयेत् ; यद्वा अङ्गयद्वा नित्यर्षो
 वा । समुद्रं सगोमूत्रं नस्येन विस्मृतिं क्षुधभावं, भूर्च्छीत्यादापन्मारादिकर्मित
 यावत् । अङ्गनेन दृगामयान् इत्यवापि समुत्तमिति योजनीयम् । स्यन्दादिपित्ताला
 नेत्ररोगविशेषाः । अर्मकोपम् अर्माभ्यन्तरेकोपम् । सशोणितं सकुङ्कुमं,
 कुङ्कुमेन कुङ्कुमोदकेन वा सह मर्दितमित्यर्थः । ताम्रमधूत्कटं ताम्रचूर्णमधुप्रगाढम् ।
 सतूलमिति ।—तूला रक्तकार्पाभी नीली वा ; पारोक्ष इति कश्चित्, तथा सह घृष्ट-
 मित्यर्थः, गण्डुषेण दन्तानामार्त्तिं जयेत् । “सतूलम्” इत्यत्र “समूलम्” इति पाठे—
 जयेदिति क्रियाया विशेषणं, समूलं यथा तथा इत्यर्थः । विलेपनादिति पदं अरिः-
 शूलमित्यादिलिङ्गविकाराम् इत्यन्तेन सम्बध्यते । सक्षौद्राम्बं क्षौद्रं च अम्बं च अम्ब-
 काञ्चिकञ्च ताभ्यां सह लेपविधया प्रयुक्तं क्षतव्रणान् शस्त्रक्षतजनितव्रणान् ।
 भगन्दरेति ।—रसेन्द्रसारे भगन्दररोगे गुण्डा सह अस्य प्रयोगविधिः ; तथा
 च—“जयन्ती वा जया हन्ति गुण्डा सर्वे भगन्दरम्” इति । लिङ्गविकारान्
 उपदंशादौन् । सेवनादिति पदं प्रदरमित्यादिना योजनीयम् । भृङ्गमारेण
 भृङ्गराजरसेन, नागपुष्पस्य सर्पिषा नागकेशरकल्कसाधितेन घृतेन, भृङ्गराजरसेन
 नागकेशरघृतेन वा सेवनात् प्रदरं जयेत् । शीतक्रनरमूत्राभ्यामित्यवापि पीतं
 लिप्तमिति योजनीयम् ; शीतक्रनरमूत्राभ्यां पीतं लिप्तम् आखीर्विषं जयेदित्यर्थः ।

सार्कचौरं विलेपेन (१११) लूतानान्तु जलौदनम् (११२) ।

शतपत्ररसाज्याभ्यां विषं सर्वञ्च सर्वथा (११३) ॥१५४॥

भस्मसूतं गुडचौद्र-घृतैः सह निषेवितम् (११४) ।

जरां जयेदतो नाम्ना गुडिकेयं जयोदिता ॥१५५॥

अथ जयन्तीवटिकाख्यः पञ्चदशाधिकशततमविषकल्पः ।—

वचाऽश्वगन्धामरिचोपकुल्या-तालीशमुस्तापिचुमर्दपाठाः ।

विषञ्च तेषां वटिका जयन्त्यः फले प्रयोगे च जयासमानाः ॥१५६॥

अथ जयावटिकाख्यः षोडशाधिकशततमविषकल्पः ।—

वासाऽमृताखदिरनिम्बविडङ्गपथ्या-

क्वाथे विषत्रिकटुचित्रकलोहतिक्ताः ।

आवाप्य माषतुलिता वटिका प्रणीता

चौद्रान्विता क्षपयति क्षयकुष्ठजातम् ॥१५७॥

अथ रमाधने सप्तदशाधिकशततमविषकल्पः ।—

कान्ताभ्रकशिलाधातु-विषसूतकमाक्षिकम् ।

शीलितं मधुमर्पिभ्यां व्याधिवाङ्कमृत्युजित् ॥१५८॥

हृत्पिकथं तु सार्कचौरं विलेपेन । जलौदनं जलसिक्तौदनेन सह इत्यर्थः ।
“जलौदनम्” इत्यत्र “विषं जयेत्” इति क्वचित् पाठः । शतपत्रं कमलम् ।
सर्वथा पानालेपनाभ्यामित्यर्थः । भस्मसूतमिति ।—गुडादिभिः सह जयागुडिका
तथा भस्मसूतञ्च निषेवितं जरां जयेदिति । जयोदिता जया इति नाम्ना
संज्ञितेत्यर्थः ॥ १४२—१५५ ॥

पञ्चदशाधिकशततमविषकल्पमाह, वचेति ।—अत्रापि आजमुनेष मर्दनं कर्तव्यं,
रसेन्द्रसारसंवादात् । अत्र “मुला” इति पदं रसेन्द्रसारपाठादधिकमिति ज्ञातव्यम् ।
फले प्रयोगे च जयासमानाः प्रयुक्ता इमाः वटिकाः फलदाने जयासमानाः जया-
गुडिकाया गुणवत् गुणप्रदाः भवन्तीत्यर्थः ॥ १५६ ॥

षोडशाधिकशततमविषकल्पमाह, वासेति ।—तिक्ता कटुको । आवाप्य कल्को-
क्वाथ, पिष्टा इत्यर्थः । वासादीनां क्वाथेन विषादिकं मर्दयेदिति ॥ १५७ ॥

सप्तदशाधिकशततमविषकल्पमाह, कान्तेति ।—शिलाधातुः शिलाजतु । माक्षिकं
क्षारमाक्षिकम् ॥ १५८ ॥

अथ वाञ्छीकरणे अष्टादशाधिकशततमविषकल्पः ।—

नष्टशुक्रः पयोद्राक्षा-कपिकच्छुमहाविषम् ।

शीलयेन्मधुसर्पिर्भ्यां सखर्जूरं सयष्टिकम् ॥१५८॥

अथ विषसेवनस्य फलम् ।—

शत्रुप्रयुक्ताद्विषतो गराद्वा लूताभुजङ्गाखुविषाज्जरायाः ।

अकालमृत्युग्रहपाप्मनोऽपि विषाशिनो नास्ति भयं नरस्य ।

॥१६०॥

इति श्रीवैद्यपतिमिहङ्गप्रस्य सुनीर्वाण्डाचार्यस्य कृतो रसरत्नसमुच्चये

विषकल्पो नामैकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ २८ ॥

अथ त्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ रसकल्पः ।—

अथ मृतसूताध्यायः ।—

अथ रसजारणम् ।—

पीतासवास्त्रखात् सत्त्वं कान्तं वा तीक्ष्णमेव वा ।

चतुःषष्टितमांशेन प्रमितं क्षिप्तमल्पशः ॥१॥

अष्टादशाधिकशततमविषकल्पमाह, नष्टशुक्र इति ।—महाविषं रक्तवर्णविष-
भेदः । शीलयेत् दीर्घकालमभ्यसेदित्यर्थः ॥ १५८ ॥

विषप्रयोगस्य फलमाह, शत्रुप्रयुक्तादिति ।—स्पष्टम् ॥ १६० ॥

इति रसरत्नसमुच्चयनोधिष्याम् एकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः ।

अथ “लोहं मृतं कन्दविषं सूतश्चेति निगद्यते” इत्युद्देशानुसारात् लोहविषयोः
कल्पमुक्ता अवशिष्टं चरमाध्यायं रसकल्पं विवक्षुरादौ रसजारणमाह, पीतेति ।—
पीतासवास्त्रखात् सत्त्वं पीतः भावनाभिः शोषितः असवास्त्रः अस्त्रीभूतमन्थान-
विशेषः, काञ्चिकास्त्री वा येन तादृशात् खात् अस्मात् सत्त्वम् । चतुःषष्टितमांशेन

तमखल्लेऽन्वयोगेन स्नानवत्तां विमर्दनात् ।
 भूर्जं चाराम्ललवण-स्रङ्गकक्षीरलेपिते ॥२॥
 बद्धं वस्त्रावृते स्निग्धमन्त्रे समरसे रसम् ।
 धीतमुष्णारनालेन शुष्कमङ्गलिमर्दितम् ॥३॥
 पचेत् कच्छपयन्त्वस्थमष्टमांशविडावृतम् ।
 स्वप्रमाणो रसस्तिष्ठेज्जीर्णो यासे त्वजीर्यति ॥४॥
 पातयेदामवास्त्रेन मर्दयेत् स्वेदयेच्च तम् ।
 जारणे जारणे वक्त्रिं ग्रामञ्च परिवर्द्धयेत् ॥
 द्विगुणं योजयेदेवं सत्त्वमभ्रकसम्भवम् ॥५॥

अथ रसजारणे निषिद्धद्रव्याणि ।—

पूतौलोहं विषं मूत्रं रसकं गन्धकत्रयम् ।
 न युञ्ज्याज्जारणे सूतस्तेर्जीर्णैः स्फोटकुष्ठकृत् ॥६॥

इति रसभागमपेक्ष्य इत्यर्थः । तमखल्ले “यनाशकृत्” इत्यादिना प्रागुक्ते । समरसे समजले इत्यर्थः । कच्छपयन्त्वस्थं—“जलपूर्णपात्रमध्ये दत्त्वा घटखर्परं सुविस्तीर्णम्” इत्यादिना नवमांश्यायोक्तयन्त्रविशेषमन्त्रम् । अष्टमांशविडावृतं रसापेक्षया अष्टमांशेन विडेन “गुञ्जामैश्वर्योः” इत्यादिना वक्ष्यमाणेन ग्रामसाधनेन द्रव्यविशेषेण आवृतम् । स्वप्रमाण इति ।—एवं पक्वं सूतः जीर्णः सन् स्वप्रमाण एव तिष्ठेत्, न तु क्षीणमाणो भवेदित्यर्थः । यासे अस्मादिसत्त्वे अजीर्यति अक्षीयमाणे सतीत्यर्थः, पातयेत् ऊर्ध्वं पातयेत् । अयमर्थः—वासवास्त्रमर्दिताभ्रमत्वं तीक्ष्णलौहं काललौहं वा रसापेक्षया चतुःषष्ट्यङ्गम् अल्पशः तमखल्लये रसे क्षिपेत्, ततः काञ्चिकेन सुशुद्धं मर्दयित्वा चारादिलिप्ते भूर्जपत्रे संस्थाप्य च वस्त्रेण बद्धा समजलेन काञ्चिकेन दीलाशन्त्रे पचेत् ; ततः उड्डृत्य उष्णारनालेन प्रक्षाल्य च शीघ्रयेत् । अथ अङ्गुलीभिरभिमर्दितस्य तस्य औषधस्य उपस्थिधः रसापेक्षया अष्टमांशविडं संस्थाप्य कच्छपयन्त्रेण पचेत् ; एवं यदि रसः स्वप्रमाण एव तिष्ठेत्, तदा सुजीर्णः यसाश्चाटिकः सर्वकणश्चमस्य सञ्जातः इति जानीयात् । यदि स्वप्रमाणापेक्षया अधिको भवेत्, तदा यासमजीर्णं रसश्चापि असम्यक् जीर्णं ज्ञात्वा पुनरुर्ध्वपातनादिकं कर्म कुर्यात् ; प्रतिवारं जारणाकाले यासं वक्त्रिञ्च द्विगुणं वर्द्धयेदिति ॥ १—५ ॥

जारणे निषिद्धद्रव्याख्या, पूतीति ।—पूतौलोहं नाम वक्त्रञ्च । मूत्रं गोमूत्रम् ।

अथ बडवानली विङ्गः ।—

गुञ्जासैन्धवयोश्चूर्णं देवदालीदलद्रवैः ।

टङ्कणं किंशुकरसैर्जम्बीराम्बेन चूलिकाम् ॥७॥

मूलकक्षारगोमूत्र-प्रसादेन च गन्धकम् ।

स्वर्जिकाभूखगव्योम शिशुमूलरसेन च ॥८॥

शतशो भावयेत् सर्वं विङ्गोऽयं बडवानलः ।

एवमग्निसहो—”

॥९॥

अथ मतान्तरे रसज्वारणम् ।—

—“लोह-संयुक्तः केवलोऽथ वा ।

नियामकौषधसिताङ्गोलमूलरसादिभिः ॥१०॥

वैक्रान्तप्रमुखैर्वाऽपि रसेन्द्रः सह मर्दितः ।

रसकं खर्परम् । गन्धकस्य प्रागुक्तं रक्तपीतश्वेतभेदेन विविधगन्धकम् ; केचित्तु गन्धकवयशब्देन शिलातालगन्धकं गृह्णन्ति । तैर्जीर्णैः स्फोटकुष्ठकृत् जीर्णैः तैः पूतीलोहादिभिः सह अवस्थितः सूतः स्फोटकुष्ठकृत्, भवेदिति शेषः । “जीर्णैः” इत्यत्र “जीर्णः” इति पाठः सङ्गतः ॥ ६ ॥

रसज्वारणे बडवानलाख्यं विङ्गमाह, गुञ्जेति ।—देवदालीदलद्रवैः घोषकपत्र-रसैः । चूलिकां लवणविशेषं, नरसारमिति यावत् । मूलकेति ।—गोमूत्रगालित-मूलकक्षारस्य प्रसादभागेन । रसेन्द्रचिन्तामणौ तु—“मूलकार्द्वैकवज्रीनां चारं गोमूत्र-गालितम् । वस्त्रपुतं द्रवं यावद् गन्धकं तेन भावयेत् ॥” इति पाठः । भुः खत् सौराष्ट्रसत्तिका इत्यर्थः । खगः स्वर्णमाचिकं रसाञ्जनं वा । व्योम अश्वम् ; “व्योम” इत्यत्र “व्योष” इति कश्चित् पाठः । शतशः शतं बारान् । बडवानलः बडवानलाख्य इत्यर्थः । एवम् उक्तप्रकारेण विङ्गजारितः रसः अग्निसहः, भवेदिति शेषः ॥ ७—९ ॥

रसभक्ष्यप्रकारमाह, लोडिति ।—अथ लोहसंयुक्तः केवलो वा रसेन्द्रः, नियामकौषधं “कर्कोटीफणिनेवाभ्याम्” इत्यादिना एकादशाध्यायीतः रसचाचल्य-निवारकः द्रव्यगणविशेषः, तथा सिताङ्गोलमूलं शुष्माङ्गीठमूकश्च, तेषां रसादिभिः ; आदिपदेनात्र कायकल्पादीनां यद्वचम् ; सह मर्दितः, अथवा वैक्रान्तप्रमुखैः वैक्रान्त-

यन्त्रस्थः क्रमवृद्धेन वज्जिनोर्द्ध्वेन पाचितः ॥

मृतोऽधराग्निना तर्प्ताऽप्यक्षोणी नोद्ध्वमाश्रयेत् ॥११॥

अथ द्विविधं रसमारणम् ।—

अथापामार्गतैलेन तथा पुष्करतण्डुलैः ।

अथवा मलपूक्षीर-भावितः श्वेतहिङ्गुना ॥

मर्दितः पुटपाकेन भस्मतां प्रतिपद्यते ॥१२॥

अथ रसमारणे प्रकारान्तरम् ।—

गोमूत्रद्रोणपुष्पाभ्यां पाकाद्वा कान्तभाजने ॥१३॥

अथ प्रकारान्तरम् ।—

कङ्कणीकणधुस्तूर-तैलाभ्यां वा विमर्दितः ॥१४॥

सूर्यकान्तहीरकादिभिः चतुर्थाध्यायोक्तैर्मैषाभिः सह मर्दितः, क्रमवृद्धेन सदृशमध्य-
खराटिकमेण ऊर्ध्वेन वज्जिना उपविष्टात् दत्तेन अग्निना इत्यर्थः, यन्त्रस्थः पाचितः,
यन्त्रमध्ये पूर्वोक्ताविधया मर्दितं रसं संस्थाप्य दत्त्वा च भुक्त्वावरणं भुज्यन्तः किञ्चित्
प्रीयायत्वा ऊर्ध्वे पटे दद्यादित्यर्थः । मृत इत्यादि ।—उक्तप्रकारेण मृतो रसः
अधराग्निना यन्त्रनिम्बभागे प्रदत्तेन अग्निनाऽपि अक्षीणः उड्डयनसामर्थ्याभावात्
ऊरु एव, तिष्ठेदिति शेषः ; न ऊर्ध्वमाश्रयेत् पक्षच्छेदात् अग्निसन्तापेनापि मोहं
उड्डयेत इत्यर्थः ॥ १०-११ ॥

द्विविधं रसमारणमाह, अथेति ।—अथ एवं पाकान्तरम् । पुष्करतण्डुलैः
पुष्करबीजैः पद्मबीजैर्वा, पुष्करबीजकाष्ठैः, पद्मबीजकाष्ठैर्वा इत्यर्थः । अपामार्गतैल-
पुष्करबीजकाष्ठाभ्यां भावितः ; अथवा मलपूक्षीरभावितः कांठोडुम्बरकक्षीरेण सप्ताहं
भावितः, श्वेतहिङ्गुना मर्दितः, भावनाऽनन्तरमिति शेषः ॥ १२ ॥

रसमारणे प्रकारान्तरमाह, गोमूत्रेति ।—गोमूत्रद्रोणपुष्पाभ्यां सह मर्दयित्वा
कान्तभाजने पाकाद्वा भस्मतां प्रतिपद्यते इति पूर्वोक्तान्वयः । द्रोणपुष्पशब्देनात्र
द्रोणपुष्परसो याज्यः ॥१३॥

प्रकारान्तरमाह, कङ्कणीति ।—कङ्कणीशब्देन तक्षीजतैलं याज्यम् । रसः
कङ्कणीकणधुस्तूरतैलाभ्यां सह विमर्दित, कान्तभाजने पाकात् भस्मतां प्रतिपद्यते
इत्यन्वयः ॥ १४ ॥

अथ प्रकारान्तरम् ।—

मृणालतन्तुवर्त्तिस्थः पीनगन्धर्वतैलयुक् ।

ज्वलितो याममात्रं वा मृतवैक्रान्तसंयुतः ॥१५॥

अथ प्रकारान्तरम् ।—

बन्ध्याऽमृताकन्दगतः पचनाद्भुधरेऽथवा ॥१६॥

अथ प्रकारान्तरम् ।—

चपलोपलनिर्गुण्डी-रसाभ्यां रसकेन वा ॥१७॥

अथ प्रकारान्तरम् ।—

वाराहीरसयुक्तेन चक्रमर्दरसेन वा ॥१८॥

अथ प्रकारान्तरम् ।—

गन्धपाषाणयुक्तेन बडं वा वाससा रसम् ।

पचेत् गन्धकतैलेन यावदाखोटबन्धनम् ॥१९॥

प्रकारान्तरमाह : मृणालेति ।—पीनगन्धर्वतैलयुक् स्थूलैरण्डतैलसंयुक्तः, स्थूलै-
रग्नतैलेन सह रसं मर्दयित्वा वेकान्मभ्यगा सह समिश्रया च तेन मृणालतन्तुमाश्लिष्य
याममात्रं प्रज्वालयेत्, एवं भक्ष्यतां प्रतिपद्यते ॥ १५ ॥

प्रकारान्तरमाह, बन्धेति ।—बन्ध्या बन्ध्याकर्कोटकी अमृता कन्दगुडूची, तथोः
कन्दगतः कन्दान्स्थितः भुधरे भुधरयन्त्रे पचनात् भक्ष्यतां प्रतिपद्यते इति ॥ १६ ॥

प्रकारान्तरमाह, अपनेति ।—चपलोपलः द्वितीयाध्यायीकः सहारमविशेषः ।
रसकः खर्पटः ; चपलरसकाभ्यां समाभ्यां तुल्यो रसेन्द्रः निर्गुण्डीरसेन सह मर्दितः
भुधरे पचनात् भक्ष्यतां प्रतिपद्यते ॥ १७ ॥

प्रकारान्तरमाह, वाराहीति ।—अथवा वाराहीरसयुक्तेन चक्रमर्दरसेन मर्दितः
भुधरे पचनादित्याद्यन्वयः ॥ १८ ॥

प्रकारान्तरमाह, गन्धेति ।—अथवा गन्धपाषाणयुक्तेन गन्धकयुक्तेन वाससा
वस्त्रेण बडं रश्मं, रश्मं गन्धकस्य वस्त्रमध्ये संस्थाप्य बड्वा च इत्यर्थः, आखोटबन्धनं
यावत् यावता कालेन आखोटबन्धनं—“बन्धो यः खोटतां यातो भ्रातो भ्रातः स्वयं
प्रजेत । खोटवद्वाः स विशेषः शीघ्रं सर्वगदापहः ॥” इत्यादिशाध्यायीकलक्षणक-
तन्धविशेषम् ; “खोटकं खण्डमन्तुल्यं समावर्त्तञ्च कारयेत् । कुङ्कुटाण्डनिभं मृतं
पटुभेदि भवेत् यदा ॥ आवर्जितं पुनस्तद्वत् खोटवद्वरसाकृतिः ॥” इति रसेन्द्रः

गन्धाश्मपिष्टं द्विगुण-गन्धं वा कान्तसम्पुटे ।

गन्धकादा तृतीयांशं कान्तपर्पटमिश्रितम् ॥

मूलिकामर्दितं खोह-पर्पटान्तर्गतं धमेत् ॥२०॥

अथ प्रकारान्तरम् ।—

यदा गन्धकपादेन मर्दितं मूलिकारसैः ।

खोहसम्पुटमध्यस्थमङ्गारैर्ध्वातमुत्खनेत् ॥

रोगोक्तयोग्युक्तोऽयं तत्तद्गोहरो भवेत् ॥२१॥

अथ ज्वरे प्रथमरसकल्पः ।—

समुस्तपर्पटकायो भस्मसूतो हरिज्वरम् ॥२२॥

अथ विदोषज्वरे द्वितीयरसकल्पः ।—

दशमूलकषायेण पिप्पल्या च समस्तजम् ॥२३॥

चिन्तामण्युक्तसूचकगन्ध इव गन्धनमिति वा, प्राप्नुयादिति शेषः ; रसेन्द्रचिन्तामणौ खोटप्रकार उक्तः, यथा—“दरदगुटिकाचन्द्रबौद्रेर्निरन्तरमावृताक्षरणिक्कनकैः । विन्नागन्धाश्मना सह भूरिणा रचय सिकतायन्त्रे पाकम् ॥ मुहुर्मुहुरित्यसौ हुतभुजि वसन् वल्लभानं (१) कथञ्चन मुञ्चति ॥ सिद्धमतस्त्राटाः” इति । तावत् गन्धकतैलेन पचेत् । ततः गन्धाश्मपिष्टं तुल्यगन्धकेन सह पिष्टम्, अथवा द्विगुणगन्धं रसापेक्षया द्विगुणगन्धकेन सह पिष्टम्, अथवा गन्धकान् तृतीयांशं गन्धकसागमपेक्ष्य तृतीयमंशं रसं, त्रिगुणगन्धकं रसमित्यर्थः, कान्तपर्पटमिश्रितं पर्पटाकारकान्तलौहपत्रमिश्रितं मूलिकामिः सर्पाबीबीरिणीत्यादिना उक्तानां रसमारकद्रव्याणां मूलरसैः मर्दितं खोहपर्पटान्तर्गतं पर्पटाकारलौहपत्रमध्यगतं कृत्वा कान्तसम्पुटे कान्तलौहनिर्मितपुट-मध्ये धमेत् अङ्गारैः पचेदित्यर्थः ॥ १८।२० ॥

प्रकारान्तरमाह, यदेति ।—कान्तपर्पटमिश्रितमिति पदमवापि योजनीयम् ; अथवा गन्धकपादेन पादमित्यन्तेन सह कान्तपर्पटमिश्रितं रसं मूलिकारसैः रस-मारकद्रव्याणां मूलरसैः मर्दितं खोहसम्पुटमध्यस्थं कान्तसम्पुटे अङ्गारैर्ध्वातम् उत्खनेत् मञ्जीकृत्यादित्यर्थः ॥ २१ ॥

प्रथमरसकल्पमाह, समुक्तेति ।—स्पष्टम् ॥२२॥

द्वितीयरसकल्पमाह, दशमूलिकेति ।—पिप्पल्या पिप्पलीचूर्णेन । समस्तजं विदोषजं ज्वरमित्यर्थः, हरिद्विति पूर्वोक्तेन सम्बन्धः ॥ २३ ॥

अथ रक्तपिते तृतीय-चतुर्थरसकल्पो । —

माक्षिकाभयया वासा-पिप्पल्या वाऽसृपित्तनुत् ॥२४॥

अथ कासे पञ्चमरसकल्पः । —

कण्टकारीकषायेण पिप्पल्या च स कासजित् ॥२५॥

अथ क्षये षष्ठ-सप्तमरसकल्पो । —

अजायाः क्षीरमिद्धेन कषायुक्तेन सर्पिषा ।

त्रिफलागन्धकव्योष-गुडैर्वा क्षपयेत् क्षयम् ॥२६॥

अथ क्षयादी अष्टमरसकल्पः । —

अथ लोहमयीं मूषामायामे हादशाङ्गुलाम् ।

मर्दितं हेमवाराह्यी-गृहकन्यारसै रसम् ॥२७॥

रमोनपिण्डे दधतीं लोहमय्या सुरन्ध्रया ।

निर्गुण्डीपत्रनिख्यास-पीतपादसुगन्धया ॥२८॥

गर्भमूषिकया युक्तां सचक्रां मपिधानकाम् ।

लम्बितां जलपात्रस्थ-खर्परदारि पाचयेत् ॥२९॥

तृतीय-चतुर्थरसकल्पद्वयमाह, माक्षिकेति । — असृपित्तनुत् रक्तपित्तहरः । रसः इति कर्तृपदं सर्वस्मिन्नेव कल्पे योजनीयम् ॥ २४ ॥

पञ्चमरसकल्पमाह, कण्टकारीति । — स्पष्टम् ॥ २५ ॥

षष्ठ-सप्तमरसकल्पद्वयमाह, अजाया इति । — पिप्पलीकल्पादेन चतुर्गुण्येष्टाश्च-क्षीरेण च पक्वृतेन, अथवा त्रिफलादिभिः सह भक्षितो रसः क्षयं क्षपयेत् ॥ २६ ॥

अष्टमरसकल्पमाह, अथेति । — हेम धलूरः, वाराह्यी वाराह्यीकन्दः, गृहकन्या घृतकुमारिका; इमादिरसैर्भर्दितं तथा रमोनपिण्डे रमोनपिण्डान्तः स्थापितं रसं दधतीं मूषानित्यन्वयः कार्यः । सुरन्ध्रया सु शोभनं मागानुरूपमित्यर्थः, रग्भं यस्यां तथा रन्ध्रयुक्तया इत्यर्थः, गर्भमूषिकया इत्यस्य विशिष्यमेतत् ; “सुरन्ध्रया” इत्यत्र “सुरन्ध्रया” इति पाठान्तरम् । निर्गुण्डीति । — निर्गुण्डीपत्रनिख्यासः पीतो वेन तादृशः निर्गुण्डीपत्ररसभक्षित इत्यर्थः, पादः रसापेक्षया चतुर्थभागः, सुगन्धः यस्यां तथाभूतया; “पादसुगन्धया” इत्यत्र “पादांशसुगन्धया” इति पाठान्तरम्, गर्भमूषिकया मूषा एव मूषिका, गर्भं या मूषिका तथा स्थूलमूषान्तरवस्थानार्थ-

ऊर्द्धं वनोत्पलैश्चित्रैरङ्गारैः खादिरैरधः ।

एवमष्टगुणे जीर्णे गन्धके क्षयकुष्ठजित् ॥ ३० ॥

अथ द्विक्कायां नवमरसकल्पः ।—

द्विक्कां निहन्ति रुचक-वोजपूरास्तमाक्षिकैः ॥ ३१ ॥

अथ छर्दिर्दाह्योः दशमेकादशरसकल्पो ।—

छर्दिर्दाह्यौ मधुसिता-लाजामुद्गसिताम्बुभिः ॥ ३२ ॥

अथ अर्शःसु द्वादशरसकल्पः ।—

अर्शांसि तैलसिन्धूत्य-पुटपाचितशूरणैः ॥ ३३ ॥

स्वल्पमृषयैः । सचकां सुखसचालनार्थं चक्रचतुष्टयसमन्विताम् । सपिधानकां साश्वाटनाम् । कल्पपात्रस्थस्वर्धरहारि लम्बितां सजलकुम्भाद्युपरि स्थापितस्य सत्पादावशेषस्य, “ताचीया” “चाट” इति प्रसिद्धस्य अपुपादिपाकाद्यर्थं शमाकार-लौहमयपात्रत्रिषष्ट्य वा मध्यस्थकृतकरमध्ये लम्बमानमित्यर्थः । वनोत्पलैः आरण्य-गोमयैः । चित्रैः अद्भुतैः, अद्भुतत्वञ्च ऊर्द्धां द्विविधाभिना पाकात् इति बोध्यम् । अथमर्थः—द्वादशाङ्गुलविस्तारा चक्रसमन्वितां सपिधाना लौहमयीं मूषासिकां कृत्वा तत्र हेमादिरसमार्दितं रसोनपिण्डान्तस्थं रसं संस्थापयत् । अपराद्धैकां निर्गण्योपमरसभावितेन रसपादिकेन गन्धकेन पूर्णां लौहमिर्मितां सक्चिद्रां स्वत्याकारां मूषां स्थूलमूषागर्भं संस्थाप्य मूषासुखमावृत्य च सजलकुम्भाद्युपरि स्थापितस्य सत्पादावशेषस्य लौहपादावशेषस्य वा मध्यभागे स्थितकृतकरमध्ये स्थूलमूषा ता लम्बितां कुर्यात्, अथ यन्त्रस्य ऊर्द्धदेशे आरण्यगोमयम् अथवा खादिराङ्गारं प्रज्वाल्य पचत्, जीर्णे च तस्मिन् गन्धके पुनः रसपादं गन्धकं स्वल्पमूषायां दत्त्वा पूर्ववत् पचत्, एव यावत् । रसपिचया अष्टगुणगन्धको जीर्णो भवेत्, तावत् पुनः पुनः (द्वाविंशहारं) कुर्यादिति ॥ २७—३० ॥

नवमरसकल्पमाह, द्विक्कांमिति ।—रुचकं सौवर्चलम् ; सक्तञ्च चक्रदत्ते—“मधु-सौवर्चलोपेतं मातुलङ्गरसं पचेत्” इति ॥ ३१ ॥

दशमेकादशरसकल्पमप्यभाह, छर्दिर्दिति ।—मधुसितालाजामुद्गेन अष्टमुद्गकाद्ये मध्वादिकं प्राप्य तेन ; तथा च अक्षसङ्ग्रहे—“कषाया अष्टमुद्गस्य सलाजमधुशर्करः । छर्दिदोमारुहद्दाह-ज्वरघ्नः सम्प्रदायितः ॥” इति । सिताम्बुभिः शर्करादिकेन वा रसमम्य छर्दिर्दाह्यौ शमयेदित्यर्थः ॥ ३२ ॥

द्वादशरसकल्पमाह, अर्शांसिति ।—स्पष्टम् । अक्षसङ्ग्रहेऽप्युक्तं—“सक्चितं शौरणं

अथ अतीसारं अथोदगादिरसकल्पवयम् ।—

त्वक्पल्लवैः कषायाणां शृतेनोदशिदम्भसा ।

क्षीरिण्या वाऽप्यतीसारं—”

अथ विमूच्या षोडशरसकल्पः ।—

“—विमूर्ची कणहिङ्गुना ॥३४॥

अथ अजीर्णं सप्तदशरसकल्पः ।—

अजीर्णं काञ्चिकैरण्ड-काथपथ्यावलेहतः ॥३५॥

अथ प्रवाहिकायाम् अष्टादशैकीनविंशरसकल्पो ।—

कषायपल्लवैः पक्वं बालविल्वं सनागरम् ।

सगुडं सरसं हन्ति विम्बिसीं दारुणामपि ॥

विल्वकर्कटिकागर्भं मसूरकथिताम्बु वा ॥३६॥

कल्पं पक्ताऽथो पुटपाकवत् । अद्यात् सतैललवणं दुर्नामविनिर्गते ॥” इति ।

अत्रापि रसभक्ष्य इति कर्तृपदं बोद्धव्यम् ॥ ३३ ॥

अथोदगादिरसकल्पवयमाह, त्वगिति ।—कषायाणां त्रयोधादीनां क्षीरिन्त्राणामित्यर्थः, कषायरसवदृक्षाणामित्यर्थो वा, त्वक्पल्लवैः शृतेन कृतेन काथेन, वा अथवा उदशिदम्भसा उदशित् “दध्यम्भसी यदि ममे तदुदश्यादुः—” इति राज-
जिघृक्षुः पर्वजने तत्कं तदध्मसा तद्वेण उदशिवृत्त्यर्थः ; क्षीरिणी “सीरु”
इति ख्यातं, तस्याः स्वरसेन काथेन वा रसभक्ष्य अतीसारं निहन्तीति योजनीयम् ।
षोडशरसकल्पमाह, विमूर्चोमिति ।—स्यष्टम ॥ ३४ ॥

सप्तदशरसकल्पमाह, अजीर्णमिति ।—परण्डकाथः परण्डमूलकाथः ॥ ३५ ॥

अष्टादशैकीनविंशरसकल्पवयमाह, कषायेति ।—कषायपल्लवैः कषायाणां जम्बू-
दाडिमादीनां पल्लवैः पल्लवैः ; यदुक्तं चकमङ्गुदे—“जम्बूदाडिमशृङ्गाट-पाठाकसट-
पल्लवैः । पक्वं पर्युषितं बाल-विल्वं सगुडनागरम् ॥” इति । सरसं रसभक्ष्यमहृतम् ।
विम्बिसीं प्रवाहिकाम् । विल्वेति ।—सरसं विल्वकर्कटिकागर्भं मसूरकथिताम्बु वा
विम्बिसीं हन्ति इत्यन्वयः । विल्वं विल्वशलाटः कर्कटिका पर्णारुफलत्वक्, तस्या एव
द्वयनृणं अतीसारहन्तृवदर्शनात् ; एतद्वयं गर्भं यस्य तादृशं मसूरकथिताम्बु, विल्व-
कर्कटिकयोः कल्कसाधितेन मसूरकाथेन सह रसभक्ष्यसेवगं कुर्यात् ॥ ३६ ॥

अथ मूत्ररुक्ते विंशरसकल्पः ।—

कृच्छं मृतरसः क्षीर-क्षीरिणीक्षुरमाक्षिकैः ॥३९॥

अथ मंहीषु एकविंशरसकल्पः ।—

पारदभस्माशिलाजतुकृष्णा-लोहमलत्रिफलाकुलिवीजम् ।

ताप्यनिशारजकीपलकान्त-व्याघरजः खपुष्य कपित्थात् ॥३८॥

सर्वमदं परिचूर्ण्य समांशं भावितभृङ्गरसं दिवसादौ ।

विंशतिवारमिदं मधुलोढं विंशतिमेहहरं हरिदृष्टम् ॥३९॥

अथ ग्रीहादौ द्वाविंश-त्रयोविंशरसकल्पो ।—

न्यग्रोधाद्यमनाद्यैर्वा काथयुक्तो मृतो रसः ।

पञ्चाक्षगुणगोमूत्रैः प्लोहगुल्मनिवर्हणः ॥४०॥

अथ पाक्षिगुलं चतुर्विंशरसकल्पः ।—

कलाययूषशम्बूक-क्षाराभ्यां पक्षिशूलनुत् ॥४१॥

अथ आमशुले पञ्चविंशरसकल्पः ।—

मन्त्राषणतिलकाथेनाऽऽमशूलस्य नाशनः ॥४२॥

विंशरसकल्पमाह, कृच्छमिति ।—क्षीरिणी “क्षीर” इति भाषा । क्षुरः कोकिलाक्षः, “कुल्लेखाडा” इति भाषा ; क्षीरादिभिः सह मृतरसः कृच्छं मूत्र-कृच्छं इति । “क्षीरक्षीरिणीक्षुरमाक्षिकैः” इत्यत्र “क्षीरक्षीरक्षीरक्षीरमाक्षिकैः” इति कश्चित् पाठः ॥ ३७ ॥

एकविंशरसकल्पमाह, पारदेति ।—कल्पोऽयं सप्तदशाध्याके मेहहरनाया पठितः, व्याख्या तत्रैव दृष्टव्या ॥ ३८, ३९ ॥

द्वाविंश त्रयोविंशरसकल्पद्वयमाह, न्यग्रोधादीति ।—न्यग्रोधाद्यमनादौः “न्यग्रोध-विष्यल—” इत्यादिना “अमनतिनिशमृज—” इत्यादिना च वाग्मशुक्तैः ; न्यग्रोधादीनाम् अमनादीनां वा काथेन मृतरसं मर्दयित्वा पश्चात् रसोन्मोमूत्रैः सह पिबेत् ; “पञ्चाक्षगुण” इत्यत्र “पञ्चाक्षगुण” इति पाठान्तरम् ॥ ४० ॥

चतुर्विंशरसकल्पमाह, कलायेति ।—कलायः वर्तुलकलायः । पक्षिशूलनुत् परिष्कामशूलद्वयम् ॥ ४१ ॥

पञ्चविंशरसकल्पमाह, सेति ।—सुननम् ॥ ४२ ॥

अथ उदरे षड्विंशरसकल्पः ।—

नवनीतसुधाचार-भाविताभययोदरे ॥४३॥

अथ कामलायां सप्तविंशरसकल्पः ।—

स हितः सहितो यष्टी-वारिणा कामलामये ॥४४॥

अथ पाण्डादौ अष्टाविंशरसकल्पः ।—

फलत्रिकाटिकाद्येन पाण्डुशोफे सकामले ॥४५॥

अथ शोफे एकीनविंशरसकल्पः ।—

शोफे सविश्वभृनिस्व-क्वाथगीमूत्रसंयुतः ।

निस्वामलककङ्कष्ठैः प्रशस्तः स मृतो रसः ॥४६॥

अथ कृष्टे विंशैकविंशरसकल्पो ।—

रसीनराजिकावङ्गि-नीलिमार्कवपल्लवैः ।

तुल्यं भस्मातकं चिन्ना क्षीरे तैलं विपाचितम् ॥४७॥

भूश्रीषसुपर्णाक्ष्योः पञ्चाङ्गं मात्तिकं घृतम् ।

रमञ्च लीढा कुष्ठार्तो लिम्पेक्षिकट्ना तनुम् ॥

रसगन्धकपिष्ट्या वा कटुतैलाभियुक्तया ॥४८॥

षड्विंशरसकल्पमाह, नवनीतेति ।—सुधाचारः कृष्णसञ्ज्ञकतचारः, तद्भाविता-
अथवा कृष्णचारोदकभावितादरोतक्या उदरे उदररोगे ॥ ४३ ॥

सप्तविंशरसकल्पमाह, स इति ।—सः मृतो रसः ॥ ४४ ॥

अष्टाविंशरसकल्पमाह, फलेति ।—फलत्रिकाटिकाद्येन “फलत्रिकाटिकाद्येनामा-
तिक्ताभृनिस्वनिस्वनः । क्वाथः क्षौद्रयुतो दन्धान पाण्डुरोगं सकामलम् ॥” इत्युक्त-
द्रव्याणां निर्युद्दिष्टे ॥ ४५ ॥

एकीनविंशरसकल्पमाह, शोफे इति ।—निस्वामलककङ्कष्ठैः तुल्यैः सप्त सर्पितो
मृतो रसः सविश्वभृनिस्वक्वाथगीमूत्राभ्यां संयुतः शोफे प्रशस्तः इत्यन्वयः ॥ ४६ ॥

विंशैकविंशरसकल्पद्वयमाह, रसीनेति ।—नीली नीलवङ्गा मार्कवपल्लवः भृङ्ग-
राजदलम् । तुल्यं भस्मातकं रसीनादीनां मिलितानां समं भस्मातकमित्यर्थः, चिन्ना
कल्कत्वेन दत्त्वा इत्यर्थः, क्षीरे चतुर्गुणे दुग्धे ; रसीनादिभस्मातकान्तानां पाटिककल्केन
चतुर्गुणदुग्धेन च तैलं पक्तव्यम् । भूश्रीषः श्रीषः, सुपर्णाक्षी नागकेशरः, अनयोः

अथ कुष्ठे द्वाविंश त्रयस्त्रिंशरसकल्पो ।—

कर्पूरमूलीसहनिम्बतैल-पातालमूलौरसभावितेन ।

रसेन लिङ्घ्यात् सकलं हठं वा विचूर्णितं पुष्परसं स कुष्ठौ ॥४८॥

अथ कुष्ठे चतुस्त्रिंशरसकल्पः ।—

फेनिलफलाहिदर्वी-कन्दरसं खादतोऽनुदिनम् ।

फेनिलमूलोदत्तनमाचरतोऽपि च कुतः कुष्ठम् ॥५०॥

अथ किलासे पञ्चविंशरसकल्पः ।—

चित्रकवानरिवायमीतुण्डौ-वाकुचिका द्विगुणाः परिपीताः ।

मूत्रयुता मृतसूतममतास्तक्रभुजः शमयन्ति किलासम् ॥५१॥

पञ्चाङ्गं पत्रपुष्पत्वक्मूलफलरूपम् । रसं मृतं रसम् ; तैलादिकं सर्वमेकीकृत्य कुष्ठौ लिङ्घ्यात् । लिङ्घ्येदिति ।—रसभक्ष्यसेवनानन्तरं विकटचूर्णेन सकटतैलेन रसनन्धक-कल्केन वा सकटतैलेन स्वेदं लिङ्घ्येदिति ॥ ४७।४८ ॥

द्वाविंश-त्रयस्त्रिंशरसकल्पद्वयमाह, कर्पूरमूलीति ।—कर्पूरमूली कर्पूरवृक्षस्य ऋक्ष-मूलम् ; “कर्पूरमूली” इत्यत्र “कर्पूरवृक्षो” इति पाठे—कर्पूरवृक्ष इत्यर्थः । सहः सहचरः स्वर्णजोरो वा अनयो रसः । पातालमूली पातालवामिनी ताम्बूलदल-निगन्धः । रसेन मृतरसेनेत्यर्थः । सकलं रोद्धिषट्ठम् । हठं अलक्षिकाम् । “सकलं हठम्” इत्यत्र “समुवर्णकम्” इति काचित् पाठः । पुष्परसं मधु । कर्पूरमूल्यादि-भावितो रसः सकलचूर्णे पुष्परसस्य एतत् सर्वम् एकीकृत्य लिङ्घ्यात् अथवा प्राक्तरसः हठचूर्णे पुष्परसस्य सर्वम् एकीकृत्य लिङ्घ्यादिति ॥ ४८ ॥

चतुस्त्रिंशरसकल्पमाह, फेनिलेति ।—फेनिलफलं रौठाकरञ्जः । अहिः सृष्टौ, दर्वी गोजो तथोः कन्द मूलम् । रस मृतरसम् । अनुदिनं प्रतिदिनम् । फेनिल-फलादिचूर्णे रसस्य एकीकृत्य उपयुक्तानुपानेन खादेत्, फेनिलमूलकल्केन उदत्तनञ्च कुर्यादिति ॥ ५० ॥

पञ्चविंशरसकल्पमाह, चित्रकेति ।—वागरो शकशिल्बिः । वायसी काकमाची । तुण्डौ चारुणावामिका । “वायसतुण्डौ” इति पाठे—काकतुण्डौ “केचोयोहुंटी” इति भाषा । द्विगुणा इति ।—मृतसूतापेक्षया चित्रकादिचूर्णानां मिलितानां द्वेगुणमित्यर्थः ॥ ५१ ॥

अथ श्रित्वे षट्त्रिंशत्तरसकल्पः ।—

द्रुतगगनमरीची वाकुचीतालपत्री
सलिलरिपुनकुल्यो कृष्णशृणुगौ सभङ्गम् ।
मरिचमसितमौमश्चित्रकाङ्क्षीलवीजं
वरतिलशशिलेखे त्वक् च शाखोटकस्य ॥५२॥
फलत्रयञ्च तत् सर्वं मृतमृतसमन्वितम् ।
क्षीरान्नवर्त्तनो जरध्वा श्वित्रमाशु निवर्त्तयेत् ॥५३॥

अथ क्षिमौ सप्तत्रिंशत्तरसकल्पः ।—

मनिस्वपल्लवक्षौद्रः क्षमौन् हन्ति मृतो रसः ॥५४॥

अथ वातरोगे षट्त्रिंशत्तरसकल्पः ।—

पीतो लघुनसिद्धेन तैलेनानिलजान् गदान् ॥५५॥

अथ गृध्रव्याम एकोनचत्वारिंशत्तरसकल्पः ।—

विश्वैरण्डमृतक्षीर-सहितो गृध्रमीं जयेत् ॥५६॥

अथ वातरक्ते चत्वारिंशत्तरसकल्पः ।—

गुडाभयागुडूच्यस्व-युक्तः पवनशोणितम् ॥५७॥

षट्त्रिंशत्तरसकल्पसाह, द्रुतेति ।—द्रुतगगनम् अभ्यसत्त्वम् । मरीचिः श्वेतमरुक्कः, वाकुची सोमराजी । तालपत्री तालमूली । सलिलरिपुः अनलः, भङ्गातकमित्यर्थः ; इज्जल इति कश्चित् । नकुली शङ्खपुष्पी जटामांसी वा, उभयोरपि कुष्ठद्वितत्वात् । कृष्णं कृष्णागुरु । सभङ्गमित्यस्य मरिचमित्यनेनान्वयः, भङ्गं भङ्गराजः । मसितः धवः । मौमः कर्पूरः । वरतिलः कृष्णतिलः । शशिलेखा गुडूची । क्षीरान्नवर्त्तनः क्षीरान्नभृक् ॥ ५२।५३ ॥

सप्तत्रिंशत्तरसकल्पसाह, सनियेति ।—स्पष्टम् ॥ ५४ ॥

षट्त्रिंशत्तरसकल्पसाह, पीत इति ।—लघुनसिद्धेन रसीनकस्केन अतुर्गुणजलेन च पक्कतेलेनित्यर्थः ; तैले रसीनं भृष्टा तेन तैलेनित्यर्थो वा ॥ ५५ ॥

एकोनचत्वारिंशत्तरसकल्पसाह, विश्वेति ।—विश्वो गुण्डौ ॥ ५६ ॥

चत्वारिंशत्तरसकल्पसाह, गुष्ठेति ।—अभयागुडूचाः क्वाथे गुडं प्रक्षिप्य तेन सह सेवितं रसभञ्ज वातरक्तं हन्तात् ॥ ५७ ॥

अथ श्लोच्ये एकचत्वारिंशत्तरसकल्पः ।—

त्रिकटुत्रिफलावेक्षैः समांशौ गुग्गुलुर्जयेत् ।

वातारितैलसंयुक्तः स्थूल्यं भस्मरसान्वितः ॥५८॥

अथ श्लोच्ये द्वाचत्वारिंशत्तरसकल्पः ।—

मधूदकाभ्यां युक्तौ वा—”

अथ काश्ये त्रिचत्वारिंशत्तरसकल्पः ।—

“—काश्यन्तु शर्करान्वितः ॥५९॥

अथ अपघ्नारादौ चतुश्चत्वारिंशत्तरसकल्पः ।—

ह्रिङ्गुसौवर्चलव्याघ्र-मूत्रमिद्धेन सर्पिषा ।

रसो हन्यादपघ्नारमुन्मादञ्च—” ॥६०॥

अथ अपघ्नारादौ पञ्चचत्वारिंशत्तरसकल्पः ।—

“—तथाऽञ्जनात् ।

मधूककुनटीतार्क्ष्य-पारावतमलेर्युतः ॥६१॥

एकचत्वारिंशत्तरसकल्पमाह, त्रिकटुति ।—वेक्षं विडङ्गम् । अत्र त्रिकटुद्वौनामिकौ भागः गुग्गुलाद्यापरः । वातारितैलम एरण्डतैलं, तच्च मर्दनयोग्यम् । त्रिकटुादियुक्तः वातारितैलसंयुक्तः भस्मरसान्वितश्च गुग्गुलुः श्लोच्यं जयेदिति ॥ ५८ ॥

द्वाचत्वारिंशत्तरसकल्पमाह, माध्वति ।—अथवा मधूदकाभ्यां युक्तौ भस्मरसान्वितः गुग्गुलुः श्लोच्यं जयेदित्यन्वयः । त्रिचत्वारिंशत्तरसकल्पमाह, काश्यमिति ।—शर्करान्वितः भस्मरसान्वितश्च गुग्गुलुः काश्यं जयेदिति ॥ ५९ ॥

चतुश्चत्वारिंशत्तरसकल्पमाह, ह्रिङ्गुति ।—अथ ह्रिङ्गुप्रभृतीनां पञ्चानां प्रत्येकं पलद्वयं कल्कः गोमूत्रञ्च चतुर्गुणम् ; यदाह चक्रपाणिः,—“ह्रिङ्गुसौवर्चलव्याघ्रै-
र्हिपलांशेषृताटकम् । चतुर्गुणे गवां मूत्रे सिद्धमुन्मादनाशनम् ॥” इति । ह्रिङ्गुदि-
सिद्धेन हृत्तेन सोढतं रसभञ्ज उन्मादापघ्नारं हन्यादिति ॥ ६० ॥

पञ्चचत्वारिंशत्तरसकल्पमाह, तथेति ।—मधूकं “महुया” इति ख्यातम् । कुनटी
मनःशिला । तार्क्ष्यं रसाञ्जनम् । पारावतमलं कपीतविट् । मधूकचूर्णादिसहित-
रसभञ्जकता अञ्जनवर्षः प्रयुक्ता उन्मादापघ्नारं हन्यादिति । चक्रदत्ते मधूकविरहित-

अथ पञ्चशतं षट्चत्वारिंशत्सकल्पः ।—

धान्यास्त्रिपिष्टाष्टमपिप्पलीकान् कार्पासवीजान् करमर्दनेन ।

आदाय तैलं मृतमृतयुक्तमाक्ष्णं प्रयुञ्जीत विशीर्णरोमिण ॥६२॥

अथ नेत्ररोगे सप्तचत्वारिंशत्सकल्पः ।—

बर्बूरान्स्वाक्सल्लाऽऽजपुरीषधूमैः

कासेक्षुराश्मवनितास्तनजेन घृष्टम् ।

भक्ष्णातधूपितरसाञ्जनमञ्जयित्वा

साभ्यञ्जनस्त्रपनमाक्ष्णं रुजं निहन्ति ॥६३॥

कुनड्यादिभिः अञ्जनविधिर्दृश्यते ; तथा च—“मनोहा तादृ्यञ्जैव शक्त्य पारावतस्य च । अञ्जनं हन्त्यपस्मारमुन्मादश्च विशेषतः ॥” इति ॥ ६२ ॥

षट्चत्वारिंशत्सकल्पमाह, धान्यास्त्रेति ।—धान्यास्त्रिपिष्टा अष्टमी अष्टमाशा पिप्पली यथा ताड्यान्, एवञ्च कार्पासवीजानां सप्त भागाः पिप्पल्याश्च अष्टमी भागः । करमर्दनेन पाणिभ्यां मर्दयित्वेत्यर्थः । “करमर्दनेन” इत्यत्र “करमर्दकेन” इति पाठे—करभ्रक्षलेनेत्यर्थः । विशीर्णरोमिण पञ्चशताख्ये नेत्ररोगे । काञ्जिकेन पिप्पली पिष्टा नेत्रं मृष्टं पिष्टकार्पासवीजं मिथौकुर्व्यात्, ततः काञ्जिकेनैव तदालोक्ष्य पाणिना मर्दयित्वा च तैलं गृह्णीयादिति ॥ ६२ ॥

सप्तचत्वारिंशत्सकल्पमाह, बर्बूरेति ।—बर्बूरः बल्लीलः “वाक्ला” इति भाषा, तथा निम्ब तथोः किमल किमलयः । धूमः शिङ्गः । कासः कासटणः ; “कास” इत्यत्र “कांभ्य” इति कश्चित् पाठः । इक्षुरः कीकिलाणः ; कासेक्षुरः इत्येकपदत्वे कासटणमित्यर्थः । अश्म स्वर्णमाक्षिकः । वनितास्तनजेन नारीपयसा । भक्ष्णातधूपितरसाञ्जनम् इत्यत्र रसाञ्जनशब्देन मृतरसकृतमञ्जनं बोध्यं, न तु रसाञ्जनं, रसकल्पत्वात् ; अञ्जयित्वा मञ्जयित्वा । साभ्यञ्जनस्त्रपनम् अभ्यञ्जनम् अभ्यङ्गः स्त्रपनं स्नानं तैलाभ्यङ्गपूर्वकस्नानमित्यर्थः । अथमत्र कल्पः,—मृतं मृतं स्वर्णमाक्षिकं शिला-रसञ्च बर्बूरान्स्वाक्सल्लयस्तेन अजापुरीषकाष्ठेन कासेक्षुरयोः काष्ठेन नारीकस्थेन च घृष्टा भक्ष्णातकधूमेन धूपयेत्, ततः तेनाञ्जयित्वा तैलाभ्यङ्गपूर्वकं क्षायादिति । “धूमैः” इत्यत्र “धूपैः” इति पाठे—बर्बूरादीनां धूपैः धूपितरसाञ्जनं तथा भक्ष्णातधूपित-रसाञ्जनमिति योजनायाम् ॥ ६३ ॥

अथ तिमिरं चष्टेचत्वारिंशत्तमरसकल्पः ।—

महाभेरीमूलं तुरगपृथुकास्वोधिकुवलं

रसो जम्बीरास्ते जयति तिमिरं काचमपि च ॥६४॥

अथ जाडो एकोनपञ्चाशत्तमरसकल्पः ।—

उपात्तं जीमूताद्रविजधरपर्णास्वसृदितात्

रसस्तैलं लेपादिह विविधजाड्यञ्च गुदजान् ॥६५॥

अथ केशकण्ठीकरणे महानीलतेलाख्यपञ्चाशत्तमरसकल्पः ।—

घटप्ररोक्षं पिण्डोत-मूलत्वक्कृष्णसैर्यकैः ।

केतकोस्तनिर्य्याम-शकलोतिफेलाजुनैः ॥६६॥

पृथक् दशपलैः साष्टं चतुर्दशेष्वपां पचेत् ।

अष्टभागावशिष्टेऽस्मिन् भृङ्गस्वरसपेषिते ॥६७॥

चष्टेचत्वारिंशत्तमरसकल्पमाह, महति ।—महाभेरी वचाविशेषः तस्या मूलम् । तुरगः अश्वगन्धा । पृथुका द्विजपर्णी । अस्वोधिः देशान्तरप्रसिद्धः ; “अस्वोधि” इत्यत्र “अस्वोधि” इति कल्पना सुगन्धाया ; अस्वोधिः समुद्रफेनः ; चतुष्टयत्वात् । कुवलं नीलोत्पलम् ; अचुष्टत्वात् । रसः मृत्तरसः । जम्बीरास्ते इत्यत्र छष्ट इति शेषः ॥ ६४ ॥

एकोनपञ्चाशत्तमरसकल्पमाह, उपात्तमिति ।—जीमूतात् घीषकवीजात् इत्यर्थः, रविजधरपर्णास्वसृदितात् रविजः अर्काक्षुरः, धरपर्णं गिरिपत्र गिरिनिम्बः इत्यर्थः, तथोरस्व, रसः ताभ्यां सृदितात् जीमूतात् तैलं तथा रस इत्यन्वयः कार्यः । रविजः अर्काक्षोरं धरः कार्पासमूलं पर्णं तास्वल्लम् इति काशतः ; “पर्णास्व” इत्यत्र “पर्णस्व” इति पाठे—रविजः जलम् “आदित्याज्जायते वृष्टिः” इति स्मरणात्, तस्य धरः जेषः, मुलकमित्यर्थः, पर्णं सप्तपर्णः तथोरस्व । गुदजानित्यस्य जयति इति धूर्ध्वोक्तितान्वयः ॥ ६५ ॥

पञ्चाशत्तमरसकल्पमाह, वष्टेति ।—घटप्ररोक्षं घटावरोद्धम् । पिण्डोतकः मदन-फलं, तद्वत्स्य मूलत्वक् । कृष्णसैर्यकः कृष्णपुष्प भग्यटोविशेषः, नीलभग्यटोति यावत् । केतकोस्तनिर्य्यामः केतकोस्तनः केतकोहृत्स्य स्तनाकारः अश्वविशेषः तस्य निर्यासः त्वक् क्षीरं वा ; “निर्यास” इत्यत्र “भृङ्गायः” इति क्वचित् पाठः । शकलो शकलम् आमलकं फलत्वेन अस्मासीति शकली आमलकपत्रम् । “भृङ्गस्वरसपेषिते” इत्यत्र

त्रिफलानील्ययसूर्यैः पृथक् द्विपलिकैर्युतम् ।

तैलाढकं समक्षीरं पक्त्वा मृतरसान्वितम् ॥६८॥

महानीलं समुद्दस्थं मण्डलं धान्यमध्यगम् ।

अभ्यङ्गविधियोगेन केशानां रञ्जनं परम् ॥६९॥

अथ त्रये एकपञ्चाशत्तमरसकल्पः ।—

त्रिफलापटोलमूलव्योषगुडूचीविडङ्गवीजानि ।

समगुग्गुलानि मारितरसमिलितानि व्रणघ्नानि ॥७०॥

अथ गन्धौ विपञ्चाशत्तमरसकल्पः ।—

गन्धीन् विलेपयेत्तेषां लेपात्—”

अथ समूरिकायां विपञ्चाशत्तमरसकल्पः ।—

“—मूलरसान्वितम् ।

नारिकेलोदकं तद्वत् पीतं हन्ति समूरिकाः ॥७१॥

विशेष्यपदाभावात् “भृङ्गस्वामपोषिते” इति पाठकल्पनं समीचीनम्; तथात्वे—
भृङ्गस्वामेन भृङ्गराजस्वामेन पोषिते संयोजनात् वर्जिते अस्मिन् काणे इत्यर्थः ।
त्रिफलानील्ययसूर्यैर्नाम प्रत्येकं द्विपलानां कल्कः । महानीलं केशानां काण्डातिशय-
सम्पादनान् महानीलन्याय्यं तैल समुद्दस्थं सप्ष्टस्थं मण्डलम् अष्टचत्वारिंशत्
दिनानि व्याप्य धान्यमध्यगं धान्यराशिमध्यस्थम् ॥ ६६—६९ ॥

एकपञ्चाशत्तमरसकल्पमाह, विफलिति ।—समगुग्गुलानि त्रिफलादिमिलितचूर्ण-
समगुग्गुलभागयुक्तानीत्यर्थः । अभ्यङ्गविधया प्रयोक्तव्योऽयं कल्पः ॥ ७० ॥

द्विपञ्चाशत्तमरसकल्पमाह, गन्धीनिति ।—तेषां त्रिफलादीनां मारितरसानानां
लेपात् गन्धीन् विलेपयेत् लिप्तान् स्नितानि च विलीनान् कुर्यादित्यर्थः, प्रसीरेष्व
सह एकीभूतान् कुर्यादिति फलितं, भिषक् इति शेषः । “विलेपयेत्” इत्यथ
“विलेपयेत्” इति कल्पना साध्वी । “विनाशयेत्” इति क्लृप्त पाठः ।
त्रिपञ्चाशत्तमरसकल्पमाह, मूर्जिति ।—मूलरसान्वितम् इति पदं नारिकेलोदक-
मित्यनेन सूच्यते; मूलरसान्वितं गोरटान्वितम् इक्षुमूलरसान्वितमित्यर्थः,
इक्षुमूलस्य भावप्रकाशे समूरिकाहरत्वदर्शनात् तथा द्रव्यगुणे “रक्तकृशातपित्तानां
नाशनः” “रक्ताक्षपित्तप्रशमनपटुः” इत्यादियुक्तदर्शनात् । तद्वत् रसमसृजन्
मृतरसः इक्षुमूलरस-नारिकेलोदकाभ्यां पीतः समूरिकाः हन्ति ॥ ७१ ॥

अथ सिधादी चतुःपञ्चाशत्तमरसकल्पः ।—

मञ्जिष्ठा श्वरोद्ववं तुवरिका लाक्षा हरिद्राद्वयं

नेपाली हरितालकुङ्कुमगदा गोरोचना गैरिकम् ।

पतं पाण्डु वटस्थ चन्दनयुगं कालियकं पारदं

पत्तङ्गं कनकत्वचं कमलजं वीजं तथा केशरम् ॥७२॥

सिक्थं तुल्यं लोहकिट्टं वसाज्यमाजं क्षीरं क्षीरवृक्षाख्यं चाग्नी ।

सिद्धं सिद्धयङ्गनौल्यादिनाशं वक्त्रच्छायामैन्दवीमाशु धत्ते ॥७३॥

अथ अस्थिसावे पञ्चपञ्चाशत्तमरसकल्पः ।—

कार्पासपल्लवानन्ता-रमतैलयुतो हितः ।

अस्थिसावे मृतरसो—”

॥७४॥

चतुःपञ्चाशत्तमरसकल्पमाह. मञ्जिष्ठेति ।—श्वरोद्ववं श्रावरोक्षीघ्नं श्वेतलोभ-
मित्यर्थः । तुवरिका सौराष्ट्रसृतिका । नेपाली मन्त्रशिला । गदा पाटलवृक्षः ।
वटस्थ पाण्डुपत्रं पारणतपत्रम् । चन्दनयुगं श्वेतरक्तभेदेन चन्दनद्वयम् । कालियकं
जम्ब्यागुरु ; “कालीयकम्” इति वाम्भटीपाठे—कालीयकाष्ठमित्यर्थः । पारदं मृत-
पारदमित्यर्थः । पतङ्गं “वक्त्रकाष्ठ” इति लोकि । कनकत्वचं चाम्पयत्वचम् ।
सिक्थं मधुच्छिष्टम् । वसाज्यमाजं क्षीरमित्यत्र वसाज्यं अपि भाजे एव
याम्ने. क्षीरमाहवर्थात् । क्षीरवृक्षाख्यं उडुम्बरत्वक्कायम् । अत्र वसाज्यं खेदः,
मञ्जिष्ठादीनां कल्कः, भाजक्षीरं खेदसमं. क्षीरवृक्षाख्यं च खेदचतुर्गुणं, सर्वं यथायथं
पक्तव्यम् । “सिक्थम्” इत्यारभ्य “धत्ते” इत्यन्तव्याने वाम्भटी—“सिक्थं तुल्यं
पद्मकाष्ठं वसाज्यं मज्जा क्षीरं क्षीरवृक्षाख्यं चाग्नी । सिद्धं सिद्धं यङ्गनौल्यादिनाशं
वक्त्रे च्छायामैन्दवीमाशु धत्ते ॥” इति पाठान्तरम् ; वाम्भटीकं “पद्मकाष्ठम्” इत्यत्र
“पद्मकाष्ठः” इति पाठे—पद्मकाष्ठः “पद्मकपण्डौ वृद्धितुर्गङ्गाः शशस्रता दशजीवन-
संज्ञाः” इत्युक्तगणः । अत्र वसाज्यमज्जाः खेदः, क्षीरं गव्यं खेदसमं, क्षीरवृक्षाख्यं
क्षीरपद्मकस्य काष्ठः । इतीयं सिद्धं सिद्धफलम् ॥ ७२।७३ ॥

पञ्चपञ्चाशत्तमरसकल्पमाह, कार्पासिति ।—अनन्ता अनन्तमूलम् । कार्पास-
पञ्चानन्तमूलयोः स्वरसः तिलतेलं मृतरसश्च सर्वमेतत् एकौक्यत्वेनैव विधया
प्रयोजयेदिति ॥ ७४ ॥

अथ विषे षट्पञ्चाशत्तमादिसकल्पषट्कम् ।—

“—विषे स्थावरजङ्गमे ।

तण्डुलीयकमूलेन वीरामूलेन वा युतः ॥

तण्डुलोदकसन्निधः पाननावनलेपने ॥७५॥

अथ विषे द्विषष्टितमरसकल्पः ।—

सुरभिश्छद्रसभावितकर्पूरसमन्वितो मृतः सृतः ।

स्थावरजङ्गमकृत्विमविषजिह्वञ्चामितो दध्ना ॥७६॥

अथ सर्पाविषे विषष्टितमरसकल्पः ।—

यक्षाक्षफेनिलरसोनकटुत्रयोद्या-

राजी-वराङ्गिबकुलं लकुचाम्बपिष्टम् ।

क्रायाविशोषितमिदं नरवारिष्टं

सर्पापहं सरसमञ्जनतस्त्रिवारान् ॥७७॥

अथ सर्पाविषे चतुर्षष्टितमरसकल्पः ।—

पिशाचः पञ्चवर्णस्य बीजं मूलं पुनर्नवात् ।

देवदाल्याः फलं मूलं मूलञ्च विषपर्णतः ॥

पेषितं नरमूत्रेण सर्वथाऽहिविषापहम् ॥७८॥

षट्पञ्चाशत्तमादे-एकषष्टितमरसकल्पषट्कमाह, विषे इति ।—तण्डुलीयक-
मूलेन स्वल्पमारिषमूलेन । वीरा क्षीरकाकोली, तण्डुलीयमूलचूर्णयुतः वीरामूल-
चूर्णयुतो वा मृतरसः तण्डुलोदकेन पानादिषु प्रयुक्तः स्थावरजङ्गमविषं हन्यात् ॥७५॥

द्विषष्टितमरसकल्पमाह, सुरभीति ।—गोमथरसेन समवारभावितकर्पूरयुक्तः ।
सेव्ययोगोऽग्रम ॥ ७६ ॥

त्रिषष्टितमरसकल्पमाह, यत्नेति ।—यक्षः षट्दन्तः । अक्षः बिभीतकः । फेनिलः
“रीठा” इति ख्यातम् । सद्यः वचा । राज्ञी रक्तमर्षपः । वरा श्वेतापराजिता,
विषहन्तीलातः तस्या चङ्गिः मूलम् । नरवारिष्टं नृमूत्रापष्टम् । सरसं मृतरस-
सङ्घितम् ॥ ७७ ॥

चतुर्षष्टितमरसकल्पमाह, पिशाच इति ।—पिशाचः शास्त्रोक्तः, तस्य त्वक् ;
“पिशाचः” इत्यत्र “पिशाचा” इति पाठात्तरम् ; “सर्पाविषा” इति कश्चित् पाठः ।
पञ्चवर्णस्य धुलूरस्य । विषपर्णतः देवताकृतं मूलं घोषकमूलमित्यर्थः । योगोऽस्मिन्
श्रुतत्वाऽपि प्राकरिष्यकत्वात् रसभागः प्रदातव्यः । अनेनापि नेत्राक्षमं कर्तव्यम् ॥७८॥

अथ उल्लुखविषे पञ्चषष्टितमरसकल्पः ।—

कपित्थपञ्चकं नीरं रसश्चाऽऽखुविषापहम् ॥७८॥

अथ वृश्चिकविषे षट्षष्टितमादिरसकल्पचतुष्टयम् ।—

कांस्थे ताम्बूल्या नागरं पिष्टमद्भिः

पत्रं शैरोषं पिप्पलो क्षागदुग्धैः ।

पत्रं कार्पासात् सपिषा वाऽपि लेपात्

सूतंनोपेतं वृश्चिकानां विषघ्नम् ॥८०॥

अथ विषदिग्धत्रये सप्ततितमादिरसकल्पद्वयम् ।—

भावितं चणकास्त्रेण वस्त्रमस्त्रेण मर्दयेत् ।

तेन वाकुचिचक्राह्व-कार्पासागस्तिपल्लवान् ॥८१॥

एकस्य लकुचस्यास्त्रे स्वरसेन रसेन यः ।

प्रक्षालितः प्रयात्येव विषदिग्धत्रयः शमम् ॥८२॥

पञ्चषष्टितमरसकल्पमाह, कपित्थेति ।—कपित्थपञ्चकं कपित्थस्य पञ्चपुष्पफलैः
सूतंनोपेतं नाम कपिचक्राह्वम् । नीरं बालकम् । रसं सूतपारदं, भक्षयेदिति शेषः,
लङ्घ्यम् आखुविषापहमिति योजनीयम् ॥ ७८ ॥

षट्षष्टितमरसकल्पादेकीनसप्ततितमरसकल्पमाह, कांस्थे इति ।—कांस्थे कांस्थः
भात्रे । ताम्बूल्या ताम्बूलरसेन । अडिरित्यत्र पत्रं शैरोषमित्यनेन सम्बन्धः ।
कल्पचतुष्टयेऽपि “सूतंनोपेतम्” इति पदं योजनीयम् ॥ ८० ॥

सप्ततितमरसकल्पमाह, भावितमिति ।—चणकास्त्रेण वस्त्रं वस्त्र-
खण्डमन्यथैः, भावितं, कुत्र्यादिति शेषः, “भावितं चणकास्त्रेण वस्त्रमस्त्रेण मर्दयेत्”
इत्यत्र “भावितचणकास्त्रेण रसः स्त्रेण विमर्दयेत्” इति कश्चित् पाठः । ततः तेन
वस्त्रेण, वाकुचादिपल्लवान्, अतरितान् कृत्वा इति शेषः, अस्त्रेण चास्त्रिकेन
मर्दयेत् । चक्राह्वः चक्रमर्दः । अथवा अस्त्रे चास्त्रिके, पिष्टयेति शेषः, एकस्य केवलस्य
लकुचस्य स्वरसेन । कल्पद्वयमेतत्, उभयत्रापि रसेन इति सम्बन्धनीयम् ; तथा
च—चणकास्त्रभावितातरितानां वाकुचादिपल्लवानामस्तिपल्लवानां स्वरसेन रस-
युक्तेन, तथा अस्तिपल्लवे केवललकुचस्य स्वरसेन रसयुक्तेन वा यः । विषदिग्धत्रयः
प्रक्षालितः, भवतीति शेषः, सः शमं प्रयात्येव इति ॥ ८१॥८२ ॥

अथ रसायने विमर्शितमरसकल्पः ।—

रसायनोक्तविधिना शुद्धो लब्धवत्तः पुनः ।

प्रातः प्रातः कणापथ्या-विश्वसैखवचित्कम् ॥८३॥

पौर्वा संरक्षणायाग्नेरौषदुष्णेन वारिणा ।

भृङ्गामलकनिर्यासे भावितं व्योमकान्तयोः ॥८४॥

भस्मायःसैम्पुटे धान्ये स्थापितं मधुसर्पिषा ।

खादेन्निशि कणापथ्या माममेकं तथा पुनः ॥८५॥

अथ रसायने विमर्शितमरसकल्पः ।—

पातनाभक्ष वा युक्तमथ सूतस्य भक्षना ।

जोर्णान्यहेनः पशमासाच्छतावर्या रसेन च ॥८६॥

विमर्शितमरसकल्पनाह, रसायनेति ।—रसायनोक्तविधिना शुद्धः पञ्चकर्म-
शुद्धः लब्धवत्तः पुनः शोधनानन्तरं संसर्जनादिकर्मण यदा जातवत्तो भवेत् तदा
इत्यर्थः ; “पुनः” इत्यत्र “पुमान्” इति कश्चित् पाठः । धान्ये धान्यराशिमध्ये
भाममेकं स्थापितमित्यन्वयः ; अतःपि व्योमकान्ताभ्यां सद्यः अनुक्तव्यापि रसस्य
भागी देशः, प्राक्तरणिकत्वात् इति ज्ञातव्यम् ; यदि वा—“सूतानि लोहानि
रसीभवन्ति” इति वचनेन रसोक्तेत्याभावेऽपि व्योमकान्तयोर्मध्ययोगात् अस्य
रसकल्पत्वं न विवक्ष्यमिति ज्ञातव्यम् ; किं वा “सूतस्य पातनाभक्ष वा” इति
वक्तृमाणेनान्वयः कार्यः । प्रातः कणादिचूर्णमग्निशालागुरुपमृणोदकेन पौर्वा
भृङ्गराजामलककाष्ठभावितं लोहपात्रे स्थितं लोहाभयोः भक्ष्यं माममेकं धान्यराशि-
मध्ये स्थितं रसभक्षणहितं मधुसृताभ्यां खादेत्, ततो निशि पुनरस्यवारिणा
कणापथ्याचूर्णं पिबेदिति ॥ ८३—८५ ॥

विमर्शितमरसकल्पनाह पातनेति ।—अथवा जोर्णान्यहेनः जोर्णे शोधित-
मित्यर्थः, अत्र स्वभाविकमात्रापेक्षया न्यूनं, श्रवणमिति यावत्, “तो ज्वरी
तत्र हेसतु” इति वचनेन यद्विशेष्यं पूर्णमानत्वात् ; हेनं तस्य भक्षना
युक्तम् ; “जोर्णान्यहेनः” इत्यत्र “जोर्णाभ्यहेनः” तथा “जोर्णान्यहेन” इति च
पाठान्तरद्वयम् ; सूतस्य पातनाभक्ष कर्षपातनावत्त्वयोगेन शोधनपूर्वकं भक्ष्यं ;
“पातनाभक्ष वा” इत्यत्र “पातनाभक्षना” “सूतनाभक्षना” इति कश्चित्
पाठः ॥ ८६ ॥

अथ रसायने चतुःसप्ततितमरसकल्पः ।—

त्रिफलां मधुमर्पिभ्यां खादिरासनभाविताम् ।

मृतहंमरसोपेतां भक्षयेद्भक्षयेज्जराम् ॥८७॥

अथ रसायने पञ्चसप्ततितमरसकल्पः ।—

गन्धकेन हतं सूतं कान्तं धात्रीरसेन च ।

त्रिफलासहितं खादेज्जीवेदाचन्द्रतारकम् ॥८८॥

अथ रसायने षट्सप्ततितमरसकल्पः ।—

चित्रकं त्रिफला भृङ्गा हरिद्राऽञ्जनपत्रिका ।

रसस्त्रिमधुरश्चापि जरावैरूप्यनाशनः ॥८९॥

अथ रसायने सप्तसप्ततितममाद्यश्रीतितमान्तरसकल्पः ।—

रसौषधीनां रसभावितानां सितायुतैः क्षीरमधूदकाज्यैः ॥९०॥

अथ रसायने एकाश्रीतितमरसकल्पः ।—

जरां रसो हन्ति च कान्तपात्रे क्षीरं मृतं काञ्चनपादपिष्ट्या ॥९१॥

चतुःसप्ततितमरसकल्पमाह, त्रिफलामिति ।—मृतहंमरसोपेतां खादिरासन-
भावितां त्रिफलां मधुमर्पिभ्यां भक्षयेत् इत्यन्वयः । षण्णसात् जरां भक्षयेत् इति वाक्यं
द्विसप्ततितमादिकल्पव्येऽपि योजनीयम् ॥ ८७ ॥

पञ्चसप्ततितमरसकल्पमाह, गन्धकेनेति ।—त्रिफलाचूर्णधात्रीरसाभ्यां सह रस-
खोदयोः भक्षणं कार्यम् ॥ ८८ ॥

षट्सप्ततितमरसकल्पमाह, चित्रकमिति ।—अञ्जनं रसाञ्जनम् । पत्रिका
जातीकोषः । त्रिमधुरः घृतमधुगुडरूपमधुरवयम् ; चित्रकादिरसान्तं सर्वं त्रिमधुरेणाव-
लेख्यम् ॥ ८९ ॥

सप्तसप्ततितमादिरसकल्पचतुष्टयमाह, रसौषधीनामिति ।—रसभावितानां
विदाय्यामलकादीनां रसायनद्रव्यसमूहानां सर्पात्यादीनां रसमारकद्रव्यसमूहानां
वा रसेन भावितानां, रसौषधीनां पारदसंयुक्तौषधानाम् ; सितायुतेरितं पदं
क्षीरादिभिः प्रत्येकेन संश्रियनीयम् ; तथा च—सिताक्षीराभ्यां सितामधुभ्यां सितो-
दकाभ्यां सिताज्याभ्यां वा सह इत्यर्थः, प्रयोग इति शेषः, जरां हन्ति इति
परिहान्वयः । कल्पचतुष्टयमेतत् ॥ ९० ॥

एकाश्रीतितमरसकल्पमाह, जरामिति ।—रसः मृतरसः । कान्तपात्रे काञ्चनपाद-

अथ रसायने वज्रस्ररसाख्याः दशशतितमरसकल्पः ।—

क्षेत्रीकरणमित्युक्तं वज्रभस्मममं रसम् ।

हंसपादोरसैर्घृष्टं विपचेत्तत् पुटानले ॥८२॥

तुल्यमन्यं रसं तेन पूर्ववन्मर्दितं पचेत् ।

यावच्छक्यं चतुर्थांश-मानेन रसभस्मना ॥८३॥

अन्नपिष्टेन मौवर्णं पत्रमालिष्य मारयेत् ।

राजिकाडार्द्धमारभ्य यावन्माषं विवर्द्धितः ॥८४॥

पिष्ट्वा काञ्चनपादस्य पादमितकाञ्चनस्य ; पादमितत्वाद्यं क्षीरापेक्षया बौद्धव्यं,
पिष्ट्वा अक्षिकया । मृतरसः कान्तपात्रे काञ्चनचक्रिकया शतक्षीरेषालोच्य
पेयः इति ॥ ८१ ॥

दशशतितमरसकल्पमाह, क्षेत्रीकरणमिति ।—क्षेत्रीकरणं देहस्य रसवीर्यसङ्ग-
नक्षत्रीकरणमित्यर्थः, वज्रभस्मरससेवने देहः रसवीर्यसङ्गनक्षत्री भवतीत्याशयः ।
रसेन्द्रचित्तामणौ क्षेत्रीकरणमुक्तं, तद्वद्वया—“सिग्धं स्निग्धं विरिक्तं यन्नीरुजं
मिडभेषजैः । एतत् स्निग्धं समासेन रसवीजार्पणचमसम् ॥ सिग्धं प्रातस्त्रिदिनं
घृतमेतद्वपानेन । विरिक्तमिच्छामेदिना वान्तवचादिरसेन ॥ पलाशबीजं विडङ्गं
गुडगोदकभक्षणान् कोटपातनम् । नीरुजं संवत्सरमयनं वा परिगालितेः ॥
शङ्कराभ-लज्जीविलासाद्यरसप्रधानप्रयोगैः । इति गुडो जातवल्गुः शाल्योदन-
जाङ्गलादिमुद्धरमेः ॥ क्षेत्रीकृतनिगर्दः कुर्वीत रसायनं सतिमात्रम् । अकृते चक्षी-
करणे रसायनं यो नरः प्रयुज्यते ॥ तस्य ज्ञासति न रसः राशौद्धोपकृत भवति ।
घनसत्त्वपादजोर्धोर्द्धकालाकारं यत्तौल्यमसजीर्यः ॥ क्षेत्रीकरणाय रसः प्रयुज्यते भूयः
आरोग्याय ॥” इति । अथैव एसादशोऽप्युक्तं यथा—“सुशोधितरसः सम्यगारोह
इति कथ्यते । स क्षेत्रीकरणे श्रेष्ठः शनेर्व्याधिनिनाशनः ॥” इति । तत् वज्रभस्मममं
रसम् । तुल्यमिति ।—तेन पूर्वोक्तैरसभस्मना तुल्यम् अन्यं रसं पारदं, पूर्ववत्
मर्दितं हंसपादोरसैर्घृष्टं यावच्छक्यं यावन्तं पुटं दातुं शक्नुयात् तावत् पचेत्, पुटानले
इति शेषः ; यद्वा—अन्यं रसं सद्धारसोपरसादिकं यावच्छक्यं यावत्कालं पुटं दातुं
शक्नुयात् तावत्कालं पूर्ववत् मर्दितं पचेत् । चतुर्थांशमानेन इति पदं सौवर्णपत्रापेक्षया
बौद्धव्यम् । रसभस्मना पूर्वोक्तदिशा भक्षीकृतेन रसेन ; “रसभस्मना” इत्यत्र “अनेन
भस्मना” इति कश्चित् पाठः । राजिकाडार्द्धं राजिकायाः सर्वपल चर्द्धस्य चर्द्धं

चित्तकार्द्रकसिन्धूत्य-तौक्ष्णासौवर्चलैः सञ्च ।

मेवितः पलपर्यन्तं रसोऽयं वज्रपञ्चरः ॥

शरण्यः परिभूतानां व्याधिवाहकमृत्युभिः ॥८५॥

अथ रसायने पञ्चासृतरसाख्यः त्र्यशीतितमरसकल्पः ।—

हेममार्त्तिककान्ताभ्र-वज्रभस्म प्रवेशयेत् ।

रसे सहेन्नि सप्ताहं मूलिकारसमर्दिताम् ॥८६॥

तां पिष्टिं यन्त्रयोगेन पचेत् पञ्चासृताङ्गयः ।

रसोऽयं मधुसर्पिभ्यां युक्तः पूर्वाधिकी गुणैः ॥८७॥

अथ रसप्रयोगे उपचारविधिः ।—

घनसारचतुर्जात-कक्कोलं कटुकीफलम् ।

फलं ताम्बूलवल्लीनां रसस्थाऽऽक्रमणं परम् ॥८८॥

राजिकापादमित्यर्थः । विवर्द्धितः प्रतिदिनं राजिकापादक्रमणं वर्द्धित इत्यर्थः ।
तौक्ष्णा वचा । पलपर्यन्तं राजिकापादमारभ्य प्रतिदिनं पादद्वन्द्विकमेव माषं यावत्
वर्द्धयेत्, एवं यावत्कालसंवनेन मिलित्वा पलमात्रं पुर्यते तावत् सेवेत । अयमर्थः,
—आदौ वज्रभस्मना तुल्यं रसं हंसपादो रसेः पटुपाकं कुर्यात्, ततः तेन रसभस्मना
सह समपरिमितमस्य रसं पूर्ववत् पच्येत्, ततः स्वर्णपत्रापेक्षया चतुर्धांश्च चस्म-
पिष्टेन तेनैव रसभस्मना सह मारितं सुवर्णभस्म चक्रकादाभिः सह यथोक्तमानेभ्यः
प्रयोजयित्वा दत्तं निष्कर्षः ॥ ८२—८५॥

त्र्यशीतितमरसकल्पमाह, हेममार्त्तिकेति ।—हेममार्त्तिकं स्वर्णमार्त्तिकम् ।
स्वर्णमार्त्तिकभस्मादिकं सहेन्नि रसं पूर्वप्रदर्शितविधिना रसभस्मालिप्तस्वर्णपत्रकृतभस्मानि
प्रवेशयेत् । मय्येवोदित्यर्थः । सप्ताहं मूलिकारसमर्दितां सर्पाद्यादीनां रसमूलिकानां
रसेन सप्ताहं मर्दितां तां पिष्टिं हेममार्त्तिकदिक्कतां चक्रिकाम् । पूर्वाधिकः
वज्रपञ्चरोक्तगुणादप्यधिकः ॥ ८६-८७ ॥

रसवेद्यायाम् उपचारविधिमाह, घनसारः ।—घनसारः कर्पूरः । कटुकीफलं
क्षताकलूषीवोजम् ; “कटुकीफलम्” इत्यत्र “कटुकं फलम्” इति पाठे—कटुकं
विषकटुकं फलं विफला जातीफलं वा । फलं ताम्बूलवल्लीनां गुणाकफलमित्यर्थः ;
“फलं ताम्बूलवल्लीनाम्” इत्यत्र “फलं ताम्बूलवल्ली च” इति पाठकल्पना सुगमा ;
सषाले—फलं जातीफलम् । ताम्बूलवल्ली पञ्चखता । रसस्य परम् आक्रमणं

मुञ्जोत शालिगोधूम-यवषष्टिकजाङ्गलम् ।

मुद्गयूषं गवां क्षीरं मस्तु स्नायात् सुखाश्रमा ॥

रूपयौवनसम्पन्नमनुरूपां प्रियां भजेत् ॥८८॥

अथ रससेवने अपथ्यानि ।—

अभ्यङ्गं कटुतैलेन काञ्चीतैलं सुरां दधि ।

कालिङ्गकारवेङ्कान्न-लशुनासुरिमूलकम् ॥१००॥

हिदलं विख्ववार्त्ताकं कृत्वाकं काकमाचिकाम् ।

सङ्गमं मर्दनं रात्रौ जागरं स्वपनं दिवा ॥१०१॥

अत्यम्लतिक्तलवणं स्वादूष्णं शिशिरोषधम् ।

शोकवातातपक्रोध-चिन्ताञ्च परिवर्जयेत् ॥

साहसं रसलोहानां मारकञ्च विशेषतः ॥१०२॥

अथ निषिद्धद्रव्यव्यवहारं दोषः ।—

सेवया परिहार्याणां रसस्याजरणा भवेत् ।

शूलो नाभितले जाड्यं निद्रालस्यं ज्वरस्तमः ॥

अङ्गभङ्गोऽरुचिर्दाहः—”

॥१०३॥

सञ्चारणं, रससेवने एतेषां सेवनं रसवीर्यस्य शीघ्रं सर्वदेहे विक्षेपकरमित्यर्थः ।

सुखाश्रमा ईषदुष्णोदकेन । मुद्गयूषः अखण्डितमुद्गकृतयूष इति बोध्यं, परत्र हिदलमिवेषात् ॥ ८८।८९ ॥

अपथ्यमाह, अभ्यङ्गमिति ।—काञ्चीतैलं काष्ठीकविशेषः । कालिङ्गं “तरमुज” इति ख्यातम् । आधुरिः राजिका । हिदलमिति मुद्गादव्यत् मसूरादिकमित्यर्थः, विदलीकृतमुद्गादिकमित्यर्थो वा । कृत्वाकं भुञ्जवाकं, स्वेदनः शाकविशेषः इति यावत् । रसलोहानां मारकं रसमारकद्रव्यगणं लौहमारकद्रव्यगणञ्च विशेषतः वर्जयेत् ॥ १००—१०२ ॥

निषिद्धसेवने दोषानाह, सेवयेति ।—अजरणा जरणाभावः, सेवितो रसो न वीर्यतीत्यर्थः ॥ १०३ ॥

अथ निषिद्धद्वयव्यवहारजदोषे प्रतीकारः ।—

“—पिबेत्तत्र दिनत्रयम् ।

सौवर्चलं मगोमूत्रं कर्कोटीमूलवारिणा ॥

मातुलङ्गस्य वाऽस्त्रेण माणिमय्यं सनागरम् ॥१०४॥

अथ नागवङ्गयुक्तरससेवने प्रतीकारः ।—

नागवङ्गयुतः सूतः प्रमादाद्भक्षितो यदि ।

सैन्धवं कारवेक्षस्य कन्दं मूत्रैः पिबेद्भवाम् ॥१०५॥

कर्कोटीगरुडौपथ्या-शरपुङ्खैर्विपाचितैः ।

अष्टभागावशिष्टं वा गोमूत्रं सैन्धवान्वितम् ॥१०६॥

यत् क्षेत्त्रौकरणं पूर्वं वेधकञ्च रसं ततः ।

सेवेत तस्य मिद्धिः स्यादन्यथा मरणं भ्रुवम् ॥१०७॥

अथ रसायने मृतमञ्जीवन्याय्यः चतुरशीतितमरसकल्पः ।—

कान्ताभ्रताप्यसत्त्वानां वज्रहेम्नो रसस्य च ।

सप्ताहमस्त्रपिष्टानां गोलके लेपितेऽन्वहम् ॥१०८॥

गोजिह्वावायसौपथ्या-निर्गुण्डोमधुमैन्धवम् ।

स्त्रिमे भूधरयन्त्रस्थे पक्षात् कठिनतां गते ॥१०९॥

निषिद्धद्वयसेवनजदोषे प्रतीकारमाह, पिबेदिति ।—माणिमय्यं सैन्धवम् ॥१०४॥

अथ उपारदसेवने प्रतीकारमाह, नागेति ।—नागवङ्गयुतः सम्यक्शोधनाभावात्
अनपगतनेसर्गिकनागवङ्गदोषः । मूत्रैरिति पदं कर्कोट्यादिविपाचितैरित्यन्तश्चोकाह-
नान्वीयते । गरुडी गरुडौ । विपाचितैरिति पदं विभक्तिविपर्ययासेन विपाचित-
मिति पठित्वा अष्टभागावशिष्टं गोमूत्रमित्यनेन सम्यग्विधीयम् । “विपाचितैः” इत्यत्र
“विपाचितम्” इति कश्चित् पाठः । ततः नागवङ्गदोषयुक्तरससेवनजनितदोष-
शोधनाय सैन्धवादिशोधयान्वतरयोगसेवनानन्तरं यत् यं क्षेत्त्रौकरणं क्षेत्त्रौकरणयोग्यं
सम्यक्शोधितमित्यर्थः, वेधकं वेधाख्यसंस्कारसंस्कृतञ्च रसं पूर्वम्, उक्तमिति शेषः, तं
सेवेत इत्यन्वयः ॥ १०५—१०७ ॥

चतुरशीतितमरसकल्पमाह, कान्तेति ।—सप्ताहम् अस्त्रपिष्टानां काष्ठिकपिष्टानां
कान्तादोषां गोलके, तथा अन्वहं प्रतिदिनं, सप्ताहमित्यर्थः, गोजिह्वादिरसं मधु-
सैन्धवञ्च, दत्त्वा दत्त्वा इति शेषः, लेपिते, भूधरयन्त्रस्थे स्त्रिमे कठिनतां गते भूधर-

यवचिञ्चापलाशाक्ष-राजिकापांसतण्डुलैः ।

आवर्त्तितान्तर्लिप्तायां मूषायां खटिराग्निना ॥११०॥

टङ्गणं श्वेतकाचञ्च दत्त्वा दत्त्वा विशोषिते ।

मूषायां विड्योगेन ममांशं हेम जारयेत् ॥१११॥

संवत्सरं मुखधृता मृतसञ्जीवनी मता ।

गुटिका शुक्रस्तम्भं कुकते हरते च जरामरणम् ॥११२॥

अथ बाओकरणे मदनवर्द्धभाव्यः पञ्चाशोतितमरसकल्पः ।—

समचीर्णजोर्णहेममाक्षिकयोगेन मारितो वृष्यः ।

घृतमधुशतावरीरसदग्धयुतो मदनवर्द्धनः सूतः ॥११३॥

अथ बाओकरणे षडशोतितमरसकल्पः ।—

लोहितागस्थसारेण कृष्णरन्ध्राफलद्रुतम् ।

रसञ्च घनसारञ्च पीत्वा स्त्रीषु वृषायते ॥११४॥

यन्त्रये तस्मिन् गोलके खिन्ने पके कठिभतां गते च खेदादेव काठिभं प्राप्ते सति, पश्चात् पश्चाद्दे, यवचिञ्चा ओरिणी, अथः विभीतकः, राजी राजिका, कापानं कापामभीमं, तण्डुलं तण्डुलीयशाकं तै, आवर्त्तितान्तर्लिप्तायां मर्दितयवचिञ्चादिभिः लिप्तादरायां मूषायां, मस्याप्येति शेषः, टङ्गणं तथा श्वेतकाचं सोरकं गुभकाचसूचं वा, दत्त्वा दत्त्वा किञ्चित् किञ्चित् प्रक्षिप्य, खटिराग्निना खटिरकाष्ठाकारेण विशोषिते मूषाया पूर्वाक्तायामिव विड्योगेन रससारकाष्ठसङ्घकारेण ममांशं गोलकतुल्यं हेम स्वर्णे जारयेत्, अनन्तरं गुटिकाकारं कृत्वा स्थापयेदिति । “गुटिका शुक्रस्तम्भं कुकते हरते च जरामरणम्” इति पाठस्य भयवृत्ततादिदोषदुष्टत्वात् “स्तम्भाति गुटिका शुक्रं हरते मरणं जराम्” इति पाठकल्पनं सङ्गतम् ॥ १०८—११२ ॥

पञ्चाशोतितमरसकल्पमाह, समेति ।—समः तुल्यः मृततुल्य इत्यर्थः, चीर्णः सञ्चितः, गृहीतः इत्यर्थः, जोर्णं जारितश्च यः हेममाक्षिकः तद्व्योगेन मारितः सूतः इत्यन्वयः ॥ ११३ ॥

षडशोतितमरसकल्पमाह, लोहितेति ।—लोहितागस्थसारेण रक्तवक्रपुष्पस्वरसेन । कृष्णरन्ध्राफलद्रुतं कृष्णवर्णकटलीफलनिर्यांसम् । घनसारं कर्पूरम् । कृष्णरन्ध्रादिभिर्युक्तमभागं रक्तवक्रस्वरसेन पिवेदिति ॥ ११४ ॥

अथ रसायने सन्दिधान् प्रति उक्तिः ।—

युगस्वभावात् यदि चोषधीनां क्रियासु शक्तिः परिकल्पतेऽस्या ।
आयुर्वेलादिष्वपि सा तथेति तस्मान्निषेधानि रसायनानि ॥ ११५ ॥
न चोषधीनामपि सर्वथैव प्रभावहानिः परिकल्पनीया ।
फलं प्रयात्युद्धेमधस्त्रिहृच्च प्रत्यक्षतः कस्य न मिदमेतत् ? ॥ ११६ ॥

अथ चोषधानां गुणदोषवत्त्वे प्रयोक्तुः श्रुताश्रययोः हेतुता ।—

अदेशकालोपहितानि सात्त्विकान्यत्युष्णतौक्ष्णानि यथौषधानि ।
नाशं नयन्ते सहसैव देहं सम्यक् प्रवृत्तानि यथैव वृद्धिम् ॥ ११७ ॥
जित्वा तस्मादिन्द्रियादिप्रदुष्टान् कालोपेतः श्रद्धधाना यथावत् ।
आयुष्प्रज्ञातजसां यद्विद्वद्भ्यो वीर्योपेतं शीलयेदौषधं तत् ॥ ११८ ॥

अथ आचाररसायनम् ।—

शास्त्रानुसारिणो चर्या चित्तज्ञाः पार्श्ववर्त्तिनः ।

बुद्धिरस्वललिताऽर्थेषु परिपूर्णं रसायनम् ॥ ११९ ॥

ये खलु विश्वव्याप्याः सततमेवं ब्रुवन्ति यत् इदानीमौषधयः अल्पवीर्याः मज्जाताः
न ताभिः किञ्चिन् फलं लभ्यते. सुतरां प्रयोगलाभा निष्फलः, तान् प्रत्याह, युग-
स्वभावादिति ।—आयुर्वेलादिष्वपि इत्यत्र आदिपदं न अग्रिमप्रतीतिना यदर्थं, सा तथा
शक्तिरस्या जाता ; अत्यायुक्तादिके पुंसि अल्पशक्तिकमेवौषधं प्रयोक्तव्यं, न महावीर्यं
सोदुग्धमशक्त्वात् । फलं मदमफलम् ऊर्ध्वं प्रयाति वामयतीत्यर्थः ॥ ११५।११६ ॥

चौषधानां फलप्रदत्वे प्रयोक्तुः विश्वव्यापारितायाः हेतुतामाह, अदेशेति ।—
अदेशकालोपहितानि तत्तदौषधप्रयोगानर्हे देशे काले च प्रयुक्तानित्यर्थः मिथ्योप-
पुक्तानीति यावत् । सात्त्विकानि प्रकृतिमुखावहान्यपीत्यर्थः । सम्यक् प्रवृत्तानि देश-
कालोपदिक् विभज्य यथायथं प्रयुक्तानि । “यथैव” इत्यत्र “तथैव” इति पाठकल्पना
साधीयसी । इन्द्रियादिप्रदुष्टान् कामक्रोधादीन् मानमुदोषानित्यर्थः । कालोपेतः
अनतीतौषधप्रयोगकालः ॥ ११७।११८ ॥

इदानीमाचाररसायनमाह, शास्त्रेति ।—शास्त्रानुसारिणो चर्या शास्त्रविहिता-
चारानुष्ठानम् । चित्तज्ञाः इक्षितज्ञाः पार्श्ववर्त्तिनः सहचराः, तुल्यश्रीलाः सखाय
इत्यर्थः । अर्थेषु इन्द्रियार्थेषु अस्वललिता अप्रमत्ता, न विपर्यया बुद्धिः, रूपादिषु

दानं शीलं दया सत्यं ब्रह्मचर्यं कृतज्ञता ।

रसायनानि मैत्री च पुण्यायुर्वेदिकृत्तणः ॥१२०॥

अथ आयुर्वेदोपदेशस्य अथश्रृङ्गपात्रभीयवोक्तिः ।—

एतदागमसिद्धत्वात् प्रत्यक्षफलदर्शनात् ।

मन्त्रवत् सम्प्रयोक्तव्यं न मीमांस्यं कथञ्चन ॥१२१॥

अथ कुवेद्याना वर्जनीयवोक्तिः ।—

लोभयन्त्यातुरं मूर्खा विचित्रैः कर्मकौशलैः ।

तेभ्यो रक्षेत् सटाऽऽत्मानमात्मा यस्मात् सुदुर्लभः ॥१२२॥

ते घृणाक्षरवत् कश्चिदप्याप्य नियतायुषम् ।

घ्नन्ति वेश्याभिमानेन शतान्यनियतायुषाम् ॥१२३॥

अज्ञातशास्त्रनडावान् शास्त्रमात्रपरायणान् ।

तान् वर्जयेद्भिषक्पाशान् पाशान् वैवस्वतानिव ॥१२४॥

अनासक्तत्वात् जितेन्द्रियत्वम् इत्यर्थः । परिपूर्णं रसायनं रसायनयोगसेवनमन्तरिणापि एतत् सर्वं रसायनफलप्रदं भवेदित्यर्थः । मैत्री सर्वभूतेषु मित्रबुद्धिः । गणः एष दानादिसमूहः । पुण्यायुर्वेदिकृत्त, अत एव रसायनानि दानादिसम्पन्नाः पुण्याः नित्यमेव रसायनफलमजरत्वादिकं समश्नुवन्ति इत्यर्थः ॥१२०।१२०॥

आयुर्वेदोपदेशस्य रसायनस्य च अथश्रृङ्गपात्रभीयत्वमाह, एतदिति ।—एतन् आयुर्वेदानुशासनं रसायनं वा । न मीमांस्यं कथञ्चन युक्त्यादिप्रदर्शनपुरःसरं समूलकत्वामूलकत्वे विश्वसनीयत्वाविश्वसनीयत्वे च न स्थापनीये इत्यर्थः ; उक्तञ्च—“पुराणं मानवी धर्मः साङ्गी वेदश्चिकित्सितम् । आश्वासिद्धानि अत्वारि न हन्त्यानि धृतुभिः ॥” इति ॥ १२१ ॥

कुवेद्याना दोष वर्जनीयत्वमाह, लोभयन्तीति ।—मूर्खाः वेश्याभिमानिनः अज्ञाः इत्यर्थः, भिषक्कुञ्जचरा इति यावत् । विचित्रैः अद्भुतैः मोहजनकरित्यर्थः, कर्मकौशलैः चिकित्साकर्मेषु आत्मनी नैपुण्यव्यापनेरित्यर्थः । ते मूर्खवैद्याः घृणाक्षरवत् घृणाक्षर-त्वायेव घृणाव्यकाङ्क्षकोटिकोणाक्षरवत्, नियतायुषम् आयुष्मन्तं कश्चित् प्रातुभू-त्यप्याप्य रोगादुत्तार्य वेश्याभिमानेन अहं सुवेद्यः अमुकसमृक्करोयादुदतारयिष्यामिति गर्वय । शास्त्रमात्रपरायणान् शास्त्रनिविष्टवर्णसौमसावधारणशीलान्, किन्तु अज्ञात-शास्त्रनडावान् अज्ञातः शास्त्राणाम् आयुर्वेदादितत्त्वाणां, सद्वारः प्रकृताभिप्रायः, निगूढार्थः इति ज्ञावत्, येनान् शास्त्रममानिभिज्ञान्, भिषक्पाशान् कृत्स्नतो भिषक्

अथ शास्त्रज्ञवैद्यस्य साफल्योक्तिः ।—

प्रदीपभूतं शास्त्रं हि दर्शनं विपुला मतिः ।

ताभ्यां भिषक् सुयुक्ताभ्यां चिकित्सनापराध्यति ॥ १२५ ॥

भिषक्पाशः तान् कुर्वेद्यान् वैवस्वतान् पाशान् यमपाशानिव, जीविताकर्षकत्वात् । चरकेणाप्युक्तं—“सुतदृष्टक्रियाकाश-साक्षाद्व्यानवद्विष्कृताः । वर्जनोया हि ते मृत्योचर-
त्यमृचरा भुवि ॥ तृप्तिहेतोर्भिषक्ष्यान पूर्णान् मूर्खविशारदान् । वर्जयेदातुरो विद्वान्
मर्पाको पीतमादताः ॥ ये तु शास्त्रविदो दद्याः शुचयः कर्मकीविदाः । जितहस्ता
जितात्मानः तेभ्यो नित्यकृतं नमः ॥” इति । अन्यच्च—“वरमात्मा हुतोऽग्ने न
चिकित्सा प्रवाञ्चता । पाणिचारादयथाऽचक्षुरज्ञानादृभीतभीतवत् । नौमोदतवशीबाहो
भिषक् चरति कर्मसु ॥ यद्वक्तव्यं समापन्नमृतायै नियतायुषम् । भिषक्षानी
निहन्त्याश्च श्रतान्वनियतायुषाम् ॥” इति ॥ १२२—१२४ ॥

अधिगतशास्त्रार्थस्य धीमतो भिषजः चिकित्सिते साफल्यं दर्शयति, प्रदीपभूत-
मिति ।—शास्त्रं शास्त्राभ्यासः, प्रदीपभूतं प्रदीपस्वरूपम्, अज्ञानतमोनाशकत्वात् ।
विपुला मदतो, ऊढापोढवती, मतिः बुद्धिः दर्शनं नेवभूतम् । सुयुक्ताभ्यां श्रोभनं
यथा तथा भित्तिनाभ्यां ताभ्यां शास्त्रमतिभ्यां, न केवलं शास्त्रं न वा केवलां मतिं,
किन्तु शास्त्रमात्ममतिश्च उभयमेव परमाणीकृत्य इत्यर्थः । दोषाभावे चतुष्पतोऽपि यथा
ज्ञानं न सम्भवति, यथा च दीपमत्वेऽपि चतुर्विहीनस्य न ज्ञानं जायते, किन्तु दीप-
चक्षुषोरुभयोरिव युगपदग्रहीतौ ज्ञानं भवति, एवमनधीतायुर्वेदः विपुलमतिरपि
अथवा अधीतायुर्वेदोऽपि मूढधीश्चेत् न सुचिकित्सां कर्तुमर्हति, किन्तु ऊढापोढ-
पूर्वकं शास्त्रमाश्रित्य चिकित्सन् चिकित्सां कुर्वन् अपराध्यति आतुरेषु न प्रमादयति,
साध्यरोगिणमवश्यमेव रोगेभ्यः प्रमोचयतीत्यर्थः । चरकेणाप्युक्तं—“तस्माच्छास्त्रेऽर्थ-
विज्ञाने प्रवृत्तौ कर्मदर्शने । भिषक् चतुष्टये युक्तः प्राणाभिवर सच्यते ॥ हेतो
क्षिप्ते प्रशमने रोगाणामनुभवे । ज्ञानं चतुर्विधं यस्य स राजाहो भिषक्तमः ॥
शस्त्रं शास्त्राणि सलिलं गुणदोषप्रवृत्तये । पात्रापेक्षीकृतः प्रज्ञा चिकित्सा च विशेष-
येत् ॥ विद्या वितर्का विज्ञानं क्षुतिस्तत्परता क्रिया । यस्मै ते षड्गुणास्तस्य न
साध्यमतिवर्तते ॥ विद्या मतिः कर्मदृष्टिरभ्यासः सिद्धिराश्रयः । वैद्यशब्दाभि-
निर्यतावलमिकेकमप्यदः ॥ यस्य त्वेते गुणाः सर्वे सन्ति विद्यादयः शुभाः । स
वैद्यशब्दं सङ्गतमर्हन् पाणिमुखापदः ॥ शास्त्रं ज्योतिःप्रकाशार्थं दर्शनं बुद्धिरात्मनः ।
ताभ्यां भिषक् सुयुक्ताभ्यां चिकित्सनापराध्यति ॥” इति ॥ १२५ ॥

अथ चिकित्सायाः विवर्गसाधकत्वोक्तिः ।—

क्वचिदर्थः क्वचिन्मैत्री क्वचिद्धर्मः क्वचित् यशः ।

क्वचिदभ्यामयोगश्च चिकित्सा नास्ति निष्फला ॥१२६॥

अथ कुवेद्यस्य निरयभाक्त्वोक्तिः ।—

ये क्रियां विक्रियां कुवेत्युपेक्षन्ते स्वल्पान्ति वा ।

स्वादन्ति ते परप्राणान् निजानि सुकृतानि च ॥१२७॥

अथ यावच्छासं चिकित्सायाः कर्त्तव्यत्वोक्तिः ।—

यावदृच्छसिति प्राणो यावद्वैषजमस्ति च ।

तावच्चिकित्सा कर्त्तव्या देवस्य कुटिला गतिः ॥१२८॥

अथ वेदातुरथोरन्धोऽन्यकर्त्तव्यनिर्देशः ।—

अनाथान् रोगिणो वैद्यः पुत्रवत् समुपाचरेत् ।

प्राणाचार्यश्च पितृवत् सम्पूज्यः शक्तिभक्तितः ॥१२९॥

अथ वेदानां सुलभाजीवत्वनिर्देशः ।—

न प्राणिरहितो देशो न च प्राणी निरामयः ।

तस्मात् सर्वत्र भिक्षां कल्पिता एव वृत्तयः ॥१३०॥

चिकित्सायास्त्रिवर्गसाधकत्वमाह, क्वचिदिति ।—सुगमम् ॥ १२६ ॥

कुवेद्यस्य निरयभाक्त्वमाह, ये इति ।—क्रिया विक्रियाकर्म्म, विक्रियां विपरीतां दूषितानित्यर्थः, अज्ञानादिति शेषः । उपेक्षन्ते, क्रियाकालमातुरं वा इति शेषः, अत्रापि अज्ञानादिति शेषो बोध्यः, एवमुत्तरचाप । स्वल्पान्ति प्रमाद्वान्ति, चिकित्सायास्त्विति शेषः ॥ १२७ ॥

यावच्छासं चिकित्सायाः करणीयत्वमाह, यावदिति ।—स्पष्टम् ॥ १२८ ॥

वेदातुरथोरन्धोऽन्यकर्त्तव्यमाह, अनाथानिति ।—प्राणाचार्यः प्राणानां गच्छतां हितोपदेशादिना रक्षणात् आचार्य इव आचार्यः, “शीलवान् मतिमान् युक्तः विज्ञातिः शास्त्रपारगः” इत्येवं-लक्षणकः भिक्षानित्यर्थः । यदृक् चरके—“शीलवान् मतिमान् युक्तः विज्ञातिः शास्त्रपारगः । प्राणिभिर्गुह्यवत् पूज्यः प्राणाचार्यः स हि श्रुतः ॥” इति । शक्तिभक्तितः शक्तिं भक्तिद्यानतिक्रम्य, भक्तिपूर्वकं यथाशक्तं इत्यर्थः ॥ १२९ ॥

वेदानां सुलभाजीवत्वमाह, नेति ।—सुगमम् ॥ १३० ॥

अथ पुरातनवर्णनद्वारा वैद्यस्य सर्वपूज्यत्वनिर्देशः ।—

यज्ञस्य च शिरश्छिन्नमश्विभ्यां सन्धितं पुरा ।
 पातिता दशनाः पूष्णी भगस्य च विलोचने ॥१३१॥
 राजयक्ष्मादितश्चन्द्रस्ताभ्यामेव चिकित्सितः ।
 भार्गवश्चावनः कामौ वृद्धः सन् विकृतिं गतः ॥
 वीर्यवर्णबलोपेतः कृतस्ताभ्यां पुनर्युवा ॥१३२॥
 एभिश्चान्यैश्च बहुभिः कर्मभिर्भिषगुत्तमौ ।
 बभूवतुर्भृशं पूज्याविन्द्रादीनां महात्मनाम् ॥१३३॥
 सौत्रामण्याञ्च भगवानश्विभ्यां सह मोदते ।
 अश्विभ्यां सहितः सोमं प्रायः पिबति वासवः ॥१३४॥
 अश्विभ्यां कल्पितो भागो यज्ञेषु च महर्षिभिः ।
 अश्विनावग्निरिन्द्रश्च वेदेषु सुतरां सुताः ॥१३५॥
 वैद्यावित्याश्विनौ देवौ पूज्येते विबुधैरापि ।
 अजरैरमरैर्नित्यं सुखितैरवमादृतैः ॥१३६॥
 व्याधिमृत्युजराग्रस्तैर्दुःखप्रायेः सुखार्थिभिः ।
 किं पुनर्भिषजो मर्त्यैः पूज्याः स्युर्नाऽऽत्मशक्तितः ? ॥१३७॥

पुरातनोडाटनपुरःसरं वैद्यानां पूज्यत्वमाह, यज्ञस्येति ।—यज्ञस्य हि शिरश्छिन्नं पुरा दशयज्ञकालं नन्दोक्तेश्वरेण यज्ञस्य मरुतं तुटितमिति वार्त्ता । सन्धितं संयोजितम् । पूषः पूषाख्याऽऽदित्यभेदस्य दशनाः दन्ताः पातिता भक्ष्यकृताः ; शीरभद्रेणेति शेषः । भगस्य तदाख्याऽऽदित्यभेदस्य ; उभयव्यापि “अश्विभ्यां सन्धितं पुरा” इति वाक्यं विभक्तिविपरिणामेन “अश्विभ्यां सन्धिताः सन्धिते” इति कृत्वा योजनीयम् । ताभ्याम् अश्विभ्याम् । भिषगुत्तमौ अश्विनौ । सौत्रामण्यां सूत्रामा इन्द्रो देवता अस्य इति सौत्रामणौ तस्यां तदाख्यशगभेदे । भगवान् जिष्णुः । मोदते सोम-रमादिपानेन नन्दति । सोमं सोमरसम् । “प्रायः” इत्यत्र “प्रातः” इति चरक-सम्मतः पाठः ; तथा च चरके—“प्रातश्च सुवने सोमं शक्रोऽश्विभ्यां सहाश्रुते” इति । सुतराम् अतिशयेन, अन्वदेवापेक्षया इत्यर्थः ; तथा च चरकः,—“इन्द्राग्नौ चाश्विनौ चैव सूर्यन्ते प्रायशो द्विजैः । सूर्यन्ते वेदवाक्येषु न तथाऽन्या हि देवताः ॥” इति । वैद्यो

अथ उपसंहारः ।—

रसरत्नममुच्चयो मयेत्यं रचितः साधु नितान्तमाद्रियन्ताम् ।
सुधियो यदि विद्यतेऽत्र दोषः कविदर्हन्ति ममाप्यलं विसीदुम् ॥
१३८ ॥

इति श्रीवैद्यपतिसिंहग्रन्थस्य सुमीर्वात्मटाचार्यस्य कृतौ रसरत्नसमुच्चये
रसकल्पो नाम त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३० ॥

चिकित्सकौ इति इति कला, इति द्वेतेरित्यर्थः । आदितेः सर्वलोकपुणितेरित्यर्थः,
आदरार्हादित्यर्थो वा । दुःखमात्रैः दुःखबहुलैः, व्याध्यादिशकत्वात्, अत एव
सुखार्थिभिः सुखकामैः, दुःखहानाभिलाषिभिरित्यर्थः । आत्मशक्तिः सामर्थ्या-
नुसारेण, “अतिशक्तिः” इति चरके पाठः ; किं पूज्या न स्युः ? इति काकुः, अपि
तु पूज्या एवेत्यर्थः ॥ १३१—१३७ ॥

उपसंहरति, रसेति ।—साधु सम्यक् यथा तथेति रचित इत्यस्य विशेषणम् ।
अलम् अत्यर्थम् । विसीदुं चानुम ॥ १३८ ॥

इति रसरत्नसमुच्चयबोधिन्यां त्रिंशत्तमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ३० ॥



